वात्सल्य रत्नाकर प० पू० आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज की
93वीं जन्म-जयन्ती के अवसर पर

सिरि कोंडकुंड आइरिय पणीदो
(श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत)

पवयणसारो

(प्रवचनसारः)

मूलगाथा, सस्कृतछाया, श्री अमृतचन्द्रसूरि कृत तत्त्वप्रदीपिका नामक
सस्कृतछाया टीका, श्री जयसेनाचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति नामक सस्कृत व्याख्या और
स्व पण्डित श्री अजितकुमार शास्त्री तथा स्व० प श्री रतनचन्द मुख्तार के
भाषानुवाद से समलकृत

प्रकाशक

श्री भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद

एव

जिनराज जैन

2/26, दरियागज, नई दिल्ली-2

भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद पुष्प सख्या ४०

आशीर्वाद — प. पू. आचार्य श्री विमलसागरजी महाराज
प. पू. आचार्य श्री भरतसागरजी महाराज

निर्देशिका — गणिनी आर्यिका स्याद्वादमती माताजी

सयोजना — ब्र प्रभा पाटनी, बी एस. सी., एल. एल. बी

ग्रन्थ · पवयणसारो (प्रवचनसार)
सिरि कोडकुड आइरिय पणीदो
(श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत)

अर्थ सहयोग — दरिया गज महिला मडल
श्री निर्मल कुमार, ललित कुमार, नितिन कुमार पाटनी जयपुर
जिनराज जैन

प्रकाशक · श्री भारतवर्षीय अनेकान्त विद्वत् परिषद ,जिनराज जैन

द्वितीयावृत्ति, २००८

ग्रन्थ प्राप्ति स्थान

१ आर्यिका गणिनी स्याद्वादयती माताजी सघ

२ आचार्य विमल-भरत साहित्य सदन सम्मद-शिखरजी

३ अष्टापद तीर्थ जेन मन्दिर
विलासपुर चौक, गुडगाँव (हरियाणा)
फोन ०६४६६७७६६११

४ जिनराज जैन
२/२६, दरियागज, नई दिल्ली-२

समर्पण

युग प्रमुख,
चारित्रशिरोमणि,
सन्मार्ग-दिवाकर,
करूणानिधि
वात्सल्य-रत्नाकर
अतिशययोगी,
तीर्थोद्धारक चूड़ामणि,
पतितोद्धारक,
ज्योतिपुञ्ज
कल्याणकर्ता,
दुखहर्ता,
समदृष्टा,
बीसवीं सदी के अमर सन्त
परम-तपस्वी,
जिनभक्ति के अमर प्रेरणास्रोत,
पुण्यपुञ्ज
गुरुदेव आचार्य
श्री १०८ श्री विमलसागरजी महाराज
की
६३वीं जन्म-जयन्ती पर
सादर समर्पित
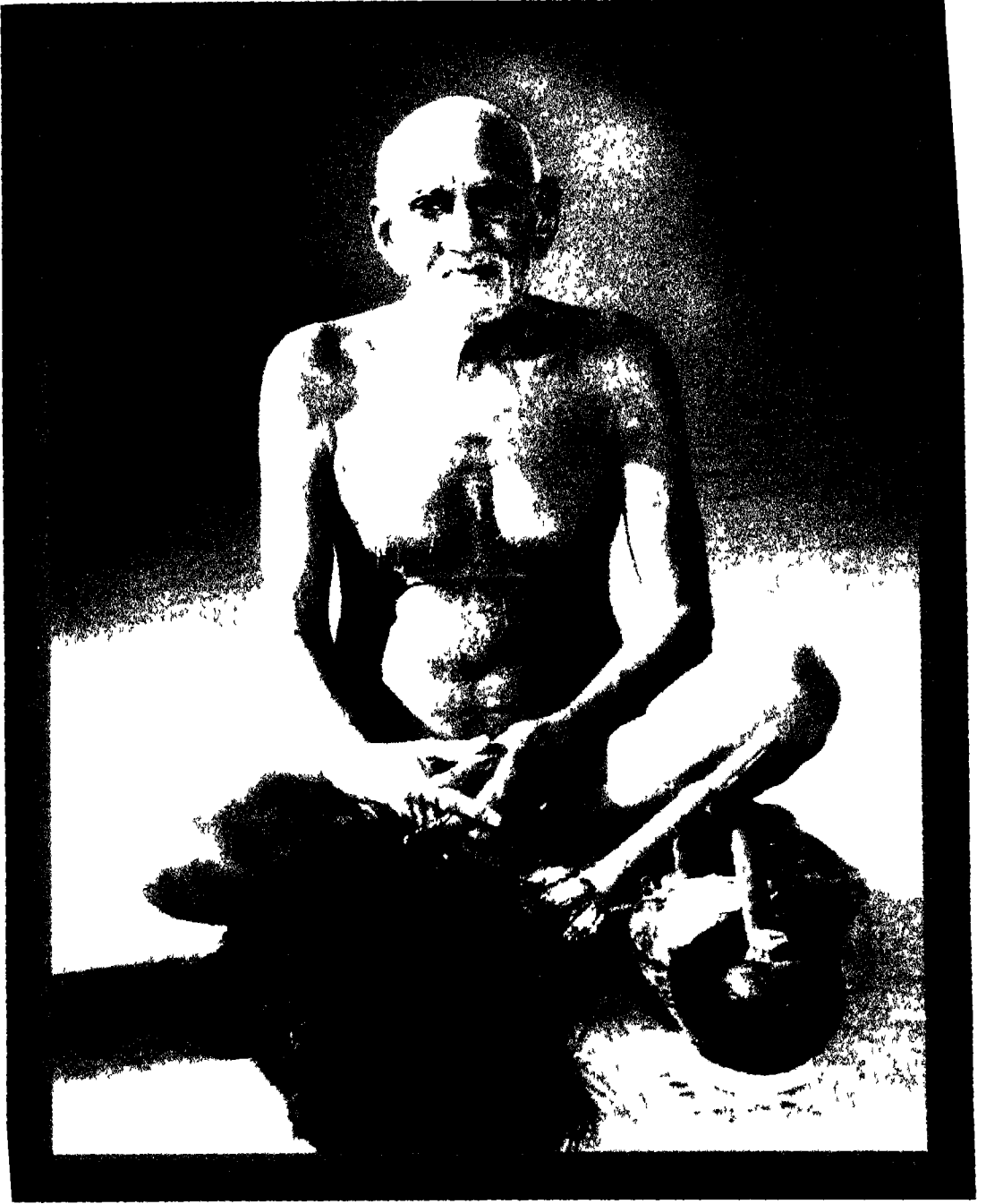
आचार्य श्री विमल सागर जी

तुभ्य नम परम धर्म प्रभावकाय,
तुभ्य नम परम तीर्थ सुवन्दकाय।
'स्याद्वाद' सूक्ति सरणि प्रतिबोधकाय,
तुभ्य नम विमल सिन्धु गुणार्णवाय।।

आचार्य श्री भरत सागर जी

आचार्य श्री भरतसिन्धु नमोस्तु तुभ्य,
हे भक्तिप्राप्त गुरुवर्य्य नमोस्तु तुभ्य।
हे कीर्तिप्राप्त जगदीश नमोस्तु तुभ्य,
भव्याब्ज सूर्य गुरुवर्य्य नमोस्तु तुभ्य॥

श्री वीतरागाय नमः

एक नजर में प्रवचनसार

आचार्यदेव कुन्दकुन्दस्वामी जैन दर्शन के महान् आचार्य हुए जिन्होने ८४ पाहुड लिखे। उनमे समयसार पाहुड, प्रवचनसार पाहुड, अष्टपाहुड तथा नियमसार पाहुड वर्तमान मे उपलब्ध प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इनमे वर्तमान मे प्रचलित चर्चाओ शुद्धोपयोग के स्वामी, शुभोपयोग की उपयोगिता, पुण्य की हेयोपादेयता, स्वरूपाचरण का स्वामी, सम्यक्त्वाचरण के स्वामी आदि की निर्णायक अमर कृति प्रवचनसार महाग्रन्थ है। साथ ही क्रमबद्ध नही क्रमवर्ती पर्यायो के साथ नियत, अनियत व्यवस्थाओ का गहन गभीर विवेचन यहा इस ग्रन्थ मे मिलता है। आचार्य श्री अमृतचन्द्रजी व जयसेनाचार्यजी ने सस्कृतटीका तत्त्वप्रदीपिका व तात्पर्यवृत्ति सरल भाषामय करके सिद्धान्तो को स्पष्ट कर जिनागम के रहस्य को प्रकट कर दिया। साथ ही हिन्दी भाषानुवाद मे सुष्ठु समलकृत कर स्व प. श्री रतनचन्द मुख्तार जी ने महोपकार कर जैनागम के रहस्य को पूर्ण उद्घाटित कर दिया है।

शुद्धोपयोग

वर्तमान मे कुछ भ्रामक धारणाए बन गई है यथा? चतुर्थ गुणस्थान मे शुद्धोपयोग को स्वीकार किया जा रहा है। आइये, हम इस सम्बन्ध मे श्री कुन्दकुन्दाचार्य प्रणीत प्रवचनसार की टीका मे जयसेनाचार्यजी को पढे

मिथ्यात्वसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोग, तदनन्तरमसयतसम्यग्दृष्टि-दर्शविरतप्रमतसयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोग, तदनन्तरमप्रमत्तादि क्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्यन शुद्धोपयोग, तदनन्तर सयोग्योगिजिन गुणस्थानद्वये शुद्धोपयोग फलाभिति ॥ पृ २० गा. ९ ता. वृ टी.॥

भावार्थ

तीन प्रकार के उपयोग १४ गुणस्थानो मे किस तरह घटते है सो कहते है– मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानो मे तारतम्य से कमती-कमती अशुभ उपयोग है। इसके पीछे असयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत तथा प्रमत्तसयत ऐसे तीन गुणस्थानो मे तारतम्य से शुभोपयोग है। उसके पीछे अप्रमत्त से लेकर क्षीणकषाय तक छ गुणस्थानो मे तारतम्य से शुद्धोपयोग है। उसके पीछे सयोगिजिन और अयोगिजिन इन दो गुणस्थानो मे शुद्धोपयोग का फल है ऐसा भाव है।

शुद्धोपयोग रूप परिणत आत्मा का स्वरूप

सुविदिदपयत्थसुत्तो सजमतवसजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगोत्ति ॥१४॥ प्र सा ॥

भली भाँति जान लिये है (१) [निज शुद्ध आत्मा आदि स्व-पर] पदार्थो को और सूत्रो को जिसने (२, ३) जो सयम युक्त और तप युक्त है (४) राग रहित है (५) समान है सुख-दुख जिसको ऐसा श्रमण (मुनि) शुद्धोपयोगी है।

शुद्धोपयोग मुख्यता से बारहवे गुणस्थान मे परिणत मुनि के होता है। परन्तु गौणतया सातवे से बारहवे गुणस्थान तक के मुनि के होता है। **सातवें गुणस्थान में शुद्धोपयोग प्रारम्भ होता है।** फिर प्रत्येक गुणस्थान मे उसकी शुद्धता की शक्ति बढती चली जाती है, जिससे दसवे गुणस्थान मे मोहनीयकर्म प्राय नष्ट हो जाता है। जब वह शुद्धोपयोग पूर्ण क्षीणमोह नामक बारहवे गुणस्थान मे पहुचता है तो उस शुद्धता मे शेष तीन घातिया कर्मो को नष्ट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। घातिया कर्मो के नष्ट होने पर स्वभाव स्वय प्रगट हो जाता है। आत्मा सर्वज्ञ बनकर सब ज्ञेयो को जान लेता है। [पृ. ३५]

बन्धुओ' शुभोपयोग दर्शनमोहनीय का क्षय कर सकता है, चारित्रमोहनीय कर्मो सहित सर्वघातिया कर्मो का क्षय तो शुद्धोपयोग से ही होता है। **यदि चतुर्थ गुणस्थान में ही शुद्धोपयोग स्वीकार किया जावे तब तो दिगम्बरत्व की महत्ता ही समाप्त हो जाती है। सयम की उपयोगिता नहीं बनती। चतुर्थ गुणस्थान में ही केवलज्ञान होने का प्रसंग प्राप्त होगा।** चारित्र धारण करने की कोई आवश्यकता ही नही रहेगी।

शुभोपयोगी का स्वरूप....

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥६९॥

जो देवता, यति गुरु की पूजा मे, दान मे और सुशील रूप चारित्रो मे तथा उपवास आदिक मे रत है, वह शुभोपयोगधारी आत्मा कहा जाता है।

यहा आचार्य ने शुद्धोपयोग मे प्रीतिरूप शुभोपयोग का स्वरूप बताया है। शुभोपयोग तीव्र कषायो के अभाव मे होता है। ॥ पृ. १६०॥

शुभोपयोग मे वर्तन करने से उपयोग अशुभोपयोग से बचा रहता है तथा यह **शुभोपयोग शुद्धोपयोग में पहुंचने के लिए सीढ़ी है।** इसलिये शुद्धोपयोग की भावना करते हुए शुभोपयोग मे वर्तन करना चाहिए। वास्तव मे शुभोपयोग सम्यग्दृष्टि के ही होता है। तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोग को इस काल मे उपादेय मानकर उसी की भावना से प्राप्ति के लिये अरहत भक्ति आदि शुभोपयोग के मार्ग मे वर्त्तना चाहिए। ॥पृ. १६१॥

शुभोपयोगी श्रमण चर्या....

अरहतादिसु भत्ती वच्छलदा, पवयणाभिजुत्तेसु।
विज्जदि जदि सामण्णे, सा सुहजुत्ता भवे चरिया ॥२४६॥

यदि श्रामण्य मे अरहन्तादिक के प्रति भक्ति तथा प्रयचनरत जीवो के प्रति वात्सल्य पाया जाता है तो वह शुभयुक्त चर्याशुभोपयोगी चरित्र है।

जो साधु सर्व रागादि विकल्पो से शून्य परमसमाधि अथवा शुद्धोपयोग रूप परमसामायिक मे तिष्ठने को असमर्थ है उसके शुद्धोपयोग के फल को पाने वाले केवलज्ञानी अरहत सिद्धो मे जो भक्ति है तथा शुद्धोपयोग के आराधक आचार्य उपाध्याय साधु मे जो प्रीति है यही शुभोपयोगी साधुओ का लक्षण है।

एसा पसत्थभूदा समणाण वा पुणो घरत्थाण।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव पर लहदि सोक्ख ॥२५८॥

यह प्रशस्तभूत (शुभोपयोग) चर्या श्रमणो के गौण होती है और गृहस्थो के मुख्य होती है। ऐसा शास्त्रो मे कहा गया है। उसी से गृहस्थ परम सौख्य को प्राप्त होता है।

शुभोपयोग सबधी साधुओ को यह प्रत्यक्ष धर्मानुराग रूपचर्या या क्रिया होनी है तथा गृहस्थो की यह क्रिया उत्कृष्ट कही गई है। इसी चर्या से गृहस्थ परम्परा से उत्कृष्ट मोक्षसुख प्राप्त करता हे।

विकार रहित चैतन्य के चमत्कार की भावना के विरोधी तथा इन्द्रिय विषय व कषायो के निमित्त से पैदा होने वाले आर्त्त रौद्र ध्यान मे परिणमने वाले गृहस्थो को आत्माधीन निश्चयधर्म के पालने का अवकाश नही है। यदि वे गृहस्थ वैयावृत्यादि रूप शुभोपयोग धर्म से वर्तन करे तो खोटे ध्यान से बचते है तथा साधुओ की सगति से गृहस्थो को निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग के उपदेश का लाभ हो जाता है, इससे ही वे गृहस्थ परम्परा निर्वाण को प्राप्त करते है। ॥ ६०२॥

सातिशय पुण्य ....

शुभोपयोगी सम्यग्दृष्टि का पुण्य सातिशय पुण्य कहा गया है। सातिशय पुण्य कभी ससार का कारण नही होता है। **शुभयोगी मिथ्यादृष्टि का पुण्य निरतिशय पुण्य कहलाता है ऐसा पुण्य ससार का कारण है।** अत पुण्य सर्वथा हेय कहने वाले बुद्धिमान आत्माओ ' शान्त चित्त से निर्णय करो। पाप की अपेक्षा पुण्य सर्वथा उपादेय ही है, शुद्धोपयोग की अपेक्षा पुण्य हेय है सर्वथा नही। सम्यग्दृष्टि का पुण्य सवर के साथ-साथ कर्मो की निर्जरा का भी कारण है। अत अपनी भूमिकाओ को देखते हुए कर्त्तव्यपथ पर चलना गृहस्थ व श्रमण का कर्त्तव्य है।

जिनेन्द्र भक्ति शुभराग या मात्र बन्ध की कारण नही हैं अपितु मोक्ष की भी कारण है—

त देवदेवदेव जदिवरवसह गुरु तिलोयस्स, पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्ख अक्खय जंति ॥७८/१॥

जो भगवान को प्रणाम करते है अथवा आराधना करते है वे मनुष्य अक्षय सुख मोक्ष को पाते है। भक्ति के समय कर्मोदय से जो मद कषायरूप राग होता है वह शुभराग यद्यपि अल्प बन्ध का कारण होता है तथापि परम्परा से मोक्ष का कारण है। भक्ति शुभराग नहीं है, किन्तु मोक्ष सुख का कारण है। ''भत्तीए जिणवराण खीयदि ज पुव्वसचिय कम्म''।

पुण्य से परभव में क्या फल होता है...

तेण णरा या तिरिच्छा देवि वा माणुसि गदि पय्या।
विहविस्सरियेहि सया सपुण्णमणोरहा होति ॥६२-२॥

जो कोई दिगम्बर मुनिवर को देखकर पूर्ण गुणो मे अनुरागभाव से सतोषी होता हुआ उठकर सिद्ध भक्ति पूर्वक नमोस्तु आदि विशेषो के द्वारा सत्कार या प्रशसा करता है वह भव्य उन मुनिवर के निमित्त से धर्म प्राप्त करता है। पूर्वोक्त पुण्य से वर्तमान के मनुष्य या तिर्यञ्च मरकर अन्य भव मे देव या मनुष्य की गति को पाकर राजा-अधिराजा-सम्बन्धी रूप सुन्दरता, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री आदि से पूर्ण विभूति तथा आज्ञारूप ऐश्वर्य से सफल मनोरथ होते है। वही पुण्य यदि भोगो के निदान बिना सम्यग्दर्शन पूर्वक होता है तो उस पुण्य से परम्परा मोक्ष की प्राप्ति होती है ॥पृ २११ प्र सा.॥

पुण्य का फल

सम्माइट्ठी पुण्ण ण होइ ससार कारण णियमा।
मोक्खस्स हेऊ होइ, जइसो णियाण ण कुणइ ॥भा. स.॥

सम्यग्दृष्टि का पुण्य नियम से ससार का कारण नही होता। मोक्ष का ही कारण होता है यदि निदान रहित हो।

यद्यपि अविनाशी अनन्त अतीन्द्रिय सुख का निरन्तर लाभ आत्मा की शुद्ध अवस्था मे होता है। उस अवस्था की प्राप्ति का उपाय यद्यपि साक्षात् शुद्धोपयोग मे तन्मय होकर निर्विकल्प समाधि मे वर्तन करना है तथापि परम्परा से उसका उपाय अरहन्त सिद्ध को जानकर, उनको नमस्कार करना, पूजा करना, स्तुति करना आदि है।

जो जाणदि अरहत, दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहि।
सो जाणदि अप्पाण, मोहो खलु जादि तस्स लय ॥ ८० प्र सा ॥

जो अरहत को द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने द्वारा जानता है, वह अपने आत्मा को जानता है। उस जीव का मोह अवश्य नाश को प्राप्त होता है। भव्यात्माओ! मोह की सेना को जीतने का मुख्य उपाय यही है।

"पुण्यफला अरहता" ॥४५॥ गा. प्र सा.॥
"अर्हन्त खलु सकलसम्यक्परिपक्वपुण्यकल्पपादपफला एव भवन्ति।"

अरहन्त भगवान पुण्य प्रकृति के फल है। अरहन्त भगवान वास्तव मे समस्त भली भाँति परिपक्व पुण्यरूपी कल्पवृक्ष के फल ही है।

उपादान

अनेक भ्रामक विचारधाराओ के अनुसार यह भी स्वीकार किया जा रहा है . हमारा उपादान त्रैकालिक शुद्ध है। उपादान यदि त्रैकालिक शुद्ध हो तो गुण व पर्याये अशुद्ध कैसे हो सकेगी। कृपया प्रवचनसार पृ. १८ पर आचार्य श्री के सर्वज्ञप्रणीत वचनो पर ध्यान दे

''कारण सदृश हिकार्यम्''। तच्च पुनरुपादानकारण शुद्धाशुद्धभेदेन द्विधा। रागादिविकल्प रहित स्वसवेदन ज्ञानमागमभाषया शुक्लध्यान वा केवलज्ञानोत्पतौ शुद्धोपादान कारण भवति। अशुद्धात्मा तु रागादीनामशुद्ध निश्चयेनाशुद्धोपादान कारण भवतीति सूत्रार्थ ॥ पृ॰ १८॥तात्पर्य वृ.॥

उपादान कारण के सदृश कार्य होता है। ऐसा सिद्धान्त वचन है। तथा वह उपादान शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का है। केवलज्ञान की उत्पत्ति मे रागद्वेषादि रहित स्वसवेदनज्ञान तथा आगम की भाषा से शुक्ल-ध्यान शुद्ध उपादानकारण है तथा अशुद्ध आत्मा रागादिरूप से परिणमन करता हुआ अशुद्ध निश्चयनय से अपने रागादिभावो का अशुद्ध उपादान कारण है। ॥पृ॰ १६ पृ. सा ॥

मोक्षमार्ग में निश्चयधर्म व्यवहारधर्म दोनों ही धर्म रूप हैं

अपने शुद्ध आत्मा के स्वभाव मे परिणमन होते हुए जो भाव होता है, उसे निश्चय धर्म कहते है तथा पचपरमेष्ठी आदि की भक्तिरूपी परिणति या भाव को व्यवहार धर्म कहते है। क्योकि अपनी-अपनी विवक्षित अविवक्षित पर्याय से परिणमन करता हुआ द्रव्य उस पर्याय से तन्मय हो जाता है, इसलिए पूर्व मे कहे हुए निश्चय धर्म ओर व्यवहार धर्म से परिणमन करता हुआ आत्मा ही गर्म लोहे के पिण्ड की तरह अभेदनय से धर्म रूप होता है, ऐसा जानना चाहिए। ॥पृ १६ पृ सा.॥

क्रमबद्धपर्याय

जैन दर्शन मे क्रमबद्ध शब्द का कही भी प्रयोग आचार्यो ने नही किया। प्रवचनसार ग्रन्थ मे अनेको बार क्रमवर्ती, क्रमप्रवृत शब्दो का प्रयोग हुआ है। यदि क्रमबद्ध आगम का शब्द स्वीकार किया जाएगा तब तो आगम का बीज अनेकान्तवाद दूषित हो जाएगा।

श्री सर्वज्ञदेव भूतकाल के निश्चित प्रमाण को और सर्वपर्यायो को जानते है। इससे भूतकाल का या भूत पर्यायो की आदि नही हो जाती, क्योकि भूतकाल के निश्चित प्रमाण के मात्र ज्ञान हो जाने से भूतकाल का आदि अथवा भूत पर्यायो का आदि नही हो जाता। यदि प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होने से आदि मान लिया जावे तो असत् द्रव्य के उत्पाद का अथवा ईश्वर-कर्त्तव्य का प्रसग आ जायेगा। इसी प्रकार भविष्य पर्याय केवली द्वारा ज्ञात हो जाने से सब पर्याये सर्वथा नियत या क्रमबद्ध नही हो जाती क्योंकि सर्वपर्याय सर्वथा नियत या क्रमबद्ध नही हो जाती क्योंकि सर्वपर्यायो को सर्वथा नियत मान लेने पर मोक्षमार्ग के उपदेश के अभाव का प्रसग आ जायेगा। दृष्टिवाद अग मे सर्वज्ञ के द्वारा नियतिवाद एकान्त-मिथ्यात्व कहा गया है, उससे विरोध आ जायेगा। (नियतिवाद एकान्त मिथ्यात्व का स्वरूप श्री पचसग्रह से निम्न प्रकार कहा है . .

यदा यथा यत्र यतोऽस्ति तेन यत्, तदा तथा तत्र ततोऽस्ति तेन तत्।
स्फुट नियत्येह नियत्र्यमाण, परो न शक्त किमपीह कर्तुम् ॥३१२॥

जिसका जहाँ जब जिस प्रकार जिससे जिसके द्वारा जो होना होता है तब तहाँ तिसका तिस प्रकार उससे उसके द्वारा वह होना नियत है। अन्य कोई कुछ नही कर सकता। ऐसा मानना एकान्त नियतिवाद मिथ्यात्व है।

जत्तु जदा जेण जहा, जस्स य नियमेण होदि तत्तु तदा।
तेण तहा तस्स हवे इदिवादो णियदिवादो दु ॥८२ गो.क.॥

जो जिस समय जिससे जैसे जिसके नियम से होता है वह उस समय उससे वैसे ही उसके ही होता है। ऐसा सब वस्तु स्वरूप मानना नियतिवाद एकान्त मिथ्यात्व है।

सर्व पर्यायो को सर्वथा नियत (क्रमबद्ध) मानने से सयम के अभाव का भी प्रसग आता है। भोगभूमिया मनुष्यो मे क्षायिक सम्यग्दृष्टि भी है, वज्रवृषभनाराच सहनन वाले भी है और शुभलेश्या वाले है फिर भी वे सयम धारण नही कर सकते, क्योकि उनकी आहार पर्याय नियत है। यदि इसी प्रकार कर्मभूमिया आर्य मनुष्यो के भी आहार पर्याय नियत होती तो वे भी सयम धारण न कर सकते और सयम के अभाव से मोक्ष भी न होती।

कर्मभूमिया मनुष्यो की इच्छा पर निर्भर है कि वे दिन मे कई बार भोजन करे, रात को भी करे अथवा एक या दो दिन या पक्ष, या मासोपवास करे। सप्त व्यसन को सेवन करे या उसका त्याग करे। इससे स्पष्ट है कि सर्व पर्याये सर्वथा नियत नही है।

जो पर्याय जैसी है उसको उसी रूप से सर्वज्ञ जानते है। जो अनादि पर्याय है उसको अनादि रूप से, अनन्त को अनन्त रूप से, जो पर्याय अनियत है उसको अनियत रूप से जानते है, जो नियत पर्याये है उनको नियत रूप से जानते हुए सर्वज्ञ की कुछ हानि नही होती है।

अत नियति भी अपने प्रतिपक्ष अनियति की अपेक्षा रखती है। यदि अनियत पर्यायो का अभाव माना जायेगा तो नियत पर्यायो का भी अभाव हो जाएगा। नियत और अनियत पर्यायो के अभाव से पर्याय मात्र का अभाव हो जाएगा और पर्याय मात्र के अभाव हो जाने से द्रव्य के अभाव का प्रसग आ जायगा अत पर्यायें नियत और अनियत दोनो प्रकार की है।''

क्रमबद्ध पर्याय मे दान-पूजा-तप त्याग-सयम, शिक्षण-शिविर, यात्रा, जप, तप सब व्यर्थ सिद्ध होते है। देशना लब्धि की सम्यग्दर्शन की प्राप्ति मे सार्थकता का अभाव प्राप्त होता है। सतो के दर्शन, जिनेन्द्र दर्शन की कोई सार्थकता सिद्ध नही होगी।—

दर्शनेन जिनेन्द्राणा, साधूना वन्दनेन च।
न चिर तिष्ठति पाप, छिद्र हस्ते यथोदकम्॥

ये पक्तिया निरर्थक सिद्ध होगी। तपस्या के द्वारा असख्यात गुणी कर्म निर्जरा का कथन दूषित हो जाता है। कर्मकाण्ड ग्रन्थ मे आचार्य देव लिखते है जीव प्रतिसमय सिद्धराशि के अनन्तवे भाग व अभव्य राशि के अनन्तगुणे कर्मो समयप्रबद्धो को प्रतिसमय बाधता है और इतना ही द्रव्य प्रतिसमय निर्जरित भी करता है **परन्तु तपस्या के बल पर असंख्यात गुणी कर्म निर्जरा करता है।** यदि यह स्वीकार नहीं किया जाएगा तब तो मुक्ति का द्वार ही बन्द होने का प्रसग आएगा।

"जो जो देखी वीतराग न सो सो होसी वीरा रे"

इन शब्दो को सम्हाल ले। क्योकि ज्ञेय पदार्थ ज्ञान मे झलकते है अर्थात् ज्ञान ज्ञेयाकार परिणमन करता है। ज्ञेय ज्ञानरूप परिणम नही कर रहे है। केवली भगवान के अनुसार ज्ञेय नहीं है अपितु ज्ञेय के अनुसार केवली भगवान का ज्ञान है। एकान्तवाद से जिन शासन को दूषित करने वाले महानुभावों के लिये सारगर्भित प्रवचनसार की विषयवस्तु को जानने के लिये ये अतिसक्षेप मे अपनी बात रखी है। भव्यात्माओं का कर्त्तव्य है ग्रन्थ के भाव को समझते हुए हठाग्रह से दूर रहकर वस्तु तत्व का निर्णय करे।

ग आर्यिका स्याद्वादमती

प्रस्तावना

चतुर्थ काल मे जब ३ वर्ष ८ माह १५ दिन शेष रह गये थे, तब अन्तिम तीर्थंकर श्री महावीर भगवान् कार्तिक कृष्णा अमावस्या के दिन निर्वाण को प्राप्त हुए, उनके पश्चात् ६२ वर्ष मे श्री गौतमस्वामी, श्री सुधर्माचार्य और श्री जम्बूस्वामी ये तीन अनुबद्धकेवली हुए। तत्पश्चात् १०० वर्ष मे श्री विष्णु, श्री नन्दिमित्र, श्री अपराजित, श्री गोवर्धन, श्री भद्रवाहु ये पाच अनुवद्ध श्रुतकेवली हुए। अनन्तर १८१ वर्ष मे श्री विशाखाचार्य, श्री प्रोष्ठिल, श्री क्षत्रिय, श्री जयसेन, श्री नागसेन, श्री सिद्धार्थ, श्री धृतिषेण, श्री विजय, श्री बुद्धिलिंग, श्रीदेव, श्री धर्मसेन ये ११ आचार्य दस पूर्वधारी हुए। इसके पश्चात् १२३ वर्ष मे श्री नक्षत्र, श्री जयपाल, श्री पाडव, श्री ध्रुवसेन, श्री कस ये पाच आचार्य ग्यारह अगधारी हुऐ। इसके पश्चात् ९९ वर्ष मे श्री सुभद्र, श्री यशोभद्र, श्री भद्रवाहु, श्री लोहाचार्य ये चार आचार्य दस, नव अथवा आठ अगधारी हुए। इसके पश्चात् ११८ वर्ष मे श्री अर्हद्बलि, श्री माघनन्दि, श्री धरसेन, श्री पुष्पदन्त, श्री भूतबलि ये पाच आचार्य हुए जो एक अगधारी थे अथवा अगो और पूर्वो के एक देश ज्ञाता थे। इस प्रकार श्री महावीर भगवान् के पश्चात् भी ६८३ वर्ष तक अग का ज्ञान रहा।[1]

श्री धरसेन आचार्य के शिष्य श्री पुष्पदन्त और भूतबलि ने 'षट्खण्डागम' की रचना कर लिपिवद्ध किया और ज्येष्ठ शुक्ला पचमी के दिन इस ग्रन्थराज की पूजा हुई, इसलिये ज्येष्ठ शुक्ला पचमी आज भी श्रुतपचमी के नाम से प्रसिद्ध है। इस षट्खण्डागम मे श्री गौतम गणधर रचित सूत्रो का भी सकलन है।

(१) जीवट्ठाण, (२) खुद्दाबन्ध, (३) बधस्वामित्वविचय, (४) वेदना, (५) वर्गणा, (६) महाबध ये षट्खण्डागम के छह खण्ड हैं। इस षट्खण्डागम के प्रथम तीन खण्ड पर श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने बारह हजार श्लोक प्रमाण परिकर्म टीका रची थी।[2]

ज्ञान प्रवाद पूर्व की दसवी वस्तु के तीसरे कषाय-प्राभृत का ज्ञान श्री गुणधर आचार्य को था, जिन्होने तीर्थ-विच्छेद के भय से कसायपाहुड की १८० गाथाओ द्वारा रचना की है। जिसमे कषायो की विविध दशाओ का वर्णन करके उनके दूर करने का मार्ग बतलाया है और यह भी प्रगट किया है कि किस कषाय के दूर होने से कौनसा आत्मिकगुण प्रगट होता है।

कसायपाहुड की ये गाथाए आचार्य परम्परा से आती हुई श्री आर्यमक्षु और श्री नागहस्ती आचार्यों को प्राप्त हुई। पुनः उन दोनो ही आचार्यों के पादमूल मे बैठकर उनके द्वारा गुणधराचार्य

१—धवल पु० १ प्रस्तावना पृ० २२-२३।

२—एव द्विविधो द्रव्यभाव पुस्तकगता। गुरुपरिपाट्या ज्ञात. सिद्धान्तकुन्दकुन्दपुरे ॥१६०॥

श्री पद्मनन्दिमुनिना सोऽपि द्वादससहस्र परिमाण.। ग्रन्थ परिकर्म कर्त्ता षट्खण्डाद्य त्रिखण्डस्य ॥६१॥'

(इन्द्रनन्दिश्रुतावतार)

के मुखकमल से निकली हुई उन १८० गाथाओ के अर्थ को भले प्रकार श्रवण कर प्रवचन के वात्सल्य से प्रेरित होकर श्री यतिवृषभाचार्य ने उन पर छह हजार श्लोक प्रमाण चूर्णासूत्र की रचना की।

दिगम्बर परम्परा मे जो आचार्य श्रुतप्रतिष्ठापक के रूप मे हुए उनमे श्री गुणधर आचार्य और श्री धरसेन आचार्य प्रधान हैं, क्योकि आचार्य धरसेन को द्वितीय पूर्वगत पेज्जदोसपाहुड का ज्ञान प्राप्त था और श्री गुणधर आचार्य को पूर्वगत पेज्जदोसपाहुड का ज्ञान प्राप्त था।

दिगम्बर सम्प्रदाय की मान्यतानुसार षट्खण्डागम और कषायप्राभृत ही ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका सीधा सम्बन्ध श्री महावीरस्वामी की द्वादशागवाणी से है।

ये ग्रन्थराज दक्षिण में सुरक्षित थे और जो दक्षिण की यात्रा को जाते थे उनको इन ग्रन्थ-राजो के मात्र दर्शन का सौभाग्य प्राप्त होता था। श्री प० टोडरमल जी जैसे विद्वान् को इनके दर्शन तक भी प्राप्त न हो सके, किन्तु हर्ष की बात है कि इन ग्रन्थराज का प्रकाशन हिन्दी अनुवाद सहित श्रावकाश्रम सोलापुर तथा वीरशासन सघ कलकत्ता से हो चुका है।

श्री वीरसेन महान् आचार्य हुए हैं, जिन्होने करणानुयोग को भी तर्क की कसौटी पर लगाया है। उन्होंने षट्खण्डागम के पाच खण्डों पर ७२ हजार श्लोक प्रमाण और कषायप्राभृत की चार विभक्तियो पर २० हजार श्लोक प्रमाण टीका रची। शेष कषायप्राभृत पर उनके शिष्य श्री जयसेन आचार्य ने ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखकर उसको पूर्ण किया। षट्खण्डागम की टीका का नाम धवल है जो हिन्दी अनुवाद सहित १६ भागो मे प्रकाशित हो चुकी है। कषायप्राभृत की टीका का नाम जयधवल है जिसके सम्पूर्ण सोलह भाग प्रकाशित हो चुके हैं। षट्खण्डागम का छटवा खण्ड महाबध भी सात भागो मे ज्ञानपीठ नामक सस्था से प्रकाशित हो चुका है।

यद्यपि इन ग्रन्थो का प्रकाशन सन् १६३६ से प्रारम्भ हो गया था, परन्तु बहुत कम व्यक्ति सूक्ष्मदृष्टि से इनका अध्ययन कर सके। श्री शांतिसागर आचार्य की परम्परा मे आचार्य श्री शिवसागर, आचार्य धर्मसागर के सघ के आचार्यकल्प श्री श्रुतसागर जी आदि मुनि तथा आर्यिका विशुद्धमति जी आदि आर्यिकाओ ने इन ग्रन्थराज का अध्ययन बडी लगन और निष्ठा से किया और इन्ही ने बध-स्वामित्व विचय तीसरे खण्ड मे अनेको सशोधन प्रस्तुत किये हैं, जिनको अनुवादक विद्वानो ने भी सहर्ष स्वीकार किया है।

यहां यह शका हो सकती है कि सर्वत्र इन महान् ग्रन्थो की स्वाध्याय क्यो नही हुई ? तो इसके समाधान मे यह कहना अनुचित होगा कि इन ग्रन्थराज का विषय बहुत गहन है, क्योंकि इनका सीधा सम्बन्ध श्री महावीर स्वामी की द्वादशाग वाणी से है। यदि इन ग्रन्थराजो का अध्ययन सर्वत्र हो जाता तो नवीन सम्प्रदायो का कोई स्थान न रहता, क्योंकि इनमे सात तत्त्वो का इतना सूक्ष्म व विशद विवेचन है कि अन्यथा कल्पना हो नही सकती।

श्री गुणधर, श्री धरसेन, श्री पुष्पदन्त, श्री भूतबलि के पश्चात् श्री कुन्दकुन्द आचार्य हुए हैं, उस समय अग या अग व पूर्व के एक देश का ज्ञान लुप्त हो चुका था।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य का वास्तविक नाम श्री पद्मनन्दि था। किन्तु जन्मभूमि के कारण वे कुन्दकुन्द नाम से प्रसिद्ध हुए। उनके ससय के विषय मे विद्वानो मे मतभेद है। अत उनके समय का यथार्थ निर्णय नही किया जा सकता, फिर भी षट्खण्डागम की टीका श्री कुन्दकुन्द आचार्य द्वारा रची गई इससे यह प्रतीत होता है कि उनका काल ईसवी की दूसरी शताब्दी का पश्चिम भाग है।

श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भिन्न-भिन्न विषयो पर अनेको ग्रन्थो की रचना की थी, उनमे से एक प्रवचनसार भी है। इसमे तीन अधिकार हैं (१) ज्ञानाधिकार, (२) दर्शनाधिकार अथवा ज्ञेयाधिकार, (३) चारित्राधिकार।

इनमे से प्रथम अधिकार मे १०१ गाथा हैं। श्रीमत् जयसेन तथा श्री प्रभाचन्द्र आचार्य ने तो १०१ गाथाओ पर टीका रची है किन्तु श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने इनमे से मात्र ९२ गाथाओ पर टीका रची है।

जिस प्रकार श्री गौतमगणधर ने व्यवहारनय का आश्रय लेकर चौबीस अनुयोगद्वारो के आदि में मंगल किया है,[1] उसी प्रकार श्री कुन्दकुन्द आचा ने भी व्यवहारनय का आश्रय लेकर प्रथम पाच गाथाओ द्वारा प्रवचनसार के आदि मे मगल किया है। यदि कहा जाय कि व्यवहारनय असत्य है तो भी ठीक नही है, क्योकि उसमे शिष्यो की प्रवृत्ति देखी जाती है। अत जो व्यवहारनय बहुत जीवो का अनुग्रह करने वाला है, उसी का आश्रय करना चाहिये। ऐसा मन मे निश्चय करके श्री गौतम स्थविर ने चौबीस अनुयोगद्वारो के आदि मे मगल किया है।[2] श्री गौतमगणधर का अनुसरण करते हुए श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने भी मगल किया है।

गाथा ६ मे बतलाया है कि सम्यक्-चारित्र के फ स्वरूप स्वर्गादि के वैभव के साथ-साथ मोक्ष भी मिलता है। गाथा ७ मे चारित्र को धर्म बतलाते हुए स्वरूपाचरण का लक्षण बतलाया है। गाथा ८ व ९ मे बतलाया है कि द्रव्य जिस समय जिस पर्याय से परिणत होता है उस समय उस पर्याय से तन्मय हो जाता है। इसलिये जिस समय आत्मा शुभभाव से परिणत होता है उस समय आत्मा शुभ है। जिस समय आत्मा अशुभभाव या शुद्ध भाव से परिणत होता है उस समय आत्मा अशुभ या शुद्ध है। गाथा १० मे बतलाया कि परिणाम के बिना द्रव्य नही और द्रव्य के बिना परिणाम नही है। गाथा ११-१३ तीनो उपयोग के फल का कथन है। गाथा १४ मे शुद्धोपयोग का लक्षण। इस प्रकार इन १४ गाथाओ मे पीठका समाप्त हुई।

गाथा १५-२० सर्वज्ञसिद्धि, गाथा २१ से ५२ तक ज्ञान का सविस्तार कथन है। गाथा ४५ मे बतलाया है कि अरहत पद पुण्य का फल है जिससे पुण्य की सर्थकता सिद्ध होती है। गाथा ५२-६८ सुख का सविस्तार कथन करते हुए बतलाया है कि ज्ञान के साथ सुख का अविनाभावी सम्बद्ध है इसलिये इन्द्रिय जनित ज्ञानी के इन्द्रिय जनित सुख होता और अतीन्द्रियज्ञानी अर्थात् केवली के ही अतीन्द्रियसुख होता है। इन्द्रियज्ञान इन्द्रियसुख का कारण होने से हेय है उसी प्रकार शुभोपयोग भी इन्द्रियसुख का कारण होने से हेय है। उस शुभोपयोग का कथन गाथा ६९ से ७९ तक है।

गाथा ८०-९२ मे मोह को जीतने का उपाय बतलाया है किन्तु गाथा ८३-८५ मे राग द्वेप मोह का कथन है।

---

(१) "व्यवहारणय पडुच्च पुण गोदम सामिणा चदुवीसण्हमणि योगद्दाराणमादीए मगल कद ॥"

(२) "ण च ववहारणओ चप्पलओ, तत्तो सिस्साण पउत्ति दसणादो जो बहुजीवाणुग्गहकारी ववहारणओ सो चेव समास्सिदव्वोत्ति मणेणावहारिय गोदमथेरेण मगल तत्थ कय।" (जयधवल पु० १ पृ० ८)

दूसरे अधिकार मे सम्यग्दर्शन के विषयभूत छहो द्रव्यो का अथवा ज्ञान के विषयभूत ज्ञेयो का ११३ गाथाओ द्वारा कथन है। इनमे से मात्र १०८ गाथाओ पर श्री अमृतचन्द्र आचार्य की टीका है। गाथा ९३ से १२६ तक ज्ञेयो का सामान्य कथन है। गाथा ९३ मे बतलाया है कि द्रव्य गुण पर्यायात्मक अर्थ है। जो पर्यायविमूढ है, वह मिथ्यादृष्टि है। जो निश्चयाभासी है, आत्मा को सर्वथा शुद्धबुद्ध मानकर अशुद्ध अवस्था को स्वीकार नही करता वह पर्यायविमूढ है, क्योंकि आत्मा ससार दशा मे अशुद्ध अवस्था से तन्मय हो रहा है। जिस व्यवहाराभासी की द्रव्य पर दृष्टि नही है मात्र पर्याय पर दृष्टि है वह भी पर्यायविमूढ है। गाथा ९४-११३ द्रव्य के सत् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य गुण-पर्याय ये तीन लक्षण बतलाये हैं। स्वरूप अस्तित्व (अवान्तरसत्ता) और सदृश्य-अस्तित्व (महासत्ता) का कथन है। अतद्भाव और पृथक्त्व का अन्तर बतलाया है। कथचित् सत् का कथचित् असत् का उत्पाद है। गाथा ११४-११५ मे द्रव्यार्थिकनय तथा पर्यायार्थिकनय के विषयो का और सप्तभगी का कथन है। गाथा ११७-११८ मे बतलाया है कि नामकर्म जीव के स्वभाव का पराभव करके जीव को मनुष्यादि पर्याय रूप करता है। गाथा १२२ मे बतलाया है कि जीव और पुद्गल किस नय से किन भावो के कर्त्ता हैं। गाथा १२३-१२६ मे ज्ञानचेतना, कर्मचेतना कर्मफलचेतना का कथन है।

गाथा १२७ से १४४ तक द्रव्य-विशेष का कथन है। चेतन-अचेतन, क्रियाशील-नि क्रिय, मूर्त-अमूर्त, प्रदेशत्व-अप्रदेशत्व की अपेक्षा द्रव्यो का कथन है।

गाथा १४५-२०० तक जीवद्रव्य का विशेष कथन है। जीव के द्रव्यप्राणो, ज्ञानोपयोग दर्शनोपयोग, शुभ-अशुभ शुद्धोपयोग का कथन है। पुद्गल परमाणुओ का परस्पर मे बध, जीव के साथ कर्म व नोकर्म का बध तथा बध से छूटने का कथन है।

तीसरा मूल अधिकार चरणानुयोगचूलिका है। इसमे ९६ गाथा है किन्तु श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने मात्र ७५ गाथाओ पर टीका रची है। सयम ग्रहण करने के योग्य कौन है ? ये ११ गाथा है और चारित्राधिकार का यह एक मुख्य विषय है किन्तु श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने इन गाथाओ की टोका क्यो नही लिखी यह एक विचारणीय विषय है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य के काल मे ही श्वेताम्बर और दिगम्बर ऐसे दो सम्प्रदाय बन गये थे। दिगम्बरेतर सम्प्रदाय मे स्त्रीमुक्ति तथा शूद्रमुक्ति का कथन है जिसका खडन श्री कुदकुद आचार्य ने इन ११ गाथाओ मे किया है।

इस तीसरे अधिकार की गाथा २०१ मे यह बतलाया है यदि जीव ससार दु खो से छूटना चाहता है तो उसको मुनिधर्म अवश्य अगीकार करना चाहिये, क्योकि मुनिधर्म के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय ससार दु खो से छूटने का नही है। उसके पश्चात् यतिधर्म का कथन है। गाथा २११ मे अतरग-बहिरगछेद का कथन है, गाथा २१५ सूक्ष्म पर द्रव्य का सम्बन्ध भी छेद का कारण है और ऐसा बतलाया गया है। बहिरगपरिग्रह के सद्भाव मे अतरग-परिग्रह-त्याग का अभाव होता है (गाथा २२०) गाथा २२४। १-९ मे स्त्रीमुक्ति का निषेध है। गाथा २२४। १०-११ मे दीक्षा के योग्य पुरुष का और गाथा २३० व २३१ मे उत्सर्ग व अपवाद की मैत्री का कथन है।

गाथा २३२-२३५ मे बतलाया है कि आगमाभ्यास के बिना मोक्षमार्ग नही है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की युगपत्ता के साथ वीतरागनिर्विकल्पसमाधिरूप आत्मज्ञान भी मोक्षमार्ग के लिये

आवश्यक है। ऐसा ज्ञानी ही क्षण मात्र मे गुप्ति के द्वारा कर्मों को काट डालता है जिसको निर्विकल्प-समाधि रूप आत्मज्ञान से रहित अज्ञानी जीव उन कर्मों को करोडो जन्मो मे भी नही काट सकता (गाथा २३६–२३६) इसलिये प० दौलतराम जी ने छह ढाला मे कहा है—

कोटि जन्म तप तपें ज्ञान विन कर्म झरें जे। ज्ञानो के छिनमाहि त्रिगुप्ति ते सहज टरें वे ॥

गाथा २४०–२४४ मे कर्मों के क्षय करने वाले मुनि का कथन है। गाथा २४५ से शुभोपयोग का कथन है। गाथा २५१ मे उपकार का उपदेश देकर यह बतलाया है कि एक जीव दूसरे का उपकार कर सकता है। गाथा २५४ मे बतलाया है कि शुभोपयोग गृहस्थ को निर्वाण सौख्य का कारण है। एक ही बीज से भूमि की विचित्रता से फल मे विचित्रता होती है। (गाथा २५५)। गाथा २६० मे बतलाया है कि शुद्धोपयोगी व शुभोपयोगी मुनि लोगो को पार कर देते हैं। गाथा २६४–२६६ श्रमण मे दूषण के कारणो का कथन है। गाथा २७० मे बतलाया है कि सगति का प्रभाव पडता है अर्थात् एक द्रव्य की पर्याय का दूसरे द्रव्य की पर्याय पर प्रभाव पडता है। गाथा २७१ से २७५ तक ससार आदि पाँच तत्त्वो का कथन है। इस प्रकार प्रवचनसार का प्रतिपाद्य विषय है।

जब ज्ञान का इतना ह्रास हो गया कि श्री कुदकुद आचार्य विरचित गाथाओ का यथार्थ अभिप्राय समझने मे कठिनाई होने लगी तो श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने सक्षेप रूप मे तत्त्वप्रदीपिका टीका गूढ सस्कृत भाषा मे रची। जब ज्ञान और कम हो गया जिससे बहुत से विषय विवादास्पद बन गये तब श्री जयसेन आचार्य ने तात्पर्यवृत्ति टीका सरल सस्कृत भाषा मे रची और विवादास्पद विषयो का स्पष्टीकरण किया। श्री जयसेन आचार्य विरचित टीका मे जो विशेष कथन है उसमे से कुछ निम्न प्रकार है—

(१) गाथा ६ मे चारित्र-दर्शन-ज्ञान का फल 'देवासुरमनुराजविभव' बतलाया है। इस पर यह शका हुई कि असुरकुमारो मे सम्यग्दृष्टि कैसे उत्पन्न हो सकता है, अत सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का फल असुरेन्द्र का वैभव नही हो सकता ? श्री जयसेन आचार्य ने इसका समाधान बहुत ही सुन्दर किया है। निदान बध के द्वारा सम्यक्त्व को विराधना करके असुरेन्द्र हो सकता है।

(२) गाथा ८ मे दो धर्म शब्द का प्रयोग हुआ है। श्री जयसेन आचार्य ने निश्चय और व्यवहार, धर्म के दो भेद करके उनका स्वरूप बतलाया है।

(३) गाथा ६ की टीका मे गुणस्थानो की अपेक्षा अशुभ, शुभ व शुद्ध भावो का कथन है।

(४) गाथा ११ की टीका मे शुभोपयोग और शुद्धोपयोग के नामातर देकर शुभोपयोग और शुद्धोपयोग के स्वरूप को सरल बना दिया है।

(५) गाथा १८ की टीका मे यह बतलाकर कि "जैसे-जैसे ज्ञेय पदार्थो मे उत्पाद व्यय-ध्रौव्य होता है। वैसे-वैसे ही केवलज्ञान मे परिच्छित्त अपेक्षा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य होता है।" इससे केवलज्ञान के विषय को बहुत स्पष्ट कर दिया है।

(६) अभव्य शब्द से सर्वथा अभव्य न ग्रहण करना किन्तु वर्तमान मे सम्यक्त्व को अभिव्यक्ति नही है ऐसा अर्थ ग्रहण करना (गाथा ६२ की टीका)। इससे श्री कुन्दकुन्द स्वामी के ग्रन्थो मे अभव्य शब्द का अर्थ स्पष्ट हो जाता है।

(७) अनुकम्पा सम्यग्दर्शन का लक्षण है।[1] स्वय श्री कुदकुद आचार्य ने बोधपाहुड में बतलाया है कि धर्म विशुद्ध अर्थात् निर्मल होता है।[2] भावपाहुड मे मुनि को छह काय के जीवो की दया करने का उपदेश दिया है,[3] तथा जो मुनि करुणाभाव से सयुक्त है वह समस्त पापो का नाश करता है ऐसा कहा है,[4] शीलपाहुड मे कहा है कि जीव-दया शील का परिवार है[5] और रयणसार मे दया को प्रशस्तधर्म बतलाया है।[6] फिर वे ही श्री कुदकुद आचार्य प्रवचनसार गाथा ८५ मे करुणाभाव को मोह का चिह्न कैसे कह सकते थे? इस गुत्थी को सुलझाने के लिये श्री जयसेन आचार्य ने 'करुणाभाव' की करुणा-अभाव ऐसा सन्धि विच्छेद करके यह बतलाया कि करुणा का अभाव मोह का चिह्न है। करुणा जीव का स्वभाव है उसे कर्म जनित मानने मे विरोध आता है, किन्तु अकरुणा (करुणा का अभाव) सयम घाती (चारित्रमोहनीयकर्म) का फल (चिह्न) है।[7]

(८) ज्ञानी और अज्ञानी से अभिप्राय प्राय सम्यग्दृष्टि से लिया जाता है, श्री जयसेन आचार्य ने गाथा २३८ मे बतलाया कि "जो वीतरागसमाधि मे स्थित है वह आत्मज्ञानी है और जो निर्विकल्पसमाधि से रहित है वह अज्ञानी है।" यदि अज्ञानी का अर्थ मिथ्यादृष्टि लिया जाय तो मिथ्यादृष्टि के तो कर्मों की अविपाकनिर्जरा होती नही है। अत मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा यह नही कहा जा सकता कि अज्ञानी जिन कर्मों को सहस्र कोटि वर्ष मे खपाता है ज्ञानी उनको क्षणमात्र मे क्षय कर देता है। यह कथन निर्विकल्पसमाधि की अपेक्षा ही सम्भव है।

(९) गाथा २५४ की टीका मे बतलाया है कि गृहस्थ के निश्चयधर्म सभव नही है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि चतुर्थ गुणस्थान मे निश्चयसम्यक्त्व नहीं होता है। क्योकि गाथा १४४ की टीका मे बतलाया है कि निश्चयसम्यग्दर्शन वीतरागचारित्र का अविनाभावी है।

(१०) गाथा २५५ मे बतलाया है कि सम्यग्दृष्टि का शुभोपभोग मात्र पुण्य बध का कारण नहीं है किन्तु परम्परा मोक्ष का कारण भी है।

इसी प्रकार अन्य भी बहुत ऐसे स्थल हैं जहाँ पर श्री जयसेन आचार्य ने विषयो को स्पष्ट किया है कलेवर बढ़ जाने के भय से उनको यहाँ पर नही दिया जा रहा है स्वाध्याय करने से वे स्थल स्वय ध्यान मे आ जावेंगे।

सहारनपुर
वीरनिर्वाण दिवस सम्वत् २४९४

ब्र० रतनचन्द मुख्तार

१—प्रशम सवेगानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्ति लक्षण सम्यक्त्वम्। (धवल पु० १०, पृ० ११५१)

२—"धम्मो दयाविसुद्धो" (बोधपाहुड गा० २५)

३—"छज्जीव सडायदण" (भावपाहुड गा० १३२)

४—"जे करुणा भावसजुत्ता ते सव्वदरिय खभ हणति" (भावपाहुड गा० १५७)

५—"जीवदया सीलस्स वरिवारो" (शीलपाहुड गाथा १९)

६—"दयाइ सद्धम्मे" (रयणसार गाथा ६५)

७—"करुणाजीव सहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो। अकरुणा कारण कम्म वसव्व? ण एस दोसो, सजमघादि कम्माण फलभावेण तिस्से अब्भुवगमादो।" (धवल १३ पृ० ३६२)

पवयणसारो विषय-सूची

ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन नामक प्रथम अधिकार

सुख-अधिकार

शुभपरिणामाधिकार

ज्ञेयतत्त्व प्रज्ञापन नामक द्वितीय अधिकार

द्रव्य-विशेष कथन

जीव द्रव्य का विशेष कथन

गाथा सख्या	विषय	पृष्ठ संख्या
२००/१	भव्य जीवो को चारित्र मे प्रेरित करते हैं	४७३–७५

चरणानुयोग सूचक चूलिका तृतीय अधिकार

आगम अभ्यास मुख्य है

शुभोपयोग

सिरि-कोंडकुंड-आइरिय-पणीदो

पवयणसारो

(प्रवचनसारः)

(टीकाद्वयोपेतः)

श्रीअमृतचन्द्रसूरिकृत—तत्त्वप्रदीपिका टीका
श्रीजयसेनाचार्यकृत—तात्पर्यवृत्ति टीका

ज्ञानतत्त्व-प्रज्ञापन

१

।। मंगलाचरणम् ।।

सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय परात्मने ।
स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय ज्ञानानन्दात्मने नमः ।।१।।

अन्वयार्थ—[सर्वव्याप्येकचिद्रूपस्वरूपाय] सर्वव्यापी (सबका ज्ञाता) होने पर भी एक चैतन्यरूप (भाव चैतन्य ही) जिसका स्वरूप है—(जो ज्ञेयाकार होने पर भी ज्ञानाकार है अर्थात् सर्वज्ञता को लिये हुए आत्मज्ञ है) जो [स्वोपलब्धिप्रसिद्धाय] स्वानुभव प्रसिद्ध है (शुद्ध आत्मोपलब्धि से प्रसिद्ध है), और जो [ज्ञानानन्दात्मने] ज्ञानानन्दात्मक है (अतीन्द्रिय पूर्ण-ज्ञान तथा अतीन्द्रिय पूर्ण-सुख-स्वरूप है) ऐसे उस [परमात्मने] परमात्मा (उत्कृष्ट आत्मा) के लिये [नमः] नमस्कार हो।

विशेष—**'परमात्मा' का अर्थ 'दूसरे का आत्मा' भी होता है और 'परात्मा' का अर्थ 'परमात्मा' अर्थात् उत्कृष्ट आत्मा भी होता है। यहाँ 'उत्कृष्ट आत्मा' अर्थ है। परमात्मा विशेष्य है और तीन उसके विशेषण है। सर्वज्ञता सहित आत्मज्ञता, शुद्ध आत्मोपलब्धि लक्षणता और अतीन्द्रिय ज्ञान-सुख-मयता। 'नमः' अव्यय है। उससे यहाँ क्रियापद का काम लिया गया है।**

द्रव्य-भाव रूप श्रुतज्ञान को नमस्कार रूप मङ्गलाचरण—

हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोम जयत्यद ।
प्रकाशयज्जगत्तत्त्वमनेकान्तमय मह ॥२॥

अन्वयार्थ—(जो श्रुतज्ञान) [हेलोल्लुप्तमहामोहतमस्तोम] क्रीडा मात्र मे महामोह-रूप अन्धकारसमूह को नष्ट कर देता है और जो श्रुतज्ञान [जगत्तत्त्व] जगत् (लोक अलोक) के स्वरूप को [प्रकाशयत्] प्रकाशित करता है, [अद] वह (अनेकान्तमय परस्पर-विरोधी अनेक धर्मात्मक वस्तु को दिखलाने वाला) [मह] तेज (श्रुतज्ञान) [जयति] जयवन्त है, अर्थात् उस श्रुतज्ञान के लिये नमस्कार है ।

विशेष—**अनेकान्तात्मक द्रव्य और भाव रूप श्रुतज्ञान से मोह सहज मे नष्ट हो जाता है, और छः द्रव्यों का यथार्थ स्वरूप प्रतिभासित हो जाता है । इसलिए वह नमस्कार करने योग्य है ।**

टीका करने की प्रतिज्ञा तथा प्रयोजन—

परमानन्दसुधारसपिपासितानां हिताय भव्यानाम् ।
क्रियते प्रकटिततत्त्वा प्रवचनसारस्य वृत्तिरियम् ॥३॥

अन्वयार्थ—[परमानन्द–सुधारसपिपासिताना] परमानन्दरूप सुधा रस के पिपासु अतीन्द्रियसुखरूप अमृत के प्यासे) [भव्याना] भव्यो के [हिताय] हित के लिये [प्रकटिततत्त्वा] श्री प्रवचनसार जी की गाथाओ के तत्त्व को अथवा वस्तु-तत्त्व को (स्वरूप को) प्रगट करने वाली [इय] यह [प्रवचनसारस्य] श्री प्रवचनसार की [वृत्ति] टीका [क्रियते] [मुझ अमृतचन्द्राचार्य द्वारा] की जाती है ।

विशेष—**अध्यात्म रस के पिपासुओं की पिपासा शान्ति हेतु सरल शब्दो मे अध्यात्म पदावली के रहस्य को स्फुटित करने के लिए टीका रची गयी है ।**

अथ खलु कश्चिदासन्नससारपारावारपार समुन्मीलितसातिशयविवेक तिरस्तमितस-मस्तैकान्तवादाविद्याभिनिवेश पारमेश्वरीमनेकान्तवादविद्यामुपगम्य मुक्तसमस्तपक्षपरिग्र-हतयात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा सकलपुरुषार्थसारतया नितान्तमात्मनो हिततमा भगवत्पचपरमे-ष्ठिप्रसादोपजन्या परमार्थसत्या मोक्षलक्ष्मीमक्षयामुपादेयत्वेन निश्चिन्वन् प्रवर्तमानतीर्थ-नायकपुर सरान् भगवत पचपरमेष्ठिन प्रणमनवन्दनोपजनितनमस्करणेन सभाव्य सर्वारम्भेण मोक्षमार्ग सप्रतिपद्यमान प्रतिजानीते—

भूमिका—**अब (टीकाकार श्री अमृतचन्द्र सूरि प्रथम पांच गाथाओं की भूमिका लिखते हैं।) (१) निकट है ससार समुद्र का किनारा जिनके (जो निकट-भव्य हैं), (२) प्रकट हो गई है साति-**

शय विवेक ज्योति जिनकी (अर्थात् जिनके परम भेद-विज्ञान का प्रकाश उत्पन्न हो गया है—जो सम्यग्दृष्टि बन चुके हैं), (३) नष्ट हो गया है समस्त एकान्तवाद विद्या (ज्ञान) का अभिप्राय जिनके (जिनके एकान्त पक्ष की पकड़ रूप मिथ्याज्ञान नष्ट हो गया है), (४) परमेश्वर (जिनेन्द्रदेव) की अनेकान्तवाद विद्या (ज्ञान) को प्राप्त करके (सम्यग्ज्ञानी बनकर), (५) समस्त पक्ष का परिग्रह त्याग देने से (इष्ट वस्तु मे राग और अनिष्ट वस्तुओं मे द्वेष के पक्ष की पकड़ को छोड़ देने से) अत्यन्त मध्यस्थ (उदासीन-वीतरागी) होकर (सम्यक्चारित्रवान् होकर), (६) जो मोक्षलक्ष्मी सब (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) पुरुषार्थों मे सारभूत होने से आत्मा के लिये अत्यन्त हितरूप (उत्कृष्ट हित-स्वरूप) है, जो मोक्ष-लक्ष्मी भगवन्त परमेष्ठी के प्रसाद से उत्पन्न होने योग्य है, जो मोक्ष-लक्ष्मी परमार्थ रूप होने के कारण सत्य है और जो मोक्ष-लक्ष्मी अक्षय है (अविनाशी है—एक बार प्राप्त होकर सदा बनी रहती है) ऐसी उस मोक्ष-लक्ष्मी को उपादेयपने से निश्चित करते हुए (प्राप्त करने योग्य है, ऐसा निर्णय करते हुए), (७) प्रवर्तमान तीर्थ के नायक (श्री महावीरस्वामी) पूर्वक भगवन्त पंचपरमेष्ठी को प्रणाम और वन्दना से होने वाला (भेदाभेदात्मक नमस्कार के द्वारा) सम्मान करके (काय के विशेष नमन द्वारा और वचन के द्वारा उनके प्रति मन मे बहुमान लाकर) (८) सम्पूर्ण पुरुषार्थ से मोक्ष मार्ग के चारित्र को आश्रय करते हुए, (कश्चित्) कोई निकट भव्यात्मा प्रतिज्ञा करते है—

तात्पर्यवृत्ति

नमः परमचैतन्यस्वात्मोत्थसुखसम्पदे ।
परमागमसाराय सिद्धाय परमेष्ठिने ॥१॥

अर्थ—जिनकी सम्पत्ति परम अतीन्द्रिय सुख है, जो सुख परम चैतन्य-स्वरूप निजात्मा से उत्पन्न हुआ है, ऐसे परमागम के साररूप सिद्ध परमेष्ठी को नमस्कार हो ।

(अथास्यान्तराधिकारस्योपोद्घात)—अथ प्रवचनसारव्याख्यायां मध्यमरुचिशिष्यप्रतिबोधनार्थायां मुख्यगौणरूपेणान्तस्तत्त्वबहिस्तत्त्वप्ररूपणसमर्थायां च प्रथमत एकोत्तरशतगाथाभिर्ज्ञानाधिकारः, तदनन्तरं त्रयोदशाधिकशतगाथाभिर्दर्शनाधिकारः, ततश्च सप्तनवतिगाथाभिश्चारित्राधिकारश्चेति समुदायेनैकादशाधिकत्रिशतप्रमितसूत्रैः सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्ररूपेण महाधिकारत्रयं भवति । अथवा टीकाभिप्रायेण तु सम्यग्ज्ञानज्ञेयचारित्राधिकारचूलिकारूपेणाधिकारत्रयम् । तत्राधिकारत्रये प्रथमतस्तावज्ज्ञानाभिधानमहाधिकारमध्ये द्वासप्ततिगाथापर्यन्तं शुद्धोपयोगाधिकारः कथ्यते । तासु

द्वासप्ततिगाथासु मध्ये **'एस सुरासुर'** इमा गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण चतुर्दशगाथापर्यन्त पीठिका। तदनन्तर सप्तगाथापर्यन्त सामान्येन सर्वज्ञसिद्धि, तदनतर त्रयस्त्रिशद्गाथापर्यन्त ज्ञानप्रपञ्च:। ततश्चाष्टादशगाथापर्यन्तं सुखप्रपञ्चश्चेत्यन्तराधिकारचतुष्टयेन शुद्धोपयोगाधिकारो भवति। अथ पञ्चविंशतिगाथापर्यन्त ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयप्रतिपादकनामा द्वितीयोऽधिकारश्चेत्यधिकारद्वयेन, तदनन्तर स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन चैकोत्तरशतगाथाभि. प्रथममहाधिकारे समुदायपातनिका ज्ञातव्या।

इदानी प्रथमपातनिकाभिप्रायेण प्रथमत पञ्चगाथापर्यन्त पञ्चपरमेष्ठिनमस्कारादिप्ररूपेण-प्रपञ्च, तदनन्तरं सप्तगाथापर्यन्त ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयपीठिकाव्याख्यान क्रियते, तत्र पचस्थलानि भवन्ति तेष्वादौ नमस्कारमुख्यत्वेन गाथापञ्चक, तदनन्तर चारित्रसूचनमुख्यत्वेन **'सपज्जइ णिव्वाण'** इति प्रभृति गाथात्रयमथ शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयसूचनमुख्यत्वेन **'जीवो परिणमदि'** इत्यादिगाथा-सूत्रद्वयमथ तत्फलकथनमुख्यतया **'धम्मेण परिणदप्पा'** इति प्रभृति सूत्रद्वयम्। अथ शुद्धोपयोगध्यातु पुरुषस्य प्रोत्साहनार्थं शुद्धोपयोगफलदर्शनार्थंच प्रथमगाथा, शुद्धोपयोगिपुरुषलक्षणकथनेन द्वितीया चेति **'अइसयमादसमुत्थ'** इत्यादि गाथाद्वयम्। एव पीठिकाभिधानप्रथमान्तराधिकारे स्थलपञ्चकेन चतुर्दशगाथाभिस्समुदाय- पातनिका प्रोक्ता।

अथ कश्चिदासन्नभव्य शिवकुमारनामा स्वसवित्तिसमुत्पन्नपरमानन्दैक—लक्षणसुखामृत-विपरीतचतुर्गतिससारदु खभयभीत, समुत्पन्नपरमभदविज्ञानप्रकाशातिशय, समस्तदुर्नयैकान्तनिरा-कृतदुराग्रह:, परित्यक्तसमस्तशत्रु-मित्रादिपक्षपातेनात्यन्तमध्यस्थो भूत्वा धर्मार्थकामेभ्य सारभूता-मत्यन्तात्महितामविनश्वरा पञ्चपरमेष्ठिप्रसादोत्पन्ना मुक्तिश्रियमुपादेयत्वेन स्वीकुर्वाण, श्रीवर्धमान-स्वामितीर्थंकरपरमदेवप्रमुखान् भगवत पञ्चपरमेष्ठिनो द्रव्यभावनमस्काराभ्या प्रणम्य परमचारित्र-माश्रयामीति प्रतिज्ञा करोति।

उत्थानिका—इस प्रवचनसार की व्याख्या मे मध्यम-रुचि-धारी शिष्य को समझाने के लिये मुख्य तथा गौण रूप से अन्तरगतत्व (निज आत्मा) वाह्यतत्व (अन्य पदार्थ) को वर्णन करने के लिये सर्वप्रथम एक सौ एक गाथा मे ज्ञानाधिकार को कहेगे। इसके बाद एक सौ तेरह गाथाओ मे दर्शन का अधिकार कहेगे। अनन्तर सत्तानवे गाथाओ मे चारित्र का अधिकार कहेगे। इस तरह समुदाय से तीन सौ ग्यारह गाथाओ मे ज्ञान, दर्शन, चारित्ररूप तीन महा-अधिकार है। अथवा टीका के अभिप्राय से सम्यग्ज्ञान, ज्ञेय और चारित्र अधिकार चूलिका सहित तीन अधिकार है।

इन तीन अधिकारो मे पहले ही ज्ञान नाम के महा अधिकार मे बहत्तर गाथा पर्यत शुद्धोपयोग नाम के अधिकार को कहेगे। इन ७२ गाथाओ के मध्य मे **'एस सुरासुर'** इस गाथा को आदि लेकर पाठ क्रम से चौदह गाथा पर्यत पीठिकारूप कथन है, जिसका व्याख्यान कर चुके है। इसके पीछे सात गाथाओ तक सामान्य से सर्वज्ञ की सिद्धि करेगे। इसके पश्चात् तेतीस गाथाओ मे ज्ञान का वर्णन है फिर अठारह गाथा तक सुख का वर्णन है। इस तरह

चार अन्तर अधिकारो मे शुद्धोपयोग का अधिकार है। आगे पच्चीस गाथा तक ज्ञान-कण्ठिका-चतुष्टय को प्रतिपादन करते हुए दूसरा अधिकार है। इसके पीछे चार स्वतन्त्र गाथाएँ हैं। इस तरह एक सौ एक गाथाओ के द्वारा प्रथम महा–अधिकार मे समुदाय-पातनिका जाननी चाहिए।

यहाँ पहली पातनिका के अभिप्राय. से पहले ही पाँच गाथाओ तक पञ्च परमेष्ठी को नमस्कार आदि का वर्णन है, इसके पीछे सात गाथाओं तक ज्ञानकठिका चतुष्टय की पीठिका का व्याख्यान है इनमे भी पाँच स्थान है। जिसमे आदि मे नमस्कार की मुख्यता से पाँच गाथाएँ है, फिर चारित्र की सूचना से **'संपज्जइणिव्वाणं'** इत्यादि तीन गाथाएँ हैं, फिर शुभ अशुभ शुद्ध उपयोग की सूचना की मुख्यता से **'जीवो परिणमदि'** इत्यादि गाथाएँ दो हैं, फिर उनके फल कथन की मुख्यता से **'धम्मेण परिणदप्पा'** इत्यादि सूत्र दो हैं। फिर शुद्धोपयोग को ध्याने वाले पुरुष के उत्साह बढाने के लिये तथा शुद्धोपयोग का फल दिखाने के लिये पहली गाथा है। फिर शुद्धोपयोगी पुरुष का लक्षण कहते हुए दूसरी गाथा है। इस तरह **'अइस-इमादसमुत्थं'** आदि को लेकर दो गाथाएँ हैं। इस तरह पीठिका नाम के पहले अन्तराधिकार मे पाँच स्थलो के द्वारा चौदह गाथाओ से समुदाय पातनिका कही है।

अनन्तर शिवकुमार नामक कोई निकट भव्य, जो स्वसवेदन से उत्पन्न होने वाले परमानन्दमयी एक लक्षण के धारी सुखरूपी अमृत से विपरीत चतुर्गति रूप ससार के दु खो से भयभीत है, जिसे परमभेद विज्ञान के प्रकाश का माहात्म्य प्रकट हो गया है, जिसने समस्त दुर्नय रूपी एकान्त के दुराग्रह को दूर कर दिया तथा सर्व शत्रु-मित्र आदि का पक्षपात छोडकर व अत्यन्त मध्यस्थ होकर धर्म अर्थ काम पुरुषार्थों की अपेक्षा अत्यन्त सार और आत्महितकारी अविनाशी व पञ्चपरमेष्ठी के प्रसाद से उत्पन्न होने वाले मोक्ष लक्ष्मीरूपी पुरुषार्थ को अगीकार करते हुए श्री वर्धमान स्वामी तीर्थङ्कर परमदेव प्रमुख भगवान् पञ्चपरमेष्ठियो को द्रव्य और भाव नमस्कार कर परम चारित्र का आश्रय ग्रहण करता हूँ, ऐसी प्रतिज्ञा करता है।

ऐसे निकट भव्य शिवकुमार को सम्बोधन करने के लिये श्री कुन्दकुन्दाचार्य इस ग्रन्थ की रचना करते हैं।

अथ सूत्रावतारः—

एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदं धोद[1] घाइकम्ममलं ।
पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥१॥
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे ।
समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥२॥
ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं[2] ।
वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥३॥
किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं ।
अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव सव्वेसिं ॥४॥
तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज[3] ।
उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥५॥ (पणगं)

एष सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दित धौतघातिकर्ममलम् ।
प्रणमामि वर्द्धमान तीर्थं धर्मस्य कर्तारम् ॥१॥
शेषान् पुनस्तीर्थकरान् ससर्वसिद्धान् विशुद्धसद्भावान् ।
श्रमणाश्च ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारान् ॥२॥
तास्तान् सर्वान् समक समक प्रत्येकमेव प्रत्येकम् ।
वन्दे च वर्तमानानर्हतो मानुषे क्षेत्रे ॥३॥
कृत्वार्हद्भ्य सिद्धेभ्यस्तथा नमो गणधरेभ्यः ।
अध्यापकवर्गेभ्य साधुभ्यश्चैव सर्वेभ्य ॥४॥
तेषा विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानाश्रम समासाद्य ।
उपसम्पद्ये साम्य यतो निर्वाणसप्राप्ति ॥५॥ (पञ्चकम्)

एष स्वसवेदनप्रत्यक्षदर्शनज्ञानसामान्यात्माहं सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितत्वात्त्रिलोकैकगुरुं, धौतघातिकर्ममलत्वाज्जगदनुग्रहसमर्थानन्तशक्तिपारमैश्वर्यं, योगिना तीर्थत्वात्तारणसमर्थं, धर्मकर्तृत्वाच्छुद्धस्वरूपवृत्तिविधातारम्, प्रवर्तमानतीर्थनायकत्वेन प्रथमत एव परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरपरमपूज्यसुगृहीतनामश्रीवर्धमानदेवं प्रणमामि ॥१॥ तदनु-विशुद्धसद्भावत्वादुपात्तपाकोत्तीर्णजात्यकार्तस्वरस्थानीयशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावान् शेषानतीततीर्थनायकान्, सर्वान् सिद्धांश्च, ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारयुक्तत्वात्संभावितपरम-

---

१. धोय (ज० वृ०) ।
२ पत्तेयमेव पत्तेय (ज० वृ०) ।
३ समासिज्ज (ज० वृ) ।

शुद्धोपयोगभूमिकानाचार्योपाध्यायसाधुत्वविशिष्टान् श्रमणांश्च प्रणमामि ।।२।। तदन्वेतानेव पञ्चपरमेष्ठिनस्तत्तद्व्यक्तिव्यापिनः सर्वानेव सांप्रतमेतत्क्षेत्रसंभवतीर्थकरासंभवान्महाविदेह-भूमिसंभवत्वे सति मनुष्यक्षेत्रप्रवर्तिभिस्तीर्थनायकैः सह वर्तमानकालं गोचरीकृत्य युगपद्युगप-त्प्रत्येक प्रत्येकं च मोक्षलक्ष्मीस्वयंवरायमाणपरमनैर्ग्रन्थ्यदीक्षाक्षणोचितमङ्गलाचारभूतकृति-कर्मशास्त्रोपदिष्टवन्दनाभिधानेन सम्भावयामि ।।३।। अथैवमर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसर्वसाधूना प्रणतिवन्दनाभिधानप्रवृत्तद्वैतद्वारेण भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनबलवि-लीननिखिलस्वपरविभागतया प्रवृत्ताद्वैतं नमस्कारं कृत्वा ।।४।। तेषामेवार्हत्सिद्धाचार्योपा-ध्यायसर्वसाधूनां विशुद्धज्ञानदर्शनप्रधानत्वेन सहजशुद्धदर्शनज्ञानस्वभावात्मतत्त्वश्रद्धानावबोध-लक्षणसम्यग्दर्शनज्ञानसपादकमाश्रमं समासाद्य सम्यग्दर्शनज्ञानसम्पन्नो भूत्वा, जीवत्कषायकण-तया पुण्यबन्धसम्प्राप्तिहेतुभूत सरागचारित्रं क्रमापतितमपि दूरमुत्क्रम्य सकलकषायकलिक-लङ्कविविक्ततया निर्वाणसम्प्राप्तिहेतुभूतं वीतरागचारित्राख्य साम्यमुपसपद्ये सम्यग्दर्शनज्ञान-चारित्रैक्यात्मकैकाग्र्यं गतोऽस्मीति प्रतिज्ञार्थः। एव तावदय साक्षान्मोक्षमार्गं सम्प्रतिपन्नः ।।५।।

अन्वयार्थ—[एप] यह (मै कुन्दकुन्द) [सुरासुर—मनुष्येन्द्रवन्दितम्] सुरेन्द्र, असुरेन्द्र ओर नरेन्द्रो से वन्दित [धौतघातिकर्ममलम्] चार घातिया रूप कर्म-मलको धो डालने वाले [तीर्थम्] तीर्थस्वरूप भव्य जीवो को ससार—समुद्र से तारने वाले [धर्मस्य कर्तारम्] और धर्म के कर्ता (प्रवर्तक) ऐसे [वर्धमानम्] वर्धमान नामक अन्तिम तीर्थकर को प्रणाम करता हूँ ।।१।।

[पुन] फिर-साथ ही [विशुद्ध—सद्भावान्] विशुद्ध स्वभाव वाले [ससर्वसिद्धान्] सब सिद्धात्माओ सहित [शेषान् तीर्थकरान्] अवशेप ऋषभादि पार्श्व पर्यन्त तेईस तीर्थकरो को [च] और [ज्ञान-दर्शन-चारित्र-तपोवीर्याचारान्] ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपआचार एव वीर्याचार रूप आचारो के परिपालक [श्रमणान्] श्रमणो (निर्गन्थ गुरुओ) को भी [प्रणमाणि] प्रणाम करता हूँ ।।२।।

[तान् तान् सर्वान्] उन उन सबकी-पूर्वोक्त चौबीस तीर्थकर, सब सिद्ध और आचार्यो, उपाध्याय व सर्व-साधु स्वरूप श्रमणो की [मानुषे क्षेत्रे] तथा मनुष्य लोक मे [वर्तमानान्] विद्यमान [अर्हत] अरहतो की [च] भी [समकसमकम्] साथ-साथ समुदाय के रूप मे [प्रत्येकम् एव प्रत्येकम्] अथवा प्रत्येक प्रत्येक की [बन्दे] वन्दना करता हूँ ।।३।।

[इति] इस प्रकार [अर्हद्भ्य] अरहतो को [सिद्धेभ्य] सिद्धो को [तथा] और [गणधरेभ्य] गणधरो को—आचार्यों को [अध्यापकवर्गेभ्य] उपाध्यायो को [सर्वेभ्यः साधुभ्य] तथा सब ही साधुओ को [नम कृत्वा] नमस्कार करके [तेपाम्] उन पाचो

परमेष्ठियो के [विशुद्ध-दर्शन-ज्ञानप्रधानाश्रमम्] निर्मल ज्ञान-दर्शन की प्रधानता—वाले आश्रम को [समासाद्य] प्राप्त करके [साम्यम्] समताभाव स्वरूप वीतरागचारित्र का [उपसम्पद्ये] आश्रय लेता हूँ [यत] जिसकी सहायता से [निर्वाणसम्प्राप्ति·] मुक्ति की प्राप्ति होती है ॥४–५॥

टीका—स्व-संवेदन प्रत्यक्ष का विषयभूत होकर दर्शन-ज्ञानरूप सामान्य स्वरूप वाला यह मै (कुन्दकुन्दाचार्य) सर्व प्रथम उन परम भट्टारक, देवाधिदेव, परमेश्वर, परमपूज्य एवं निर्मल कीर्तिवाले श्री वर्धमान देव को प्रणाम करता हूं, जो वर्तमानमे चल रहे तीर्थ के नायक सुरेन्द्र, धरणेन्द्र और नरेन्द्रों (तीनों लोकोंके अधिपतियों से) से वन्दित होने के कारण तीनो लोकों के अद्वितीय गुरु, घातियाकर्मरूप मैलके धो डालने से समस्त लोक के अनुग्रह करने मे समर्थ ऐसी अनन्त शक्तिरूप सर्वोत्कृष्ट ऐश्वर्य से सुशोभित योगीजनों के तीर्थ होने से उनके तारने मे समर्थ, और धर्म के प्रवर्तक होने से शुद्ध स्वरूपवाली प्रवृत्ति के विधाता (कर्ता) हैं ॥१॥

तत्पश्चात्-श्री वर्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार करने के अनन्तर–विशुद्ध स्वभाव वाले होने से जिस प्रकार प्रथमादि सोलह तावों को प्राप्त उत्तम जाति के सुवर्ण को अन्तिम ताव से उतारने पर वह अपने विशुद्ध व निर्मल स्वभाव को प्राप्त होता है, उसी प्रकार जो उस सुवर्ण के समान विशुद्ध दर्शन-ज्ञान रूप स्वभाव को प्राप्त कर चुके हैं, ऐसे अतीत तीर्थ के शेष अधिनायकों को (वृषभादि पार्श्व पर्यन्त तेईस तीर्थंकरो को) सब सिद्धों को, तथा ज्ञानाचार दर्शनाचार, चारित्राचार, तपआचार और वीर्याचार रूप पांच प्रकार के आचारों से युक्त होने के कारण जिनके अतिशय शुद्ध उपयोग की भूमिका की सम्भावना हो चुकी है, अर्थात् जो शुद्ध उपयोग की प्राप्ति के अभिमुख हैं, ऐसे आचार्य उपाध्याय और साधुत्व विशेषणों से भेद को प्राप्त हुए श्रमणों को-निर्ग्रन्थ गुरुओ को भी प्रणाम करता हूं ॥२॥

तत्पश्चात् विविध व्यक्तियों मे व्याप्त रहने वाले इन्हीं पाँचों परमेष्ठियो का मैं इस समय इस भरतक्षेत्र में उत्पन्न तीर्थंकरों की सम्भावना के न होने पर भी विदेहक्षेत्र में तो उनकी सम्भावना है ही, अतः मनुष्यक्षेत्र-वर्ती (अढाईद्वीपस्थ पन्द्रह कर्मभूमियों में वर्तमान) तीर्थंकरों के साथ वर्तमान काल को विषयभूत करके–वर्तमान काल में अवस्थित जैसे मानकर समुदायरूप में उन सबको साथ-साथ तथा पृथक्-पृथक् रूप से भी मोक्ष-लक्ष्मी के स्वयंवर-स्वरूप उत्कृष्ट जिनदीक्षा-कल्याणक के अवसरोचित मंगलाचरणभूत कृतिकर्म नामक शास्त्र में प्ररूपित वदना के नाम से सम्भावना करता हूँ—उसके प्रति प्रमाणादि के रूप में आदर व्यक्त करता हुआ आराधन करता हूँ ॥३॥

इस प्रकार से अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और समस्त साधुओं को प्रणाम व वंदना के नाम से प्रवृत्ति में आये हुये द्विविधतारूप द्वैत द्वारा भाव्य-भावक, आराध्य-आराधक भाव से वृद्धिङ्गत अतिशय गाढ़ आपस में एक-मेक हो जाने के बल से समस्त स्व-पर भेद के विलीन हो जाने पर जिसमें अद्वैतभाव (एकत्व या अभेद) आ चुका है, ऐसे अद्वैत नमस्कार को करके उन्हीं अरहंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सब साधुओं के निर्मल ज्ञान व दर्शन की प्रधानता से स्वभावतः शुद्ध दर्शन-ज्ञान स्वभावरूप आत्मतत्व के श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन और उसी के अवबोधरूप सम्यग्ज्ञान को प्राप्त कराने वाले आश्रम को प्राप्त करके स्वयं सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से सम्पन्न सम्पत्तिशाली होता हुआ, कुछ कषाय के अंश के जीवित रहने से पुण्यबन्ध की प्राप्ति के कारणभूत सरागचारित्र के क्रम मे आ पड़ने पर भी उसको दूर लांघकर समस्त कषाय रूप कलि-कलंक से भिन्न होने के कारण जो वीतरागचारित्र नामक समताभाव मुक्ति प्राप्ति का कारणभूत है, उसका आश्रय लेता हूँ—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकाग्रता को प्राप्त हुआ हूँ, इस प्रकार प्रतिज्ञा का अभिप्राय है। इस प्रकार यह साक्षात् मोक्षमार्ग को प्राप्त हुआ है ॥४-५॥

विशेषार्थ—यहाँ भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य ने मुक्ति के कारण-भूत प्रवचनसार नामक इस ग्रन्थ को प्रारम्भ करते हुए सर्वप्रथम उन अन्तिम तीर्थंकर श्री वर्धमान जिनेन्द्र को नमस्कार किया है, जिनका वर्तमान मे तीर्थ चल रहा है। इसके पश्चात् उन्होंने आदिनाथ प्रभृति उन शेष तेईस तीर्थंकरों को भी नमस्कार किया है, जिनका तीर्थ यथासमय भूतकाल में चलता रहा है। साथ ही उन्होंने सिद्धो, आचार्यों, उपाध्यायों और सर्वसाधुओं को भी नमस्कार किया है। अनन्तर उन्होंने मनुष्य लोक में वर्तमान सब ही अरहंतों की समुदाय रूप में और पृथक्-पृथक् भी वंदना की है। अन्त में उन्होंने यह प्रतिज्ञा की है कि इस प्रकार से मैं अरहंतों, सिद्धों, गणधरों और अध्यापक वर्ग के रूप में आचार्य, उपाध्याय एवं साधुओं को भी नमस्कार करके उनके विमल दर्शन-ज्ञानादिस्वरूप निश्चयरत्नत्रय को प्राप्त कराने वाले आश्रम का आश्रय लेकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और वीतरागचारित्र से सम्पन्न होता हूँ। सरागचारित्र संवर निर्जरा के साथ पुण्य बन्ध का भी कारण है और मोक्ष का परम्परा कारण होने से उन्होंने उसकी उपेक्षा की है और साम्य नाम से प्रसिद्ध एक वीतरागचारित्र से अपने को सम्पन्न—सम्पत्तिशाली बतलाया है, कारण कि परमानन्द स्वरूप मुक्ति का कारण एकमात्र वही है।

इस प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द ने प्रतिज्ञा का अभिप्राय सूचित किया है कि मैं जो

सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की एकतारूप एकाग्रता को प्राप्त हुआ हूं, यही मेरा प्रतिज्ञात अर्थ है। कारण कि उक्त रत्नत्रय की एकतारूप एकाग्रता ही साक्षात मोक्ष का मार्ग है।

यहां वृत्तिकार श्री अमृतचन्द्राचार्य ने पांच परमेष्ठियों के लिये किये गये नमस्कार को द्वैत व अद्वैतरूप दोनों प्रकार का बतलाया है। द्वैत तो उसमें इसलिये है कि प्रणाम व वंदना के कर्ता तो आचार्य कुन्दकुन्द हैं तथा उस प्रणाम व वंदना के विषय है उपर्युक्त पांचों परमेष्ठी। इस प्रकार जहां उपास्य का भेद है वहां उनको किया गया नमस्कार द्वैत ही हो सकता है। पर जब जीव निश्चय रत्नत्रय की एकतारूप एकाग्रता को प्राप्त होता है, तब उस समय निर्विकल्पसमाधि मे उक्त प्रकार का उपास्य-उपासक आदि किसी प्रकार का द्वैतभाव नहीं रहता, इसीलिये ऐसा नमस्कार अद्वैत रूप ही होता है ॥१-५॥

तात्पर्यवृत्ति

पणमामीत्यादिपदखण्डनारूपेण व्याख्यान क्रियते—**पणमामि** प्रणमामि। स क. कर्ता ? **एस** एषोऽहं ग्रन्थकरणोद्यतमना: स्वसंवेदनप्रत्यक्ष। कम् ? **वड्ढमाण** अवसमन्तादृद्ध वृद्ध मान प्रमाण ज्ञान यस्य स भवति **वर्धमान**, 'अवाप्योरल्लोप' इति लक्षणन भवत्यकारलोपोऽवशब्दस्यात्र, त रत्नत्रयात्मकप्रवर्तमानधर्मतत्त्वोपदेशक श्रीवर्धमानतीर्थंकरपरमदेवम्। क्व प्रणमामि ? प्रथमत एव। कि विशिष्ट ? **सुरासुरमणुसिंदवंदिद** त्रिभुवनाराध्यानन्तज्ञानादिगुणाधारपदाधिष्ठितत्वात्तत्पदाभिलाषिभिस्त्रिभुवनाधीशैः सम्यगाराध्यपादारविन्दत्वाच्च सुरासुरमनुष्येन्द्रवन्दितम्। पुनरपि किंविशिष्ट ? **धोयघाइकम्ममल** परमसमाधिसमुत्पन्नरागादिमलरहितपारमार्थिकसुखामृतरूपनिर्मलनीरप्रक्षालितघातिकर्ममलत्वादन्येषा पापमलप्रक्षालनहेतुत्वाच्च धौतघातिकर्ममलम्। पुनश्च किंलक्षणम् ? **तित्थ** दृष्टश्रुतानुभूतविषयसुखाभिलाषरूपनीरप्रवेशरहितेन परमसमाधिपोतेनोत्तीर्णसंसारसमुद्रत्वात् अन्येषां तरणोपायभूतत्वाच्च तीर्थम्। पुनश्च कि रूपम् ? **धम्मस्स कत्तार** निरुपरागात्मतत्त्वपरिणतिरूपनिश्चयधर्मस्योपादानकारणत्वात् अन्येषामुत्तमक्षमादिबहुविधधर्मोपदेशकत्वाच्च धर्मस्य **कर्तारम्**। इति क्रियाकारकसम्बन्ध। एवमन्तिमतीर्थंकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गता ॥१॥ तदनन्तरं प्रणमामि। कान् ? **सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे** शेषतीर्थंकरान्, पुन: ससर्वसिद्धान् वृषभादिपार्श्वपर्यन्तान् शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणसर्वसिद्धसहितानेतान् सर्वानपि। कथभूतान् ? **विसुद्धसब्भावे** निर्मलात्मोपलब्धिबलेन विश्लेषिताखिलावरणत्वात्केवलज्ञानदर्शनस्वभावत्वाच्च विशुद्धसद्भावान्। **समणे य** श्रमणशब्दवाच्यानाचार्योपाध्यायसाधूश्च। किंलक्षणान् ? **णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे** सर्वविशुद्धद्रव्यगुणपर्यायात्मके चिद्वस्तुनि यासौ रागादिविकल्परहितनिश्चलचित्तवृत्तिस्तदन्तर्भूतेन व्यवहारपञ्चाचारसहकारिकारणोत्पन्नेन निश्चयपञ्चाचारेण परिणतत्वात् सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारोपेतानिति। एव शेषत्रयोविंशतितीर्थंकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गता ॥२॥ अथ **ते ते सव्वे** तास्तान्पूर्वोक्तानेव पञ्चपरमेष्ठिन सर्वान **वंदामि य** वन्दे, अहं कर्ता। **कथ ? समगं समग** समुदायवन्दनापेक्षया युगपद्युगपत्। पुनरपि कथ ? **पत्तेयमेव पत्तेय** प्रत्येकवन्दनापेक्षया प्रत्येक प्रत्येकम्। न केवलमेतान् वन्दे। **अरहते** अर्हंत:। किंविशिष्टान् ? **वट्टंते माणुसे खेत्ते**

वर्तमानान् । क्व ? मानुषे क्षेत्रे । तथाहि—साम्प्रतमत्र भरतक्षेत्रे तीर्थकराभावात् पञ्चमहाविदेहस्थित सीमन्धरस्वामितीर्थंकरपरमदेवप्रभृतितीर्थंकरै. सह तानेव पञ्चपरमेष्ठिनो नमस्करोमि । कया ? करणभूतया मोक्षलक्ष्मीस्वयवरमण्डपभूते जिनदीक्षाक्षणे मङ्गलाचारभूतया अनन्तज्ञानादि-सिद्धगुणभावनारूपया सिद्धभक्त्या, तथैव निर्मलसमाधिपरिणतपरमयोगिगुणभावनालक्षणया योगभक्त्या चेति । एव पूर्वविदेहतीर्थकरनमस्कारमुख्यत्वेन गाथा गतेत्यभिप्राय: ॥३॥ अथ **किच्चा** कृत्वा । कम् ? **णमो** नमस्कारम् । केभ्य ? **अरहंताणं सिद्धाणं तह गणहराणं अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेव** अर्हत्सिद्धगणधरोपाध्यायसाधुभ्यश्चैव । कतिसख्योपेतेभ्य ? **सव्वेसिं** सर्वेभ्य: । इति पूर्वगाथात्रयेण कृतपञ्चपरमेष्ठिनमस्कारोपसहारोऽयम् ॥४॥ एवं पञ्चपरमेष्ठिनमस्कार कृत्वा किं करोमि ? **उवसपयामि** उपसपद्ये समाश्रयामि । किम् ? **सम्मं** साम्य चारित्रम् । यस्मात् किं भवति ? **जत्तो णिव्वाणसपत्ती** यस्मान्निर्वाणसप्राप्ति । किं कृत्वा पूर्वं ? **समासिज्ज** समासाद्य प्राप्य । कम ? **विसुद्धणाणदसणपहाणासम** विशुद्धज्ञानदशनलक्षणप्रधानाश्रमम् । केषा सम्बधित्वेन ? **तेसिं** तेषा पूर्वोक्तपरमेष्ठिनामिति । तथाहि—अहमाराधक., एते चार्हदादय आराध्या, इत्याराध्याराधक-विकल्परूपो द्वैतनमस्कारो भण्यते । रागाद्युपाधिविकल्परहितपरमसमाधिबलेनात्मन्येवाराध्याराधक-भाव· पुनरद्वैतनमस्कारो भण्यते । इत्येवलक्षण पूर्वोक्तगाथात्रयकथितप्रकारेण पञ्चपरमेष्ठिसम्बधिन द्वैताद्वैतनमस्कार कृत्वा । तत किं करोमि ? रागादिभ्यो भिन्नोऽय स्वात्मोत्थसुखस्वभाव परमात्मेति भेदज्ञान, तथा स एव सर्वप्रकारोपादेय इति रुचिरूप सम्यक्त्वमित्युक्तलक्षणज्ञानदर्शनस्वभाव, मठचैत्यालयादिलक्षणव्यवहाराश्रमाद्विलक्षण, भावाश्रमरूप प्रधानाश्रम प्राप्य, तत्पूर्वक क्रमायातमपि सरागचारित्र पुण्यबन्धकारणमिति ज्ञात्वा परिहृत्य निश्चलशुद्धात्मानुभूतिस्वरूप वीतरागचारित्र-महमाश्रयामीति भावार्थ । एव प्रथमस्थले नमस्कारमुख्यत्वेन गाथापञ्चक गतम् ॥५॥

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(एस) यह जो मै ग्रन्थकार इस ग्रन्थ को करने का उद्यमी हुआ हूँ और अपने ही द्वारा अपने आत्मा का अनुभव करने मे लवलीन हूँ सो (सुरासुर-मणुसिंदवंदिदं) तीन जगत् मे पूजने योग्य अनंतज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य आदि गुणों के आधारभूत अर्हंत पद में विराजमान होने के कारण से तथा इस पद के चाहने वाले तीन भुवन के बड़े पुरुषो द्वारा भले प्रकार जिनके चरण कमलों की सेवा की गई है इस कारण से स्वर्गवासी देवो और भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी देवो के इन्द्रों से वंदनीक, (धोयघाइ-कम्ममलं) परम आत्म-लवलीनतारूप समाधिभाव से जो रागद्वेषादि मलों से रहित निश्चय आत्मीक सुखरूपी अमृतमय निर्मल जल उत्पन्न होता है, उससे ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय इन चार घातियाकर्मों के मल को धोने वाले अथवा दूसरों के पापरूपी मल के धोने के लिए निमित्त कारण होने वाले, (धम्मस्स कत्तारं) रागादि से शून्य निज आत्मतत्व में परिणमन रूप निश्चय धर्म के उपादान कर्त्ता अथवा दूसरे जीवो को उत्तम क्षमा आदि अनेक प्रकार धर्म का उपदेश देने वाले (तित्थं) तीर्थ अर्थात् देखे, सुने, अनुभवे इन्द्रियों के विषय सुख की इच्छा रूप जल के प्रवेश से दूरवर्ती,**

परम समाधिरूपी जहाज पर चढ़कर संसार समुद्र से तिरने वाले अथवा दूसरे जीवों को संसार सागर से पार होने का उपाय-मय एक जहाजस्वरूप (वड्ढमाणं) सब तरह अपने उन्नतरूप ज्ञान को धरने वाले तथा रत्नत्रयमय धर्म तत्व के उपदेश करने वाले श्री वर्धमान तीर्थंकर परमदेव को (पणमामि) नमस्कार करता हूं ।।१।।

(पुण) फिर मैं (विसुद्धसब्भावं) निर्मल आत्मा के अनुभव के बल से सर्व आवरण को दूरकर केवलज्ञान, केवलदर्शन स्वभाव को प्राप्त होने वाले (सेसे तित्थयरे) शेष वृषभ आदि पार्श्वनाथ पर्यंत २३ तीर्थंकरों को (ससव्वसिद्धे) और शुद्ध आत्मा की प्राप्ति-रूप सर्व सिद्ध महाराजों को (य) तथा (णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे) सर्व प्रकार विशुद्धद्रव्य गुण पर्यायमय-चैतन्य वस्तु मे जो रागद्वेष आदि विकल्पों से रहित निश्चल चित्त का वर्तना उसमें अंतर्मूत जो व्यवहारदर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्य सहकारी कारण से उत्पन्न निश्चय पंचाचार उसमे परिणमन करने से यथार्थ पंचाचार को पालने वाले (समणे) श्रमण शब्द से वाच्य आचार्य, उपाध्याय, और साधुओं को नमस्कार करता हूं ।।२।। (ते ते सब्वे) उन उन पूर्व मे कहे हुए पच परमेष्ठियों को (समगं समगं) समुदाय रूप वंदना की अपेक्षा एक साथ तथा (पत्तेयं पत्तेयं) प्रत्येक को अलग-अलग वंदना की अपेक्षा प्रत्येक को (य) और (माणुसे खेत्ते) मनुष्यों को रहने के क्षेत्र ढाईद्वीप में (वट्टंते) वर्तमान (अरहंते) अरहंतों को (वंदामि) मै वन्दना करता हूं । भाव यह कि वर्तमान में इस भरतक्षेत्र में तीर्थंकरों का अभाव है परन्तु ढाईद्वीप के पांच विदेहों मे सीमन्धर स्वामी आदि २० तीर्थंकर परमदेव विराजमान हैं, इन सबके साथ उक्त पहले कहे हुए पांच परमेष्ठियों को नमस्कार करता हूं । नमस्कार दो प्रकार का होता है द्रव्य और भाव, इनमें भाव-नमस्कार मुख्य है । इस भाव नमस्कार को मैं मोक्ष की साधन रूप सिद्ध-भक्ति तथा योग-भक्ति से करता हूं । मोक्ष रूप लक्ष्मी का स्वयंवर मंडप रूप जिनेन्द्र के दीक्षा-काल में मंगलाचार रूप तो अनन्तज्ञानादि सिद्ध गुणों की भावना करना उसको सिद्ध-भक्ति कहते हैं । तैसे ही निर्मल समाधि मे परिणमन रूप परम योगियों के गुणों की अथवा परम योग के गुणों की भावना करना सो योग-भक्ति है । इस तरह इस गाथा में विदेहों के तीर्थंकरों के नमस्कार की मुख्यता से कथन किया गया है ।।३।। (सव्वेसिं) सर्व ही (अरहंताणं) अरहंतों को (सिद्धाणं) आठ कर्म रहित सिद्धों को (गणहराणं) चार ज्ञान के धारी गणधर आचार्यों को (तह) तथा (अज्झावयवग्गाणं) उपाध्याय समूह को और (चेव) तैसे ही (साहूणं) साधुओं को (णमो किच्चा) भाव और द्रव्य से नमस्कार

करके आगे कहूंगा जो करना है ॥४॥ (तेसिं) उन पूर्व में कहे हुए पांच परमेष्ठियों में (विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं) विशुद्ध दर्शन ज्ञानमयी लक्षणधारी प्रधान आश्रम को (समासिज्ज) भले प्रकार प्राप्त होकर (सम्मं) साम्यभाव रूप चारित्र को (उपसंपयामि) भले प्रकार धारण करता हूं (जत्तो) जिस साम्यभावरूप चारित्र से (णिव्वाणसंपत्ती) निर्वाण की प्राप्ति होती है ॥५॥

यहाँ टीकाकार खुलासा करते हैं कि मैं आराधना करने वाला हूं तथा ये अर्हंत आदिक आराधना करने के योग्य हैं, ऐसे आराध्य–आराधक का जहाँ विकल्प है, उसे द्वैत नमस्कार कहते हैं तथा रागद्वेषादि औपाधिक भाव के विकल्पों से रहित जो परम समाधि है, उसके बल से आत्मा में ही आराध्य–आराधक भाव होना अर्थात् दूसरा कोई भिन्न पूज्य-पूजक नहीं है, मैं ही पूज्य हूँ, मैं ही पूजारी हूँ, ऐसा एकत्वभाव स्थिरतारूप होना, उसे अद्वैत नमस्कार कहते हैं। पूर्व गाथाओं मे कहे गए पांच परमेष्ठियों को इस लक्षण रूप द्वैत अथवा अद्वैत नमस्कार करके मठ चैत्यालय आदि व्यवहार आश्रम से विलक्षण भावाश्रम रूप जो मुख्य आश्रम है उसको प्राप्त होकर मैं वीतरागचारित्र को आश्रय करता हूं। अर्थात् रागादिकों से भिन्न यह अपने आत्मा से उत्पन्न सुख स्वभाव का रखने वाला परमात्मा है, सो ही निश्चय से मैं हूं। ऐसा भेदज्ञान तथा वही परमात्मस्वभाव सब तरह से ग्रहण करने योग्य है ऐसी रुचि रूपी सम्यग्दर्शन है, इस तरह दर्शन ज्ञान स्वभावमयी भावाश्रम है। इस भावाश्रम-पूर्वक आचरण में आता हुआ, जो पुण्य-बंध का कारण सरागचारित्र है, उसे हेय जानकर त्याग करके निश्चल शुद्धात्मा के अनुभव स्वरूप वीतरागचारित्र भाव को ग्रहण करता हूं।

अथायमेव वीतराग-सरागचारित्रयोरिष्टानिष्टफलत्वेनोपादेयहेयत्वं विवेचयति—

संप[1]ज्जदि णिव्वाणं देवासुरमणुयरायविहवेहिं।
जीवस्स चरित्तादो दंसणणाणप्पहाणादो ॥६॥

सपद्यते निर्वाणं देवासुरमनुजराजविभवै ।
जीवस्य चारित्राद्दर्शनज्ञानप्रधानात् ॥६॥

संपद्यते हि दर्शनज्ञानप्रधानाच्चारित्राद्वीतरागान्मोक्षः, तत एव च सरागाद्देवासुरमनुजराजविभवक्लेशरूपो बन्धः। अतो मुमुक्षुणेष्टफलत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयमनिष्टफलत्वात् सरागचारित्रं हेयम् ॥६॥

(1) सपज्जइ (ज० वृ०)।

भूमिका—आगे स्वयं आचार्य कुन्दकुन्द ही वीतरागचारित्र को अभीष्ट फल (मोक्ष) का जनक होने से उपादेय और सरागचारित्र को अनिष्टफल—स्वर्गादिकी प्राप्ति का कारण होने से हेय बतलाते है—

अन्वयार्थ—[दर्शन–ज्ञानप्रधानात्] सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्रधानता-युक्त [चारित्रात्] चारित्र से [जीवस्य] जीवो को [देवासुरमनुजराजविभवै] देवराज, असुरराज (धरणेन्द्र) और मनुजराज (चक्रवर्ती) की विभूतियो के साथ [निर्वाणम्] निर्वाण भी [सपद्यते] प्राप्त होता है ॥६॥

टीका—**दर्शन ज्ञान की प्रमुखता युक्त वीतरागचारित्र से मोक्ष प्राप्त होती है और उस ही (दर्शन-प्रधान) सरागचारित्र से देवराज, असुरराज और मनुजराज के वैभव का, (जो परिणाम में क्लेश-जनक है), सम्बन्ध प्राप्त होता है। इसलिये मुमुक्षु जीव को इष्ट फल वाला होने से वीतराग-चारित्र उपादेय है और अनिष्ट फल वाला होने से सराग-चारित्र हेय है ॥६॥**

विशेषार्थ—**सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान के साथ जो सुख का साधक ज्ञान संयमा-चरण में अनुराग होता है उसका नाम सराग-चारित्र है और वह पुण्यबन्ध का कारण होने से इन्द्रादिकों की विभूति को प्राप्त कराता है। परन्तु यह सब विभूति वस्तुतः क्लेश-जनक ही होती है। साक्षात् निराकुल सुख की सम्भावना उससे नहीं है। इसीलिये साक्षात् शाश्वतिक निर्बाध सुख के अभिलाषी उसे हेय ही मानते है। यह बात अलग है कि जब कि जीव की शुद्ध आत्मस्वरूप मे स्थिति नहीं होती है तब तक उन्हे अपेक्षाकृत वह भी ग्राह्य होता है, पर उनकी बुद्धि उसमे हेय रूप ही रहती है। इसके विपरीत जो रागभाव के बिना संयम रूप आचरण होता है, वह चूंकि साक्षात् मोक्ष का कारण होता है—अतएव वह सर्वथा उपादेय ही होता है ॥६॥**

तात्पर्यवृत्ति—

अथोपादेयभूतस्यातीद्रियसुखस्य कारणत्वाद्वीतरागचारित्रमुपादेयम्। अतीन्द्रियसुखापेक्षया हेयस्येन्द्रिय सुखस्य कारणत्वात्सरागचारित्र हेयमित्युपदिशति—

संपज्जइ सपद्यते किम्? **णिव्वाण** निर्वाणम्। कथम्? सह। कै? **देवासुरमणुयरायविहवेहिं** देवासुरमनुष्यराजविभवै.। कस्य? **जीवस्स** जीवस्य। कस्मात्? **चरित्तादो** चारित्रात्। कथभूतात्? **दंसणणाणप्पहाणादो** सम्यग्दर्शनज्ञानप्रधानादिति। ततथा—आत्माधीनज्ञानसुखस्वभावे शुद्धात्मद्रव्ये यन्निश्चलनिर्विकारानुभूतिरूपमवस्थान तल्लक्षणनिश्चयचारित्राज्जीवस्य समुत्पद्यते। किम्? पराधी-नेन्द्रियजनितज्ञानसुखविलक्षण, स्वाधीनातीन्द्रियरूपपरमज्ञानसुखलक्षण निर्वाणम्। सरागचारित्रा-

स्पुनर्देवासुरमनुष्यराजविभूतिजनको मुख्यवृत्त्या विशिष्टपुण्यबन्धो भवति, परम्परया निर्वाणं चेति। असुरेषु मध्ये सम्यग्दृष्टि. कथमुत्पद्यते इति चेत्? निदानबन्धेन सम्यक्त्वविराधनां कृत्वा तत्रोत्पद्यत इति ज्ञातव्यम्। अत्र निश्चयेन वीतरागचारित्रमुपादेयं सरागं हेयमिति भावार्थः ॥६॥

उत्थानिका—जिस वीतरागचारित्र का मैंने आश्रय लिया है, वही वीतरागचारित्र प्राप्त करने योग्य अतीन्द्रिय सुख का कारण है, इससे ग्रहण करने योग्य है तथा सरागचारित्र अतीन्द्रिय सुख की अपेक्षा से त्यागने योग्य है, क्योंकि वह इन्द्रिय सुख का भी कारण है, इससे भी सरागचारित्र छोडने योग्य है, ऐसा उपदेश करते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जीवस्स) इस जीव के (दंसणणाणप्पहाणादो) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्रधानता पूर्वक (चरित्तादो) सम्यक्चारित्र के पालने से (देवा-सुरमणुयराय- विहवेहिं) कल्पवासी, भवनत्रिक तथा चक्रवर्ती आदि राज्य की विभूतियों के साथ साथ (णिव्वाण) निर्वाण (संपज्जइ) प्राप्त होती है !**

प्रयोजन यह है कि—आत्मा के अधीन निज सहज ज्ञान और सहज आनन्द स्वभाव वाले अपने शुद्ध आत्म द्रव्य मे जो निश्चलता से विकार-रहित अनुभूति प्राप्त करना अथवा उसमें ठहर जाना सो ही है, लक्षण जिसका, ऐसे निश्चयचारित्र के प्रभाव से इन जीव के पराधीन इन्द्रियजनित ज्ञान और सुख से विलक्षण तथा स्वाधीन 'अतीन्द्रिय उत्कृष्ट ज्ञान और अनन्त सुख हैं लक्षण जिसका, ऐसा निर्वाण प्राप्त होता है तथा सराग चारित्र के कारण कल्पवासी देव, भवनत्रिकदेव, चक्रवर्ती आदि की विभूति को उत्पन्न करने वाला मुख्यता से विशेष पुण्यबंध होता है तथा उससे परम्परा से निर्वाण प्राप्त होता है। असुरो के मध्य मे सम्यग्दृष्टि कैसे उत्पन्न होता है? इसका समाधान यह है कि निदान करने के भाव से सम्यक्त्व की विराधना करके यह जीव भवनत्रिक में उत्पन्न होता है, ऐसा जानना चाहिये। यहाँ भाव यह है कि निश्चयनय से वीतरागचारित्र उपादेय अर्थात् ग्रहण करने योग्य हैं तथा सरागचारित्र हेय अर्थात त्यागने योग्य है।

तात्पर्य यह है कि हमको मोक्ष का साधक निश्चयरत्नत्रयमयी वीतरागचारित्र को समझना चाहिये और व्यवहाररत्नत्रयमयी सरागचारित्र को उसका निमित्तकारण या परम्परा कारण समझना चाहिये।

अथ चारित्रस्वरूपं विभावयति—

चारित्तं खलु धम्मो धम्मो जो सो समोत्ति णिद्दिट्ठो ।
मोहक्खोह-विहीणो परिणामो अप्पणो हु समो ॥७॥

चारित्रं खलु धर्मो धर्मो यस्तत्साम्यमिति निर्दिष्टम् ।
मोहक्षोभविहीनः परिणाम आत्मनो हि साम्यम् ॥७॥

स्वरूपे चरणं चारित्रम, स्वसमयप्रवृत्तिरित्यर्थः तदेव वस्तुस्वभावत्वाद्धर्मः, शुद्धचैतन्यप्रकाशनमित्यर्थः । तदेव च यथावस्थितात्मगुणत्वात्साम्यम् । साम्यं तु दर्शनचारित्रमोहनीयोदयापादितसमस्तमोहक्षोभाभावादत्यन्तनिर्विकारो जीवस्य परिणामः ॥७॥

भूमिका—**अब चारित्र के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं ।**

अन्वयार्थ—[चारित्रम्] चारित्र [खलु] वास्तव मे [धर्मः] धर्म है [यः धर्मः] और जो धर्म है [तत् साम्यम्] वह साम्य है [इति] ऐसा [निर्दिष्टम्] जिनेन्द्रो द्वारा कहा गया है । [साम्यम्] साम्य ही वास्तव मे [मोहक्षोभविहीनः] मोह (मिथ्यात्व) और क्षोभ (राग-द्वेष) रहित [आत्मनः परिणामः] आत्मा का परिणाम है ॥७॥

टीका—**स्वरूप में चरण करना सो (स्वरूपाचरण) चारित्र है । स्वसमय मे प्रवृत्ति करना (परसे भिन्न अपने स्वभाव मे प्रवृत्ति करना) यह इसका अर्थ है, वही वस्तु का स्वभाव होने से धर्म है । शुद्ध चैतन्य का प्रकाश करना, यह इसका अर्थ है । वही यथावस्थित आत्मगुण होने से (विषमता रहित सुस्थित आत्मा का गुण होने से) साम्य है, और साम्य, दर्शनमोहनीयकर्म तथा चारित्रमोहनीयकर्म के उदय से उत्पन्न होने वाले समस्त मोह और क्षोभ (राग द्वेष) के अभाव के कारण से अत्यन्त निर्विकार जीव का परिणाम है ॥७॥**

तात्पर्यवृत्ति—

अथ निश्चयचारित्रस्य पर्यायनामानि कथयामीत्यभिप्रायं मनसि सप्रधार्य सूत्रमिदं निरूपयति—,

एवमग्रेऽपि विवक्षितसूत्रार्थं मनसि धृत्वाथवास्य सूत्रस्याग्रे सूत्रमिदमुचितं भवत्येवं निश्चित्य सूत्रमिदं प्रतिपादयतीति पातनिकालक्षणं यथासंभवं सर्वत्र ज्ञातव्यम्—**चारित्तं** चारित्रं कर्तृ **खलु धम्मो** खलु स्फुटं धर्मो भवति । **धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो** धर्मो यः स तु शम इति निर्दिष्टः । **समो** यस्तु शमः सः **मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पणो हु** मोहक्षोभविहीनः परिणामः । कस्य ? आत्मनः । **हु** स्फुटमिति । तथाहि-शुद्धचित्स्वरूपे चरणं चारित्रं, तदेव चारित्रं मिथ्यात्वरागादिसंसरणरूपे भावसंसारे पतन्तं प्राणिनमुद्धृत्य निर्विकारशुद्धचैतन्ये धरतीति धर्मः । स एव धर्मः स्वात्मभावनोत्थसुखामृतशीतजलेन कामक्रोधादिरूपाग्निजनितस्य संसारदुःखदाहस्योपशमकत्वात् शम इति । ततश्च शुद्धात्मश्रद्धानरूपसम्यक्त्वस्य विनाशको दर्शनमोहाभिधानो मोह इत्युच्यते । निर्विकारनिश्चलचित्तवृत्तिरूपचारित्रस्य विनाशकश्चारित्रमोहाभिधानः क्षोभ इत्युच्यते । तयोर्विध्वंसकत्वात्स एव शमो मोहक्षोभविहीनः शुद्धात्मपरिणामो भण्यत इत्यभिप्रायः ॥ ७ ॥

उत्थानिका—आगे निश्चयचारित्र का स्वरूप तथा उसके पर्याय नामो का अभिप्राय मन मे धारण करके आगे का सूत्र कहते है—इसी तरह आगे भी एक सूत्र के आगे दूसरा सूत्र कहना उचित है। ऐसा कहते रहेंगे, इस तरह की पातनिका यथासम्भव सर्वत्र जाननी चाहिये।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(चारित्तं) चारित्र (खलु) प्रगटपने (धम्मो) धर्म है (जो धम्मो) जो यह धर्म है (सो समोत्ति) सो ही सम या साम्यभाव है, ऐसा (णिद्दिट्ठो) कहा गया है। (अप्पणो) आत्मा का (मोहक्खोहविहीणो) मोह और क्षोभ से रहित (परिणामो) भाव है (हि) वही निश्चय करके (समो) समता भाव है।**

प्रयोजन यह है कि शुद्धचैतन्य के स्वरूप मे आचरण करना चारित्र है। यही चारित्र मिथ्यात्व रागद्वेषादि द्वारा संसरणरूप जो भाव संसार उसमे पड़ते हुए प्राणी का उद्धार करके विकार-रहित शुद्ध चैतन्यभाव मे धारण करने वाला है, इससे यह चारित्र ही धर्म है। यही धर्म अपने आत्मा की भावना से उत्पन्न जो सुखरूपी अमृत उस रूप शीतल जल के द्वारा काम क्रोध आदि अग्नि से उत्पन्न संसार के दुःखों की दाह को उपशम करने वाला है, इससे यही शम, शांतभाव या साम्यभाव है। मोह और क्षोभ के ध्वंस करने के कारण से वही शांतभाव मोह क्षोभ रहित शुद्ध आत्मा का परिणाम कहा जाता है। शुद्ध आत्मा के श्रद्धान रूप सम्यग्दर्शन को नाश करने वाला जो दर्शनमोहनीय-कर्म है, उसे मोह कहते हैं। तथा निर्विकार निश्चल चित्त के वर्तनरूप चारित्र को नाश करने वाला है, वह चारित्र मोहनीयकर्म या क्षोभ कहलाता है।

अथात्मनश्चारित्रत्वं निश्चिनोति—

परिणमदि जेण दव्वं तक्कालं[1] तम्मय त्ति पण्णत्तं।
तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो[2] ॥८॥

परिणमति येन द्रव्य तत्काल तन्मयमिति प्रज्ञप्तम्।
तस्माद्धर्मपरिणत आत्मा धर्मो मन्तव्य ॥८॥

यत्खलु द्रव्यं यस्मिन्काले येन भावेन परिणमति तत् तस्मिन् काले किलौष्ण्यपरिणतायःपिण्डवत्तन्मयं भवति। ततोऽयमात्मा धर्मेण परिणतो धर्म एव भवतीति सिद्धमात्मानश्चारित्रत्वम् ॥८॥

भूमिका—**अब, आत्मा चारित्ररूप का निश्चय करते हैं—**

---

१ तक्काले (ज० वृ०)। २ मुणेदव्वो (ज० वृ०)।

अन्वयार्थ—[द्रव्यम्] द्रव्य [यत्कालम्] जिस समय मे [येन भावेन] जिस भाव से [परिणमति] परिणमन करता है [तत्कालम्] उस समय [तन्मयं] उस रूप है [इति] ऐसा [प्रज्ञप्तम्] श्री जिनेन्द्रो द्वारा कहा है। [तस्मात्] इसीलिये [धर्मपरिणत आत्मा] धर्म परिणत आमा को [धर्म] धर्म [मन्तव्य] जानना चाहिये।

टीका—**वास्तव में जो द्रव्य जिस समय मे जिस भाव से परिणत होता है, वह द्रव्य उस समय में उसी—स्वरूप है, उससे भिन्न नहीं है। जैसे—उष्णता रूप से परिणत लोहे का गोला उस स्वरूप (उष्णतामय) होता है। इस कारण धर्म रूप से परिणत आत्मा धर्म ही है। इस प्रकार आत्मा की चारित्रता सिद्ध हुई (पर्यायदृष्टि से आत्मा का चारित्र से अभेद करके कथन किया है)।**

यहाँ यह विशेषता समझना चाहिये कि पूर्व मे (गाथा ७) में कहा था कि चारित्र आत्मा का भाव है। पर इस गाथा मे अभेद नय से यह कहा गया है कि जैसे उष्णभाव से परिणत लोहे का गोला स्वयं उष्ण है—लोहे का गोला उष्णता से भिन्न नहीं है, वैसे ही चारित्र भाव से परिणत आत्मा भी स्वय चारित्र है—उससे भिन्न नहीं है, यह अभिप्राय ग्रहण करना चाहिये ॥८॥

तात्पर्यवृत्ति—

अथाभेदनयेन धर्मपरिणत आत्मैव धर्मो भवतीत्यावेदयति—**परिणमदि जेण दव्व तक्काले तम्मय त्ति पण्णत्तं** परिणमति येन पर्यायेण द्रव्य कर्तृ तत्काले तन्मय भवतीति प्रज्ञप्तम् यत कारणात्, **तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेदव्वो** तत कारणात् धर्मेण परिणत आत्मैव धर्मो मन्तव्य इति। **तद्यथा**—निजशुद्धात्मपरिणतिरूपोनिश्चयधर्मो भवति। पञ्चपरमेष्ठयादिभक्तिपरिणामरूपो व्यवहार-धर्मस्तावदुच्यते। यतस्तेन तेन विवक्षिताविवक्षितपर्यायेण परिणत द्रव्य तन्मय भवति, तत पूर्वोक्त-धर्मद्वयेन परिणतस्तप्ताय·पिण्डवदभेदनयेनात्मैव धर्मो भवतीति ज्ञातव्यम्। तदपि कस्मात्? उपादान-कारणसदृश हि कार्यमिति वचनात्। तच्च पुनरुपादानकारण शुद्धाशुद्धभेदेन द्विधा। रागादिविकल्प-रहितस्वसवेदनज्ञानमागमभाषया शुक्लध्यान वा केवलज्ञानोत्पत्तौ शुद्धोपादानकारण भवति। अशुद्धात्मा तु रागादीनामशुद्धनिश्चयेनाशुद्धोपादानकारण भवतीति सूत्रार्थ। एव चारित्रस्य सक्षेप-सूचनरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रय गतम् ॥८॥

एव चारित्रस्य सक्षेपसूचनरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रय गतम।

उत्थानिका—आगे कहते है कि अभेदनय से इन वीतरागभावरूपी धर्म मे परिणमन करता हुआ आत्मा ही धर्म है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(दव्वं) द्रव्य (जेण) जिस अवस्था या भाव से (परिणमदि) परिणमन करता है या वर्तन करता है (तक्काले) उसी समय वह द्रव्य (तम्मयत्ति)**

उस पर्याय या भाव के साथ तन्मय हो जाता है, ऐसा (पण्णत्तं) कहा गया है। (तम्हा) इसलिये (धम्म परिणदो) धर्म रूप भाव से वर्तन करता हुआ (आदा) आत्मा (धम्मो) धर्मरूप (मुणेदयव्वो) माना जाना चाहिये।

तात्पर्य्य यह है कि अपने शुद्ध आत्मा के स्वभाव में परिणमन होते हुए जो भाव होता है, उसे निश्चय धर्म कहते हैं तथा पचपरमेष्ठी आदि की भक्तिरूपी परिणति या भाव को व्यवहारधर्म कहते है। क्योंकि अपनी-अपनी विवक्षित पर्याय से परिणमन करता हुआ द्रव्य उस पर्याय से तन्मय हो जाता है, इसलिये पूर्व मे कहे हुए निश्चय धर्म और व्यवहारधर्म से परिणमन करता हुआ आत्मा ही गर्म लोहे के पिंड की तरह अभेद नय से धर्मरूप होता है, ऐसा जानना चाहिये। यह भी इसीलिये कि उपादानकारण के सदृश कार्य होता है, ऐसा सिद्धान्त का वचन है तथा वह उपादानकारण शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार का है। केवलज्ञान की उत्पत्ति मे रागद्वेषादि रहित स्वसवेदनज्ञान तथा आगम की भाषा से शुक्ल-ध्यान शुद्ध उपादानकारण है तथा अशुद्ध आत्मा रागादिरूप से परिणमन करता हुआ अशुद्ध निश्चयनय से अपने रागादि भावो का अशुद्ध उपादानकारण होता है।

अथ जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वं निश्चिनोति—

जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा सुहो असुहो।
सुद्धेण तदा सुद्धो हवदि हि परिणामसब्भावो ॥९॥

जीव. परिणमति यदा शुभेनाशुभेन वा शुभोऽशुभ.।
शुद्धेन तदा शुद्धो भवति हि परिणाणमसद्भाव ॥९॥

यदाऽयमात्मा शुभेनाशुभेन वा रागभावेन परिणमति तदा जपा—तापिच्छराग-परिणतस्फटिकवत् परिणामस्वभावः सन् शुभोऽशुभश्च भवति। यदा पुनः शुद्धेनाराग-भावेन परिणमति तदा शुद्धारागपरिणतस्फटिकवत्परिणामस्वभाव सन् शुद्धो भवतीति सिद्धं जीवस्य शुभाशुभशुद्धत्वम् ॥९॥

भूमिका—अब जीव की शुभस्वरूपता, अशुभस्वरूपता और शुद्धस्वरूपता का निश्चय करते हैं—

अन्वयार्थ—[जीव] जीव [यदा] जब [शुभेन] शुभ भाव से [परिणमति] परिणमन करता है [तदा] तब [शुभ. भवति] स्वय ही शुभ होता है, वही जब जब [अशुभेन] अशुभ भाव से [परिणमति] परिणमन करता है [तदा] तव [अशुभ भवति] स्वय ही

अशुभ होता है, और जब वरी [शुद्धेन] शुद्ध भाव से [परिणमति] परिणमन करता है [तदा] तब [शुद्ध. भवति] स्वय शुद्ध होता है [हि] क्योकि वह [परिणामसद्भाव.] परिणमन स्वभाव वाला है—उत्पाद व्यय-ध्रौव्य स्वरूप है ।

टीका—**जब यह आत्मा शुभ या अशुभ राग भाव से परिणत होता है, तब जपा कुसुम या तमालपुष्प के लाल या काले रगरूप परिणत स्फटिक की भांति परिणाम स्वभाव होता हुआ स्वयं शुभ या अशुभ होता है और जब वह शुद्ध अराग (वीतराग) भाव से परिणत होता हुआ शुद्ध होता है, तब शुद्ध अराग (वीतराग) स्फटिक की भांति परिणाम स्वभाव होता हुआ शुद्ध होता है (उस समय आत्मा स्वयं ही शुद्ध होता है) ।**

इस प्रकार जीव के शुभत्व, अशुभत्व और शुद्धत्व सिद्ध होते हैं । तात्पर्य यह है कि वह अपरिणमन स्वभाव कूटस्थ नहीं है ॥९॥

तात्पर्यवृत्ति—

अथ शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयेण परिणतो जीव शुभाशुभशुद्धोपयोगस्वरूपो भवतीत्युपदिशति—**जीवो परिणमदि जदा सुहेण असुहेण वा** जीव कर्ता यदा परिणमति शुभेनाशुभेन वा परिणामेन **सुहो असुहो हवदि** तदा शुभेन शुभो भवति, अशुभेन वाऽशुभो भवति । **सुद्धेण तदा सुद्धो हि** शुद्धेन यदा परिणमति तदा शुद्धो भवति, हि स्फुटम् । कथभूत सन् ? **परिणामसब्भावो** परिणामसद्भाव. सन्निति । तद्यथा-यथा स्फटिकमणिविशेषो निर्मलोऽपि जपापुष्पादिरक्तकृष्णश्वेतोपाधिवशेन रक्तकृष्णश्वेतवर्णो भवति, तथाऽय जीव: स्वभावेन, शुद्धबुद्धैकस्वरूपोऽपि व्यवहारेण गृहस्थापेक्षया यथासभव सरागसम्यक्त्वपूर्वकदानपूजादिशुभानुष्ठानेन, तपोधनापेक्षया मूलोत्तरगुणादिशुभानुष्ठानेन परिणत शुभो ज्ञातव्य इति । मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगञ्चप्रत्ययरूपाशुभोपयोगेनाशुभो विज्ञेय । निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगेन परिणत. शुद्धो ज्ञातव्य इति । किंच जीवस्यासख्येयलोकमात्रपरिणामा' सिद्धान्ते मध्यमप्रतिपत्त्या मिथ्यादृष्ट्यादिचतुर्दशगुणस्थानरूपेण कथिता: । अत्र प्राभृतशास्त्रे तान्येव गुणस्थानानि सक्षेपेणाशुभशुभशुद्धोपयोगरूपेण कथितानि । कथमिति चेत्—मिथ्यात्वसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभोपयोग:, तदनन्तरमसयतसम्यग्दृष्टिदेशविरतप्रमत्तसयतगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभोपयोग:, तदनन्तरमप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानषट्के तारतम्येन शुद्धोपयोग , तदनन्तर सयोग्ययोगिजिनगुणस्थानद्वये शुद्धोपयोगफलमिति भावार्थ ॥९॥

उत्थानिका—आगे यह उपदेश करते है कि शुभ, अशुभ तथा शुद्ध ऐसे तीन प्रकार के उपयोग से परिणमन करता हुआ आत्मा शुभ, अशुभ तथा शुद्ध उपयोग स्वरूप होता है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदा) जब (परिणाम सब्भावो) परिणमन स्वभावधारी (जीवो) यह जीव (सुहेण) शुभ भाव से (वा असुहेण) अथवा अशुभ भाव से (परिणमदि) परिणमन करता है तब (सुहो असुहो) शुभ परिणामों से शुभ तथा अशुभ**

परिणामो से अशुभ (हवदि) हो जाता है। (सुद्धेण) जब शुद्ध भाव से परिणमन करता है (तदा) तब (हि) निश्चय से (सुद्धो) शुद्ध होता है।

इसी का भाव यह है कि जैसे स्फटिकमणि का पत्थर निर्मल होने पर भी जपा पुष्प आदि लाल, काली, श्वेत उपाधि के वश से लाल, काला, श्वेत रंग रूप परिणम जाता है, तैसे यह जीव स्वभाव से शुद्धबुद्ध एक स्वभाव होने पर भी व्यवहार करके गृहस्थ अपेक्षा यथासंभव राग-सहित सम्यक्त्व-पूर्वक दान पूजा आदि शुभ कार्यों के करने से तथा मुनि की अपेक्षा मूल व उत्तर गुणो को अच्छी तरह पालन रूप वर्तने में परिणमन करने से शुभ है, ऐसा जानना योग्य है। मिथ्यादर्शन सहित अविरतिभाव, प्रमादभाव, कषायभाव व मन वचन काय योगों के हलन चलनरूप भाव, ऐसे पांच कारणरूप अशुभोपयोग में वर्तन करता हुआ, अशुभ जानना योग्य है तथा निश्चल रत्नत्रयमय शुद्ध उपयोग से परिणमन करता हुआ, शुद्ध जानना चाहिये। इसका क्या प्रयोजन है सो कहते हैं कि सिद्धान्त में जीव के असंख्यात लोकप्रमाण परिणाम हैं। मध्यम वर्णन की अपेक्षा मिथ्यादर्शन आदि १४ गुणस्थान रूप से कहे गए हैं। इस प्रवचनसार प्राभृतशास्त्र में उन्हीं गुणस्थानो का संक्षेप से शुभ अशुभ तथा शुद्ध-उपयोग रूप से वर्णन किया गया है। सो ये तीन प्रकार के उपयोग १४ गुणस्थानो में किस तरह घटते हैं सो कहते हैं—मिथ्यात्व, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानो मे तारतम्य से कमती-कमती अशुभ उपयोग है। इसके पीछे असंयत सम्यग्दृष्टि, देशविरत तथा प्रमत्तसंयत ऐसे तीन गुणस्थानो मे तारतम्य से शुभोपयोग है। उसके पीछे अप्रमत्त से लेकर क्षीणकषाय तक छः गुणस्थानों मे तारतम्य से शुद्धोपयोग है। उसके पीछे संयोगिजिन और अयोगिजिन इन दो गुणस्थानो मे शुद्धोपयोग का फल है, ऐसा भाव है।

अथ परिणामं वस्तुस्वभावत्वेन निश्चिनोति—

णत्थि विणा परिणामं अत्थो अत्थं विणेह परिणामो।
दव्वगुणपज्जयत्थो अत्थो अत्थित्तणिव्वत्तो ॥१०॥

नास्ति विना परिणाममर्थोऽर्थं विनेह परिणामः।
द्रव्यगुणपर्ययस्थोऽर्थोऽस्तित्वनिर्वृत्तः ॥१०॥

न खलु परिणाममन्तरेण वस्तु सत्तामालम्बते वस्तुनो द्रव्यादिभिः परिणामात् पृथगुपलम्भाभावान्निः परिणामस्य खरशृङ्गकल्पत्वाद् दृश्यमानगोरसादिपरिणामविरोधात्। अन्तरेण वस्तु परिणामोऽपि न सत्तामालम्बते, स्वाश्रयभूतस्य वस्तुनोऽभावे निराश्रयस्य

परिणामस्य शून्यत्वप्रसङ्गात् । वस्तु पुनरूर्ध्वतासामान्यलक्षणे द्रव्ये सहभाविविशेषलक्षणेषु गुणेषु क्रमभाविविशेषलक्षणेषु पर्यायेषु व्यवस्थितमुत्पादव्ययध्रौव्यमयास्तित्वेन निर्वर्तितं निर्वृत्तिमच्च । अतः परिणामस्वभावमेव ॥१०॥

भूमिका—**अब परिणाम को वस्तु स्वभाव से निश्चय करते हैं—**

अन्वयार्थ—[इह] लोक में [परिणाम विना] परिणाम के बिना [अर्थ. नास्ति] पदार्थ नही है और [अर्थं विना] पदार्थ के बिना [परिणाम] परिणाम [नास्ति] नही है [द्रव्यगुणपर्ययस्थ] द्रव्य, गुण व पर्याय मे रहने वाला [अर्थ] पदार्थ [अस्तित्वनिवृत्तः] (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वरूप) अस्तित्व से बना हुआ है ।

टीका—**निश्चय से परिणाम के बिना वस्तु अस्तित्व को धारण नहीं करती । अर्थात् परिणाम के बिना आश्रय नहीं लेती है, उसका सद्भाव सम्भव द्रव्यादि के द्वारा होने वाले (द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव द्वारा अथवा द्रव्य-गुण-पर्याय द्वारा अथवा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्वारा होने वाले) परिणाम से भिन्न प्राप्ति का अभाव है । क्योंकि (१) परिणाम-रहित वस्तु की गधे के सींग से समानता है (अर्थात् परिणाम-रहित वस्तु का गधे के सींग के समान अभाव है ।) (२) तथा उस वस्तु का, दिखाई देने वाले गोरस इत्यादि (दूध दही आदि) परिणामों के साथ, विरोध आता है ।**

वस्तु के बिना परिणाम भी अस्तित्व को धारण नहीं करता, क्योंकि स्वाश्रय-भूत वस्तु के अभाव मे निराश्रयपरिणाम की शून्यता का प्रसंग आता है ।

वस्तु तो ऊर्ध्वता-सामान्य-स्वरूप द्रव्य मे, सहभावी (साथ-साथ रहने वाले) विशेष (भिन्न-भिन्न) स्वरूप वाले गुणो में तथा क्रमभावी (क्रमशः एक के बाद एक होने वाले) विशेष (भिन्न-भिन्न) स्वरूप पर्यायो मे व्यवस्थित है अर्थात् रहने वाली है और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यमय अस्तित्व से बनी हुई है । इसलिये वस्तु परिणाम स्वभाव-वाली ही है ।

परिणाम के माने–बिना वस्तु सत्ता का सहारा नहीं लेती–उसके बिना वस्तु का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि द्रव्यादि स्वरूप से वस्तु का ही परिणाम होता है, जिससे कि वह (वस्तु) कभी भिन्न नहीं उपलब्ध होती–सर्वदा उस परिणाम-मय ही वह उपलब्ध होती है । इस प्रकार जब दोनो मे अभेद है, तब परिणाम के बिना उस वस्तु की कल्पना गधे के सींग के समान ही ठहरती है । इसके अतिरिक्त वैसी अवस्था मे लोक मे जो दूध का परिणाम दही व घृत आदि रूप देखा जाता है उसका भी विरोध अनिवार्य होगा । इसी प्रकार वस्तु के माने बिना केवल परिणाम का भी अस्तित्व नहीं

रह सकता है। कारण कि उस परिणाम का आश्रय तो वस्तु ही है, सो अपने आश्रयभूत उस वस्तु के बिना निराधार परिणाम के अभाव का प्रसंग अनिवार्य होगा। दूसरे वस्तु ऊर्ध्वता-सामान्य-स्वरूप द्रव्य मे, सहभावी विशेष–स्वरूप गुणों में, तथा क्रमभावी विशेष–स्वरूप पर्यायों मे व्यवस्थित रहने के कारण उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्य-स्वरूप अस्तित्व से निष्पन्न है।

विशेषार्थ—वस्तु का लक्षण अर्थ-क्रिया-कारित्व है—जैसे घट का अर्थ-क्रिया-कारित्व जल धारण, वस्त्र का अर्थ क्रिया-कारित्व शरीराच्छादन आदि। सो यह अर्थ-क्रिया तभी बन सकती है जब वस्तु को परिणाम-स्वरूप स्वीकार किया जाय। परिणाम का अर्थ है पूर्व आकार का परित्याग (व्यय), उत्तर आकार का ग्रहण (उत्पाद) और इन दोनो ही अवस्थाओं मे द्रव्य (ऊर्ध्वता सामान्य) का समान रूप से अवस्था है, इस प्रकार से वस्तु सामान्य विशेष स्वरूप सिद्ध होती है। सामान्य का अर्थ समानता है। वह सामान्य तिर्यक्-सामान्य और ऊर्ध्वता-सामान्य के भेद से दो प्रकार का है। इनमें सदृशता रूप जिस धर्म से अनेक वस्तुओं में एकरूपता पायी जाती है, उसका नाम तिर्यक्-सामान्य है। जैसे—काली व लाल आदि अनेक गायों में गोरूपता। तथा एक ही द्रव्य की उत्तरोत्तर निष्पन्न होने वाली अनेक अवस्थाओं मे जो द्रव्य-रूपता ज्यों की त्यों अवस्थित रहती है, वह है ऊर्ध्वता-सामान्य। जैसे—एक ही सुवर्ण द्रव्य की उत्तरोत्तर निष्पन्न होने वाली कड़ा व सांकल आदि अनेक अवस्थाओं मे सुवर्ण सामान्य का अवस्थान। सामान्य के समान विशेष भी दो प्रकार का है १–पर्याय-विशेष और २–व्यतिरेक-विशेष। उनमे से एक ही द्रव्य मे जो क्रम से अनेक अवस्थायें होती हैं—जैसे आत्मा मे हर्ष विषाद आदि, उन्हे पर्याय-विशेष कहते हैं। तथा विविध पदार्थो मे जो विसदृशता दृष्टिगोचर होती है, वह व्यतिरेक-विशेष कहा जाता है। जैसे—गाय, भैंस और घोड़ा आदि की विसदृशता। यहाँ वृत्तिकार ने यह अभिप्राय प्रगट किया है कि वस्तु उत्पाद-विनाशरूप होने से जब सहभावी-विशेष रूप गुणों मे—जैसे जीव ज्ञान-दर्शनादि गुणो मे पुद्गल रूप-रसादि गुणो मे तथा क्रमभावी विशेष रूप पर्यायों मे अवस्थित रहने के साथ ही ऊर्ध्वता-सामान्यरूप ध्रौव्य में भी अवस्थित रहती है, तब उसका उत्पादादि तीन रूप परिणाम से कथंचित्-पर्याय की अपेक्षा से जैसे भेद मानना पड़ता है, वैसे ही कथंचित्–द्रव्य की अपेक्षा–उससे अभेद भी अनिवार्य है। कारण कि ऐसा मानने के बिना—सर्वथा भेद अथवा अभेद की कल्पना मे—उन दोनों का (वस्तु व परिणाम) का अस्तित्व ही नहीं रह सकता।

तात्पर्यवृत्ति

अथ नित्यैकान्तक्षणिकैकान्तनिषेधार्थं परिणामपरिणामिनोः परस्पर कथंचिदभेद दर्शयति— **णत्थि विणा परिणामं अत्थो** मुक्तजीवे तावत्कथ्यते, सिद्धपर्यायरूपशुद्धपरिणामं विना शुद्धजीवपदार्थो नास्ति। कस्मात् ? सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावात्। **अत्थ विणेह परिणामो** मुक्तात्मपदार्थं विना इह जगति शुद्धात्मोपलम्भलक्षण सिद्धपर्यायरूप शुद्धपरिणामो नास्ति। कस्मात् ? सज्ञादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभावात् **दव्वगुणपज्जयत्थो** आत्मस्वरूप द्रव्य तत्रैव केवलज्ञानादयो गुणाः सिद्धरूपः पर्यायश्च, इत्युक्तलक्षणणेषु द्रव्यगुणपर्यायेषु तिष्ठतीति द्रव्यगुणपर्यायस्थो भवति। स क. कर्ता ? **अत्थो** परमात्मपदार्थ, सुवर्णद्रव्यपीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायस्थसुवर्णपदार्थवत्। पुनश्च किरूपः ? **अत्थित्तणिव्वत्तो** शुद्धद्रव्यगुणपर्यायाधारभूत यच्छुद्धास्तित्व तेन निर्वृत्तोऽस्तित्व-निर्वृत्तः, सुवर्णद्रव्यगुणपर्यायास्तित्वनिर्वृत्तसुवर्णपदार्थवदिदि। अयमत्र तात्पर्यार्थ। यथा—मुक्तजीवे द्रव्यगुणपर्यायत्रयं परस्पराविनाभूत दर्शित तथा ससारिजीवेऽपि मतिज्ञानादिविभावगुणेषु नरनारकादिविभावपर्यायेषु नयविभागेन यथासभव विज्ञेयम्, तथैव पुद्गलादिष्वपि। एव शुभाशुभशुद्ध-परिणामव्याख्यानमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथा द्वय गतम् ॥१०॥

उत्थानिका—आगे जो कोई पदार्थ को सर्वथा अपरिणामी नित्य कूटस्थ मानते हैं तथा जो पदार्थ को सदा ही परिणमनशील क्षणिक ही मानते है, इन दोनो एकान्त भावो का निराकरण करते हुए परिणाम और परिणामी जो पदार्थ है, उनमे परस्पर कथचित् अभेद-भाव दिखलाते हैं। अर्थात् जिसमे अवस्थाये होती है, वह द्रव्य तथा उसकी अवस्थाए किसी अपेक्षा से एक ही है, ऐसा बताते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अत्थो) पदार्थ (परिणामं विना) पर्यायके बिना (णत्थि) नहीं रहता है। यहाँ वृत्तिकार ने मुक्त जीव मे घटाया है कि सिद्ध पर्यायरूप शुद्ध परिणाम को छोडकर शुद्ध जीव कोई अन्य पदार्थ नहीं होता है क्योंकि यद्यपि परिणाम और परिणामी में संज्ञा, संख्या, लक्षण प्रयोजन की अपेक्षा भेद है, तो भी प्रदेश-भेद न होने से अभेद है। तथा (इह) इस जगत में (परिणामो) परिणाम (अत्थ विणा) पदार्थ के बिना नहीं होता है। अर्थात् शुद्ध आत्मा की प्राप्ति रूप है लक्षण जिसका ऐसी सिद्ध पर्यायरूप शुद्ध परिणति मुक्तरूप आत्म-पदार्थ के बिना नहीं होती है, क्योंकि परिणाम परिणामी में संज्ञादिसे भेद होने पर भी प्रदेशों का भेद नहीं है। (दव्वगुणपज्जयत्थो) द्रव्य गुण पर्यायों में ठहरा हुआ (अत्थो) पदार्थ (अत्थित्तणिव्वत्तो) अपने अस्तित्व में रहने वाला अर्थात् अपने अस्तिपने से सिद्ध होता है।**

यहां शुद्ध आत्मा में लगाकर कहते हैं कि आत्म-स्वरूप द्रव्य है, उसमें केवल ज्ञानादि गुण हैं तथा सिद्ध रूप पर्याय है। शुद्ध आत्म-पदार्थ इस तरह द्रव्य गुण पर्याय में

ठहरा हुआ है, जैसे स्वर्ण पदार्थ, स्वर्ण द्रव्य पीतपना आदि गुण तथा कुंडलादि पर्यायों में तिष्ठने वाला है। ऐसा शुद्ध द्रव्य गुण पर्याय का आधारभूत जो शुद्ध अस्तिपना उससे 'परमात्मा' पदार्थ सिद्ध है जैसे सुवर्ण पदार्थ, सुवर्ण द्रव्य गुण पर्याय की सत्ता से सिद्ध है। यहां यह तात्पर्य है कि जैसे मुक्त जीव मे द्रव्य गुण पर्याय परस्पर अविनाभूत दिखाए गए हैं, तैसे ही संसारी जीव में भी मतिज्ञानादि विभावगुणों के तथा नर नारकादि विभावपर्यायों के होते हुए नय विभाग से यथासम्भव जान लेना चाहिये, तैसे ही पुद्गलादि के भीतर भी। इस तरह शुभ परिणामों की मुख्यता से व्याख्यान करते हुए तीसरे स्थल में दो गाथाएं पूर्ण हुई ॥१०॥

अथ चारित्रपरिणामसम्पर्कसम्भववतोः शुद्धशुभपरिणामयोरुपादानहानाय फलमालोचयति—,

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपयोगजुदो ।
[1]पावदि णिव्वाणसुहं सुहोवजुत्तो व[2] सग्गसुहं ॥११॥

धर्मेण परिणतात्मा आत्मा यदि शुद्धसप्रयोगयुतः ।
प्राप्नोति निर्वाणसुख शुभोपयुक्तो वा स्वर्गसुखम् ॥११॥

यदायमात्मा धर्मपरिणतस्वभावः शुद्धोपयोगपरिणतिमुद्वहति तदा निःप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकारणसमर्थचारित्रः साक्षान्मोक्षमवाप्नोति। यदा तु धर्मपरिणतस्वभावोऽपि शुभोपयोगपरिणत्या संगच्छते तदा सप्रत्यनीकशक्तितया स्वकार्यकरणासमर्थः कथंचिद्विरुद्धकार्यकारिचारित्रः शिखितप्तघृतोपसिक्तपुरुषो दाहदुःखमिव स्वर्गसुखबन्धमवाप्नोति। अत शुद्धोपयोग उपादेयः शुभोपयोगो हेयः ॥११॥

भूमिका—अब चारित्र-परिणाम के साथ सम्बन्ध रखने से उत्पन्न होने वाले शुद्ध और शुभ परिणामों के क्रम से ग्रहण और त्याग के लिये शुद्ध-परिणाम के ग्रहण और शुभ-परिणाम के त्याग के लिये उनके फल का विचार करते हैं—

अन्वयार्थ—[धर्मेण परिणतात्मा] धर्म से (चारित्र) से परिणत स्वरूपवाला [आत्मा] यह आत्मा [यदि] यदि [शुद्धसम्प्रयोगयुत] शुद्ध उपयोग सहित हो जाता है तो वह [निर्वाणसुखम्] मोक्ष सुख को [आप्नोति] पाता है [वा] और यदि वह [शुभोपयुक्त] शुभ उपयोग वाला होता है तो [स्वर्गसुखम्] स्वर्गके सुखको [प्राप्नोति] प्राप्त करना है।

टीका—जब यह आत्मा धर्म-परिणत स्वभाव वाला होकर शुद्धोपयोग रूप परिणति को धारण करता है तब विरोधी शक्ति (राग भाव) से रहित होने के कारण अपना कार्य

(१) पावइ (ज० वृ०), (२) य(ज० वृ०)

करने में समर्थ चारित्र-वाला होता हुआ साक्षात् मोक्ष को प्राप्त करता है। किन्तु जब वही आत्मा धर्म-परिणत स्वभाव वाला होता हुआ भी शुभोपयोग रूप परिणति से संगत (युक्त) होता है—सराग-चारित्र को धारण करता है—तब विरोधी शक्ति (राग भाव) से सहित होने के कारण अपना कार्य करने में असमर्थ वह कथचित् विरुद्ध कार्य करने वाले चारित्र से युक्त होकर स्वर्ग सुखरूप बन्धन को प्राप्त करता है। उदाहरणार्थ—जैसे अग्नि से सन्तप्त घी से सिक्त-जला हुआ पुरुष जलन से दु ख को प्राप्त करता है। इसलिये शुद्धोपयोग उपादेय है और शुभोपयोग हेय है।

भावार्थ—**छठे से बारहवें गुणस्थान तक के मुनि को अभेदवृष्टि से चारित्र-परिणत-आत्मा कहते हैं। उसी को भेद-दृष्टि से सातवें से बारहवें तक शुद्धोपयोगी या वीतरागचारित्र का धारी कहते हैं, जिसका फल साक्षात् मोक्ष है और छठे मे शुभोपयोगी या सरागचारित्र वाला कहते हैं, जिसका फल (परम्परा मोक्ष होने पर भी) साक्षात् पुण्यबंध रूप स्वर्ग है। इस सम्बन्ध मे शब्द "कथचित्" ध्यान देने योग्य है ॥११॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ वीतराग-सरागचारित्रसज्ञयो: शुद्ध-शुभोपयोगपरिणामयो सक्षेपेण फल दर्शयति.—

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा धर्मेण परिणतात्मा परिणतस्वरूप सन्नयमात्मा **जदि सुद्धसंपयोगजुदो** यदि चेच्छुद्धोपयोगाभिधानशुद्धसप्रयोगपरिणामयुत परिणतो भवति **पावइ णिव्वाणसुहं** तदा निर्वाणसुख प्राप्नोति। **सुहोवजुत्तो य सग्गसुह** शुभोपयोगयुत परिणत सन् स्वर्गसुख प्राप्नोति। **इतो विस्तरम्**-इह धर्मशब्देनाहिंसालक्षण: सागारानगाररूपस्तथोत्तमक्षमादिलक्षणो रत्नत्रयात्मको वा, तथा मोहक्षोभरहित आत्मपरिणाम शुद्धवस्तुस्वभावश्चेति गृह्यते। स एव धर्म: पर्यायान्तरेण चारित्र भण्यते। **"चारित्तं खलु धम्मो"** इति वचनात्। तच्च चारित्रमपहृतसयमोपेक्षासयमभेदेन सरागवीतरागभेदेन वा शुभोपयोगशुद्धोपयोगभेदेन च द्विधा भवति। तत्र यच्छुद्धसप्रयोगशब्दवाच्य शुद्धोपयोगस्वरूप वीतरागचारित्र तेन निर्वाण लभते। निर्विकल्पसमाधिरूपशुद्धोपयोगशक्त्यभावे सति यदा शुभोपयोगरूपसरागचारित्रेण परिणमति तदा पूर्वमनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतमाकुलत्वोत्पादक स्वर्गसुख लभते। पश्चात् परमसमाधिसामग्रीसद्भावे मोक्ष च लभते इति सूत्रार्थ: ॥११॥

उत्थानिका—आगे वीतरागचारित्ररूप शुद्धोपयोग तथा सरागचारित्ररूप शुभोपयोग परिणामो का सक्षेप से फल दिखाते है —

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(परिणदप्पा) परिणमन स्वरूप होता हुआ (अप्पा) यह आत्मा (जदि) यदि (सुद्धसंपयोगजुदो) शुद्धोपयोग नाम के शुद्ध परिणाम मे परिणत होता है (णिव्वाणसुहं) तब निर्वाण के सुख को (पावइ) प्राप्त करता है। (य) और यदि (सुहोवजुत्तो) शुभोपयोग में परिणमन करता है तो (सग्गसुहं) स्वर्ग के सुख को पाता है।**

यहां विस्तार यह है कि यहां धर्म शब्द से अहिंसा लक्षणरूप मुनिधर्म, श्रावक का धर्म, उत्तमक्षमादि दशलक्षणधर्म अथवा रत्नत्रय-स्वरूपधर्म वा मोह क्षोभ से रहित आत्मा का परिणाम या शुद्ध वस्तु का स्वभाव ग्रहण किया जाता है। वही धर्म अन्य पर्याय से अर्थात् चारित्रभाव की अपेक्षा चारित्र कहा जाता है। यह सिद्धान्त का वचन है कि "चारित्तं खलु धम्मो" (देखो गाथा ७वीं) वही चारित्र अपहृतसंयम तथा उपेक्षा सयम के भेद से वा सराग वीतराग के भेद से वा शुभोपयोग, शुद्धोपयोग के भेद से दो प्रकार का है। इनमें से शुद्ध संप्रयोग शब्द से कहने योग्य जो शुद्धोपयोग रूप वीतराग-चारित्र है, उससे निर्वाण प्राप्त होता है। जब विकल्प रहित समाधिमय शुद्धोपयोग की शक्ति नहीं होती है; तब यह आत्मा शुभोपयोग रूप सरागभाव से परिणमन करता है, तब अपूर्व और अनाकुलता लक्षणधारी निश्चय सुख से विपरीत आकुलता को उत्पन्न करने वाला स्वर्ग सुख पाता है। पीछे परमसमाधि के योग्य सामग्री के होने पर मोक्ष को प्राप्त करता है—ऐसा सूत्र का भाव है।

अथ चारित्रपरिणामसंपर्कासंभवादत्यन्तहेयस्याशुभपरिणामस्य फलमालोचयति—

असुहोदयेण आदा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो।
दुक्खसहस्सेहिं सदा[1] अभिद्दुदो[2] भमदि[3] अच्चंतं ॥१२॥

अशुभोदयेन आत्मा कुनरस्तिर्यक् भूत्वा नैरयिक।
दु खसहस्रै सदा अभिद्रुतो भ्रमत्यत्यन्तम् ॥१२॥

यदायमात्मा मनागपि धर्मपरिणतिमनासादयन्नशुभोपयोगपरिणतिमालम्बते तदा कुमनुष्यतिर्यङ्नारकभ्रमणरूपं दुःखसहस्रबन्धमनुभवति। ततश्चारित्रलवस्याप्यभावादत्यन्तहेय एवायमशुभोपयोग इति ॥१२॥

भूमिका—अब यहां चारित्र परिणाम के अभाव मे अत्यन्त हेय रूप अशुभ परिणाम के फल की समीक्षा करते हैं—

अन्वयार्थ—[अशुभोदयेन] अशुभ के उदय से [आत्मा] आत्मा] [कुनर.] हीन मनुष्य [तिर्यक्] तिर्यंच या [नैरयिक] नारकी [भूत्वा] होकर [दु खसहस्रै.] हजारों दु खो से [सदा] निरन्तर [अभिद्रुत] पीडित होता हुआ [अत्यन्त भ्रमति] ससार में अत्यन्त–दीर्घ काल तक–भ्रमण करता है।

---

१ सया (ज० वृ०)। २ भमइ (ज० वृ०)। ३ अभिधुदो (ज० वृ०)।

टीका—अब यह आत्मा लेश मात्र भी धर्म (चारित्र) परिणति को न प्राप्त होकर अशुभोपयोग रूप परिणति का अवलम्बन करता है, तब वह घृणित मनुष्य, तिर्यञ्च और नारकी होकर परिभ्रमण करता हुआ दुःखों के बंध को अनुभव करता है। इसलिए लेशमात्र चारित्र का भी अभाव होने से यह अशुभोपयोग अत्यन्त हेय ही है ।।१२।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ चारित्रपरिणामासभवादत्यन्तहेयस्याशुभोपयोगस्य फल दर्शयति —

असुहोदयेण अशुभोदयेन आदा आत्मा कुणरो तिरियो भवीय णेरइयो कुनरस्तिर्यङ्नारको भूत्वा। किं करोति ? दुक्खसहस्सेहिं सदा अभिधुदो भमइ अच्चतं दुःखसहस्रैः सदा सर्वकालमभिद्रुतः कदर्थितः पीडितः सन् ससारे अत्यन्त भ्रमतीति। तथाहि—निर्विकारशुद्धात्मतत्त्वरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वस्य तत्रैव शुद्धात्मन्यविक्षिप्तचित्तवृत्तिरूपनिश्चयचारित्रस्य च विलक्षणेन विपरीताभिनिवेशजनकेन दृष्टश्रुतानुभूतपञ्चेन्द्रियविषयाभिलाषतीव्रसक्लेशरूपेण चाशुभोपयोगेन यदुपार्जितं पापकर्म तदुदयेनायमात्मा सहजशुद्धात्मानन्दैकलक्षणपारमार्थिकसुखविपरीतेन दुःखेन दुःखितः सन् स्वस्वभावभावनाच्युतो भूत्वा संसारेऽत्यन्त भ्रमतीति तात्पर्यार्थं। एवमुपयोगत्रयफलकथनरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वय गतम् ।।१२।।

उत्थानिका—आगे कहते है कि जिस किसी आत्मा मे वीतराग या सरागचारित्र नही है उसके भीतर अत्यन्त त्यागने योग्य अशुभोपयोग का फल कटुक होता है।

अन्वय, सहित विशेषार्थ—(असुहोदयेण) अशुभ उपयोग के प्रगट होने से जो पाप कर्म बंधता है उसके उदय से (आदा) आत्मा (कुणरो) खोटा दीन दरिद्री मनुष्य (तिरियो) तिर्यंच तथा (णेरइयो) नारकी (भवीय) होकर (अच्चंतं) बहुत अधिक (भमइ) ससार में भ्रमण करता है।

प्रयोजन यह है कि अशुभ उपयोग, विकार रहित शुद्ध आतम तत्व की रुचि रूप निश्चय सम्यक्त्व से तथा उस ही शुद्ध आत्मा में क्षोभ रहित चित्त का वर्तनारूप निश्चय-चारित्र से विलक्षण या विपरीत है। विपरीत अभिप्राय से पैदा होता है तथा देखे, सुने, अनुभव किए हुए पंचेन्द्रियों के विषयों की इच्छा-मय तीव्र संक्लेश रूप है, ऐसे अशुभ उपयोग से जो पाप कर्म बांधे जाते हैं, उनके उदय होने से यह आत्मा स्वभाव से शुद्ध आत्मा के आनन्दमयी पारमार्थिक सुखमे विरुद्ध दुःख से दुःखी होता हुआ व अपने स्वभाव की भावना से गिरा हुआ ससार में खूब ही भ्रमण करता है। ऐसा तात्पर्य है। इस तरह तीन तरह के उपयोग के फल को कहते हुए चौथे स्थल में दो गाथाएं पूर्ण हुई ।।१२।।

एवमयमपास्तसमस्तशुभाशुभोपयोगवृत्तिः शुद्धोपयोगवृत्तिमात्मसात्कुर्वाणः शुद्धोपयोगाधिकारमारभते । तत्र शुद्धोपयोगफलमात्मनः प्रोत्साहनार्थमभिष्टौति—

अइसयमादसमुत्थं विसयातीदं अणोवममणंतं ।
अव्वुच्छिण्णं च सुहं सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं ॥१३॥

अतिशयमात्मसमुत्थं, विषयातीत, अनौपम्यमनन्त ।
अव्युच्छिन्नञ्च सुख शुद्धोपयोगप्रसिद्धानाम् ॥१३॥

आसंसारादपूर्वपरमाद्भुताह्लादरूपत्वादात्मानमेवाश्रित्य प्रवृत्तत्वात्पराश्रयनिरपेक्षत्वादत्यन्तविलक्षणत्वात्समस्तायतिनिरपायित्वान्नैरन्तर्यप्रवर्तमानत्वाच्चातिशयवदात्मसमुत्थं विषयातीतमनौपम्यमनन्तमव्युच्छिन्नं च शुद्धोपयोगनिष्पन्नानां सुखमतस्तत्सर्वथा प्रार्थनीयम् ॥१३॥

भूमिका—इस प्रकार यह (श्री कुन्दकुन्द आचार्यदेव), नष्ट कर दिया है समस्त शुभ और अशुभ उपयोग की परिणति को जिन्होंने (ऐसे होते) शुद्धोपयोग परिणति को अंगीकार करते हुए, शुद्धोपयोग अधिकार को प्रारम्भ करते हैं। उसमें आत्मा के प्रोत्साहन के लिये (सर्व प्रथम) शुद्धोपयोग के फल की प्रशंसा करते हैं:—

अन्वयार्थ—[शुद्धोपयोगप्रसिद्धाना] शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए (शुद्धोपयोग के फल को प्राप्त हुए) आत्माओ का (अरहत सिद्धो का) [सुख] सुख [अतिशय] अतिशय, [आत्म-समुत्थ] आत्मा से उत्पन्न, [विषयातीत] बिषयो से रहित (अतीन्द्रिय), [अनौपम्य] अनुपम, अनन्त (अविनाशी) [च] और [अविच्छिन्न] अविछिन्न (अटूट-निरन्तर एक सा रहने वाला) है।

टीका—(१) अनादि ससार से जो पहले कभी अनुभव मे नहीं आया ऐसे अपूर्व, परम अद्भुत आल्हाद रूप, होने के कारण से अतिशयवान, (२) आत्मा को ही आश्रय लेकर (स्वाश्रित) प्रवर्तमान होने के कारण से 'आत्मोपन्न', (३) पराश्रय से निरपेक्ष होने के कारण से (स्पर्श, रस, गंध, वर्ण और शब्द के तथा संकल्प विकल्प के आश्रय की अपेक्षा से रहित होने से) 'विषयातीत', (४) अत्यन्त विलक्षण होने के कारण से (अन्य सुखों से सर्वथा भिन्न लक्षणवाला होने से) 'अनुपम', (५) समस्त आगामी काल में कभी नाश को प्राप्त न होने के कारण से 'अनन्त', और (६) बिना ही अन्तर के प्रवर्तमान होने के कारण से 'अविच्छिन्न', ऐसा सुख शुद्धोपयोग से निष्पन्न हुए आत्माओं के (अरहन्त सिद्धों के)

होता है। इसलिए वह (सुख) सर्वथा प्रार्थनीय (वाञ्छनीय) है (उपादेयपने से निरन्तर भावना करने योग्य है) ॥१३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुभाशुभोपयोगद्वय निश्चयनयेन हेय ज्ञात्वा शुद्धोपयोगाधिकार प्रारभमाण, शुद्धात्म-भावनामात्मसात्कुर्वाण. सन्, स्वस्वभावजीवस्य प्रोत्साहनार्थं शुद्धोपयोगफलं प्रकाशयति। अथवा द्वितीयपातनिका—यद्यपि शुद्धोपयोगफलमग्रे ज्ञान सुख च सक्षेपेण विस्तरेण च कथयति तथाप्यत्रापि पीठिकाया सूचना करोति। अथवा तृतीयपातनिकापूर्वं शुद्धोपयोगफल निर्वाण भणितमिदानी पुनर्निर्वाणस्य फलमनन्तसुख कथयतीति पातनिकात्रयस्यार्थं मनसि धृत्वा सूत्रमिद प्रतिपादयति—**अइसयं** आसंसाराद्देवेन्द्रादिसुखेभ्योऽप्यपूर्वाद्भुतपरमाह्लादरूपत्वादतिशयस्वरूप, **आदसमुत्थं** रागादिविकल्प-रहितस्वशुद्धात्मसवित्तिसमुत्पन्नत्वादात्मसमुत्थ, **विसयातीदं** निर्विषयपरमात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूत-पचेन्द्रियविषयातीतत्वाद्विषयातीतं, **अणोवम** निरुपमपरमानन्दैकलक्षणत्वेनोपमारहितत्वादनुपम, **अणंतं** अनन्तागामिकाले विनाशाभावादप्रमितत्वाद्वाऽनन्त, **अव्वुच्छिण्णं च** असातोदयाभावा-न्निरन्तरत्वादविच्छिन्न च सुह एवमुक्तविशेषणविशिष्ट सुख भवति। केषाम्? **सुद्धुवओगप्प-सिद्धाणं** वीतरागपरमसामायिकशब्दवाच्यशुद्धोपयोगेन प्रसिद्धा उत्पन्ना येऽर्हत्सिद्धास्तेषामिति। **अत्रेदमेव सुखमुपादेयत्वेन** निरन्तर भावनीयमिति भावार्थं ॥१३॥

उत्थानिका—आगे आचार्य शुभोपयोग और अशुभोपयोग दोनो को निश्चय नय से त्यागने योग्य जान करके शुद्धोपयोग के अधिकार को प्रारम्भ करते हुए तथा शुद्ध आत्मा की भावना को स्वीकार करते हुए अपने स्वभाव मे रहने के इच्छुक जीव का उत्साह बढ़ाने के लिये शुद्धोपयोग का फल प्रकाश करते है अथवा दूसरी पातनिका या सूचना यह है कि यद्यपि आगे आचार्य शुद्धोपयोग का फल ज्ञान और सुख सक्षेप या विस्तार से कहेगे तथापि यहाँ भी इस पीठिका मे सूचित करते है अथवा तीसरी पातनिका यह है कि पहले शुद्धोपयोग का फल निर्वाण बताया था अब यहा निर्वाण का फल अनत सुख होता है ऐसा कहते हैं। इस तरह तीन पातनिकाओ के भाव को मन मे धरकर आचार्य आगे का सूत्र कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(सुद्धुवओगप्पसिद्धाणं) शुद्धोपयोग मे प्रसिद्धों को अर्थात् वीतराग परम सामायिक शब्द से कहने योग्य शुद्धोपयोग के द्वारा जो अरहंत और सिद्ध हो गए हैं उन परमात्माओं को (अइसयं) अतिशयरूप अर्थात् अनादि काल के संसार में चले आए इन्द्रादि के सुखों से भी अपूर्व अद्भुत परम आल्हाद रूप से होने से आश्चर्यकारी, (आदसमुत्थं) आत्मा से उत्पन्न अर्थात् रागद्वेषादि विकल्प रहित अपने शुद्धात्मा के अनुभव से पैदा होने वाला, (विसयातीदं) विषयों से शून्य अर्थात् इन्द्रिय विषय रहित परमात्म-तत्त्व के विरोधी पांच इन्द्रियों के विषयों से रहित, (अणोवम) उपमा—रहित अर्थात् दृष्टांत**

रहित परमानन्दमय एक लक्षण को रखने वाला, (अणंतं) अनंत अर्थात् अनन्त भविष्यत-काल मे विनाश रहित अथवा अप्रमाण (च) तथा (अव्वुछिण्णं) विच्छिन्नरहित अर्थात् असाता का उदय न होने से निरन्तर रहने वाला (सुहं) आनन्द रहता है। यही सुख उपादेय है, इसी की निरन्तर भावना करनी योग्य है।

अथ शुद्धोपयोगपरिणतात्मस्वरूपं निरूपयति—

सुविदिदपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो विगदरागो।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो[1] सुद्धोवओगो त्ति[2] ॥१४॥

सुविदितपदार्थसूत्र· सयमतप संयुतो विगतराग ।
श्रमण समसुखदु खो भणित. शुद्धोपयोग इति ॥१४॥

सूत्रार्थज्ञानबलेन स्वपरद्रव्यविभागपरिज्ञानश्रद्धानसमर्थत्वात्सुविदितपदार्थसूत्रः। सकलषड्जीवनिकायनिशुम्भनविकल्पात्पचेन्द्रियाभिलाषविकल्पाच्च व्यावर्त्यात्मन.शुद्धस्वरूपे संयमनात्, स्वरूपविश्रान्तनिस्तरङ्गचैतन्यप्रतपनाच्च सयमतप संयुतः। सकलमोहनीयविपाकविवेकभावनासौष्ठवस्फुटीकृतनिर्विकारात्मस्वरूपत्वाद्विगतरागः। परमकलावलोकनाननुभूयमानसातासातवेदनीयविपाकनिर्वर्तितसुख - दुःख-जनितपरिणामवैषम्यत्वात्समसुख - दुःखः श्रमणः शुद्धोपयोग इत्यभिधीयते ॥१४॥

भूमिका—अब, शुद्धोपयोग रूप परिणत आत्मा के स्वरूप को कहते हैं :—

अन्वयार्थ—[सुविदितपदार्थसूत्र] भली भाति जान लिये है (१) (निज शुद्ध आत्मा आदि स्व-पर) पदार्थों को और सूत्रो (श्रुत-आगम) को जिसने (२, ३) [सयमतप सयुतः] जो सयम युक्त और तप-युक्त है, (४) [(वीतराग] राग रहित है, (५) [समसुख-दु.ख] समान है सुख दु ख जिसको (साता असाता वेदनीय के उदय से जिसको सुख दु ख का वेदन नही है अर्थात् समानुभव है) ऐसा [श्रमण·] श्रमण (मुनि) [शुद्धोपयोग] शुद्धोपयोगी [इति भणित] कहा गया है।

टीका—(१) सूत्रो के अर्थ के ज्ञान के बल से स्व द्रव्य और पर द्रव्य के विभाग के परिज्ञान मे, श्रद्धान मे और विधान में (आचरण मे) समर्थ होने के कारण से (स्वद्रव्य और परद्रव्य की भिन्नता का ज्ञान, श्रद्धान आचरण होने से) भली भांति जान लिया है पदार्थों को और (उनके प्रतिपादक सूत्रो को जिसने, (२) समस्त छः जीवनिकाय के हनन के विकल्प से और पंचेन्द्रिय (सम्बन्धी) अभिलाषा के विकल्प से (आत्मा) को व्यावृत्त करके आत्मा के शुद्ध-स्वरूप संयम करने से संयम-युक्त है, (३) और स्वरूप विश्रान्त

(१) भणिओ (ज० वृ०) (२) सुद्धोवयोगोति (ज० वृ०)।

निस्तरंग चैतन्य प्रतपन होने से जो तपयुक्त है, (४) सकल मोहनीय के विपाक से भेद की भावना की उत्कृष्टता से (समस्त मोहनीय कर्म के उदय विभिन्नत्व की उत्कृष्ट भावना से) निर्विकार आत्मस्वरूप को प्रगट किया होने से जो वीतरागी है, और (५) परम कला के अवलोकन के कारण (आत्मा में लीनता के कारण) साता वेदनीय तथा असाता-वेदनीय के विपाक से उत्पन्न होने वाले जो सुख दुःख-उन-सुख-दुख-जनित परिणामों की विषमता का अनुभव नहीं होने से (परम सुख रस मे लीन निर्विकार स्वसंवेदन रूप परम कला के अनुभव के कारण इष्ट अनिष्ट संयोगों में हर्ष शोक आदि विषम परिणामों का अनुभव न होने से) जो समसुखदु ख है, ऐसे पांच विशेषण वाला श्रमण शुद्धोपयोगी कहा जाता है।

भावार्थ—यह शुद्धोपयोग मुख्यतया बारहवें गुणस्थान में परिणत मुनि के होता है परन्तु गौणतया सातवें से बारहवें गुणस्थान तक के मुनि के होता है।

तात्पर्यवृत्ति

अथ येन शुद्धोपयोगेन पूर्वोक्तसुख भवति तत्परिणतपुरुषलक्षण प्रकाशयति—सुविदिदपयत्थसुत्तो सुष्ठु संशयादिरहितत्वेन विदिता ज्ञाता रोचिताश्च निजशुद्धात्मादिपदार्थास्तत्प्रतिपादकसूत्राणि च येन स सुविदितपदार्थसूत्रो भण्यते। संजमतवसंजुदो बाह्ये द्रव्येन्द्रियव्यावर्तनेन षड्जीवरक्षणेन चाभ्यन्तरे निजशुद्धात्मसंवित्तिबलेन स्वरूपे संयमनात् संयमयुक्तो, बाह्याभ्यन्तरतपोबलेन कामक्रोधादिशत्रुभिरखण्डितप्रतापस्य स्वशुद्धात्मनि प्रतपनाद्विजयनात्तपःसंयुक्त. विगदरागो वीतरागशुद्धात्मभावनाबलेन समस्तरागादिदोषरहितत्वाद्विगत राग। समसुहदुक्खो निर्विकारनिर्विकल्पसमाधेरुद्गता समुत्पन्ना तथैव परमानन्दसुखरसे लीना तल्लया निर्विकारस्वसंवित्तिरूपा या तु परमकला तदवष्टम्भेनेष्टानिष्टेन्द्रियविषयेषु हर्षविषादरहितत्वात्समसुखदु ख (समणो) एव गुणविशिष्टः श्रमणः परममुनिः भणिओ सुद्धोवयोगोत्ति शुद्धोपयोगो भणित इत्यभिप्राय.।।१४।।

एवं शुद्धोपयोगफलभूतानन्तसुखस्य शुद्धोपयोगपरिणतपुरुषस्य च कथनरूपेण पञ्चमस्थले गाथाद्वय गतम्।।

इति चतुर्दशगाथाभि स्थलपञ्चकेन पीठिकाभिधान. प्रथमोन्तराधिकार समाप्तः।

उत्थानिका—आगे जिस शुद्धोपयोग के द्वारा पहले कहा हुआ आनन्द प्रगट होता है उस शुद्धोपयोग मे परिणमन करने वाले पुरुष का लक्षण प्रगट करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(सुविदिदपदत्थसुत्तो) भले प्रकार पदार्थ और सूत्रों को जानने वाला, अर्थात् संशय विमोह विभ्रम रहित होकर जिसने अपने शुद्धात्मा आदि पदार्थो को तथा उनके बताने वाले सूत्रों को जाना है और उनकी रुचि प्राप्त की है, (संजमतवसंजुदो) संयम और तप-संयुक्त है अर्थात् जो बाह्य में द्रव्येन्द्रियों से उपयोग हटाते हुए और पृथ्वी आदि छह कायों की रक्षा करते हुए तथा अंतरंग में अपने शुद्ध आत्मा के

अनुभव के बल से अपने स्वरूप मे संयम रूप ठहरे हुए हैं तथा बाह्य व अतरंग बारह प्रकार तप के बल से काम, क्रोध आदि शत्रुओं से जिसका प्रताप खडित नहीं होता है और जो अपने शुद्ध आत्मा में तप रहे हैं, जो (विगदरागो) वीतराग हैं अर्थात् शुद्ध आत्मा की भावना के बल से सर्व रागादि दोषों से रहित हैं (समसुहदुक्खो) सुख-दु.ख में समान हैं अर्थात् विकार-रहित और विकल्प-रहित समाधि से उत्पन्न तथा परमानन्द सुखरस मे लवलीन ऐसी निर्विकार स्वसवेदन रूप जो परम चतुराई उसमे स्थिरीभूत होकर इष्ट-अनिष्ट इन्द्रियो के विषयों में हर्ष-विषाद को त्याग देने से समता भाव के धारी हैं ऐसे गुणों को रखने वाला (समणो) परममुनि (सुद्धोवओगो) शुद्धोपयोग स्वरूप (भणिओ) कहा गया है (त्ति) ऐसा अभिप्राय है।

इस तरह शुद्धोपयोग का फल जो अनंतसुख है, उसके पाने योग्य शुद्धोपयोग में परिणमन करने वाले पुरुष का कथन करते हुए पांचवें स्थल में दो गाथाएँ पूर्ण हुई तथा इसी प्रकार चौदह गाथाओं के द्वारा पांच स्थलों से पीठिका नाम का प्रथम अन्तराधिकार समाप्त हुआ।

तात्पर्यवृत्ति

तदनन्तर सामान्येन सर्वज्ञसिद्धिर्ज्ञानविचार. सक्षेपेण शुद्धोपयोगफल चेति कथनरूपेण गाथासप्तकम्। तत्र स्थलचतुष्टय भवति, तस्मिन् प्रथमस्थले सर्वज्ञस्वरूपकथनार्थं प्रथमगाथा, स्वयम्भूकथनार्थं द्वितीया चेति "उवओगविसुद्धो" इत्यादि गाथाद्वयम्। अथ तस्यैव भगवत उत्पादव्ययध्रौव्यस्थापनार्थं प्रथमगाथा, पुनरपि तस्यैव दृढीकरणार्थं द्वितीया चेति '**भगविहीणो**' इत्यादि गाथाद्वयम्। अथ सर्वज्ञश्रद्धानेनानन्तसुख भवतीति दर्शनार्थं त **सव्वट्ठवरिट्ठ** इत्यादि सूत्रमेकम्। अथातीन्द्रियज्ञानसौख्यपरिणमनकथनमुख्यत्वेन प्रथमगाथा, केवलिभुक्तिनिराकरणमुख्यत्वेन द्वितीया चेति **पक्खीणघाइकम्मो** इति प्रभृति गाथाद्वयम्। एव द्वितीयान्तराधिकारे स्थलचतुष्टयेन समुदायपातनिका।

आगे सामान्य से सर्वज्ञ की सिद्धि व ज्ञान का विचार तथा संक्षेप से शुद्धोपयोग का फल कहते हुए गाथाएँ सात हैं। इनमे चार स्थल है। पहले स्थल मे सर्वज्ञ का स्वरूप कहते हुए पहली गाथा है, स्वयंभू का स्वरूप कहते हुए दूसरी, इस तरह "उवओग विसुद्धो" को आदि लेकर दो गाथाएँ हैं। फिर उस ही सर्वज्ञ भगवान् के भीतर उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यपन स्थापित करने के लिए प्रथम गाथा है। फिर भी इस ही बात को दृढ़ करने के लिये दूसरी गाथा है। इस तरह "भंग विहीणो" को आदि लेकर दो गाथाएँ हैं। आगे सर्वज्ञ के श्रद्धान करने से अनन्त सुख होता है, इसके दिखाने के लिये "तं सव्वट्ठवरिट्ठ" इत्यादि

सूत्र एक है। आगे अतीन्द्रिय ज्ञान तथा सुख के परिणमन के कथन की मुख्यता से प्रथम गाथा है और केवलज्ञानी को भोजन का निराकरण की मुख्यता से दूसरी गाथा है, इस तरह "पक्खीणघाइकम्मो" को आदि लेकर दो गाथाएं हैं। इस तरह दूसरे अन्तर अधिकार मे चार स्थल से समुदाय पातनिका पूर्ण हुयी।

अथ शुद्धोपयोगलाभानन्तरभाविशुद्धात्मस्वभावलाभमभिनन्दति—

उवओगविसुद्धो जो विगदावरणंतरायमोहरओ।
भूदो सयमेवादा जादि पारं णेयभूदाणं ॥१५॥

उपयोगविशुद्ध यः विगतावरणान्तरायमोहरजाः।
भूतः स्वयमेवात्मा याति पार ज्ञेयभूतानाम् ॥१५॥

यो हि नाम चैतन्यपरिणामलक्षणेनोपयोगेन यथाशक्ति विशुद्धो भूत्वा वर्तते स खलु प्रतिपदमुद्भिद्यमानविशिष्टविशुद्धिशक्तिरुद्ग्रन्थितासंसारबद्धदृढतरमोहग्रन्थितयात्यन्तनिर्विकारचैतन्यो निरस्तसमस्तज्ञानदर्शनावरणान्तरायतया निःप्रतिघविजृम्भितात्मशक्तिश्च स्वयमेव भूतो ज्ञेयत्वमापन्नानामन्तमवाप्नोति। इह किलात्मा ज्ञानस्वभावो ज्ञानं तु ज्ञेयमात्रं ततः समस्तज्ञेयान्तर्वर्तिज्ञानस्वभावमात्मानमात्मा शुद्धोपयोगप्रसादादेवासादयति ॥१५॥

भूमिका—अब, शुद्धोपयोग के लाभ के तुरन्त बाद होने वाले विशुद्ध आत्म-स्वभाव के लाभ की प्रशंसा करते हैं (अर्थात् शुद्धोपयोग से सर्वज्ञ हो जाता है—यह कहते हैं)—

अन्वयार्थ—[य.] जो [उपयोगविशुद्ध] उपयोग विशुद्ध है (जो शुद्धोपयोग परिणाम से विशुद्ध होकर वर्त रहा है) [आत्मा] वह आत्मा [विगतावरणान्तरायमोहरजा] नष्ट हो गया है ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अन्तराय और मोहनीयकर्म जिसका ऐसा [स्वयमेव भूत] स्वयमेव होता हुआ [ज्ञेयभूताना] ज्ञेय-भूत पदार्थों के [पार] पार को [याति] प्राप्त होता है (सब को जानता है)।

टीका—जो (आत्मा) चैतन्य परिणामस्वरूप उपयोग के द्वारा यथाशक्ति विशुद्ध होकर वर्तता है, वह (आत्मा) वास्तव में (१) पद-पद पर प्रगट होती जाती है, विशिष्ट विशुद्धि शक्ति जिसको अर्थात् पद-पद पर विशिष्ट विशुद्धि शक्ति प्रगट हो जाने के कारण अनादि ससार से बंधी हुई दृढतर मोह ग्रन्थि के छूट जाने से अत्यन्त निर्विकार चैतन्य वाला होता हुआ और (२) समस्त ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अन्तराय के नष्ट हो

जाने से निर्विघ्न विकसित आत्मशक्तिवान् स्वयमेव होता हुआ ज्ञेयता को प्राप्त (पदार्थों) के अन्त को पा लेता है (अर्थात् सब पदार्थों को जान लेता है—सर्वज्ञ हो जाता है)।

सार—**यहाँ यह कहा जा रहा है कि आत्मा का वास्तव मे ज्ञान स्वभाव है, और ज्ञान ज्ञेय के बराबर है। इस कारण से समस्त ज्ञेयों के भीतर प्रवेश को प्राप्त ज्ञान जिसका स्वभाव है ऐसे आत्मा को आत्मा शुद्धोपयोग के प्रसाद से ही प्राप्त करता है।**

भावार्थ—**सातवें गुणस्थान मे शुद्धोपयोग प्रारम्भ होता है। फिर प्रत्येक पद में (गुणस्थान में) उसकी शुद्धता की शक्ति बढ़ती चली जाती है, जिससे दसवें गुणस्थान में मोहनीय कर्म प्रायः नष्ट हो जाता है। जब वह शुद्धोपयोग पूर्ण क्षीणमोह नामक बारहवें गुणस्थान में पहुँचता है तो उस शुद्धता में शेष तीन घातिया कर्मों को नष्ट करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है। घातिया कर्मों के नष्ट होने पर स्वभाव स्वयं प्रगट हो जाता है और आत्मा सर्वज्ञ बनकर सब ज्ञेयों को जान लेता है।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुद्धोपयोगलाभानन्तरं केवलज्ञानं भवतीति कथयति। अथवा द्वितीयपातिका—श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवा सम्बोधनं कुर्वन्ति, हे शिवकुमारमहाराज! कोऽप्यासन्नभव्यः सक्षेपरुचि पीठिकाव्याख्यानमेव श्रुत्वात्मकार्यं करोति, अन्य कोपि पुनर्विस्तररुचिः शुद्धोपयोगेन सजातसर्वज्ञस्य ज्ञानसुखादिकं विचार्य पश्चादात्मकार्यं करोतीति व्याख्याति —

उवओगविसुद्धो जो उपयोगेन शुद्धोपयोगेन परिणामेन विशुद्धो भूत्वा वर्तते य. **विगदावरणंतरायमोहरओ भूदो** विगतावरणान्तरायमोहरजोभूत. सन् कथम्? **सयमेव** निश्चयेन स्वयमेव **आदा** स पूर्वोक्त आत्मा **जादि** याति गच्छति कि? **पारं** पारमवसानम्। केषाम्? **णेयभूदाणं** ज्ञेयभूतपदार्थानाम् सर्वं जानातीत्यर्थ। अतो विस्तर—यो निर्मोहशुद्धात्मसवित्तिलक्षणेन शुद्धोपयोगसज्ञेनागमभाषया पृथक्त्ववितर्कवीचारप्रथमशुक्लध्यानेन पूर्वं निरवशेषमोहक्षपणं कृत्वा तदनन्तरं रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वसवित्तिलक्षणेनैकत्ववितर्कवीचारसज्ञद्वितीयशुक्लध्यानेन क्षीणकषायगुणस्थानेऽन्तर्मुहूर्तकालं स्थित्वा तस्यैवान्त्यसमये ज्ञानदर्शनावरणवीर्यान्तरायाभिधानघातिकर्मत्रयं युगपद्विनाशयति। स जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तवस्तुगतानन्तधर्माणा युगपत्प्रकाशकं केवलज्ञानं प्राप्नोति। ततः स्थितं शुद्धोपयोगात्सर्वज्ञो भवतीति।१५॥

उत्थानिका—आगे यह कहते है कि शुद्धोपयोग के लाभ होने के पीछे केवल ज्ञान होता है अथवा दूसरी पातनिका यह है कि श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव सबोधन करते है कि हे शिवकुमार महाराज! कोई भी निकटभव्य जीव, जिसकी रुचि सक्षेप मे जानने की है, पीठिका के व्याख्यान को ही सुनकर आत्म-कार्य करने लगता है। दूसरा कोई जीव, जिसकी रुचि विस्तार से जानने की है, इस बात को विचार करके शुद्धोपयोग के द्वारा सर्वज्ञपना

सार—इस कारण से निश्चय से पर के साथ आत्मा का कारकपने का सम्बन्ध नहीं है, जिससे शुद्धात्म स्वभाव की प्राप्ति के लिये सामग्री (बाह्य साधन) ढूंढने की व्यग्रता से परतन्त्र हुआ जावे।

भावार्थ—अभेदषट्कारकरूप से स्वतः ही परिणमता हुआ, यह आत्मा परमात्म-स्वभाव होने से स्वयंभू है क्योंकि केवलज्ञान ही उत्पत्ति के समय में वह भिन्न कारक की अपेक्षा नहीं रखता, इस कारण से स्वयम्भू है।

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुद्धोपयोगजन्यस्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्य भिन्नकारकनिरपेक्षत्वेनात्माधीनत्व प्रकाशयति—

तह सो लद्धसहावो यथा निश्चयरत्नत्रयलक्षणशुद्धोपयोगप्रसादात्सर्वं जानाति तथैव सः पूर्वोक्तलब्धशुद्धात्मस्वभावः सन् **आदा** अयमात्मा **हवदि सयभु त्ति णिद्दिट्ठो** स्वयम्भूर्भवतीति निर्दिष्ट कथित.। किं विशिष्टो भूत.? **सव्वण्हू सव्वलोयपदिमहिदो भूदो** सर्वज्ञ सर्वलोकपति-महितश्च भूत· सजात.। कथम्? **सयमेव** निश्चयेन स्वयमेवेति। तथाहि—अभिन्नकारकचिदा-नन्दैकचैतन्यस्वस्वभावेन स्वतन्त्रत्वात् कर्ता भवति। नित्यानन्दैकस्वभावेन स्वय प्राप्यत्वात् कर्मकारक भवति। शुद्धचैतन्यस्वभावेन साधकतमत्वात्करणकारक भवति। निर्विकारपरमानन्दैकपरिणतिलक्षणेन शुद्धात्मभावरूपकर्मणा समाश्रियमाणत्वात्सप्रदानं भवति। तथैव पूर्वमत्यादिज्ञानविकल्पविनाशेप्य-खण्डितैकचैतन्यप्रकाशेनाविनश्वरत्वादपादान भवति। निश्चयशुद्धचैतन्यादिगुणस्वभावात्मन स्वमेवा-धारत्वादधिकरण भवतीत्यभेदषट्कारकीरूपेण स्वत एव परिणममान सन्नयमात्मा परमात्मस्वभाव-केवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे यतो भिन्नकारकं नापेक्षते तत स्वयम्भूर्भवतीति भावार्थ ॥१६॥

एव सर्वज्ञमुख्यत्वेन प्रथमगाथा। स्वयम्भूमुख्यत्वेन द्वितीया चेति प्रथमस्थले गाथाद्वय गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते है कि शुद्धोपयोग से उत्पन्न जो शुद्ध आत्मा का लाभ है, उसके होने मे भिन्न कारक की आवश्यकता नही है, किन्तु अपने आत्मा ही के अधीन है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(तह) तथा (सो आदा) वह आत्मा (सयमेव) स्वयं ही (लद्धसहावो भूदो) स्वभाव का लाभ करता हुआ अर्थात् निश्चय—रत्नत्रय लक्षणमय शुद्धो-पयोग के प्रसाद से जैसे आत्मा सर्व का ज्ञाता हो जाता है वैसा वह शुद्ध आत्मा के स्वभाव का लाभ करता हुआ (सव्वण्हू) सर्वज्ञ व (सव्वलोयपदिमहिदो) सर्व लोक का पति तथा पूजनीय (हवदि) हो जाता है इसलिये वह (सयंभु त्ति) स्वयंभू इस नाम से (णिद्दिट्ठो) कहा गया है।

भाव यह है कि निश्चय से कर्त्ता कर्म आदि छः कारक आत्मा में ही हैं। अभिन्न कारक की अपेक्षा यह आत्मा चिदानन्दमयी एक चैतन्य स्वभाव के द्वारा स्वतन्त्रता रखने से स्वयं ही अपने भाव का कर्ता है तथा नित्य आनन्दमय एक स्वभाव से स्वयं अपने स्वभाव को प्राप्त होता है। इसलिये यह आत्मा स्वयं ही कर्म है, शुद्ध चैतन्य स्वभाव से यह आत्मा

आप ही साधकतम है अर्थात् अपने भाव से ही आपका स्वरूप झलकता है इसलिये यह आत्मा आप ही करण है। विकार रहित परमानन्दमयी एक परिणतिरूप लक्षण को रखने वाला शुद्धात्मभाव रूप क्रिया के द्वारा अपने आपको अपना स्वभाव समर्पण करने के कारण यह आत्मा आप ही सम्प्रदान स्वरूप है, तैसे ही पूर्व मे रहने वाले मति श्रुत आदि ज्ञान के विकल्पों के नाश होने पर भी अखंडित एक चैतन्य के प्रकाश के द्वारा अपने अविनाशी स्वभाव से ही यह आत्मा आपका (स्वयं का) प्रकाश करता है, इसलिये यह आत्मा आप ही अपादान है तथा यह निश्चय शुद्धचैतन्य आदि गुण स्वभाव का स्वयं ही आधार होने से आप ही स्वयं ही अधिकरण होता है। इस तरह अभेदषट्कारक से स्वयं ही परिणमन करता हुआ यह आत्मा परमात्मस्वभाव तथा केवलज्ञान की उत्पत्ति में भिन्न कारक की अपेक्षा नहीं रखता है, इसलिये आप ही स्वयंभू कहलाता है ॥१६॥

इस प्रकार सर्वज्ञ की मुख्यता से प्रथम गाथा और स्वयंभू की मुख्यता से दूसरी गाथा इस तरह पहले स्थल मे दो गाथाएँ पूर्ण हुईं।

अथ स्वयम्भुवस्यास्य शुद्धात्मस्वभावलाभस्यात्यन्तमनपायित्वं कथंचिदुत्पादव्यय-ध्रौव्ययुक्तत्वं चालोचयति—

भंगविहूणो[1] य भवो संभवपरिवज्जिदो[2] विणासो[3] हि।
विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवायो[4] ॥१७॥

भङ्गविहीनश्च भव सभवपरिवर्जितो विनाशो हि।
विद्यते तस्यैव पुन: स्थितिसंभवनाशसमवाय: ॥१७॥

अस्य खल्वात्मन: शुद्धोपयोगप्रसादात् शुद्धात्मस्वभावेन यो भव: स पुनस्तेन रूपेण प्रलयाभावाद्भङ्गविहीन:। यस्त्वशुद्धात्मस्वभावेन विनाश: स पुनरुत्पादाभावात्संभवपरि-वर्जित:। अतोऽस्य सिद्धत्वेनानपायित्वम्। एवमपि स्थितिसंभवनाशसमवायोऽस्य न विप्रति-षिध्यते, भङ्गरहितोत्पादेन संभववर्जितविनाशेन तद्द्वयाधारभूतद्रव्येण च समवेतत्वात् ॥१७॥

भूमिका—अब, स्वयम्भू (स्वयं द्वारा उत्पन्न हुए) इस आत्मा के शुद्धात्मस्वभाव की प्राप्ति के अत्यन्त अविनाशीपने को और कंथचित् (कोई प्रकार से) उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य-युक्तपने का विचार करते हैं—

अन्वयार्थ—[भगविहीन: भव] (उस शुद्ध आत्म स्वभाव को प्राप्त आत्मा के) विनाश रहित उत्पाद है, और [सभवपरिवर्जित: विनाश: हि] उत्पाद रहित विनाश है

---

१ भगविहीणो (ज० वृ०)। २ सभवपरिवज्जिओ (ज० वृ०)। ३. विणासो त्ति (ज० वृ०)। ४ समवाओ (ज० वृ०)।

[च] और [तस्य एव पुन.] उसके ही फिर [स्थितिसभवनाशसमवायः विद्यते] ध्रौव्य, उत्पाद और विनाश का समवाय (एकत्रित समूह) विद्यमान है ।

टीका—**वास्तव मे इस (शुद्धात्मस्वभाव को प्राप्त) आत्मा के शुद्धोपयोग के प्रसाद से शुद्ध आत्मस्वभाव (रूप) से जो उत्पाद हुआ है, वह (उत्पाद) फिर उस रूप से नाश का अभाव होने से, विनाश रहित है, और जो अशुद्ध आत्मस्वभाव से विनाश हुआ है, वह (विनाश), फिर उत्पत्ति का अभाव होने से, उत्पाद रहित है । इस कारण से उस (आत्मा) के सिद्धरूप से अविनाशीपना है । ऐसा होने पर भी ध्रौव्य, उत्पाद, व्यय का समवाय इस (आत्मा) के विरोध को प्राप्त नहीं होता (क्योंकि वह) विनाश रहित उत्पाद के साथ, उत्पाद रहित विनाश के साथ और उन दोनों के आधारभूत द्रव्य के साथ समवेत (तन्मयता से युक्त—एकमेक) है ।**

तात्पर्यवृत्ति

अथास्य भगवतो द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि पर्यायार्थिकनयेनानित्यत्वमुपदिशति.—

भंगविहीणो य भवो भङ्गविहीनश्च भव जीवितमरणादिसमताभावलक्षणपरमोपेक्षासयमरूपशुद्धोपयोगेनोत्पन्नो योसौ भव केवलज्ञानोत्पाद । स कि विशिष्ट ? भङ्गविहीनो विनाशरहित । **संभवपरिवज्जिओ विणासो त्ति** योसौ मिथ्यात्वरागादिससरणरूपससार-पर्यायस्य विनाश. स कि विशिष्ट ? सभवहीन निर्विकारात्मतत्त्वविलक्षणरागादिपरिणामाभावादुत्पत्तिरहित । तस्माज्ज्ञायते तस्यैव भगवत सिद्धस्वरूपतो द्रव्यार्थिकनयेन विनाशो नास्ति । **विज्जदि तस्सेव पुणो ठिदिसंभवणाससमवाओ** विद्यते तस्यैव पुन. स्थितिसभवनाशसमवाय', तस्यैव भगवत पर्यायार्थिकनयेन शुद्धव्यञ्जनपर्यायापेक्षया सिद्धपर्यायेणोत्पाद , ससारपर्यायेण विनाश., केवलज्ञानादिगुणाधारद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति । तत स्थित द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेपि पर्यायार्थिकनयेनोत्पादव्ययध्रौव्यत्रय सभवतीति ॥१७॥

उत्थानिका—आगे उपदेश करते है कि अरहंत (सिद्ध) भगवान के द्रव्यार्थिकनय की मुख्यता से नित्यपना होने पर भी पर्यायार्थिकनय से अनित्यपना है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(य भंगविहीणो) तथा विनाश रहित (भवो) उत्पाद अर्थात् श्री सिद्ध भगवान् के जीना-मरना आदि में समताभाव है लक्षण जिसका ऐसे परम उपेक्षा रूप शुद्धोपयोग के द्वारा जो केवलज्ञानादि शुद्ध गुणों का प्रकाश हुआ है, वह विनाश रहित है । उनके (संभवपरिवज्जिदो विणासो) उत्पत्ति रहित विनाश है अर्थात् विकार रहित आत्मतत्त्व से विलक्षण रागादि परिणामों के अभाव होने से फिर उत्पत्ति नहीं हो सकती है, इस तरह मिथ्यात्व व रागादि द्वारा भ्रमण रूप संसार की पर्याय का जिसके नाश हो गया है । (हि) निश्चय करके ऐसा नित्यपना सिद्ध भगवान् के प्रगट हो जाता है, जिससे यह बात जानी जाती है कि द्रव्यार्थिकनय से सिद्ध भगवान् अपने स्वरूप से कभी छूटते**

नहीं हैं। ऐसा है (पुणो) तो भी (तस्सेव) उन ही सिद्ध भगवान् के (ठिदिसंभवणाससमवाओ) ध्रौव्य-उत्पाद-व्यय का समुदाय (विज्जदि) विद्यमान रहता है।

अर्थात् शुद्ध-व्यंजनपर्याय की अपेक्षा पर्यायार्थिकनय से सिद्धपर्याय का जब उत्पाद हुआ है, तब संसार पर्याय का नाश हुआ है तथा केवलज्ञान आदि गुणों का आधार-भूत द्रव्यापना होने से ध्रौव्यपना है। इससे यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि सिद्ध भगवान् के द्रव्यार्थिकनय से नित्यपना है तो भी पर्यायार्थिकनय से उत्पाद व्यय हैं। इस तरह समुदाय रूप से उत्पाद, व्यय ध्रौव्य तीनों हैं।

अथोत्पादादित्रयं सर्वद्रव्यसाधारणत्वेन शुद्धात्मनोऽप्यवश्यंभावीति विभावयति—

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स।
पज्जाएण दु केणवि अट्ठो खलु होदि[1] सब्भूदो ॥१८॥

उत्पादश्च विनाशो विद्यते सर्वस्यार्थजातस्य।
पर्यायेण तु केनाप्यर्थः खलु भवति सद्भूत ॥१८॥

यथाहि जात्यजाम्बूनदस्याङ्गदपर्यायेणोत्पत्तिर्दृष्टा। पूर्वव्यवस्थिताङ्गुलीयकादिपर्यायेण च विनाशः। पीततादिपर्यायेण तूभयत्राप्युत्पत्तिविनाशावनासादयतः ध्रुवत्वम्। एवमखिलद्रव्याणां केनचित्पर्यायेणोत्पादः केनचिद्विनाशः केनचिद्ध्रौव्यमित्यवबोद्धव्यम्। अतः शुद्धात्मनोऽप्युत्पादादित्रयरूपं द्रव्यलक्षणभूतमस्तित्वमवश्यभावि ॥१८॥

भूमिका—अब उत्पाद आदि तीनों (उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य) सर्व द्रव्यों के साधारणतया (अर्थात् ऐसा नहीं है कि किसी द्रव्य मे हों और किसी में न हों) अवश्य होने से शुद्धात्मा के भी अवश्यंभावी हैं, इस बात को व्यक्त करते हैं—

अन्वयार्थ—[सर्वस्य अर्थजातस्य] सम्पूर्ण पदार्थ-समूह के (प्रत्येक पदार्थ के) [खलु] वास्तव मे [केन अपि पर्यायेण] किसी भी पर्याय से [उत्पाद] उत्पाद [विद्यते] है। [सर्वस्य अर्थजातस्य] सम्पूर्ण पदार्थ समूह के [खलु] वास्तव मे [केन अपि पर्यायेण] किसी भी पर्याय से [विनाश] विनाश [विद्यते] है। [च] और [अर्थः] पदार्थ [खलु] वास्तव मे [केन अपि पर्यायेण] किसी भी पर्याय से [सद्भूत.] ध्रुव [विद्यते] है।

टीका—जैसे इस लोक मे शुद्ध स्वर्ण के, बाजूबन्द (रूप) पर्याय से उत्पाद देखा जाता है, पूर्व अवस्था रूप से वर्तने वाली अंगूठी इत्यादि पर्याय से विनाश देखा जाता है और पीलापन आदि पर्याय से तो दोनों में (बाजूबन्द और अंगूठी मे) उत्पत्ति विनाश को प्राप्त न होने वाले (सुवर्ण) ध्रौव्यत्व दिखाई देता है। इसी प्रकार सर्व द्रव्यों के किसी

१ होइ (ज० वृ०)।

पर्याय से उत्पाद, किसी (पर्याय) से विनाश (और) किसी (पर्याय) से ध्रौव्य होता है, ऐसा जानना चाहिए।

सार—**इससे [यह कहा गया है कि] शुद्ध आत्मा के भी उत्पाद-आदि-तीन-रूप तथा द्रव्य का लक्षणभूत अस्तित्व अवश्यंभावी है।**

तात्पर्यवृत्ति

अथोत्पादादित्रय यथा सुवर्णादिमूर्तपदार्थेषु दृश्यते तथैवामूर्तेपि सिद्धस्वरूपे विज्ञेय पदार्थत्वादिति निरूपयति:—

उप्पादो य विणासो विज्जदि सव्वस्स अट्ठजादस्स उत्पादश्च विनाशश्च विद्यते तावत्सर्वस्यार्थजातस्य पदार्थसमूहस्य। केन कृत्वा ? **पज्जाएण दु केणवि** पर्यायेण तु केनापि विवक्षितेनार्थव्यञ्जनरूपेण वा। स चार्थ कि विशिष्ट ? **अट्ठो खलु होइ संभूदो** अर्थ खलु स्फुट सत्ताभूत' सत्ताया अभिन्नो भवतीति। तथाहि—सुवर्णगोरसमृत्तिकापुरुषादिमूर्तपदार्थेषु यथोत्पादादित्रय लोके प्रसिद्ध तथैवामूर्तेपि मुक्तजीवे। यद्यपि शुद्धात्मरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिलक्षणस्य ससारावसानोत्पन्नकारणसमयसारपर्यायस्य विनाशो भवति तथैव केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारपर्यायस्योत्पादश्च भवति, तथाप्युभयपर्यायपरिणतात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यत्व पदार्थत्वादिति। अथवा ज्ञेयपदार्था: प्रतिक्षण भङ्गत्रयेण परिणमन्ति तथा ज्ञानमपि परिच्छित्त्यपेक्षया भङ्गत्रयेण परिणमति। षट्स्थानगतागुरुलघुकगुणवृद्धिहान्यपेक्षया वा भङ्गत्रयमवबोद्धव्यमिति सूत्रतात्पर्यम्॥१८॥

एव सिद्धजीवे द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि विवक्षितपर्यायेणोत्पादव्ययध्रौव्यस्थापनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वय गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जैसे सुवर्ण आदि मूर्तिक पदार्थो मे उत्पाद व्यय ध्रौव्य देखे जाते हैं, वैसे ही अमूर्तिक सिद्ध स्वरूप मे भी जानना चाहिये क्योकि सिद्ध भगवान् भी पदार्थ हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(केणवि दु पज्जाएण) किसी भी पर्याय से अर्थात् किसी भी विवक्षित अर्थ या व्यंजनपर्याय से अथवा स्वभाव या विभावरूप से (सव्वस्स अट्ठजादस्स) सर्व पदार्थ समूह के (उप्पादो य विणासो) उत्पाद और विनाश (विज्जदि) होता है। (अट्ठो) पदार्थ (खलु) निश्चय करके (सब्भूदो होइ) सत्तारूप है, सत्ता से अभिन्न है।**

प्रयोजन यह है कि सुवर्ण, गोरस, मिट्टी, पुरुष आदि मूर्तिक पदार्थों मे जैसे उत्पाद व्यय ध्रौव्य हैं ऐसा लोक में प्रसिद्ध है, तैसे अमूर्तिक मुक्त जीव में हैं। यद्यपि मुक्त होते हुए शुद्ध आत्मा की रुचि उसी का ज्ञान तथा उसी का निश्चलता से अनुभव इस रत्नत्रयमय लक्षण को रखने वाले संसार के अन्त में होने वाले कारणसमयसाररूप

भाव-पर्याय का नाश होता है तैसे ही केवल ज्ञानादि की प्रगटता रूप कार्यसमयसार-रूप भाव-पर्याय का उत्पाद होता है तो भी दोनों ही पर्यायों में परिणमन करने वाले आत्म द्रव्य का ध्रौव्यपना रहता है क्योंकि आत्मा भी एक पदार्थ है। अथवा ज्ञेय पदार्थ जो ज्ञान मे झलकते हैं, वे क्षण-क्षण मे उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप परिणमन करते हैं, वैसे ही ज्ञान भी उनको जानने की अपेक्षा तीन भंग से परिणमन करता है। अथवा षट्-स्थान-पतित अगुरुलघुगुण मे वृद्धि व हानि की अपेक्षा तीन भंग जानने चाहिये, ऐसा सूत्र का तात्पर्य है। ॥१८॥

इस तरह सिद्ध जीव में द्रव्यार्थिक नय से नित्यपना होने पर भी पर्याय की अपेक्षा उत्पाद, व्यय और ध्रौव्यपने को कहते हुए दूसरे स्थल में दो गाथाएँ पूर्ण हुई ॥१८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ त पूर्वोक्तसर्वज्ञ ये मन्यन्ते ते सम्यग्दृष्टयो भवन्ति, परम्परया मोक्ष च लभन्त इति प्रतिपादयति,—

त सव्वट्ठवरिट्ठ इट्ठं अमरासुरप्पहाणेहिं।
ये सद्दहति जीवा, तेसिं दुक्खाणि खीयंति ॥१९-१॥
त सर्वार्थवरिष्ठ इष्ट अमरासुरप्रधानै:।
ये श्रद्दधति जीवा तेषा दु खानि क्षीयन्ते ॥१९-१॥

त सव्वट्ठवरिट्ठं त सर्वार्थवरिष्ठ इट्ठ इष्टमभिमतम्। कै ? अमरासुरप्पहाणेहिं अमरासुर-प्रधानै.। ये सद्दहति ये श्रद्दधति रोचन्ते जीवा भव्यजीवा। तेसिं तेषाम्। दु खाणि दुःखानि। खीयंति विनाश गच्छन्ति, इति सूत्रार्थ ॥१९-१॥

एव निर्दोषिपरमात्मश्रद्धानान्मोक्षो भवतीति कथनरूपेण तृतीयस्थले गाथा गता।

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो पूर्व मे कहे हुये सर्वज्ञ को मानते हैं, वे ही सम्यग्दृष्टि होते है और वे ही परम्परा से मोक्ष को प्राप्त करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(ये जीवा) जो भव्यजीव, (अमरासुरप्पहाणेहिं) स्वर्गवासी देव तथा भवनत्रिक के इन्द्रों से (इट्ठ) माननीय (सव्वट्ठवरिट्ठं) उस सर्व पदार्थों में श्रेष्ठ परमात्मा को (सद्दहंति) श्रद्धान करते हैं (तेसिं) उनके (दुक्खाणि) सब दुःख (खीयंति) नाश को प्राप्त हो जाते हैं।

इस तरह निर्दोष परमात्मा के श्रद्धान से मोक्ष होती है ऐसा कहते हुए तीसरे स्थल में गाथा पूर्ण हुई ॥१९-१॥

सूचना—इस गाथा की टीका श्री अमृतचन्द्रसूरि ने नहीं की है, कुछ विद्वानों के विचार से यह गाथा प्रक्षिप्त है।

अथास्यात्मनः शुद्धोपयोगानुभावात्स्वयम्भुवो भूतस्य कथमिन्द्रियैर्विना ज्ञानानन्दाविति संदेहमुदस्यति—

पक्खीणघादिकम्मो[1] अणंतवरवीरिओ[2] अधिकतेजो[3] ।
जादो अदिंदिओ[4] सो णाणं सोक्खं च परिणमदि ।।१९।।

प्रक्षीणघातिकर्मा अनन्तवरवीर्योऽधिकतेजा ।
जातोऽतीन्द्रियः स ज्ञानं सौख्यं च परिणमति ।।१९।।

अयं खल्वात्मा शुद्धोपयोगसामर्थ्यात् प्रक्षीणघातिकर्मा, क्षायोपशमिकज्ञानदर्शनासंपृक्तत्वादतीन्द्रियो भूतः सन्निखिलान्तरायक्षयादनन्तवरवीर्यः कृत्स्नज्ञानावर्शनावरणप्रलयादधिककेवलज्ञानदर्शनाभिधानतेजाः, समस्तमोहनीयाभावादत्यन्तनिर्विकारशुद्धचैतन्यस्वभावमात्मानमासादयन् स्वयमेव स्वपरप्रकाशकत्वलक्षणं ज्ञानमनाकुलत्वलक्षणं सौख्यं च भूत्वा परिणमते । एवमात्मनो ज्ञानानन्दौ स्वभाव एव । स्वभावस्य तु परानपेक्षत्वादिन्द्रियैर्विनाप्यात्मनो ज्ञानानन्दौ सम्भवतः ।।१९।।

भूमिका—**अब, जो शुद्धोपयोग के प्रभाव से स्वयंभू हो चुकी ऐसी इस आत्मा के अर्थात् श्री अरहन्त-सिद्ध परमेष्ठी के, इन्द्रियों के विना, ज्ञान और आनन्द कैसे होते है—इस संदेह को दूर करते हैं—**

अन्वयार्थ—(१) [प्रक्षीणघातिकर्मा] पूर्ण रूप से नष्ट हो चुके है घातिकर्म जिसके (२) [अतीन्द्रियः जातः] जो अतीन्द्रिय हो गया है. (३) [अनन्तवरवीर्य] जिसका अनन्त उत्तम वीर्य (शक्ति) है [च] और [४] [अधिकतेजाः] अधिक जिसका (केवलज्ञान और केवल दर्शनरूप) तेज है [सः] वह स्वयभू आत्मा) [ज्ञान सौख्य च] ज्ञान और सुख रूप [परिणमति] परिणमन करता है ।

टीका—**वास्तव में यह (स्वयंभू) आत्मा, (१) शुद्धोपयोग की सामर्थ्य से, पूर्ण रूप से नष्ट हो चुका है घाति कर्म जिसका, (२) क्षायोपशमिकज्ञान, दर्शन के साथ असंपृक्त (सम्बन्ध रहित) हो जाने से अतीन्द्रिय होता हुआ, (३) समस्त अन्तराय का क्षय होने से जिसका अनन्त उत्तम वीर्य है, (४) समस्त ज्ञानावरण और दर्शनावरण का नाश हो जाने से अधिक जिसका केवलज्ञान और केवलदर्शन नामक तेज है। (५) समस्त मोहनीय के अभाव के कारण से अत्यन्त निर्विकार शुद्ध चैतन्य स्वभाव वाले आत्मा को अनुभव करता**

---

१ पक्खीणघाइकम्मो (ज० वृ०)। २. अणतवरवीरियो (ज० वृ०)। ३ अहियतेजो (ज० वृ०)। ४. अणिंदियो (ज० वृ०)।

हुआ, स्वयमेव स्वपर, प्रकाशकता लक्षण वाले ज्ञान और अनाकुलता लक्षण वाले सुखरूप होकर परिणमित होता है।

सार—**इस प्रकार आत्मा का स्वभाव ज्ञान और आनन्द है। स्वभाव के पर का निरपेक्षपना होने के कारण से, इन्द्रियो के विना भी, आत्मा के ज्ञान और आनन्द होते हैं।**

तात्पर्यवृत्ति

अथास्यात्मनो निर्विकारस्वसंवेदनलक्षणशुद्धोपयोगप्रभावात्सर्वज्ञत्वे सतीन्द्रियैर्विना **कथ** ज्ञानानन्दाविति पृष्टे प्रत्युत्तर ददाति **पक्खीणघाइकम्मो** ज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयस्वरूपपरमात्मद्रव्यभावनालक्षणशुद्धोपयोगबलेन प्रक्षीणघातिकर्मा सन्। **अणतवरवीरियो** अनन्तवरवीर्य.। पुनरपि किंविशिष्ट? **अहियतेजो** अधिकतेजा। अत्र तेज शब्देन केवलज्ञानदर्शनद्वय ग्राह्यम्। **जादो सो** स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा जात. सजात। कथभूत? **अणिदियो** अनिन्द्रिय इन्द्रियविषयव्यापाररहित·। अतीन्द्रिय सन् किं करोति? **णाण सोक्ख च परिणमदि** केवलज्ञानमनन्तसौख्य च परिणमतीति। तथाहि—अनेन व्याख्यानेन किमुक्त भवति? आत्मा तावन्निश्चयेनानन्तज्ञानसुखस्वभावोऽपि व्यवहारेण ससारावस्थाया कर्मप्रच्छादितज्ञानसुख सन् पश्चादिन्द्रियाधारेण किमप्यल्पज्ञानं सुख च परिणमति? यदा पुनर्निर्विकल्पस्वसवित्तिबलेन कर्माभावो भवति तदा क्षयोपशमाभावादिन्द्रियाणि न सन्ति स्वकीयातीन्द्रियज्ञानसुख चानुभवति। तत स्थित इन्द्रियाभावेऽपि स्वकीयानन्तज्ञान सुख चानुभवति तदपि कस्मात्? स्वभावस्य परापेक्षा नास्तीत्यभिप्राय ॥१६॥

उत्थानिका—आगे शिष्य ने प्रश्न किया कि इस आत्मा के विकार रहित स्वसंवेदन लक्षण रूप शुद्धोपयोग के प्रभाव से सर्वज्ञपना प्राप्त होने पर इन्द्रियो के द्वारा उपयोग तथा भोग के विना किस तरह ज्ञान और आनन्द हो सकते है? इसका उत्तर आचार्य देते है —

अन्वय सहित विशेषार्थ— **(सो) वह सर्वज्ञ आत्मा जिसका लक्षण पहले कहा है (पक्खीणघाइकम्मो) घातियाकर्मों को क्षयकर अर्थात् अनंतज्ञान, अनंतदर्शन, अनंतसुख, अनंतवीर्य इन चतुष्टय रूप परमात्मा द्रव्य की भावना के लक्षण को रखने वाले शुद्धोपयोग के बल से ज्ञानावरणादि घातियाकर्मों को नाशकर (अणंतवरवीरियो) अंत रहित और उत्कृष्ट वीर्य को रखता हुआ (अहियतेजो) व अतिशय तेज को धरता हुआ अर्थात् केवलज्ञान, केवलदर्शन को प्राप्त हुआ (अणिदियो) अतीन्द्रिय अर्थात् इंद्रियों के विषयों के व्यापार से रहित (जादो) हो गया (च) तथा ऐसा होकर (णाणं) केवलज्ञान को (सोक्खं) और अनंतसुख को (परिणमदि) परिणमन करता है।**

इस व्याख्यान में यह कहा है कि आत्मा यद्यपि निश्चय से अनंतज्ञान और अनंतसुख के स्वभाव को रखने वाला है तो भी व्यवहार से संसार की अवस्था में पड़ा हुआ है, जब इसका केवलज्ञान और अनतसुख स्वभाव कर्मों से ढका हुआ है, तब तक पांच इन्द्रियों के

आधार से कुछ अल्प ज्ञान व कुछ अल्प सुख मे परिणमन करता है। फिर जब कभी विकल्प रहित स्वसंवेदन या निश्चल आत्मानुभव के बल से कर्मों का अभाव होता है तब क्षयोपशमज्ञान के अभाव होने पर इन्द्रियों के व्यापार नहीं होते हैं, उस समय अपने ही अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख को अनुभव करता है क्योंकि स्वभाव के प्रगट होने में पर की अपेक्षा नहीं है, ऐसा अभिप्राय है।

अथातीन्द्रियत्वादेव शुद्धात्मनः शारीरं सुखदुःख नास्तीति विभावयति—

सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि देहगदं[1] ।
जम्हा अदिंदियत्तं जादं तम्हा दु तं णेयं ।।२०।।

सौख्य वा पुनर्दुःख केवलज्ञानिनो नास्ति देहगतम् ।
यस्मादतीन्द्रियत्व जात तस्मात्तु तज्ज्ञेयम् ।।२०।।

यत एव शुद्धात्मनो जातवेदस इव कालायसगोलोत्कूलितपुद्गलाशेषविलासकल्पो नास्तीन्द्रियग्रामस्तत एव घोरघनघाताभिघातपरम्परास्थानीय शरीरगत सुखदुःख न स्यात् ।।२०।।

भूमिका—अब, अतीन्द्रियपने के कारण से ही शुद्ध आत्मा के शारीरिक सुख-दुःख नहीं है, इस बात को व्यक्त करते हैं—

अन्वयार्थ—[केवलज्ञानिन] केवलज्ञानी के [देहगत] शरीर सम्बन्धी [सौख्य] सुख [वा पुन] या [दुःख] दुःख [नास्ति] नही है [यस्मात्] क्योकि [अतीन्द्रियत्व] अतीन्द्रियता [जात] उत्पन्न हुई है [तस्मात् तु तत् ज्ञेयम्] इसलिये ऐसा जानना चाहिये।

टीका—जैसे अग्नि के लोहपिण्ड के तप्त पुद्गलों का समस्त विलास समूह नहीं है (अर्थात् अग्नि लोहे के गोले के पुद्गलो के विलास से–उनकी क्रिया से भिन्न है) उसी प्रकार शुद्ध आत्मा के इन्द्रिय समूह नहीं है, इस ही कारण से जैसे (अग्नि के) घन (लोहपिण्ड) के घोर आघातों की परम्परा नहीं है (लोहे के गोले के संसर्ग का अभाव होने पर घन के लगातार आघातों की भयकर मार अग्नि पर नही पड़ती), इसी प्रकार (शुद्ध आत्मा के) शरीर सम्बन्धी सुख-दुःख नहीं है।

तात्पर्यवृत्ति—

अथातीन्द्रियत्वादेव केवलिन शरीराधारोद्भूत भोजनादिसुख क्षुधादिदुःख च नास्तीति विचारयति:—

सोक्खं वा पुण दुक्खं केवलणाणिस्स णत्थि सुख वा पुनर्दुःख वा केवल-

1 देहगय (ज० वृ०)।

ज्ञानिनो नास्ति। कथंभूतम्? **देहगयं** देहगतं देहाधारजिह्वेन्द्रियादिसमुत्पन्नं **कवलाहारादिसुखम्,** असातोदयजनितं क्षुधादि दुःखं च। कस्मान्नास्ति? **जह्मा अदिंदियत्तं जादं** यस्मान्मोहादिघातिकर्माभावे पञ्चेन्द्रियविषयसुखाय व्यापाररहितत्वं जातम्। **तह्मा दु तं णेयं** तस्मादतीन्द्रियत्वाद्धेतोरतीन्द्रियमेव तज्ज्ञानं सुखं च ज्ञेयमिति। तद्यथा—लोहपिण्डसमर्गाभावादग्निर्यथा घनघातपिट्टनं न लभते तथायमात्मापि लोहपिण्डस्थानीयेन्द्रियग्रामाभावात् सांसारिकसुखदुःखं नानुभवतीत्यर्थः। कश्चिदाह केवलिना भुक्तिरस्ति, औदारिकशरीरसद्भावात्। असद्वेद्यकर्मोदयसद्भावाद्वा। अस्मदादिवत् परिहारमाह-तद्भगवतः शरीरमौदारिकं न भवति किन्तु परमौदारिकं तथाचोक्तं—

शुद्धस्फटिकसंकाशं तेजोमूर्तिमयं वपुः।
जायते क्षीणदोषस्य सप्तधातुविवर्जितम्॥

यच्चोक्तमसद्वेद्योदयसद्भावात्तत्र परिहारमाह-यथा व्रीह्यादिबीजं जलसहकारिकारणसहितमङ्कुरादिकार्यं जनयति तथैवासद्वेद्यकर्म मोहनीयसहकारिकारणसहितं क्षुधादिकार्यमुत्पादयति। कस्मात्? **'मोहस्स बलेण घादवे जीवं'** इति वचनात्। यदि पुनर्मोहाभावेपि क्षुधादिपरीषहं जनयति तर्हि वधरोगादिपरीषहमपि जनयतु न च तथा। तदपि कस्मात्? **'भुक्त्युपसर्गाभावात्'** इति वचनात्। अन्यदपि दूषणमस्ति। यदि क्षुधाबाधास्ति तर्हि क्षुधाक्षीणशक्तेरनन्तवीर्यं नास्ति। तथैव क्षुधादुःखितस्यानन्तसुखमपि नास्ति। जिह्वेन्द्रियपरिच्छित्तिरूपमतिज्ञानपरिणतस्य केवलज्ञानमपि न संभवति। अथवा अन्यदपि कारणमस्ति। असद्वेद्योदयापेक्षया सद्वेद्योदयोऽनन्तगुणोस्ति। ततः कारणात् शर्कराराशिमध्ये निम्बकणिकावदसद्वेद्योदयो विद्यमानोपि न ज्ञायते। तथैवान्यदपि बाधकमस्ति-यथा प्रमत्तसंयतादितपोधनानां वेदोदये विद्यमानेपि मन्दमोहोदयत्वादखण्डब्रह्मचारिणां स्त्रीपरीषहबाधा नास्ति। यथैव च नवग्रैवेयकाद्यहमिन्द्रदेवानां वेदोदये विद्यमानेपि मन्दमोहोदयेन स्त्रीविषयबाधा नास्ति, तथा भगवत्यसद्वेद्योदये विद्यमानेपि निरवशेषमोहाभावात् क्षुधाबाधा नास्ति। यदि पुनरुच्यते भवद्भिः—मिथ्यादृष्ट्यादिसयोगकेवलिपर्यन्तास्त्रयोदशगुणस्थानवर्तिनो जीवा आहारका भवन्तीत्याहारकमार्गणायामागमे भणितमास्ते, ततः कारणात् केवलिनामाहारोस्तीति। तदप्ययुक्तम्। परिहारः—

णोकम्म-कम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओजमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो॥

इति गाथाकथितक्रमेण यद्यपि षट्प्रकार आहारो भवति तथापि नोकर्माहारापेक्षया केवलिनामाहारकत्वमवबोद्धव्यम्। न च कवलाहारापेक्षया। तथाहि-सूक्ष्माः सुरसाः सुगन्धा अन्यमनुजानामसंभविनः कवलाहारं विनापि किञ्चिदूनपूर्वकोटिपर्यन्तं शरीरस्थितिहेतवः सप्तधातुरहितपरमौदारिकशरीरनोकर्माहारयोग्या लाभान्तरायकर्मनिरवशेषक्षयात् प्रतिक्षणं पुद्गला आस्रवन्तीति नवकेवललब्धिव्याख्यानकाले भणितं तिष्ठति। ततो ज्ञायते नोकर्माहारापेक्षया केवलिनामाहारकत्वम्। अथ मतम्-भवदीयकल्पनया आहारानाहारकत्वं नोकर्माहारापेक्षया, न च कवलाहारापेक्षया चेति कथं ज्ञायते नैवम्। "एकं द्वौ त्रीन् वानाहारकः" इति तत्त्वार्थे कथितमास्ते। अस्य सूत्रस्यार्थः कथ्यते-भवान्तरगमनकाले विग्रहगतौ शरीराभावे सति नूतनशरीरधारणार्थं त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्यपुद्गलपिण्डग्रहणं नोकर्माहार उच्यते। स च विग्रहगतौ

कर्माहारे विद्यमानेप्येकद्वित्रिसमयपर्यन्तं नास्ति। ततो नोकर्माहारापेक्षयाऽऽहारानाहारकत्वमागमे ज्ञायते। यदि पुनः कवलाहारापेक्षया तर्हि भोजनकालं विहाय सर्वदैवानाहारक एव, समयत्रयनियमो न घटते। अथ मतम्-केवलिनां कवलाहारोऽस्ति मनुष्यत्वात् वर्तमानमनुष्यवत्। तदप्ययुक्तम्। तर्हि पूर्वकालपुरुषाणां सर्वज्ञत्वं नास्ति, रामरावणादिपुरुषाणां च विशेषसामर्थ्यं नास्ति वर्तमानमनुष्यवत्। न च तथा। किंच छद्मस्थतपोधना अपि सप्तधातुरहितपरमौदारिकशरीराभावे 'छट्ठोत्ति पढमसण्णा' इति वचनात् प्रमत्तसंयतषष्ठगुणस्थानवर्तिनो यद्यप्याहारं गृह्णन्ति तथापि ज्ञानसंयमध्यानसिद्ध्यर्थं, न च देहममत्वार्थम्। उक्तं च—

> कायस्थित्यर्थमाहारः कायो ज्ञानार्थमिष्यते।
> ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं सुखम्॥
> ण बलाउसाहणट्ठं ण सरीरस्स य चयट्ठ तेजट्ठं।
> णाणट्ठं संजमट्ठं झाणट्ठं चेव भुंजंति॥

तस्य भगवतो ज्ञानसंयमध्यानादिगुणाः स्वभावेनैव तिष्ठन्ति न चाहारबलेन। यदि पुनर्देहममत्वेनाहारं गृह्णाति तर्हि छद्मस्थेभ्योऽप्यसौ हीनः प्राप्नोति। अथोच्यते-तस्यातिशयविशेषात्प्रकटा भुक्तिर्नास्ति प्रच्छन्ना विद्यते। तर्हि परमौदारिकशरीरत्वाद्भुक्तिरेव नास्त्ययमेवातिशयः किं न भवति ? तत्र तु प्रच्छन्नभुक्तौ मायास्थानं दैन्यवृत्तिः, अन्येपि पिण्डशुद्धिकथिता दोषा बहवो भवन्ति ? ते चान्यत्र तर्कशास्त्रे ज्ञातव्याः। अत्र चाध्यात्मग्रन्थत्वान्नोच्यन्त इति। अयमत्र भावार्थः—इदं वस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्यमत्राग्रहो न कर्तव्यः। कस्मात् ? दुराग्रहे सति रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति ततश्च निर्विकारचिदानन्दैकस्वभावपरमात्मभावनाविघातो भवतीति॥२०॥

एवमनन्तज्ञानसुखस्थापने प्रथमगाथा केवलिभुक्तिनिराकरणे द्वितीया चेति गाथाद्वयं गतम्। इति सप्तगाथाभिः स्थलचतुष्टयेन सामान्येन सर्वज्ञसिद्धिनामा द्वितीयोन्तराधिकारः समाप्तः।

उत्थानिका—आगे कहते है कि अतीन्द्रियपना होने से ही केवलज्ञानी के शरीर के आधार से उत्पन्न होने वाला भोजनादि का सुख तथा क्षुधा आदि का दुःख नही होता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(पुण) तथा (केवलणाणिस्स) केवल ज्ञानी के (देहगदं) देह से होने वाला अर्थात् शरीर के आधार मे रहने वाली जिह्वा इन्द्रिय आदि के द्वारा पैदा होने वाला (सोक्खं) सुख (वा दुक्खं) और दुःख अर्थात् असातावेदनीय आदि के उदय से पैदा होने वाला क्षुधा आदि का दुःख (णत्थि) नहीं होता है। (जम्हा) क्योंकि (अदिंदियत्तं) अतीन्द्रियपना अर्थात् मोहनीय आदि घातियाकर्मों के अभाव होने पर पाँचों इन्द्रियों के विषय सुख के लिये व्यापार का अभावपना ऐसा अतीन्द्रियपना (जादं) प्रगट हो गया है (तम्हा) इसलिये (तं दु) वह अर्थात् अतीन्द्रियपना होने के कारण से अतीन्द्रियज्ञान और अतीन्द्रिय सुख तो (णेयं) जानना चाहिये।**

भाव यह कि जैसे लोहे के पिंड की सगति को न पाकर अग्नि हथौड़े की चोट नहीं सहती है तैसे यह आत्मा भी लौहपिंड के समान इन्द्रिय ग्रामों का अभाव होने से अर्थात् इन्द्रियजनित ज्ञान के अन्ध होने से सांसारिक सुख तथा दुःख को अनुभव नहीं करता है।

यहाँ किसी ने कहा है कि केवलज्ञानी भी भोजन करते हैं क्योंकि उनके औदारिक शरीर की सत्ता है तथा असातावेदनीयकर्म के उदय का सद्भाव हैं, जैसे हम लोगों के भोजन होताहै इसका खडन करते हैं कि श्री केवली भगवान् के औदारिक शरीर नहीं है किन्तु परम औदारिक है, जैसे कि कहा है—

अर्थात् दोष-रहित केवलज्ञानी के शुद्ध स्फटिक मणि के समान परम तेजस्वी तथा सात धातु से रहित शरीर होता है। और जो यह कहा है कि असातावेदनीय के उदय के सद्भाव से केवली के भूख लगती है और वे भोजन करते हैं सो भी ठीक नहीं है क्योंकि जैसे धान्य, जो आदि का बीज जलादि सहकारी कारण सहित होने पर ही अंकुर आदि कार्य को उत्पन्न करता है तैसे ही असातावेदनीयकर्म मोहनीयकर्मरूप सहकारी कारण के साथ ही क्षुधा आदि कार्य को उत्पन्न करता है क्योंकि कहा है "मोहस्स बलेण घाददे जीवं" वेदनीयकर्म मोह के बल को पाकर जीव को घात करता है। यदि मोहनीयकर्म के अभाव होने पर भी असातावेदनीयकर्म क्षुधा आदि परीषह को उत्पन्न करदे तो वध रोग आदि परीषह भी उत्पन्न हो जावें, सो ऐसा होता नहीं है क्योंकि कहा है "भुक्त्युपसर्गाभावात्" केवली के भोजन व उपसर्ग नहीं होते, और भी दोष यह आता है कि यदि केवली को क्षुधा की बाधा है, तब क्षुधा के कारण शक्ति क्षीण होने से अनन्तवीर्य नहीं बनेगा तैसे ही क्षुधा द्वारा जो दुःखी होगा उसके अनन्तसुख भी नही हो सकेगा तथा रसना इन्द्रिय द्वारा ज्ञान मे परिणमन करते हुए मतिज्ञानी के केवलज्ञान का होना भी सम्भव न होगा। अथवा और भी हेतु है। असातावेदनीय के उदय की अपेक्षा केवली के सातावेदनीय का उदय अनन्त-गुणा है। इस कारण से जैसे शक्कर के ढेर में नीम का कण अपना असर नहीं दिखलाता है वैसे अनन्तगुणे सातावेदनीय के उदय में असातावेदनीय का असर नहीं प्रगट होता, तैसे ही और भी बाधक हेतु है। जैसे प्रमत्तसंयमी आदि साधुओं के वेद का उदय रहते हुए भी मन्द-मोह के उदय से अखंड ब्रह्मचारियों के स्त्री परीषह की बाधा नहीं होती है तथा नव-ग्रैवेयक आदि के अहमिन्द्रो के वेद का उदय होते हुए भी मन्द मोह के उदय से स्त्री-सेवन-सम्बन्धी बाधा नही होती है, तैसे ही श्री

केवली अरहंत के असातावेदनीय का उदय होते हुए भी सम्पूर्ण स्नेह का अभाव होने से क्षुधा की बाधा नहीं हो सकती है। यदि ऐसा आप कहें कि मिथ्यादृष्टि से लेकर सयोग-केवली पर्यन्त तेरह गुणस्थानवर्ती जीव आहारक होते हैं, ऐसा आहार मार्गणा के सम्बन्ध में आगम में कहा हुआ है, इस कारण से केवलियों के आहार है, ऐसा मानना चाहिये। सो ठीक नहीं है, ऐसा मानना चाहिये। सो ठीक नहीं है क्योंकि निम्न गाथा के अनुसार आहार छः प्रकार का होता है—

"णोकम्मकम्महारो कवलाहारो य लेप्पमाहारो।
ओजमणो वि य कमसो आहारो छव्विहो णेयो ॥२॥

भाव यह है कि आहार छः प्रकार का होता है, जैसे-कर्म का आहार, कर्मों का आहार, ग्रासरूप कवलाहार, लेपका आहार, ओज आहार तथा मानसिक आहार। आहार उन परमाणुओं के ग्रहण को कहते हैं जिनसे शरीर की स्थिति रहे। आहरक वर्गणा का शरीर में प्रवेश सो नोकर्म का आहार है। जिन परमाणुओं के समूह से देवों का, नारकियों का, मनुष्य या तिर्यंचों का वैक्रियिक, औदारिकशरीर और मुनियो के आहारकशरीर बनता है उसको आहारक वर्गणा कहते हैं। कार्माण वर्गणा के ग्रहण को कर्म-आहार कहते हैं। इन्हीं वर्गणाओं से कर्मों का सूक्ष्मशरीर बनता है। अन्न, पानी आदि पदार्थों को मुह चलाकर खाना-पीना कवलाहार है। यह साधारण मनुष्यों के व द्वीन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के पशुओं के होता है। स्पर्श से शरीर पुष्टिकारक पदार्थों को ग्रहण करना सो लेप आहार है। यह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु तथा वनस्पति कायधारी एकेन्द्रिय जीवों के होता है। अंडों को माता सेती है उससे गर्मी पहुंचाकर अण्डो को पकना सो ओज आहार है। भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी तथा कल्पवासी इन चार प्रकार के देवों के मानसिक आहार होता है। इनके वैक्रियिक दिव्यशरीर होता है, जिसमे हाड़, मास, रुधिर नही होता है, इसलिये इनके कवलाहार नहीं हैं, यह मांस व अन्न नही खाते है। देवों के जब कभी भूख की बाधा होती है तो उनके कण्ठ में से अमृतमयी रस झर जाता है उससे ही उनकी भूख की बाधा मिट जाती है। नारकियो के कर्मों का भोगना यही आहार है तथा वे नरक की पृथ्वी की मिट्टी खाते हैं परन्तु उससे उनकी भूख मिटती नहीं है। इन छः प्रकार के आहारों में से केवली अरहंत भगवान् के मात्र नोकर्म्म का आहार है इस ही अपेक्षा से केवली अरहंतों के आहारकपना जानना चाहिये, कवलाहार की अपेक्षा से नहीं। सूक्ष्म इन्द्रियों के अगोचर, रस वाले सुगन्धित अन्य मनुष्यों के लिए असम्भव, कवलाहार के बिना भी कुछ कम कोटि-

पूर्व तक शरीर की स्थिति के कारण, सात धातुओं से रहित परमौदारिक शरीर रूप नोकर्म्म के आहार के योग्य आहारक वर्गणाओं के पुद्गल लाभान्तराय कर्म्म के पूर्ण क्षय हो जाने से केवली भगवान् के शरीर में योग-शक्ति के आकर्षण से प्रति समय आते हैं। यही केवली आहार है। यह बात नवकेवललब्धि व्याख्या के अवसर पर कही गई है इस-लिये यह जाना जाता है कि केवली अरहंतों के नोकर्म्म के आहार की अपेक्षा से ही आहारकपना है। यदि आप कहो कि आहारकपना नोकर्म्म के आहार की अपेक्षा कहना तथा कवलाहार की अपेक्षा न कहना यह आपकी कल्पना है यदि सिद्धान्त में है तो कैसे मालूम पड़े तो इसका समाधान यह है कि श्री उमास्वामी महाराज कृत तत्त्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय में यह वाक्य है। "एकं द्वौ त्रीन्वानाहारकः', ॥३०॥ इस सूत्र का भावरूप अर्थ कहा जाता है। एक शरीर को छोड़कर दूसरे भव में जाने के काल में विग्रहगति के भीतर स्थूलशरीर का अभाव होते हुए नवीन स्थूलशरीर धारण करने के लिये तीन शरीर और छः पर्याप्ति के योग्य पुद्गल पिंड का ग्रहण होना नो-कर्म्म-आहार कहा जाता है। ऐसा नोकर्म आहार विग्रहगति के भीतर कर्मों का ग्रहण या कार्माणवर्गणा का आहार होते हुए भी एक, दो या तीन समय तक नहीं होता है। इसलिये ऐसा जाना जाता है कि आगम में नोकर्म्म आहार की अपेक्षा से आहारकपना कहा है। यदि कहोगे कि कवलाहार की अपेक्षा से है तो ग्रासरूप भोजन के काल को छोड़कर सदा ही अनाहारकपना रहेगा। तब तीन समय अनाहारक हैं, ऐसा नियम न रहेगा। यदि कहोगे कि वर्तमान के मनुष्यों की तरह केवलियों के कवलाहार है क्योंकि केवली भी मनुष्य हैं, सो कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानोगे तो वर्तमान के मनुष्यों की तरह पूर्वकाल के पुरुषों के सर्वज्ञपना न रहेगा तथा राम, रावण आदि को विशेष सामर्थ्य थी सो यह बात नही बन सकेगी, और समझना चाहिये कि अल्पज्ञानी छद्मस्थ प्रमत्तसंयतनामा छठे गुणस्थानधारी साधु भी जिनके सात धातु रहित परम औदारिक शरीर नहीं है इस वचन से कि "छट्ठोत्ति पढम सण्णा" षष्ठ गुणस्थान तक प्रथम आहार संज्ञा है अर्थात् भोजन करने की चाह छठे गुणस्थान तक ही है यद्यपि वे आहार को लेते हैं तथापि ज्ञान और संयम तथा ध्यान की सिद्धि के लिये लेते हैं, देह के मोह के लिये नहीं लेते हैं। कहा भी है—

कायस्थित्यर्थमाहारः कायो ज्ञानार्थमिष्यते,
ज्ञानं कर्मविनाशाय तन्नाशे परमं सुखं ॥३॥
ण बलाउ साहणट्ठं ण सरीरस्य य चयट्ठं तेजट्ठं।
णाणट्ठ संजमट्ठ झाणट्ठं चेव भुंजंति ॥४॥

भाव यह है कि मुनियों के आहार शरीर की स्थिति के लिये होता है, शरीर को ज्ञान के लिये रखते हैं, आत्मज्ञान कर्म नाश के लिये सेवन करते हैं क्योंकि कर्मों के नाश से परम सुख होता है। मुनि शरीर के बल आयु, चेष्टा तथा तेज के लिये भोजन नहीं करते हैं किन्तु ज्ञान, संयम तथा ध्यान के लिये करते हैं। उन भगवान् केवली के तो ज्ञान, संयम तथा ध्यान आदि गुण स्वभाव से ही पाए जाते हैं आहार के बल से नहीं। उनको संयमादि के लिये आहार की आवश्यकता तो है नहीं क्योंकि कर्मों के आवरण न होने से संयमादि गुण तो प्रगट हो रहे हैं। फिर यदि कहो कि देह के ममत्व से आहार करते हैं तो वे केवली छद्मस्थ मुनियों से भी हीन हो जायेंगे। यदि कहोगे कि उनके अतिशय की विशेषता से प्रगटरूप से भोजन की भुक्ति नहीं है, गुप्त है, तो परमौदारिक शरीर होने से भुक्ति ही नहीं है ऐसा अतिशय क्यों नहीं होता है। क्योंकि गुप्त भोजन में मायाचार का स्थान होता है, दीनता की वृति आती है तथा दूसरे भी पिंड शुद्धि में कहे हुए बहुत से दोष होते हैं जिनको दूसरे ग्रन्थ से व तर्कशास्त्र से जानना चाहिये। अध्यात्म ग्रन्थ होने से यहाँ अधिक नहीं कहा गया है। यहाँ यह भावार्थ है कि ऐसा ही वस्तु का स्वरूप जानना चाहिये। इसमे हठ नहीं करना चाहिये। खोटा आग्रह या हठ करने से रागद्वेष की उत्पत्ति होती है, जिससे निर्विकार चिदानंदमयी एक स्वभाव रूप परमात्मा की भावना का घात होता है। इस तरह अनन्तज्ञान और सुख की स्थापना करते हुए प्रथम गाथा तथा केवली के भोजन का निराकरण करते हुए दूसरी गाथा है। इस तरह दो गाथाए पूर्ण हुईं। इस तरह सात गाथाओं के द्वारा चार स्थलो से सामान्य से सर्वज्ञ-सिद्धि नाम का दूसरा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ ॥२०॥

अथ ज्ञानस्वरूपप्रपञ्चं सौख्यस्वरूपप्रपञ्चं च क्रमप्रवृत्तप्रबन्धद्वयेनाभिदधाति। तत्र केवलिनोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वात्सर्वं प्रत्यक्षं भवतीति विभावयति—

परिणमदो खलु णाणं पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया।
सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं ॥२१॥

परिणममानस्य खलु ज्ञान प्रत्यक्षा. सर्वद्रव्यपर्याया·।
सो नैव तान् विजानात्यवग्रहपूर्वाभि· क्रियाभिः ॥२१॥

यतो न खल्विन्द्रियाण्यालम्ब्यावग्रहेहावायपूर्वकप्रक्रमेण केवली विजानाति, स्वयमेव समस्तावरणक्षयक्षण एवानाद्यनन्ताहेतुकासाधारणभूतज्ञानस्वभावमेव कारणत्वेनोपादाय

तदुपरि प्रविकसत्केवलज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमते, ततोऽस्याक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्य-क्षेत्रकालभावतया [1]समक्षसंवेदनालम्बनभूताः सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा एव भवन्ति ॥२१॥

भूमिका—अब, ज्ञान के स्वरूप के विस्तार को (गाथा २१ से ५२ तक) और सुख के विस्तार को (गाथा ५३ से ६८ तक) क्रम से प्रवर्तमान दो अधिकारों द्वारा कहते हैं। उनमें से पहले अधिकार को प्रारम्भ करते हुए, केवली के अतीन्द्रियज्ञान (रूप) परिणत होने से सब प्रत्यक्ष होता है यह प्रगट करते हैं—

अन्वयार्थ—[ज्ञान परिणममानस्य केवलिन] (अनन्त पदार्थों के जानने में समर्थ ऐसे) केवलज्ञान रूप से परिणत हुए केवली भगवान् के [सर्वद्रव्यपर्यायाः] सब द्रव्य पर्याये [खलु] वास्तव मे [प्रत्यक्षाः] प्रत्यक्ष है। [स.] वह (केवली भगवान्) [तान्] उन सब (द्रव्य-पर्यायो) को [अवग्रहपूर्वाभि क्रियाभि.] अवग्रह है पूर्व मे जिनके ऐसे अवग्रह, ईहा अवाय रूप क्रियाओ द्वारा [नैव] नही [विजानाति] जानते हैं (किन्तु युगपत् जानते है)।

टीका—क्योंकि, वास्तव में, इन्द्रियों को आलम्बन करके अवग्रह, ईहा, अवाय पूर्वक क्रम से केवली नहीं जानते हैं (किन्तु) समस्त आवरण के नाश के समय में ही, अनादि अनन्त, अहेतुक और असाधारणभूत ज्ञान स्वभाव को ही कारणपने से ग्रहण करके, उसके ऊपर प्रगट होने वाले केवलज्ञानोपयोगी होकर स्वयमेव परिणमते हैं। इस कारण से उस (केवली) के, समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अक्रमिक (युगपत्) ग्रहण होने से (जानने से) प्रत्यक्ष ज्ञान की आलम्बनभूत समस्त द्रव्य पर्यायें प्रत्यक्ष ही हैं। (भवन्ति क्रिया का कर्त्ता समस्त द्रव्य पर्यायें हैं।)

तात्पर्यवृत्ति

उपोद्घातः—अथ ज्ञानप्रपञ्चाभिधानान्तराधिकारे त्रयस्त्रिंशद्गाथा भवन्ति। तत्राष्टौ स्थलानि। तेष्वादौ केवलज्ञानस्य सर्वं प्रत्यक्ष भवतीति कथनमुख्यत्वेन 'परिणमदो खलु' इत्यादि-गाथाद्वयम्, अथात्मज्ञानयोर्निश्चयेनासख्यातप्रदेशत्वेपि व्यवहारेण सर्वगतत्व भवतीत्यादिकथनमुख्यत्वेन "आदा णाणपमाण" इत्यादिगाथापञ्चकम्, तत. पर ज्ञानज्ञेययो परस्परगमननिराकरणमुख्यतया "णाणी णाणसहावो" इत्यादिगाथापञ्चकम्, अथ निश्चयव्यवहारकेवलिप्रतिपादनादिमुख्यत्वेन "जो हि सुदेण' इत्यादिसूत्रचतुष्टय, अथ वर्तमानज्ञाने कालत्रयपर्यायपरिच्छित्तिकथनादिरूपेण "तक्कालिगेव सव्वे" इत्यादिसूत्रपञ्चकम्, अथ केवलज्ञान बन्धकारण न भवति रागादिविकल्परहितं छद्मस्थ-ज्ञानमपि। किन्तु रागादयो बन्धकारणमित्यादिनिरूपणमुख्यतया "परिणमदि णेय" इत्यादिसूत्र-पञ्चकम्, अथ केवलज्ञान सर्वज्ञान सर्वज्ञत्वेन प्रतिपादयतीत्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन "ज तक्कालियमिदरं" इत्यादिगाथापञ्चकम्, अथ ज्ञानप्रपचोपसहारमुख्यत्वेन प्रथमगाथा, नमस्कारकथनेन

---

१ 'समस्त' इति पाठान्तरम्।

द्वितीया चेति 'णवि परिणमदि" इत्यादि गाथाद्वयम् । एव ज्ञानप्रपञ्चाभिधानतृतीयान्तराधिकारे त्रयस्त्रिंशद्गाथाभिः स्थलाष्टकेन समुदायपातनिका ।तद्यथा—

अथातीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वात्केवलिनः सर्वप्रत्यक्ष भवतीति प्रतिपादयति ।

पच्चक्खा सव्वदव्वपज्जाया सर्वद्रव्यपर्यायाः प्रत्यक्षा भवन्ति । **कस्य ? केवलिनः** । किं कुर्वत. ? **परिणमदो** परिणममानस्य **खलु** स्फुटम् । किम् ? **णाण** अनन्तपदार्थपरिच्छित्तिसमर्थं केवलज्ञानम् । तर्हि किं क्रमेण जानाति ? **सो णेव ते विजाणदि उग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं** स च भगवान्नैव तान् जानात्यवग्रहपूर्वाभिः क्रियाभि, किन्तु युगपदित्यर्थ. । इतो विस्तरः—अनाद्यनन्तमहेतुक चिदानन्दैकस्वभाव निजशुद्धात्मानमुपादेय कृत्वा केवलज्ञानोत्पत्तेर्बीजभूतेनागमभाषया शुक्लध्यानसज्ञेन रागादिविकल्पजालरहितस्वसवेदनज्ञानेन यदायमात्मा परिणमति, तदा स्वसवेदनज्ञानफलभूतकेवलज्ञानपरिच्छित्त्याकारपरिणतस्य तस्मिन्नेव क्षणे क्रमप्रवृत्तक्षायोपशमिकज्ञानाभावादक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया सर्वद्रव्यगुणपर्याया अस्यात्मन प्रत्यक्षा भवन्तीत्यभिप्राय. ।।२१।।

उत्थानिका—आगे ज्ञान प्रपच नाम के अन्तर अधिकार मे तेतीस गाथाये है, उनमे आठ स्थल है जिनके आदि मे केवलज्ञान सर्व प्रत्यक्ष होता है, ऐसा कहते हुए 'परिणमदो खलु' इत्यादि गाथाएँ दो हैं फिर आत्मा और ज्ञान के निश्चय से असख्यात प्रदेश होने पर भी व्यवहार से सर्वव्यापी बना है इत्यादि कथन की मुख्यता से "आदा णाणपमाण" इत्यादि गाथाए पाँच है । उसके पीछे ज्ञान और ज्ञेय पदार्थो का एक-दूसरे मे गमन के निषेध की मुख्यता से "णाणी णाणसहावो" इत्यादि गाथाएँ पाँच है । आगे निश्चय और व्यवहार से केवली के प्रतिपादन आदि मुख्यता करके "जोहि सुदेण" इत्यादि चार सूत्र है । आगे वर्तमान काल के ज्ञान मे तीन काल की पर्यायो के जानपने को कहने आदि की मुख्यता से "तक्कालिगेव सव्वे" इत्यादि पाँच सूत्र है । आगे केवलज्ञान बन्ध का कारण नही है, न रागादि विकल्परहित 'छद्मस्थ का ज्ञान बन्ध का कारण है किन्तु रागादिक बन्ध के कारण है इत्यादि निरूपण की मुख्यता से "परिणमदि णेय" इत्यदि पाँच सूत्र है । आगे केवलज्ञान सर्वज्ञान है इसी को सर्वज्ञपना करके कहते है इत्यदि व्याख्यान की मुख्यता से "ज तक्कालियमिदरं" इत्यादि पाँच गाथाएँ है । आगे ज्ञान प्रपच को सकोच करने की मुख्यता से पहली गाथा है तथा नमस्कार को कहते हुए दूसरी तरह "णवि परिणमदि" इत्यादि दो गाथाएँ है । इस तरह ज्ञान प्रपच नाम के तीसरे अन्तर अधिकार मे तेतीस गाथाओ मे आठ स्थलो से समुदाय पातनिका पूर्ण हुई । आगे कहते है कि केवलज्ञानी अतीन्द्रिय ज्ञान मे परिणमन करते है इस कारण से उनको सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष होते है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(खलु) वास्तव मे (णाणं) अनन्त पदार्थों को जानने में समर्थ केवलज्ञान को (परिणमदो) परिणमन करते हुए केवली अरहंत भगवान् के**

(सव्वदव्वपज्जाया) सर्व द्रव्य और उनकी तीन कालवर्ती सर्व पर्यायें (पच्चक्खा) प्रत्यक्ष हो जाती हैं। (सः) वह केवली भगवान् (ते) उन सर्व द्रव्य पर्यायों को (ओग्गहपुव्वाहिं किरियाहिं) अवग्रहपूर्वक क्रियाओं के द्वारा (णेव विजाणदि) नहीं जानते हैं किन्तु युगपत् जानते हैं, ऐसा अर्थ है।

इसका विस्तार यह है कि आदि और अन्त रहित, बिना किसी उपादानकारण के सत्ता रखने वाले तथा चैतन्य और आनन्दमयी स्वभाव के धारी अपने शुद्ध आत्मा को उपादेय, अर्थात् ग्रहण योग्य समझकर केवलज्ञान की उत्पत्ति का बीजभूत जिसको आगम की भाषा से शुक्लध्यान कहते हैं, होने से रागादि विकल्पो के जाल से रहित स्वसंवेदन ज्ञान के द्वारा जब यह आत्मा परिणमन करता है तब स्वसंवेदन ज्ञान के फलस्वरूप केवलज्ञानमयी ज्ञानाकार में परिणमन करने वाले केवली भगवान् के उसी ही क्षण में, जब केवलज्ञान पैदा होता है, तब क्रम-क्रम से जानने वाले मतिज्ञानादि ज्ञान के अभाव से, बिना क्रम के एक साथ सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल सहित सर्व द्रव्य, गुण और पर्याय प्रत्यक्ष प्रतिभासमान हो जाते हैं, ऐसा अभिप्राय है।

अथास्य भगवतोऽतीन्द्रियज्ञानपरिणतत्वादेव न किंचित्परोक्षं भवतीत्यभिप्रैति—

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स।
अक्खातीदस्स सदा[1] सयमेव हि णाणजादस्स ॥२२॥

नास्ति परोक्षं किंचिदपि समन्ततः सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य।
अक्षातीतस्य सर्वदा स्वयमेव हि ज्ञानजातस्य ॥२२॥

अस्य खलु भगवतः समस्तावरणक्षयक्षणे एव सांसारिकपरिच्छित्तिनिष्पत्तिबलाधान-हेतुभूतानि प्रतिनियतविषयग्राहीण्यक्षाणि तैरतीतस्य, स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दपरिच्छेदरूपैः समरसतया समन्ततः सर्वैरेवेन्द्रियगुणैः समृद्धस्य, स्वयमेव सामस्त्येन स्वपरप्रकाशनक्षममन-श्वर[2] लोकोत्तरज्ञानजातस्य, अक्रमसमाक्रान्तसमस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया न किंचनापि परोक्षमेव स्यात् ॥२२॥

भूमिका—अब, इस भगवान् के अतीन्द्रियज्ञान (रूप) परिणत होने से ही कुछ भी परोक्ष नहीं है, इस अभिप्राय को प्रगट करते है। ('सब प्रत्यक्ष हैं' ऐसा अन्वय रूप से पूर्व सूत्र में कहा था। अब कुछ भी परोक्ष नहीं है, इस प्रकार उस ही अर्थ को व्यतिरेक से दृढ़ करते हैं)—

---

१ सया (ज० वृ०)। २ स्वपरप्रकाशनस्य, स्वैर लोको, इति पाठान्तरम्।

अन्वयार्थ—(१) [सर्वदा अक्षातीतस्य] सदा (सर्वकाल) इन्द्रिय व्यापार से रहित (२) [समन्ततः सर्वाक्षगुणसमृद्धस्य] सर्व आत्म-प्रदेशो से या समस्तपने से स्पर्श, रस, गध, वर्ण, शब्द की जानकारी रूप सर्व इन्द्रिय गुणो से समृद्ध, (३) [स्वयमेव ज्ञानजातस्य] स्वयमेव ज्ञान रूप परिणत (तस्य भगवतः) उस केवली भगवान् के [हि] वास्तव मे [किंचित् अपि] कुछ भी हो [परोक्ष नास्ति] परोक्ष नही है।

टीका—(१) [**सांसारिक-परिच्छित्ति-निष्पत्ति-बलाधान-हेतुभूतानि**] **जो सांसारिक ज्ञान की उत्पत्ति में बल देने रूप हेतुभूत (निमित्तकारण) हैं और [प्रतिनियत-विषय-ग्राहीणि] अपने-अपने निश्चित विषय को ग्रहण करने वाली [अक्षाणि] इन्द्रियाँ हैं [तैः अतीतस्य] उनसे अतीत, (२) [स्पर्श-रस-गंध-वर्ण-शब्द-परिच्छेद-रूपैः सर्वैः इन्द्रियगुणैः] स्पर्श, रस, गध, वर्ण, शब्द के ज्ञान रूप सर्व इन्द्रिय-गुणों के द्वारा [समन्ततः] सब आत्म प्रदेशों से [समरसतया समृद्धस्य] सम-रस-रूप से समृद्ध (अर्थात् स्पर्श, रस, गंध, वर्ण तथा शब्द को सर्व आत्म-प्रदेशों से समान रूप से जानने वाले), (३) [स्वयमेव सामस्त्येन स्वपर-प्रकाशन-क्षमं] स्वयमेव सम्पूर्ण रूप से स्व-पर-प्रकाशन करने में समर्थ और (अविनश्वरं) अविनाशी (ऐसे) [लोकोत्तरज्ञानजातस्य] लोकोत्तर ज्ञान रूप उत्पन्न हुए, (ऐसे तीन विशेषण युक्त) [अस्य भगवतः] इस केवली भगवान् के [खलु] वास्तव में (समस्तावर-णक्षयक्षणे एव) समस्त आवरण के क्षय के समय मे ही [अक्रम-समाक्रान्त-समस्त-द्रव्य-क्षेत्र काल-भावतया] समस्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव का अक्रमिक (युगपत्) ग्रहण होने से (सब को युगपत् जानने से) [किंचित् अपि] कुछ भी [परोक्ष एव न स्यात्] परोक्ष नहीं है (साक्षात् जानने से बचा हुआ नहीं है ॥२२॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ सर्वं प्रत्यक्ष भवतीत्यन्वयरूपेण पूर्वसूत्रे भणितमिदानी तु परोक्षं किमपि नास्तीति तमेवार्थं व्यतिरेकेण दृढयति,—**णत्थि परोक्खं किंचिवि** अस्य भगवत. परोक्ष किमपि नास्ति। किंविशिष्टस्य ? **समंत सव्वक्खगुणसमिद्धस्स** समन्तत सर्वात्मप्रदेशै सामस्त्येन वा स्पर्शरसगन्धवर्ण-शब्दपरिच्छित्तिरूपसर्वेन्द्रियगुणसमृद्धस्य। तर्हि किमक्षसहितस्य ? नैवम्। **अक्खातीदस्स** अक्षाती-तस्येन्द्रियव्यापाररहितस्य, अथवा द्वितीयव्याख्यानम्—अक्ष्णोति ज्ञानेन व्याप्नोतीत्यक्ष आत्मा तद्गुणसमृद्धस्य। **सया** सर्वदा सर्वकालम्। पुनरपि किंरूपस्य ? **सयमेव हि णाणजादस्स** स्वयमेव हि स्फुट केवलज्ञानरूपेण जातस्य परिणतस्येति। तद्यथा-अतीन्द्रियस्वभावपरमात्मनो विपरीतानि क्रमप्रवृत्तिहेतुभूतानीन्द्रियाण्यतिक्रान्तस्य जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्प्रत्यक्षप्रतीतिसमर्थम-विनश्वरमखण्डैकभासमय केवलज्ञान परिणतस्यास्य भगवत· परोक्ष किमपि नास्तीति भावार्थ ॥२२॥

एव केवलिना समस्त प्रत्यक्ष भवतीति कथनरूपेण प्रथमस्थले गाथाद्वय गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते है—केवलज्ञानी को सर्व प्रत्यक्ष होता है, यह बात अन्वय रूप से पूर्व सूत्र मे कही गई। अब केवलज्ञानी को कोई बात भी परोक्ष नही है, इसी बात को व्यतिरेक से दृढ करते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(समत) समस्तपने अर्थात् सर्व आत्मा के प्रदेशों के द्वारा (सव्वक्खगुणसमिद्धस्स) सर्व इन्द्रियों के गुणों से परिपूर्ण अर्थात् स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण शब्द के जानने रूप जो इन्द्रियों के विषय उन सर्व के जानने की शक्ति सर्व आत्मा के प्रदेशों में जिसके प्राप्त हो गई है ऐसे तथा (अक्खातीदस्स) इन्द्रियों के व्यापार से रहित अथवा ज्ञान करके व्याप्त है आत्मा जिसका ऐसे निर्मल ज्ञान से परिपूर्ण और (सयमेव हि) स्वयमेव ही (णाणजादस्स) केवलज्ञान में परिणमन करने वाले अरहंत भगवान् के (किंचिवि) कुछ भी (परोक्खं) परोक्ष (णत्थि) नहीं है।

भाव यह है कि परमात्मा अतीन्द्रिय स्वभाव है। परमात्मा के स्वभाव से विपरीत क्रम-क्रम से ज्ञान मे प्रवृत्ति करने वाली इन्द्रियां हैं। उनके द्वारा जानने से जो उल्लंघन कर गये हैं अर्थात् जिस परमात्मा के पराधीन ज्ञान नहीं है ऐसे परमात्मा तीन कालवर्ती समस्त पदार्थों को एक साथ प्रत्यक्ष जानने को समर्थ अविनाशी तथा अखडपने से प्रकाश करने वाले केवलज्ञान मे परिणमन करते हैं, अतएव उनके लिए कोई भी पदार्थ परोक्ष नहीं। इस तरह केवलज्ञानियो को सर्व प्रत्यक्ष होता है ऐसा कहते हुए प्रथम स्थल में दो गाथायें पूर्ण हुई ॥२२॥

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वं ज्ञानस्य सर्वगतत्वं चोद्योतयति—

आदा णाणपमाणं णाणं णेयप्पमाणमुद्दिट्ठं।
णेयं लोयालोयं तम्हा णाणं तु [1]सव्वगदं ॥२३॥

आत्मा ज्ञानप्रमाण ज्ञान ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्टम्।
ज्ञेय लोकालोक तस्माज्ज्ञान तु सर्वगतम् ॥२३॥

(यतः) आत्मा हि 'समगुणपर्यायं द्रव्यम्' इति वचनात् ज्ञानेन सह हीनाधिकत्वरहितत्वेन परिणतत्वात्तत्परिमाण, ज्ञानं तु ज्ञेयनिष्ठत्वाद्दाह्यनिष्ठदहनवत्तत्परिमाणं, ज्ञेयं तु लोकालोकविभागविभक्तानन्तपर्यायमालिकालीढस्वरूपसूचिता विच्छेदोत्पादध्रौव्या षड्द्रव्यी सर्वमिति यावत्। ततो निःशेषावरक्षयक्षण एव, लोकालोकविभागविभक्तसमस्तवस्त्वाकारपारमुपगम्य तथैवाप्रच्युतत्वेन व्यवस्थितत्वात्, ज्ञानं सर्वगतम् ॥२३॥

---

१ सव्वगय (ज० वृ०)।

भूमिका—अब, आत्मा के ज्ञान प्रमाणपने को (आत्मा ज्ञान के बराबर है, हीन या अधिक नहीं है, इस बात को) और ज्ञान के सर्वगतपने को (ज्ञान सब पदार्थों में रहता है, इस बात को उद्योत करते हैं (प्रगट करते है)—

अन्वयार्थ—[आत्मा ज्ञानप्रमाण] आत्मा ज्ञान के बराबर (और) [ज्ञान ज्ञेयप्रमाण] ज्ञान ज्ञेय के बराबर [उद्दिष्ट] कहा गया है। [ज्ञेय] ज्ञेय [लोकालोक] लोक-आलोक है। [तस्मात्] इसलिये [ज्ञान] ज्ञान [तु] तो [सर्वगत] (सर्वव्यापक) है।

टीका—**'समगुणपर्यायद्रव्य' गुण पर्यायों जितना द्रव्य है इस वचन से (इस आगम वचन के अनुसार) आत्मा वास्तव मे ज्ञान के साथ हीनाधिकता-रहितपने से परिणत होने से उसके (ज्ञान के) बराबर है, और ज्ञान तो ज्ञेयों में स्थित होने से, दाह्य में (जलाने योग्य पदार्थों में) स्थित अग्नि की भांति, ज्ञेयों के बराबर है। ज्ञेय तो लोक और अलोक के विभाग में विभक्त, अनन्त पर्यायमाला से आलिंगित स्वरूप से सूचित (प्रगट-ज्ञात) व्यय उत्पाद-ध्रौव्य स्वरूप ऐसा षट् द्रव्यसमूह रूप सब कुछ है। चूंकि ऐसा है इसलिये सम्पूर्ण आवरण के नाश के समय में ही लोक और अलोक के विभाग मे विभक्त समस्त वस्तुओं के आकारों के पार को प्राप्त करके और फिर उसी प्रकार अच्युतरूप (अविनाशी) रहने से ज्ञान सर्वगत है ॥२३॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मा ज्ञानप्रमाणो भवतीति ज्ञान च व्यवहारेण सर्वगतमित्युपदिशति—**आदा णाणपमाण** ज्ञानेन सह हीनाधिकत्वाभावादात्मा ज्ञानप्रमाणो भवति। तथाहि-"समगुणपर्याय द्रव्य भवतीति" वचनाद्वर्तमानमनुष्यभवे वर्तमानमनुष्यपर्यायप्रमाण', तदेव मनुष्यपर्यायप्रदेशवर्तिज्ञानगुणप्रमाणश्च प्रत्यक्षेण दृश्यते यथायमात्मा, तथा निश्चयत सर्वदैवाव्याबाधाक्षयसुखाद्यनन्तगुणाधारभूता योसौ केवलज्ञानगुणस्तत्प्रमाणोऽयमात्मा। **णाण णेयप्पमाणमुद्दिट्ठ** दाह्यनिष्ठदहनवत् ज्ञान ज्ञेयप्रमाणमुद्दिष्ट कथितम्। **णेयं लोयालोय** ज्ञेय लोकालोक भवति। शुद्धबुद्धैकस्वभावसर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मद्रव्यादिषड्द्रव्यात्मको लोक, लोकाद्बहिर्भागे शुद्धाकाशमलोक, तच्च लोकालोकद्वय स्वकीयस्वकीयानन्तपर्यायपरिणतिरूपेणानित्यमपि द्रव्यार्थिकनयेन नित्यम्। **तम्हा णाण तु सव्वगय** यस्मान्निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगभावनाबलेनोत्पन्न यत्केवलज्ञान तट्टङ्कोत्कीर्णाकारन्यायेन निरन्तर पूर्वोक्तज्ञेय जानाति, तस्माद्व्यवहारेण तु ज्ञान सर्वगत भण्यते। तत स्थितमेतदात्मा ज्ञानप्रमाण ज्ञान सर्वगतमिति ॥२३॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि आत्मा ज्ञान प्रमाण है तथा ज्ञान व्यवहार से सर्वगत है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(आदा णाणपमाण) आत्मा ज्ञान प्रमाण है अर्थात् ज्ञान के साथ आत्मा हीन या अधिक नहीं है इसलिये ज्ञान जितना है उतनी आत्मा है।**

कहा है "समगुणपर्यायं द्रव्यं भवति" अर्थात् द्रव्य अपने गुण और पर्यायों के समान होता है। इस वचन से वर्तमान मनुष्य भव मे यह आत्मा वर्तमान मनुष्य पर्याय के समान प्रमाण वाला है तैसे ही मनुष्य पर्याय के प्रदेशों मे रहने वाला ज्ञान गुण है। जैसे यह आत्मा इस मनुष्य पर्याय मे ज्ञान के गुण के बराबर प्रत्यक्ष मे दिखलाई पड़ता है तैसे निश्चय से सदा ही अव्याबाध और अविनाशी सुख आदि अनन्त गुणों का आधारभूत जो यह केवलज्ञान गुण है तिस प्रमाण यह आत्मा है। (णाणं णेयप्पमाणं) ज्ञान ज्ञेय प्रमाण (उद्दिट्ठं) कहा गया है। जैसे ईंधन में स्थित आग ईंधन के बराबर है वैसे ही ज्ञान ज्ञेय के बराबर है। (णेयं लोयालोयं) ज्ञेय लोक और अलोक हैं। शुद्ध बुद्ध एक स्वभावमयी सर्व तरह से उपादेयभूत ग्रहण करने योग्य परमात्म-द्रव्य को आदि लेकर छः द्रव्यमयी यह लोक है। लोक के बाहरी भाग मे जो शुद्ध आकाश है सो अलोक है। ये दोनों लोकालोक अपने-अपने अनन्त पर्यायों मे परिणमन करते हुए अनित्य हैं तो भी द्रव्यार्थिक नय से नित्य हैं। ज्ञानलोक अलोक को जानता है। (तम्हा) इस कारण से (णाणं तु सव्वगय) ज्ञान सर्वगत है। अर्थात् क्योंकि निश्चय रत्नत्रयमयी शुद्धोपयोग की भावना के बल से पैदा होने वाला केवलज्ञान है वह पत्थर मे टांकी से उकेरे हुए न्याय से पूर्व में कहे गये सर्व ज्ञेय को जानता है इसलिए व्यवहार नय से ज्ञान सर्वगत कहा गया है। इसलिए यह सिद्ध हुआ कि आत्मा ज्ञान प्रमाण है और ज्ञान सर्वगत है ॥२३॥

अथात्मनो ज्ञानप्रमाणत्वानभ्युपगमे द्वौ पक्षावुपन्यस्य दूषयति—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह तस्स सो आदा।
हीणो वा अहिओ[1] वा णाणादो हवदि धुवमेव ॥२४॥
हीणो जदि सो आदा [2]तण्णाणमचेदणं ण जाणादि।
अहिओ[3] वा णाणादो णाणेण विणा कहं णादि ॥२५॥ जुगलं

ज्ञानप्रमाणमात्मा न भवति यस्येह तस्य स आत्मा।
हीनो वा अधिको वा ज्ञानाद्भवति ध्रुवमेव ॥२४॥
हीनो यदि स आत्मा तत् ज्ञानमचेतन न जानाति।
अधिको वा ज्ञानात् ज्ञानेन विना कथ जानाति ॥२५॥ युगलम्

यदि खल्वयमात्मा हीनो ज्ञानादित्यभ्युपगम्यते, तदात्मनोऽतिरिच्यमानंज्ञान स्वाश्रय-भूतचेतनद्रव्यसमवायाभावादचेतनं भवद्रूपादिगुणकल्पतामापन्न न जानाति। यदि पुनर्ज्ञा-

---

१ अहियो (ज० वृ०)। २ त णाणमचेदण (ज० वृ०)। ३ अहियो (ज० वृ०)।

नादधिक इति पक्षः कक्षीक्रियते तदावश्यं ज्ञानादतिरिक्तत्वात् पृथग्भूतो भवन् घटपटादि-स्थानीयतामापन्नो ज्ञानमन्तरेण न जानाति। ततो ज्ञानप्रमाण एवायमात्माऽभ्युपगन्तव्यः।

भूमिका—**अब, आत्मा के ज्ञान-प्रमाण-पना (आत्मा ज्ञान के बराबर है, यह बात) न मानने मे दो पक्षों को उपस्थित करके, (उन दोनों को) दूषित ठहराते हैं। (आत्मा को ज्ञान-प्रमाण जो नहीं मानते हैं वहां हीनाधिकपने में दोष देते हैं)—**

अन्वयार्थ—[इह] इस जगत् मे [यस्य] जिस वादी के मत मे [आत्मा] आत्मा [ज्ञानप्रमाण] ज्ञान के बराबर [न भवति] नही है [तस्य] उसके मत मे [सः आत्मा] वह आत्मा [ज्ञानात् हीन] ज्ञान से हीन [वा] अथवा [ज्ञानात् अधिक.] ज्ञान से अधिक [ध्रुव एव] अवश्य ही [भवति] है। [यदि] जो [स आत्मा] वह आत्मा [ज्ञानात्हीन] ज्ञान से हीन है तो [तत् ज्ञान] वह ज्ञान [अचेतन] अचेतन (अपने आश्रयभूत चेतनमयी आत्म-द्रव्य के आधार बिना अचेतन होने से) [न जानाति] नही जानता है अथवा जो वह आत्मा [ज्ञानात् अधिक.] ज्ञान से अधिक है तो [ज्ञानेन विना] ज्ञान के बिना [कथ जानाति] (वह आत्मा अचेतन होने से) कैसे जानता है ? (अर्थात् नही जान सकता)।

टीका—**जो वास्तव मे 'आत्मा ज्ञान से हीन है' यह स्वीकार किया जाए तो आत्मा से आगे बढ़ा हुआ ज्ञान अपने आश्रयभूत चेतन द्रव्य का समवाय (सम्बन्ध) न रहने से अचेतन होता हुआ, रूपादि जैसा होता हुआ, नहीं जानता है और जो (यह आत्मा) ज्ञान से अधिक है, ऐसा पक्ष स्वीकार किया जाय तो अवश्य ही (आत्मा) ज्ञान से आगे बढ़ जाने से (ज्ञान से) पृथक्भूत (भिन्न) होता हुआ, घट पट आदि जैसा प्राप्त हुआ, ज्ञान के बिना नहीं जानता है। इस कारण से ज्ञान के बराबर ही यह आत्मा मानने योग्य है ॥२४–२५॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मान ज्ञानप्रमाण ये न मन्यन्ते तत्र हीनाधिकत्वे दूषण ददाति,—

णाणप्पमाणमादा ण हवदि जस्सेह ज्ञानप्रमाणमात्मा न भवति यस्य वादिनो मतेऽत्र जगति **तस्स सो आदा** तस्य मते स आत्मा **हीणो वा अहियो वा णाणादो हवदि धुवमेव** हीनो वा अधिको वा ज्ञानात्सकाशाद् भवति निश्चितमेवेति ॥२४॥ **हीणो जदि सो आदा त णाणमचेदणं ण जाणादि** हीनो यदि स आत्मा तदाग्नेरभावे सति उष्णगुणो यथा शीतलो भवति तथा स्वाश्रयभूतचेतनात्मकद्रव्य-समवायाभावात्तस्यात्मनो ज्ञानमचेतन भवत्सत् किमपि न जानाति। **अहियो वा णाणादो णाणेण विणा कह णादि** अधिको वा ज्ञानात्सकाशात्तर्हि यथोष्णगुणाभावेऽग्नि· शीतलो भवन्सन् दहनक्रिया प्रत्यसमर्थो भवति तथा ज्ञानगुणाभावे सत्यात्माप्यचेतनो भवन्सन् कथ जानाति ? न कथमपि। अयमत्र

भावार्थ —ये केचनात्मानमगुष्ठपर्वमात्र, श्यामाकतण्डुलमात्र, वटककणिकादिमात्र वा मन्यन्ते ते निषिद्धा. । येपि समुद्घातसप्तक विहाय देहादधिक मन्यन्ते तेपि निराकृता इति ॥२४-२५॥

उत्थानिका—अब जो आत्मा को ज्ञान के बराबर नही मानते है, ज्ञान से कमती-बढ़ती मानते है उनको दूषण देते हुए कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(इह) इस जगत में (जस्स) जिस वादी के मत में (आदा) आत्मा (णाणपमाणं) ज्ञान प्रमाण (ण हवदि) नहीं होता है (तस्स) उसके मत मे (सो आदा) वह आत्मा (णाणदो) ज्ञान गुण से (हीणो वा) या तो हीन अर्थात् छोटा (अहियो वा) या अधिक अर्थात् बड़ा (हवदि) होता है (धुवम् एव) यह निश्चय ही है।

(जदि) यदि (सो आदा) वह आत्मा (हीणो) हीन या छोटा होता है तब (तं णाणं) सो ज्ञान (अचेदणं) चेतन रहित होता हुआ (ण जाणादि) नहीं जानता है अर्थात् यदि वह आत्मा ज्ञान से कम या छोटा माना जाय तब जैसे अग्नि के बिना उष्ण गुण ठडा हो जायेगा और अपने जलाने के काम को न कर सकेगा तैसे आत्मा के बिना जितना ज्ञान गुण बचेगा वह ज्ञान गुण अपने आश्रयभूत चैतन्यमयी द्रव्य के बिना जिस आत्म-द्रव्य के साथ ज्ञान गुण का समवाय सम्बन्ध है, अचेतन या जड़रूप होकर कुछ भी नहीं जान सकेगा।

(वा णाणदो) अथवा ज्ञान से (अहियो) अधिक या बड़ा आत्मा को माने तब (णाणेण विणा) ज्ञान के बिना (कहं) कैसे (णादि) जान सकता है। अर्थात् यदि यह माने कि ज्ञान गुण से आत्मा बड़ा है तब जितना आत्मा ज्ञान से बड़ा है, उतना आत्मा जैसे उष्ण गुण के बिना अग्नि ठंडी होकर अपने जलाने के काम को नहीं कर सकती है तैसे ज्ञान गुण के अभाव मे अचेतन होता हुआ किस तरह कुछ जान सकेगा अर्थात् कुछ भी न जान सकेगा।

यहाँ यह भाव है कि जो कोई आत्मा को अंगूठे की गांठ के बराबर या श्यामाक तंदुल के बराबर या बड़ के बीज के बराबर आदि रूप से मानते हैं उनका निषेध किया गया तथा जो कोई सात समुद्घात के बिना आत्मा को शरीर प्रमाण से अधिक मानते हैं उनका भी निराकरण किया गया है ॥२४-२५॥

अथात्मनोऽपि ज्ञानवत् सर्वगतत्वं न्यायायातमभिनन्दति—

सव्वगदो जिणवसहो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाणमयादो य जिणो विसयादो तस्स ते भणिदा[1] ॥२६॥

---

(१) भणिया (ज० वृ०)

सर्वगतो जिनवृषभ सर्वेऽपि च तद्गता जगत्यर्था ।
ज्ञानमयत्वाच्च जिने विषयत्वात् तस्य ते भणिता: ॥२६॥

ज्ञानं हि त्रिसमयावच्छिन्नसर्वद्रव्यपर्यायरूपव्यवस्थितविश्वज्ञेयाकारानाक्रामत् सर्वगतमुक्तं तथाभूतज्ञानमयीभूय व्यवस्थितत्वाद्भगवानपि सर्वगत एव । एवं सर्वगतज्ञानविषयत्वात्सर्वेऽर्था अपि सर्वगतज्ञानाऽव्यतिरिक्तस्य भगवतस्तस्य ते विषया इति भणितत्वात्तद्गता एव भवन्ति । तत्र निश्चयनयेनानाकुलत्वलक्षणसौख्यसंवेदनत्वाधिष्ठानत्वावच्छिन्नात्मप्रमाणज्ञानस्वतत्त्वापरित्यागेन विश्वज्ञेयाकाराननुपगम्यावबुध्यमानोऽपि व्यवहारनयेन भगवान् सर्वगत इति व्यपदिश्यते । तथा नैमित्तिकभूतज्ञेयाकारानात्मस्थानवलोक्य सर्वेऽर्थास्तद्गता इत्युपचर्यन्ते, न च तेषां परमार्थतोऽन्योन्यगमनमस्ति, सर्वद्रव्याणा स्वरूपनिष्ठत्वात् । अयं क्रमो ज्ञानेऽपि निश्चेय: ॥२६॥

भूमिका—**अब आत्मा के भी, ज्ञान की तरह, सर्वगतपना न्याय से प्राप्त हुआ, इस बात को दिखलाते हैं—**

अन्वयार्थ—[जिनवृषभ] जिनेश्वर (सर्वज्ञ) [सर्वगत] सर्वगत है (ज्ञान की अपेक्षा सब पदार्थों मे व्यापक है)। [जिन ज्ञानमयत्वात्] क्योकि जिन ज्ञानमय है [च] और [जगति] जगत मे [सर्वे अपि अर्था] सब ही पदार्थ [तद्गता] (दर्पण मे बिम्ब की तरह) उस जिनवर–गत है (जिनमे प्राप्त है) (क्योकि) [ते] वे पदार्थ [विषयत्वात्] ज्ञान के विषय (ज्ञेय) होने से [तस्य] जिनराज मे उनके विषय (ज्ञेय) [भणिता] कहे गये है।

टीका—**ज्ञान वास्तव मे, तीन काल मे व्याप्त सब द्रव्य पर्याय रूप से व्यवस्थित विश्व के ज्ञेयाकारों को ग्रहण करता हुआ (जानता हुआ) सर्वगत कहा गया है और ऐसे (सर्वगत ज्ञान से) ज्ञानमय होकर रहने से भगवान् भी सर्वगत ही हैं। इस प्रकार सर्वगत ज्ञान के विषय (ज्ञेय) होने से सब पदार्थ भी सर्वगत ज्ञान से अभिन्न भगवान् के वे विषय हैं, ऐसा (शास्त्र मे) कथन होने से वे सब पदार्थ भगवान्-गत ही हैं (अर्थात् भगवान् मे प्राप्त ही हैं)। (अब टीकाकर इसके अर्थ को विशेष रूप से समझाते हैं)—यहाँ (ऐसा समझना कि) निश्चयनय से अनाकुलता लक्षण सुख का जो सवेदन उस सुख-सवेदन की अधिष्ठानता जितनी हो, आत्मा है, और उस आत्मा के बराबर ही ज्ञान स्वतत्त्व है। उस निजस्वरूप आत्म-प्रमाण ज्ञान को छोड़े बिना, विश्व के ज्ञेयाकारों के निकट गये बिना, भगवान् (सर्व पदार्थों को) जानते हुए भी, व्यवहारनय से "भगवान् सर्वगत" है ऐसा तथा नैमित्तिकभूत ज्ञेयाकारों को आत्मा मे स्थित (आत्मा मे रहते हुए) देखकर सर्व पदार्थ**

उस-गत (आत्मगत) हैं, ऐसा उपचार किया जाता है किन्तु उनका (आत्मा और ज्ञेय पदार्थों का) परमार्थ से एक-दूसरे मे गमन नहीं है, क्योंकि सर्व द्रव्यों के स्वरूप-निष्ठपना है (क्योंकि सर्व पदार्थ अपने-अपने स्वरूप मे निश्चल अवस्थित हैं)। यही क्रम ज्ञान में भी निश्चित करने योग्य है (अर्थात् जिस प्रकार आत्मा और ज्ञेयों के सम्बन्ध में निश्चय व्यवहार से कहा गया है, उसी प्रकार ज्ञान और ज्ञेयों के सम्बन्ध में भी निश्चय-व्यवहार से वैसा ही निश्चय करना चाहिये)।

तात्पर्यवृत्ति

अथ यथा ज्ञान पूर्व सर्वगतमुक्त तथैव सर्वगतज्ञानापेक्षया भगवानपि सर्वगतो भवतीत्यावेदयति,—

सव्वगदो सर्वगतो भवति। स क कर्ता? **जिणवसहो** जिनवृषभ सर्वज्ञ। कस्मात्? सर्वगतो भवति। **जिणो** जिन **णाणमयादो य** ज्ञानमयत्वाद्धेतो: **सव्वेवि य तग्गया जगदि अट्ठा** सर्वेपि च ये जगत्यर्थास्ते दर्पणे बिम्बवद् व्यवहारेण तत्र भगवति गता भवन्ति। कस्मात्? ते **भणिया** तेऽर्थास्तत्र गता भणिता **विसयादो** विषयत्वात्परिच्छेद्यत्वाद् ज्ञेयत्वात्। कस्य? **तस्स** तस्य भगवतः इति। तथाहि—यदनन्तज्ञानमनाकुलत्वलक्षणानन्तसुख च तदाधारभूतस्तावदात्मा इत्थभूतात्मप्रमाण ज्ञानमात्मन स्वस्वरूप भवति। इत्थभूत स्वस्वरूप देहगतमपरित्यजन्नेव लोकालोक परिच्छिनत्ति। तत कारणाद्व्यवहारेण सर्वगतो भण्यते भगवान्। येन च कारणेन नीलपीतादिबहिःपदार्था आदर्शे बिम्बवत् परिच्छित्त्याकारेण ज्ञाने प्रतिफलन्ति तत कारणादुपचारेणार्थकार्यभूता अर्थाकारा अप्यर्था भण्यन्ते। ते च ज्ञाने तिष्ठन्तीत्युच्यमाने दोषो नास्तीत्यभिप्राय. ॥२६॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जैसे ज्ञान को पहले सर्वव्यापक कहा गया है तैसे ही सर्वव्यापक ज्ञान की अपेक्षा भगवान् अरहत आत्मा भी सर्वगत है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(णाणमयादो य) तथा ज्ञानमयी होने के कारण से (जिनवसहो) जिन जो गणधरादिक उनमे वृषभ अर्थात् प्रधान (जिणो) जिन अर्थात् कर्मों को जीतने वाला अरहत या सिद्ध भगवान् (सव्वगदो) सर्वगत या सर्वव्यापक हैं, (तस्स) उस भगवान् के ज्ञान के (विसयादो) विषयपने को प्राप्त होने के कारण से अर्थात् ज्ञेयपने को प्राप्त होने के कारण से अर्थात् ज्ञेयपने को रखने के कारण से (सव्वेवि य जगति ते अट्ठा) सर्व ही जगत मे जो पदार्थ हैं सो (तग्गया) उस भगवान् में प्राप्त या व्याप्त (भणिया) कहे गए हैं।**

जैसे दर्पण मे पदार्थ का बिम्ब पड़ता है तैसे व्यवहारनय से पदार्थ भगवान् के ज्ञान में प्राप्त हैं। भाव यह है कि जो अनन्तज्ञान है तथा अनाकुलपने के लक्षण को रखने वाला अनन्त सुख है उनका आधारभूत जो है सो ही आत्मा है, इस प्रकार के आत्मा का

जो प्रमाण है वही आत्मा ज्ञान का प्रमाण है और वह ज्ञान आत्मा का अपना स्वरूप है। ऐसा अपना निज स्वभाव देह के भीतर प्राप्त आत्मा को नहीं जोड़ता हुआ भी लोक अलोक को जानता है। इस कारण से व्यवहारनय से भगवान् को सर्वगत कहा जाता है। और क्योंकि जैसे नीले, पीले आदि बाहरी पदार्थ दर्पण मे झलकते हैं ऐसे ही बाह्य पदार्थ ज्ञानाकार से ज्ञान में प्रतिबिम्बित होते हैं इसलिये व्यवहार से ज्ञान-आकार भी पदार्थ कहे जाते हैं। इसलिये वे पदार्थ ज्ञान मे तिष्ठते हैं ऐसा कहने मे दोष नहीं है, यह अभिप्राय है ॥२६॥

अथात्मज्ञानयोरेकत्वान्यत्वं चिन्तयति—

णाणं अप्पत्ति मदं वट्टदि णाणं विणा ण अप्पाणं।
तम्हा णाणं अप्पा अप्पा णाणं वा[1] अण्णं वा ॥२७॥

ज्ञानमात्मेति मत वर्तते ज्ञान विना नात्मानम्।
तस्मात्-ज्ञानमात्मा आत्मा ज्ञान वा अन्यद्वा ॥२७।

यतः [2]शेषसमस्तचेतनवस्तुसमवायसंबन्धनिरुत्सुकतयाऽनाद्यनन्तस्वभावसिद्धसमवायसंबन्धमेकमात्मानमाभिमुख्येनावलम्ब्य प्रवृत्तत्वात् तं विना आत्मानं ज्ञानं न धारयति, ततो ज्ञानमात्मैव स्यात्। आत्मा त्वनन्तधर्माधिष्ठानत्वात् ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञानमन्यधर्मद्वारेणान्यदपि स्यात्। किं चानेकान्तोऽत्र बलवान्। एकान्तेन ज्ञानमात्मेति ज्ञानस्याभावोऽचेतनत्वमात्मनो विशेषगुणाभावादभावो वा स्यात्। सर्वथात्मा ज्ञानमिति निराश्रयत्वात् ज्ञानस्याभाव, आत्मनः शेषपर्यायाभावस्तदविनाभाविनस्तस्याप्यभावः स्यात् ॥२७॥

भूमिका—अब आत्मा और ज्ञान के एकत्व और अन्यत्व का विचार करते हैं (अर्थात् आत्मा और ज्ञान एक पदार्थ है या दो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं—इसका विचार करते हैं।)

अन्वयार्थ—[ज्ञान आत्मा] ज्ञान आत्मा है [इति मत] ऐसा जिनेन्द्र देव द्वारा माना गया है (क्योंकि) [आत्मान विना] आत्मा को छोडकर (अन्य किसी भी जड द्रव्य मे) [ज्ञान न वर्तते] ज्ञान नही पाया जाता है। [तस्मात्] उस कारण से [ज्ञान आत्मा] ज्ञान आत्मा है। [आत्मा] आत्मा [ज्ञान] (ज्ञान गुण की अपेक्षा से) ज्ञान है [वा] अथवा (सुख, वीर्य, आदि अन्य गुणो की अपेक्षा से) [अन्यत्] अन्य-अन्य (भी) है।

टीका—शेष समस्त अचेतन वस्तुओ के साथ समवाय सम्बन्ध न होने से तथा जिसके साथ अनादि अनन्त स्वभाव-सिद्ध समवाय सम्बन्ध है, ऐसे एक आत्मा को सर्वथा

---

१ च (ज० वृ०)। २ शेषसमस्तचेतनाचेतन इति पाठान्तरम्।

अवलम्बन करके प्रवर्तमान होने से चूंकि उस आत्मा के बिना ज्ञान अपना अस्तित्व नहीं रख सकता है, इसलिये ज्ञान आत्मा ही है और आत्मा तो अनन्त धर्मों का अधिष्ठान (आधार-स्थान) होने से ज्ञान धर्म के द्वार (अपेक्षा) से ज्ञान है और अन्य धर्म के द्वार (अपेक्षा) से अन्य भी है।

और फिर (उसके अतिरिक्त यह विशेष समझना कि) यहाँ अनेकान्त बलवान है। एकान्त से ज्ञान आत्मा है यदि यह माना जाय तो, (१) (ज्ञान गुण आत्म-द्रव्य हो जाने से) ज्ञान का अभाव हो जायेगा, और (२) (ज्ञान का अभाव हो जाने से) आत्मा के अचेतनपना आ जायेगा, अथवा (३) आत्मा के विशेष गुण का अभाव हो जाने से आत्मा का (ही) अभाव हो जायेगा।

सर्वथा (एकान्त से) आत्मा ज्ञान है यदि यह माना जाय तो, (आत्म-द्रव्य एक ज्ञान गुण रूप ही हो जायेगा। इसलिये, ज्ञान का कोई आधारभूत द्रव्य नहीं रहेगा। अतः (निराश्रयता के कारण से) ज्ञान का (ही) अभाव हो जायेगा, अथवा (आत्म द्रव्य के एक ज्ञान गुण रूप हो जाने से) आत्मा को शेष पर्यायो का (सुख वीर्य आदि गुणो का) अभाव हो जायेगा, और (उनके साथ ही) उन गुणो से अविनाभावी सम्बन्ध वाले उस आत्मा का भी अभाव हो जायेगा (क्योकि सुख, वीर्य इत्यादि गुण न हों तो आत्मा भी नहीं हो सकता।)

तात्पर्यवृत्ति

अथ ज्ञानमात्मा भवति, आत्मा तु ज्ञान सुखादिक वा भवतीति प्रतिपादयति,—

णाण अप्पत्ति ज्ञानमात्मा भवतीति **मद** सम्मत। कस्मात् ? **वट्टइ णाण विणा ण अप्पाण** ज्ञान कर्तृ विनात्मान जीवमन्यत्र घटपटादौ न वर्तते। **तम्हा णाण अप्पा** तस्मात् ज्ञायते कथचिज्ज्ञान-मात्मैव स्यात्। इति गाथापादत्रयेण ज्ञानस्य कथचिदात्मत्व स्थापितम्। **अप्पा णाण च अण्ण वा** आत्मा तु ज्ञानधर्मद्वारेण ज्ञान भवति, सुखवीर्यादिधर्मद्वारेणान्यद्वा, नियमो नास्तीति। तद्यथा— यदि पुनरेकान्तेन ज्ञानमात्मेति भण्यते तदा ज्ञानगुणमात्र एवात्मा प्राप्त सुखादिधर्माणामवकाशो नास्ति। तथा सुखवीर्यादिधर्मसमूहाभावादात्माऽभाव, आत्मन आधारभूतस्याभावादाधेयभूतस्य ज्ञानगुणस्याप्यभावः, इत्येकान्ते सति द्वयोरप्यभाव। तस्मात्कथचिज्ज्ञानमात्मा न सर्वथेति। अयमत्राभिप्राय—आत्मा व्यापको ज्ञान व्याप्य ततो ज्ञानमात्मा स्यात्। आत्मा तु ज्ञानमन्यद्वा भवतीति। तथाचोक्त—"व्यापक तदतन्निष्ठ व्याप्य तन्निष्ठमेव च" ॥२७॥

इत्यात्मज्ञानयोरेकत्व, ज्ञानस्य व्यवहारेण सर्वगतत्वमित्यादिकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथा-पञ्चक गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते है कि ज्ञान आत्मा का स्वभाव है तथापि आत्मा ज्ञान स्वभाव भी है तथा सुख आदि स्वभाव रूप भी है—केवल एक ज्ञानगुण का ही धारी नही है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(णाणं) ज्ञानगुण (अप्पत्ति) आत्मा रूप है ऐसा (मदं) माना गया है, कारण कि (णाण) ज्ञान गुण (अप्पाणं) आत्मद्रव्य के (विणा) विना अन्य किसी घट-पट आदि द्रव्य मे (ण वट्टदि) नहीं रहता है (तम्हा) इसलिये यह जाना जाता है कि किसी अपेक्षा से अर्थात् गुण-गुणी की अभेद दृष्टि से (णाणं) ज्ञानगुण (अप्पा) आत्मारूप ही है। किन्तु (अप्पा) आत्मा (णाणं व) ज्ञानगुण रूप भी है, जब ज्ञान स्वभाव की अपेक्षा विचारा जाता है। (अण्णं वा) तथा अन्य गुणरूप भी है।

अब आत्मा के अन्दर पाए जाने वाले सुख वीर्य आदि स्वभावों की अपेक्षा विचारा जाता है। यह नियम नहीं है कि मात्र ज्ञानरूप ही आत्मा है। यदि एकान्त से ज्ञान ही आत्मा है, ऐसा कहा जाय तब ज्ञानगुण मात्र ही आत्मा प्राप्त हो गया फिर सुख आदि स्वभावों का अवकाश नहीं रहा। तथा सुख, वीर्य आदि स्वभावों के समुदाय का अभाव होने से आत्मा का अभाव हो जायगा। जब आधारभूत आत्मा का अभाव हो गया तब उसका आधेयभूत ज्ञानगुण का भी अभाव हो गया इस तरह एकान्त मत मे ज्ञान और आत्मा दोनों का ही अभाव हो जायगा। इसलिये किसी अपेक्षा से ज्ञानस्वरूप आत्मा है सर्वथा ज्ञानस्वरूप ही नहीं है। यहाँ यह अभिप्राय है कि आत्मा व्याप्य है। इसलिये ज्ञान-स्वरूप आत्मा हो सकता है। तथा आत्मा ज्ञानस्वरूप भी है और अन्य स्वभाव रूप भी है। तैसा ही कहा है "व्यापकं तदतन्निष्ठं व्याप्यं तन्निष्ठमेव च' व्यापक में व्याप्य एक और दूसरे अनेक रह सकते हैं जबकि व्याप्य व्यापक में ही रहता है ॥२७॥

इस तरह आत्मा और ज्ञान की एकता तथा ज्ञान के व्यवहार से सर्वव्यापकपना है, इत्यादि कथन करते हुए दूसरे स्थल में पांच गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथ ज्ञानज्ञेययोः परस्परगमनं प्रतिहन्ति—

णाणी णाणसहावो अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स ।
रूवाणि व चक्खूणं णेवाण्णोण्णेसु वट्टंति ॥२८॥

ज्ञानी ज्ञानस्वभावोऽर्था ज्ञेयात्मका हि ज्ञानिनः।
रूपाणीव चक्षुषोः नैवान्योन्येषु वर्तन्ते ॥२८॥

ज्ञानी चार्थाश्च स्वलक्षणभूतपृथक्त्वतो न मिथो वृत्तिमासादयन्ति किन्तु तेषां ज्ञानज्ञेयस्वभावसम्बन्धसाधितमन्योन्यवृत्तिमात्रमस्ति चक्षुरूपवत्। यथा हि चक्षूंषि तद्विषय-भूतरूपिद्रव्याणि च परस्परप्रवेशमन्तरेणापि ज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणान्येवमात्माऽर्थाश्चान्यो-न्यवृत्तिमन्तरेणापि विश्वज्ञेयाकारग्रहणसमर्पणप्रवणाः ॥२८॥

भूमिका—अब, ज्ञान (ज्ञानी-आत्मा) और ज्ञेय के परस्पर गमन का निषेध करते हैं–(अर्थात् ज्ञानी और ज्ञेय एक-दूसरे में प्रवेश नहीं करते, यह कहते हैं):—

अन्वयार्थ—[ज्ञानी] आत्मा (सर्वज्ञ) [ज्ञानस्वभाव·] (केवल) ज्ञानस्वभाव वाला है। (अर्था. हि) और (जगत्त्रय कालत्रय–वर्ती) पदार्थ (ज्ञानिन) केवलज्ञानी के [ज्ञेयात्मका.] ज्ञेयस्वरूप ही हैं। [रूपाणि इव चक्षुषो] जैसे कि रूपी पदार्थ आखो के ज्ञेय होते है। (वे ज्ञानी और ज्ञेय) [अन्योन्येषु] एक-दूसरे मे [न एव वर्तन्ते] नही रहते, (नही जाते)।

टीका—**ज्ञानी (आत्मा) और ज्ञेय पदार्थ स्वलक्षणभूत पृथक्त्व (अपने-अपने लक्षण की अपेक्षा भिन्नत्व) के कारण से एक-दूसरे मे वृत्ति (प्रवेश) को ग्रहण नहीं करते, किन्तु उसके ज्ञान-ज्ञेय-स्वभाव-सम्बन्ध से होने वाली वृत्ति मात्र एक-दूसरे मे है, आंख और रूपी पदार्थ की तरह। जैसे आंखे और उनके विषयभूत रूपी पदार्थ परस्पर प्रवेश किये बिना भी ज्ञेयाकारों को ग्रहण करने और समर्पण करने के स्वभाव वाले है, (आंखे ज्ञेयाकारों को ग्रहण करने के स्वभाव वाली हैं और पदार्थ अपने ज्ञेयाकारों को समर्पण करने के स्वभाव वाले हैं)। उसी प्रकार आत्मा और पदार्थ एक दूसरे में वृत्ति बिना (गये बिना) भी समस्त ज्ञेयाकारो के ग्रहण करने और समर्पण करने के स्वभाव वाले हैं अर्थात आत्मा समस्त ज्ञेयाकारों के ग्रहण करने के स्वभाव वाला है और समस्त पदार्थ अपने ज्ञेयाकारों को समर्पण करने के स्वभाव वाले है ॥२८॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ ज्ञान ज्ञेयसमीपे न गच्छतीति निश्चिनोति—**णाणी णाणसहावो** ज्ञानी सर्वज्ञ: केवलज्ञानस्वभाव एव। **अट्ठा णेयप्पगा हि णाणिस्स** जगत्त्रयकालत्रयवर्तिपदार्था ज्ञेयात्मका एव भवन्ति न च ज्ञानात्मका.। कस्य ? ज्ञानिन.। **रूवाणि व चक्खूण णेवण्णोण्णेसु वट्टंति** ज्ञानी पदार्थाश्चान्योन्यं परस्परमेकत्वे न वर्तन्ते। कानीव केषा सबन्धित्वेन? रूपाणीव चक्षुषामिति। तथाहि—यथा रूपिद्रव्याणि चक्षुषा सह परस्परं सबन्धाभावेपि स्वाकारसमर्पणे समर्थानि। चक्षूंषि च तथाकारग्रहणे समर्थानि भवन्ति, तथा त्रैलोक्योदरविवरवर्तिपदार्था. कालत्रयपर्यायपरिणता ज्ञानेन सह परस्पर-प्रदेशसंसर्गाभावेऽपि स्वकीयाकारसमर्पणे समर्था भवन्ति। अखण्डैकप्रतिभासमय केवलज्ञान तु तदाकारग्रहणे समर्थमिति भावार्थ ॥२८॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि ज्ञान ज्ञेयो के समीप नही जाता है ऐसा निश्चय है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(हि) निश्चय से (णाणी) केवलज्ञानी भगवान् आत्मा (णाणसहावा) केवलज्ञान स्वभावरूप है तथा (णाणिस्स) उस ज्ञानी जीव के भीतर (अट्ठा)**

स्पर्श कर रहा है ऐसा लोकमे झलकता है। तैसे यह आत्मा मिथ्यात्व रागद्वेष आदि आस्रव भावों के और आत्मा के सम्बन्ध मे जो केवलज्ञान होने के पूर्व विशेष भेदज्ञान होता है, उससे उत्पन्न जो केवलज्ञान और केवलदर्शन के द्वारा तीन जगत् और तीनकालवर्ती पदार्थों को निश्चय से स्पर्श न करता हुआ भी व्यवहार से स्पर्श करता है तथा स्पर्श करता हुआ ही ज्ञान से जानता है और दर्शन से देखता है। वह आत्मा अतीन्द्रिय सुख के स्वाद में परिणमन करता हुआ इन्द्रियों के विषयो से अतीत हो गया है। इसलिये जाना जाता है कि निश्चय से आत्मा पदार्थों में प्रवेश न करता हुआ ही व्यवहार से ज्ञेय पदार्थों में प्रवेश हुआ ही घटता है ॥२९॥

अथैवं ज्ञानमर्थेषु वर्तत इति संभावयति—

रयणमिह इंदणीलं दुद्धज्झसियं जहा सभासाए।
अभिभूय तं पि दुद्धं [1]वट्टदि तह णाणमत्थेसु[2] ॥३०॥

रत्नमिह इन्द्रनील दुग्धाध्युषित यथा स्वभासा।
अभिभूय तदपि दुग्ध वर्तते तथा ज्ञानमर्थेषु ॥३०॥

यथा किलेन्द्रनीलरत्नं दुग्धमधिवसत्स्वप्रभाभारेण तदभिभूय वर्तमानं दृष्टं, तथा संवेदनमप्यात्मनोऽभिन्नत्वात् कर्त्रंशेनात्मतामापन्नं करणांशेन ज्ञानतामापन्नेन, कारणभूतानामर्थानां कार्यभूतान् समस्तज्ञेयाकारानभिव्याप्य वर्तमानं कार्यकारणत्वेनोपचर्य ज्ञानमर्थानभिभूय वर्तत इत्युच्यमानं न विप्रतिषिध्यते ॥३०॥

भूमिका—अब, ज्ञान पदार्थों मे इस प्रकार रहता है, यह स्पष्ट करते हैं:—

अन्वयार्थ—[यथा] जैसे [इह] इस जगत् मे [दुग्धाध्युषित] दूध मे पडा हुआ [इन्द्रनील रत्न] इन्द्रनील रत्न [स्वभासा] अपनी प्रभा के द्वारा [तत् अपि दुग्ध] उस दूध को (मे) [अभिभूय] तिरस्कृत करके [वर्तते] रहता है [तथा] उसी प्रकार [ज्ञान] ज्ञान (अर्थात् ज्ञातृ द्रव्य) [अर्थेषु] ज्ञेय पदार्थों मे व्याप्त होकर [वर्तते] रहता है।

टीका—जैसे वास्तव मे दूध में पड़ा हुआ इन्द्रनील रत्न अपनी प्रभा से उस (दूध) को तिरस्कार करके रहता हुआ देखा गया है, उसी प्रकार ज्ञान भी आत्मा से अभिन्न होने के कारण कर्ता-अंश से आत्मा को प्राप्त होता हुआ, ज्ञानपने को प्राप्त करण-अंश द्वारा कारणभूत पदार्थों (बाह्यज्ञेय-पदार्थों) के कार्यभूत-समस्त-ज्ञेयाकारों (ज्ञान मे ज्ञेयाकारों) को व्याप्त हुआ वर्तता है। इसलिये कार्य मे कारणपने से (ज्ञेयाकारों में पदार्थों का)

१ वट्टइ (ज० वृ०)। २ तह णाणमट्ठेसु (ज० वृ०)।

उपचार करके यह कहना कि ज्ञान पदार्थों को व्याप्त करके रहता है, विरोध को प्राप्त नहीं होता है ।३०।

तात्पर्यवृत्ति

अथ तमेवार्थं दृष्टान्तद्वारेण दृढयति,—

रयणमिह रत्नमिह जगति । किं नाम ? **इ दणील** इद्रनीलसज्ञं । किं विशिष्टं ? **दुद्धज्झसियं** दुग्धे निक्षिप्तं **जहा** *यथा* **सभासाए** स्वकीयप्रभया **अभिभूय** तिरस्कृत्य । किं ? **तंपि दुद्धं** तत्पूर्वोक्त दुग्धमपि **वट्टइ** वर्तते । इति दृष्टान्तो गत. । **तह णाणमट्ठेसु** तथा ज्ञानमर्थेषु वर्तत इति । तद्यथा—यथेन्द्रनीलरत्न कर्तृ स्वकीयनीलप्रभया करणभूतया दुग्ध नील कृत्वा वर्तते, तथा निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमसामायिकसयमेन यदुत्पन्न केवलज्ञान तत् स्वपरपरिच्छित्तिसामर्थ्येन समस्ताज्ञानान्धकार तिरस्कृत्य युगपदेव सर्वपदार्थेषु परिच्छित्याकारेण वर्तते । अयमत्र भावार्थः—कारणभूताना सर्वपदार्थाना कार्यभूताः परिच्छित्याकारा उपचारेणार्था भण्यन्ते, तेषु च ज्ञान वर्तत इति भण्यमानेपि व्यवहारेण दोषो नास्तीति ॥३०॥

उत्थानिका—आगे ऊपर कही हुई बात को दृष्टान्त के द्वारा दृढ़ करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(इह) **इस जगत् में (जहा) जैसे (इदणीलं रयणम्) इन्द्रनील नाम का रत्न (दुद्धज्झसियं) दूध मे डुबाया हुआ (सभासाए) अपनी चमक से (तंपि दुद्ध) उस दूध को भी (अभिभूय) तिरस्कार करके (वट्टवि) वर्तता है (तह) तैसे (णाणम्) ज्ञान (अट्ठेसु) पदार्थों मे वर्तता है ।**

भाव यह है कि जैसे इन्द्रनील नाम का प्रधानरत्न कर्ता होकर अपनी नीलप्रभा-रूपी कारण से दूध नीला करके वर्तन करता है तैसे निश्चयरत्नत्रयस्वरूप परम सामायिक नामा संयम के द्वारा जो उत्पन्न हुआ केवलज्ञान सो आपा-पर को जानने की शक्ति रखने के कारण सर्व अज्ञान के अंधेरे को तिरस्कार करके एक समय मे ही सर्व पदार्थों मे ज्ञानाकार से वर्तता है—यहाँ यह मतलब है कि कारणभूत पदार्थों के कार्य जो ज्ञानाकार ज्ञान मे झलकते है उनको उपचार से पदार्थ कहते हैं । उन पदार्थों मे ज्ञान वर्तन करता है ऐसा कहते हुए भी व्यवहार से दोष नही है ॥३०॥

अथैवमर्था ज्ञाने वर्तन्त इति संभावयति—

[1]जदि ते ण संति अट्ठा णाणे णाणं ण होदि[2] सव्वगदं[3] ।
[4]सव्वगदं वा णाणं कहं ण णाणट्ठिया अट्ठा ॥३१॥

यदि ते न सन्त्यर्था ज्ञाने ज्ञान न भवति सर्वगतम् ।
सर्वगत वा ज्ञान कथ न ज्ञानस्थिता. अर्था: ॥३१॥

---

१ जइ (ज० वृ०) । २ होइ (ज० वृ०) । ३ सव्वगय (ज० वृ०) । ४ सव्वगय (ज० वृ०) ।

यदि खलु निखिलात्मीयज्ञेयाकारसमर्पणद्वारेणावतीर्णा सर्वेऽर्था न प्रतिभान्ति ज्ञाने तदा तन्न सर्वगतमभ्युपगम्येत। अभ्युपगम्येत वा सर्वगतम्। तर्हि साक्षात् संवेदनमुकुरुन्दभूमिकावतीर्णप्रतिबिम्बस्थानीयस्वीयस्वीयसंवेद्याकारकारणानि, परम्परया प्रतिबिम्बस्थानीयसंवेद्याकारकारणानीति कथं न ज्ञानस्थायिनोऽर्था निश्चीयन्ते ॥३१॥

भूमिका—**अब, ज्ञान पदार्थ में इस प्रकार रहते हैं, यह व्यक्त करते हैं:—**

अन्वयार्थ—[यदि] जो [ते अर्था.] वे पदार्थ [ज्ञाने न सन्ति] (अपनी परिछित्ति के आकारो के समर्पण द्वारा, दर्पण मे बिम्ब की तरह) केवलज्ञान मे नही है तो [ज्ञान] ज्ञान [सर्वगत] सर्वगत [न भवति] नही हो सकता [वा] और [सर्वगत ज्ञान] सर्वगत ज्ञान माना गया है, तो [ज्ञानस्थिता अर्था.] पदार्थ (अपने ज्ञेयाकारो के परिच्छित्ति-समर्पण द्वारा) ज्ञान मे स्थित [कथ न भवन्ति] कैसे नही है (किन्तु है ही)।

टीका—**जो वास्तव मे समस्त अपने ज्ञेयाकारों के समर्पण द्वार से अवतरित सभी पदार्थ ज्ञान में प्रतिभासित नहीं होते हैं, तो वह (ज्ञान) सर्वगत नहीं माना जा सकता और (ज्ञान तो) सर्वगत माना गया है। तो फिर साक्षात् ज्ञान दर्पण भूमिका मे अवतरित बिम्ब की भांति अपने-अपने ज्ञेयाकारों के कारण (होने से) और परम्परा से प्रतिबिम्ब के समान ज्ञेयाकारों के समान होने से कैसे पदार्थ ज्ञान में स्थित निश्चित न किये जांए (अवश्य ही ज्ञान मे पदार्थ स्थित निश्चित होते हैं) ॥३१॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वसूत्रेण भणित ज्ञानमर्थेषु वर्तते व्यवहारेणात्र पुनरर्था ज्ञाने वर्तन्त इत्युपदिशन्ति,—

जइ यदि चेत् **ते अट्ठा ण संति** ते पदार्था स्वकीयपरिच्छित्त्याकारसमर्पणद्वारेणादर्शे बिम्बवन्न सन्ति यदि चेत्। क्व ? **णाणे** केवलज्ञाने **णाण ण होइ सव्वगय** तदा ज्ञान सर्वगत न भवति। **सव्वगय वा णाण** व्यवहारेण सर्वगत ज्ञान सम्मत चेद्भवता **कह ण णाणट्ठिया अट्ठा** तर्हि व्यवहारनयेन स्वकीयज्ञेयाकारपरिच्छित्तिसमर्पणद्वारेण ज्ञानस्थिता अर्था कथ न भवन्ति ? किन्तु भवन्त्येव। अत्रायमभिप्राय.—यत एव व्यवहारेण ज्ञेयपरिच्छित्त्याकारग्रहणद्वारेण ज्ञान सर्वगत भण्यते, तस्मादेव ज्ञेयपरिच्छित्त्याकारसमर्पणद्वारेण पदार्था अपि व्यवहारेण ज्ञानगता भण्यन्त इति ॥३१॥

उत्थानिका—आगे पूर्व सूत्र से यह बात कही गई कि व्यवहार से ज्ञान पदार्थों मे वर्तन करता है अब यह उपदेश करते है कि पदार्थ ज्ञान मे वर्तते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि) यदि (ते अट्ठा) वे पदार्थ (णाणे) केवलज्ञान मे (ण संति) नहीं हों अर्थात् जैसे दर्पण में प्रतिबिम्ब झलकता है इस तरह पदार्थ अपने ज्ञानाकार को समर्पण करने के द्वारा ज्ञान मे न झलकते हों तो (णाणं) केवलज्ञान (सव्वगय)**

सर्वगत (ण होई) नहीं होवे। (वा) अथवा यदि व्यवहार से (णाणं) केवलज्ञान (सव्वगयं) सर्वगत आपकी सम्मति से है तो व्यवहारनय से (अट्ठा) पदार्थ अर्थात् अपने ज्ञेयकार को ज्ञान मे समर्पण करने वाले पदार्थ (कहं ण) किस तरह नहीं (णाणट्ठिया) केवलज्ञान में स्थित है—किन्तु ज्ञान मे अवश्य तिष्ठते हैं, ऐसा मानना होगा।

यहां यह अभिप्राय है क्योंकि व्यवहारनय से ही जब ज्ञेयों के ज्ञानाकार को ग्रहण करने के द्वारा ज्ञान को सर्वगत कहा जाता है इसीलिये सब ज्ञेयों के ज्ञानाकार समर्पण द्वार से पदार्थ भी व्यवहार से ज्ञान मे प्राप्त हैं, ऐसा कह सकते हैं। पदार्थों के आकार को जब ज्ञान ग्रहण करता है, तब पदार्थ अपना आकार ज्ञान को देते हैं, यह कहना होगा ॥३१॥

अथैवं ज्ञानिनोऽर्थैः सहान्योन्यवृत्तिमत्त्वेऽपि परग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावेन सर्वं पश्यतोऽध्यवस्यतश्चात्यन्तविविक्तत्वं भावयति—

गेण्हदि णेव ण मुंचदि ण परं परिणमदि केवली भगवं।
पेच्छदि समंतदो सो जाणदि सव्वं णिरवसेसं ॥३२॥

गृण्हाति नैव न मुञ्चति न पर परिणमति केवली भगवान्।
पश्यति समन्तत स जानाति सर्वं निरवशेषम् ॥३२॥

अथ खल्वात्मा स्वभावत एव परद्रव्यग्रहणमोक्षणपरिणमनाभावात्स्वतत्त्वभूतकेवलज्ञानस्वरूपेण विपरिणम्य निष्कम्पोन्मज्जज्ज्योतिर्जात्यमणिकल्पो भूत्वाऽवतिष्ठमानः समन्ततः स्फुरितदर्शनज्ञानशक्तिः, समस्तमेव नि.शेषतयात्मानमात्मनि संचेतयते। अथवा युगपदेव सर्वार्थसार्थसाक्षात्करणेन ज्ञप्तिपरिवर्तनाभावात् संभावितग्रहणमोक्षणक्रियाविरामः, प्रथममेव समस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतत्वात् पुन परमाकारान्तरमपरिणममानः समन्ततोऽपि विश्वमशेषं पश्यति जानाति च एवमस्यात्यन्तविविक्तत्वमेव ॥३२॥

भूमिका—अब, इसप्रकार केवलज्ञानी के साथ एक-दूसरे मे वृत्ति वाले होने पर भी, पर को ग्रहण, त्याग किये बिना तथा परद्रव्य रूप परिणत हुए बिना सबको देखने-जानने वाले केवली के (पदार्थों के साथ) अत्यन्त भिन्नपने को बतलाते हैं:—

अन्वयार्थ—[केवली भगवान्] केवली भगवान (सर्वज्ञ) [पर] पर-द्रव्य को-ज्ञेय पदार्थ को [न एव गृह्णाति] न ग्रहण करते है, [न मु चति] न छोडते है, [न परिणमति] और न परद्रव्य रूप-ज्ञेयरूप परिणत होते है। इससे जाना जाता है कि उनका परद्रव्य के साथ भिन्नत्व ही है तो क्या परद्रव्य को जानते भी नही ? उत्तर—तथापि [समन्तत]

सर्व द्रव्य क्षेत्र-काल-भावों से [सर्वं] सब ज्ञेयो को [निरवशेष] निरवशेष [पश्यति जानाति] देखते-जानते है ।

टीका—यह आत्मा वास्तव में, स्वभाव से ही परद्रव्य के ग्रहण त्याग का तथा परद्रव्य रूप के परिणत होने का (उसके) अभाव होने से, स्वतत्वभूत केवलज्ञान स्वरूप से परिणत होकर (तथा) निष्कंप निकलने वाली ज्योति वाला उत्तम मणि जैसा होकर रहता हुआ, (एवं) जिसके सब आत्म-प्रदेशों से दर्शन ज्ञान शक्ति स्फुरित है, ऐसा होता हुआ, निःशेष रूप से परिपूर्ण आत्मा को आत्मा से आत्मा मे सचेतता (जानता-अनुभव करता) है ।

अथवा एक साथ ही सर्व पदार्थों के समूह को साक्षात् करने से, ज्ञप्ति परिवर्तन का अभाव होने से, (तथा) जिसके ग्रहण त्याग रूप क्रिया विराम को प्राप्त हुई है ऐसा होता हुआ, (एवं) पहले समय में ही समस्त ज्ञेयाकार रूप परिणत होने से, फिर दूसरे आकारान्तर रूप नहीं परिणत होता हुआ, सर्व प्रकार से सम्पूर्ण विश्व को देखता जानता है ।

सार—इस प्रकार (पूर्वोक्त दोनो प्रकार से) उसका (आत्मा का पदार्थों से) अत्यन्त भिन्नपना ही है ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ ज्ञानिन. पदार्थै सह यद्यपि व्यवहारेण ग्राह्यग्राहकसम्बन्धोऽस्ति तथापि सश्लेषादिसम्बन्धो नास्ति, तेन कारणेन ज्ञेयपदार्थै सह भिन्नत्वमेवेति प्रतिपादयति,—

गेण्हदि णेव ण मु चदि गृह्णाति नैव मुञ्चति नैव**ण पर परिणमदि** पर परद्रव्य ज्ञेयपदार्थ नैव परिणमति । स क. कर्ता ? **केवली भगव** केवली भगवान् सर्वज्ञ । ततो ज्ञायते परद्रव्येण सह भिन्नत्वमेव तर्हि किं परद्रव्य न जानाति ? **पेच्छदि समतदो सो जाणदि सव्व णिरवसेस** तथापि व्यवहारनयेन पश्यति समन्ततः सर्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्जानाति च सर्व निरवशेषम् । अथवा द्वितीयव्याख्यानम्—अभ्यन्तरे कामक्रोधादि बहिर्विषये पञ्चेन्द्रियविषयादिक बहिर्द्रव्य न गृह्णाति, स्वकीयानन्तज्ञानादिचतुष्टयं च न मुञ्चति यतस्ततः कारणादय जीव केवलज्ञानोत्पत्तिक्षण एव युगपत्सर्वं जानन्सन् पर विकल्पान्तरं न परिणमति । तथाभूत सन् किं करोति ? स्वतत्वभूतकेवलज्ञानज्योतिषा जात्यमणिकल्पो निःकम्पचैतन्यप्रकाशो भूत्वा स्वात्मान स्वात्मनि जानात्यनुभवति । तेनापि कारणेन परद्रव्यै सह भिन्नत्वमेवेत्यभिप्राय ॥३२॥

एव ज्ञान ज्ञेयरूपेण न परिणमतीत्यादिव्याख्यानरूपेण तृतीयस्थले गाथापञ्चक गतम् ।

उत्थानिका—आगे यह समझाते है कि यद्यपि व्यवहार से ज्ञानी का ज्ञेय पदार्थो के साथ ग्राह्य-ग्राहक अर्थात् ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है तथापि निश्चय से स्पर्श आदि का सम्बन्ध नही है इसलिये ज्ञानी का ज्ञेय पदार्थों के साथ भिन्नपना ही है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(केवली भगवं) केवली भगवान सर्वज्ञ (परं) पर द्रव्यरूप ज्ञेय पदार्थ को (णेव गिण्हदि) न तो ग्रहण करते हैं, (ण मुंचदि) न छोड़ते हैं (ण परिणमदि) न उस रूप परिणमन करते हैं। इससे जाना जाता है कि उनकी परद्रव्य से भिन्नता ही है। तब क्या वे परद्रव्य को नहीं जानते हैं? उसके लिये कहते हैं कि यद्यपि भिन्न हैं तथापि व्यवहारनय से (सो) वह भगवान् (णिरवसेसं सव्वं) बिना अवशेष के सबको (समंतदो) सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों के साथ (पेच्छदि) देखते हैं तथा (जाणदि) जानते हैं।

अथवा इसी का दूसरा व्याख्यान यह है कि केवली भगवान् भीतर तो काम, क्रोधादि भावों को और बाहर मे पांचो इन्द्रियो के विषयरूप पदार्थों को ग्रहण नहीं करते हैं, न अपने आत्मा के अनन्तज्ञानादि चतुष्टय को छोड़ते हैं। यही कारण है जो केवलज्ञानी आत्मा केवलज्ञान की उत्पत्ति के काल मे ही एक साथ सर्व को देखते-जानते हुए भी अन्य विकल्परूप परिणमन नहीं करते हैं। ऐसे वीतरागी होते हुए क्या करते हैं? अपने स्वभाव रूप केवलज्ञान की ज्योति से निर्मल स्फटिकमणि के समान निश्चल चैतन्य प्रकाश रूप होकर अपने आत्मा के द्वारा आत्मा में जानते हैं, अनुभव करते हैं। इसी कारण से उनकी परद्रव्यों के साथ एकता नहीं है भिन्नता ही है, ऐसा अभिप्राय जानना चाहिये ॥३२॥

इसी तरह ज्ञान-ज्ञेय रूप से परिणमन नहीं करता है, इत्यादि व्याख्यान करते हुए तीसरे स्थल मे पांच गाथाएं पूर्ण हुई ॥३२॥

अथ केवलज्ञानिश्रुतज्ञानिनोरविशेषदर्शनेन विशेषाकांक्षाक्षोभं क्षपयति—

जो हि सुदेण विजाणदि अप्पाणं जाणगं सहावेण।
तं [1]सुदकेवलिमिसिणो भणंति लोगप्पदीवयरा[2] ॥३३॥

यो हि श्रुतेन विजानात्यात्मान ज्ञायक स्वभावेन।
त श्रुतकेवलिनमृषयो भणन्ति लोकप्रदीपकरा ॥३३॥

यथा भगवान् युगपत्परिणतसमस्तचैतन्यविशेषशालिना केवलज्ञानेनानादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसंचेत्यमानचैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि संचेतनात् केवली, तथायं जनोऽपि क्रमपरिणममाणकतिपयचैतन्यविशेषशालिना श्रुतज्ञानेनानादिनिधननिष्कारणासाधारणस्वसंचेत्यमानचैतन्यसामान्यमहिम्नश्चेतकस्वभावेनैकत्वात् केवलस्यात्मन आत्मनात्मनि सचेतनात् श्रुतकेवली। अलं विशेषाकांक्षाक्षोभेण, स्वरूपनिश्चलैरेवावस्थीयते ॥३३॥

---

१ सुयकेवलिमिसिणो (ज० वृ०)। २ लोयप्पदीवयरा (ज० वृ०)।

भूमिका—अब केवलज्ञानी तथा श्रुतज्ञानी के अविशेष (समानता अन्तररहितता) दिखलाते हुये, विशेष आकांक्षा के क्षोभ को नष्ट करते है (अर्थात् केवलज्ञानी में और श्रुतज्ञानी में अन्तर नहीं है, यह दिखाकर विशेष जानने की इच्छा की आकुलता को नष्ट करते हैं):—

अन्वयार्थ—[य) जो [हि] वास्तव मे [श्रुतेन] श्रुतज्ञान से (निर्विकार.स्वसवित्ति रूप भावश्रुत परिणाम से) [स्वभावेन] स्वभाव से (समस्त विभाव रहित स्वभाव से) [ज्ञायक] ज्ञायक स्वभावी (भावज्ञान स्वरूप) [आत्मान] आत्मद्रव्य को [विजानाति] जानता है, [लोकप्रदीपकरा] लोक के प्रकाशक [ऋषय] ऋषीश्वरगण [त] उसको [श्रुतकेवलिन] श्रुतकेबली [भणन्ति] कहते है।

टीका—जैसे भगवान्, युगपत् परिणमन करते हुए समस्त चैतन्य-विशेष-युक्त केवलज्ञान द्वारा, अनादि निधन-निष्कारण (अहेतुक) असाधारण-स्वसंवेद्यमान-चैतन्य सामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतक स्वभाव से एकत्व होने से केवल (अकेला, शुद्ध, अखण्ड) है, ऐसे आत्मा का आत्मा से आत्मा में अनुभव करने के कारण से केवली हैं, उसी प्रकार यह (छद्मस्थ) पुरुष भी क्रमशः परिणमित होते हुए कुछ चैतन्य विशेषों से युक्त श्रुतज्ञान के द्वारा, अनादिनिधन निष्कारण-असाधारण-स्वसवेद्यमान-चैतन्य सामान्य जिसकी महिमा है तथा जो चेतक स्वभाव के द्वारा एकत्व होने से केवल (अकेला) है, ऐसे आत्मा का आत्मा से आत्मा मे अनुभव करने के कारण श्रुतकेवली है। (इसलिये) विशेष आकांक्षा के क्षोभ से (अधिक जानने की इच्छा रूप आकुलता से) समाप्त हो। (हमारे द्वारा) स्वरूप से निश्चल ही ठहरा जाता है।

भावार्थ—छद्मस्थ जीव भाव-श्रुतज्ञान द्वारा निज शुद्ध-आत्मा का अनुभव करते है तथा केवली भगवान् केवल-ज्ञान द्वारा निज शुद्ध-आत्मा का अनुभव करते है। इसलिये दोनों में कोई अन्तर नहीं है। पर-पदार्थ का हीनाधिक ज्ञान आत्म-अनुभव मे प्रयोजनवान नहीं है। इसलिये पर-द्रव्य के अधिक ज्ञान को करने की आकुलता छोड़कर आत्म-अनुभव करने का अभ्यास कर, उसमें तेरा भला है। आत्म-अनुभव करने वाले जीवों को निश्चय से श्रुतकेवली कहते हैं जबकि सम्पूर्ण द्रव्यश्रुत के जानकार को व्यवहार से श्रुतकेवली कहते हैं। ऐसी आत्म-अनुभव की अटूट महिमा है। देखिये श्री समयसार जी मे गाथा नं० ६ बिलकुल यही गाथा है।

मूल गाथा मे केवल श्रुतकेवली की बात है और टीकाकार केवलज्ञानी तथा श्रुत-केवली दोनों की बात कर रहे हैं। ऐसा क्यो ? इसका उत्तर यह है कि गाथा २१ से ५२ तक ज्ञान-प्रज्ञापन (केवलज्ञान या केवलज्ञान स्वरूपी आत्मा) के कथन करने की प्रतिज्ञा है। श्रुतकेवली की गाथा क्यों आई है ? इसमे से टीकाकार ने यह भाव निकाला है कि सूत्रकार दोनों का अविशेष दिखलाना चाहते हैं ॥३३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ यथा निरावरणसकलव्यक्तिलक्षणेन केवलज्ञानेनात्मपरिज्ञान भवति तथा सावरणैकदेश-व्यक्तिलक्षणेन केवलज्ञानोत्पत्तिबीजभूतेन स्वसवेदनज्ञानरूपभावश्रुतेनाप्यात्मपरिज्ञान भवतीति निश्च नोति ।अथवा द्वितीयपातनिका—यथा केवलज्ञान प्रमाण भवति तथा केवलज्ञानप्रणीतपदार्थप्रकाशक श्रुतज्ञानमपि परोक्षप्रमाण भवतीति पातनिकाद्वय मनसि धृत्वा सूत्रमिद प्रतिपादयति,—

जो य कर्ता **हि** स्फुट **सुदेण** निर्विकारस्वसवित्तिरूपभावश्रुतपरिणामेन **विजाणदि** विजानाति विशेषेण जानाति विषयसुखानन्दविलक्षणनिजशुद्धात्मभावनोत्थपरमानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादेनानु-भवति। कम् ? **अप्पाण** निजात्मद्रव्य। कथम्भूत ? **जाणग** ज्ञायक केवलज्ञानस्वरूप। **केन कृत्वा ? सहावेण** समस्तविभावरहितस्वभावेन **त सुयकेवलि** त महायोगीन्द्र श्रुतकेवलिन **भणति** कथयन्ति। के कर्तार ? **इसिणो** ऋषय.। कि विशिष्टा ? **लोयप्पदीवयरा** लोकप्रदीपकरा लोकप्रकाशका इति। अतो विस्तर· युगपत्परिणतसमस्तचैतन्यशालिना केवलज्ञानेन अनाद्यनन्तनि कारणान्यद्रव्यासाधारण-स्वसवेद्यमानपरमचैतन्यसामान्यलक्षणस्य परद्रव्यरहितत्वेन केवलस्यात्मन आत्मनि स्वानुभवनाद्यथा भगवान् केवलि भवति, तथाय गणधरदेवादिनिश्चयरत्नत्रयाराधकजनोपि पूर्वोक्तलक्षणस्यात्मनो भावश्रुतज्ञानेन स्वसवेदनान्निश्चयश्रुतकेवली भवतीति। किञ्च—यथा कोपि देवदत्त आदित्योदयेन दिवसे पश्यति, रात्रौ किमपि प्रदीपेनेति। तथादित्योदयस्थानीयेन केवलज्ञानेन दिवसस्थानीयमोक्ष-पर्याये भगवानात्मान पश्यति। ससारी विवेकिजन पुनर्निशास्थानीयससारपर्याये प्रदीपस्थानीयेन रागादिविकल्परहितपरमसमाधिना निजात्मान पश्यतीति। अयमत्राभिप्राय,—आत्मा परोक्ष:, कथ ध्यान क्रियते इति सन्देह कृत्वा परमात्मभावना न त्याज्येति। ३३॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जैसे सर्व आवरण रहित सर्व को प्रगट करने वाले लक्षण को धारने वाले केवलज्ञान से आत्मा का ज्ञान होता है तैसे आवरण सहित एक देश प्रकट करने वाले लक्षण को धरने वाले तथा केवलज्ञान की उत्पत्ति का बीज रूप स्वसवेदन ज्ञानमयी भाव श्रुतज्ञान से भी आत्मा का ज्ञान होता है अर्थात् जैसे केवलज्ञान से आत्मा का जानपना होता है वैसा श्रुतज्ञान से भी आत्मा का ज्ञान होता है। आत्मज्ञान के लिये दोनो ज्ञान बराबर है। अथवा दूसरी पातनिका यह है कि जैसे केवलज्ञान प्रमाण रूप है तैसे ही केवलज्ञान द्वारा दिखलाए हुए पदार्थो को प्रकाश करने वाला श्रुतज्ञान भी परोक्ष प्रमाण है। इस तरह दो पातनिकाओ को मन मे रखकर आगे का सूत्र कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जो) जो कोई पुरुष (हि) निश्चय से (सुदेण) निर्विकार स्वसंवेदन रूप भाव–श्रुत परिणाम के द्वारा (सहावेण) समस्त विभावों से रहित स्वभाव से ही (जाणगं) ज्ञायक अर्थात् केवलज्ञानरूप (अप्पाणं) निज आत्मा को (विजाणदि) विशेष करके जानता है अर्थात् विषयों के सुख से विलक्षण अपने शुद्धात्मा की भावना से पैदा होने वाले परमानन्दमई एक लक्षण को रखने वाले सुख रस के आस्वाद से अनुभव करता है। (लोयप्पदीवयरा) लोक के प्रकाश करने वाले (इसिणो) ऋषि (तं) उस महायोगीन्द्र को (सुयकेवलिं) श्रुतकेवली (भणंति) कहते हैं।

इसका विस्तार यह है कि एक समय मे परिणमन करने वाले सर्व चैतन्यशाली केवलज्ञान के द्वारा आदि अंत रहित, अन्य किसी कारण के बिना दूसरे द्रव्यो में न पाइये ऐसे असाधारण अपने आप से अपने में अनुभव आने योग्य परमचैतन्यरूप सामान्य लक्षण को रखने वाले तथा परद्रव्य से रहितपने के द्वारा केवल ऐसे आत्मा का आत्मा मे स्वानुभव करने से जैसे भगवान् केवली होते हैं वैसे यह गणधर आदि निश्चयरत्नत्रय के आराधक पुरुष भी पूर्व में कहे हुए चैतन्य लक्षणधारी आत्मा का भाव-श्रुतज्ञान के द्वारा अनुभव करने से श्रुतकेवली होते हैं। प्रयोजन यह है कि जैसे कोई भी देवदत्त नाम का पुरुष सूर्य के उदय होने से दिवस में देखता है और रात्रि को भी दीपक के द्वारा कुछ देखता है वैसे सूर्य के उदय के समान केवलज्ञान के द्वारा दिवस के समान मोक्ष अवस्था के होते हुए भगवान् केवली आत्मा को देखते हैं और ससारी विवेकी जीव रात्रि के समान संसार-अवस्था मे दीप के समान रागादि विकल्पों से रहित परम समाधि के द्वारा अपने आत्मा को देखते हैं। अभिप्राय यह है कि आत्मा परोक्ष है। उसका ध्यान कैसे किया जाय, ऐसा सन्देह करके परमात्मा की भावना को छोड़ न देना चाहिये ॥३॥

अथ ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदमुदस्यति—

सुत्तं जिणोवदिट्ठं पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं।
तं जाणणा हि णाणं सुत्तस्स य जाणणा भणिया ॥३४॥

सूत्र जिनोपदिष्ट पुद्गलद्रव्यात्मकैर्वचनै।
तज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञान सूत्रस्य च ज्ञप्तिर्भणिता ॥३४॥

श्रुतं हि तावत्सूत्रम्, तच्च भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञ स्यात्कारकेतनं पौद्गलिकं शब्दब्रह्मतज्ज्ञप्तिर्हि ज्ञानम्। श्रुतं तु तत्कारणत्वात्, ज्ञानत्वेनोपचर्यत एव। एव सति, सूत्रस्य ज्ञप्तिः श्रुत-

ज्ञानमित्यायाति। अथ सूत्रमुपाधित्वान्नाद्रियते। ज्ञप्तिरेवावशिष्यते। सा च केवलिनः श्रुतकेवलिनश्चात्मसंचेतने तुल्यैवेति नास्ति ज्ञानस्य श्रुतोपाधिभेदः ॥३४॥

भूमिका—**अब ज्ञान के श्रुत-उपाधि (कृत) भेद को दूर करते हैं (अर्थात् यह दिखाते है कि श्रुतज्ञान भी ज्ञान है, श्रुत रूप उपाधि के कारण ज्ञान मे कोई भेद नहीं होता:—**

अन्वयार्थ—[पुद्गलद्रव्यात्मकैः वचनैः] पुद्गल द्रव्यात्मक दिव्यध्वनि वचनों के द्वारा [जिनोपदिष्टं] जिनेन्द्र भगवान् से उपदिष्ट [सूत्रं] सूत्र है (द्रव्यश्रुत है) [तज्ज्ञप्तिः हि ज्ञानं] उसकी ज्ञप्ति (जानना) ज्ञान है (उस पूर्वोक्त शब्दश्रुत के आधार से जो ज्ञप्ति है—अर्थपरिच्छित्ति है वह ज्ञान कहा जाता है) [च] और (उस ज्ञान को) [सूत्रस्य ज्ञप्तिः] सूत्र की ज्ञप्ति (श्रुतज्ञान) [भणिता] कहा गया है।

टीका—**पहले तो (श्रुतज्ञान इस शब्द में) श्रुत वास्तव में सूत्र है और वह सूत्र भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञ के द्वारा कहा हुआ, स्यात्कार चिन्हयुक्त, पौद्गलिक शब्दब्रह्म है। (श्रुतज्ञान इस शब्द मे ज्ञान शब्द से वाच्य) उस (सूत्र) की ज्ञप्ति सो ज्ञान है। (श्रुतज्ञान इस शब्द मे) श्रुत (सूत्र) तो उसका (ज्ञान का) कारण होने से ज्ञान रूप से उपचार ही किया जाता है (उपचार से ज्ञान कहा जाता है जैसे कि अन्न को प्राण कहा जाता है)। ऐसा होने पर** "सूत्र की ज्ञप्ति सो श्रुतज्ञान है" ऐसा ठहरता है (सिद्ध होता है)। **अब सूत्र को उपाधिपना** होने से उसका आदर न किया जाए तो ज्ञप्ति ही शेष रह जाती है **(सूत्र की ज्ञप्ति कहने पर सूत्र आश्रय या निमित्त मात्र होने से उपाधि ही है। किन्तु ज्ञप्ति स्वयं आत्मा का ही परिणमन है। इसलिये यदि सूत्र को न गिना जाय तो 'ज्ञप्ति' ही शेष रहती है) और वह (ज्ञप्ति) केवली के और श्रुतकेवली के आत्म-अनुभव मे समान ही है। इसलिये ज्ञान के श्रुत-उपाधि (कृत) भेद नहीं है।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ शब्दरूपं द्रव्यश्रुतं व्यवहारेण ज्ञानं निश्चयेनार्थपरिच्छित्तिरूपं भावश्रुतमेव ज्ञानमिति कथयति। अथवात्मभावनारतो निश्चयश्रुतकेवली भवतीति पूर्वसूत्रे भणितम्, अयं तु व्यवहारश्रुतकेवलीति कथ्यते,—

सुत्तं द्रव्यश्रुतं। कथम्भूतं ? **जिणोवदिट्ठं** जिनोपदिष्टं। कैः कृत्वा ? **पोग्गलदव्वप्पगेहिं वयणेहिं** पुद्गलद्रव्यात्मकैर्दिव्यध्वनिवचनैः **तं जाणणा हि णाणं** तेन पूर्वोक्त-शब्दश्रुताधारेण ज्ञप्तिरर्थपरिच्छित्तिर्ज्ञानं भण्यते **हि** स्फुटं **सुत्तस्स य जाणणा भणिया** पूर्वोक्तद्रव्यश्रुतस्यापि व्यवहारेण ज्ञानव्यपदेशो भवति न तु निश्चयेनेति। तथाहि—यथा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो जीवः पश्चाद्व्यवहारेण नरनारकादिरूपोऽपि जीवो भण्यते। तथा निश्चयेनाखण्डैकप्रतिभासरूपं समस्तवस्तुप्रकाशकं ज्ञानं भण्यते, पश्चाद्व्यवहारेण मेघपटलावृतादित्यस्यावस्थाविशेषवत्कर्मपटलावृताखण्डैकज्ञानरूप-जीवस्य मतिज्ञानश्रुतज्ञानादिव्यपदेशो भवतीति भावार्थः ॥३४॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि शब्द रूप द्रव्यश्रुत व्यवहारनय से ज्ञान है। निश्चय करके अर्थ जानने रूप भावश्रुत ही ज्ञान है। अथवा आत्मा की भावना मे लवलीन पुरुष निश्चय श्रुतकेवली है, ऐसा पूर्व सूत्र मे कहा है, अब व्यवहार श्रुतकेवली को कहते है अथवा ज्ञान के साथ जो श्रुत की उपाधि है उसे दूर करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(सुत्त) द्रव्यश्रुत (पोग्गल–दव्वप्पगेहिं वयणेहिं) पुद्गल द्रव्यमयी दिव्य ध्वनि के वचनों से (जिणोवदिट्ठं) जिन भगवान् के द्वारा उपदेश किया गया है। (हि) निश्चय करके (तज्जाणणा) उस द्रव्यश्रुत के आधार से जो जानपना है (णाण) सो अर्थज्ञान रूप भावश्रुत ज्ञान है। (य) और (सुत्तस्स) उस द्रव्यश्रुत को भी (जाणणा) जानपना या ज्ञान संज्ञा (भणिया) व्यवहार नय से कही गई है।

भाव यह है कि जैसे निश्चय से यह जीव शुद्ध-बुद्ध एकस्वभाव रूप है, पीछे व्यवहारनय से जीव नर-नारक आदि रूप भी कहा जाता है। तैसे निश्चय से ज्ञान सर्व वस्तुओं को प्रकाश करने वाला अखड एक प्रतिभासरूप कहा जाता है, सो ही ज्ञान फिर व्यवहारनय से मेघों के पटलों से आच्छादित सूर्य की अवस्था विशेष को तरह कर्म पटल से आच्छादित अखंड एक ज्ञानरूप होकर मतिज्ञान श्रुतज्ञान आदि नामवाला हो जाता है ॥३४॥

अथात्मज्ञानयोः कर्तृकरणताकृतं भेदमपनुदति।

जो जाणदि सो णाणं ण हवदि णाणेण जाणगो आदा।
णाणं परिणमदि सयं अट्ठा णाणट्ठिया सव्वे ॥३५॥

यो जानाति तज्ज्ञान ज्ञायक आत्मा।
ज्ञान परिणमते स्वयमर्था ज्ञानस्थिता सर्वे ॥३५॥

अपृथग्भूतकर्तृकरणत्वशक्तिपारमैश्वर्ययोगित्वादात्मनो य एव स्वयमेव जानाति स एव ज्ञानमन्तर्लीनसाधकतमोष्णत्वशक्तेः स्वतंत्रस्य जातवेदसो दहनक्रियाप्रसिद्धेरुष्णव्यपदेशवत्। न तु यथा पृथग्वर्तिना दात्रेण लावको भवति देवदत्तस्तथा ज्ञानेन ज्ञायको भवत्यात्मा। तथा सत्युभयोरचेतनत्वमचेतनयोः संयोगेऽपि न परिच्छित्तिनिष्पत्तिः। पृथक्त्ववर्तिनोरपि परिच्छेदाभ्युपगमे परपरिच्छेदेन परस्य परिच्छित्तिर्भूतिप्रभृतीनां च परिच्छित्तिप्रसूतिरनङ्कुशा स्यात्। किंच—स्वतोऽव्यतिरिक्तसमस्तपरिच्छेद्याकारपरिणतं ज्ञानं स्वयं परिणममानस्य, कार्यभूतसमस्तज्ञेयाकारकारणीभूताः सर्वेऽर्था ज्ञानवर्तिन एव कथंचिद्भवन्ति, किं ज्ञातृज्ञानविभागक्लेशकल्पनया ॥३५॥

भूमिका—अब आत्मा और ज्ञान के कर्तृत्व करणत्व कृत भेद को दूर करते हैं (प्रदेश-भेद लिये हुए ज्ञान भिन्न पदार्थ हो और आत्मा भिन्न पदार्थ हो, तथा आत्मा का फिर ज्ञान से समवाय हो जाने पर आत्मा ज्ञानी बनता हो, ऐसा नहीं है, यह उपदेश करते हैं)।

अन्वयार्थ—[य जानाति] जो (कर्ता) जानता है [तत् ज्ञान] वह ज्ञान है (जो ज्ञायक है वही ज्ञान है) [ज्ञानेन] ज्ञान के द्वारा (सर्वथा भिन्न ज्ञान नामा पदार्थ से जुड कर) [आत्मा] आत्मा [ज्ञायक न भवति] ज्ञायक नही होता है। [स्वय] स्वय ही आत्मा [ज्ञान परिणमते] ज्ञान रूप परिणत होता है और [सर्वे अर्था] सब पदार्थ [ज्ञान-स्थिता] ज्ञान मे स्थित हो जाते है।

टीका—**आत्मा के अपृथग्भूत (अभिन्न) कर्तृत्व और कारणत्व की शक्ति-रूप पारमैश्वर्य-योगिपना (सहितपना) होने से जो स्वय ही जानता है (जो ज्ञायक है) वह ही ज्ञान है, जैसे जिसमे साधकतम उष्णत्व शक्ति अन्तर्लीन है ऐसी स्वतन्त्र अग्नि के, दहन-क्रिया की प्रसिद्धि होने से, 'उष्णता' कहीजाती है। परन्तु ऐसा नहीं है कि जैसे पृथग्वर्ती दांती (हसिया)से देवदत्त काटने वाला है, उसी प्रकार (पृथग्वर्ती) ज्ञान से आत्मा ज्ञायक (जानने वाला) है। ऐसा होने पर, दोनो मे (ज्ञान और आत्मा मे) अचेतनपना (आ जायेगा) और दो अचेतनों का संयोग होने पर भी ज्ञप्ति उत्पन्न नही होगी। (आत्मा और ज्ञान के) पृथग्वर्ती होने पर भी (आत्मा के) ज्ञप्ति मानी जाने पर ज्ञान के द्वारा पर के ज्ञप्ति (होगी) (और इस प्रकार) राख इत्यादिक के भी ज्ञप्ति की उत्पत्ति निरंकुश (अबाधित) होगी। (यदि ऐसा माना जायगा कि आत्मा और ज्ञान पृथक्-पृथक् पदार्थ हैं किन्तु ज्ञान आत्मा के साथ युक्त हो जाता है इसलिये आत्मा जानने का कार्य करता है, तो ज्ञान के युक्त होने से पूर्व आत्मा जड़ था और जैसे ज्ञान जड आत्मा के साथ युक्त होता है, उसी प्रकार राख, घड़ा, खम्भा इत्यादि समस्त जड़ पदार्थों के साथ भी युक्त हो जाये और उससे वे सब पदार्थ भी जानने का कार्य करने लगें, किन्तु ऐसा नहीं होता। इसलिये आत्मा और ज्ञान पृथक्-पृथक् पदार्थ नहीं है।) और विशेष—अपने से अभिन्न समस्त ज्ञेयाकार रूप परिणत जो ज्ञान है उस रूप स्वयं परिणत होने वाले आत्मा के कार्यभूत समस्त ज्ञेयाकारो के कारणभूत समस्त पदार्थ कथंचित् ज्ञानवर्ती ही हैं। (इसलिये) ज्ञाता और ज्ञान के विभाग की क्लिष्ट कल्पना से क्या प्रयोजन है, कुछ नहीं ॥३५॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ भिन्नज्ञानेनात्मा ज्ञानी न भवतीत्युपदिशति,—

जो जाणदि सो णाणं य. कर्ता जानाति स ज्ञान भवतीति । तथाहि—यथा सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेपि सति पश्चादभेदनयेन दहनक्रियासमर्थोष्णगुणेन परिणतोऽग्निरप्युष्णो भण्यते, तथार्थक्रिया परिच्छित्तिसमर्थेन ज्ञानगुणेन परिणत आत्मापि ज्ञान भण्यते । तथा चोक्तम्- **'जानातीति ज्ञानमात्मा'** **ण हवदि णाणेण जाणगो आदा** सर्वथैव भिन्नज्ञानेनात्मा ज्ञायको न भवतीति । अथ मतम्—यथा भिन्नदात्रेण लावको भवति देवदत्तस्तथा भिन्नज्ञानेन ज्ञायको भवतु को दोष इति । नैवम् । छेदनक्रियाविषये दात्र बहिरङ्गोपकरण तद्भिन्न भवतु अभ्यन्तरोपकरण तु देवदत्तस्य छेदनक्रियाविषये शक्तिविशेषस्तच्चाभिन्नमेव भवति । तथार्थपरिच्छित्तिविषयेज्ञानमेवाभ्यन्तरोपकरण तथाभिन्नमेव भवति, उपाध्यायप्रकाशादिबहिरङ्गोपकरणतद्भिन्नमपि भवतु दोषो नास्ति । यदि च भिन्नज्ञानेन ज्ञानी भवति तर्हि परकीयज्ञानेन सर्वेपि कुम्भस्तम्भादिजडपदार्था ज्ञानिनो भवन्तु न च तथा । **णाणं परिण वि सय** यत एव भिन्नज्ञानेन ज्ञानो न भवति तत एव घटोत्पत्तौ मृतपिण्ड इव स्वयमेवोपादानरूपेणात्मा ज्ञान परिणमति । **अट्ठा णाणट्ठिया सब्बे** व्यवहारेण ज्ञेयपदार्था आदर्शे बिम्बमिव परिच्छित्याकारेण ज्ञाने तिष्ठन्तीत्यभिप्राय ॥३५॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि आत्मा अपने से भिन्न किसी ज्ञान के द्वारा ज्ञानी नही होता है अर्थात् ज्ञान और आत्मा का सर्वथा भेद नही है, किसी अपेक्षा से भेद है । वास्तव मे ज्ञान और आत्मा अभिन्न है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो जाणदि) जो कोई जानता है (सो णाण) सो ज्ञान गुण अथवा ज्ञानी आत्मा है । जैसे संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि के कारण अग्नि और उसके उष्ण गुण का भेद होने पर भी अभेद नय से जलाने की क्रिया करने को समर्थ उष्ण गुण के द्वारा परिणमती हुई अग्नि भी उष्ण कही जाती है तैसे संज्ञा लक्षणादि के द्वारा ज्ञान और आत्मा का भेद होने पर भी पदार्थ और क्रिया के जानने को समर्थ ज्ञान गुण के द्वारा परिणमन करता हुआ आत्मा भी ज्ञान या ज्ञानरूप कहा जाता है ऐसा ही कहा गया है । "जानातीति ज्ञानमात्मा" कि जो जानता है सो ज्ञान है और सो ही आत्मा है । (आदा) आत्मा (णाणेण) भिन्न ज्ञान के कारण से (जाणगो) जानने वाला ज्ञाता (ण हवदि) नहीं होता है । किसी का ऐसा मत है कि जैसे भिन्न दन्तीले (हसिया) से देवदत्त घास का काटने वाला होता है वैसे भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञाता होवे तो कोई दोष नहीं है । उसके लिये कहते हैं कि ऐसा नहीं हो सकता है । घास छेदने की क्रिया के सम्बन्ध मे दंतीला (हसिया) बाहरी उपकरण है सो भिन्न हो सकता है परन्तु भीतरी उपकरण देवदत्त की छेदन क्रिया सम्बन्धी शक्ति विशेष है सो देतदत्त से अभिन्न ही है, भिन्न नहीं है । तैसे ही ज्ञान की क्रिया मे उपाध्याय, प्रकाश, पुस्तक आदि बाहरी उपकरण भिन्न हैं, तो हो, इसमें कोई**

दोष नहीं है। परन्तु ज्ञान शक्ति भिन्न नहीं है वह आत्मा से अभिन्न है। यदि ऐसा मानोगे कि भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञानी हो जाता है तब दूसरे के ज्ञान से अर्थात् भिन्न ज्ञान से सर्व ही कुम्भ, खंभा आदि जड़ पदार्थ भी ज्ञानी हो जायेंगे सो ऐसा होता नहीं। (णाण) ज्ञान (सयं) आप ही (परिणमदि) परिणमन करता है अर्थात् जब भिन्न ज्ञान से आत्मा ज्ञानी नहीं होता है तब जसे घट की उत्पत्ति मे मिट्टी का पिंड स्वयं उपादान-कारण से परिणमन करता है वैसे पदार्थों के जानने मे ज्ञान स्वय उपादानकारण से परिणमन करता है तथा (सव्वे अट्ठा) व्यवहारनय से सब ही ज्ञेय पदार्थ (णाणट्ठिया) ज्ञान में स्थित हैं अर्थात् जैसे दर्पण मे प्रतिबिम्ब पड़ता है तैसे ज्ञेय पदार्थ ज्ञानाकार से ज्ञान मे झलकते हैं, ऐसा अभिप्राय है ॥३५॥

अथ किं ज्ञानं किं ज्ञेयमिति व्यनक्ति—

तम्हा णाणं जीवो णेयं दव्वं तिहा समक्खादं।
[1]दव्वं ति पुणो आदा परं च परिणामसंबद्धं ॥३६॥

तस्मात् ज्ञान जीवो ज्ञेय द्रव्य त्रिधा समाख्यातम्।
द्रव्यमिति पुनरात्मा परश्च परिणामसबद्धः ॥३६॥

यतः परिच्छेदरूपेण स्वयं विपरिणम्य स्वतन्त्र एव परिच्छिनत्ति ततो जीव एव ज्ञानमन्यद्रव्याणां तथा परिणन्तु परिच्छेत्तु चाशक्ते। ज्ञेयं तु वृत्तवर्तमानवर्तिष्यमाण-विचित्रपर्यायपरम्पराप्रकारेण त्रिधाकालकोटिस्पर्शित्वादनाद्यनन्तं द्रव्यं, तत्तु ज्ञेयतामापद्य-मानं द्वेधात्मपरविकल्पात्। इष्यते हि स्वपरपरिच्छेदकत्वादवबोधस्य बोध्यस्यैवंविधं द्वैविध्यम्।

ननु स्वात्मनि क्रियाविरोधात् कथ नामात्मपरिच्छेदकत्वम्। का हि नाम क्रिया कीदृशश्च विरोधः। क्रिया ह्यत्र विरोधिनी समुत्पत्तिरूपा वा ज्ञप्तिरूपा वा। उत्पत्तिरूपा हि तावन्नैकं स्वस्मात्प्रजायत इत्यागमाद्विरुद्धैव। ज्ञप्तिरूपायास्तु प्रकाशनक्रिययैव प्रत्य-वस्थितत्वान्न तत्र विप्रतिषेधस्यावतारः। यथा हि प्रकाशकस्य प्रदीपस्य परं प्रकाश्य-तामापन्नं प्रकाशयत स्वस्मिन् प्रकाश्यते न प्रकाशान्तरं मृग्य, स्वयमेव प्रकाशनक्रियायाः समुपलम्भात्। तथा परिच्छेदकस्यात्मनः पर परिच्छेद्यतामापन्नं परिच्छिन्दत. स्वस्मिन् परिच्छेद्ये न परिच्छेदकान्तरं मृग्यं, स्वमेव परिच्छेदनक्रियायाः समुपलम्भात्।

ननु कुत आत्मनो द्रव्यज्ञानस्वरूपत्वं द्रव्याणां च आत्मज्ञेयरूपत्वं च। परिणामस-

---

1 दव्वति (ज० वृ०)।

बन्धत्वात् । यतः खलु आत्मा द्रव्याणि च परिणामैः सह संबध्यन्ते, तत आत्मनो द्रव्यालम्बनज्ञानेन द्रव्याणां तु ज्ञानमालम्ब्य ज्ञेयाकारेण परिणतिरबाधिता प्रतपति ।।३६।।

भूमिका—**अब क्या ज्ञान है और क्या ज्ञेय है, यह व्यक्त करते हैं—**

अन्वयार्थ—[तस्मात् जीव· ज्ञान] इस कारण से (पूर्व सूत्र अनुसार) आत्मा ही ज्ञान है। [ज्ञेय द्रव्य] ज्ञेय द्रव्य है (कि जो द्रव्य) [त्रिधा समाख्यात] (तीन काल की पर्याय की परिणति रूप से,) तीन प्रकार कहा गया है [द्रव्य इति पुन· आत्मा पर च] और वह ज्ञेय-भूत द्रव्य आत्मा स्व और पर है, (आत्मा के स्व-पर-द्रव्यो का जानपना और द्रव्यो के आत्मा का ज्ञेयरूपपना किस कारण से है ? उत्तर) [परिणामसबद्ध] वे अपने-अपने ज्ञान और ज्ञेय परिणामो से सम्बन्धित है—परिणाम वाले है । उस रूप परिणत होते हैं।

आत्मा और द्रव्य कूटस्थ नही है। वे समय-समय पर परिणमन किया करते है। इसलिये आत्मा ज्ञान-स्वभाव से और द्रव्य ज्ञेय-स्वभाव से परिणत होते है। इस प्रकार ज्ञान स्वभाव से परिणत आत्मा के ज्ञान के आलम्बनभूत द्रव्यो को जानता है और ज्ञेय-स्वभाव से परिणत द्रव्य, ज्ञेय के आलम्बनभूत ज्ञान मे (—आत्मा मे) ज्ञात होते है।

टीका—**क्योंकि पूर्व गाथा के कथनानुसार (जीव) ज्ञान रूप से स्वय परिणत होकर स्वतन्त्र ही जानता है इसलिये 'जीव ही ज्ञान है' क्योंकि अन्य द्रव्यो के इस प्रकार (ज्ञान रूप) परिणत होने के लिये तथा जानने के लिये असमर्थता है। ज्ञेय तो पहले वर्त चुकी (भूत) अब वर्त रही (वर्तमान) और आगे वर्तने वाली (भविष्यत्) ऐसी विचित्र (विभिन्न) पर्यायों की परम्परा के प्रकार से तीन प्रकार काल-कोटि को स्पर्शपना होने से, अनादि अनन्त द्रव्य है। ज्ञेयपने को प्राप्त हुआ वह द्रव्य आत्मा स्व और पर भेद से दो प्रकार है। वास्तव मे ज्ञान के स्व-पर का जानपना होने से ज्ञेय की इस प्रकार द्विविधता कही जाती है।**

प्रश्न—**अपने मे ही क्रिया (हो सकने) का विरोध होने से (आत्मा के) अपना ज्ञानपना कैसे है ? (अर्थात् ज्ञान स्वप्रकाशक कैसे है ?)**

उत्तर—**क्रिया क्या है और किस प्रकार का विरोध है ? यहाँ (प्रश्न मे) जो विरोधी क्रिया कही गई है वह या तो उत्पत्तिरूप क्रिया होगी या ज्ञप्ति रूप होगी। प्रथम, उत्पत्ति-रूप क्रिया, 'अकेला स्वयं अपने मे से उत्पन्न नहीं हो सकता' इस आगम-कथन अनुसार, विरुद्ध ही है। (परन्तु) ज्ञप्ति रूप क्रिया के, प्रकाशन क्रिया की भांति, उत्पत्ति क्रिया से**

विरुद्धपना (भिन्नपना) होने से विरोध का प्रसंग नहीं है। जैसे वास्तव में प्रकाश्यता को प्राप्त पर (द्रव्यों) को प्रकाशित करने वाले प्रकाशक दीपक के अपने प्रकाशित करने में, अन्य प्रकाशक को ढूंढने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि (उसके) स्वयमेव प्रकाशक क्रिया की प्राप्ति है (अर्थात् वह ज्ञान स्वयं प्रकाशमय है) इस ही प्रकार ज्ञेयता को प्राप्त पर (पदार्थों) को जानने वाले ज्ञाता आत्मा के अपने ज्ञेय में (अपने को जानने-पने में अन्य जानने वाले (ज्ञायक) को ढूंढने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि (उसके) स्वयमेव ज्ञान-क्रिया की प्राप्ति है (अर्थात् वह स्वयं ज्ञानमय है)। इससे सिद्ध हुआ कि ज्ञान स्व को भी जानता है।

प्रश्न—आत्मा के द्रव्यों की ज्ञानरूपता (जानपना) और द्रव्यों के आत्मा की ज्ञेय-रूपता (जानपना) किस कारण से है?

उत्तर—वे (ज्ञायक आत्मा और द्रव्य) परिणाम वाले होने से। क्योंकि वास्तव में आत्मा और द्रव्य परिणामों के साथ संबन्धित हैं, इसलिये आत्मा के, द्रव्य जिसका आलम्बन है ऐसे, ज्ञानरूप से परिणति और द्रव्यों के, ज्ञान को आलम्बन लेकर ज्ञेयाकार रूप से परिणति अबाधित रूप से बनती है।

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मा ज्ञान भवति शेष तु ज्ञेयमित्यावेदयति,—

तम्हा णाणं जीवो यस्मादात्मैवोपादानरूपेण ज्ञान परिणमति तथैव पदार्थान् परिच्छिनत्ति, इति भणित पूर्वसूत्रे। तस्मादात्मैव ज्ञान **णेय दव्व** तस्य ज्ञानरूपस्यात्मनो ज्ञेय भवति। किं? द्रव्यम्। **तिहा समक्खाद** तच्च द्रव्य कालत्रयपर्यायपरिणतिरूपेण द्रव्यगुणपर्यायरूपेण वा तथैवोत्पादव्ययध्रौव्य-रूपेण च त्रिधा समाख्यातम्। **दव्वत्ति पुणो आदा परं च** तच्च ज्ञेयभूत द्रव्यमात्मा भवति। परं च। कस्मात्? यतो ज्ञान स्व जानाति पर चेति प्रदीपवत्। तच्च स्वपरद्रव्य कथभूत? **परिणामसंबद्धं** कथचित्परिणामीत्यर्थ.। नैयायिकमतानुसारी कश्चिदाह—ज्ञान ज्ञानान्तरवेद्य प्रमेयत्वात् घटादिवत् परिहारमाह-प्रदीपेन व्यभिचार, प्रदीपस्तावत्प्रमेय. परिच्छेद्यो ज्ञेयो भवति न च प्रदीपान्तरेण प्रकाश्यते, तथा ज्ञानमपि स्वयमेवात्मान प्रकाशयति न च ज्ञानान्तरेण प्रकाश्यते। यदि पुनर्ज्ञानान्तरेण प्रकाश्यते। तर्हि गगनावलम्बिनी महती दुर्निवारानवस्था प्राप्नोतीति सूत्रार्थ ॥३६॥

एव निश्चयश्रुतकेवलिव्यवहारश्रुतकेवलिकथनमुख्यत्वेन भिन्नज्ञाननिराकरणेन ज्ञानज्ञेयस्व-रूपकथनेन च चतुर्थस्थले गाथाचतुष्टय गतम्।

उत्थानिका—आगे बताते है कि आत्मा ज्ञान रूप है तथा अन्य सर्व ज्ञेय है अर्थात् ज्ञान और ज्ञेय का भेद प्रगट करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—क्योंकि आत्मा ही अपने उपादान रूप से ज्ञानरूप परिणमन करता है तैसे ही पदार्थों को जानता है ऐसा पूर्व सूत्र में कहा गया है (तम्हा) इसलिये (जीव:) आत्मा ही (णाणं) ज्ञान है। (णेयं दव्व) उस ज्ञानस्वरूप आत्मा का ज्ञेय द्रव्य (तिहा) तीन प्रकार अर्थात् भूत, भविष्य, वर्तमान पर्याय मे परिणमन रूप से या द्रव्य गुण पर्याय रूप से या उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप से ऐसे तीन प्रकार (समक्खाद) कहा गया है। (पुणे) तथा (परिणामसंबद्धः) किसी अपेक्षा परिणमनशील (आदा च पर) आत्मा और पर द्रव्य (दव्वं ति) द्रव्य हैं तथा क्योंकि ज्ञान दीपक के समान अपने को भी जानता है और पर को भी जानता है इसलिये आत्मा भी ज्ञेय है।

यहां पर नैयायिक मत के अनुसार चलने वाला कोई कहता है कि ज्ञान दूसरे ज्ञान से जाना जाता है क्योंकि वह प्रमेय है जैसे घट आदि। अर्थात् ज्ञान स्वयं आपको नहीं जानता है। इसका समाधान करते हैं कि ऐसा कहना दीपक के साथ व्यभिचार रूप है। क्योंकि प्रदीप अपने आप प्रमेय या जानने योग्य ज्ञेय है उसके प्रकाश के लिये अन्य की आवश्यकता नहीं है। तैसे ही ज्ञान भी अपने आप ही अपने आत्मा को प्रकाश करता है उसके लिये अन्य ज्ञान के होने की जरूरत नही है। ज्ञान स्वयं स्व-पर-प्रकाशक है। यदि ज्ञान दूसरे ज्ञान से प्रकाशता है तब वह ज्ञान फिर दूसरे ज्ञान से प्रकाशता है ऐसा माना जायगा तो अनंत आकाश मे फैलने वाली व जिसका दूर करना अति कठिन है, ऐसी अनवस्था प्राप्त हो जायगी सो होना सम्मत नही है। इसलिये ज्ञान स्व-पर-प्रकाशक है, ऐसा सूत्र का अर्थ है।

इस तरह निश्चय श्रुतकेवली, व्यवहार–श्रुतकेवली के कथन की मुख्यता से आत्मा के ज्ञान स्वभाव के सिवाय भिन्न ज्ञान को निराकरण करते हुए तथा ज्ञान और ज्ञेय का स्वरूप कथन करते हुए चौथे स्थल में चार गाथाएं पूर्ण हुईं ॥३६॥

अथातिवाहितानागतानामपि द्रव्यपर्यायाणा तादात्विकवत् पृथक्त्वेन ज्ञाने वृत्तिमुद्योतयति—

तक्कालिगेव सव्वे सदसब्भूदा हि पज्जया तासिं।
वट्टंते ते णाणे विसेसदो दव्वजादीणं ॥३७॥

तात्कालिका इव सर्वे सदसद्भूता हि पर्यायतासाम्।
वर्तन्ते ते ज्ञाने विशेषतो द्रव्यजातीनाम् ॥३७॥

सर्वासामेव हि द्रव्यजातीनां त्रिसमयावच्छिन्नात्मलाभभूमिकत्वेन क्रमप्रतपत्स्वरूपसंपद. सद्भूतासद्भूततामायान्तो ये यावन्त. पर्यायास्ते तावन्तस्तात्कालिका इवात्यन्तसंकरे-

णाप्यवधारितविशेषलक्षणा एकक्षण एवावबोधसौधस्थितिमवतरन्ति । न खल्वेतदयुक्त-दृष्टाविरोधात् । दृश्यते हि छद्मस्थस्यापि वर्तमानमिव व्यतीतमनागतं वा वस्तु चिन्तयत· संविदालम्बितस्तदाकारः । किंच चित्रपटीस्थानीयत्वात् संविदः । यथा हि चित्रपटयामति-वाहितानामनुपस्थितानां वर्तमानानां च वस्तूनामालेख्याकाराः साक्षादेकक्षण एवावभासन्ते, तथा संविद्भित्तावपि । किंच सर्वज्ञेयाकाराणां तादात्विकत्वाविरोधात् । यथा हि प्रध्वस्ता-नामनुदितानां च वस्तूनामालेख्याकारा वर्तमाना एव, तथातीतानामनागतानां च पर्यायाणां ज्ञेयाकारा, वर्तमाना एव भवन्ति ॥३७॥

भूमिका—अब, अतीत (भूत) और अनागत (भविष्यत्) द्रव्यपर्यायों की भी, तात्-कालिक (वर्तमान) पर्यायों की भांति, पृथक् रूप से ज्ञान मे वृत्ति को उद्योत करते हैं (प्रगट करते है) (अतीत और अनागत पर्यायें ज्ञान मे वर्तमान पर्यायो की तरह देखी जाती है–ऐसा निरूपण करते है)—

अन्वयार्थ—[तासा द्रव्यजातीना] उन प्रसिद्ध जीवादिक द्रव्य जातियो की [ते सर्वे] वे समस्त [सदसद्भूता. पर्याया] सद्भूत (विद्यमान-वर्तमान) और असद्भूत (अविद्यमान भूत, भविष्यत्) पर्याये [तात्कालिका इव] वर्तमान पर्यायो की भाति [विशेषतः] विशेषता से (अपने-अपने भिन्नस्वरूप सहित) [ज्ञाने] केवलज्ञान मे [वर्तन्ते] वर्तती है प्रतिभासित होती है—स्फुरायमान होती है ।

टीका—वास्तव मे समस्त ही (जीवादिक) द्रव्य-जातियो की पर्यायो की उत्पत्ति की मर्यादा तीनो काल की मर्यादा जितनी होने से (वे तीनो कालो मे उत्पन्न हुआ करती हैं इसलिये) क्रम पूर्वक तपती हुई स्वरूप-सम्पदा वाली (एक के बाद दूसरी प्रगट होने वाली), विद्यमानता और अविद्यमानता को प्राप्त जो जितनी पर्यायें है, वे सब, अत्यन्त मिश्रित होने पर भी विशेष लक्षण को धारण किये हुए एक समय मे ही, वर्तमान कालीन पर्यायों की भांति, ज्ञान-मन्दिर मे स्थिति को प्राप्त होती हैं ।

यह (तीनो काल की पर्यायों का वर्तमान पर्यायों की भांति ज्ञान मे ज्ञात होना) अयुक्त (भी) नहीं है क्योंकि (१) (उसका) दृष्ट के साथ (जगत् में जो दिखाई देता है–अनुभव मे आता है उसके साथ) अविरोध है । (जगत् मे) दिखाई देता है कि जैसे वर्तमान वस्तु को चिन्तवन करते हुए छद्मस्थ के, ज्ञान उसके आकार का अवलम्बन करता है उसी प्रकार भूत, भविष्यत् वस्तु का चिन्तवन करते हुए छद्मस्थ के भी, ज्ञान उसके आकार का अवलम्बन करता है (जानता है)। (२) ज्ञान चित्रपट के समान है ।

जैसे वास्तव मे चित्रपट में अतीत, अनागत और वर्तमान वस्तुओं के आलेख्याकार (चित्र) साक्षात् एक क्षण में ही भासित होते हैं, इसी प्रकार ज्ञान-भित्ति में भी (ज्ञान भूमिका में भी, ज्ञान-पट में भी अतीत, अनागत और वर्तमान पर्यायों के ज्ञेयाकार साक्षात् एक क्षण मे ही भासित होते है) (३) सर्व ज्ञेयाकारों की तात्कालिकता (वर्तमानता) अविरुद्ध है। जैसे नष्ट और अनुत्पन्न वस्तुओं के आलेख्याकार वर्तमान ही हैं, इसी प्रकार अतीत और अनागत पर्यायों के ज्ञेयाकार वर्तमान ही हैं।

तात्पर्यवृत्ति

अथातीतानागतपर्याया वर्तमानज्ञाने साप्रता इव दृश्यन्त इति निरूपयति,—

सव्वे सवसब्भूदा हि पज्जया सर्वे सद्भूता असद्भूता अपि पर्याया ये हि स्फुट **वट्टंते** ते पूर्वोक्ता पर्याया वर्तन्ते प्रतिभासन्ते प्रतिस्फुरन्ति। क्व ? **णाणे** केवलज्ञाने। कथभूता इव ? **तक्कालिगेव** तात्कालिका इव वर्तमाना इव। कासा सम्बन्धिन ? **तासि दव्वजादीण** तासा प्रसिद्धाना शुद्धजीव-द्रव्यजातीनामिति। व्यवहित सम्बन्ध कस्मात् ? **विसेसदो** स्वकीयस्वकीयप्रदेशकालाकारविशेषै. सङ्करव्यतिकरपरिहारेणेत्यर्थ.।

किंच—यथा छद्मस्थपुरुषस्यातीतानागतपर्याया मनसि चिन्तयत प्रतिस्फुरन्ति, यथा च चित्रभित्तौ बाहुबलिभरतादिव्यतिक्रान्तरूपाणि श्रेणिकतीर्थंकरादिभाविरूपाणि च वर्तमानानीव प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते तथा चित्रभित्तिस्थानीयकेवलज्ञाने भूतभाविनश्च पर्याया युगपत्प्रत्यक्षेण दृश्यन्ते, नास्ति विरोध.। यथाय केवली भगवान् परद्रव्यपर्यायान् परिच्छित्तिमात्रेण जानाति न च तन्मयत्वेन, निश्चयेन तु केवलज्ञानादिगुणाधारभूत स्वकीयसिद्धपर्यायमेव स्वसवित्त्याकारेण तन्मयो भूत्वा परिच्छि-नत्ति जानाति, तथासन्नभव्यजीवेनापि निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयपर्याय एव सर्वतात्पर्येण ज्ञातव्य इति तात्पर्यम् ॥३७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि आत्मा के वर्तमान ज्ञान मे अतीत और अनागत पर्याये वर्तमान के समान दिखती है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(तासिं दव्वजादीणं) उन प्रसिद्ध शुद्ध जीव द्रव्यो की व अन्य द्रव्यों की (ते) वे पूर्वोक्त (सव्वे) सर्व (सवसब्भूदा) सद्भूत और असद्भूत अर्थात् वर्तमान और भूत तथा भविष्य काल की (पज्जया) पर्यायें (हि) निश्चय से या स्पष्ट रूप से (णाणे) केवलज्ञान में (विसेसदो) विशेष करके अर्थात् अपने-अपने प्रदेश, काल, आकार आदि भेदों के साथ संकर व्यतिकर दोष के बिना (तक्कालिगेव) वर्तमान पर्यायों के समान (वट्टंते) वर्तती हैं, अर्थात् प्रतिभासती हैं या स्फुरायमान होती हैं।**

भाव यह है कि जैसे छद्मस्थ अल्पज्ञानी मति श्रुतज्ञानी पुरुष के भी अंतरंग मे मन से विचारते हुए पदार्थों की भूत और भविष्य पर्यायें प्रगट होती हैं अथवा जैसे चित्र-

मयी भींत पर बाहुबलि भरत आदि के भूतकाल के रूप तथा श्रेणिक तीर्थंकर आदि भावी-काल के रूप वर्तमान के समान प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ते हैं तैसे भींत के चित्र समान केवलज्ञान मे भूत और भावी अवस्थाएँ भी एक साथ प्रत्यक्ष रूप से दिखाई पड़ती हैं इसमे कोई विरोध नहीं है। तथा जैसे यह केवली भगवान् परद्रव्यों की पर्यायों को उनके ज्ञानाकार मात्र से जानते हैं, तन्मय होकर नहीं जानते हैं, परन्तु निश्चय करके केवलज्ञान आदि गुणों का आधार भूत अपनी ही सिद्ध पर्याय को ही स्वसंवेदन या स्वानुभव रूप से तन्मयी हो जानते हैं, तैसे निकट भव्य जीव को भी उचित है कि अन्य द्रव्यों का ज्ञान रखते हुए भी अपने शुद्ध आत्म-द्रव्य की सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्र रूप निश्चयरत्नत्रयमयी अवस्था को ही सर्व तरह से तन्मय होकर जाने तथा अनुभव करे, यह तात्पर्य है।

भावार्थ—श्री सर्वज्ञदेव भूतकाल के निश्चित प्रमाण को और सर्व पर्यायों को जानते हैं। इससे भूतकाल का या भूत पर्यायों की आदि नहीं हो जाती, क्योंकि भूतकाल के निश्चित प्रमाण के मात्र ज्ञान हो जाने से भूतकाल का आदि अथवा भूत पर्यायों का आदि नही हो जाता। यदि प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय होने से आदि मान लिया जावे तो असत् द्रव्य के उत्पाद का अथवा ईश्वर-कर्तृत्व का प्रसंग आ जायगा। इसी प्रकार भविष्य पर्याय केवली द्वारा ज्ञात हो जाने से सब पर्यायें सर्वथा नियत या क्रमबद्ध नहीं हो जातीं क्योंकि सर्व पर्यायों को सर्वथा नियत मान लेने पर मोक्षमार्ग के उपदेश के अभाव का प्रसंग आ जायगा। दृष्टिवाद अङ्ग में सर्वज्ञ के द्वारा नियतिवाद एकान्त-मिथ्यात्व कहा गया है, उससे विरोध आ जायेगा। नियतिवाद एकान्त मिथ्यात्व का स्वरूप श्री पंचसंग्रह मे निम्न प्रकार कहा है—

> यदा यथा यत्र यतोऽस्ति येन यत्, तदा तथा तत्र ततोऽस्ति तेन तत्।
> स्फुट नियत्येह नियम्यमाणं, परो न शक्त किमपीह कर्तुम् ॥३१२॥

अर्थ—जिसका जहाँ जब जिस प्रकार जिससे जिसके द्वारा जो होना होता है तब तहाँ तिसका तिस प्रकार उससे उसके द्वारा वह होना नियत है। अन्य कोई कुछ नहीं कर सकता। ऐसा मानना एकान्त नियतिवाद मिथ्यात्व है।

> जत्तु जदा जेण जहा जस्स य णियमेण होदि तत्तु तदा।
> तेण तहा तस्स हवे इदिवादो णियदिवादो दु ॥८८२॥ [गो० क०]

अर्थ—जो जिस समय जिससे जैसे जिसके नियम से होता है वह उस समय उससे वैसे ही उसके ही होता है। ऐसा सब वस्तु मानना नियतिवाद एकान्त मिथ्यात्व है।

सर्व पर्यायों को सर्वथा नियत (क्रमबद्ध) मानने से सयम के अभाव का भी प्रसंग आता है। भोगभूमिया मनुष्यों में क्षायिकसम्यग्दृष्टि भी हैं, वज्रवृषभनाराच संहनन वाले भी हैं और शुभलेश्या वाले हैं फिर भी वे संयम धारण नहीं कर सकते, क्योंकि उनकी आहार पर्याय नियत है। यदि इसी प्रकार कर्मभूमिया आर्य मनुष्यों के भी आहार पर्याय नियत होती तो वे भी संयम धारण न कर सकते और सयम के अभाव से मोक्ष भी न होती। कर्म-भूमिया मनुष्यों की इच्छा पर निर्भर है कि वे दिन मे कई बार भोजन करें, रात को भी भोजन करें, अथवा एक-दो दिन या पक्ष मासोपवास करें। सप्त व्यसन को सेवन करें या उसका त्याग करें। यह सब कर्म-भूमिया मनुष्यो की इच्छा के अधीन है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि सर्व पर्यायें सर्वथा नियत नहीं हैं। इसलिए सर्वज्ञदेव ने नियतिवाद को मिथ्यात्व कहा है।

जो पर्याय जैसी है उसको उसी रूप से सर्वज्ञ जानता है। अनादि (जिसके काल की आदि नहीं है) उसको अनादि रूप से, अनन्त (जिसके क्षेत्र, संख्या या काल का अन्त नहीं है) उसको अनन्त रूप से और अनियत (जिसका काल नियत नहीं) उसको अनियत रूप से जानता है, इससे सर्वज्ञ की कुछ हानि नही होती है। अन्यथा जानने मे सर्वज्ञ व सम्यग्ज्ञान की हानि होती है।

अथासद्भूतपर्यायाणां कथचित्सद्भूतत्व विदधाति—

जे णेव हि [1]संजादा जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया।
ते होंति असब्भूदा[2] पज्जाया णाणपच्चक्खा ॥३८॥

ये नैव हि सजाता ये खलु नष्टा भूत्वा पर्यायाः।
ते भवन्ति असद्भूता पर्याया ज्ञानप्रत्यक्षा ॥३८॥

ये खलु नाद्यापि संभूतिमनु भवन्ति, ये चात्मलाभमनुभूय विलयमुपगतास्ते किलासद्भूता अपि परिच्छेदं प्रति नियतत्वात् ज्ञानप्रत्यक्षतामनुभवन्तः शिलास्तम्भोत्कीर्ण भूतभाविदेववदप्रकम्पार्पितस्वरूपाः सद्भूता एव भवन्ति ॥३८॥

भूमिका—अब, अविद्यमान (भूत भविष्यत्) पर्यायों की भी कथचित् (कोई प्रकार से, कोई अपेक्षा से) विद्यमान को बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—[ये पर्याया.] जो पर्याये [हि] वास्तव मे [नैव सजाता] उत्पन्न नही हुई हैं (भविष्य) तथा [ये पर्याया] जो पर्याये [खलु] वास्तव मे [भूत्वा नष्टा]

---

१ सजाया (ज० वृ०)। २ असब्भूया (ज० वृ०)।

उत्पन्न होकर नष्ट हो गई है (भूत) [ते असद्भूताः पर्यायाः] वे अविद्यमान (भूत, भविष्य) पर्याये [ज्ञानप्रत्यक्षाः भवन्ति] ज्ञान मे प्रत्यक्ष होती है।

टीका—जो (पर्यायें) अभी तक भी उत्पन्न नहीं हैं और जो उत्पन्न होकर नष्ट हो गई हैं, वास्तव मे अविद्यमान होने पर भी, ज्ञान के प्रति नियत होने से (ज्ञान में निश्चित ज्ञात होने से) ज्ञान में प्रत्यक्ष वर्तने वाली, पाषाण स्तम्भ में उत्कीर्ण भूत और भावी देवों की (मूर्ति) भांति, अपने स्वरूप को अकम्पतया (ज्ञान को) अर्पित करने के स्वरूप वाली, वे (पर्यायें) विद्यमान ही हैं। (भवन्ति क्रिया का कर्त्ता पर्यायें हैं) ॥३८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथातीतानागतपर्यायाणामसद्भूतसंज्ञा भवतीति प्रतिपादयति—

जे णेव हि संजाया जे खलु णट्ठा भवीय पज्जाया ये नैव संजाता नाद्यापि भवन्ति, भाविन इत्यर्थः। हि स्फुटं ये च खलु नष्टा विनष्टाः पर्यायाः। किं कृत्वा? भूत्वा ते होंति असब्भूया पज्जाया ते पूर्वोक्ता भूता भाविनश्च पर्याया अविद्यमानत्वादसद्भूता भण्यन्ते। णाणपच्चक्खा ते चाविद्यमानत्वादसद्भूता अपि वर्तमानज्ञानविषयत्वाद्व्यवहारेण भूतार्था भण्यन्ते, तथैव ज्ञानप्रत्यक्षाश्चेति। यथायं भगवान्निश्चयेन परमानन्दैकलक्षणसुखस्वभावं मोक्षपर्यायमेव तन्मयत्वेन परिच्छिनत्ति, परद्रव्यपर्यायं तु व्यवहारेणेति। तथा भावितात्मना पुरुषेण रागादिविकल्पोपाधिरहितस्वसंवेदनपर्याय एव तात्पर्येण ज्ञातव्यः, बहिर्द्रव्यपर्यायाश्च गौणवृत्त्येति भावार्थः ॥३८॥

उत्थानिका—आगे आचार्य दिखलाते है कि पूर्व गाथा मे जो असद्भूत शब्द कहा है वह संज्ञा भूत और भविष्यत् की पर्यायो को दी गई है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जे पज्जाया) जो पर्यायें (णेव हि संजाया) निश्चय से अभी नहीं पैदा हुई हैं (जो खलु भवीय णट्ठा) तथा जो निश्चय से होकर विनाश हो गई है (ते) वे भूत और भावी पर्यायें (असब्भूया) असद्भूत या अविद्यमान (पज्जाया) पर्याय (होंति) हैं, (णाण पच्चक्खा) परन्तु वे सर्व पर्यायें यद्यपि इस समय मे विद्यमान न होने से असद्भूत हैं तथापि वर्तमान केवलज्ञान का विषय होने से उपचार से भूतार्थ अर्थात् सत्यार्थ या सद्भूत कही जाती हैं क्योंकि वे सब ज्ञान मे प्रत्यक्ष हो रही हैं।

जैसे यह भगवान् केवलज्ञानी निश्चयनय से परमानंद एक लक्षणमयी सुख-स्वभाव रूप मोक्ष अवस्था या पर्याय को ही तन्मय होकर जानते हैं परन्तु परद्रव्य को व्यवहार नय से, तैसे ही आत्मा की भावना करने वाले पुरुष को उचित है कि वह रागादि विकल्पों की उपाधि से रहित स्वसंवेदन पर्याय को ही सर्व तरह से जाने और अनुभव करे तथा बाहरी द्रव्य और पर्यायों को गौण रूप से उदासीन रूप से जाने ॥३८॥

अथैतदेवासद्भूतानां ज्ञानप्रत्यक्षत्वं दृढ़यति—

जदि[1] पच्चक्खमजादं[2] पज्जायं पलयिदं[3] च णाणस्स ।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं त्ति हि के परूवेंति ॥३६॥

यदि प्रत्यक्षोऽजात पर्याय प्रलयितश्च ज्ञानस्य ।
न भवति वा तत् ज्ञान दिव्यमिति हि के प्ररूपयन्ति ॥३६॥

यदि खल्वसंभावितभावं संभावितभावं च पर्यायजातमप्रतिघविजृम्भिताखण्डित-प्रतापप्रभुशक्तितया प्रसभेनैव नितान्तमाक्रम्याक्रमसमर्पितस्वरूपसर्वस्वमात्मानं प्रतिनियतं ज्ञानं न करोति, तदा तस्य कुतस्तनी दिव्यता स्यात् । अतः काष्ठाप्राप्तस्य परिच्छेदस्य सर्वमेतदुपपन्नम् ॥३६॥

भूमिका—**अब, अविद्यमान (भूत, भविष्यत्) पर्यायो के इस ही (वर्तमान) ज्ञान प्रत्यक्षपने को दृढ़ करते हैं—**

अन्वयार्थ—[यदि] जो [अजात· पर्याय] अनुत्पन्न (भावी) पर्याय [च] तथा [प्रलयितः] नष्ट (भूत) पर्याय [ज्ञानस्य] केवलज्ञान के [प्रत्यक्ष न भवति] प्रत्यक्ष न हो तो [तत् ज्ञानं] वह ज्ञान [दिव्य] दिव्य है [इति] ऐसा [के प्ररूपयन्ति] कौन प्ररूपेगे (अर्थात् कोई नही कहेगे) ।

टीका—**जिसने अस्तित्व का अनुभव नहीं किया, और जो अस्तित्व का अनुभव कर चुकी है, तथा जिसने स्वरूप सर्वस्व को युगपत् समर्पित कर दिया है, ऐसे (अनुत्पन्न और नष्ट) पर्याय-समूह को, यदि वास्तव मे ज्ञान, निर्विघ्न विकसित अखण्डित प्रतापयुक्त शक्ति के द्वारा बलात् ही अत्यन्त आक्रान्त करके (प्राप्त करके), अपने नियत न करे (प्रत्यक्ष न जाने), तो उस ज्ञान की कौन सी दिव्यता होवे (अर्थात् कोई दिव्यता न होवे) । इससे (यह कहा गया है कि) पराकाष्ठा को प्राप्त ज्ञान के लिये यह सब योग्य (ही) है॥३६॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथासद्भूतपर्यायाणां वर्तमानज्ञानप्रत्यक्षत्व दृढयति,—

जइ पच्चक्खमजाय पज्जायं पलइयं च णाणस्स ण हवदि वा यदि प्रत्यक्षो न भवति । स क. ? अजातपर्यायो भाविपर्यायः । न केवल भाविपर्यायः प्रलयितश्च वा । कस्य ? ज्ञानस्य **त णाण दिव्वं त्ति हि के परूवेंति** तद्ज्ञान दिव्यमिति के प्ररूपयन्ति ? न केपीति । तथाहि—यदि वर्तमानपर्यायवदतीता-नागतपर्याय ज्ञान कर्तृ क्रमकरणव्यवधानरहितत्वेन साक्षात्प्रत्यक्ष न करोति, तर्हि तत् ज्ञान दिव्य न भवति । वस्तुतस्तु ज्ञानमेव न भवतीति । यथाय केवली परकीयद्रव्यपर्यायान् यद्यपि परिच्छित्तिमात्रेण जानाति तथापि निश्चयनयेन सहजानन्दैकस्वभावे स्वशुद्धात्मनि तन्मयत्वेन परिच्छित्तिं करोति, तथा निर्मलविवेकीजनोपि यद्यपि व्यवहारेण परकीयद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञान करोति, तथापि निश्चयेन निर्विकारस्वसंवेदनपर्याये विषयत्वात्पर्यायेण परिज्ञान करोतीति सूत्रतात्पर्यम् ॥३६॥

---

१ जइ (ज० वृ०) । २ पच्चक्खमजाय (ज० वृ०) । ३ पलइय (ज० वृ०) ।

उत्थानिका—आगे इसी बात को दृढ करते हैं कि असद्भूत पर्यायें ज्ञान मे प्रत्यक्ष है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि) यदि (अजादं) अनुत्पन्न—जो अभी पैदा नहीं हुई हैं ऐसी भावी (च पलइयं) तथा जो चली गई ऐसी भूत (पज्जायं) पर्याय (णाणस्स) केवलज्ञान के (पच्चक्खं) प्रत्यक्ष (ण हवदि) न हो (वा) तो (तं णाणं) उस ज्ञान को (दिव्वंत्ति) दिव्य अर्थात् अलौकिक अतिशय रूप (हि) निश्चय से (के) कौन (परूविंति) कहे ? अर्थात् कोई भी न कहें। भाव यह है कि यदि वर्तमान पर्याय की तरह भूत और भावी पर्याय को केवलज्ञान क्रमरूप इन्द्रियज्ञान के विधान से रहित हो साक्षात् प्रत्यक्ष न करे तो वह ज्ञान दिव्य न होवे। वस्तु स्वरूप की अपेक्षा विचार करें तो वह शुद्ध ज्ञान भी न होवे। जैसे यह केवली भगवान् पर द्रव्य व उसकी पर्यायों को यद्यपि ज्ञानमात्रपने से जानते हैं तथापि निश्चय करके सहज ही आनदमयी एक स्वभाव के धारी अपने शुद्ध तन्मयी पने से ज्ञान क्रिया करते हैं तैसे निर्मल विवेकी मनुष्य भी यद्यपि व्यवहार से परद्रव्य व उसके गुण पर्याय का ज्ञान करते हैं तथापि निश्चय से विकार रहित स्वसंवेदन पर्याय मे अपना विषय रखने से उसी पर्याय का ही ज्ञान या अनुभव करते हैं यह सूत्र का तात्पर्य है ॥३९॥**

अथेन्द्रियज्ञानस्यैव प्रलीनमनुत्पन्नं च ज्ञातुमशक्यमिति वितर्कयति—

[1]अत्थं अक्खणिवदिदं ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति।
तेसिं परोक्खभूदं णादुमसक्कं ति पण्णत्तं ॥४०॥

अर्थमक्षनिपतितमीहापूर्वैर्ये. विजानन्ति।
तेषा परोक्षभूत ज्ञातुमशक्यमिति प्रज्ञप्तम् ॥४०॥

ये खलु विषयविषयिसन्निपातलक्षणमिन्द्रियार्थसन्निकर्षमधिगम्य क्रमोपजायमानेनेहादिकप्रक्रमेण परिच्छिन्दन्ति, ते किलातिवाहितस्वास्तित्वकालमनुपस्थितस्वास्तित्वकालं वा यथोदितलक्षणस्य ग्राह्यग्राहकसंबन्धस्यासंभवत परिच्छेत्तुं न शक्नुवन्ति ॥४०॥

भूमिका—**अब, इन्द्रियज्ञान के द्वारा नष्ट और अनुत्पन्न को जानना अशक्य है, ऐसा न्याय से निश्चित करते हैं।**

अन्वयार्थ—[अक्षनिपतित] इन्द्रिय गोचर [अर्थ] पदार्थ को [ईहा-पूर्वै·] ईहा-पूर्वक [ये] [विजानन्ति] जानते है [तेषा] उनके [परोक्षभूत] परोक्षभूत पदार्थ को [ज्ञातु] जानना [अशक्य] अशक्य है, [इति प्रज्ञप्त] ऐसा कहा गया है।

---

१ अट्ठ (ज० वृ०)।

टीका—जो वास्तव में, विषय और विषयी का सन्निपात (सम्बन्ध होना) जिसका लक्षण है, ऐसे इन्द्रिय और पदार्थ के सन्निकर्ष को प्राप्त करके क्रम से उत्पन्न होने वाले ईहा आदि के क्रम से जानते हैं, वे वास्तव में, जिसका स्व-अस्तित्व काल बीत चुका है उस (भूत पदार्थ) को तथा जिसका स्व अस्तित्व काल उपस्थित नहीं हुआ है उस (भविष्यत् पदार्थ) को, यथोक्त (उपरोक्त) लक्षण वाले ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध के असम्भवता के कारण जानने के लिये समर्थ नहीं है ॥४०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथातीतानागतसूक्ष्मादिपदार्थानिन्द्रियज्ञान न जानातीति विचारयति,—

अट्ठं घटपटादिज्ञेयपदार्थं कथभूत ? अक्खणिवदिद अक्षनिपतित इन्द्रियप्राप्त इन्द्रियसबद्ध ईहापुव्वेहिं जे विजाणंति ईहापूर्वक ये विजानन्ति । अवग्रहेहावायादिक्रमेण ये पुरुषा विजानन्ति हि स्फुट तेसिं परोक्खभूदं तेषा सम्बन्धि ज्ञान परोक्षभूत सत् णादुमसक्कंति पण्णत सूक्ष्मादिपदार्थान् ज्ञातुमशक्यमिति प्रज्ञप्त कथितम् ।

कै· ? ज्ञानिभिरिति । तद्यथा—चक्षुरादीन्द्रिय घटपटादिपदार्थपार्श्वे गत्वा पश्चादर्थं जानातीति सन्निकर्षलक्षण नैयायिकमते । अथवा सक्षेपेणेन्द्रियार्थयो. सम्बन्ध सन्निकष स एव प्रमाणम् । स च सन्निकर्ष आकाशाद्यमूर्तपदार्थेषु देशान्तरितमेवादिपदार्थेषु कालान्तरितरामरावणादिषु स्वभावान्तरितभूतादिषु तथैवातिसूक्ष्मेषु परचेतोवृत्तिपुद्गलपरमाण्वादिषु च न प्रवर्तते । कस्मादितिचेत् इन्द्रियाणा स्थूलविषयत्वात्, तथैव मूर्तविषयत्वाच्च । तत. कारणादिन्द्रियज्ञानेन सर्वज्ञो न भवति । तत एव चातीन्द्रियज्ञानोत्पत्तिकारण रागादिविकल्परहित स्वसवेदनज्ञान विहाय पञ्चेन्द्रियसुखसाधनीभूत इन्द्रियज्ञाने नानामनोरथविकल्पजालरूपे मानसज्ञाने च ये रतिं कुर्वन्ति ते सर्वज्ञपद न लभन्ते इति सूत्राभिप्राय· ॥४०॥

उत्थानिका—आगे यह विचार करते है कि इन्द्रियो के द्वारा जो ज्ञान होता है वह भूत और भावी पर्यायो को तथा सूक्ष्म, दूरवर्ती आदि पदार्थो को नही जानता है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ–(जे) जो कोई छद्मस्थ (अक्खणिवदिद) इन्द्रिय गोचर (इन्द्रिय संबद्ध)(अट्टं) पदार्थ को (ईहापुव्वेहिं) ईहापूर्वक (विजाणंति) जानते हैं (तेसिं) उनका (परोक्खभूदं) परोक्ष भूतज्ञान (णादुं) जानने के लिये अर्थात् सूक्ष्म आदि पदार्थों को जानने के लिये (असक्कंति) अशक्य है ऐसा (पण्णत्त) कहा गया है । ज्ञानियों के द्वारा अथवा उनके ज्ञान से जो परोक्षभूत द्रव्य है वह उनके द्वारा जाना नहीं जा सकता । प्रयोजन यह है कि नैयायिकों के मत में चक्षु आदि इन्द्रिय घट-पट आदि पदार्थों के पास जाकर फिर पदार्थ को जानती हैं अथवा संक्षेप से इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध सन्निकर्ष है वह ही प्रमाण है । ऐसा सन्निकर्ष ज्ञान आकाश आदि अमूर्तिक पदार्थों मे, काल से दूर राम रावणादि में, स्वभाव से दूर भूत-प्रेत आदिकों मे तथा अतिसूक्ष्म पर के मन के विचार मे व पुद्गल

परमाणु आदिकों में नहीं प्रवर्तन कर सकता, क्योंकि इन्द्रियों का विषय स्थूल है तथा मूर्तिक पदार्थ है। इस कारण से इन्द्रियज्ञान के द्वारा सर्वज्ञ नहीं हो सकता। इसीलिये ही अतीन्द्रियज्ञान की उत्पत्ति का कारण जो रागद्वेषादि विकल्प रहित स्वसंवेदन ज्ञान है उसको छोड़कर पंचेन्द्रियों के सुख के कारण इन्द्रियज्ञान में तथा नाना मनोरथ के विकल्पजालस्वरूप मन सम्बन्धी ज्ञान मे जो प्रीति करते हैं वे सर्वज्ञ पद को नहीं पाते हैं, ऐसा सूत्र का अभिप्राय है ॥४०॥

अथातीन्द्रियज्ञानस्य तु यद्यदुच्यते तत्तत्संभवतीति संभावयति—

अपदेसं सपदेसं मुत्तममुत्तं च पज्जयमजादं।
पलयं गयं च जाणदि तं णाणमदिंदियं[1] भणियं ॥४१॥

अप्रदेश सप्रदेश मूर्तममूर्तं च पर्ययमजातम्।
प्रलय गत च जानाति तज्ज्ञानमतीन्द्रिय भणितम् ॥४१॥

इन्द्रियज्ञानं नाम उपदेशान्तःकरणेन्द्रियादीनि विरूपकारणत्वेनोपलब्धिसंस्कारादीन् अन्तरङ्गस्वरूपकारणत्वेनोपादाय प्रवर्तते। प्रवर्तमानं च सप्रदेशमेवाध्यवस्यति स्थूलोपलम्भकत्वान्नाप्रदेशम्। मूर्तमेवावगच्छति तथाविधविषयनिबन्धनसद्भावान्नामूर्तम्। वर्तमानमेव परिच्छिनत्ति विषयविषयिसन्निपातसद्भावान्न तु वृत्तं वर्त्स्यच्च। यत्तु पुनरनावरणमनिन्द्रियं ज्ञानं तस्य समिद्धधूमध्वजस्येवानेकप्रकारतालिङ्गित दाह्य दाह्यतानतिक्रमाद्दाह्यमेव यथा तथात्मनः अप्रदेशं सप्रदेशं मूर्तममूर्तमजातमतिवाहितं च पर्यायजातं ज्ञेयतानतिक्रमात्परिच्छेद्यमेव भवतीति ॥४१॥

भूमिका—अब, अतीन्द्रिय ज्ञान के लिये तो जो जो कहा जाता है वह सब सम्भव है इसको स्पष्ट करते हैं—

अन्वयार्थ—जो [अप्रदेश] अप्रदेशी को (कालाणु को), [सप्रदेश] बहुप्रदेशी को (पचास्तिकायो को) [मूर्तं] मूर्तिक को (पुद्गल द्रव्य को) [च] और [अमूर्तं] अमूर्तिक को (शेष पाँच द्रव्यो को) तथा [अजात] अनुत्पन्न (भावी) [च] और [प्रलय गत] नष्ट (अतीत) [पर्याय] पर्याय को [जानाति] जानता है, [तत् ज्ञान] वह ज्ञान [अतीन्द्रिय] अतीन्द्रिय [भणित] कहा गया है।

टीका—इन्द्रिय-ज्ञान, उपदेश-अन्तःकरण और इन्द्रिय आदि को विरूप कारणपने से (बहिरंगपने से) और उपलब्धि (क्षयोपशम) संस्कार आदि को अन्तरंगस्वरूप कारण

---

1 णाणमणिदिय (ज० वृ०)।

पने से ग्रहण करके प्रवर्तता है। (इस प्रकार) प्रवर्तता हुआ (वह ज्ञान) (१) सप्रदेशी को ही जानता है क्योंकि वह स्थूल को जानने वाला है, अप्रदेशी को नहीं जानता, (क्योंकि वह सूक्ष्म को जानने वाला नहीं है। (२) मूर्तिक को ही जानता है क्योंकि वैसे उसका (मूर्तिक) विषय के साथ सम्बन्ध का सद्भाव है, अमूर्तिक को नहीं जानता, (क्योंकि अमूर्तिक विषय के साथ सम्बन्ध का अभाव है, (३) वर्तमान को ही जानता, क्योंकि वहाँ ही विषय-विषयी के सन्निपात का सद्भाव है। भूत मे प्रवर्तित हो चुकने वाले को और भविष्य मे प्रवृत्त होने वाले को नहीं जानता, (क्योंकि भूत-भविष्य के साथ विषय-विषयी के सन्निकर्ष का अभाव है)।

जो अनावरण अनिन्द्रियज्ञान है उसके, जैसे प्रज्वलित अग्नि के अनेक प्रकारता को धारण करने वाला दाह्य (ईन्धन), दाह्यता का उल्लंघन न करने के कारण दाह्य ही है, वैसे (ही) अप्रदेशी, सप्रदेशी, मूर्तिक, अमूर्तिक तथा अनुत्पन्न एवं व्यतीत पर्याय समूह, अपनी ज्ञेयता का उल्लंघन न करने से, ज्ञेय ही हैं ॥४१॥

तात्पर्यवृत्ति

अथातीन्द्रियज्ञानमतीतानागतसूक्ष्मादिपदार्थान् जानातीत्युपदिशति,—

अपदेस अप्रदेश कालाणुपरमाण्वादि **सपदेस** शुद्धजीवास्तिकायादिपञ्चास्तिकायस्वरूप **मुत्त** मूर्त पुद्गलद्रव्य **अमुत्त च** अमूर्तं च शुद्धजीवद्रव्यादि **पज्जयमजादं पलय गय च** पर्यायमजात भाविन प्रलयं गत चातीतमेतत्सर्वं पूर्वोक्त ज्ञेय वस्तु **जाणदि** जानाति यद्ज्ञान कर्तृ **णाणमणिंदिय भणिय** तद्ज्ञानमतीन्द्रिय भणित तेनैव सर्वज्ञो भवति। तत एव च पूर्वगाथोदितमिन्द्रियज्ञान मानसज्ञान च त्यक्त्वा ये निर्विकल्पसमाधिरूपस्वसवेदनज्ञाने समस्तविभावपरिणामत्यागेन रतिं कुर्वन्ति त एव परमाह्लादैकलक्षणसुखस्वभाव सर्वज्ञपद लभन्ते इत्यभिप्राय ॥४१॥

एवमतीतानागतपर्याया वर्तमानज्ञाने प्रत्यक्षा न भवन्तीतीति बौद्धमतनिराकरणमुख्यत्वेन गाथात्रय, तदनन्तरमिन्द्रियज्ञानेन सर्वज्ञो न भवत्यतीन्द्रियज्ञानेन भवतीति नैयायिकमतानुसारिशिष्य-सबोधनार्थं च गाथाद्वयमिति समुदायेन पञ्चमस्थले गाथापञ्चक गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते है कि अतीन्द्रिय रूप केवलज्ञान ही भूत-भविष्य को व सूक्ष्म आदि पदार्थों को जानता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—जो ज्ञान (अपदेस) बहु प्रदेश-रहित कालाणु व परमाणु आदि को (सपदेस) बहु-प्रदेशी शुद्ध जीव को आदि ले पाँच अस्तिकायों के स्वरूप को (मुत्तं) मूर्तिक पुद्गल द्रव्य को (च अमुत्तं) और अमूर्तिक शुद्ध जीव आदि पाँच द्रव्यों को (आजावं) अभी नहीं उत्पन्न हुई होने वाली (च पलयं गयं) और छूट जाने वाली भूतकाल

की (पज्जयं) द्रव्यों की पर्यायों को इस सब ज्ञेय का (जाणदि) जानता है (तं णाणं) वह ज्ञान (अदिंदियं) अतीन्द्रिय (भणियं) कहा गया है।

इस ही से सर्वज्ञ होता है। इस कारण से पूर्व गाथा से कहे हुए इन्द्रियज्ञान तथा मानस को छोड़कर जो कोई विकल्प रहित समाधिमयी स्वसंवेदन ज्ञान में सब विभाव परिणामों को त्याग करके प्रीति व लयता करते हैं वे ही परम आनन्द है एक लक्षण जिसका ऐसे सुख स्वभावमयी सर्वज्ञपद को प्राप्त करते हैं, यह अभिप्राय है ॥४१॥

इस प्रकार अतीत व अनागत पर्यायें वर्तमान ज्ञान में प्रत्यक्ष नहीं होती हैं ऐसे बौद्धों के मत को निराकरण करते हुए तीन गाथाएं कहीं, उसके पीछे इन्द्रियज्ञान से सर्वज्ञ नहीं होता है किन्तु अतीन्द्रियज्ञान से होता है ऐसा कहकर नैयायिक मत के अनुसार चलने वाले शिष्य को समझाने के लिये गाथा दो, ऐसे समुदाय के पांचवें स्थल में पांच गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथ ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया ज्ञानान्न भवतीति श्रद्दधाति—

परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि णेव खाइगं[1] तस्स।
णाणं त्ति तं जिणिंदा खवयंतं कम्ममेवुत्ता ॥४२॥

परिणमति ज्ञेयमार्थं ज्ञाता यदि नैव क्षायिक तस्य।
ज्ञानमिति, त जिनेन्द्रा क्षपयन्त कर्मैवोक्तवन्तः ॥४२॥

परिच्छेत्ता हि यत्परिच्छेद्यमर्थं परिणमति तन्न तस्य सकलकर्मकक्षयप्रवृत्तस्वाभाविकपरिच्छेदनिदानमथवा ज्ञानमेव नास्ति तस्य। यत. प्रत्यर्थपरिणतिद्वारेण मृगतृष्णाम्भोभावसंभावनाकरणमानसः सुदुःसहं कर्मभारमेवोपभुञ्जानः स जिनेन्द्रैरुद्गीतः ॥४२॥

भूमिका—अब, ज्ञेय पदार्थ रूप परिणमन जिसका लक्षण है, ऐसी (ज्ञेयार्थ परिणमनस्वरूप) क्रिया (क्षायिक) ज्ञान से (उत्पन्न) नहीं होती है, यह श्रद्धा व्यक्त करते हैं—

अन्वयार्थ—[ज्ञाता] जानने वाला आत्मा [यदि] जो [ज्ञेय अर्थं] ज्ञेय पदार्थ रूप [परिणमति] परिणत होता है (राग-द्वेष सहित, सविकल्प रूप, क्रम-पूर्वक जानता है) तो [तस्य] उस आत्मा के [क्षायिक] क्षायिकज्ञान [न एव] नही है [अथवा ज्ञान न एव इति] अथवा ज्ञान ही नही है क्योकि [जिनेन्द्रा.] जिनेन्द्र देव [त] उस पुरुष को [कर्म एव] कर्म को ही [क्षपयन्त] अनुभव करने वाला [उक्तवन्त] कहते भये। अर्थात् जिनेन्द्रदेव ने कहा।

1 खाइय (ज० वृ०)।

टीका—जो ज्ञाता वास्तव में ज्ञेय पदार्थ रूप परिणत होता है (राग-द्वेष सहित, सविकल्प रूप, क्रम-पूर्वक जानता है) तो उसके सफल कर्म वन के क्षय से प्रवर्तमान स्वाभाविक जानपने के कारण (क्षायिक ज्ञान) नहीं है अथवा उसके ज्ञान ही नहीं है, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ रूप से परिणति के द्वारा, मृगतृष्णा में जलसमूह की कल्पना करने की भावना वाला वह (आत्मा) अत्यन्त दुःसह कर्म-भार को ही भोगने वाला है, ऐसा जिनेन्द्रों के द्वारा कहा गया है ॥४२॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ रागद्वेषमोहा: बन्धकारण, न च ज्ञानमित्यादिकथनरूपेण गाथापञ्चकपर्यन्त व्याख्यान करोति। तद्यथा—यस्येष्टानिष्टविकल्परूपेण कर्मबन्धकारणभूतेन ज्ञेयविषये परिणमनमस्ति तस्य क्षायिकज्ञान नास्तीत्यावेदयति।

—परिणमदि णेयमट्ठं णादा जदि नीलमिद पीतमिदमित्यादिविकल्परूपेण यदि ज्ञयार्थं परिणमति ज्ञातात्मा णेव खाइय तस्स णाणत्ति तस्यात्मन क्षायिकज्ञान नैवास्ति। अथवा ज्ञानमेव नास्ति। कस्मान्नास्ति ? त जिणिदा खवयत कम्ममेवुत्ता त पुरुष कर्मतापन्न जिनेन्द्रा' कर्तार' उक्तवन्त.। किं कुर्वन्त ? क्षपयन्तमनुभवन्त। किमेव ? कर्मैव निर्विकारसहजानन्दैकसुखस्वभावानुभवनशून्य. सन्नुदयागत स्वकीयकर्मैव स अनुभवन्नास्ते न च ज्ञानमित्यथ ।

अथवा द्वितीयव्याख्यानम्—यदि ज्ञाता प्रत्यर्थं परिणम्य पश्चादर्थं जानाति तदा अर्थानामानन्त्यात्सर्वपदार्थपरिज्ञाम नास्ति।

अथवा तृतीयव्याख्यानम्—बहिरङ्गज्ञेयपदार्थान् यदा छद्मस्थावस्थाया चिन्तयति तदा रागादिविकल्परहित स्वसंवेदनज्ञान नास्ति, तदभावे क्षायिकज्ञानमेव नोत्पद्यते इत्याभिप्राय ॥४२॥

उत्थानिका—आगे पाँच गाथाओ तक यह व्याख्यान करते है कि राग, द्वेष, मोह, बन्ध के कारण है, ज्ञान बध का कारण नही है। प्रथम ही कहते है कि जिससे ज्ञेय अर्थात् जानने योग्य पदार्थ मे कर्मबध का कारण रूप इष्ट तथा अनिष्ट विकल्प रूप से परिणमन है अर्थात् जो पदार्थों को इष्ट तथा अनिष्ट रूप से जानता है उनके क्षायिक अर्थात् केवलज्ञान नही होता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जदि) यदि (णादा) ज्ञाता आत्मा (णेयं अट्ठं) जानने योग्य पदार्थरूप (परिणमति) परिणमन करता है अर्थात् यह नील है, वह पीत है इत्यादि विकल्प उठाता है तो (तस्स) उस ज्ञानी आत्मा के (खाइयं णाणत्ति णेव) क्षायिकज्ञान नहीं ही है अथवा स्वाभिमान ज्ञान ही नहीं है। क्यों नहीं है इसका कारण कहते हैं कि (जिणिदा) जिनेन्द्रों ने (तं) उस सविकल्प जानने वाले को (कम्मं खवयंतं एव) कर्म का अनुभव करने वाला ही (उत्ता) कहा है। अर्थ यह है कि वह आत्मा विकार रहित स्वाभाविक आनन्दमयी एक सुख स्वभाव के अनुभव से शून्य होता हुआ उदय में आये हुए

अपने कर्म को ही अनुभव कर रहा है। ज्ञान को अनुभव नहीं कर रहा है। अथवा दूसरा व्याख्यान यह है कि यदि ज्ञाता प्रत्येक पदार्थ रूप परिणमन करके पीछे पदार्थ को जानता है तब पदार्थ अनन्त हैं इससे सर्व पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता। अथवा तीसरा व्याख्यान यह है कि जब छद्मस्थ अवस्था में यह बाहर के ज्ञेय पदार्थों का चितवन करता है तब रागद्वेषादि रहित स्वसंवेदन ज्ञान इसके नहीं है। स्वसंवेदन ज्ञान के अभाव में क्षायिकज्ञान भी नहीं पैदा होता है ऐसा अभिप्राय है ॥४२॥

अथ कुतस्तर्हि ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणा क्रिया तत्फलं च भवतीति विवेचयति—

उदयगदा[1] कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया।
तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बंधमणुभवदि ॥४३॥

उदयगता कर्मांशा जिनवरवृषभैः नियत्या भणिताः।
तेषु विमूढो रक्तो दुष्टो वा बन्धमनुभवति ॥४३॥

संसारिणो हि नियमेन तावदुदयगताः पुद्गलकर्मांशाः सन्त्येव। अथ स सत्सु तेषु संचेतयमानो मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यते। ततश्च (तत एव) क्रियाफलभूतं बन्धमनुभवति। अतो मोहोदयात् क्रियाक्रियाफले, न तु ज्ञानात् ॥४३॥

भूमिका—(यदि ऐसा है) तो फिर ज्ञेय पदार्थ रूप परिणमन जिसका लक्षण है, ऐसी (सविकल्परूप, राग-द्वेष सहित) क्रिया और उसका फल कहाँ से (किस कारण से) उत्पन्न होता है, यह विवेचन करते हैं—

अन्वयार्थ—[उदयगता कर्मांशा] (संसारी जीव के) उदय प्राप्त कर्म-अंश (मोहनीय पुद्गल कर्म की प्रकृति) [नियत्या] नियम से [जिनवरवृषभैः] जिनवर वृषभैः (तीर्थंकरों) के द्वारा [भणिता] कहे गये हैं। (जीव) [तेषु] उन कर्मांशों के उदय होने पर [विमूढ रक्त दुष्ट वा] मोही, रागी और द्वेषी होता हुआ [बन्ध अनुभवति] बन्ध को अनुभव करता है।

टीका—प्रथम तो, संसारी जीव के नियम से उदयगत पुद्गलकर्मांश होते ही हैं। वह संसारी जीव उन सत् रूप कर्मांशों (के उदय) में चेतता (अनुभव करता) हुआ, मोह-राग-द्वेष रूप परिणत होने से, ज्ञेय पदार्थों में परिणमन जिसका लक्षण है, ऐसी (विकल्पात्मक, क्रिया के साथ युक्त होता है। इसीलिये क्रिया के फलभूत बन्ध को अनुभव करता है। इससे (यह कहा है कि) मोह के उदय से ही क्रिया और क्रियाफल होते हैं, ज्ञान से नहीं ॥४३॥

---

१ उदयगया (ज० वृ०)।

तात्पर्यवृत्ति

अथानन्तपदार्थ परिच्छित्तिपरिणमनेऽपि ज्ञान बन्धकारण न भवति, न च रागादिरहितकर्मोदयोपीति निश्चिनोति,—

उदयगया कम्मंसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया उदयगता उदयं प्राप्ताः कर्मांशा ज्ञानावरणादिमूलोत्तरकर्मप्रकृतिभेदाः जिनवरवृषभैर्नियत्या स्वभावेन भणिताः, किन्तु स्वकीयशुभाशुभाफल दत्त्वा गच्छन्ति, न च रागादिपरिणामरहिता सन्तो बन्ध कुर्वन्ति। तर्हि कथ बन्ध करोति जीव इति चेत् ? **तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बन्धमणुभवदि** तेषु उदयागतेषु सत्सु कर्मांशेषु मोहरागद्वेषविलक्षणनिज शुद्धात्मतत्त्वभावनारहित सन् यो विशेषेण मूढो रक्तो दुष्टो वा भवति स. केवलज्ञानाद्यनन्तगुणव्यक्तिलक्षणमोक्षाद्विलक्षण प्रकृतिस्थित्यनुभागप्रदेशभेदभिन्न बन्धमनुभवति। ततः स्थितमेतत् ज्ञान बन्धकारण न भवति कर्मोदयोऽपि, किन्तु रागादयो बन्धकारणमिति ॥४३॥

उत्थानिका—आगे निश्चय करते हैं कि अनन्त पदार्थों को जानते हुए भी ज्ञान बन्ध का कारण नही है, और न रागादि रहित कर्मों का उदय ही बन्ध कारण है। अर्थात् नवीन कर्मों का बन्ध न ज्ञान से होता है न पिछले कर्मों के उदय से होता है किन्तु राग-द्वेष-मोह से बन्ध होता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(उदयगया) उदय में प्राप्त (कम्मंसा) कर्मांश अर्थात् ज्ञानावरणीय आदि मूल तथा उत्तर प्रकृति के भेद रूप कर्म्म (जिणवरवसहेहिं) जिनेन्द्र वीतराग भगवानों के द्वारा (णियदिणा) नियतपने रूप अर्थात् स्वभाव से काम करने वाले (भणिया) कहे गये हैं। अर्थात् जो कर्म उदय में आते हैं वे अपने शुभ, अशुभ फल को देकर चले जाते हैं वे नये बंध को नहीं करते यदि आत्मा मे रागादि परिणाम न हों तो फिर किस तरह जीव बंध को प्राप्त होता है। इसका समाधान करते हैं। कि (तेसु) उन उदय मे आए हुए कर्मों मे (हि) निश्चय से (विमूढो) मोहित होता हुआ (रत्तो) रागी होता (वा दुट्ठो) अथवा द्वेषी होता हुआ (बंधं) बंध को, (अणुभवदि) अनुभव करता है। जब कर्मों का उदय होता है तब तो जीव मोह-राग-द्वेष से विलक्षण निज शुद्ध आत्मतत्व की भावना से रहित होता हुआ विशेष करके मोही, रागी या द्वेषी होता है सो केवलज्ञान आदि अनंत गुणों में प्रगटता जहाँ हो जाती है ऐसे मोक्ष से विलक्षण प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश रूप चार प्रकार अधिक भोगता है अर्थात् उसके नए कर्म्म बन्ध जाते हैं। इससे यह ठहरा कि न ज्ञान बन्ध का कारण है न कर्मों का उदय बध का कारण है किन्तु रागादि भाव ही बंध के कारण हैं ॥४३॥

अथ केवलिनां क्रियापि क्रियाफलं न साधयतीत्यनुशास्ति—

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य णियदयो[1] तेसिं ।
अरहंताणं कालेमायाचारोव्व[2] इत्थीणं ॥४४॥

स्थाननिषद्याविहारा धर्मोपदेशश्च नियतयस्तेषाम् ।
अर्हतां काले मायाचार इव स्त्रीणाम् ॥४४॥

यथा हि महिलानां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्वभावभूत एव मायोपगुण्ठनागुण्ठितो व्यवहारः प्रवर्तते, तथाहि केवलिनां प्रयत्नमन्तरेणापि तथाविधयोग्यतासद्भावात् स्थानमासनं विहरणं धर्मदेशना च स्वभावभूता एव प्रवर्तन्ते । अपि चाविरुद्धमेतदम्भोधरदृष्टान्तात् । यथा खल्वम्भोधराकारपरिणतानां पुद्गलानां गमनमवस्थानं गर्जनमम्बुवर्षं च पुरुषप्रयत्नमान्तरेणापि दृश्यन्ते तथा केवलिनां स्थानादयोऽबुद्धिपूर्वका एव दृश्यन्ते, अतोऽमी स्थानादयो मोहोदयपूर्वकत्वाभावात् क्रियाविशेषा अपि केवलिना क्रियाफलभूतबन्धसाधनानि न भवन्ति ॥४४॥

भूमिका—अब, केवली भगवान् के क्रिया भी क्रियाफल (बन्ध) उत्पन्न नहीं करती, ऐसा उपदेश देते हैं—

अन्वयार्थ—[तेषा अर्हता] उन अरहन्त भगवन्तो के [काले] उस समय मे (यथा समय) [स्थाननिषद्याविहारा·] खडे होना, बैठना, विहार करना [च] और [धर्मोपदेश.] धर्मोपदेश [नियतय] स्वाभाविक ही (इच्छा या प्रयत्न बिना ही) होता है । [स्त्रीणा मायाचार इव] स्त्रियो के मायाचार की भाति ।

टीका—जैसे स्त्रियों के, प्रयत्न के बिना भी, उस प्रकार की योग्यता का सद्भाव होने से, स्वभाव से ही माया के ढक्कन से ढका हुआ व्यवहार प्रवर्तता है, उसी प्रकार केवलियों के, प्रयत्न के बिना भी उस प्रकार की योग्यता का सद्भाव होने से, खड़े रहना, बैठना, विहार करना और धर्म-देशना स्वभावभूत ही प्रवर्तते हैं । और यह (प्रयत्न के बिना विहार आदि का होना) बादल के दृष्टान्त से अविरुद्ध है । जैसे बादल के आकार रूप परिणत पुद्गलों का गमन, स्थिरता, गर्जन और जलवृष्टि पुरुष प्रयत्न के बिना भी देखी जाती है, उसी प्रकार केवलियों के खड़े रहना इत्यादि अबुद्धिपूर्वक ही (इच्छा के बिना ही) देखे जाते है । इसलिये यह स्थानादिक विशेष क्रिया भी (खड़े रहना, बैठना इत्यादि का व्यापार) मोहोदय पूर्वक न होने से, केवलियों के क्रिया के फलभूत-बंध की साधन नहीं होती ॥४४॥

---

१ णियदओ (ज० वृ०) । २ मायाचारो व (ज० वृ०) ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ केवलिनां रागाद्यभावाद्धर्मोपदेशादयोपि बन्धकारण न भवन्तीति कथयति—

ठाणणिसेज्जविहारा धम्मुवदेसो य स्थानमूर्ध्वस्थितिर्निषद्या चासन श्री विहारो धर्मोपदेशश्च **णियदओ** एते व्यापारा नियतय स्वभावा अनीहिता केषा ? **तेसिं अरहंताणं** तेषामर्हंता निर्दोषिपरमात्मना । क्व ? **काले** अर्हंदवस्थायां । क इव ? **मायाचारो व इत्थीणं** मायाचार इव स्त्रीणामिति । तथाहि—यथा स्त्रीणां स्त्रीवेदोदयसद्भावात्प्रयत्नाभावेऽपि मायाचार प्रवर्तते, तथा भगवता शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतमोहोदयकार्येहापूर्वप्रयत्नाभावेपि श्रीविहारादय प्रवर्तन्ते । मेघाना स्थानगमनगर्जनजलवर्षणादिवद्वा । तत. स्थितमेतत् मोहाद्यभावात् क्रियाविशेषा अपि बन्धकारण न भवन्तीति ॥४४॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि केवली अरहत भगवानो के तेरहवे सयोग केवली गुणस्थान मे रागद्वेष आदि विभावो का अभाव है । इसलिये धर्मोपदेश विहार आदि भी बध का कारण नही होता है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(तेसिं अरहंताण) उन केवलज्ञान के धारी निर्दोष जीवन्मुक्त सशरीर अरहंत परमात्माओं के (काले) अर्हंत अवस्था में (ठाणणिसेज्जविहारा) ऊपर उठना अर्थात् खड़े होना, बैठना, विहार करना (धम्मुवदेसो य) और धर्मोपदेश इतने व्यापार (णियदयः) स्वभाव से होते हैं । इन कार्यों के करने में केवली भगवान् की इच्छा नहीं प्रेरक होती है, मात्र पुद्गल कर्म का उदय प्रेरक होता है (इच्छीणं) स्त्रियों के भीतर (मायाचारोव) जैसे स्वभाव से कर्म के उदय के असर से मायाचार होता है ।**

भाव यह है कि जैसे स्त्रियो के स्त्रीवेद के उदय के कारण से प्रयत्न के बिना भी मायाचार रहता है तैसे भगवान् अर्हंतो के शुद्ध आत्मतत्व के विरोधी मोह के उदय से होने वाली इच्छापूर्वक उद्योग के बिना भी समवशरण मे बैठना, विहार आदिक होते हैं अथवा जैसे मेघों का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना, ठहरना, गर्जना, जल का वर्षना आदि स्वभाव से होता है, तैसे जानना । इससे यह सिद्ध हुआ कि मोह-राग-द्वेष के अभाव होते हुए विशेष क्रियायें भी बन्ध की कारण नहीं होती हैं ॥४४॥

अथैव सति तीर्थकृतां पुण्यविपाकोऽकिंचित्कर एवेत्यवधारयति—

पुण्णफला अरहंता तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया ।
मोहादीहिं विरहिदा[1] तम्हा सा खाइग[2] त्ति मदा ॥४५॥

पुण्यफला अर्हन्तस्तेषा क्रिया पुनर्हि औदयिकी ।
मोहादिभि विरहिता तस्मात् सा क्षायिकीति मता ॥४५॥

अर्हन्तः खलु सकलसम्यक्परिपक्वपुण्यकल्पपादपफला एव भवन्ति । क्रिया तु तेषां या काचन सा सर्वापि तदुदयानुभावसंभावितात्मसंभूतितया किलौदयिक्येव । अथैवंभूतापि सा

---

१ विरहिया २ खाइयत्ति ।

समस्तमहामोहमूर्द्धाभिषिक्तस्कन्धावारस्यात्यन्तक्षये संभूतत्वान्मोहरागद्वेषरूपाणामुपरञ्ज-कानामभावाच्चैतन्यविकारकारणतामनासादयन्ती नित्यमौदयिकी कार्यभूतस्य बन्धस्याका-रणभूततया कार्यभूतस्य मोक्षस्य कारणभूततया च क्षायिक्येव । कथं हि नाम नानुमन्येत ? अथानुमन्येत चेत्तर्हि कर्मविपाकोऽपि न तेषां स्वभावविघाताय ॥४५॥

भूमिका—**ऐसा होने पर, तीर्थंकरों के पुण्य का विपाक अकिंचित्कर है (स्वभाव का किंचित् भी घात नहीं करता है) ऐसा अब निश्चित करते हैं—**

अन्वयार्थ—[अर्हन्त·] अरहन्त भगवान् [पुण्यफल] (तीर्थंकर नामा) पुण्यप्रकृति के फल है [पुन] और [तेषा क्रिया] उनकी क्रिया [हि] निश्चय से [औदयिकी] औदयिकी है। [मोहादिभि विरहिता] (क्योकि वह क्रिया) मोहादि से रहित है [तस्मात्] इसलिये [सा] वह [क्षयिकी] क्षायिकी [इति मता] मानी गई है ।

टीका—**अरहन्त भगवान् वास्तव मे समस्त भली भांति परिपक्व पुण्य रूपी कल्पवृक्ष के फल ही है । उनकी जो भी क्रियाये हैं, वे सब उस (पुण्य) के उदय के प्रभाव से उत्पन्न होने के कारण औदयिकी ही हैं । ऐसा होने पर भी, वह (औदयिकी क्रिया) महामोह राजा की समस्त सेना के सर्वथा क्षय होने पर उत्पन्न होने से (तथा) मोह-राग-द्वेष रूपी उप-रंजकों का अभाव होने से, चैतन्य के विकार का कारण नहीं होती हुई नित्य औदयिकी है, तो भी कार्यभूत बध की अकारणभूतता से और कार्यभूत मोक्ष की कारणभूतता से क्षायिकी ही क्यों न मानी जाय ? (अवश्य ही मानी जाव) जब क्षायिकी ही मानें तब कर्मविपाक (कर्मोदय) भी उनके (अरहन्तों के) स्वभाव के विघात के लिए (विघात का कारण) नहीं है (यह निश्चित होता है) ॥४५॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वं यदुक्त रागादिरहितकर्मोदयो बन्धकारण न भवति विहारादिक्रिया च, तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढयति—

पुण्णफला अरहंता पञ्चमहाकल्याणपूजाजनक त्रैलोक्यविजयकर यत्तीर्थकरनाम पुण्यकर्म तत्फलभूता अर्हन्तो **भवन्ति तेसिं किरिया पुणो हि ओदइया** तेषा या दिव्यध्वनिरूपवचनव्यापारादि-क्रिया सा निःक्रियशुद्धात्मतत्त्वविपरीतकर्मोदयजनितत्वात्सर्वाप्यौदयिकी भवति हि स्फुट। **मोहादीहिं विरहिया** निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वप्रच्छादकममकाराहङ्कारोत्पादनसमर्थमोहादिविरहितत्वाद्यत **तम्हा सा खाइयत्ति मदा** तस्मात् सा यद्यप्यौदयिकी तथापि निर्विकारशुद्धात्मतत्त्वस्य विक्रियामकुर्वती सती क्षायिकी मता ।

अत्राह शिष्य·—'औदयिका भावा बन्धकारणम्' इत्यागमवचन तर्हि वृथा भवति। परिहारमाह–औदयिका भावा बन्धकारण भवन्ति, पर किन्तु मोहोदयसहिता· । द्रव्यमोहोदयेऽपि

सति यदि शुद्धात्मभावनाबलेन भावमोहेन न परिणमति तदा बन्धो न भवति। यदि पुन कर्मोदय-मात्रेण बन्धो भवति तर्हि ससारिणा सर्वदेव कर्मोदयस्य विद्यमानत्वात्सर्वदेव बन्ध एव न मोक्ष इत्यभिप्राय: ॥४५॥

उत्थानिका—आगे पहले जो कह चुके हैं कि रागादि-रहित कर्मों का उदय तथा विहार आदि क्रियाबंध का कारण नही होती है, उस ही अर्थ को और भी दूसरे प्रकार से दृढ करते हैं। अथवा यह बताते हैं कि अरहतो के पुण्य कर्म का उदय बन्ध का कारण नही है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(अरहंता) तीर्थंकरस्वरूप अरहंत भगवान् (पुण्णफला) पुण्य के फलस्वरूप हैं—अर्थात् पंच महाकल्याणक की पूजा को उत्पन्न करने वाला तथा तीन लोक को जीतने वाला जो तीर्थंकर नाम पुण्यकर्म उसके फलस्वरूप अर्हंत तीर्थंकर होते हैं। (पुणो) तथा (तेसिं) उन अरहंतों की (किरिया) क्रिया अर्थात् दिव्य-ध्वनि रूप वचन का व्यापार तथा विहार आदि शरीर का व्यापार रूप क्रिया (हि) प्रगट रूप से (ओदइया) औदयिक है अर्थात् क्रिया रहित जो शुद्ध आत्मतत्व उससे विपरीत को कर्म उसके उदय से हुई है। (सा) वह क्रिया (मोहादीहिं) मोहादिकों से अर्थात् मोह रहित शुद्ध आत्मतत्व के रोकने वाले तथा ममकार अहंकार के पैदा करने को समर्थ मोह आदि से (विरहिया) रहित है (तम्हा) इसलिये (खाइय त्ति) क्षायिक है अर्थात् विकार रहित शुद्ध आत्मतत्व के भीतर कोई विकार को न करती हुई क्षायिक ऐसी (मदा) मानी गई है।

यहाँ पर शिष्य ने प्रश्न किया कि जब आप कहते हैं कि कर्मों के उदय से क्रिया होकर भी क्षायिक है अर्थात् क्षय रूप है, नवीन बन्ध नहीं करती तब क्या जो आगम का वचन है कि "औदयिका: भावा: बन्धकारणम्" अर्थात् औदयिक भाव बन्ध के कारण हैं, वृथा हो जायेगा? इस शंका का समाधान आचार्य करने हैं कि औदयिक भाव बन्ध के कारण होते हैं, यह बात ठीक है परन्तु वे बन्ध के कारण तब ही होते हैं जब वे मोह भाव के उदय सहित होते हैं। कदाचित् किसी जीव के द्रव्य मोह कर्म सम्यक्त्वप्रकृति का उदय हो तथापि जो वह शुद्ध आत्मा की भावना के बल से मोह रूप अर्थात् मिथ्यात्व रूप भाव न परिणमन करे तो बन्ध नहीं होवे और यहाँ अर्हंतों के तो द्रव्यमोह का सर्वथा अभाव ही है। यदि माना जाय कि कर्मों के उदय मात्र से बन्ध हो जाता है तब तो संसारी जीवों के सदा ही कर्मों के उदय से सदा ही बन्ध रहेगा कभी भी मोक्ष न होगा। सो ऐसा कभी नहीं हो सकता इसलिये मोह के उदय के बिना क्रियाबन्ध नहीं करती किन्तु जिस

कर्म के उदय से जो क्रिया होती है वह कर्म झड़ जाता है। इसलिए उस क्रिया को क्षायिकी कह सकते हैं, ऐसा अभिप्राय है।

भावार्थ—इस गाथा मे भी आचार्य महाराज ने इसी बात को बतलाया है कि मिथ्यात्व व चारित्रमोह का उदय ही बन्ध का कारण है। आत्मा की भावना के बल से मिथ्यात्व और सम्यक्मिथ्यात्व प्रकृतियाँ अपने रूप उदय में नहीं आतीं किन्तु सम्यक्त्व-प्रकृति रूप (जो दर्शनमोह की प्रकृति है) संक्रमण कर उदय में आती है जिससे मोहरूप अर्थात् मिथ्यात्वरूप भाव नहीं होते। यदि मिथ्यात्व का उदय हो तो मिथ्यात्वरूप भाव है।

अथ केवलिनामिव सर्वेषामपि स्वभावविघाताभावं निषेधयति—

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सयं सहावेण।
संसारो वि ण [1]विज्जदि सव्वेसिं जीवकायाणं ॥४६॥

यदि स शुभो वा अशुभो न भवति आत्मा स्वय स्वभावेन।
ससारोऽपि न विद्यते सर्वेषा जीवकायानाम् ॥४६॥

यदि खल्वेकान्तेन शुभाशुभभावस्वभावेन स्वयमात्मा न परिणमते तदा सर्वदैव सर्वथा निर्विघातेन शुद्धस्वभावेनैववातिष्ठते। तथा च सर्व एव भूतग्रामाः समस्तबन्धसाधनशून्यत्वादाजवंजवाभावस्वभावतो नित्य-मुक्ततां प्रतिपद्येरन्। तच्च नाभ्युपगम्यते। आत्मनः परिणामधर्मत्वेन स्फटिकस्य जपातापिच्छरागस्वभावत्वत् शुभाशुभस्वभावत्वद्योतनात् ॥४६॥

भूमिका—अब, केवलियों की तरह समस्त संसारी जीवों के भी स्वभाव-विघात होने के अभाव को निषेध करते हैं (अर्थात् क्रिया सब संसारी जीवों के स्वभाव की घातक होती है, यह बताते हैं)।

अन्वयार्थ—[यदि] जो (यह माना जाय कि) [स आत्मा] वह आत्मा [स्वयं] स्वय [स्वभावेन] स्व-भाव से (अपने भाव से) [शुभ वा अशुभ.] शुभ या अशुभ [न भवति] नही होता (शुभ अशुभ भाव मे परिणत ही नही होता) तो [सर्वेषा जीवकायाना] तो समस्त जीवनिकायो के [ससार अपि] ससार भी [न विद्यते] विद्यमान नही है अर्थात् ससार ही न रहेगा (ऐसा सिद्ध होगा)।

टीका—जो वास्तव में एकान्त से (यह माना जाय कि) शुभ-अशुभभाव रूप स्व-भाव से (अपने भाव से) आत्मा स्वयं परिणत नहीं होता, तब तो वह सदा ही सर्वथा निर्विघात शुद्ध स्वभाव से ही अवस्थित है। ऐसा होने पर, समस्त जीव समूह समस्त बन्ध

१ विज्जइ (ज० वृ०)

कारणों से रहित सिद्ध होने से, संसार के अभाव रूप स्वभाव के कारण नित्य-मुक्तता को प्राप्त हो जायेंगे (नित्य-मुक्त सिद्ध होगे) किन्तु ऐसा स्वीकार नहीं किया जा सकता, क्योंकि आत्मा के परिणमन धर्म के कारण (परिणमनशील होने के कारण) शुभ-अशुभ, निज-भावपना प्रकाशित (प्रगट) है, "स्फटिकमणि के जपाकुसुम और तमाल-पुष्प के रङ्ग-निज-भावपने (निज परिणाम) की तरह ।"

भावार्थ—जैसे स्फटिकमणि लाल और काले फूल के निमित्त से लाल और काले निज भाव से परिणत होती है, उसी प्रकार आत्मा कर्मोपाधि के निमित्त से शुभ-अशुभ निजभाव रूप से परिणत होता है ।।४६।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ यथार्हता शुभाशुभपरिणामविकारो नास्ति तथैकान्तेन ससारिणामपि नास्तीति साख्य-मतानुसारिशिष्येण पूर्वपक्षे कृते सति दूषणद्वारेण परिहार ददाति—

जदि सो सुहो व असुहो ण हवदि आदा सय सहावेण यथैव शुद्धनयेनात्मा शुभाशुभाभ्या न परिणमति तथैवाशुद्धनयेनापि स्वय स्वकीयोपादानकारणेन स्वभावेनाशुद्धनिश्चयरूपेणापि यदि न परिणमति तदा । किं दूषण भवति । **ससारोवि ण विज्जइ** निस्ससारशुद्धात्मस्वरूपात्प्रतिपक्षभूतो व्यवहारनयेनापि ससारो न विद्यते । केषा ? **सव्वेसिं जीवकायाण** सर्वेषा जीवसघातानामिति ।

तथाहि—आत्मा तावत्परिणामी स च कर्मोपाधिनिमित्ते सति स्फटिकमणिरिवोपाधि गृह्णाति, ततः कारणात्ससाराभावो न भवति । अथ मत—ससाराभाव साख्याना दूषण न भवति, भूषणमेव । नैवम् । ससाराभावो हि मोक्षो भण्यते, स च ससारिजीवानी न दृश्यते, प्रत्यक्षविरोधादिति भावार्थ. ।।४६।।

एव रागादयो बन्धकारण न च ज्ञानमित्यादिव्याख्यानमुख्यत्वेन षष्ठस्थले गाथापञ्चकं गतम् ।

उत्थानिका—आगे जैसे अरहतो के शुभ व अशुभ परिणाम के विकार नही होते तो एकान्त से ससारी जीवो के भी नही होते, ऐसे साख्यमत के अनुसार चलने वाले शिष्य ने अपना पूर्वपक्ष किया, उसको दूषण देते हुए समाधान करते है—अथवा केवली भगवानो की तरह सर्व ही संसारी जीवो के स्वभाव के घात का अभाव है, इस बात का निषेध करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जदि) यदि (सो आदा) वह आत्मा (सहावेण) स्वभाव से (सयं) आप ही (सुहो) शुभ परिणामरूप (व असुहो) अथवा अशुभ परिणाम रूप (ण हवदि) नहीं होता है । अर्थात् 'जैसे शुद्धनय करके आत्मा शुभ या अशुभभावों से नहीं परिणन करता है तैसे ही अशुद्धनय से भी स्वयं अपने ही उपादानकारण से अर्थात् स्वभाव से अथवा अशुद्धनिश्चय से भी यदि शुभ या अशुभभावरूप नहीं परिणमन करता है । ऐसा यदि माना जावे तो क्या दूषण आयेगा, उसके लिये कहते हैं कि (सव्वेसिं

जीवकायाणं) सर्व ही जीव-समूहों को (संसारो वि ण विज्जइ) संसार अवस्था ही नहीं रहेगी। अर्थात् संसार रहित शुद्ध आत्मस्वरूप से प्रतिपक्षी जो संसार सो व्यवहारनय से नहीं रहेगा।

भाव यह है कि आत्मा परिणमनशील है। वह कर्मों की उपाधि के निमित्त से स्फटिकमणि की तरह उपाधि को ग्रहण करता है इस कारण संसार का अभाव नहीं है। अब कोई शंकाकार कहता है कि सांख्यों के यहां संसार का अभाव होना दूषण नहीं है किन्तु भूषण ही है ? उसका समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं है। क्योंकि ससार के अभाव को ही मोक्ष कहते है सो मोक्ष ससारी जीवों के भीतर नहीं दिखलाई पड़ता है, इसलिये प्रत्यक्ष मे विरोध आता है। ऐसा भाव है ॥४६॥

इस तरह यह बताया कि राग-द्वेष-मोह बन्ध के कारण हैं, ज्ञान बन्ध का कारण नहीं है इत्यादि कथन करते हुये छठे स्थल मे पांच गाथाएँ पूर्ण हुईं।

अथ पुनरपि प्रकृतमनुसृत्यातीन्द्रियज्ञान सर्वज्ञत्वेनाभिनन्दति—

जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्तविसमं तं णाणं [1]खाइगं भणियं ॥४७॥

यत्तात्कालिकामितर जानाति युगपत्समन्तत सर्वम्।
अर्थं विचित्रविषम तत् ज्ञान क्षायिक भणितम् ॥४७॥

तत्कालकलितवृत्तिकमतीतोदर्ककालकलितवृत्तिकं चाप्येकपद एव समन्ततोऽपि सकलमप्यर्थजात पृथक्त्ववृत्तस्वलक्षणलक्ष्मीकटाक्षितानेकप्रकारव्यञ्जितवैचित्र्यमितरेतरविरोधघापितासमानजातीयत्वोद्दामितवैषम्यं क्षायिकं ज्ञानं किल जानीयात्। तस्य हि क्रमप्रवृत्तिहेतुभूतानां क्षयोपशमावस्थावस्थितज्ञानावरणीयकर्मपुद्गलानामत्यन्ताभावात्तात्कालिकमतात्कालिकवाप्यर्थजातं तुल्यकालमेव प्रकाशेत। सर्वतो विशुद्धस्य प्रतिनियतदेशविशुद्धेरन्त.प्लवनात् समन्ततोऽपि प्रकाशेत। सर्वावरणक्षयाद्देशावरणक्षयोपशमस्यानवस्थानात्सर्वमपि प्रकाशेत। सर्वप्रकारज्ञानावरणीयक्षयादसर्वप्रकारज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विलयनाद्विचित्रमपि प्रकाशेत। असमानजातीयज्ञानावरणक्षयात्समानजातीयज्ञानावरणीयक्षयोपशमस्य विनाशनाद्विषममपि प्रकाशेत। अलमथवातिविस्तरेण, अनिवारितप्रसरप्रकाशशालितया क्षायिकज्ञानमवश्यमेव सर्वदा सर्वत्र सर्वथा सर्वमेव जानीयात् ॥४७॥

भूमिका—अब, पुनः प्रकृत (चालू विषय) को अनुसरण करके अतीन्द्रियज्ञान को सर्वज्ञपने से अभिनन्दन करते हैं (अतीन्द्रियज्ञान सबका ज्ञाता है, इस प्रकार उसकी प्रशंसा करते हैं) :—

---

१ खाइय (ज० वृ०)

अन्वयार्थ—[यत्] जो [युगपत्] एक ही साथ [समन्तत] सर्वत (सर्व आत्म-प्रदेशों से) [तात्कालिक] तात्कालिक (वर्तमानकालीन) [इतर] या अतात्कालिक (भूत भविष्यत्) [विचित्र] विचित्र (अनेक प्रकार के) और [विषम] विषम (मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन आदि असमान जाति के) [सर्वं अर्थं] समस्त पदार्थों को [जानाति] जानता है [तत् ज्ञान] वह ज्ञान [क्षायिक भणित] क्षायिक कहा गया है।

टीका—(१) वर्तमान काल मे वर्तते, (२) भूत-भविष्यत् काल मे वर्तते, (३) जिनमें पृथक् रूप से वर्तते स्वलक्षण रूप लक्ष्मी से आलोकित अनेक प्रकारों के कारण वैचित्र्य प्रगट हुआ है, (४) और जिनमें परस्पर विरोध से उत्पन्न होने वाली असमान जातीयता के कारण वैषम्य प्रगट हुआ है, ऐसे (चार विशेषण वाले) समस्त पदार्थ समूह को एक समय में ही (युगपत्), सर्वतः (सर्व आत्म प्रदेशों से) क्षायिकज्ञान वास्तव में जानता है।

इसी बात को युक्तिपूर्वक स्पष्ट रूप से समझाते हैं—(१) उस (केवलज्ञान) के वास्तव में क्रम-प्रवृत्ति के हेतु भूत, क्षयोपशम अवस्था में रहने वाले ज्ञानावरणीय कर्म-पुद्गलों का अत्यन्त अभाव होने से (वह क्षायिकज्ञान) तात्कालिक या अतात्कालिक पदार्थ-समूह को समकाल में (युगपत्) ही प्रकाशित करता है। (२) सर्वतः (सर्व प्रदेशो से) विशुद्ध (उस क्षायिक ज्ञान) के प्रतिनियत प्रदेशों की विशुद्धि (सर्वतः विशुद्धि) के भीतर डूब जाने से, (वह क्षायिक ज्ञान) सर्वतः (सर्व आत्म-प्रदेशों से) ही प्रकाशित करता है। (३) सर्व आवरण का क्षय होने से, देश आवरण रूप क्षयोपशम के न रहने से (वह क्षायिकज्ञान) सबको भी प्रकाशित करता है (४) सर्व प्रकार ज्ञानावरणीय के क्षय से असर्व प्रकार के ज्ञानावरणीय के क्षयोपशम के नाश होने से (वह क्षायिकज्ञान) विचित्र को (अनेक प्रकार के पदार्थों को) भी प्रकाशित करता है। (५) असमानजातीय ज्ञानावरण के क्षय से समान जातीय ज्ञानावरण के क्षयोपशम के नष्ट हो जाने से, (वह क्षायिकज्ञान) विषम को भी (असमानजाति के पदार्थों को भी) प्रकाशित करता है।

सार—अथवा, अतिविस्तार से बस हो जिसका अनिवारित (रुकावट रहित फैलाव है) ऐसे प्रकाश स्वभावी होने से, क्षायिकज्ञान अवश्य ही सर्वदा (सर्वकालीन त्रिकालीन), सर्वत्र (सब क्षेत्र के लोक-अलोक के) सब पदार्थ को सर्वथा (सम्पूर्णरूप से) जाने अर्थात् जानता है।

तात्पर्यवृत्ति

अथ प्रथम तावात् केवलज्ञानमेव सर्वज्ञस्वरूप, तदनन्तर सर्वपरिज्ञाने सति एकपरिज्ञान, एकपरिज्ञाने सति सर्वपरिज्ञानमित्यादिकथनरूपेण गाथापञ्चकपर्यन्त व्याख्यान करोति। तद्यथा—अत्र ज्ञानप्रपञ्चव्याख्यान प्रकृत तावत्तत्प्रस्तुतमनुसृत्य पुनरपि केवलज्ञान सर्वज्ञत्वेन निरूपयति—

ज यज्ज्ञान कर्तृ जाणदि जानाति । क ? अत्थ अर्थ पदार्थमिति विशेष्यपदं । किं विशिष्ट ? तक्कालियमिदर तात्कालिक वर्तमानमितर चातीतानागतम् । कथ जानाति ? जुगव युगपदेकसमये समतदो समन्तत: सर्वात्मप्रकारेण वा । कतिसख्योपेत ? सव्व समस्त । पुनरपि किंविशिष्ट ? विचित्त नानाभेदभिन्न । पुनरपि किरूप ? विसम मूर्तामूर्तचेतनाचेतनादिजात्यन्तरविशेषैर्विसदृश त णाणं खाइयं भणिय यदेव गुणविशिष्ट ज्ञानं तत्क्षायिक भणितत् । अभेदनयेन तदेव सर्वज्ञस्वरूपं तदेवोपादेय-भूतानन्तसुखाद्यनन्तगुणानामाधारभूत सर्वप्रकारोपादेयरूपेण भावनीयम् । इति तात्पर्यम् ॥४७॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि केवलज्ञान ही सर्वज्ञ का स्वरूप है । आगे कहेगे कि सर्वज्ञ को जानते हुए एक का ज्ञान होता है तथा एक को जानते हुए सर्व का ज्ञान होता है । इस तरह पाँच गाथाओ तक व्याख्यान करते है । उनमे से प्रथम ही निरूपण करते है क्योकि यहाँ ज्ञान प्रपच के व्याख्यान की मुख्यता है, इसलिये उस ही को आगे लेकर फिर कहते है कि केवलज्ञान सर्वज्ञरूप है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जं) **जो ज्ञान (समंतदो) सर्व प्रकार से आत्मा के प्रदेशों से (विचित्तं विसम) नाना भेदरूप अनेक जाति के मूर्त-अमूर्त, चेतन-अचेतन, आदि (सव्वं अत्थं) सर्व पदार्थों को (तक्कालिगं) वर्तमान काल सम्बन्धी तथा (इतरं) भूत, भविष्यत् काल सम्बन्धी पर्यायों सहित (जुगवं) एक समय में व एक साथ (जाणदि) जानता है । (तं णाणं) उस ज्ञान को (खाइय) क्षायिक (भणियं) कहा है । अभेद नय से वही सर्वज्ञ का स्वरूप है इसलिये वही ग्रहण करने योग्य अनन्त सुख आदि अनन्त गुणों का आधारभूत सब तरह से प्राप्त करने योग्य है, इस रूप से भावना करनी चाहिए । यह तात्पर्य है ॥४६॥**

अथ सर्वमजानन्नेकमपि न जानातीति निश्चिनोति—

जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे तिहुवणत्थे ।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगं वा ॥४८॥

यो न विजानाति युगपदर्थान् त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान् ।
ज्ञातु तस्य न शक्य सपर्यय द्रव्यमेक वा ॥४८॥

इह किलैकमाकाशद्रव्यमेक धर्मद्रव्यमेकमधर्मद्रव्यमसख्येयानि कालद्रव्याण्यनन्तानि जीवद्रव्याणि । ततोऽप्यनन्तगुणानि पुद्गलद्रव्याणि । तथैषामेव प्रत्येकमतीतानागतानुभूयमानभेदभिन्ननिरवधिवृत्तिप्रवाहपरिपातिनोऽनन्ता. पर्याया: । एवमेतत्समस्तमपि समुदित ज्ञेयं, इहैवैकं किंचिज्जीवद्रव्यं ज्ञातृ । अथ यथा समस्तं दाह्यं दहन् दहन: समस्त दाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनाकारमात्मानं परिणमति, तथा समस्तं ज्ञेयं जानन् ज्ञाता समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकारं चेतनत्वात्

स्वानुभवप्रत्यक्षमात्मानं परिणमति। एवं किल द्रव्यस्वभावः। यस्तु समस्तं ज्ञेय न जानाति स, समस्तं दाह्यमदहन् समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनाकारमात्मानं दहन इव समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकज्ञानाकारमात्मानं चेतनत्वात् स्वानुभवप्रत्यक्षत्वेऽपि न परिणमति। एवमेतदायाति यः सर्वं न जानाति स आत्मानं न जानाति ॥४८॥

भूमिका—अब, सबको नहीं जानता हुआ एक (आत्मा) को भी नहीं जानता है, यह निश्चय करते हैं—

अन्वयार्थ—[यः] जो [युगपत्] एक ही साथ [त्रैकालिकान् त्रिभुवनस्थान्] त्रैकालिक त्रिभुवनस्थ (तीनो काल के और तीनो लोक के) [अर्थात्] पदार्थों को [न विजानाति] नही जानता है [तस्य] उसके [सपर्यय] पर्याय सहित [एक द्रव्य वा] एक (आत्मा) द्रव्य भी [ज्ञातु न शक्य] जानना शक्य नही है।

टीका—इस विश्व में वास्तव मे एक आकाश द्रव्य, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, असंख्य कालद्रव्य और अनन्त जीवद्रव्य तथा उससे भी अनन्तगुणे पुद्गलद्रव्य हैं। उनमे से प्रत्येक के अतीत अनागत और वर्तमान ऐसे (तीन) प्रकारों से भेदवाली निरवधि (अमर्यादित) वृत्ति प्रवाह के भीतर पड़ने वाली अनन्त पर्यायें हैं। इस प्रकार यह समस्त ही (द्रव्यों और पर्यायो का) समुदाय ज्ञेय है। उनमे ही कोई एक भी जीव द्रव्य ज्ञाता है। अब यहां, जैसे समस्त (इंधन) को जलाती हुई अग्नि, समस्त दाह्यकहेतुक (समस्त दाह्य के निमित्त से होने वाले) समस्त दाह्याकार (ईंधन आकार) पर्याय रूप परिणत सकल एक दहन जिसका आकार (स्वरूप) है, ऐसे अपने रूप परिणत होती है, वैसे ही समस्त ज्ञेय को जानता हुआ ज्ञाता (आत्मा), समस्त-ज्ञेय-हेतुक (समस्त ज्ञेय के निमित्त से होने वाले) समस्त ज्ञेयाकार पर्याय रूप परिणत सकल एक ज्ञान जिसका आकार (स्वरूप) है तथा जो चेतनपने के कारण स्वानुभव–प्रत्यक्ष है, ऐसे उस अपने आत्मा रूप परिणत होता है। वास्तव में ऐसा द्रव्य का स्वभाव है। जैसे समस्त दाह्य को न दहती हुई अग्नि, समस्त-दाह्य-हेतुक समस्त दाह्याकार पर्यायरूप परिणत सकल एक दहन जिसका आकार है, ऐसे अपने रूप में परिणत नहीं होती, उसी प्रकार जो समस्त ज्ञेय को नहीं जानता है, वह आत्मा, समस्त-ज्ञेय-हेतुक समस्त ज्ञेयाकार पर्यायरूप परिणत सकल एक ज्ञान जिसका आकार है, ऐसे अपने रूप में–स्वयं चेतनपने के कारण स्वानुभव प्रत्यक्ष होने पर भी परिणत नहीं होता, (अपने को परिपूर्णतया अनुभव नहीं करता—नहीं जानता)। इस

प्रकार यह फलित होता है कि जो सबको नहीं जानता वह अपने को (आत्मा को) नहीं जानता ॥४८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ य सर्वं न जानाति स एकमपि न जानातीति विचारयति—

जो ण विजाणदि य कर्ता नैव जानाति । कथ ? **जुगव** युगपदेकक्षणे । कान् ? **अत्थे** अर्थान् । कथभूतान् ? **तिक्कालिगे** त्रिकालपर्यायपरिणतान् । पुनरपि कथंभूतान् ? **तिहुवणत्थे** त्रिभुवनस्थान् **णादुं तस्स ण सक्कं** तस्य पुरुषस्य सम्बन्धिज्ञान ज्ञातु समर्थ न भवति । किं ? **दव्व** ज्ञेयद्रव्य । किंविशिष्ट ? **सपज्जय** अनन्तपर्यायसहित । कतिसख्योपेत ? **एग वा** एकमपीति ।

तथाहि—आकाशद्रव्य तावदेक, धर्मद्रव्यमेक, तथैवाधर्मद्रव्य च, लोकाकाशप्रमितासख्येयकालद्रव्याणि, ततोऽनन्तगुणानि जीवद्रव्याणि, तेभ्योऽप्यनन्तगुणानि पुद्गलद्रव्याणि । तथैव सर्वेषा प्रत्येकमनन्तपर्याया, एतत्सर्वं ज्ञेय तावत्तत्रैक विवक्षित जीवद्रव्य ज्ञात भवति । एवं तावद्वस्तुस्वभाव । तत्र तथा दहन समग्र दाह्य दहन् सन् समस्तदाह्यहेतुकसमस्तदाह्याकारपर्यायपरिणतसकलैकदहनस्वरूपमुष्णपरिणततृणपर्णाद्याकारमात्मान **स्वकीयस्वभाव** परिणमति । तथायमात्मा समस्त ज्ञेय जानन् सन् समस्तज्ञेयहेतुकसमस्तज्ञेयाकारपर्यायपरिणतसकलैकाखण्डज्ञानरूप स्वकीयमात्मान परिणमति जानाति परिच्छिनत्ति । तथैव च स एव दहन पूर्वोक्तलक्षण दाह्यमदहन् सन् तदाकारेण न परिणमति, तथात्मापि पूर्वोक्तलक्षण समस्त ज्ञेयमजानन् पूर्वोक्तलक्षणमेव सकलैकाखण्डज्ञानाकार स्वकीयमात्मान न परिणमति न जानाति न परिच्छिनत्ति । अपरमप्युदाहरण दीयते – यथा कोऽप्यन्धक आदित्यप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन्नादित्यमिव, प्रदीपप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन् प्रदीपमिव, दर्पणस्थविम्बान्यपश्यन् दर्पणमिव-स्वकीयदृष्टिप्रकाश्यान् पदार्थानपश्यन् हस्तपादाद्यवयवपरिणत स्वकीयदेहाकारमात्मानं स्वकीयदृष्टया न पश्यति, तथाय विवक्षितात्मापि केवलज्ञानप्रकाश्यान् पदार्थानजानन सकलाखण्डैककेवलज्ञानरूपमात्मानमपि न जानाति । तत एतत्स्थित य सर्वं न जानाति स आत्मानमपि न जानातीति ॥४८॥

उत्थानिका—आगे आचार्य विचारते है कि जो ज्ञान सबको नही जानता वह ज्ञान एक पदार्थ को भी नही जान सकता है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जो) **जो कोई आत्मा (जुगवं) एक समय में (तिक्कालिगे) तीन काल की पर्यायों मे परिणमन करने वाले (तिहुवणत्थे) तीन लोक मे रहने वाले (अत्थे) पदार्थों को (ण विजाणदि) नहीं जानता है। (तस्स) उस आत्मा का ज्ञान (सपज्जयं) अनन्त पर्याय सहित (एकं दव्वं) एक द्रव्य को (वा) भी (णादु) जानने के लिये (ण सक्क) नही समर्थ होता है ।**

भाव यह है कि आकाश द्रव्य एक है, धर्मद्रव्य एक है, तथा अधर्मद्रव्य एक है और लोकाकाश के प्रदेशों के प्रमाण असंख्यात कालद्रव्य हैं, उससे अनन्तगुणे जीवद्रव्य है, उससे भी अनन्त-गुणे पुद्गल द्रव्य है, क्योंकि एक-एक जीवद्रव्य मे अनन्तकर्म वर्गणाओं का सम्बन्ध है तैसे ही अनन्त नोकर्मवर्गणाओ का सम्बन्ध है । तैसे ही इन सब द्रव्यों में

प्रत्येक द्रव्य की अनन्तपर्यायें होती हैं क्योंकि काल के समय पुद्गलद्रव्य से भी अनन्तानन्त गुणे हैं। यह सब ज्ञेय—जानने योग्य हैं और इनमें एक कोई भी विशेष जीवद्रव्य ज्ञाता जानने वाला है। ऐसा ही वस्तु का स्वभाव है। यहाँ जैसे अग्नि सब जलाने योग्य ईंधन को जलाती हुई सब जलाने योग्य कारण के होते हुए सब ईंधन के पर्याय में परिणमन करते हुए सर्वमयी एक अग्निस्वरूप हो जाती है अर्थात् वह अग्नि उष्णता मे परिणत तृण व पत्तों आदि के आकार अपने स्वभाव को परिणमाती है। तैसे यह आत्मा सर्व ज्ञेयो को जानता हुआ सर्व ज्ञेयों रूप कारण के होते हुए सर्व ज्ञेयाकार की पर्याय मे परिणमन करते हुए सर्वमयी एक अखडज्ञानरूप अपने ही आत्मा को परिणमाता है अर्थात् सबको जानता है, और जैसे वही अग्नि पूर्व मे कहे हुए ईंधन को नहीं जलाती हुई उस ईंधन के आकार नहीं परिणमन होती है तैसे ही आत्मा भी पूर्व मे कहे हुए सर्व ज्ञेयों को न जानता हुआ पूर्व में कहे हुए लक्षण रूप सर्व को जानकर एक अखड ज्ञानाकार रूप अपने ही आत्मा को नहीं परिणमाता है अर्थात् सर्व का ज्ञाता नहीं होता। दूसरा भी एक उदाहरण देते हैं। जैसे कोई अन्धा पुरुष सूर्य से प्रकाश ने योग्य पदार्थों को नहीं देखता, दीपक से प्रकाश ने योग्य पदार्थों को न देखता हुआ दीपक को भी नहीं देखता, दर्पण मे झलकती हुई परछाई को न देखते हुए दर्पण को भी नहीं देखता, अपनी ही दृष्टि से प्रकाश-ने योग्य पदार्थों को न देखता हुआ हाथ, पैर आदि अंग रूप अपने ही देह के आकार को अर्थात् अपने को अपनी दृष्टि से नहीं देखता है। तैसे इस प्रकरण में प्राप्त कोई आत्मा भी केवलज्ञान से प्रकाशने योग्य पदार्थों को नहीं जानता हुआ सकल अखड एक केवलज्ञानरूप अपने आत्मा को नहीं जानता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो सबको नहीं जानता है वह अपने आत्मा को भी नहीं जानता है।

विशेष—यदि यहाँ पर कोई शंका करे कि ६ माह ८ समय मे ६०८ जीव मोक्ष जाते रहते हैं। जीवों से काल अनन्तगुणा है, अतः सब भव्य जीव मोक्ष चले जावेंगे। सो यह शंका ठीक नहीं है। ऐसा नियम है कि सब वस्तु प्रतिपक्ष सहित होती हैं। इसलिये सब भव्य जीवों के मुक्त हो जाने पर भव्य जीवों का अभाव हो जायगा। भव्य जीवों के अभाव होने पर उनके प्रतिपक्षी अभव्य जीवो का भी अभाव हो जायगा। भव्य और अभव्य जीवों का अभाव होने पर संसारी जीवों का भी अभाव हो जायगा। संसारी जीवो का अभाव होने पर उनके प्रतिपक्षी मुक्त जीवों का भी अभाव हो जायगा। इस प्रकार जीव मात्र के अभाव का प्रसंग आ जायगा। [धवल पु० १४ पृ० २३३–३४] ॥

श्री पंचास्तिकाय गाथा ८ में भी 'सप्पडिवक्खा हवइ' शब्दों द्वारा इस सिद्धान्त का समर्थन होता है कि सब सप्रतिपक्ष हैं। अतः 'नियति' भी अपने प्रतिपक्ष अनियति की अपेक्षा रखती है। यदि अनियत पर्यायों का अभाव माना जायगा तो नियत पर्यायों का भी अभाव हो जायगा। नियत और अनियत पर्यायों के अभाव से पर्याय मात्र का अभाव हो जायगा, और पर्याय मात्र के अभाव हो जाने से द्रव्य के अभाव का प्रसंग आ जायगा। अतः पर्यायें नियत और अनियत दोनों प्रकार की हैं ॥४८॥

अथैकमजानन् सर्वं न जानातीति निश्चिनोति—

दव्वं अणंतपज्जयमेगमणंताणि दव्वजादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं [1]किध सो सव्वाणि जाणादि ॥४९॥

द्रव्यमनन्तपर्यायमेकमनन्तानि द्रव्यजातानि।
न विजानाति यदि युगपत् कथं स सर्वाणि जानाति ॥४९॥

आत्मा हि तावत्स्वयं ज्ञानमयत्वे सति ज्ञातृत्वात् ज्ञानमेव। ज्ञानं तु प्रत्यात्मवर्ति प्रतिभासमयं महासामान्यम्। तत्तु प्रतिभासमयानन्तविशेषव्यापि। ते च सर्वद्रव्यपर्याय-निबन्धनाः। अथ यः सर्वद्रव्यपर्यायनिबन्धनानन्तविशेषव्यापिप्रतिभासमयमहासामान्यरूप-मात्मानं स्वानुभवप्रत्यक्षं न करोति स कथं प्रतिभासमयमहासामान्यव्याप्यप्रतिभासमयानन्त-विशेषनिबन्धनभूतसर्वद्रव्यपर्यायान् प्रत्यक्षीकुर्यात्। एवमेतदायाति य आत्मानं न जानाति स सर्वं न जानाति। अथ सर्वज्ञानादात्मज्ञानमात्मज्ञानात्सर्वज्ञानमित्यवतिष्ठते। एवं च सति ज्ञानमयत्वेन स्वसंचेतकत्वादात्मनो ज्ञातृज्ञेययोर्वस्तुत्वेनान्यत्वे सत्यपि प्रतिभासप्रतिभास्य-मानयोः स्वस्यामवस्थायामन्योन्यसंवलनेनात्यन्तमशक्यविवेचनत्वात्सर्वमात्मनि निखातमिव प्रतिभाति। यद्येवं न स्यात् तदा ज्ञानस्य परिपूर्णात्मसंचेतनाभावात् परिपूर्णस्यैकस्यात्म-नोऽपि ज्ञानं न सिद्ध्येत् ॥४९॥

भूमिका—अब, एक को न जानने वाला सबको नहीं जानता, यह निश्चित करते हैं—

अन्वयार्थ—[यदि] जो [अनन्तपर्यायं] अनन्त पर्याय वाले [एकं द्रव्यं] एक द्रव्य को (आत्मद्रव्य को) [न विजानाति] नही जानता [स] तो वह [युगपत्] एक ही साथ [सर्वाणि अनन्तानि-द्रव्यजातानि] सर्व अनन्त द्रव्य जातियो को [कथं जानाति] कैसे जान सकेगा (अर्थात् नही जान सकता)।

टीका—पहले तो आत्मा वास्तव मे स्वयं ज्ञानमय होने पर ज्ञातृत्व के कारण ज्ञान ही है। प्रत्येक आत्मा मे रहने वाला ज्ञान प्रतिभासमय महा-सामान्य है। वह

(1) कध (ज० वृ०)।

प्रतिभासमय अनन्त विशेषों में व्याप्त होने वाला है। और वे (अनन्त विशेष) सर्व द्रव्य-पर्याय-निमित्तक हैं। जो पुरुष सर्व द्रव्य पर्याय जिनके निमित्त हैं ऐसे अनन्त विशेषों मे व्याप्त होने वाले प्रतिभासमय महासामान्यरूप आत्मा को स्वानुभव प्रत्यक्ष नहीं करता है, वह प्रतिभासमय महासामान्य के द्वारा व्याप्त जो प्रतिभासमय अनन्त विशेष हैं उनके कारणभूत सर्व द्रव्य पर्यायों को कैसे प्रत्यक्ष करे ? (नहीं कर सकता)। इससे यह फलित हुआ कि जो आत्मा को नहीं जनता, वह सबको नहीं जानता।

अब (गाथा ४८ से) सर्व के ज्ञान से आत्मा का ज्ञान और (गाथा ४९ से) आत्मा के ज्ञान से सर्व का ज्ञान होता है, यह (सिद्धान्त) निश्चित होता है। ऐसा होने से आत्मा के ज्ञानमयता के कारण स्वसंचेतकपना होने से, ज्ञाता और ज्ञेय का वस्तु रूप से अन्यत्व होने पर भी प्रतिभास (ज्ञान) और प्रतिभास्यमान (ज्ञेयाकार) का अपनी अवस्था मे अन्योन्य मिलन होने के कारण (ज्ञान और ज्ञेय आकार, आत्मा की ज्ञान की अवस्था मे परस्पर मिश्रित एकमेक रूप होने के कारण) उन्हें भिन्न करना अत्यन्त अशक्य होने से सब कुछ आत्मा मे खुदे हुए के समान प्रतिभासित होता है। (आत्मा ज्ञानमय है इसलिये वह अपने को अनुभव करता है—जानता है, और अपने को जानने पर समस्त ज्ञेय ऐसे ज्ञात होते हैं मानों वे ज्ञान मे स्थित ही हों, क्योंकि ज्ञान की अवस्था मे से ज्ञेयाकारो को भिन्न करना अशक्य है)। यदि ऐसा न हो तो (यदि आत्मा सबको न जानता हो तो) ज्ञान के परिपूर्ण आत्मसंचेतन का अभाव होने से परिपूर्ण तक आत्मा का भी ज्ञान सिद्ध नहीं होता ॥४९॥

तात्पर्यवृत्ति

अथैकमजानन् सर्वं न जानातीति निश्चिनोति—

दव्व द्रव्य **अणतपज्जय** अनन्तपर्याय **एग** एक **अणताणि दव्वजादाणि** अनन्तानि द्रव्यजातानि **जो ण विजाणदि** यो न विजानाति अनन्तद्रव्यसमूहान् **कध सो सव्वाणि जाणादि** कथ स सर्वान् जानाति **जुगवं** युगपदेकसमये, न कथमपीति तथाहि—आत्मलक्षण तावज्ज्ञान तच्चाखण्डप्रतिभासमय सर्वजीव-साधारण महासामान्यम्। तच्च महासामान्य ज्ञानमयानन्तविशेषव्यापि। ते च ज्ञानविशेषा अनन्त-द्रव्यपर्यायाणा विषयभूताना ज्ञेयभूताना परिछेदका ग्राहका। अखण्डैकप्रतिभासमय यन्महासामान्य तत्स्वभावमात्मान योसौ प्रत्यक्ष न जानाति स पुरुष. प्रतिभासमयेन महासामान्येन ये व्याप्ता अनन्त-ज्ञानविशेषास्तेषां विषयभूता येऽनन्तद्रव्यपर्यायास्तान् कथ जानाति ? न कथमपि। अथ एतदायात य आत्मान न जानाति स सर्वं न जानातीति। तथा चोक्तम्—

"एको भाव. सर्वभावस्वभावः, सर्वे भावा एकभावस्वभावाः।
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्ध, सर्वे भावास्तत्त्वतस्तेन बुद्धा ॥१॥"

अत्राह शिष्य —आत्मपरिज्ञाने सति सर्वपरिज्ञ न भवतीत्यत्र व्याख्यात, तत्र तु पूर्वसूत्रे भणित सर्वपरिज्ञाने सत्यात्मपरिज्ञान भवतीति । यद्येव तर्हि छद्मस्थाना सर्वपरिज्ञान नास्त्यात्मपरिज्ञान कथ भविष्यति ? आत्मपरिज्ञानाभावे चात्मभावना कथ ? तदभावे केवलज्ञानोत्पत्तिर्नास्तीति । परिहारमाह —परोक्षप्रमाणभूतश्रुतज्ञानेन सवपदार्था ज्ञायन्ते । कथमिति चेत् लोकालोकादिपरिज्ञान व्याप्तिज्ञानरूपेण छद्मस्थानामपि विद्यते, तच्च व्याप्तिज्ञान परोक्षाकारेण केवलज्ञानविषयग्राहक कथचिदात्मैव भण्यते । अथवा स्वसवेदनज्ञानेनात्मा ज्ञायते, ततश्च भावना क्रियते, तया रागादि-विकल्परहितस्वसवेदनज्ञानभावनया केवलज्ञान च जायते । इति नास्ति दोष ॥४९॥

उत्थानिका—आगे निश्चय करते है कि जो एक को नही जानता वह सबको भी नही जानता है ।

अन्वय सहित विशेपार्थ—**(जदि) यदि कोई आत्मा (एगं अणंतपज्जयं दव्व) एक अनन्त पर्यायो के रखने वाले द्रव्य को (ण विजाणदि) निश्चय से नहीं जानता है (सो) वह आत्मा (कधं) किस तरह (सव्वाणि अणताणि दव्वजादाणि) सर्व अनन्तद्रव्य समूहों को (जुगव) एक समय मे (जाणादि) जान सकता है ? अर्थात् किसी तरह भी नहीं जान सकता । विशेष यह है कि आत्मा का लक्षण ज्ञानस्वरूप है । सो अखड रूप से प्रकाश करने वाला सर्व जीवो मे साधारण महासामान्यरूप है । वह महासामान्य ज्ञान अपने ज्ञानमयी अनन्त विशेषो मे व्यापक है, वे ज्ञान के विशेष अपने विषय रूप ज्ञेय पदार्थ जो अनन्त द्रव्य और पर्याय है उनको जानने वाले, ग्रहण करने वाले है जो कोई अपने आत्मा को अखण्ड रूप से प्रकाश करते हुए महासामान्य स्वभाव रूप प्रत्यक्ष नहीं जानता है वह पुरुष प्रकाशमान महासामान्य के द्वारा जो अनन्तज्ञान के विशेष व्याप्त हैं उनके विषय रूप जो अनन्त द्रव्य और पर्याय है उनको कैसे जान सकता है ? अर्थात् किसी भी तरह नहीं जान सकता । इससे यह सिद्ध हुआ कि जो अपने आत्मा को नही जानता है वह सर्व को नहीं जानता है । ऐसा कहा भी है—**

एको भाव सर्व-भाव-स्वभाव सर्वे भावा एक-भाव-स्वभावा. ।
एको भावस्तत्त्वतो येन बुद्ध सर्वे भावास्तत्वतस्तेन बुद्धा· ॥

भाव यह है कि एक-भाव सर्व-भावो का स्वभाव है और सर्व-भाव एक-भाव के स्वभाव हैं । जिसने निश्चय से-यथार्थ रूप से एक भाव को जाना उसने यथार्थ रूप से सर्व भावों को जाना है । यहाँ ज्ञाता और ज्ञेय सम्बन्ध लेना चाहिये, जिसने ज्ञाता को जाना उसने सब ज्ञेयों को जाना ही है ।

यहाँ पर शिष्य ने प्रश्न किया कि आपने यहाँ यह व्याख्या की कि आत्मा को जानते हुए सर्व का ज्ञानपना होता है और इसके पहले सूत्र मे कहा था कि सब ज्ञान से

आत्मा का ज्ञान होता है। यदि ऐसा है तो छद्मस्थों को सर्व का ज्ञान नहीं है, तब उनको आत्मा का ज्ञान कैसे होगा? यदि उनको आत्मा का ज्ञान न होगा तो उनके आत्मा की भावना कैसे होगी? यदि आत्मा की भावना न होगी तो उनको केवलज्ञान की उत्पत्ति नहीं होगी? इस शंका का समाधान करते हैं कि परोक्ष प्रमाणरूप श्रुतज्ञान से सर्व पदार्थ जाने जाते हैं। यह कैसे सो कहते हैं कि छद्मस्थों को भी लोक और आलोक का ज्ञान व्याप्ति ज्ञानरूप से है। वह व्याप्ति ज्ञान परोक्ष रूप से केवलज्ञान के विषय को ग्रहण करने वाला है इसलिये किसी अपेक्षा से आत्मा ही कहा जाता है। अथवा स्वसंवेदन ज्ञान आत्मा को जानते हैं, और फिर उसकी भावना करते हैं। इसी रागद्वेषादि विकल्पों से रहित स्वसंवेदन ज्ञान की भावना के द्वारा केवलज्ञान पैदा हो जाता है। इसमें कोई दोष नहीं है ॥४६॥

अथ क्रमकृतप्रवृत्त्या ज्ञानस्य सर्वगतत्वं न सिद्धयतीति निश्चिनोति—

उप्पज्जदि जदि णाणं कमसो अट्ठे पडुच्च णाणिस्स।
तं णेव हवदि णिच्चं ण खाइगं[1] णेव सव्वगदं[2] ॥५०॥

उत्पद्यते यदि ज्ञान क्रमशोऽर्थान् प्रतीत्य ज्ञानिन ।
तन्नैव भवति नित्य न क्षायिक नैव सर्वगतम् ॥५०॥

यत्किल क्रमेणैकैकमर्थमालम्ब्य प्रवर्तते ज्ञानं, तदेकार्थालम्बनादुत्पन्नमन्यार्थालम्बनात् प्रलीयमानं नित्यमसत्तथा कर्मोदयादेकां व्यक्तिं प्रतिपन्नं पुनर्व्यक्त्यन्तरं प्रतिपद्यमान क्षायिकमप्यसदनन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावानाक्रान्तुमशक्तत्वात् सर्वगत न स्यात् ॥५०॥

भूमिका—अब क्रम से होने वाली प्रवृत्ति से ज्ञान की सर्वगतता सिद्ध नहीं होती, यह निश्चित करते हैं—

अन्वयार्थ—[यदि] जो [ज्ञानिन ज्ञान] आत्मा का ज्ञान [क्रमश] क्रम से [अर्थात् प्रतीत्य] पदार्थों का अवलम्बन लेकर [उत्पद्यते] उत्पन्न होता है [तत्] तो वह ज्ञान [न एव नित्य भवति] नित्य नही है, [न क्षायिक] क्षायिक नही है, [न एव सर्वगत] और सर्वगत [सबके जानने वाला] नही है।

टीका—जो ज्ञान वास्तव में क्रम से एक-एक पदार्थ का अवलम्बन लेकर प्रवृत्त होता है वह एक पदार्थ के अवलम्बन से उत्पन्न और दूसरे पदार्थ के अवलम्बन से नष्ट (हो जाने से) नित्य नहीं होता। तथा कर्मोदय के कारण से एक व्यक्ति (पर्याय-विशेष)

१ खाइय (ज० वृ०) (२) णेव सव्वगय (ज० वृ०)

को प्राप्त फिर अन्य व्यक्ति को प्राप्त होता हुआ (अर्थात् ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से हीनाधिक होता हुआ) क्षायिक भी नहीं होता। अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को प्राप्त करने के लिये (जानने के लिये) असमर्थपने से सर्वगत नहीं होता है ॥५०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ क्रमप्रवृत्तज्ञानेन सर्वज्ञो न भवतीति व्यवस्थापयति—

उप्पज्जदि जदि णाणं उत्पद्यते ज्ञान यदि चेत्—**कमसो** क्रमशः सकाशात् किं कृत्वा ? **अट्ठे-पडुच्च** ज्ञेयार्थानाश्रित्य कस्य ? **णाणिस्स** ज्ञानिन आत्मन· **तं णेव हवदि णिच्चं** उत्पत्तिनिमित्तभूत-पदार्थविनाशे तस्यापि विनाश इति नित्य न भवति । **ण खाइयं** ज्ञानावरणीयकर्मक्षयोपशमाधीनत्वात् क्षायिकमपि न भवति । **णेव सव्वगयं** यत एव पूर्वोक्तप्रकारेण पराधीनत्वेन नित्य न भवति, क्षयोप-शमाधीनत्वेन क्षायिक न भवति तत एव युगपत्समस्तद्रव्यक्षेत्रकालभावाना परिज्ञानसामर्थ्याभावा-त्सर्वगत न भवति । अत एतत्स्थितं यद् ज्ञान क्रमेणार्थान् प्रतीत्य जायते तेन सर्वज्ञो न भवति इति ॥५०॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जो ज्ञान क्रम से पदार्थों के जानने मे प्रवृत्ति करता है उस ज्ञान से कोई सर्वज्ञ नही हो सकता है अर्थात् क्रम से जानने वाले को सर्वज्ञ नही कह सकते ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि) यदि (णाणिस्स) ज्ञानी आत्मा का (णाणं) ज्ञान (अट्ठे) जानने योग्य पदार्थों को (पडुच्च) आश्रय करके (कमसो) क्रम से (उप्पज्जदि) पैदा होता है। तो (तं) वह ज्ञान (णिच्चं) अविनाशी (णेव) नहीं (हवदि) होता है अर्थात् जिस पदार्थ निमित्त से ज्ञान उत्पन्न हुआ है उस पदार्थ के नाश होने पर उस पदार्थ का ज्ञान भी नाश होता है इसलिये वह ज्ञान सदा नहीं रहता है, इससे नित्य नहीं है। (ण खाइयं) न क्षायिक है क्योंकि वह परोक्षज्ञान ज्ञानावरणीय कर्म के क्षयोपशम के अधीन है (णेव सव्वगयं) और न वह सर्वगत है, क्योंकि जब वह पराधीन होने से नित्य नहीं है, क्षयोपशम के अधीन होने से क्षायिक नहीं है, इसीलिये ही वह ज्ञान एक समय मे सर्व द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावो को जानने के लिये असमर्थ है इसलिये सर्वगत नहीं है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जो ज्ञान क्रम से पदार्थों का आश्रय लेकर पैदा होता है उस ज्ञान के रखने से सर्वज्ञ नहीं हो सकता ॥५०॥**

अथ यौगपद्यप्रवृत्तस्यैव ज्ञानस्य सर्वगतत्वं सिद्धयतीति व्यवतिष्ठते—

तिक्कालणिच्चविसमं सयलं सव्वत्थसंभवं चित्तं ।
जुगवं जाणदि जोण्हं अहो हि णाणस्स माहप्पं ॥५१॥

त्रैकाल्यनित्यविषम सकल सर्वत्रसंभव चित्रम् ।
युगपज्जानाति जैनमहो हि ज्ञानस्य माहात्म्यम् ॥५१॥

क्षायिकं हि ज्ञानमतिशयास्पदीभूतपरममाहात्म्यं, यत्तु युगपदेव सर्वार्थानालम्ब्य प्रवर्तते ज्ञानं तट्टङ्कोत्कीर्णन्यायावस्थितसमस्तवस्तुज्ञेयाकारतयाधिरोपितनित्यत्वं प्रतिपन्नसमस्तव्यक्तित्वेनाभिव्यक्तस्वभावभासिक्षायिकभावं त्रैकाल्येन नित्यमेव विषमीकृतां सकलामपि सर्वार्थसंभूतिमनन्तजातिप्रापितवैचित्र्यं परिच्छिन्ददक्रमसमाक्रान्तानन्तद्रव्यक्षेत्रकालभावतया प्रकटीकृताद्भुतमाहात्म्यं सर्वगतमेव स्यात् ॥५१॥

भूमिका—**अब, युगपत् प्रवृत्ति से ही ज्ञान का सर्वगतपना सिद्ध होता है, यह निश्चित करते हैं—**

अन्वयार्थ—[त्रैकाल्यनित्यविषम] त्रिकालिक, नित्य, विषम, [सर्वत्र सभव] सर्व क्षेत्रो मे होने वाले, तथा [चित्र] अनेक प्रकार के, [सकल] समस्त पदार्थों को [जैन] जिनदेव का ज्ञान [युगपत्] एक साथ [जानाति] जानता है। [अहो हि] अहो! [ज्ञानस्य माहात्म्य] (यह) ज्ञान का माहात्म्य है।

टीका—**क्षायिकज्ञान वास्तव में सर्वोत्कृष्टता का स्थानभूत परम महिमा वाला है। (क्यों? इसी को आचार्य स्वयं स्पष्ट करते हैं) क्षायिकज्ञान युगपत् (एक साथ ही) समस्त पदार्थों का आलम्बन लेकर प्रवर्तता है, तथा समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकार टंकोत्कीर्ण न्याय से अवस्थित (अपने मे स्थित) होने से जिसने नित्यत्व प्राप्त किया है, तथा समस्त व्यक्तित्व को प्राप्त कर लेने से जिसने स्वभाव-प्रकाशक क्षायिकभाव प्रगट किया है, ऐसा वह ज्ञान त्रैकालिक, नित्य तथा विषम (असमानजाति रूप से परिणत होने वाले), अनन्त प्रकारों के कारण विचित्रता को प्राप्त, सम्पूर्ण सर्व पदार्थों के समूह को जानता हुआ, अक्रम से (युगपत्) अनन्त द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव को प्राप्त होने से जिसने अद्भुत माहात्म्य को प्रगट किया है, सर्वगत ही है ॥५१॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ युगपत्परिच्छित्तिरूपज्ञानेनैव सर्वज्ञो भवतीत्यावेदयति—

जाणदि जानाति। किं कर्तृ? **जोण्हं जैन** ज्ञान। कथं? **जुगवं** युगपदेकसमये **अहो हि णाणस्स माहप्पं** अहो हि स्फुट जैनज्ञानस्य माहात्म्य पश्यताम्। कि जानाति? अर्थमित्यध्याहार। **कथभूत? तिक्कालणिच्चविसमं** त्रिकालविषय त्रिकालगत नित्यं सर्वकाल। पुनरपि किंविशिष्ट? **सयलं** समस्त। पुनरपि कथभूत? **सव्वत्थसंभवं** सर्वत्रलोके सभव समुत्पन्नं स्थितं। पुनश्च किंरूप? **चित्तं** नानाजातिभेदेन विचित्रमिति।

तथाहि युगपत्सकलग्राहकज्ञानेन सर्वज्ञो भवतीति ज्ञात्वा किं कर्त्तव्य? ज्योतिष्कमन्त्रवादरससिद्धयादीनि यानि खण्डविज्ञानानि मूढजीवानां चित्तचमत्कारकारणानि परमात्मभावनाविनाशकानि च तत्र ग्रह त्यक्त्वा जगत्त्रयकालत्रयसकलवस्तु युगपत्प्रकाशकमविनश्वरमखण्डैकप्रतिभासरूपं सर्वज्ञ-

शब्दवाच्य यत्केवलज्ञान तस्यैवोत्पत्ति कारणभूत यत्समस्तरागादिविकल्पजालेन रहितं सहजशुद्धात्मनोऽभेदज्ञान तत्र भावना कर्तव्या, इति तात्पर्यम् ॥५१॥

एव केवलज्ञानमेव सर्वज्ञ इति कथनरूपेण गाथैका, तदनन्तर सर्वपदार्थपरिज्ञानमिति प्रथमगन्था परमात्मज्ञानाच्च सर्वपदार्थ परिज्ञानमिति द्वितीया चेति। ततश्च क्रमप्रवृत्तज्ञानेन सर्वज्ञो न भवतीति प्रथमगाथा, युगगद्ग्राहकेण स भवतीति द्वितीया चेति समुदायेन सप्तमस्थले गाथापञ्चकं गतम्।

भूमिका—**अब यह प्रगट करते हैं कि जो एक समय मे सर्व को जान सकता है, उसी ज्ञान से सर्वज्ञ होता है—**

अन्वय सहित विशेषार्थ—(**जोण्ह**) **जिनेन्द्र का ज्ञान अर्थात् जिनशासन में जिस प्रत्यक्षज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं वह ज्ञान (जुगवं) एक समय में (सव्वत्थसंभवं) सर्व लोकालोक मे स्थित तथा (चित्तं) नाना जाति भेद से विचित्र (सयलं) सम्पूर्ण (तिक्कालणिच्चविसम) तीन काल सम्बन्धी पदार्थों को सदा काल विषमरूप अर्थात् जैसे उनमे भेद हैं उन भेदों के साथ अथवा 'तिक्कालणिच्चविसयं' ऐसा भी पाठ है जिसका अर्थ है तीन काल के सर्व द्रव्य अपेक्षा नित्य पदार्थों को (जाणदि) जानता है। (अहो हि णाणस्स माहप्पं) अहो निश्चय से ज्ञान का माहात्म्य आश्चर्यकारी है।**

विशेष भाव यह है कि एक समय मे सर्व को ग्रहण करने वाले ज्ञान से ही सर्वज्ञ होता है ऐसा जानकर क्या करना चाहिये सो कहते है—ज्योतिष, मन्त्र, वाद, रस-सिद्धि आदि के जो खण्डज्ञान हैं तथा जो मूढ जीवों के चित्त मे चमत्कार करने के कारण हैं और जो परमात्मा की भावना के नाश करने वाले हैं उन सर्व ज्ञानों मे आग्रह या हठ त्याग करके तीन जगत् व तीन काल की सर्व वस्तुओं को एक समय में प्रकाश करने वाले, अविनाशी तथा अखण्ड और एक रूप से उद्योत रूप तथा सर्वज्ञत्व शब्द से कहने योग्य जो केवलज्ञान है, उसकी ही उत्पत्ति का कारण जो सर्व रागद्वेषादि विकल्प-जालों से रहित स्वाभाविक शुद्धात्मा का अभेदज्ञान अर्थात् स्वानुभव रूप ज्ञान है उसमें भावना करनी योग्य है, यह तात्पर्य है ॥५१॥

इस प्रकार केवलज्ञान ही सर्वज्ञपना है, ऐसा कहते हुए गाथा एक, फिर सर्व पदार्थों के परिज्ञान से परमात्मज्ञान होता है ऐसी एक गाथा, परमात्मज्ञान से सर्व पदार्थ का परिज्ञान होता है ऐसी दूसरी गाथा है। फिर क्रम से होने वाले ज्ञान से सर्वज्ञ नहीं होता है, ऐसा कहते हुए एक गाथा तथा एक समय में सर्व को जानने से सर्वज्ञ होता है, ऐसा कहते हुए दूसरी, इस तरह सातवें स्थल में पाँच गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथ ज्ञानिनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि क्रियाफलभूतं बन्धं प्रतिषेधयन्नुपसंहरति—

ण वि परिणमदि ण गेण्हदि उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु ।
जाणण्णवि ते आदा अबंधगो तेण पण्णत्तो ॥५२॥

नापि परिणमति न गृह्णाति उत्पद्यते नैव तेष्वर्थेषु ।
जानन्नपि तानात्मा अबन्धकस्तेन प्रज्ञप्त ॥५२॥

इह खलु "उदयगदा कम्मसा जिणवरवसहेहिं णियदिणा भणिया । तेसु विमूढो रत्तो दुट्ठो वा बधमणुभवदि ॥" **इत्यत्र सूत्रे उदयगतेषु पुद्गलकर्मांशेषु सत्सु संचेतयमानो मोहरागद्वेषपरिणतत्वात् ज्ञेयार्थपरिणमनलक्षणया क्रियया युज्यमानः क्रियाफलभूत बध-मनुभवति, न तु ज्ञानादिति प्रथममेवार्थपरिणमनक्रियाफलत्वेन बन्धस्य समर्थितत्वात् । तथा** 'गेण्हदि णेव ण मुञ्चदि ण परं परिणमदि केवली भगव । पेच्छदि समतदो सो जाणदि सव्व णिरवसेस ॥' **इत्यर्थपरिणमनादिक्रियाणामभावस्य शुद्धात्मनो निरूपित-त्वाच्चार्थानपरिणमतोऽगृह्णतस्तेस्वनुत्पद्यमानस्य चात्मनो ज्ञप्तिक्रियासद्भावेऽपि न खलु क्रियाफलभूतो बन्धः सिद्धयेत् ॥५२॥**

भूमिका—**अब ज्ञानी के (केवलज्ञानी के), ज्ञप्ति-क्रिया का सद्भाव होने पर भी, क्रिया के फल रूप बन्ध को निषेध करते हुए उपसंहार करते हैं (केवलज्ञानी आत्मा के जानने की क्रिया होने पर भी बन्ध नहीं होता, यह कहकर ज्ञान अधिकार पूर्ण करते हैं) .—**

अन्वयार्थ—[आत्मा] (केवलज्ञानी) आत्मा [तान् जानन् अपि] उन पदार्थों को जानता हुआ भी [न अपि परिणमति] उस रूप परिणत नही होता, [न गृह्णाति] उन्हे ग्रहण नही करता, [तेषु अर्थेषु न एव उत्पद्यते] और उन पदार्थो के रूप मे उत्पन्न नही होता [तेन] इसलिये [अबन्धक प्रज्ञप्त.] (वह) अबन्धक कहा गया है ।

टीका—**यहाँ वास्तव मे 'उदयगताः कर्मांशाः जिनवरवृषभैः नियत्या भणिता । तेषु विमूढः रक्तः दुष्टः वा बंधमनुभवति' इस ४३वें गाथा-सूत्र मे "उदयगत पुद्गल कर्मांशों के विद्यमान रहने पर (उन्हे) संचेतन करता हुआ (अनुभव करता हुआ) मोह-राग-द्वेष रूप परिणमन स्वरूप क्रिया के साथ युक्त होता हुआ आत्मा क्रियाफल-भूत बंध को अनुभव करता है, ज्ञान से नहीं" । इस प्रकार प्रथम ही अर्थ-परिणमन-क्रिया के फलरूप से बन्ध का समर्थन किया गया है तथा 'गृह्णाति नैव न मुचंति न परं परिणमति केवली भगवान् । पश्यति समन्ततः सः जानाति सर्वं निर्विशेषं' इस ३२वें गाथा-सूत्र मे शुद्धात्मा के, अर्थ परिणमन आदि क्रियाओं का अभाव, निरूपित किया गया है । इसलिये पदार्थ रूप में**

परिणत नहीं होने वाले, पदार्थों को ग्रहण नहीं करने वाले तथा उन पदार्थों में उत्पन्न नहीं होने वाले (उस) आत्मा के ज्ञप्ति-क्रिया का सद्भाव होने पर भी वास्तव में क्रिया-फल-भूत बन्ध सिद्ध नहीं होता।

जानन्नप्येष विश्वं युगपदपि भवद्भाविभूतं समस्तं,
मोहाभावाद्यदात्मा परिणमति परं नैव निर्लूनकर्मा।
तेनास्ते मुक्त एव प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीत-
ज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथगपृथगथ द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः ॥४॥ इति ज्ञानाधिकारः

अन्वय—**(येन) निर्लूनकर्मा एषः आत्मा भवद्भाविभूतं समस्तं विश्वं युगपत् जानन् अपि मोहाभावात् परं नैव परिणमति तेन अथ प्रसभविकसितज्ञप्तिविस्तारपीतज्ञेयाकारां त्रिलोकीं पृथक् अपृथक् द्योतयन् ज्ञानमूर्तिः मुक्त एव आस्ते।**

अन्वयार्थ—[येन] क्योकि [निर्लूनकर्मा] जिसने कर्मों को छेद डाला है ऐसा [एष आत्मा] यह आत्मा [भवद्भाविभूत] भूत, भविष्यत् और वर्तमान [समस्त विश्व] समस्त विश्व को (तीनो काल की पर्यायो से युक्त पदार्थों को [युगपत्] एक ही साथ [जानन्] जानता हुआ [अपि] भी [मोहाभावात्] मोह के अभाव के कारण [पर] पररूप [नैव परिणमति] परिणमित नही होता, [तेन]इसलिये [अथ] अब, [प्रसभविकसितज्ञप्ति-विस्तारपीतज्ञेयाकारा] अत्यन्त विकसित ज्ञप्ति के विस्तार से जिसने स्वय समस्त ज्ञेयाकारो को पी लिया है, ऐसे तीनो लोको के पदार्थो को [पृथक् अपृथक् द्योतयन्] पृथक् और अपृथक् प्रकाशित करता हुआ वह [ज्ञानमूर्ति] ज्ञानमूर्ति [मुक्त एव आस्ते] मुक्त ही रहता है।

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वं यदुक्त पदार्थपरिच्छित्तिसद्भावेऽपि रागद्वेषमोहाभावात् केवलिना बन्धो नास्तीति तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढीकुर्वन् ज्ञानप्रपञ्चाधिकारमुपसहरति—

ण वि परिणमदि यथा स्वकीयात्मप्रदेशै समरसीभावेन सह परिणमति तथा ज्ञेयरूपेण न परिणमति **ण गेण्हदि** यथैव चानन्तज्ञान दिचतुष्टयरूपामात्मरूपमात्मरूपतया गृह्णाति तथा ज्ञेयरूप न गृह्णाति **उप्पज्जदि णेव तेसु अट्ठेसु** यथा च निर्विकारपरमानन्दैकसुखरूपेण स्वकीयसिद्धपर्यायेणोत्पद्यते तथैव च ज्ञेयपदार्थेषु नोत्पद्यते कि कुर्वन्नपि ? **जाणण्णवि ते** तान् ज्ञेयपदार्थान् स्वस्मात् पृथग्रूपेण जानन्नपि। स क कर्ता ? **आदा** मुक्तात्मा **अबंधगो तेण पण्णत्तो** ततः कारणात्कर्मणामबन्धक प्रज्ञप्त इति।

तद्यथा—रागादिरहितज्ञान बन्धकारण न भवतीति ज्ञात्वा शुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्ष-विपरीतस्य नारकादिदु खकारणकर्मबन्धस्य कारणानीन्द्रियमनोजनितान्येकदेशविज्ञानानि त्यक्त्वा सकलविमलकेवलज्ञानस्य कर्मबन्धाकारणभूतस्य यद्बीजभूत निर्विकारस्वसवेदनज्ञान तत्रैव भावना कर्तव्येत्यभिप्राय एव रागद्वेषमोहरहितत्वात्केवलिना बन्धो नास्तीति कथनरूपेण ज्ञानप्रपञ्चसमाप्ति-मुख्यत्वेन चैकसूत्रेणाष्टमस्थल गतम् ॥५२॥

उत्थानिका—आगे पहले जो यह कहा था कि पदार्थों का ज्ञान होते हुए भी राग द्वेष मोह का अभाव होने से केवलज्ञानियो को बन्ध नही होता है, उस ही अर्थ को दूसरी तरह से दृढ करते हुए ज्ञान प्रपच का संकोच करते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(आदा) आत्मा अर्थात् **मुक्त स्वरूप केवलज्ञानी या सिद्ध भगवान् की आत्मा (ते जाणण्णवि) उन ज्ञेय पदार्थों को अपने आत्मा से भिन्न रूप जानते हुए भी (तेसु अट्ठेसु) उन ज्ञेय पदार्थों के स्वरूप मे (ण वि परिणमवि) न तो परिणमन करता है अर्थात् जैसे अपने आत्मप्रदेशों के द्वारा समतारस से पूर्ण भाव के साथ परिणमन कर रहा है वैसा ज्ञेय पदार्थों के स्वरूप नहीं परिणमन करता है अर्थात् आप अन्य पदार्थ रूप नहीं हो जाता है। (ण गेण्हवि) और न उनको ग्रहण करता है अर्थात् जैसे वह आत्मा अनन्तज्ञान आदि अनन्तचतुष्टय रूप अपने आत्मा के स्वभाव को आत्मा के स्वभाव रूप से ग्रहण करता है वैसे वह ज्ञेय पदार्थों के स्वभाव को ग्रहण नहीं करता है। (णेव उप्पज्जवि) और न वह उन रूप पैदा होता है अर्थात् जैसे वह विकार रहित परमानंदमयी एक सुखरूप अपनी ही सिद्ध पर्याय करके उत्पन्न होता है वैसा वह शुद्ध आत्मा ज्ञेय पदार्थों के स्वभाव मे पैदा नहीं होता है। (तेण) इस कारण से (अबंधगो) कर्मों का बंध नहीं करने वाला (पण्णत्तो) कहा गया है।**

भाव यह है कि रागद्वेष रहित ज्ञान बंध का कारण नहीं होता है, ऐसा जानकर शुद्ध आत्मा का प्राप्ति रूप है लक्षण जिसका ऐसा जो मोक्ष उससे उल्टा जो नरक आदि के दुःखों की कारणभूत कर्म बंध की अवस्था, जिस बंध अवस्था के कारण इन्द्रिय और मन से उत्पन्न होने वाले एक देश ज्ञान उन सर्व को त्याग कर सर्व प्रकार निर्मल ज्ञान जो कर्म बंध का कारण नहीं है उसका बीजभूत जो विकाररहितस्वसंवेदनज्ञान या स्वानुभव उसमें ही भावना करनी योग्य है, ऐसा अभिप्राय है ॥५२॥

अथ ज्ञानप्रपञ्चव्याख्यानानन्तर ज्ञानाधारसर्वज्ञ नमस्करोति—

तस्स णमाइं लोगो देवासुरमणुअरायसबंधो।
भत्तो करेदि णिच्चं उवजुत्तो तं तहावि अहं ॥५२-१॥

करेदि करोति। स क ? **लोगो** लोक। कथभूत ? **देवासुरमणुअरायसबंधो** देवासुरमनुष्यराजसबन्ध। पुनरपि कथभूत: ? **भत्तो** भक्त। **णिच्चं** नित्य सर्वकाल। पुनरपि किंविशिष्ट ? **उवजुत्तो** उपयुक्त उद्यत। इत्थम्भूतो लोक का करोति ? **णमाइं** नमस्या नमस्क्रिया। कस्य ? **तस्स** तस्य पूर्वोक्तसर्वज्ञस्य। **तं तहावि अहं** त सर्वज्ञ तथा तेनैव प्रकारेणाहमपि ग्रन्थकर्ता नमस्करोमीति। अयमत्रार्थ—यथा देवेन्द्रचक्रवर्त्यादयोऽनन्ताक्षयसुखादिगुणास्पद सर्वज्ञस्वरूप नमस्कुर्वन्ति, तथैवाहमपि तत्पदाभिलाषी परमभक्त्या प्रणमामि। ५२-१॥

एवमष्टाभि: स्थलैर्द्वात्रिंशद्गाथास्तदनन्तरं नमस्कारगाथा चेति समुदायेन त्रयस्त्रिंशत्सूत्रैर्ज्ञानप्रपंच—नामा तृतीयोऽन्तराधिकार: समाप्त: ।

अथ सुखप्रपञ्चाभिधानान्तराधिकारेऽष्टादश गाथा भवन्ति । अत्र पञ्चस्थलानि, तेषु प्रथमस्थले "अत्थि अमुत्त" इत्याद्यधिकारगाथासूत्रमेकं, तदनन्तरमतीन्द्रियज्ञानमुख्यत्वेन "जं पेच्छदो" इत्यादि सूत्रमेकं, अथेन्द्रियज्ञानमुख्यत्वेन "जीवो सयं अमुत्तो" इत्यादि गाथाचतुष्टयं अथानन्तरमिन्द्रियसुखप्रतिपादनरूपेण गाथाष्टकं, तत्राप्यष्टकमध्ये प्रथमत इन्द्रियसुखस्य दु:खत्वस्थापनार्थं "मणुआ सुरा" इत्यादि गाथाद्वयं, अथ मुक्तात्मना देहाभावेपि सुखमस्तीति ज्ञापनार्थं देह: सुखकारणं न भवतीति कथनरूपेण "पप्पा इट्ठे विसये" इत्यादि सूत्रद्वयं, तदनन्तरमिन्द्रियविषया अपि सुखकारणं न भवन्तीति कथनेन "तिमिरहरा" इत्यादि गाथाद्वयं, अतोपि सर्वज्ञनमस्कारमुख्यत्वेन "तेजोदिट्ठि" इत्यादि गाथाद्वयम् । एवं पञ्चमस्थले अन्तरस्थलं चतुष्टयं भवतीति सुखप्रपञ्चाधिकारे समुदायपातनिका ॥

उत्थानिका—आगे ज्ञान-प्रपंच के व्याख्यान के पीछे ज्ञान के आधार सर्वज्ञ भगवान को नमस्कार करते है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**जैसे (देवासुरमणुअरायसम्बंधो) कल्पवासी, भवनत्रिक तथा मनुष्यों के इन्द्रों सहित (भत्तो) भक्तिमान (उवजुत्तो) तथा उद्यमवंत (लोगो) यह लोक (तस्स णमाइ) उस सर्वज्ञ को नमस्कार (णिच्च) सदा (करेदि) करता है (तहावि) तैसे ही (अहं) मै ग्रन्थकर्त्ता श्रीकुन्दकुन्दाचार्य (तं) उस सर्वज्ञ को नमस्कार करता हूं ।**

भाव यह है कि जैसे देवेन्द्र व चक्रवर्ती आदिक अनन्त और अक्षय सुख आदि गुणों के स्थान सर्वज्ञ के स्वरूप को नमस्कार करते हैं तैसे मै भी उस पद का अभिलाषी होकर परमभक्ति से नमस्कार करता हूं ।।५२।१।।*

इस तरह आठ स्थलों के द्वारा बत्तीस गाथाओं से और उसके पीछे एक नमस्कार गाथा ऐसे तेतीस गाथाओं से ज्ञान प्रपंच नाम का तीसरा अंतर अधिकार पूर्ण हुआ । आगे सुख प्रपंच नाम के अधिकार मे अठारह गाथाएं हैं जिसमे पांच स्थल हैं, उनमें से प्रथम स्थल मे "अत्थि अमुत्तं" इत्यादि अधिकार गाथा सूत्र एक है, उसके पीछे अतीन्द्रिय ज्ञान की मुख्यता से 'जं पेच्छदो' इत्यादि सूत्र एक है । फिर इन्द्रियजनितज्ञान की मुख्यता से 'जीवो सयं अमुत्तो' इत्यादि गाथाएं चार हैं फिर अभेदनय से केवलज्ञान ही सुख है ऐसा कहते हुए गाथाएं ४ हैं । फिर इन्द्रिय-सुख का कथन करते हुए गाथाएं आठ हैं । इनमें भी पहले इन्द्रियसुख का रूप स्थापित करने के लिये 'मणुआसुरा' इत्यादि गाथाएं दो हैं । फिर मुक्त आत्मा के देह न होने पर भी सुख है इस बात को बताने के लिये देह सुख का कारण नहीं है, इसे जनाते हुए "पप्पा इट्ठे विसये" इत्यादि सूत्र दो हैं । फिर इन्द्रियों के विषय

---

* इस गाथा की टीका श्री अमृतचन्द्रसूरि ने नही की है ।

भी सुख के कारण नहीं हैं, ऐसा कहते हुए 'तिमिरहरा' इत्यादि गाथाएं दो हैं, फिर सर्वज्ञ को नमस्कार करते हुए 'तेजो दिट्ठि' इत्यादि सूत्र दो हैं ? इस तरह पांच अतर अधिकार में समुदाय पातनिका है ।

अथ ज्ञानादभिन्नस्य सौख्यस्य स्वरूपं प्रपञ्चयन् ज्ञानसौख्ययोः हेयोपादेयत्वं चिन्तयति—

अत्थि अमुत्तं मुत्तं अदिंदियं इंदियं च अत्थेसु ।
णाणं च तहा सोक्खं जं तेसु परं च तं णेयं ।।५३।।

अस्त्यमूर्तं मूर्तमतीन्द्रियमैन्द्रियं चार्थेषु ।
ज्ञानञ्च तथा सौख्यं यत्तेषु परञ्च तत् ज्ञेयम् ।।५३।।

अत्र ज्ञानं सौख्यं च मूर्तमिन्द्रियजं चैकमस्ति । इतरदमूर्तमतीन्द्रियं चास्ति । तत्र यदमूर्तमतीन्द्रियं च तत्प्रधानत्वादुपादेयत्वेन ज्ञातव्यम् । तत्राद्यं मूर्ताभिः क्षायोपशमिकीभिरुपयोगशक्तिभिस्तथाविधेभ्य इन्द्रियेभ्यः समुत्पद्यमानं परायत्तत्वात् कादाचित्कत्वं, क्रमकृतप्रवृत्ति-सप्रतिपक्षं सहानिवृद्धि च गौणमिति कृत्वा ज्ञानं च सौख्यं च हेयम् । इतरत्पुनरमूर्ताभिश्चैतन्यानुविधायिनीभिरेकाकिनीभिरेवात्मपरिणामशक्तिभिस्तथाविधेभ्योऽतीन्द्रियेभ्यः स्वाभाविकचिदाकारपरिणामेभ्यः समुत्पद्यमानमत्यन्तमात्मायत्तत्वान्नित्यं, युगपत्कृतप्रवृत्ति निःप्रतिपक्षमहानिवृद्धि च मुख्यमिति कृत्वा ज्ञानं सौख्यं चोपादेयम् ।।५३।।

भूमिका—अब, ज्ञान से अभिन्न रूप सुख के स्वरूप को विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए ज्ञान और सुख की हेय-उपादेयता का विचार करते है—

अन्वयार्थ—[अर्थेषु ज्ञान] पदार्थ सम्बन्धी ज्ञान [अमूर्त-मूर्त] अमूर्त या मूर्त, [अतीन्द्रिय ऐन्द्रियं च अस्ति] अतीन्द्रिय या ऐन्द्रिय होता है, [च तथा सौख्य] और इसी प्रकार (अमूर्त या मूर्त, अतीन्द्रिय या ऐन्द्रिक) सुख होता है । [तेषु च यत् पर] उन (दो प्रकार के ज्ञान-सुख) मे जो (अमूर्त-अतीन्द्रिय ज्ञान-सुख) प्रधान (उत्कृष्ट) है [तत् ज्ञेय] वह अमूर्त-अतीन्द्रियज्ञान और सुख (उपादेयरूप) जानने योग्य है ।

टीका—(ज्ञान तथा सुख दो प्रकार का है उनमे से यहाँ) एक ज्ञान तथा सुख मूर्त है और इन्द्रियों से उत्पन्न होने वाला इन्द्रियज है और दूसरा (ज्ञान तथा सुख) अमूर्त है और अतीन्द्रिय है, उसमें जो अमूर्त और अतीन्द्रिय है वह प्रधान होने से उपादेय रूप से जानने योग्य है ।

(गाथा का अर्थ पूरा हो गया । अब इसके भाव को टीकाकार स्वयं स्पष्ट करते हैं)

वहाँ (उनमे से) पहला ज्ञान तथा सुख (१) मूर्तरूप (२) क्षायोपशमिक (३) उपयोग शक्तियो से उस-उस प्रकार की इन्द्रियों के द्वारा उत्पन्न होता हुआ, पराधीन होने से कादाचित्क (अनित्य) क्रमशः प्रवृत्त होने वाला, सप्रतिपक्ष और हानि-वृद्धियुक्त है। इसलिये गौण है, और गौण होकर वह हेय है।

दूसरा ज्ञान तथा सुख (१) अमूर्तरूप (२) चैतन्यानुविधायी, (३) एकाकी, (४) आत्म-परिणाम-शक्तियों से तथाविध अतीन्द्रिय, (५) स्वाभाविक चिदाकार परिणामों के द्वारा उत्पन्न होता हुआ अत्यन्त आत्माधीन होने से नित्य, युगपत् प्रवर्तमान, निःप्रतिपक्ष, और हानि वृद्धि से रहित है। इसलिये मुख्य है और मुख्य होकर वह (अमूर्त-अतीन्द्रिय ज्ञान और सुख) उपादेय हैं ॥५३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथातीन्द्रियसुखस्योपादेयभूतस्य स्वरूप प्रपञ्चयन्नतीन्द्रियज्ञानमतीन्द्रियसुख चोपादेयमिति, यत्पुनरिन्द्रियज ज्ञान सुख च तद्धेयमिति प्रतिपादनरूपेण प्रथमतस्तावदधिकारस्थलगाथया स्थल-चतुष्ठय सूत्रयति,—

अत्थि अस्ति विद्यते। किं कर्तृ ? **णाण** ज्ञानमिति भिन्नप्रक्रमो व्यवहितसम्बन्धः। किंविशिष्ट ? **अमुत्तं मुत्त** अमूर्तं मूर्तं च। पुनरपि किंविशिष्ट ? **अदिंदियं इंदियं च** यदमूर्तं तदतीन्द्रियं-मूर्तं पुनरिन्द्रियज। इत्थभूत ज्ञानमस्ति। केषु विषयेषु ? **अत्थेसु** ज्ञेयपदार्थेषु, **तहा सोक्खं च** तथैव ज्ञानवदमूर्तमतीन्द्रिय मूर्तमिन्द्रियज च सुखमिति। **ज तेसु पर च त णेय** यत्तेषु पूर्वोक्तज्ञानसुखेषु मध्ये परमुत्कृष्टमतीन्द्रिय तदुपादेयमिति ज्ञातव्यम्।

तदेव विव्रियते—अमूर्ताभि क्षायिकीभिरतीन्द्रियाभिश्चिदानन्दैकलक्षणाभिः शुद्धात्मशक्ति-भिरुपन्नत्वादतीन्द्रियज्ञान सुख चात्माधीनत्वेनाविनश्वरत्वादुपादेयमिति पूर्वोक्त।मूर्तशुद्धात्मशक्तिभ्यो विलक्षणाभि क्षायोपशमिकेन्द्रियशक्तिभिरुत्पन्नत्वादिन्द्रियज ज्ञान सुख च परायत्तत्वेन विनश्वरत्वाद्धे-यमिति तात्पर्यम् ॥५३॥ एवमधिकारगाथया प्रथमस्थल गतम्

उत्थानिका—आगे अतीन्द्रियसुख जो उपादेय रूप है उसका स्वरूप कहते हुये अतीन्द्रियज्ञान तथा अतीन्द्रियसुख उपादेय है और इन्द्रियजनितज्ञान और सुख हेय है इस तरह कहते हुये पहले अधिकार स्थल की गाथा से चार स्थल का सूत्र कहते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अत्थेसु) ज्ञेय पदार्थों के सम्बन्ध में (णाणं) ज्ञान (अमुत्तं) जो अमूर्तिक है सो (अदिंदियं) अतीन्द्रिय है तथा (मुत्त) जो मूर्तिक है सो (इन्दियं) इन्द्रिय-जन्य (अत्थि) है (तहा च सोक्खं) तैसे ही अर्थात् ज्ञान की तरह अमूर्तिकसुख अतीन्द्रिय है तथा मूर्तिकसुख इन्द्रिय-जन्य है (तेसु ज परं) इन ज्ञान और सुखों में जो उत्कृष्ट अतीन्द्रिय है (तं च णेयं) उनको ही, उपादेय हैं ऐसा जानना चाहिये।**

इसका विस्तार यह है कि अमूर्तिक, क्षायिक, अतीन्द्रिय, चिदानन्द लक्षण—स्वरूप शुद्धात्मा की शक्तियों से उत्पन्न होने वाला अतीन्द्रियज्ञान और सुख आत्मा के ही अधीन होने से अविनाशी हैं, इससे उपादेय हैं तथा पूर्व मे कहे हुए अमूर्त शुद्ध आत्मा की शक्ति से विलक्षण जो क्षायोपशमिक इन्द्रियों की शक्तियो से उत्पन्न होने वाला ज्ञान और सुख हैं, वे पराधीन होने से विनाशवान हैं, इसलिये हेय हैं, ऐसा तात्पर्य है। अतीन्द्रियज्ञान व सुख की अपेक्षा इन्द्रिय-जनित ज्ञान व सुख हेय हैं, सर्वथा हेय नहीं हैं ।।५३।।

अथातीन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमतीन्द्रियज्ञानमुपादेयमभिष्टौति—

जं पेच्छदो अमुत्त मुत्तेसु अदिंदियं च पच्छण्णं ।
सयलं सगं च इदरं त [1]णाणं हवदि पच्चक्क ।।५४।।

यत्प्रेक्षमाणस्यामूर्तं मूर्तेष्वतीन्द्रियञ्च प्रच्छन्नम् ।
सकल स्वकञ्च इतरत् तद्ज्ञान भवति प्रत्यक्षम् ।।५४।।

अतीन्द्रियं हि ज्ञानं यदमूर्तं यन्मूर्तेष्वप्यतीन्द्रिय यत्प्रच्छन्नं च तत्सकल स्वपर-विकल्पान्तःपाति प्रेक्षत एव । तस्य खल्वमूर्तेषु धर्माधर्मादिषु, मूर्तेष्वप्यतीन्द्रियेषु परमाण्वादिषु, द्रव्यप्रच्छन्नेषु कालादिषु, क्षेत्रप्रच्छन्नेष्वलोकाकाशप्रदेशादिषु, कालप्रच्छन्नेष्वसांप्रतिकपर्यायेषु, भावप्रच्छन्नेषु स्थूलपर्यायान्तर्लीनसूक्ष्मपर्यायेषु सर्वेष्वपि स्वपरव्यवस्थाव्यवस्थितेष्वस्ति द्रष्टत्वं प्रत्यक्षत्वात् । प्रत्यक्षं हि ज्ञानमुद्भिन्नानन्तशुद्धिसन्निधानमनादिसिद्धचैतन्यसामान्यसंबन्धमेकमेवाक्षनामानमात्मानं प्रतिनियतमितरां सामग्रीममृगयमाणमनन्तशक्तिसद्भावतोऽनन्ततामुपगतं दहनस्येव दाह्याकाराणां ज्ञानस्य ज्ञेयाकाराणामनतिक्रमाद्यथोदितानुभावमनुभवत्तत् केन नाम निवार्येत । अतस्तदुपादेयम् ।।५४।।

भूमिका—अब, अतीन्द्रियसुख का साधनभूत अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है, इस प्रकार उसकी प्रशंसा करते हैं:—

अन्वयार्थ—[प्रेक्षमाणस्य यत्] देखने वाले का जो ज्ञान [अमूर्त] अमूर्त को, [मूर्तेषु अतीन्द्रिय] मूर्त पदार्थों मे भी अतीन्द्रिय (परमाणु आदि) को, [च प्रच्छन्न] (काल या क्षेत्र की अपेक्षा गुप्त-इन्द्रिय-अग्राह्य को, [सकल] इन सबको [स्वय च इतरत्] स्व तथा पर को [पश्यति] देखता है (जानता है) [तत् ज्ञान] वह ज्ञान [प्रत्यक्ष भवति] प्रत्यक्ष है।

टीका—जो अमूर्त है, जो मूर्तों मे भी अतीन्द्रिय है, और जो प्रच्छन्न (काल या क्षेत्र की अपेक्षा गुप्त-इन्द्रिय है ग्राह्य नहीं) है, उस सबको जो कि स्व और पर इन दो

(१) तण्णाण (ज० वृ)।

भेदों मे समा जाता है, अतीन्द्रिय ज्ञान अवश्य देखता है। अमूर्त धर्मास्तिकाय आदि को और मूर्तों में भी अतीन्द्रिय परमाणु इत्यादिकों में तथा द्रव्य से प्रच्छन्न काल-अणु आदिकों मे, क्षेत्र से प्रच्छन्न अलोकाकाश के प्रदेश आदिको मे, काल मे प्रच्छन्न असाम्प्रतिक (भूत-भविष्यत) पर्यायो मे, तथा भाव से प्रच्छन्न स्थूल पर्यायो मे अन्तर्लीन सूक्ष्म पर्यायो मे यानि उन सब ही मे जो कि स्व और पर की व्यवस्था मे व्यवस्थित है, प्रत्यक्ष होने से वास्तव मे उस अतीन्द्रियज्ञान के दृष्टापन है (उन सबको वह अतीन्द्रियज्ञान देखता है, क्योंकि वह प्रत्यक्ष है)।

अब इसको न्याय से आचार्य स्वयं सिद्ध करते हैं—(१) जिसको अनन्त शुद्धि का सद्भाव प्रगट हुआ है, (२) जो चैतन्य सामान्य के साथ अनादि-सिद्ध सम्बन्ध वाला है (३) एक ही अक्ष नामक आत्मा के प्रति जो नियत है, (४) जो (इन्द्रियादिक उपात्त अनुपात्त) अन्य सामग्री को नहीं ढूंढता है, (जिसे अन्य सामग्री की सहायता की आवश्यकता नहीं है) और (५) जो अनन्तशक्ति के सद्भाव के कारण अनन्तता को प्राप्त है, ऐसा वह प्रत्यक्ष ज्ञान जैसे दाह्याकारों से दहन का अतिक्रमण (उलंघन) नहीं होता, उसी प्रकार ज्ञेयाकारों से ज्ञान का अतिक्रमण (उलंघन) न होने से यथोक्त प्रभाव का अभाव करता हुआ (उपर्युक्त अतिशयों सहित होने से) वास्तव मे वह किसके द्वारा रोका जा सकता है ? (किसी से भी नहीं रोका जा सकता)। इसलिये वह अतीन्द्रियज्ञान उपादेय है ॥५४॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वोक्तमुपादेयभूतमतीन्द्रियज्ञान विशेषेण व्यक्तीकरोति—

जं यदतीन्द्रिय ज्ञानं कर्तृ। **पेच्छदो** प्रेक्षमाणपुरुषस्य जानाति। किं किं ? **अमुत्त** अमूर्तमतीन्द्रियनिरुपरागसदानन्दैकसुखस्वभाव यत्परमात्मद्रव्य तत्प्रभृति समस्तामूर्तद्रव्यसमूह **मुत्तेसु अदिन्दियं च** मूर्तेषु पुद्गलद्रव्येषु यदतीन्द्रिय परमाण्वादि **पच्छण्ण** कालाणुप्रभृतिद्रव्यरूपेण प्रच्छन्न व्यवहितमन्तरित, अलोकाकाशप्रदेशप्रभृति क्षेत्रप्रच्छन्न, निर्विकारपरमानन्दैकसुखास्वादपरिणतिरूप-परमात्मनो वतमानसमयगतपरिणामास्तत्प्रभृतयो ये समस्तद्रव्याणा वर्तमानसमयगतपरिणामास्ते कालप्रच्छन्ना, तस्यैव परमात्मन सिद्धरूपशुद्धव्यञ्जनपर्याय शेषद्रव्य.णा च ये यथासम्भव व्यञ्जनपर्यायास्तेष्वन्तर्भूता प्रतिसमयप्रवर्तमानषट्प्रकारवृद्धिहानिरूपा अथपर्याया भावप्रच्छन्ना भण्यन्ते। **सयल** तत्पूर्वोक्त समस्त ज्ञेय द्विधा भवति। कथमिति चेत् ? **सगं च इदरं** किमपि ? यथासम्भव स्वद्रव्यगत इतरत्परद्रव्यगत च तदुभय यत कारणाज्जानाति तेन कारणेन **तण्णाण** तत्पूर्वोक्तज्ञान **हवदि** भवति। कथभूत ? **पच्चक्ख** प्रत्यक्षमिति।

अत्राह शिष्य —ज्ञानप्रपञ्चाधिकार पूर्वमेवगत अस्मिन् सुखप्रपञ्चाधिकारे सुखमेव कथनीयमिति ? परिहारमाह—यदतीन्द्रिय ज्ञान पूर्व भणित तदेवाभेदनयेन सुख भवतीति ज्ञापनार्थं, अथवा ज्ञानस्य मुख्यवृत्त्या तत्र हेयोपादेयचिन्ता नास्तीति ज्ञापनार्थं वा। एवमतिन्द्रियज्ञानमुपादेय-मिति कथनमुख्यत्वेनैकगाथया द्वितीयस्थल गतम् ॥५४॥

उत्थानिका—आगे उसी पूर्व मे कहे हुए अतीन्द्रियज्ञान का विशेष वर्णन करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(पेच्छदो) अच्छी तरह देखने वाले केवलज्ञानी पुरुष का (जं) जो अतीन्द्रिय केवलज्ञान है सो (अमुत्तं) अमूर्तिक को अर्थात् अतीन्द्रिय तथा राग रहित सदा आनन्दमयी सुखस्वभाव के धारी परमात्मद्रव्य को आदि लेकर सब अमूर्तिकद्रव्य समूह को, (मुत्तेसु) मूर्तिक पुद्गल द्रव्यों मे (अदिदियं) अतीन्द्रिय–इन्द्रियों के अगोचर परमाणु आदिकों को (च पच्छण्णं) तथा गुप्त को अर्थात् द्रव्यापेक्षा कालाणु आदि अप्रगट तथा दूरवर्ती द्रव्यों को, क्षेत्र अपेक्षा गुप्त अलोकाकाश के प्रदेशादिको को, काल की अपेक्षा प्रच्छन्न–विकाररहित परमानन्दमयी एक सुख के आस्वादन की परिणति रूप परमात्मा के वर्तमान समय सम्बन्धी परिणामो को आदि लेकर सब द्रव्यों की वर्तमान समय की पर्यायों को तथा भाव की अपेक्षा उस ही परमात्मा की सिद्ध रूप शुद्ध व्यंजन तथा अन्य द्रव्यों की जो यथासंभव व्यंजनपर्याय उनमे अतर्भूत अर्थात् मग्न जो प्रति समय मे वर्तन करने वाली छ. प्रकार वृद्धि हानि स्वरूप अर्थ-पर्याय इन सब प्रच्छन्न द्रव्य क्षेत्र काल भावों को; और (सगं च इदरं) जो कुछ भी यथासम्भव अपना द्रव्य सम्बन्धी तथा परद्रव्य सम्बन्धी या दोनों सम्बन्धी है (सयल) उन सर्व ज्ञेय पदार्थों को जानता है। (त णाण) वह ज्ञान (पच्चक्ख) प्रत्यक्ष (हवदि) होता है।

यहाँ शिष्य ने प्रश्न किया कि ज्ञान-प्रपच का अधिकार तो पहले ही हो चुका। अब इस सुख प्रपंच के अधिकार मे तो सुख का ही कथन करना योग्य है ? इसका समाधान यह है कि जो अतीन्द्रियज्ञान पहले कहा गया है वह ही अभेदनय से सुख है इसकी सूचना के लिये अथवा ज्ञान की मुख्यता से सुख है क्योंकि इस ज्ञान में हेय उपादेय की चिंता नहीं है इसके बताने के लिये कहा है। इस तरह अतीन्द्रियज्ञान ही ग्रहण करने योग्य है, ऐसा कहते हुए एक गाथा द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ ॥५४।

अथेन्द्रियसौख्यसाधनीभूतमिन्द्रियज्ञानं हेय प्रणिन्दति—

जीवो सयं अमुत्तो मुत्तिगदो तेण मुत्तिणा मुत्तं ।
ओगेण्हित्ता जोग्गं जाणदि वा तं ण[1] जाणादि ॥५५॥

जीव स्वयममूर्तो मूर्तिगतस्तेन मूर्तेन मूर्तम् ।
अवगृह्य योग्य जानाति वा तन्न जानाति ॥५५॥

इन्द्रियज्ञानं हि मूर्तोपलम्भक मूर्तोपलभ्यं च तद्वान् जीवः स्वयममूर्तोऽपि पञ्चेन्द्रियात्मकं शरीरं मूर्तमुपागतस्तेन ज्ञप्तिनिष्पत्तौ बलाधाननिमित्ततयोपलम्भकेन मूर्तेन मूर्तं

---

१ तण्ण।

स्पर्शादिप्रधानं वस्तूपलम्भ्यतामुपागतं योग्यमवगृह्य कदाचित्तदुपर्युपरि शुद्धिसंभवादवगच्छति, कदाचित्तदसंभवान्नावगच्छति । परोक्षत्वात् । परोक्षं हि ज्ञानमतिदृढतराज्ञानतमोग्रन्थिगुण्ठनान्निमीलितस्यानादिसिद्धचैतन्यसामान्यसंबन्धस्याप्यात्मनः स्वयं परिच्छेत्तुमर्थमसमर्थस्योपात्तानुपात्तपरप्रत्ययसामग्रीमार्गणव्यग्रतयात्यन्तविसंष्ठुलत्वमवलम्बमानमनन्तायाः शक्तेः परिस्खलनान्नितान्तविक्लवीभूतं महामोहमल्लस्य जीवदवस्थत्वात् परपरिणतिप्रवर्तिताभिप्रायमपि पदे पदे प्राप्तविप्रलम्भमनुपलम्भसंभावनामेव परमार्थतोऽर्हति । अतस्तद्धेयम् ॥५५॥

भूमिका—अब, इन्द्रियसुख का साधनभूत इन्द्रियज्ञान हेय है, इस प्रकार उसकी निन्दा करते हैं—

अन्वयार्थ—[स्वय अमूर्त] स्वयं अमूर्त [जीव] जीव [मूर्तिगत] मूर्त शरीर को प्राप्त होता हुआ [तेन मूर्तेन] उस मूर्त शरीर के द्वारा [योग्य मूर्तं] (इन्द्रिय से ग्रहण) योग्य मूर्त पदार्थ को [अवग्रह्य] अवग्रह करके [जानाति] जानता है [वा तत् न जानाति] अथवा उसको नही जानता है (कभी जानता है और कभी नही जानता है)।

टीका—इन्द्रियज्ञान वास्तव मे मूर्त-उपलम्भक है और मूर्त-उपलभ्य है। अर्थात् इन्द्रियज्ञान जिस चीज के द्वारा जानता है वह भी मूर्त है और जिस चीज को जानता है वह भी मूर्त है। उस इन्द्रियज्ञान वाला जीव स्वयं अमूर्त होने पर भी मूर्त पंचेन्द्रियात्मक शरीर को प्राप्त होता हुआ, ज्ञप्ति उत्पन्न करने में बलधारण (बल देने रूप) निमित्त होने से जो उपलम्भक है, ऐसे उस मूर्त (शरीर) के द्वारा ज्ञेयता तथा योग्यता को प्राप्त मूर्त स्पर्श आदि प्रधान वस्तु को अवग्रह करके, कदाचित् उससे ऊपर ऊपर की शुद्धि के सद्भाव के कारण जानता है और कदाचित् अवग्रह के ऊपर ऊपर की शुद्धि के असद्भाव के कारण नहीं जानता है, क्योंकि वह (इन्द्रियज्ञान) परोक्ष है। अब इसको न्याय से सिद्ध करते हैं। चैतन्य—सामान्य के साथ जिसका अनादि-सिद्ध सम्बन्ध होने पर भी जो अति दृढतर अज्ञानरूप तमोग्रन्थि (अन्धकारसमूह) द्वारा आवृत्त होने से संकुचित हो गया है (और इसलिये) स्वयं पदार्थों को जानने के लिये असमर्थ हो गया है, ऐसे आत्मा के, (१) उपात्त और अनुपात्त पर—पदार्थ रूप कारण—सामग्री को ढूंढने की व्यग्रता से अत्यन्त चंचल-तरल अस्थिरता को अवलम्बन करता हुआ, (२) अनन्तशक्ति से च्युत होने से अत्यन्त विक्लव (खिन्न) वर्तता हुआ, (३) महामोह मल्ल के जीवित अवस्था में रहने से पर-परिणति का (पर को परिणमित करने का) अभिप्राय करने पर भी पद पद पर

ठगाई को प्राप्त होता हुआ—वह परोक्षज्ञान वास्तव में न जानने की सम्भावना को प्राप्त है। इसलिये वह इन्द्रियज्ञान हेय है ।।५५।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ हेयभूतस्येन्द्रियसुखस्य कारणत्वादल्पविषयत्वाच्चेन्द्रियज्ञान हेयमित्युपदिशति—

जीवो सय अमुत्तो जीवस्तावच्छक्तिरूपेण शुद्धद्रव्यार्थिकनयेनामूर्तातीन्द्रियज्ञानसुखस्वभाव, पश्चादनादिबन्धवशाद् व्यवहानयेन **मुत्तिगदो** मूर्तशरीरगतो मूर्तशरीरपरिणतो भवति। **तेण मुत्तिणा** तेन मूर्तशरीरेण मूर्तशरीराधारोत्पन्नमूर्तद्रव्येन्द्रियभावेन्द्रियाधारेण **मुत्तं** मूर्तं वस्तु **ओगेण्हित्ता** अवग्रहादिकेन क्रमकरणव्यवधानरूप कृत्वा **जोग्ग** तत्स्पर्शादिमूर्तं वस्तु। कथभूत ? इन्द्रियग्रहणयोग्य **जाणदि वा तण्ण जाणादि** स्वावरणक्षयोपशमयोग्य किमपि स्थूल जानाति, विशेषक्षयोपशमाभावात् सूक्ष्म न जानातीति।

अयमत्र भावार्थः—इन्द्रियज्ञान यद्यपि व्यवहारेण प्रत्यक्ष भण्यते, तथापि निश्चयेन केवलज्ञानापेक्षया परोक्षमेव परोक्ष तु यावताशेन सूक्ष्मार्थं न जानाति तावताशेन चित्तखेदकारण भवति। **खेदश्च** दुःख, ततो दु खजनकत्वादिन्द्रियज्ञान हेयमिति ।।५५।।

उत्थानिका—आगे त्यागने योग्य इन्द्रियसुख का कारण होने से तथा अल्प विषय के जानने की शक्ति होने से इन्द्रियज्ञान त्यागने योग्य है ऐसा उपदेश करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जीवो सयं अमुत्तो) जीव स्वय अमूर्तिक है अर्थात् शक्तिरूप से व शुद्धद्रव्यार्थिकनय से अमूर्तिक अतीन्द्रियज्ञान और सुखमयी स्वभाव को रखता है तथा अनादिकाल से कर्म बंध के कारण से व्यवहार मे (मुत्तिगदो) मूर्तिक शरीर में प्राप्त है व मूर्तिमान शरीरो द्वारा मूर्ति कसा होकर परिणमन करता है (तेण मुत्तिणा) उस मूर्तशरीर के द्वारा अर्थात् उस मूर्तिकशरीर के आधार मे उत्पन्न जो मूर्तिक द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय, उनके आधार से (जोग्गं मुत्तं) योग्य मूर्तिक वस्तु को अर्थात् स्पर्शादि इंद्रियों से ग्रहण योग्य मूर्तिक पदार्थ को (ओगेण्हित्ता) अवग्रह आदि से क्रम-क्रम से ग्रहण करके (जाणदि) जानता है अर्थात् अपने आवरण के क्षयोपशम के योग्य कुछ भी स्थूल पदार्थ को जानता है (वा तण्ण जाणादि) तथा उस मूर्तिक पदार्थ को नहीं भी जानता है, विशेष क्षयोपशम के न होने से सूक्ष्म या दूरवर्ती, व काल से प्रच्छन्न व भूत-भावी काल के बहुत से मूर्तिक पदार्थों को नहीं जानता है। यहाँ यह भावार्थ है कि इन्द्रियज्ञान यद्यपि व्यवहार से प्रत्यक्ष कहा जाता है तथापि निश्चय से केवलज्ञान की अपेक्षा से परोक्ष ही है। परोक्ष होने से जितने अंश मे वह सूक्ष्म पदार्थ को नहीं जानता है उतने अंश में जानने की इच्छा होते हुए न जान सकने से चित्त को खेद का कारण होता है, खेद ही दु ख है इसलिये दुःखो को पैदा करने से इन्द्रियज्ञान त्यागने योग्य है ।।५५।।**

अथेन्द्रियाणां स्वविषयमात्रेऽपि युगपत्प्रवृत्त्यसंभवाद्धेयमेवेन्द्रियज्ञानमित्यवधारयति—

फासो रसो य गंधो वण्णो सद्दो य पुग्गला[1] होंति ।
अक्खाणं ते अक्खा जुगवं ते णेव गेण्हंति ॥५६॥

स्पर्शो रसश्च गन्धो वर्ण. शब्दश्च पुद्‌गला भवन्ति ।
अक्षाणां तान्यक्षाणि युगपत्तान्नैव गृह्णन्ति । ५६॥

इन्द्रियाणां हि स्पर्शरसगन्धवर्णप्रधानाः शब्दश्च ग्रहणयोग्याः पुद्‌गलाः । अथेन्द्रियैर्युगपत्तेऽपि न गृह्यन्ते, तथाविधक्षयोपशमनशक्तेरसंभवात् । इन्द्रियाणां हि क्षयोपशमसंज्ञिकायाः परिच्छेत्र्याः शक्तेरन्तरङ्गायाः काकाक्षितारकवत् क्रमप्रवृत्तिवशादनेकतः प्रकाशयितुमसमर्थत्वात्सत्स्वपि द्रव्येन्द्रियद्वारेषु न यौगपद्येन निखिलेन्द्रियार्थावबोधः सिद्धयेत्, परोक्षत्वात् ॥५६॥

भूमिका—**अब, इन्द्रियों के अपने विषय मात्र में भी युगपत् प्रवृत्ति की असंभवता होने से इन्द्रियज्ञान हेय है, इस प्रकार उसकी निन्दा करते हैं—**

अन्वयार्थ—[स्पर्श] स्पर्श, [रस] रस, [गध] गध, [वर्णः] वर्ण [च] और [शब्द] शब्दरूप [पुद्‌गलाः] पुद्‌गल [भवन्ति] है। वे [अक्षाणां (विषयाः) भवन्ति] इन्द्रियो के विषय है। [तानि अक्षाणि] (परन्तु) वे इन्द्रियाँ [तान्] उनको [भी] [युगपत्] एक साथ [न एव गृह्णन्ति] ग्रहण नही करती है (युगपत् नही जान सकती है)।

टीका—**स्पर्श, रस, गन्ध, वर्ण प्रधान (गुणवाला) तथा शब्दरूप पुद्‌गल वास्तव मे इन्द्रियों के ग्रहण करने योग्य हैं। किन्तु इन्द्रियों के द्वारा एक साथ वे पुद्‌गल भी ग्रहण नहीं होते हैं। क्योंकि क्षयोपशम से उस प्रकार की शक्ति का होना असम्भव है। क्षयोपशम नाम की अन्तरग ज्ञातृशक्ति के कौवे की आंख की पुतली की भांति, क्रमिक प्रवृत्ति के वश से अनेकतः प्रकाश के लिये (एक ही साथ अनेक विषयों को जानने के लिये) असमर्थता होने से द्रव्येन्द्रिय द्वारों के विद्यमान होने पर भी, इन्द्रियों के युगपत् पने से समस्त इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का ज्ञान नहीं होता, क्योंकि इन्द्रियज्ञान परोक्ष है ॥५६॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ चक्षुरादीन्द्रियज्ञान रूपादिस्वविषयमपि युगपन्न जानाति तेन कारणेन हेयमिति निश्चिनोति—

फासो रसो य गन्धो वण्णो सद्दोय पोग्गला होंति स्पर्शरसगन्धवर्णशब्दाः पुद्‌गला मूर्ता भवन्ति। ते च विषया। केषा ? **अक्खाण** स्पर्शनादीन्द्रियाणा **ते अक्खा** तान्यक्षाणीन्द्रियाणि कर्तृणि **जुगव ते णेव गेण्हृति** युगपत्तान् स्वकीयविषयानपि न गृह्णन्ति न जानन्तीति।

---

१ पोग्गला (ज० वृ०)

अयमत्राभिप्रायः—यथा सर्वप्रकारोपादेयभूतस्यानन्तसुखस्योपादानकारणभूत केवलज्ञान युगपत्समस्तं वस्तु जानत्सत् जीवस्य सुखकारण भवति तथेदमिन्द्रियज्ञान स्वकीयविषयेऽपि युगपत्परिज्ञानाभावात्सुखकारण न भवति ।।५६।।

उत्थानिका—आगे यह निश्चय करते हैं कि चक्षु आदि इन्द्रियो से होने वाला ज्ञान अपने-अपने रूप रस, गंध, आदि विषयो को भी एक साथ नही जान सकता, इस कारण से त्यागने योग्य है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अक्खाणं) स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र इन पांच इन्द्रियों के (फासो रसो य गधो वण्णो सद्दो य) स्पर्श, रस, गन्ध बर्ण और शब्द ये पांचों ही विषय (पोग्गला होंति) पुद्गलमयी हैं या पुद्गल द्रव्य हैं या मूर्तिक हैं (ते अक्खा) वे इंद्रियां (तेणेव) उन अपने विषयों को भी (जुगव) एक समय में एक साथ (ण गेण्हंति) नहीं ग्रहण कर सकती हैं—नहीं जान सकतीं ।**

अभिप्राय यह है कि जैसे सब तरह से ग्रहण करने योग्य अनन्तसुख का उपादान-कारण जो केवलज्ञान है सो ही एक समय में सब वस्तुओं को जानता हुआ जीव के लिये सुख का कारण होता है तैसे यह इन्द्रिय-ज्ञान अपने विषयों को भी एक समय में न जान सकने के कारण सुख का कारण नहीं है ।।५६।।

अथेन्द्रियज्ञानं न प्रत्यक्षं भवतीति निश्चिनोति—

परदव्वं ते अक्खा णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिदा[1] ।
उवलद्धं तेहि [2]कधं पच्चक्खं अप्पणो होदि ।।५७।।

परद्रव्य तान्यक्षाणि नैव स्वभाव इत्यात्मनो भणितानि ।
उपलब्ध तै. कथ प्रत्यक्षमात्मनो भवति ।।५७।।

आत्मानमेव केवलं प्रतिनियतं केवलज्ञानं प्रत्यक्षं, इदं तु व्यतिरिक्तास्तित्वयोगितया परद्रव्यतामुपगतैरात्मनः स्वभावतां मनागप्यसंस्पृशद्भिरिन्द्रियैरुपलभ्योपजन्यमानं नैवात्मनः प्रत्यक्षं भवितुमर्हति ।।५७।।

भूमिका—**अब, इन्द्रिय-ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता है, यह निश्चय करते हैं:—**

अन्वयार्थ—[तानि अक्षाणि] वे इन्द्रियां [परद्रव्य] पर द्रव्य हैं । [आत्मन स्वभाव: इति] वे आत्मा के स्वभाव रूप [न एव भणितानि] नही कही गई है । [तै] उनके द्वारा [उपलब्धं] ज्ञात (जाना हुआ ज्ञान) [आत्मन] आत्मा को [प्रत्यक्ष] प्रत्यक्ष [कथ भवति] कैसे हो सकता है ? (यानि नही हो सकता) ।

---

१ भणिया (ज० वृ०) । २ कह (ज० वृ०) ।

टीका—जो केवल आत्मा के प्रति ही नियत हो, वह केवलज्ञान प्रत्यक्ष है। जो भिन्न अस्तित्व वाली होने से परद्रव्यत्व को प्राप्त हुई हैं, और आत्मा के स्वभावपने को किंचित् मात्र भी स्पर्श नहीं करतीं ऐसी इन्द्रियों के द्वारा उपलब्धि करके (ऐसी इन्द्रियों के निमित्त से पदार्थों को जानकर) उत्पन्न हुआ यह (इन्द्रियज्ञान) आत्मा के प्रत्यक्ष होने योग्य नहीं है ॥५६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथेन्द्रियज्ञान प्रत्यक्ष न भवती त व्यवस्थापयति—

परदव्व ते अक्खा तानि प्रसिद्धान्यक्षाणीन्द्रियाणि परद्रव्य भवन्ति। कस्य ? आत्मन: **णेव सहावो त्ति अप्पणो भणिया** योसौ विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभाव आत्मन सबन्धी तत्स्वभावानि निश्चयेन न भणितानीन्द्रियाणि। कस्मात् ? भिन्नास्तित्वनिष्पन्नत्वात्। **उवलद्ध तेहि** उपलब्ध ज्ञात यत्पञ्चेन्द्रियविषयभूत वस्तु तैरिन्द्रियै **कहं पच्चक्ख अप्पणो होदि** तद्वस्तु कथ प्रत्यक्ष भवत्यात्मनो ? न कथमपीति। तथैव च नानामनोरथव्याप्तिविषये प्रतिपाद्यप्रतिपादकादिविकल्पजालरूप यन्मनस्तदपीन्द्रियज्ञानवन्निश्चयेन परोक्ष भवतीति ज्ञात्वा। किं कर्तव्य ? सकलैकाखण्डप्रत्यक्षप्रतिभासमयपरमज्योति:कारणभूते स्वशुद्धात्मस्वरूपभावनासमुत्पन्नपरमाह्लादैकलक्षणसुखसवित्त्याकारपरिणतिरूपे रागादिविकल्पोपाधिरहिते स्वसवेदनज्ञाने भावना कर्तव्या इत्यभिप्राय ॥५७॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि इद्रियज्ञान प्रत्यक्ष नही है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(**ते अक्खा**) वे प्रसिद्ध पाँचों इन्द्रियों (**अप्पणो**) आत्मा की अर्थात् विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावधारी आत्मा की (**सहावो णेव भणिया**) स्वभाव रूप निश्चय से नहीं कही गई है क्योंकि उनकी उत्पत्ति भिन्न पदार्थ से हुई है (**त्ति परं दव्वं**) इसलिये वे परद्रव्य अर्थात् पुद्गल द्रव्यमयी हैं (**तेहि उवलद्धं**) उन इन्द्रियों के द्वारा जाना हुआ उन्हीं के विषय योग्य पदार्थ सो (**अप्पणो पच्चक्खं कहं होदि**) आत्मा के प्रत्यक्ष किस तरह हो सकता है ? अर्थात् किसी भी तरह नहीं हो सकता है। जैसे पाँचों इन्द्रियाँ आत्मा के स्वरूप नहीं हैं ऐसे ही नाना मनोरथों के करने मे 'यह बात कहने योग्य है, मैं कहने वाला हूँ' इस तरह नाना विकल्पों के जाल को बनाने वाला जो मन है वह भी इन्द्रियज्ञान की तरह निश्चय से परोक्ष ही है, ऐसा जानकर क्या करना चाहिये सो कहते हैं—सर्व पदार्थों को एक साथ अखंड रूप से प्रकाश करने वाले परम ज्योतिस्वरूप केवलज्ञान के कारण रूप तथा अपने शुद्ध आत्मस्वरूप की भावना से उत्पन्न परम आनन्द एक लक्षण को रखने वाले सुख के वेदन के आकार मे परिणमन करने वाले और रागद्वेषादि विकल्पों की उपाधि से रहित स्वसंवेदनज्ञान में भावना करनी चाहिये, यह अभिप्राय है ॥५७॥

अथ परोक्षप्रत्यक्षलक्षणमुपलक्षयति—

जं परदो विण्णाणं तं तु परोक्खं त्ति भणिदमत्थेसु[1] ।
जदि केवलेण णादं हवदि हि जीवेण पच्चक्खं ॥५८॥

यत्परतो विज्ञानं तत्तु परोक्षमिति भणितमर्थेषु ।
यदि केवलेन ज्ञातं भवति हि जीवेन प्रत्यक्षम् ॥५८॥

यत्तु खलु परद्रव्यभूतादन्तःकरणादिन्द्रियात्परोपदेशादुपलब्धेः संस्काराद्वालोकादेर्वा-निमित्ततामुपगतात् स्वविषयमुपगतस्यार्थस्य परिच्छेदनं तत् परतः प्रादुर्भवत्परोक्षमित्या-लक्ष्यते । यत्पुनरन्तःकरणमिन्द्रियं परोपदेशमुपलब्धिसंस्कारमालोकादिकं वा समस्तमपि परद्रव्यमनपेक्ष्यात्मस्वभावमेवैकं कारणत्वेनोपादाय सर्वद्रव्यपर्यायजातमेकपद एवाभिव्याप्य प्रवर्तमानं परिच्छेदनं तत् केवलादेवात्मनः सम्भूतत्वात् प्रत्यक्षमित्यालक्ष्यते । इह हि सहजसौख्यसाधनीभूतमिदमेव महाप्रत्यक्षमभिप्रेतमिति ॥५८॥

भूमिका—अब, प्रत्यक्ष और परोक्ष के लक्षण को बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—[परतः] पर के द्वारा होने वाला [यत्] जो [अर्थेषु विज्ञानं] पदार्थ सम्बन्धी विज्ञान है [तत् तु] वह तो [परोक्षं] परोक्ष [इति] इस नाम से [भणितं] कहा गया है [यदि] जो [केवलेन जीवेन] मात्र जीव के द्वारा ही [ज्ञातं भवति] जाना जाता है [वह प्रत्यक्षं] वह ज्ञान वास्तव मे प्रत्यक्ष है ।

टीका—परोक्ष का लक्षण निमित्तरूप से बने हुए परद्रव्यभूत अन्तःकरण (मन) से, इन्द्रिय से, परोपदेश से, उपलब्धि से (ज्ञानावरण के क्षयोपशम से प्राप्त लब्धि से) या प्रकाश आदिक से अपने विषय को प्राप्त पदार्थ का जो जानना है, वह (जानना) पर के द्वारा प्रगट होता हुआ 'परोक्ष' लक्षित किया जाता है अर्थात् परोक्ष है ।

प्रत्यक्ष का लक्षण—अन्तःकरण की इन्द्रिय की, परोपदेश की, उपलब्धि-संस्कार की या प्रकाश आदिक की अथवा सभी पर-द्रव्यो की अपेक्षा न करके एकमात्र आत्म-स्वभाव को ही कारण रूप से ग्रहण करके सर्व द्रव्य पर्याय समूचे को युगपत् (एक समय मे) ही व्याप्त होकर प्रवर्तमान जो जानता है वह (जानना) केवल आत्मा के द्वारा ही उत्पन्न हुआ होने से 'प्रत्यक्ष' लक्षित किया जाता है, अर्थात् प्रत्यक्ष है ।

सार—यहाँ (इस प्रकरण में) वास्तव में सहज सुख का साधनभूत ऐसा यही महा प्रत्यक्षज्ञान ही इष्ट है (उपादेय है) ॥५८॥

---

१ अट्ठेसु (ज० वृ०) ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ पुनरपि प्रकारान्तरेण प्रत्यक्ष परोक्षलक्षण कथयति—

ज परदो विण्णाण त तु परोक्खत्ति भणिद यत्परत सकाशाद्विज्ञान परिज्ञान भवति तत्पुन परोक्षमिति भणित ‘ केषु विषयेषु ? **अठ्ठेसु** ज्ञे पदार्थेषु **जदि केवलेण णाद हवदि हि** यदि केवलेनासहायेन ज्ञात भवति हि स्फुट । केन कर्तृभूतेन ? **जोवेण** जीवेन तर्हि **पच्चक्ख** प्रत्यक्ष भवतीति ।

अतो विस्तर.—इन्द्रियमन:—परोपदेशावलोकादिबहिरङ्गनिमित्तभूतात्तथैव च ज्ञानावरणीयक्षयोपशमजनितार्थग्रहणशक्तिरूपाया उपलब्धेरर्थावधारणरूपसस्काराच्चान्तरङ्गकारणभूतात्सकाशादुत्पद्यते यद्विज्ञान तत्पराधीनत्वात्परोक्षमित्युच्यते । यदि पुन. पूर्वोक्तसमस्तपरद्रव्यमनपेक्ष्य केवलाच्छुद्धबुद्धकस्वभावात्परमात्मन सकाशात्समुत्पद्यते ततोऽक्षनामानमात्मान प्रतीत्योत्पद्यमानत्वात्प्रत्यक्ष भवतीति सूत्राभिप्राय. एव हेयभूतेन्द्रियज्ञानकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन तृतीयस्थल गतम् ॥५८॥

उत्थानिका—आगे फिर भी अन्य प्रकार से प्रत्यक्ष और परोक्ष ज्ञान का लक्षण कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अट्ठेसु) ज्ञेय पदार्थों मे (परदो) दूसरे के निमित्त या सहायता से (जं विण्णाणं) जो ज्ञान होता है (त तु परोक्ख त्ति भणिदं) उस ज्ञान को तो परोक्ष है, ऐसा कहते हैं तथा (यदि केवलेण जीवेण णाद हि हवदि) जो केवल बिना किसी सहायता के जीव के द्वारा निश्चय से जाना जाता है सो (पच्चक्ख) प्रत्यक्ष ज्ञान है ।**

इसका विस्तार यह है कि इन्द्रिय तथा मन-सम्बन्धी जो ज्ञान है वह पर के उपदेश, प्रकाश आदि बाहरी कारणों के निमित्त से तथा ज्ञानावरणीकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुए अर्थ को जानने की शक्ति रूप उपलब्धि और अर्थ को जानने रूप सस्कारमयी अन्तरंग निमित्त से पैदा होता है वह पराधीन होने से परोक्ष है, ऐसा कहा जाता है । परन्तु जो ज्ञान पूर्व मे कहे हुए सर्व परद्रव्यो की अपेक्षा न करके केवल शुद्धबुद्ध एक स्वभावधारी परमात्मा के द्वारा उत्पन्न होता है वह अक्ष कहिये आत्मा उसी के द्वारा पैदा होता है इस कारण प्रत्यक्ष है, ऐसा सूत्र का अभिप्राय है । इस तरह त्यागने योग्य इन्द्रिय-जनित ज्ञान के कथन की मुख्यता करके चार गाथाओं से तीसरा स्थल पूर्ण हुआ ॥५८॥

अथैतदेव प्रत्यक्षं पारमार्थिकसौख्यत्वेनोपक्षिपति—

जादं सयं [1]समंत णाणमणंत्थवित्थडं[2] विमलं ।
[3]रहिदं तु ओग्गहादिहिं सुहं त्ति एगंतियं भणि[4] ॥५९॥

जात स्वय, समत, ज्ञानमनन्तार्थविस्तृत, विमलम् ।
रहित त्ववग्रहादिभि., सुखमित्यैकान्तिक भणितम् ॥५९॥

---

१ समत्त (ज० वृ०) २ णाणमणतत्थ वित्यद । ३ रहिय (ज० वृ०) । ४ भणिय (ज० वृ०) ।

स्वयं जातत्वात्, समन्तत्वात्, अनन्तार्थविस्तृतत्वात्, विमलत्वात्, अवग्रहादिरहितत्वाच्च प्रत्यक्षं ज्ञानं सुखमैकान्तिकमिति निश्चीयते, अनाकुलत्वैकलक्षणत्वात्सौख्यस्य। यतो हि परतो जायमानं पराधीनतया, असमंतमितरद्वारावरणेन, कतिपयार्थप्रवृत्तमितरार्थबुभुत्सया, समलमसम्यगवबोधेन, अवग्रहादिसहितं क्रमकृतार्थग्रहणखेदेन परोक्षं ज्ञानमत्यन्तमाकुलं भवति। ततो न तत् परमार्थतः सौख्यम्। इदं तु पुनरनादिज्ञानसामान्यस्वभावस्योपरि महाविकाशेनाभिव्याप्य स्वत एव व्यवस्थितत्वात्स्वयं जायमानमात्माधीनतया, समन्तात्मप्रदेशान् परमसमक्षज्ञानोपयोगीभूयाभिव्याप्य व्यवस्थितत्वात्समन्तम् अशेषद्वारापावरणेन, प्रसभं निपीतसमस्तवस्तुज्ञेयाकारं परमं वैश्वरूप्यमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वादनन्तार्थविस्तृतम् समस्तार्थाबुभुत्सया सकलशक्तिप्रतिबन्धककर्मसामान्यनिःक्रान्ततया परिस्पष्टप्रकाशभास्वरं स्वभावमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वाद्विमलम् सम्यगवबोधेन। युगपत्समर्पितत्रैसमयिकात्मस्वरूपं लोकालोकमभिव्याप्य व्यवस्थितत्वादवग्रहादिरहितं क्रमकृतार्थग्रहणखेदाभावेन प्रत्यक्ष ज्ञानमनाकुलं भवति। ततस्तत्पारमार्थिकं खलु सौख्यम् ॥५९॥

भूमिका—अब, इसी प्रत्यक्षज्ञान को पारमार्थिकसुख ऐसे (अर्थात् यह प्रत्यक्षज्ञान ही पारमार्थिकसुख है ऐसा) बतलाते हैं:—

अन्वयार्थ—(१) [स्वय जात] अपने आप से उत्पन्न (स्व-आश्रयभूत-स्वाधीन) (२) [समत] समत (सर्व प्रदेशो से जानता हुआ), (३) [अनन्तार्थविस्तृत] अनन्त पदार्थों मे फैला हुआ, (४) [विमल] निर्मल [तु] और (५) [अवग्रहादिभिः रहित] अवग्रहादि से रहित, [ज्ञान] ऐसा प्रत्यक्षज्ञान [ऐकान्तिक सुख] ऐकान्तिकसुख है (सर्वथा सुख रूप है) [इति भणित] ऐसा (सर्वज्ञदेव के द्वारा) कहा गया है।

टीका—(१) स्वयं उत्पन्न होने से (स्वाश्रित होने से अथवा स्वाधीन होने से) (२) समन्त (सर्व प्रदेशों से जानने वाला) होने से, (३) अनन्त पदार्थों में फैला हुआ होने से, (४) कर्म मल-रहित होने से और (५) अवग्रहादि से रहित होने से, प्रत्यक्षज्ञान ऐकान्तिक सुख रूप है, यह निश्चित होता है, क्योंकि सुख का एकमात्र लक्षण अनाकुलता है। इसी बात को विस्तारपूर्वक समझाते हैं:—

ऐन्द्रिय परोक्षज्ञान की दुखरूपता—(१) पर से उत्पन्न होता हुआ पराधीन होने (के कारण) से, (२) असमन्त (कुछ प्रदेशों द्वारा जानता हुआ) इतर द्वारों के आवरण (के कारण) से, (३) कुछ पदार्थों में प्रवर्तमान होता हुआ अन्य पदार्थों को जानने की इच्छा (के कारण) से, (४) कर्म मल सहित होता हुआ असम्यक् (विपरीत या अस्पष्ट)

जानने के कारण से और (५) अवग्रहादि सहित होता हुआ क्रम-पूर्वक पदार्थ ग्रहण के खेद के कारण से (इन ५ कारणों से) परोक्षज्ञान अत्यन्त आकुल (दुःखमयी) होता है। इसलिये वह परमार्थ से सुख रूप नहीं है। अतीन्द्रिय-प्रत्यक्षज्ञान की सुखरूपता—(१) अनादिज्ञान सामान्य रूप स्वभाव के ऊपर महा विकास से व्याप्त होकर स्वतः ही व्यवस्थित रहने से स्वयं उत्पन्न हुआ आत्माधीनता से, (२) परम प्रत्यक्षज्ञानोपयोग रूप होकर समस्त आत्म-प्रदेशों को व्याप्त करके व्यवस्थित पने के कारण से, समन्त हुआ यानि-सम्पूर्ण द्वार के खुल जाने के कारण से, (३) समस्त वस्तुओं के ज्ञेयाकारों को सर्वथा पी जाता हुआ, परम विविधता को व्याप्त होकर व्यवस्थित रहने से, अनन्त पदार्थों में विस्तृत होता सर्व पदार्थों को जानने की इच्छा का अभाव होने से, (४) सकल शक्ति को रोकने वाले कर्म सामान्य के (सम्पूर्ण ज्ञानावरण के) निकल जाने के कारण से, अत्यन्त स्पष्ट प्रकाश के द्वारा प्रकाशमान स्वभाव मे व्याप्त होकर व्यवस्थित रहने से, विमल होता हुआ सम्यक्तया जानने के कारण से तथा (५) जिनने त्रिकाल का अपना स्वरूप युगपत् समर्पित किया है ऐसे लोकालोक व्याप्त होकर व्यवस्थित रहने से, अवग्रह आदि से रहित होता हुआ क्रमपूर्वक किये गये परार्थ ग्रहण के खेद का अभाव होने से (इन पाँच कारणों से) यह प्रत्यक्षज्ञान अनाकुल (आकुलता रहित) सुखरूप है। इसीलिये वह (प्रत्यक्षज्ञान) वास्तव मे पारमार्थिक सुखरूप है ॥५९॥

तात्पर्यवृत्ति

अथाभेदनयेन पञ्चविशेषणविशिष्ट केवलज्ञानमेव सुखमिति प्रतिपादयति—

जादं जात उत्पन्न। किं कर्तृ ? **णाण** केवलज्ञान। कथ जात ? **सयं** स्वयमेव। पुनरपि किंविशिष्ट ? **समत्तं** परिपूर्णं। पुनरपि किंरूप ? **अणंतत्थवित्थडं** अनन्तार्थविस्तीर्णम्। पुनः कीदृशं ? **विमलं** सशयादिमलरहित। पुनरपि। कीदृक् ? **रहियं तु ओग्गहादिहिं** अवग्रहादिरहित चेति एव पञ्चविशेषणविशिष्ट यत्केवलज्ञान **सुहंत्ति एगंतिय भणिय** तत्सुख भणित। कथभूत ? ऐकान्तिक नियमेनेति।

तथाहि—परनिरपेक्षत्वेन चिदानन्दैकस्वभाव निजशुद्धात्मानमुपादानकारण कृत्वा समुत्पद्यमानत्वात्स्वय जायमान सत्सर्वशुद्धात्मप्रदेशाधारत्वेनोत्पन्नत्वात्समस्त सर्वज्ञानाविभागपरिच्छेदपरिपूर्णं सत् समस्तावरणक्षयेनोत्पन्नत्वात्समस्तज्ञेयपदार्थग्राहकत्वेन विस्तीर्ण सत् संशयविमोहविभ्रमरहितत्वेन सूक्ष्मादिपदार्थपरिच्छित्तिविषयेऽत्यन्तविशदत्वाद्विमल सत् क्रमकरणव्यवधानजनितखेदाभावादवग्रहादिरहित च सत्, यदेव पञ्चविशेषणविशिष्ट क्षायिकज्ञान तदनाकुलत्वलक्षणपरमानन्दैकरूपपारमार्थिकसुखात्सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि निश्चयेनाभिन्नत्वात्पारमार्थिकसुख भण्यते। इत्यभिप्राय. ॥५९॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि अभेदनय से पाँच विशेषण सहित केवलज्ञान ही सुखरूप है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(णाणं) यह केवलज्ञान (सयं जादं) स्वयमेव ही उत्पन्न हुआ है, (समत्तं) परिपूर्ण है (अणंतत्थवित्थदं) अनन्त पदार्थों में व्यापक है, (विमलं) संशय आदि मलों से रहित है, (ओग्गहादिहिं तु रहियं) अवग्रह, ईहा अवाय, धारणा आदि के क्रम से रहित है। इस तरह पांच विशेषणों से गर्भित जो केवलज्ञान है वही (एगंतियं) नियम करके (सुहं त्ति भणिय) सुख है, ऐसा कहा गया है।

भाव यह है कि यह केवलज्ञान पर-पदार्थों की सहायता की अपेक्षा न करके चिदानन्दमयी एक स्वभाव रूप अपने ही शुद्धात्मा के एक उपादानकारण से उत्पन्न हुआ है इसलिये स्वयं पैदा हुआ है, सर्व शुद्ध आत्मा के प्रदेशो मे प्रगटा है इसलिये सम्पूर्ण है, अथवा सर्वज्ञान के अविभाग–प्रतिच्छेद अर्थात् शक्ति के अंश उनसे परिपूर्ण है, सर्व-आवरण के क्षय होने से पैदा होकर सर्व ज्ञेय पदार्थों को जानता है इससे अनन्त पदार्थ व्यापक है, संशय, विमोह विभ्रम से रहित होकर व सूक्ष्म आदि पदार्थो के जानने मे अत्यन्त विशद होने से निर्मल है। तथा क्रमरूप इन्द्रियजनित ज्ञान के खेद के अभाव से अवग्रहादि-रहित अक्रम है। ऐसा यह पांच विशेषण सहित क्षायिकज्ञान अनाकुलता लक्षण को रखने वाला परमानन्दमयी एक रूप पारमार्थिकसुख से सज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि की अपेक्षा से भेदरूप होने पर भी निश्चयनय से अभिन्न होने से पारमार्थिक या सच्चा स्वाभाविक सुख कहा जाता है, यह अभिप्राय है ॥५९॥

अथ केवलस्यापि परिणामद्वारेण खेदस्य सम्भवादैकान्तिकसुखत्व नास्तीति प्रत्याचष्टे—

जं केवलत्ति णाणं तं सोक्खं परिणमं च सो चेव।
खेदो तस्स ण भणिदो[1] जम्हा घादी[2] खयं जादा ॥६०॥

यत् केवलमिति ज्ञान तत् सौख्य परिणामश्च सश्चैव।
खेदस्तस्य न भणितो यस्मात् घातीनि क्षय जातानि ॥६०॥

अत्र को हि नाम खेदः, कश्च परिणामः कश्च केवलसुखयोर्व्यतिरेक, यत. केवलस्यैकान्तिकसुखत्वं न स्यात्। खेदस्यायतनानि घातिकर्माणि, न नाम केवलं परिणाममात्रम्। घातिकर्माणि हि महामोहोत्पादकत्वादुन्मत्तकवदतस्मिस्तद्बुद्धिमाधाय परिच्छेद्यमर्थं प्रत्यात्मानं यत. परिणामयन्ति, ततस्तानि तस्य-प्रत्यर्थं परिणम्य श्राम्यतः खेदनिदानतां प्रतिपद्यन्ते। तदभावात्कुतो हि नाम केवले खेदस्योद्भेदः। यतश्च त्रिसमयावच्छि-

१ भणिओ (ज० वृ०)। २ खादिक्खय (ज० वृ०)।

न्नसकलपदार्थपरिच्छेद्याकारवैश्वरूप्यप्रकाशनास्पदीभूत चित्रभित्तिस्थानीयमनन्तस्वरूपं स्वयमेव परिणमत्केवलमेव परिणामः, ततः कुतोऽन्यः परिणामो यद्द्वारेण खेदस्यात्मलाभः, यतश्च समस्तस्वभावप्रतिघाताभावात्समुल्लसितनिरङ्कुशानन्तशक्तितया, सकलं त्रैकालिकं लोकालोकाकारमभिव्याप्य कूटस्थत्वेनात्यन्तनिःप्रकम्पं व्यवस्थितत्वादनाकुलतां सौख्य-लक्षणभूतामात्मनोऽव्यतिरिक्तां बिभ्राणं केवलमेव सौख्यम् । ततः कुतः केवलसुखयोर्व्यति-रेकः । अतः सर्वथा केवलं सुखमैकान्तिकमनुमोदनीयम् ।।६०।।

भूमिका—अब, केवलज्ञान के भी परिणाम-द्वार से (परिणमन होने के कारण) सभवते खेद के होने से ऐकान्तिक (सर्वथा) सुखपना नहीं है, इस अभिप्राय का खण्डन करते है—

अन्वयार्थ—[यत्] जो [केवल इति ज्ञान] 'केवल' नाम का ज्ञान है [तत् सौख्य] वह सुख है [च] और [परिणाम] परिणाम भी [स एव] वह ही है। [तस्य खेद न भणित] उसके खेद नही कहा गया है [यस्मात्] क्योकि [घातीनि] घातिकर्म [क्षय जातानि] क्षय को प्राप्त हो गये है।

टीका—यहाँ (केवलज्ञान के सम्बन्ध मे) खेद क्या है ? (२) परिणाम क्या है ? तथा (३) केवलज्ञान और सुख मे भिन्नता क्या है ? कि जिससे केवलज्ञान के ऐकान्तिक (सर्वथा) सुखपना न हो ? (१) खेद के आयतन (स्थान) घातिकर्म हैं, केवल परिणाम मात्र (खेद का स्थान) नहीं है। क्योकि घातिकर्म महामोह के उत्पादक होने से, उन्मत्त करने वाली वस्तु की भाँति, अतत् मे तत्-बुद्धि कराकर आत्मा को ज्ञेय पदार्थ के प्रति परिणमन कराते हैं, इसलिये वे (घातिकर्म) प्रत्येक पदार्थ के प्रति परिणमित हो-होकर थकने वाले उस आत्मा के लिये खेद के कारणपने को प्राप्त होते हैं। उन (घातिकर्मों) का अभाव हो जाने से केवलज्ञान मे खेद की प्रगटता किस कारण से हो सकती है ? (यानि नहीं हो सकती)। (२) और क्योकि तीनकाल-जितने (त्रैकालिक) समस्त पदार्थों की ज्ञेयाकार रूप विविधता को प्रकाशित करने का स्थान-भूत (केवलज्ञान) चित्रित दीवार की भांति स्वयं ही अनन्त स्वरूप परिणमन करता हुआ केवलज्ञान ही परिणाम है। इसलिये अन्य परिणाम कहाँ है कि जिसके द्वारा खेद की उत्पत्ति हो ? (अर्थात् नहीं है)। और (३) समस्त स्वभाव प्रतिघात के अभाव से निरंकुश अनन्तशक्ति के उल्लसित होने से समस्त त्रैकालिक लोकालोक के आकार को व्याप्त होकर कूटस्थपने के कारण से अत्यन्त निष्कंप व्यवस्थित रहने से आत्मा से अभिन्न सुख-लक्षणभूत अनाकुलता को धारण करता हुआ केवलज्ञान ही सुख है। इसलिये केवलज्ञान और सुख मे भिन्नता कहां है ? (नहीं है)। इससे, 'केवलज्ञान ऐकान्तिक सुख है' यह सर्वथा अनुमोदन करने योग्य है ।।६०।।

तात्पर्यवृत्ति

अथानन्तपदार्थपरिच्छेदनात्केवलज्ञानेऽपि खेदोस्तीति पूर्वपक्षे सति परिहारमाह—

जं केवलत्ति णाणं तं सोक्खं यत्केवलमिति ज्ञान तत्सौख्य भवति, तस्मात् **खेदो तस्स ण भणिओ** तस्य केवलज्ञानस्य खेदो दु ख न भणित तदपि कस्मात् ? **जम्हा घादिक्खय जादा** यस्मान्मोहादिघातिकर्माणि क्षय गतानि । तर्हि तस्यानन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणामो दु खकारण भविष्यति । नैवम् । **परिणमं च सो चेव** तस्य केवलज्ञानस्य सबन्धी परिणामश्च स एव सुखरूप एवेति ।

इदानी विस्तर —ज्ञानदर्शनावरणोदये सति युगपदर्थान् ज्ञातुमशक्यत्वात् क्रमकरणव्यवधानग्रहणे खेदो भवति, आवरणद्वयाभावे सति युगपद्ग्रहणे केवलज्ञानस्य खेदो नास्तीति सुखमेव । तथैव तस्यभगवतो जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्परिच्छित्तिसमर्थमखण्डैकरूप प्रत्यक्षपरिच्छित्तिमय स्वरूप परिणमत्सत् केवलज्ञानमेव परिणामो न च केवलज्ञानादि्भन्नपरिणामोऽस्ति येन खेदो भविष्यति । अथवा परिणामविषये द्वितीयव्याख्यान क्रियते युगपदनन्तपदार्थपरिच्छित्तिपरिणामेपि वीर्यान्तरायनिरवशेषक्षयादनन्तवीर्यत्वात् खेदकारण नास्ति, तथैव च शुद्धात्मसर्वप्रदेशेषु समरसीभावेन परिणममानाना सहजशुद्धानन्दैकलक्षणसुखरसास्वादपरिणतिरूपामात्मन सकाशादभिन्नामनाकुलता प्रति खेदो नास्ति । संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि निश्चयेनाभेदरूपेण परिणममान केवलज्ञानमेव सुख भण्यते । तत स्थितमेतत्केवलज्ञानादि्भन्न सुख नास्ति । तत एव केवलज्ञाने खेदो न संभवतीति ॥६०॥

उत्थानिका—आगे कोई शका करता है कि जब केवलज्ञान मे अनन्त पदार्थों का ज्ञान होता है तब उस ज्ञान के होने मे अवश्य खेद या श्रम करना पडता होगा । इसलिये वह निराकुल नही है । इसका समाधान करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जं केवलत्ति णाण) जो केवलज्ञान है (त सोक्खं) वही सुख है (सा चेव परिणमं च) तथा केवलज्ञान सम्बन्धी परिणाम आत्मा का स्वाभाविक परिणमन है । (जम्हा) क्योंकि (घादी खयं जादा) मोहनीय आदि घातियाकर्म नष्ट हो गये (तस्स खेदो ण भणिओ) इसलिये उस अनंत पदार्थों को जानने वाले केवलज्ञान के भीतर दुःख का कारण खेद नहीं कहा गया है ।**

इसका विस्तार यह है कि जहां ज्ञानावरण दर्शनावरण के उदय से एक साथ पदार्थों के जानने की शक्ति नहीं होती है किन्तु क्रम-क्रम से पदार्थ जानने मे आते हैं वहीं खेद होता है । दोनों दर्शन-ज्ञान आवरण के अभाव होने पर एक साथ सर्व पदार्थों को जानते हुए केवलज्ञान मे कोई खेद नहीं है, किन्तु सुख ही है । तैसे ही उन केवली भगवान् के भीतर तीन जगत् और तीन कालवर्ती सर्व पदार्थों को एक समय मे जानने को समर्थ अखंड एकरूप प्रत्यक्षज्ञानमय स्वरूप से परिणमन करते हुए केवलज्ञान ही परिणाम रहता है । कोई केवलज्ञान से भिन्न परिणाम नहीं होता है, जिससे कि खेद

होगा। अथवा परिणाम के सम्बन्ध मे दूसरा व्याख्यान करते हैं—एक समय में अनंत पदार्थों के ज्ञान के परिणाम मे भी वीर्यान्तराय के पूर्ण क्षय होने से अनन्तवीर्य के सद्भाव से खेद का कोई कारण नहीं है। वैसे ही शुद्ध आत्मप्रदेशों मे समतारस के भाव से परिणमन करने वाली तथा सहज शुद्ध आनन्दमयी एक लक्षण को रखने वाली, सुखरस के आस्वाद में रमने वाली आत्मा से अभिन्न निराकुलता के होते हुए खेद नहीं होता है। ज्ञान और सुख संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि का भेद होने पर भी निश्चय से अभेदरूप से परिणमन करता केवलज्ञान ही सुख कहा जाता है। इससे यह ठहरा कि केवलज्ञान से भिन्न सुख नहीं है, इस कारण से ही केवलज्ञान मे खेद का होना सम्भव नहीं है ॥६०॥

भूमिका—अथ पुनरपि केवलस्य सुखस्वरूपतां निरूपयन्नुपसंहरति—

णाणं अत्थंतगयं लोयालोएसु[1] वित्थडा दिट्ठी।
णट्ठमणिट्ठं सव्वं इट्ठं पुण जं तु[2] तं लद्धं ॥६१॥

ज्ञानमर्थान्तगत, लोकालोकेषु विस्तृता दृष्टि:।
नष्टमनिष्ट सर्वमिष्ट पुन' यत्तु तत् लब्धम् ॥६१॥

स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं हि सौख्यम्। आत्मनो हि दृशिज्ञप्ती स्वभाव: तयोर्लोकालोकविस्तृतत्वेनार्थान्तिगतत्वेन च स्वच्छन्दविजृम्भितत्वाद्भवति प्रतिघाताभाव:। ततस्तद्धेतुकं सौख्यमभेदविवक्षायां केवलस्य स्वरूपम्। किंच केवलं सौख्यमेव, सर्वानिष्टप्रहाणात् सर्वेष्टोपलम्भाच्च। यतो हि केवलावस्थायां सुखप्रतिपत्तिविपक्षभूतस्य दुःखस्य साधनतामुपगतमज्ञानमखिलमेव प्रणश्यति, सुखस्य साधनीभूतं तु परिपूर्णं ज्ञानमुपजायते। ततः केवलमेव सौख्यमित्यलं प्रपञ्चेन ॥६१॥

भूमिका—अब, फिर भी केवलज्ञान की सुखस्वरूपता को निरूपण करते हुए उपसंहार करते हैं—

अन्वयार्थ—[ज्ञान] ज्ञान [अर्थान्तिगत] पदार्थों के पार को प्राप्त है। [दृष्टि:] दृष्टि (दर्शन) [लोकालोकेषु विस्तृता] लोकालोक मे फैली हुई है। (इसलिये केवलज्ञान सुख स्वरूप है) [सर्वम् अनिष्ट] सर्व अनिष्ट [नष्टं] नष्ट हो चुका है। [पुन.] और [यत् तु] जो [इष्ट] इष्ट है [तत्] वह सब [लब्ध] प्राप्त हो चुका है (इसलिये भी केवलज्ञान सुखस्वरूप है)।

टीका—सुख का कारण स्वभाव के प्रति घात का अभाव है। आत्मा का स्वभाव वास्तव में दर्शन-ज्ञान है। (दर्शन) लोक-अलोक मे फैला होने से और (ज्ञान) पदार्थों के

१ लोयालोयेसु (ज० वृ०)। २ हि (ज० वृ०)।

पार को प्राप्त होने से (दर्शन-ज्ञान के) स्वच्छन्दतापूर्वक (स्वतन्त्रतापूर्वक) विकसित-पना होने के कारण से प्रतिघात का अभाव है। इसलिये स्वभाव के प्रतिघात का अभाव जिसका कारण है ऐसा सुख अभेद विवक्षा मे केवलज्ञान का स्वरूप है।

प्रकारान्तर से केवलज्ञान की सुखस्वरूपता बतलाते हैं—

केवलज्ञान सुख-स्वरूप ही है क्योंकि सर्व अनिष्ट का नाश हो चुका है और सर्व इष्ट का लाभ हो चुका है। क्योकि वास्तव मे केवल अवस्था मे सुख-प्राप्ति के विपक्षभूत दुःख के साधनपने को प्राप्त अज्ञान सम्पूर्ण ही नाश हो जाता है और सुख का साधनभूत परिपूर्ण ज्ञान उत्पन्न हो जाता है। इसलिये केवलज्ञान ही सुखस्वरूप है। अधिक विस्तार से बस है ॥६१॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पुनरपि केवलज्ञानस्य सुखस्वरूपता प्रकारान्तरेण दृढयति —

णाणं अत्थंतगयं ज्ञानं केवलज्ञानमर्थान्तिगतं ज्ञेयान्तप्राप्तं **लोयालोयेसु वित्थडा दिट्ठी** लोका-लोकयोर्विस्तृता दृष्टि: केवलदर्शनं। **णट्ठमणिट्ठं सव्वं** अनिष्टं दुःखमज्ञानं च तत्सर्वं नष्टं **इट्ठं पुण जं हि तं लद्धं** इष्टं पुनर्यद् ज्ञानं सुखं च हि स्फुटं तत्सर्वं लब्धमिति।

तद्यथा—स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकं सुखं भवति। स्वभावो हि केवलज्ञानदर्शनद्वयं, तयो: प्रतिघात आवरणद्वयं तस्याभाव: केवलिनां, तत: कारणात्स्वभावप्रतिघाताभावहेतुकमक्षयानन्तसुखं भवति। यतश्च परमानन्दैकलक्षणसुखप्रतिपक्षभूतमाकुलत्वोत्पादकमनिष्टं दुःखमज्ञानं च नष्टं, यतश्च पूर्वोक्तलक्षणसुखाविनाभूतं त्रैलोक्योदरविवरवर्तिसमस्तपदार्थयुगपत्प्रकाशकमिष्टं ज्ञानं च लब्धं, ततो ज्ञायते केवलिनां ज्ञानमेव सुखमित्यभिप्राय: ॥६१॥

उत्थानिका—आगे फिर भी केवलज्ञान को सुखरूपपना अन्य प्रकार से कहते हुए इसी बात को पुष्ट करते है—

अवन्य सहित विशेषार्थ—(णाणं) केवलज्ञान (अत्थतगय) सर्वज्ञेयों के अंत को प्राप्त हो गया अर्थात् केवलज्ञान ने सब जान लिया (दिट्ठी) केवलदर्शन (लोयालोयेसु वित्थडा) लोक और अलोक मे फैल गया (सव्वं अणिट्ठ) सर्व अनिष्ट अर्थात् अज्ञान और दुःख (णट्ठं) नष्ट हो गया (पुण) तथ (जं तु इट्ठं तं तु लद्धं) जो कुछ इष्ट है अर्थात् पूर्ण ज्ञान तथा सुख है सो सब प्राप्त हो गया।

इसका विस्तार यह है कि आत्मा के स्वभाव के घात का अभाव है सो सुख है। आत्मा का स्वभाव केवलज्ञान और केवलदर्शन है। इनके घातक केवलज्ञानावरण तथा केवलदर्शनावरण हैं सो इन दोनों आवरणो का अभाव केवलज्ञानियो के होता है, इसलिये स्वभाव के घात के अभाव से होने वाला सुख होता है। क्योंकि परमानन्दमयी एक लक्षण-

रूप सुख से उल्टे आकुलता के पैदा करने वाले सर्व अनिष्ट अर्थात् दुःख और अज्ञान नष्ट हो गए तथा पूर्व मे कहे हुए लक्षण को रखने वाले सुख के साथ अविनाभूत—अवश्य होने वाले तीन लोक के अन्दर रहने वाले सर्व पदार्थों को एक समय में प्रकाशने वाला इष्ट ज्ञान प्राप्त हो गया, इसलिये यह जाना जाता है केवलियों के ज्ञान ही सुख है, ऐसा अभिप्राय है ॥६१॥

अथ केवलिनामेव पारमार्थिकसुखमिति श्रद्धापयति—

णो सद्दहंति सोक्खं सुहेसु परमं त्ति विगदघादीणं ।
सुणिदूण ते अभव्वाभव्वा वा तं पडिच्छंति ॥६२॥

न श्रद्दधति सौख्यं सुखेषु परममिति विगतघातिनाम् ।
श्रुत्वा ते अभव्या भव्या वा तत्प्रतीच्छन्ति ॥६२॥

इह खलु स्वभावप्रतिघातादाकुलत्वाच्च मोहनीयादिकर्मजालशालिनां सुखाभासेऽप्यपारमार्थिकी सुखमिति रूढिः । केवलिनां तु भगवतां प्रक्षीणघातिकर्मणां स्वभावप्रतिघाताभावादनाकुलत्वाच्च यथोदितस्य हेतोर्लक्षणस्य च सद्भावात्पारमार्थिकं सुखमिति श्रद्धेयम् । न किलैवं येषां श्रद्धानमस्ति ते खलु मोक्षसुखसुधापानदूरवर्तिनो मृगतृष्णाम्भोभारमेवाभव्याः पश्यन्ति । ये पुनरिदमिदानीमेव वचः प्रतीच्छन्ति ते शिवश्रियो भाजनं समासन्नभव्याः भवन्ति । ये तु पुरा प्रतीच्छन्ति ते तु दूरभव्या इति ॥६२॥

भूमिका—अब, केवलज्ञानियो के ही पारमार्थिक सुख है—यह श्रद्धा कराते हैं—

अन्वयार्थ—[विगतघातिना] नष्ट हो गये है घातिकर्म जिनके उन केवलियो के [सुखेषु परम] (सर्व) सुखो मे उत्कृष्ट [सौख्य] सुख है, [इति श्रुत्वा] यह सुनकर [ये] जो [न श्रद्धधाति] श्रद्धान नही करते है [ते अभव्या] वे अभव्य है । [भव्या] भव्य तो [तत्] उसको (केवलियो के सर्वोत्कृष्ट सुख है, इसको) [प्रतीच्छन्ति] स्वीकार करते हैं (उसकी श्रद्धा करते है) ।

टीका—इस लोक में निश्चय से मोहनीय-आदि-कर्मजाल-वालों के स्वभाव प्रतिघात के कारण से और आकुलता के कारण से सुखाभास होने पर भी (उस सुखाभास को 'सुख' ऐसा कहने की अपारमार्थिक रूढि (लोक पद्धति) है । नष्ट हो चुके हैं घातिकर्म जिनके और जो भगवान् हैं (बड़ी महिमा वाले हैं) ऐसे केवली भगवन्तों के, स्वभाव प्रतिघात के अभाव के कारण से और अनाकुलता के कारण से (सुख के) यथोक्त कारण का और लक्षण का सद्भाव होने से पारमार्थिकसुख है, यह श्रद्धा करने योग्य है । जिनके

वास्तव में ऐसी श्रद्धा नहीं है वे वास्तव मे मोक्ष सुख के सुधापान से दूर रहने वाले अभव्य मृगतृष्णा मे जल-समूह को ही देखते हैं (इन्द्रियसुख को ही सुख मानते हैं)। जो इस वचन को इसी समय स्वीकार (श्रद्धा) करते हैं वे शिवश्री (मोक्षलक्ष्मी) के पात्र निकट-भव्य होते हैं, और जो आगे जाकर स्वीकार करेंगे वे दूर भव्य हैं ॥६२॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पारमार्थिकसुख केवलिनामेव, ससारिणा ये मन्यते तेऽभव्या इति निरूपयति—

णो सद्दहंति नैव श्रद्दधति न मन्यन्ते। कि ? **सोक्खं** निर्विकारपरमाह्लादैकसुख। कथभूत न मन्यन्ते ? **सुहेसु परमं त्ति** सुखेषु मध्ये तदेव परमसुख। केषा सम्बन्धि यत्सुख ? **विगदघादीण** विगतघातिकर्मणा केवलिनां। कि कृत्वापि मन्यन्ते ? **सुणिदूण** "**जादं सयं समत्तं**" इत्यादिपूर्वोक्त-गाथात्रयकथितप्रकारेण श्रुत्वापि **ते अभव्वा** ते अभव्या. ते हि जीवा वर्तमानकाले सम्यक्त्वरूपभव्य-त्वव्यक्त्यभावादभव्या भण्यन्ते, न पुन. सर्वथा **भव्वा वा तं पडिच्छंति** ये वर्तमानकाले सम्यक्त्वरूपभव्य-त्वव्यक्तिपरिणतास्तिष्ठन्ति ते तदनन्तसुखमिदानी मन्यन्ते। ये च सम्यक्त्वरूपभव्यत्वव्यक्त्या भाविकाले परिणमिष्यन्ति ते च दूरभव्या अग्र श्रद्धान कुर्युरिति।

अयमत्रार्थः—मारणार्थं तलवरगृहीततस्करस्य मरणमिव यद्यपीन्द्रियसुखमिष्ट न भवति, तथापि तलवरस्थानीयचारित्रमोहोदयेन मोहित सन्निरूपरागस्वात्मोत्थसुखमलभमान सन् सरागसम्यग्दृष्टि-रात्मनिन्दादिपरिणतो हेयरूपेण तदनुभवति। ये पुनर्वीतरागसम्यग्दृष्टय शुद्धोपयोगिनस्तेषा, मत्स्याना स्थलगमनमिवाग्निप्रवेश इव या निर्विकारशुद्धात्मसुखाच्च्यवनमपि दुःख प्रतिभाति। तथा चोक्त—

"समसुखशीलितमनसा च्यवनमपि द्वेषमेति किमु कामा। स्थलमपि दहति झषाणा किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गारा" ॥६२॥

एवमभेदनयेन केवलज्ञानमेव सुखं भण्यते इति कथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन चतुर्थस्थल गत।

उत्थानिका—आगे कहते है कि पारमार्थिक सच्चा अतीन्द्रिय आनन्द केवलज्ञानियो के ही होता है, जो कोई ससारियो के भी ऐसा सुख मानते है, वे अभव्य है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(विगदघादीण) घातियाकर्मों से रहित केवली भगवन्तों के (सुहेसु परमं त्ति) सुखों के बीच मे उत्कृष्ट जो (सोक्खं) विकार-रहित परम आल्हादमयी एक सुख है उसको (सुणिदूण) 'जादं सयं समत्तं' इत्यादि पहले कहीं हुई तीन गाथाओं के कथन प्रमाण सुनकर के भी जान करके भी (ण हि सद्दहंति) निश्चय से नही श्रद्धान करते हैं नहीं मानते हैं, (ते अभव्वा) वे अभव्य जीव है अथवा वे सर्वथा अभव्य नहीं है किन्तु दूरभव्य हैं, जिनको वर्तमानकाल मे सम्यक्त्वरूप भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति का अभाव है (वा) तथा (भव्वा) जो भव्य जीव हैं अर्थात् जो सम्यक्दर्शनरूप भव्यत्वशक्ति की प्रगटता में परिणमन कर रहे हैं।**

भावार्थ—**जिनके भव्यत्वशक्ति की व्यक्ति होने से सम्यक्दर्शन प्रगट हो गया**

है वे (तं पडिच्छंति) उस अनन्तसुख को वर्तमान में श्रद्धान करते हैं तथा मानते हैं और जिनके सम्यक्त्वरूप भव्यत्वशक्ति की प्रगटता की परिणति भविष्यकाल में होगी, ऐसे दूर-भव्य हैं, वे आगे श्रद्धान करेंगे।

यहाँ यह भाव है कि जैसे किसी चोर को कोतवाल मारने के लिये ले जाता है, तब चोर मरण को लाचारी से भोग लेता है तैसे यद्यपि सम्यग्दृष्टियों को इन्द्रियसुख इष्ट नहीं है तथापि कोतवाल के समान चारित्रमोहनीय के उदय से मोहित होता हुआ सराग-सम्यग्दृष्टि जीव वीतरागरूप निज आत्मा से उत्पन्न सच्चे सुख को नहीं भोगता हुआ इन्द्रियसुख को अपनी निन्दा गर्हा आदि करता हुआ त्याग बुद्धि से भोगता है। तथा जो वीतराग सम्यग्दृष्टि शुद्धोपयोगी हैं, उनको विकार रहित शुद्ध आत्मा के सुख से हटना ही, उसी तरह दुःखरूप झलकता है जिस तरह मछलियो को भूमि पर आना तथा प्राणी को अग्नि में घुसना दुःखरूप भासता है। ऐसा ही कहा है—

समसुखशीलितमनसां च्यवनमपि द्वेषमेति किमु कामाः।
स्थलमपि दहति झषाणां किमङ्ग पुनरङ्गमङ्गाराः॥

भाव यह है—समतामयी सुख को भोगने वाले पुरुषों को समता से गिरना ही जब बुरा लगता है तब भोगो में पड़ना कैसे दुःख रूप न भासेगा? जब मछलियों को जमीन ही दाह पैदा करती है, हे आत्मन्! तब अग्नि के अंगारे दाह क्यो न करेंगे ॥६२॥

अथ परोक्षज्ञानिनामपारमार्थिकमिन्द्रियसुखं विचारयति—

मणुआसुरामरिंदा अभिद्दुदा[1] इन्दियेहिं सहजेहिं।
असहंता तं दुक्खं रमंति विसएसु रम्मेसु ॥६३॥

मनुजासुरामरेन्द्रा अभिद्रुता इन्द्रियैं सहजै।
असहमानास्तद्दुःखं रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥६३॥

अमीषां प्राणिनां हि प्रत्यक्षज्ञानाभावात्परोक्षज्ञानमुपसर्पतां तत्सामग्रीभूतेषु स्वरसत एवेन्द्रियेषु मैत्री प्रवर्तते। अथ तेषां तेषु मैत्रीमुपगतानामुदीर्णमहामोहकालानलकवलितानां तप्तायोगोलानामिवात्यन्तमुपात्ततृष्णानां तद्दुःखवेगमसहमानानां व्याधिसात्म्यतामुपगतेषु रम्येषु विषयेषु रतिरुपजायते। ततो व्याधिस्थानीयत्वादिन्द्रियाणां व्याधिसात्म्यसमत्वाद्विषयाणां च न छद्मस्थानां पारमार्थिकं सौख्यम् ॥६३॥

भूमिका—अब, परोक्षज्ञानियों के अपारमार्थिक इन्द्रियसुख का विचार करते हैं।

---

१ अहिद्दुदा (ज० वृ०)।

अन्वयार्थ—[मनुजासुरामरेन्द्रा] मनुष्येन्द्र (चक्रवर्ती), असुरेन्द्र (धरणीन्द्र) और सुरेन्द्र (देवेन्द्र) [सहजैः इन्द्रियै] स्वाभाविक (परोक्षज्ञान वालो को जो स्वाभाविक है ऐसी) इन्द्रियो से [अभिद्रुता] पीडित होते हुए (तथा) [तत् दु ख] उस इन्द्रिय दुःख को [असहमानाः] सहन न कर सकते हुए [रम्येयु विषयेषु] रम्य विषयो मे [रमन्ते] रमण करते हैं।

टीका—**प्रत्यक्षज्ञान के अभाव (के कारण) से परोक्षज्ञान को आश्रय लेने वाले इन प्राणियों के वास्तव में उस (परोक्षज्ञान) की सामग्री रूप (साधनरूप) इन्द्रियों के प्रति निज रस से (स्वभाव से) ही मैत्री प्रवर्तती है, (१) उन (इन्द्रियों में मैत्री को प्राप्त (२) उदय को प्राप्त महामोह रूपी कालाग्नि से कवलित (ग्रसित) (३) तप्त हुए लोहे के गोले की भाँति (जैसे गरम किया हुआ लोहे का गोला पानी को शीघ्र ही सोख लेता है) अत्यन्त तृष्णा को प्राप्त, (४) उस इन्द्रिय-दुःख के वेग को सहन न कर सकने वाले ऐसे उन प्राणियों के, प्रतिकार को प्राप्त (रोग में थोड़ा सा आराम जैसा अनुभव कराने वाले उपचार को प्राप्त) रम्य विषयों मे रति उत्पन्न होती है।**

इसलिये, इन्द्रियों की व्याधि समान होने से और विषयों को व्याधि के प्रतिकार समान होने से, (व्याधि के समान इन्द्रियों के प्रतिकार समान छद्मस्थो के विषयो से रहित पारमार्थिक (सच्चा अतीन्द्रिय) सुख नहीं है ॥६३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ ससारिणामिन्द्रियज्ञानसाधकमिन्द्रियसुख विचारयति—

मणुआसुरामरिंदा मनुजाऽसुरामरेन्द्राः। कथभूताः ? **अहिद्दुदा इन्दियेहिं सहजेहिं** अभिवृता कदर्थिता दु खिताः। कै ? इन्द्रियै. सहजै **असहता त दुक्ख** तद्दु खोद्रेकमसहमाना सन्त रमते **विसएसु रम्मेसु** रमन्ति विषयेषु रम्याभासेषु इति।

अथ विस्तर—मनुजादयो जोवा अमूर्तातीन्द्रियज्ञानसुखास्वादमलभमाना सन्त मूर्तेन्द्रिय-ज्ञानसुखनिमित्त तन्निमित्त पञ्चेन्द्रियेषु मैत्री कुर्वन्ति। ततश्च तप्तलोहगोलकानामुदकाकर्षणमिव विषयेषु तीव्रतृष्णा जायते। तां तृष्णामसहमाना विषयाननुभवन्ति इति। ततो ज्ञायते पञ्चेन्द्रियाणि व्याधिस्थानीयानि, विषयाश्च तत्प्रतीकारौषधस्थानीया इति ससारिणा वास्तव सुख नास्ति ॥६३॥

उत्थानिका—आगे ससारी जीवो के जो इन्द्रियजनित ज्ञान के द्वारा साधा जाने वाला इन्द्रियसुख होता है, उसका विचार करते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(मणुआऽसुरामरिंदा) मनुष्य, भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी तथा कल्पवासी देव और मनुष्यों के इन्द्र चक्रवर्ती राजा तथा चार प्रकार के देवों के सर्व इन्द्र (सहजेहिं) अपने अपने शरीरो में उत्पन्न हुई अथवा स्वभाव से पैदा हुई**

(इंदियेहिं) इन्द्रियो की चाह के द्वारा (अहिद्दुदा) पीड़ित या दुखित होकर (त दुक्खं असहंता) उस दुःख की तीव्र धारा को न सहन करते हुए (रम्मेसु विसएसु) सुन्दर मालूम होने वाले इन्द्रियों के विषयों मे (रमंति) रमण करते हैं।

इसका विस्तार यह है कि जो मनुष्यादिक जीव अमूर्त्त अतीन्द्रियज्ञान तथा सुख के आस्वाद को नहीं अनुभव करते हुए मूर्तिक इन्द्रियजनित ज्ञान तथा सुख के निमित्त पांचों इन्द्रियो के भोगों मे प्रीति करते हैं उनमें जैसे गर्म लोहे का गोला चारो तरफ से पानी को खींच लेता है उसी तरह पुनः पुनः विषयो में तीव्र तृष्णा पैदा होती है। उस तृष्णा को न सह सकते हुए वे विषय भोगों का स्वाद लेते हैं। इसलिये ऐसा जाना जाता है कि पांचो इन्द्रियो की तृष्णा रोग के समान है। तथा उसका उपाय विषयभोग करना यह औषधि के समान है। इसलिये संसारी जीवो को वास्तविक सच्चे सुखका लाभ नहीं होता है ॥६३॥

अथ यावदिन्द्रियाणि तावत्स्वभावादेव दुःखमेव वितर्कयति--

जेसिं विसयेसु [1]रदी तेसिं दुक्खं वियाण सब्भावं।
जदि तं ण हि सब्भावं वावारो णत्थि विसयत्थं ॥६४॥

येषां विषयेषु रतिस्तेषां दुःखं विजानीहि स्वभावम्।
यदि तन्न हि स्वभावो व्यापारो नास्ति विषयार्थम् ॥६४॥

येषां जीवदवस्थानि हतकानिन्द्रियाणि, न नाम तेषामुपाधिप्रत्ययं दुःखम्। किंतु स्वाभाविकमेव, विषयेषु रतेरवलोकनात्। अवलोक्यते हि तेषां स्तम्बेरमस्य करेणुकुट्टनीगात्रस्पर्श इव, सफरस्य बडिशामिषस्वाद इव, इन्दिरस्य संकोचसमुखारविन्दामोद इव, पतङ्गस्य प्रदीपार्चिरूप इव, कुरङ्गस्य मृगयुगेयस्वर इव, दुर्निवारेन्द्रियवेदनावशीकृतानामासन्ननिपातेष्वपि विषयेष्वभिपातः। यदि पुनर्न तेषां दुःखं स्वाभाविकमभ्युपगम्येत तदोपशातशीतज्वरस्य संस्वेदनमिव, प्रहीणदाहज्वरस्यारनालपरिषेक इव, निवृत्तनेत्रसंरम्भस्य च वटाचूर्णविचूर्णमिव, विनष्टकर्णशूलस्य बस्तमूत्रपूरणमिव, रूढव्रणस्यालेपनदानमिव, विषयव्यापारो न दृश्येत। दृश्येत चासौ। ततः स्वभावभूतदुःखयोगिन एव जीवदिन्द्रियाः परोक्षज्ञानिनः ॥४४॥

भूमिका—अब, जहां तक इन्द्रिया हैं वहा तक स्वभाव से ही दुख है, इस प्रकार से निश्चित करते है।

---

१ रई (ज० वृ०)। २ जइ (ज० वृ०)।

अन्वयार्थ—[येषा] जिनके [विषयेषु रति] विषयो मे रति है [तेषा] उनके [स्वभाव दु ख] स्वाभाविक दुख [विजानीहि] तू जान [हि] क्योकि [यदि तत्] जो वह दु ख [स्वभाव न] स्वाभाविक अर्थात् जो स्वभाव से न होता तो उसका [विषयार्थ] इन्द्रियो के विषयभूत पदार्थो मे [व्यापार.] व्यापार भी [न अस्ति] न होता।

टीका—**जिनकी हत (निकृष्ट-निंद्य) इन्द्रियां जीवित अवस्था में हैं उनके उपाधि के कारण से होने वाला (बाह्य सयोग के कारण से होने वाला औपाधिक) दु.ख न भी हो तो भी स्वाभाविक दुःख है ही, क्योंकि (उनकी) विषयों मे रति देखी जाती है। हाथी के हथिनी रूपी कुट्टनी के शरीर स्पर्श की तरह, मछली के बंसी में फंसे हुए मास के स्वाद की तरह, भ्रमर बन्द होने के सन्मुख कमल की गंध की तरह, पतंग के दीपक की ज्योति के रूप की तरह और हिरन के शिकारी के स्वर की तरह दुर्निवार इन्द्रिय-वेदना के वशीभूत होते हुए उनके (अर्थात् जिनके इन्द्रियां जीवित हैं उनके) अत्यन्त नाशवाले (क्षणिक) विषयों में भी पतन देखा जाता है। 'उनका दु ख स्वाभाविक है' यदि ऐसा स्वीकार न किया जाय तो, जिसका शीतज्वर उपशान्त हो गया है उसके पसेव (पसीना) की तरह, जिसका दाहज्वर उतर गया है उसके कांजी के परिषेक की तरह, जिसकी आंखों का दुख दूर हो गया है उसके वटचूर्ण (शख इत्यादि का चूर्ण) आजने की तरह, जिसका कान का दर्द नष्ट हो गया है उसको बकरे का मूत्र कान मे डालने की तरह और जिसका घाव पूरा भर गया है उसके फिर लेप करने की तरह (अर्थात् जिसका रोग शमन हो गया है उस रोग के प्रतिकार या इलाज के लिए औषधि आदि सेवन नहीं देखा जाता, उसी प्रकार यदि उन जीवित इन्द्रिय वालों के यदि वांछा रूपी रोग न होता तो उनके भी) विषय-व्यापार न देखा जाता, (किन्तु) वह (विषय व्यापार) देखा जाता है। इससे (सिद्ध हुआ कि) जिनकी इन्द्रियां जीवित है, ऐसे परोक्षज्ञानी स्वभावभूत दु ख वाले (स्वाभाविक दुखी ही) है ॥६४॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ यावदिन्द्रियव्यापारस्तावद्दु खमेवेति कथयति—

जेसि विसयेसु रई येषा निर्विषयातीन्द्रियपरमात्मस्वरूपविपरीतेषु विषयेषु रति **तेसि दुक्ख वियाण सब्भाव** तेषा बहिर्मुखजीवाना निजशुद्धात्मद्रव्यसवित्तिसमुत्पन्ननिरुपाधिपारमार्थिकसुखविपरीत स्वभावेनैव दु खमस्तीति विजानीहि। कस्मादिति चेत् ? पञ्चेन्द्रियविषयेषु रतेरवलोकनात् **जइ त ण हि सब्भाव** यदि तद्दु ख स्वभावेन नास्ति हि स्फुट **वावारो णत्थि विसयत्थ** र्तहि विषयार्थ व्यापारो नास्ति न घटते। व्याधिस्थानामौषधेष्विव विषयाथ व्यापारो दृश्यते चेत्तत एव ज्ञायते दु खमस्तीत्य-भिप्राय.। एव परमार्थेनेन्द्रियसुखस्य दु खस्थापनार्थ गाथाद्वय गतम् ॥६४॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जब तक इन्द्रियो के द्वारा यह प्राणी विषयो के व्यापार करता रहता है तब तक इसको दुःख ही है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जेसिं विसयेसु रई) जिन जीवों की विषयरहित अतीन्द्रिय परमात्म स्वरूप से विपरीत इन्द्रियों के विषयों में प्रीति होती है (तेसिं सब्भावं दुक्खं वियाण) उनको स्वाभाविक दुःख जानो अर्थात् उन बहिर्मुख मिथ्यादृष्टि जीवों को अपने शुद्ध आत्मद्रव्य के अनुभव से उत्पन्न, उपाधिरहित निश्चय सुख से विपरीत स्वभाव से ही दुःख होता है, ऐसा जानो (जदि तं सब्भाव ण हि) यदि वह दुःख स्वभाव से निश्चय करके न होवे तो (विसयत्थं वावारो णत्थि) विषयों के लिये व्यापार न होवे । जैसे रोग से पीड़ित होने वालों के ही लिये औषधि का सेवन होता है, वैसे ही इन्द्रियों के विषयों के सेवने के लिये ही व्यापार दिखाई देता है, इसी से यह जाना जाता है कि उनके दुख है, ऐसा अभिप्राय है । इस प्रकार निश्चय से इन्द्रियजनित सुख दुःखरूप ही है, ऐसा स्थापन करते हुए दो गाथाएं पूर्ण हुई ।।६४।।**

अथ मुक्तात्मसुखप्रसिद्धये शरीरस्य सुखसाधनतां प्रतिहन्ति—

पप्पा इट्ठे विसये फासेहिं समस्सिदे सहावेण ।
परिणममाणो अप्पा सयमेव सुहं ण हवदि देहो ।।६५।।

प्राप्येष्टान् विषयान् स्पर्शैः समाश्रितान् स्वभावेन ।
परिणममान आत्मा स्वयमेव सुखं न भवति देहः ।।६५।।

अस्य खल्वात्मनः सशरीरावस्थायामपि न शरीरं सुखसाधनतामापद्यमानं पश्यामः, यतस्तदापि पीतोन्मत्तकरसैरिव प्रकृष्टमोहवशवर्तिभिरिन्द्रियैरिमेऽस्माकमिष्टा इति क्रमेण विषयानभिपतद्भिरसमीचीनवृत्तितामनुभवन्नुपरुद्धशक्तिसारेणापि ज्ञानदर्शनवीर्यात्मकेन निश्चयकारणतामुपागतेन स्वभावेन परिणममानः स्वयमेवायमात्मा सुखतामापद्यते । शरीरं त्वचेतनत्वादेव सुखत्वपरिणतेर्निश्चयकारणतामनुपगच्छन्न जातु सुखतामुपढौकत इति ।।६५।।

भूमिका—**अब, मुक्त-आत्मा के सुख की प्रसिद्धि के लिये, शरीर की सुख-साधनता का खण्डन करते हैं ?—सिद्ध भगवान् के शरीर के बिना भी सुख होता है यह भाव स्पष्ट समझाने के लिये संसार अवस्था मे भी शरीरसुख का (इन्द्रियसुख का) साधन नहीं है, यह निश्चित करते हैं—**

अन्वयार्थ—[स्पर्शैः समाश्रितान्] स्पर्शन आदिक इन्द्रिया जिनका आश्रय लेती है ऐसे [इष्टान् विषयान्] इष्ट विषयो को [प्राप्य] पाकर [स्वभावेन] (अपने अशुद्ध)

स्वभाव से (परिणममानः] परिणमन करता हुआ [आत्मा] आत्मा [स्वयमेव] स्यय ही [सुख] सुखरूप (इन्द्रियसुख रूप) होता है [देह' न भवति] (किन्तु) देह सुखरूप नही होती हैं।

टीका—**वास्तव में इस आत्मा के सशरीर अवस्था में भी शरीरसुख की साधनता को प्राप्त होता हुआ हम नहीं देखते हैं, क्योंकि तब भी, मानो उन्माद-जनक मदिरा का पान किया हो ऐसी प्रबल मोह के वश मे वर्तने वालीं (तथा) 'यह (विषय) हमे इष्ट है' इस प्रकार क्रम से विषयों में पड़ती (प्राप्त) हुई इन्द्रियों के द्वारा असमीचीन (अयोग्य) परिणति को अनुभव करता हुआ, रुक गई है शक्ति की उत्कृष्टता (परम शुद्धता) जिसकी ऐसे भी (अपने) ज्ञान-दर्शन-वीर्यात्मक तथा निश्चय कारणता को प्राप्त-स्वभाव से परिणमन करता हुआ यह आत्मा स्वयमेव सुखीपने को प्राप्त करता है, (सुखरूप होता है) शरीर तो अचेतन होने के कारण ही, सुखत्व-परिणति के निश्चय-कारणता को प्राप्त न होता हुआ, किंचित् मात्र भी सुखत्व को प्राप्त नहीं करता ॥६५॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ मुक्तात्मना शरीराभावेपि सुखमस्तीति ज्ञापनार्थं शरीर सुखकारण न स्यादिति व्यक्तीकरोति—

पप्पा प्राप्य। कान् ? **इट्ठे विसये** इष्टपञ्चेन्द्रियविषयान्। कथभूतान् ? **फासेहिं समस्सिदे** स्पर्शनादीन्द्रियरहितशुद्धात्मतत्वविलक्षणै स्पर्शनादिभिरिन्द्रियै समाश्रितान् सम्यक्—प्रा यान् ग्राह्यान्, इत्थभूतान् विषयान् प्राप्य। स क ? **अप्पा** आत्मा कर्ता किंविशिष्ट ? **सहावेण परिणममाणो** अनन्तसुखोपादानभूतशुद्धात्मस्वभावविपरीतेनाशुद्धसुखोपादानभूतेनाशुद्धात्मस्वभावेन परिणममान.। इत्थभूत सन् **सयमेव सुह** स्वयमेवेन्द्रियसुख भवति परिणमति। **ण हवदि देहो** देह पुनरचेतनत्वात्सुख न भवतीति।

अयमत्रार्थ – कर्मावृतससारिजीवाना यदिन्द्रियसुख तत्रापि जीव उपादानकारण न च देह, देहकर्मरहितमुक्तात्मना पुनर्यदनन्तातीन्द्रियसुख तत्र विशेषेणात्मैव कारणमिति ॥६५॥

उत्थानिका—आगे यह प्रगट करते है कि मुक्त आत्माओ के शरीर न होते हुए भी सुख रहता है, इस कारण शरीर सुख का कारण नही है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अप्पा) यह संसारी आत्मा (फासेहिं) स्पर्शन आदि इन्द्रियों से रहित शुद्धात्मतत्व से विलक्षण स्पर्शन** आदि **इन्द्रियों के द्वारा (समस्सिदे) भले प्रकार ग्रहण करने योग्य (इट्ठेविसये) अपने को इष्ट ऐसे विषय भोगो को (पप्पा) पाकर के या ग्रहण करके (सहावेण परिणममाणो) अनन्त सुख का उपादानकारण जो शुद्ध आत्मा का स्वभाव उससे विरुद्ध अशुद्ध सुख का उपादानकारण जो अशुद्ध आत्मस्वभाव**

उससे परिणमन करता हुआ (सयमेव) स्वयं ही (सुहं) इन्द्रिय सुखरूप हो जाता है, या परिणमन कर जाता है, तथा (देहो ण हवदि) शरीर अचेतन होने से सुखरूप नहीं होता है।

यहाँ यह अर्थ है कि कर्मों के आवरण से मैले संसारी जीवों के जो इन्द्रियसुख होता है वहाँ भी जीव ही उपादानकारण है, देह नहीं है। जो देह-रहित व कर्मबंध-रहित मुक्त जीव हैं उनको जो अनन्त अतीन्द्रियसुख है, वहाँ तो विशेष करके आत्मा ही कारण है ॥६५॥

अथैतदेव दृढयति—

एगंतेण हि देहो सुहं ण देहिस्स कुणदि सग्गे वा।
विसयवसेण दु सोक्खं दुक्खं वा हवदि सयमादा ॥६६॥

एकान्तेन हि देह सुख न देहिन. करोति स्वर्गे वा।
विषयवशेन तु सौख्य दु ख वा भवति स्वयमात्मा ॥६६॥

अयमत्र सिद्धान्तो यद्दिव्यवैक्रियिकत्वेऽपि शरीरं न खलु सुखाय कल्प्येतेतीष्टानामनिष्टाना वा विषयाणां वशेन सुखं वा दुखं वा स्वयमेवात्मा स्यात् ॥६६॥

भूमिका—अब इसी बात को दृढ करते हैं—

अन्वयार्थ—[एकान्तेन हि] एकान्त से अर्थात् नियम से [स्वर्गे] स्वर्ग मे [वा] भी [देह] शरीर [देहिन] शरीरी (आत्मा) के [सुख न करोति] सुख नही करता [विषयवशेन तु] परन्तु विषयो के वश से [सौख्य वा दु ख] सुखरूप अथवा दु खरूप [स्वय आत्मा भवति] स्वय आत्मा [परिणमित) होता है।

टीका—यहाँ यह सिद्धान्त है कि दिव्य वैक्रियिक-पना होने पर भी शरीर से वास्तव मे सुख के लिए कल्पना नहीं की जा सकती (वैक्रियिकशरीर सुख देता है, यह कल्पना नहीं की जा सकती है), क्योंकि इष्ट अथवा अनिष्ट विषयो के वश से सुख अथवा दुःख रूप स्वयं आत्मा (परिणत) होता है ॥६६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ मनुष्यशरीरं मा भवतु, देवशरीर दिव्य तत्किल सुखकारण भविष्यतीत्याशङ्का निराकरोति—

एगतेण हि देहो सुह ण देहिस्स कुणदि एकान्तेन हि स्फुट देह कर्ता सुख न करोति। **कस्य ?** **देहिन** ससारिजीवस्य। **क्व ? सग्गे वा** आस्ता तावन्मनुष्याणा मनुष्यदेह सुख न करोति, स्वर्गे वा यासौ दिव्यो देवदेह सोप्युपचार विहाय सुख न करोति। **विसयवसेण दु सोक्ख दुक्खं वा हवदि सयमादा** किन्तु निश्चयेन निर्विषयामूर्तस्वाभाविकसदानन्दैकसुखस्वभावोपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्ध-

वशाद्विषयाधीनत्वेन परिणम्य सांसारिकसुख दुःख वा स्वयमात्मैव भवति, न च देह इत्यभिप्राय'। एव मुक्तात्मनां देहाभावेपि सुखमस्तीति परिज्ञानार्थं ससारिणामपि देह. सुखकारण न भवतीतिकथन-रूपेण गाथाद्वय गतम् ॥६६।

उत्थानिका—अब आगे यहाँ कोई शका करता है कि मनुष्य का शरीर जिसके नही है किन्तु देव का दिव्य शरीर जिसको प्राप्त है, वह शरीर तो उसके लिये अवश्य सुख का कारण होगा। आचार्य इस शका को हटाते हुए समाधान करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(एगतेण हि) सब तरह से निश्चयकर यह प्रगट है कि (देहिस्स) शरीरधारी संसारी प्राणी को (देहो) यह शरीर (सग्गे वा) स्वर्ग में भी (सुहं ण कुणदि) सुख नहीं करता है। मनुष्यों की मनुष्य देह तो सुख का कारण नहीं है, यह बात दूर ही है। स्वर्ग मे भी जो देवों का मनोज्ञ वैक्रियिक देह है वह भी विषय वासना के उपाय बिना सुख नहीं करता है। (आदा) यह आत्मा (सयं) अपने आप ही (विसय-वसेण) विषयों के वश से अर्थात् निश्चय से विषयों से रहित अमूर्त्त स्वाभाविक सदा आनन्दमयी एक स्वभाव रूप होने पर भी व्यवहार से अनादि कर्म के बंध के वश से विषयों के भोगों के अधीन होने से (सोक्खं वा दुक्ख हवदि) सुख व दुःख रूप परिणमन करके सुख या दुःख रूप हो जाता है शरीर सुख या दुःख रूप नहीं होता है, यह अभिप्राय है। इस तरह मुक्त जीवों के देह न होते हुए भी सुख रहता है, इस बात को समझाने के लिये संसारी प्राणियों को भी देह सुख का कारण नहीं है, ऐसा कहते हुए दो गाथाएं पूर्ण हुईं ॥६६॥

अथात्मनः स्वयमेव सुखपरिणामशक्तियोगित्वाद्विषयाणामकिंचित्करत्व द्योतयति—

तिमिरहरा जइ दिट्ठी जणस्स दीवेण णत्थि कायव्वं[1]।
तध[2] सोक्खं सयमादा विसया किं तत्थ कुव्वंति ॥६७॥

तिमिरहरा यदि दृष्टिः जनस्य, दीपेन नास्ति कर्तव्यम्।
तथा सौख्य स्वयमात्मा विषया किं तत्र कुर्वन्ति ॥६७॥

यथा हि केषांचिन्नक्तंचराणां चक्षुषः स्वयमेव तिमिरविकरणशक्तियोगित्वान्न तदपाकरणप्रवणेन प्रदीपप्रकाशादिना कार्यं, एवमस्यात्मन संसारे मुक्तौ वा स्वयमेव सुखतया परिणममानस्य सुखसाधनधिया अबुधैर्मुधाध्यास्यमाना अपि विषयाः किं हि नाम कुर्युः ॥६७॥

भूमिका—अब, आत्मा के स्वयं ही सुख रूप परिणमने की शक्ति-युक्त होने से, विषयों के अकिंचित्-कर-पने को प्रगट करते हैं—

१ कायव्व (ज० वृ०)। २ तह (ज० वृ०)।

अन्वयार्थ—[यदि] यदि [जनस्य दृष्टि.] प्राणी की आँख [तिमिरहरा] अंधकार को नाश करने वाली (अधेरे मे देखने वाली] हो तो [दीपेन नास्ति कर्तव्य] (उसको) दीपक से कोई प्रयोजन नही है (अर्थात् दीपक उसको कुछ नही कर सकता) [तथा] इसी प्रकार (जहा) [आत्मा] आत्मा [स्वय] स्वय [सौख्य] सुखरूप (परिणमन करता है) [तत्र] वहा [विषया] विषय [कि कुर्वन्ति] क्या करते है ? (यानी कुछ नही)।

टीका—**आख के स्वयमेव अन्धकार को नष्ट करने की शक्ति का सम्बन्ध होने से जैसे किन्हीं निशाचरो के (उल्लू आदि रात्रि मे विचरने वाले जीवों के) अंधकार का नाशक स्वभाव वाले दीपक के प्रकाशादि से कोई प्रयोजन नहीं होता (उन्हें दीपक का प्रकाश कुछ नहीं करता), इसी प्रकार इस आत्मा के संसार अथवा मुक्ति में स्वयमेव सुखपने से परिणमन करने वाले के, सुख साधन बुद्धि से अज्ञानियो के द्वारा व्यर्थ आश्रय किए गये भी विषय क्या करें (कुछ नहीं कर सकते) ॥६७॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मन स्वयमेवसुखस्वभावत्वान्निश्चयेन यथा देह सुखकारण न भवति तथा विषया अपीति प्रतिपादयति—

जइ यदि **दिठ्ठी** नक्तचरजनस्य दृष्टि **तिमिरहरा** अन्धकारहरा भवति **जणस्स** जनस्य **दीवेण णत्थि कायव्व** दीपेन नास्ति कर्तव्य तस्य प्रदीपादीना यथा प्रयोजन नास्ति **तह सोक्ख सयमादा विसया कि तत्थ कुव्वति** तथा निर्विषयामूर्तसर्वप्रदेशाह्लादकसहजानन्दैकलक्षणसुखस्वभावो निश्चयेनात्मैव, तत्र मुक्तौ ससारे वा विषया कि कुर्वन्ति न किमपीति भाव ॥६७॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि यह आत्मा स्वय सुख स्वभाव को रखने वाला है इसलिये जैसे निश्चय करके देह सुख का कारण नही है वैसे इन्द्रिययो के पदार्थ भी सुख के कारण नही है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जइ) जो (जणस्स दिट्ठी) किसी प्राणी की दृष्टि रात्रि को (तिमिरहरा) अंधकार को हरने वाली है अर्थात् अंधेरे में देख सकती है तो (दीवेण कायव्वं णत्थि) दीप से कर्त्तव्य कुछ नहीं है। अर्थात् दीपको का उसके लिए कोई प्रयोजन नहीं है। (तह) तैसे (आदा सयम् सोक्ख) जो निश्चय करके पंचेन्द्रियों के विषयों से रहित, अमूर्तिक, अपने सर्व प्रदेशों मे आह्लाद रूप सहज आनन्द एक लक्षणमयी सुख स्वभाव वाला आत्मा स्वयं है (तत्थ विसया कि कुव्वति) तो वहां मुक्ति अवस्था मे तो इन्द्रियो के विषय रूप पदार्थ क्या कर सकते है ? यानी-कुछ भी नहीं कर सकते, यह भाव है ॥६७॥**

अथात्मनः दृष्टान्तेन सुखस्वभावत्वं दृढयति—

सयमेव जहादिच्चो[1] तेजो उण्हो य देवदा णभसि ।
सिद्धो वि तहा णाणं सुहं च लोगे[2] तहा देवो ॥६८॥

स्वयमेव यथादित्यतेज उष्ण च देवता नभसि ।
सिद्धोऽपि तथा ज्ञान सुखञ्च लोके तथा देव ॥६८॥

यथा खलु नभसि कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव प्रभाकरः प्रभूतप्रभाभारभावस्वरूपविकस्वरप्रकाशशालितया तेजः, यथा च कादाचित्कौष्ण्यपरिणतायः पिण्डवन्नित्यमेवौष्ण्यपरिणामापन्नत्वादुष्ण, यथा च देवगतिनामकर्मोदयानुवृत्तिवशवर्तिस्वभावतया देवः तथैव लोके कारणान्तरमनपेक्ष्यैव स्वयमेव भगवानात्मापि स्वपरप्रकाशनसमर्थनिर्वितथानन्तशक्तिसहजसंवेदनतादात्म्यात् ज्ञान, तथैव चात्मतृप्तिसमुपजातपरिनिर्वृत्तिप्रवर्तितानाकुलत्वसुस्थितत्वात् सौख्यं, तथैव चासन्नात्मतत्त्वोपलम्भलब्धवर्णजनमानसशिलास्तम्भोत्कीर्णसमुदीर्णद्युतिस्तुति*वियोगैर्दिव्यात्मस्वरूपत्वाद्देवः। अतोऽस्यात्मनः सुखसाधनाभासैर्विषये पर्याप्तम् ॥६८॥ इति आनन्दप्रपञ्चः ।

भूमिका—अब आत्मा के सुखस्वभावपने को दृष्टान्त से दृढ करते है—

अन्वयार्थ—[यथा] जैसे [नभसि] आकाश मे [आदित्य] सूर्य [स्वयमेव] अपने आप ही [तेज·] तेज [उष्ण] उष्ण [च] और [देवता] देव है [तथा] उसी प्रकार [लोके] लोक मे [सिद्ध अपि] सिद्ध भी [स्वयमेव) [ज्ञान] ज्ञान [च] और [सुख] सुख [तथा] और [देव] देव है।

टीका—जैसे वास्तव मे आकाश मे, अन्य कारण की अपेक्षा बिना स्वयमेव ही सूर्य (१) अति अधिक प्रभा समूह से चमकते हुए स्वरूप के द्वारा विकसित प्रकाशयुक्त होने से तेज है, (२) कभी-कभी उष्णता रूप परिणत लोहे के गोले की भाँति, सदा ही उष्णता परिणाम को प्राप्त होने से उष्ण है और (३) देवगति नाम कर्म के उदय की अनुवृत्ति (धारावाहिक उदय) के वशवर्ती स्वभाव से देव है, इसी प्रकार लोक में अन्य कारण की अपेक्षा रखे बिना ही भगवान् आत्मा स्वयमेव ही (१) स्वपर को प्रकाशित करने मे समर्थ यथार्थ अनन्त शक्तियुक्त सहज-सवेदन के साथ तादात्म्य होने से ज्ञान है, (२) आत्म-तृप्ति से उत्पन्न होने वाली परिनिर्वृत्ति (उत्कृष्ट उपेक्षा वीतरागता) से प्रवर्तमान

---

१ जहाइच्चो (ज० वृ०)। २ लोये (ज० वृ०)।
*'योगिदिव्यात्म' इति पाठान्तरम् ।

अनाकुलता मे सुस्थितता के कारण सौख्य है, और (३) निकट है आत्म तत्त्व की प्राप्ति जिनको ऐसे बुद्धजनों (ज्ञानियों) के मनरूपी शिलास्तम्भ में जिसकी अतिशय द्युति स्तुति के योग द्वारा दिव्य आत्म स्वरूपवान् होने से देव है। इसलिये इस आत्मा के सुख-साधनाभास विषयों से बस हो ॥६८॥

अतीन्द्रियसुख का विस्तार समाप्त हुआ।

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मन सुखस्वभावत्व ज्ञानस्वभावत्व च पुनरपि दृष्टान्तेन दृढयति—

सयमेव जहाइच्चो तेजो उण्हो य देवदा णभसि कारणान्तर निरपेक्ष्य स्वयमेव यथादित्य: स्वपरप्रकाशरूप तेजो भवति, तथैव च स्वयमेवोष्णो भवति, तथा चाज्ञानिजनाना देवता भवति। क्व स्थित ? नभसि आकाशे **सिद्धो वि तहा णाण सुह च** सिद्धोपि भगवांस्तथैव कारणान्तर निरपेक्ष्य स्वभावेनैव स्वपरप्रकाशक केवलज्ञान, तथैव परमतृप्तिरूपमनाकुलत्वलक्षण सुख। क्व ? **लोये** जगति **तहा देवो** निजशुद्धात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्नसुन्दरानन्दस्यन्दिसुखामृतपानपिपासिताना गणधरदेवादिपरमयोगिना देवेन्द्रादीना चासन्नभव्याना मनसि निरन्तर परमाराध्य, तथैवानन्तज्ञानादिगुणस्तवनेन स्तुत्य च यद्दिव्यमात्मस्वरूप तत्स्वभावत्वात्तथैव देवश्चेति। ततो ज्ञायते मुक्तात्मना विषयैरपि प्रयोजन नास्तीति ॥६८॥ एव स्वाभावेनैव सुख स्वभावत्वाद्विषया अपि मुक्तात्मना सुखकारण न भवन्तीतिकथनरूपेण गाथाद्वय गतम्।

उत्थानिका—आगे आत्मा सुख स्वभाव वाला भी है ज्ञान स्वभाव वाला भी है इस ही बात को दृढ करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(णभसि) आकाश मे (सयमेव जहाइच्चो) जैसे दूसरे कारण की अपेक्षा न करके स्वयं ही सूर्य्य (तेजो) अपने और दूसरे को प्रकाश करने वाला तेज रूप है (उण्हो य) तथा स्वय उष्णता देने वाला है (देवदा य) तथा देवता है अर्थात् ज्योतिषी देव है अथवा अज्ञानी मनुष्यो के लिये पूज्य देव है (तहा) तैसे ही (लोये) इस लोक मे (सिद्धो वि णाणं सुहं च तहा देवो) सिद्ध भगवान् भी दूसरे कारण की अपेक्षा न करके स्वयं ही स्वभाव से स्व-पर-प्रकाशक केवलज्ञान स्वरूप हैं तथा परम तृप्तिरूप निराकुलता लक्षणमय सुखरूप है तैसे ही अपने शुद्ध आत्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्ररूप अभेद रत्नत्रयमय निर्विकल्पसमाधि से पैदा होने वाले सुन्दर आनन्द में भीगे हुए सुखरूपी अमृत के प्यासे गणधर देव आदि परम योगियों, इन्द्रादि देवो व अन्य निकट भव्यों के मन मे निरन्तर भले प्रकार आराधने योग्य तैसे ही अनंतज्ञान आदि गुणों के स्तवन से स्तुति-योग्य जो दिव्य आत्मस्वरूप—स्वभावमय होने से देवता हैं। इससे जाना जाता है कि मुक्ति प्राप्त आत्माओ को विषयो की सामग्री से भी कुछ प्रयोजन नहीं है। वास्तव मे शरीर तथा इन्द्रियो के इस तरह स्वभाव से ही आत्मा सुख स्वभाव है, अतएव**

इन्द्रियों के विषय भी मुक्तात्माओं के सुख के कारण नहीं होते हैं, ऐसा कहते हुए दो गाथाएँ पूर्ण हुईं ॥६८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथेदानी श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवा पूर्वोक्तलक्षणानन्तसुखाधारभूत सर्वज्ञ वस्तुस्तवेन नमस्कुर्वन्ति—

तेजो दिट्ठी णाणं इड्ढी सोक्ख तहेव ईसरिय ।
तिहुवणपहाणदइय माहप्प जस्स सो अरिहो ॥६८-१॥

तेजो दिट्ठी णाण इड्ढी सोक्ख तहेव ईसरिय तिहुवणपहाणदइय तेज प्रभामण्डल, जगत्त्रयकालत्रयवस्तुगतयुगपत्सामान्यास्तित्वग्राहक केवलदर्शन, तथैव समस्तविशेषास्तित्वग्राहकं केवलज्ञान, ऋद्धिशब्देन समवशरणादिलक्षणा विभूति , सुखशब्देनाव्याबाधान तसुख, तत्पदाभिलाषेण इन्द्रादयोऽपि भृत्यत्व कुर्वन्तीत्येव लक्षणमैश्वर्य, त्रिभुवनाधीशानामपि वल्लभत्व दैव भण्यते **माहप्प जस्स सो अरिहो** इत्थभूत माहात्म्य यस्य सोऽर्हन् भण्यते । इति वस्तुस्तवनरूपेण नमस्कार कृतवन्त ।

उत्थानिका—आगे श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव पूर्व मे कहे हुए लक्षण के धारी अनन्तसुख के आधारभूत सर्वज्ञ भगवान् को वस्तु-स्वरूप से स्तवन की अपेक्षा नमस्कार करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(तेजो) प्रभा का मण्डल (दिट्ठी) तीन जगत् व तीन काल की समस्त वस्तुओं की सामान्य सत्ता को एक काल ग्रहण करने वाला केवलदर्शन (णाणं) तथा उनकी विशेष सत्ता को ग्रहण करने वाला केवलज्ञान (इड्ढी) समवशरण की सर्व विभूति (सोक्ख) बाधा रहित अनन्त सुख, (ईसरियं) व जिनके पद की इच्छा से इन्द्रादिक भी जिनकी सेवा करते हैं, ऐसा ईश्वरपना (तहेव तिहुवणपहाणदइय) तैसे ही तीन भुवन के वल्लभपना या इष्टपना ऐसा देवपना इत्यादि (जस्स माहप्प) जिसका महात्म्य है (सो अरिहो) वही अरहतदेव है । इस प्रकार वस्तु का स्वरूप कहते हुए नमस्कार किया ॥६८।१॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ तस्यैव भगवत सिद्धावस्थाया गुणस्तवनरूपेण नमस्कार कुर्वन्ति—

त गुणदो अधिगदरं अविच्छिद मणुवदेवपदिभाव ।
अपुणब्भावणिबद्ध पणमामि **पुणो-पुणो सिद्ध ॥६८-२॥**

पणमामि नमस्करोमि **पुणो पुणो** पुन पुन । क ? **त सिद्ध** परमागमप्रसिद्ध सिद्ध । कथभूत ? **गुणदो अधिगदर** अव्याबाधानन्तसुखादिगुणैरधिकतर समधिकतरगुण । पुनरपि कथभूत ? **अविच्छिद मणुवदेवपदिभावं** यथा पूर्वमर्हदवस्थाया मनुजदेवेन्द्रादय समवशरणे समागत्य नमस्कुर्वन्ति तेन प्रभुत्व भवति, तदतिक्रान्तत्वादतिक्रान्तमनुजदेवपतिभाव । पुनश्च कि विशिष्ट ? **अपुणब्भावणिबद्ध** द्रव्यक्षेत्रादिपञ्चप्रकारभवाद्विलक्षण शुद्धबुद्धैकस्वभावनिजात्मोपलम्भलक्षणो योसौ मोक्षस्तस्याधीन-

त्वादपुनर्भावनिबद्धमिति भाव । एव नमस्कारमुख्यत्वेन गाथाद्वय गतम् । इति गाथाष्टकेन पञ्चमस्थलं ज्ञातव्य । एवमष्टादशगाथाभि स्थलपञ्चकेन "सुखप्रपञ्च" नामान्तराधिकारो गत. । इति पूर्वोक्त-प्रकारेण "एस सुरासुर" इत्यादि चतुर्दशगाथाभि. पीठिका गता, तदनन्तर सप्तगाथाभि. सामान्य-सर्वज्ञसिद्धि, तदनन्तर त्रयस्त्रिंशद्गाथाभि ज्ञानप्रपञ्च, तदनन्तरमष्टादशगाथाभिः सुखप्रपञ्च इति समुदायेन द्वासप्ततिगाथाभिरन्तराधिकारचतुष्टयेन शुद्धोपयोगाधिकार समाप्तः । इत ऊर्ध्वं पञ्चविंशतिगाथापर्यन्त ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयाभिधानोऽधिकार. प्रारभ्यते, तत्र पञ्चविंशतिगाथामध्ये प्रथम तावच्छुभाशुभविषये मूढत्वनिराकरणार्थ "देवदजदिगुरू" इत्यादि दशगाथ.पर्यन्त प्रथमज्ञान-कण्ठिका कथ्यते । तदनन्तरमाप्तात्मस्वरूपपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थ "चत्ता पावारम्भ" सप्तगाथापर्यन्त द्वितीयज्ञानकण्ठिका, अथानन्तर द्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानविषये मूढत्वनिराकरणार्थ इत्यादि "दव्वादीएसु" इत्यादि षट्कगाथापर्यन्त तृतीयज्ञानकण्ठिका । तदनन्तर स्वपरतत्त्वपरिज्ञान-विषये मूढत्वनिराकरणार्थ 'णाणप्पग' इत्यादि गाथाद्वयेन चतुर्थज्ञानकण्ठिका । इति चतुष्टयाभिधाना-धिकारे समुदायपातनिका । अथेदानी प्रथमज्ञानकण्ठिकाया स्वतन्त्रव्याख्यानेन गाथाचतुष्टय, तदनन्तर पुण्य जीवस्य विषयतृष्णामुत्पादयतीति कथनरूपेण गाथाचतुष्टय, तदनन्तरमुपसहाररूपेण गाथाद्वय इति स्थलत्रयपर्यन्त क्रमेण व्याख्यान क्रियते ।

उत्थानिका—आगे सिद्ध भगवान् के गुणो का स्तवनरूप नमस्कार करते है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(तं) उस (सिद्ध) सिद्ध भगवान् को जो (गुणदो अधिगतरं) अव्याबाध, अनन्तसुख आदि गुणो करके अतिशयपूर्ण हैं, (अविच्छिदं मणुवदेवपदिभावं) मनुष्य व देवो के स्वामीपने से उल्लंघन कर गए हैं अर्थात् जैसे पहले अरहत अवस्था में मनुष्य व देव व इन्द्रादिक समवशरण मे आकर नमस्कार करते थे, इससे प्रभुपना होता था अब यहा उस भाव को लांघ गए है । अर्थात् सिद्ध अवस्था में न समवशरण है न देवादि आते है, न प्रत्यक्ष नमस्कार करते हैं ।**

(अपुणब्भावणिबद्ध) तथा मुक्तावस्था मे निश्चल अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भावरूप पचपरावर्तन रूप संसार से विलक्षण शुद्ध बुद्ध एक स्वभावमय निज आत्मा की प्राप्ति है लक्षण जिसका ऐसी मोक्ष के अधीन हैं अर्थात् स्वाधीन व मुक्त है (पुणो पुणो पणमामि) बार बार नमस्कार करता हूं ।

विशेष—**यह है कि यहाँ टीकाकार ने अविच्छिदं तथा मणुवदेवपदिभावं इन दोनों पदों को एक मे मानकर ऐसा अर्थ किया है । यदि हम इन दोनों पदों को अलग-अलग मान लें तो यह अर्थ होगा कि वह सिद्ध भगवान् अविनाशी है । उनकी अवस्था का कर्मों से अभाव नहीं होगा तथा वे मनुष्य व देवों के स्वामीपन को प्राप्त है अर्थात् उनसे महान् इस संसार में कोई प्राणी नहीं है । सब उन ही का ध्यान करते है । यहाँ तक कि तीर्थंकर भी सिद्धों का ही ध्यान छद्मस्थ अवस्था में करते हैं । इस प्रकार नमस्कार की मुख्यता से**

दो गाथाएं पूर्ण हुई। इस तरह आठ गाथाओं से पांचवा स्थल जानना चाहिये। इस तरह अठारह गाथाओं से व स्थल से सुख प्रपंच नाम का अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ इस तरह पूर्व में कहे प्रमाण "एस सुरासुर" इत्यादि चौदह गाथाओं से पीठिका का वर्णन किया। फिर सात गाथाओं से सामान्यपने सर्वज्ञ की सिद्धि की, फिर तैंतीस गाथाओं से ज्ञान-प्रपंच, फिर अठारह गाथाओं से सुख-प्रपंच, इस तरह समुदाय से बहत्तर गाथाओं के द्वारा तथा चार अन्तर-अधिकारों से शुद्धोपयोग नाम का अधिकार पूर्ण किया।

उत्थानिका—इसके आगे पचीस गाथा पर्यंत ज्ञानकठिका चतुष्टय नाम का अधिकार प्रारम्भ किया जाता है। इन पच्चीस गाथाओ के मध्य मे पहले शुभ व अशुभ उपयोग मे मूढता को हटाने के लिये "देवदजदि गुरु" इत्यादि दश गाथाओ तक पहली ज्ञानकठिका का कथन है। फिर परमात्मा के स्वरूप के ज्ञान मे मूढता को दूर करने के लिये "चत्ता पावारम्भ" इत्यादि सात गाथाओ तक दूसरी ज्ञानकठिका है। अनन्तर द्रव्यगुण पर्याय के ज्ञान के सम्बन्ध मे मूढता को हटाने के लिये "दव्वादीएसु" इत्यादि छ. गाथाओ तक तीसरी ज्ञानकठिका है। फिर स्व और पर तत्व के ज्ञान के सम्बन्ध मे मूढता को हटाने के लिये "णाणप्पग" इत्यादि दो गाथाओ से चौथी ज्ञानकठिका है। इस चार अधिकार की समुदायपातनिका है। अब यहाँ पहली ज्ञानकठिका मे स्वतन्त्र व्याख्यान के द्वारा चार गाथाएँ हैं। इसके बाद पुण्य जीव के भीतर विषयभोग की तृष्णा को पैदा कर देता है। ऐसा कहते हुए गाथाए चार है। तदन्तर सकोच करते हुए गाथाएँ दो है—इस तरह तीन स्थलतक क्रम से व्याख्यान करते है।

अथ शुभपरिणामाधिकारप्रारम्भः।

अथेन्द्रियसुखस्वरूपविचारमुपक्रममाणस्तत्साधनस्वरूपमुपन्यस्यति—

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु।
उववासादिसु रत्तो सुहोवओगप्पगो अप्पा ॥६९॥

देवतायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु।
उपवासादिषु रक्त शुभोपयोगात्मक आत्मा ॥६९॥

यदायमात्मा दुःखस्य साधनीभूता द्वेषरूपामिन्द्रियार्थानुरागरूपां चाशुभोपयोगभूमिकामतिक्रम्य देवगुरुयतिपूजादानशीलोपवासप्रीतिलक्षणं धर्मानुरागमङ्गीकरोति तदेन्द्रियसुखस्य साधनीभूता शुभोपयोगभूमिकामधिरूढोऽभिलप्येत् ॥६९॥

भूमिका—**अब, इन्द्रिय सुख स्वरूप के विचार को प्रारम्भ करते हुये उसके कारण (शुभ परिणाम) के स्वरूप को कहते है—**

अन्वयार्थ—[देवता—यतिगुरुपूजासु] देव, यति और गुरु की पूजा मे [चैव] तथा [दाने] दान मे [सुशीलेषु वा] तथा सुशीलो मे [उपवासादिषु] और उपवासादिको मे [रक्त. आत्मा] लीन आत्मा [शुभोपयोगात्मक] शुभोपयोगात्मक (शुभोपयोगमयी) है।

टीका—**जब यह आत्मा दुःख की साधनभूत द्वेषरूप तथा इन्द्रिय-विषय के अनुराग रूप अशुभोपयोग भूमिका को उल्लंघन करके, देव-गुरु यति की पूजा, दान, शील और उपवासादिक के प्रीतिस्वरूप धर्मानुराग को अंगीकार करता है, तब (वह) इन्द्रियसुख के कारणभूत शुभोपयोग–भूमिका में अधिरुढ कहलाता है।**

विशेषार्थ—**अतीन्द्रियसुख का कथन करने के पश्चात्, अब आचार्य महाराज इन्द्रियसुख को हेय, दुःखरूप तथा त्याज्य दिखलाते हैं। उसी प्रकरण में, इस इन्द्रिय-सुख के साधनभूत निरतिशय शुभ परिणाम (पुण्य) को भी, कारण में कार्य का उपचार करके, हेय, दुखरूप तथा त्याज्य बतलाते हैं। अतः यहां इस प्रकरण में उस निरतिशय पुण्य का कथन है, जो इन्द्रिय–सुख को उपादेय मानते हुये, मात्र उस इन्द्रिय-सुख की प्राप्ति के लिये किया जाता है। इस कुल प्रकरण मे इस बात को ध्यान रखने की अत्यन्त आवश्यक है, वरना भ्रम हो सकता है।**

जो सातिशयपुण्य परमार्थदृष्टि से मोक्ष-प्राप्ति के लिये किया जाता है, उस सातिशयपुण्यका कथन स्वयं ग्रंथकार ने आगे गाथा २४५ से प्रारम्भ किया है और उसको मोक्ष का साधन बतलाया है। विशेषकर गाथा २४५ से २६० तक देखने योग्य है। आचार्यों के कथन मे पूर्वापर-विरोध्र नहीं हो सकता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि यहां गाथा ६९ से कुल प्रकरण निरतिशयपुण्य का है, जो मात्र इन्द्रिय-सुख की प्राप्ति के लिये किया जाता है। इन्द्रिय सुख हेय है, अतः उसके साधनभूत इन्द्रिय-जनित ज्ञान अथवा क्षायोपशमिकज्ञान को भी गाथा ६४ आदि मे हेय बतलाया है। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि क्षायोपशमिकज्ञान तथा शुभोपयोग सर्वथा हेय है।

तात्पर्यवृत्ति

तद्यथा—अथ यद्यपि पूर्वं गाथाषट्केनेन्द्रियसुखस्वरूप भणित तथापि पुनरपि तदेव विस्तरेण कथयन् सन् तत्साधक शुभोपयोग प्रतिपादयति, अथवा द्वितीयपातनिका—पीठिकायां यच्छुभोपयोग-स्वरूप सूचित तस्येदानीमिन्द्रियसुखविशेषविचारप्रस्तावे तत्साधकत्वेन विशेषविवरण करोति—

देवदजदिगुरुपूजासु चेव दाणम्मि वा सुसीलेसु देवतायतिगुरुपूजासु चैव दाने वा सुशीलेषु **उववासादिसु रत्तो** तथैवोपवासादिषु च रक्त आसक्त अप्पा जीव. **सुहोवओगप्पगो** शुभोपयोगात्मको भण्यते इति।

तथाहि—देवता निर्दोषिपरमात्मा, इन्द्रियजयेन शुद्धात्मस्वरूपप्रयत्नपरो यति, स्वय भेदाभेद-रत्नत्रयाराधकस्तदर्थिनां भव्यानां जिनदीक्षादायको गुरु पूर्वोक्तदेवतायतिगुरूणा तत्प्रतिबिम्बादीना च यथासम्भवं द्रव्यभावरूपा पूजा, आहारादिचतुर्विधदान च आचारादिकथितशीलव्रतानि तथैवो-दिषु जिनगुणसपत्त्यादिविविधविशेषाश्च। एतेषु शुभानुष्ठानेषु योऽसौ रतः द्वेषरूपे विषयानुरागरूपे चाशुभानुष्ठाने विरतः, स जीवः शुभोपयोगी भवतीति सूत्रार्थ. ॥६९॥

उत्थानिका—यद्यपि पहले छः गाथाओं के द्वारा इन्द्रियों के सुख का स्वरूप कहा है तथापि फिर भी उसी को विस्तार के साथ कहते हुए उस इन्द्रिय सुख के साधक शुभोयोग को कहते हैं—अथवा दूसरी पातनिका है कि पीठिका में जिस शुभोपयोग का स्वरूप सूचित किया है उसीका यहां इन्द्रियसुख के विशेष कथन मे इन्द्रिय सुख का साधक रूप विशेष आख्यान करते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—जो (देवदजदिगुरुपूजासु) देवता, यति, गुरु की पूजा मे (चेव दाणम्मि) तथा दान में (वा सुसीलेसु) और सुशील रूप चारित्रों मे (उववासादिसु) तथा उपवास आदिकों में (रत्तो) रत है, वह (सुहोवओगप्पगो अप्पा) शुभोपयोगधारी आत्मा कहा जाता है।

विशेष यह है कि जो सर्व दोष–रहित परमात्मा है, वह देवता है, जो इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करके शुद्ध आत्मा के स्वरूप के साधन मे उद्यमवान है। वह यति है। जो स्वयं निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय का आराधना करने वाला है और ऐसी आराधना के चाहने वाले भव्यों को जिन-दीक्षा का देने वाला है, वह गुरु है। इन देवता, यति और गुरुओं की तथा उनकी मूर्ति आदिकों की यथासम्भव अर्थात् जहां जैसी सम्भव हो वैसी द्रव्य और भाव पूजा करना, आहार, अभय, औषधि और विद्यादान ऐसा चार प्रकार दान करना आचारादि ग्रन्थों में कहे प्रमाण शीलव्रतों को पालना तथा जिनगुणसम्पत्ति को आदि लेकर अनेक विधि विशेष से उपवास आदि करना, इतने शुभ कार्यों मे लीनता करता हुआ तथा द्वेषरूप भाव व विषयों के अनुराग रूप भाव आदि अशुभ उपयोग से विरक्त होता हुआ जीव शुभोपयोगी होता है, ऐसा सूत्र का अर्थ है ॥६९॥

भावार्थ—यहां आचार्य ने शुद्धोपयोग मे प्रीतिरूप शुभोपयोग का स्वरूप बताया है अथवा अरहंत, सिद्ध परमात्मा के मुख्य ज्ञान और आनन्द स्वभावों का वर्णन करके उन परमात्मा के आराधन की सूचना की है अथवा मुख्यता से उपासक का कर्तव्य बताया है। शुभोपयोग तीव्र कषायों के अभाव में होता है।

श्री समन्तभद्राचार्य ने स्वयम्भूस्तोत्र मे भक्ति करते हुए यह भाव झलकाया है, जैसे—

स विश्वचक्षुर्वृषभोऽर्चित सतां समग्रविद्यात्मवपुर्निरजनः।
पुनातु चेतो मम नाभिनन्दनो जिनो जितक्षुल्लकवादिशासन. ॥५॥

वह जगत् को देखने वाले, साधुओं से पूजनीय पूर्ण ज्ञानमय देह के धारी, निरंजन व अल्पज्ञानी अन्यवादियों के मत को जीतने वाले श्री नाभिराजा के पुत्र श्री वृषभ जिनेन्द्र मेरे चित्त को पवित्र करो। भावों की निर्मलता होने से जो शुभ राग होता है, वह तो अतिशय पुण्यकर्म को बांधता है, जो मोक्ष-प्राप्ति में सहकारी कारण होते हैं। जैसे तीर्थंकर, उत्तमसंहनन आदि। शुभोपयोग मे वर्तन करने से उपयोग अशुभोपयोग से बचा रहता है तथा यह शुभोपयोग शुद्धोपयोग मे पहुँचने के लिए सीढ़ी है। इसलिये शुद्धोपयोग की भावना करते हुए शुभोपयोग में वर्तन करना चाहिये। वास्तव में शुभोपयोग सम्यग्दृष्टि के ही होता है। तात्पर्य यह है कि शुद्धोपयोग को इस काल में उपादेय मानकर उसी की भावना से प्राप्ति के लिये अरहंत-भक्ति आदि शुभोपयोग के मार्ग मे वर्तना चाहिये।६९।

अथ शुभोपयोगसाध्यत्वेनेन्द्रियसुखमाख्याति—

जुत्तो सुहेण आदा तिरियो वा माणुसो व देवो वा।
भूदो तावदि कालं लहदि[1] सुहं इन्दियं विविधं[2] ॥७०॥

युक्त. शुभेन आत्मा तिर्यग्वा मानुषो वा देवो वा।
भूतस्तावत्काल लभते सुखमैन्द्रिय विविधम् ॥७०॥

अयमात्मेन्द्रियसुखसाधनीभूतस्य शुभोपयोगस्य सामर्थ्यात्तदधिष्ठानभूतानां तिर्यग्मानुषदेवत्वभूमिकानामन्यतमां भूमिकामवाप्य यावत्कालमवतिष्ठते, तावत्कालमनेकप्रकारमिन्द्रियसुखं समासादयतीति ॥७०॥

भूमिका—अब, शुभोपयोग के साध्यपने से इन्द्रियसुख को कहते हैं—

अन्वयार्थ—[शुभेन युक्त] शुभ परिणाम से युक्त [आत्मा] आत्मा [तिर्यक्] तिर्यञ्च [वा] अथवा [मानुष.] मनुष्य [वा] अथवा [देव] देव [भूत] होता हुआ [तावत्काल] उतने समय तक [विविध] अनेक प्रकार के [ऐन्द्रिय] इन्द्रिय-सम्बन्धी [सुख] सुख को [लभते] पाता है।

टीका—यह आत्मा इन्द्रिय-सुख के साधनभूत शुभोपयोग की सामर्थ्य से, उसके (इन्द्रिय सुख के) स्थानभूत (आधारभूत) तिर्यञ्च, मनुष्य और देवत्व की भूमिकाओंमें से

---

१. लहइ (ज० वृ०)। २ विविह (ज० वृ०)।

किसी एक भूमिका को प्राप्त करके जितने समय तक (उसमे) ठहरता है, उतने समय तक अनेक प्रकार के इन्द्रिय-सुख को प्राप्त करता है ॥७०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वोक्तशुभोपयोगेन साध्यमिन्द्रियसुख कथयति—

सुहेण जुत्तो आदा यथा निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धोपयोगेन युक्तो मुक्तो [1]भूत्वाऽनन्तकाल-मतीन्द्रियसुख लभते, तथा पूर्वसूत्रोक्तलक्षणशुभोपयोगेन युक्त परिणतोऽयमात्मा **तिरियो वा माणुसो व देवो वा भूदो** तिर्यग्मनुष्यदेवरूपो भूत्वा **तावदि काल** तावत्काल स्वकीयायु पर्यन्त **लहदि सुह इन्दिय विविह** इन्द्रियज विविध सुख लभते, इति सूत्राभिप्राय ॥७०॥

उत्थानिका—आगे बताते है कि पूर्व गाथा मे कथित शुभोपयोग के समय जो पुण्यकर्म बन्ध होता है उसके उदय से इद्रियसुख प्राप्त होता है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(सुहेण जुत्तो आदा) जैसे निश्चयरत्नत्रयमय शुद्धोपयोग से युक्त आत्मा मुक्त होकर अनन्त काल तक अतीन्द्रियसुख को प्राप्त करता है तैसे ही पूर्व सूत्र मे कहे हुए शुभोपयोग मे परिणमन करता हुआ** यह आत्मा **(तिरियो वा माणुसो वा देवो वा भूदो) तिर्यंच, मनुष्य या देव होकर (तावदि कालं) अपनी-अपनी आयु पर्यंत (विविहं इंदियं सुहं लहदि) नाना प्रकार इन्द्रियों से उत्पन्न सुख को पाता है । यह इस गाथा का अभिप्राय है ॥७०॥**

अथैवमिन्द्रियसुखमुत्क्षिप्य दु.खत्वे प्रक्षिपति—

सोक्खं सहावसिद्धं णत्थि सुराणं पि सिद्धमुवदेसे ।
ते देहवेदणट्टा[2] रमंति विसएसु रम्मेसु ॥७१॥

सौख्य स्वभावसिद्ध नास्ति सुराणामपि सिद्धमुपदेशे ।
ते देहवेदनार्ता रमन्ते विषयेषु रम्येषु ॥७१॥

इन्द्रियसुखभाजनेषु हि प्रधाना दिवौकस, तेषामपि स्वाभाविकं न खलु सुखमस्ति प्रत्युत तेषां स्वाभाविकं दुःखमेवावलोक्यते । यतस्ते पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरपिशाचपीडया परवशा भृगुप्रपातस्थानीयान्मनोज्ञविषयानभिपतन्ति ॥७१॥

भूमिका—**अब, इस प्रकार इन्द्रिय-सुख को उठाकर दु ख-रूप मे डालते है (अर्थात् इन्द्रिय-सुख परमार्थ से दुःख ही है, यह बतलाते हैं):—**

अन्वयार्थ—[उपदेसे सिद्ध] उपदेश से (आगम से) सिद्ध है कि [सुराणा अपि] देवो के भी **[स्वभावसिद्ध]** स्वभावसिद्ध [सौख्य] सुख (आत्मा से उत्पन्न होने वाला

---

१ भूत्वाऽयं जीवोऽनन्तकालमतीन्द्रियसुखम् इति पाठान्तरम् ।

२. देहवेदणत्ता (ज० वृ०) ।

अतीन्द्रियसुख) [नास्ति] नही है। [ते] वे [देहवेदनार्ता] (पचेन्द्रियमय) देह की वेदना से पीडित हुये (रम्येषु विषयेषु] रम्य (मनोहर) विषयो मे [रमन्ते] रमन्ते है।

टीका—**इन्द्रिय-सुख के भाजनों (पात्रों) मे प्रधान देव हैं। उनके भी वास्तव में स्वाभाविक सुख नहीं है, उलटा उनके स्वाभाविक दुख ही देखा जाता है, क्योंकि वे पंचेन्द्रियात्मक शरीर रूपी पिशाच की पीड़ा के परवश हुए, पर्वत से गिरकर मरने के समान मनोहर इन्द्रिय विषयो मे पतन करते है (पडते) हैं ॥७१॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वोक्तमिन्द्रियसुख निश्चयनयेन दु खमेवेत्युपदिशति—

सोक्ख सहावसिद्धं रागाद्युपाधिरहित चिदानन्दैकस्वभावेनोपादानकारणभूतेन सिद्धमुत्पन्न यत्स्वाभाविकसुख तत्स्वभावसिद्ध भण्यते। तच्च **णत्थि सुराणपि** आस्ता मनुष्यादीना सुख देवेन्द्रादीनामपि नास्ति **सिद्धमुवदेसे** इति सिद्धमुपदिष्टमुपदेशे परमागमे। **ते देहवेदणत्ता रमंति विसएसु रम्मेसु** तथाभूतसुखाभावात्ते देवादयो देहवेदनार्ता पीडिता कदर्थिता सन्तो रमन्ते विषयेषु रम्याभासेष्विति।

अथ विस्तर —अधोभागे सप्तनरकस्थानीयमहाऽजगरप्रसारितमुखे, कोणचतुष्के तु क्रोधमानमायालोभस्थानीयसर्पचतुष्कप्रसारित देहस्थानीयमहान्धकूपे पतित सन् कश्चित् पुरुषविशेष, ससारस्थानीयमहारण्ये मिथ्यात्वादिकुमार्गे नष्ट पतित सन् मृत्युस्थानीयहस्तिभयेनायुष्कर्मस्थानीये साटिकविशेषे शुक्लकृष्णपक्षस्थानीयशुक्लकृष्णमूषकद्वयछेद्यमानमूले व्याधिस्थानीयमधुमक्षिकावेष्टिते लग्नस्तेनैव हस्तिना हन्यमाने सति विषयसुखस्थानीयमधुविन्दुसुस्वादेन यथा सुख मन्यते, तथा ससारसुखम्। पूर्वोक्तमोक्षसुख तु तद्विपरीतमिति तात्पर्यम्। ७१॥

उत्थानिका—आगे आचार्य दिखाते है कि पूर्वगाथा मे जिस इद्रियसुख को बतलाया है वह सुख निश्चयनय से सुख नही है, दु खरूप ही है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**मनुष्यादिको के सुख की तो बात ही क्या है (सुराणंपि) देवों व इन्द्रों के भी (सहावसिद्धं सोक्ख) स्वभाव से सिद्ध सुख अर्थात् रागद्वेषादि की उपाधि रहित चिदानन्दमयी एक स्वभाव रूप उपादानकारण से उत्पन्न होने वाला जो स्वाभाविक अतींद्रियसुख है सो (णत्थि) सुख नही होता है। (उवदेसे सिद्ध) यह परमागम मे उपदेश किया गया है। ऐसे अतींद्रियसुख को न पाकर (ते देहवेदणत्ता) वे देवादिक शरीर की वेदना से पीड़ित होते हुए (रम्मेसु विसयेसु रमंति) रमणीक दिखने वाले इन्द्रिय विषयों में रमण करते है।**

इसका विस्तार यह है कि—संसार का सुख इस तरह का हैं कि जैसे कोई पुरुष किसी वन मे हो, हाथी उसके पीछे दौड़े, वह घबरा कर ऐसे वृक्ष पर चढ़ जावे जिसके नीचे महा अजगर मुख फाड़े बैठा हो व चार कोनों में चार सांप मुख फैलाए बैठे हों और

वह पुरुष उस कूप में लगे हुए वृक्ष की शाखा को पकड़ कर लटक जाए जिसकी जड़ को सफेद और काले चूहे काट रहे हों तथा उस वृक्ष में मधु मक्खियों का छत्ता लगा हो जिसकी मक्खियाँ उसके शरीर में चिपट रहीं हों, हाथी वृक्ष को टक्कर पर टक्कर मार रहा हो ऐसी विपत्ति में पड़ा हुआ यदि वह मधु के छत्ते से गिरती हुई मधु बूंद के स्वाद को लेता हुआ अपने को सुखी माने, तो उसकी मूर्खता है क्योंकि वह शीघ्र ही कूप मे पड़कर मरण को प्राप्त करेगा, यह दृष्टांत ऐसे हैं कि यह ससाररूपी महा वन है जिसमे मिथ्यादर्शन आदि कुमार्ग मे पड़ा हुआ कोई जीव मरणरूपी हाथी के भय से त्रासित होता हुआ किसी मनुष्यलोक को प्राप्त हो जिसके नीचे सातवां नरकरूपी अजगर हो व क्रोध, मान, माया, लोभरूप चार सर्प चारों कोनों मे बैठे हों, जीव आयु कर्मरूपी शाखा मे लटक जाए जिस शाखा की जड़ को शुक्ल कृष्ण पक्षरूपी चूहे निरंतर काट रहे हो व उसके शरीर मे मधु-मक्खियों के समान अनेक रोग लग रहे हो तथा मरण रूपी हाथी खड़ा हो और वह मधु की बूंद के समान इन्द्रिय विषय के सुख को भोगता हुआ अपने को सुखी माने, सो उसकी अज्ञानता है। विषय सुख दु ख का घर है। ऐसा सांसारिक सुख त्यागने योग्य है, जबकि मोक्ष का सुख आपत्ति-रहित स्वाधीन तथा अविनाशी है, इसलिये ग्रहण करने योग्य है, यह तात्पर्य है ।।७१।।

अथैवमिन्द्रियसुखस्य दुःखतायां युक्त्यावतारितायामिन्द्रियसुखसाधनीभूतपुण्यनिर्वर्तक-शुभोपयोगस्य दुःखसाधनीभूतपापनिर्वर्तकाशुभोपयोगविशेषादविशेषत्वमवतारयति—

णरणारयतिरियसुरा भजन्ति जदि देहसंभवं दुक्खं ।
किध[1] सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाणं ।।७२।।

नरनारकतिर्यक्सुरा भजन्ति यदि देहसभव दु ख ।
कथ स शुभो वा अशुभ उपयोगो भवति जीवानाम् ।।७२।।

यदि शुभोपयोगजन्यसमुदीर्णपुण्यसंपदस्त्रिदशादयोऽशुभोपयोगजन्यपर्यागतपातकापदो वा नारकादयश्च, उभयेऽपि स्वाभाविकसुखाभावादविशेषेण पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरप्रत्ययं दुःखमेवानुभवन्ति। ततः परमार्थतः शुभाशुभोपयोगयोः पृथक्त्वव्यवस्था नावतिष्ठते ।।७२।।

भूमिका—इस प्रकार इन्द्रिय-सुख की दु ख-रूपता प्रगट करके अब इन्द्रिय-सुख के साधनभूत पुण्य को उत्पन्न करने वाले शुभोपयोग तथा दुःख के साधनभूत पाप को उत्पन्न करने वाले अशुभोपयोग की अविशेषता को (यानी-दोनो मे कुछ अन्तर नहीं है, इस बात को) प्रगट करते हैं—

१ किह (ज० वृ०)

अन्वयार्थ—[नरनारकतिर्यक्सुराः] मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव (सभी) [यदि] जो [देहसम्भव] देहोत्पन्न (पाँच इन्द्रियमयी शरीर से उत्पन्न होने वाले) [दुख] दुःख को [भजति] अनुभव करते है तो [जीवाना] जीवो के [सः उपयोग.] वह उपयोग [शुभः वा अशुभ] शुभ और अशुभ ऐसे दो प्रकार का [कथं भवति] कैसे है (हो सकता) (अर्थात् नही हो सकता है)।

टीका—**यदि शुभोपयोगजन्य उदयगत पुण्य की सम्पत्ति वाले देवादिक, (शुभोपयोग से उत्पन्न हुए पुण्य के उदय से प्राप्त होने वाली ऋद्धि वाले देव इत्यादिक) तथा अशुभोपयोग जन्य उदयागत पाप की आपदा वाले नरकादिक दोनों ही स्वाभाविकसुख के अभाव (के कारण) से अविशेषरूप से (बिना अन्तर के समान रूप से) पचेन्द्रियात्मक शरीर के कारण से होने वाले दुःख को ही अनुभव करते हैं, तो इस (कारण) से परमार्थ से शुभ और अशुभ उपयोग की भिन्नपने की व्यवस्था नहीं ठहरती है ॥७२॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वोक्तप्रकारेण शुभोपयोगसाध्यस्येन्द्रियसुखस्य निश्चयेन दुःखत्व ज्ञात्वा तत्साधकशुभोपयोगस्याप्यशुभोपयोगेन सह समानत्व व्यवस्थापयति—

णरणारयतिरियसुरा भजति जदि देहसभव दुक्खं सहजातीन्द्रियामूर्तसदानन्दैकलक्षण वास्तवसुखमेव। सुखमलभमाना. सन्तो नरनारकतिर्यक्सुरा यदि चेदविशेषण पूर्वोक्तपरमार्थसुखाद्विलक्षण पञ्चेन्द्रियात्मकशरीरोत्पन्न निश्चयनयेन दुःखमेव भजन्ते सेवन्ते **किह सो सुहो व असुहो उवओगो हवदि जीवाण** व्यवहारेण विशेषेऽपि निश्चयेन स प्रसिद्ध शुद्धोपयोगाद्विलक्षण शुभाशुभोपयोगः **कथ** भिन्नत्व लभते ? न कथमपीति भाव· ॥७२॥

एव स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन प्रथमस्थल गतम्।

उत्थानिका—आगे पूर्व कहे प्रमाण शुभोपयोग से होने वाले इन्द्रियसुख को निश्चय से दुःखरूप जानकर, मात्र उस इन्द्रियसुख के साधक ऐसे शुभोपयोग को भी अशुभोपयोग की समानता मे स्थापित करते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि) जो (णरणारयतिरियसुरा) मनुष्य, नारकी, पशु और देव स्वाभाविक अतींद्रिय अमूर्तिक सदा आनन्दमयी जो सच्चा सुख है, उसको नहीं प्राप्त अर्थात् श्रद्धान करते हुए (देह संभवं दुक्खं भजंति) पूर्व में कहे हुए निश्चय सुख से विलक्षण पंचेन्द्रियमयी शरीर से उत्पन्न हुई पीड़ा को ही निश्चय से सेवते हैं तो (जीवाणं सो सुहो व असुहो उवओगो किह हवदि) ऐसे जीवों के शुद्धोपयोग से विलक्षण वे शुभ या अशुभ उपयोग व्यवहार से भिन्न होने पर भी निश्चय से किस तरह भिन्नता को रख**

सकता है ? अर्थात् किसी भी तरह भिन्न नहीं है। मिथ्यादृष्टि जीव का शुभ व अशुभ उपयोग एक रूप ही है ॥७२॥

इस तरह स्वतन्त्र चार गाथाओं से प्रथम स्थल पूर्ण हुआ।

अथ शुभोपयोगजन्यं फलवत्पुण्यं विशेषेण दूषणार्थमभ्युपगम्योत्थापयति—

कुलिसाउहचक्कधरा सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं।
देहादीणं विद्धिं करेंति सुहिदा इवाभिरदा ॥७३॥

कुलिशायुधचक्रधरा शुभोपयोगात्मकै भोगै।
देहादीना वृद्धि कुर्वन्ति सुखिता इवाभिरता ॥७३॥

यतो हि शक्राश्चक्रिणश्च स्वेच्छोपगतैर्भोगैः शरीरादीन् पुष्णन्तस्तेषु दुष्टशोणित इव जलौकसोऽत्यन्तमासक्ताः सुखिता इव प्रतिभासन्ते। ततः शुभोपयोगजन्यानि फलवन्ति पुण्यान्यवलोक्यन्ते ॥७३॥

भूमिका—(जैसे इन्द्रिय-सुख को दुःखरूप और शुभोपयोग को अशुभोपयोग के समान बताया है इसी प्रकार) अब शुभोपयोग-जन्य फलवाले पुण्य को विशेष रूप से दूषण देने के लिये (इस गाथा मे उस पुण्य के अस्तित्व को) स्वीकार करके (अगली गाथा मे उसको) खण्डन करते हैं—

अन्वयार्थ—(क्योकि) [कुलिशायुधचक्रधरा] वज्रधर (इन्द्र) और चक्रधर (चक्रवती) [शुभोपयोगात्मकै भोगै] शुभोपयोगमूलक (पुण्यो के फल रूप) भोगो के द्वारा [देहादीना] देहादि की [वृद्धि कुर्वन्ति] पुष्टि करते है और [अभिरता] (इस प्रकार) भोगो मे रत होते हुए [सुखिता इव] सुखी-जैसे भासित होते है (इसलिये पुण्य विद्यमान अवश्य है)।

टीका—क्योंकि वास्तव में इन्द्र और चक्रवर्ती, अपनी इच्छानुसार प्राप्त भोगों के द्वारा शरीरादि को पुष्ट करते हैं, (तथा) जैसे गोचें (जोंकें) दूषित रक्त मे अत्यन्त आसक्त वर्तती हुई सुखी-जैसी भासित होतीं हैं, उनकी तरह उन (पुण्य-जन्य भोगों) में अत्यन्त आसक्त वर्तते हुए, सुखी-जैसे भासित होते हैं। इस कारण से शुभोपयोगजन्य फलवाले पुण्य दिखाई देते हैं (अर्थात् शुभोपयोग का अस्तित्व अवश्य है) किन्तु—॥७३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पुण्यानि देवेन्द्रचक्रवर्त्यादिपद प्रयच्छन्ति इति पूर्व प्रशसा करोति। किमर्थम् ? तत्फलाधारेणाग्रे तृष्णोत्पत्तिरूपदु खदर्शनार्थम्—

कुलिसाउहचक्कधरा देवेन्द्राश्चक्रवर्तिनश्च कर्तारः **सुहोवओगप्पगेहिं भोगेहिं** शुभोपयोगजन्यभोगैः कृत्वा **देहादीणं विद्धिं करंति** विकुर्वणारूपेण देहपरिवारादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति । **कथंभूताः सन्तः ? सुहिदा इवाभिरदा** सुखिता इवाभिरता आसक्ता इति ।

अयमत्रार्थः—यत्परमातिशयतृप्तिमुत्पादकं विषयतृष्णाविच्छित्तिकारकं च स्वाभाविकसुखं तदलभमाना दुष्टशोणिते जलयूका इवासक्ताः सुखाभासेन देहादीनां वृद्धिं कुर्वन्ति । ततो ज्ञायते तेषां स्वाभाविकं सुखं नास्तीति ॥७३॥

उत्थानिका—आगे व्यवहारनय से पुण्यकर्म देवेन्द्र चक्रवर्ती आदि के पद देते है इसलिये उनकी प्रशसा करते है, सो इसलिये बताते है कि आगे इन्ही उत्तम फलो के आधार से मिथ्यादृष्टियो के तृष्णा की उत्पत्ति रूप दु ख दिखाया जाएगा ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(कुलिसाउहचक्कधरा) देवेन्द्र, चक्रवर्ती आदिक (सुहिदा इव अभिरदा) मानों सुखी हैं आसक्त होते हुए अर्थात् श्रद्धा करते हुए (सुहोवओगप्पगेहिं) भोगेहिं) शुभोपयोग के द्वारा पैदा हुये व प्राप्त हुये भोगों से विक्रिया करते हुए (देहादीणं) शरीर परिवार आदि की (विद्धिं करेंति) बढ़ती करते हैं ।**

यहां यह अर्थ है कि जो परम अतिशयरूप तृप्ति को देने वाला विषयों की तृष्णा को नाश करने वाला स्वाभाविक सुख है उसकी श्रद्धा न करते हुए जीव, जैसे जोंकें विकार वाले खून मे आसक्त हो जाती हैं वैसे आसक्त होकर सुखाभास में सुख जानते हुए देह आदि की वृद्धि करते हैं । इससे यह जाना जाता है कि उन इन्द्र व चक्रवर्ती आदि बड़े पुण्यवान् जीवो के भी स्वाभाविक सुख की श्रद्धा नहीं है ॥७३॥

अथैवमभ्युपगतानां पुण्यानां दुःखबीजहेतुत्वमुद्भावयति—

जदि संति हि पुण्णाणि य परिणामसमुब्भवाणि विविहाणि ।
जणयंति विसयतण्हं जीवाणं देवदंताणं ॥७४॥

यदि सन्ति हि पुण्यानि च परिणामसमुद्भवानि विविधानि ।
जनयन्ति विषयतृष्णां जीवानां देवतान्तानाम् ॥७४॥

यदि नामैवं शुभोपयोगपरिणामकृतसमुत्पत्तीन्यनेकप्रकाराणि पुण्यानि विद्यन्ते इत्यभ्युपगम्यते, तदा तानि सुधाशनानप्यवधिं कृत्वा समस्तसंसारिणां विषयतृष्णामवश्यमेव समुत्पादयन्ति । न खलु तृष्णामन्तरेण दुष्टशोणित इव जलूकानां समस्तसंसारिणां विषयेषु प्रवृत्तिरवलोक्यते । अवलोक्यते च सा । ततोऽस्तु पुण्यानां तृष्णायतनत्वमबाधितमेव ॥७४॥

भूमिका—**अब, इस प्रकार स्वीकार किये गये पुण्यों के दुःख के बीजरूप-हेतुपने को (न्याय से) प्रगट करते हैं—**

अन्वयार्थ—[यदि हि] (पूर्वोक्त प्रकार से) जो [परिणामसमुद्भवानि] (शुभोपयोग रूप) परिणामों से उत्पन्न होने वाले [विविधानि पुण्यानि] अनेक प्रकार के पुण्य [सति] हैं (वे पुण्य) [देवान्ताना जीवाना] देवो तक के जीवो के [विषयतृष्णा] विषय तृष्णाको [जनयन्ति] उत्पन्न करते हैं।

टीका—**यदि इस प्रकार शुभोपयोग परिणामों से की है उत्पत्ति जिन्होंने (उत्पन्न होने वाले) ऐसे अनेक प्रकार के पुण्य विद्यमान हैं, यह स्वीकार किया है तो वे (पुण्य) देवों तक के समस्त संसारियों के विषय-तृष्णा को (अवश्य ही उत्पन्न करते है यह भी स्वीकार करना पड़ेगा)। वास्तव मे तृष्णा के बिना दूषित रक्त मे जोंकों (गोंचों) की तरह, समस्त संसारियों की विषयों में प्रवृत्ति दिखाई न दे, किन्तु वह (प्रवृत्ति) तो दिखाई देती है, इस कारण से पुण्यों के तृष्णा की स्थापना अबाधित ही है (अर्थात् पुण्य तृष्णा के घर हैं, यह अविरोध रूप से सिद्ध होता है)।।७४।।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ पुण्यानि जीवस्य विषयतृष्णामुत्पादयन्तीति प्रतिपादयति—

जदि संति हि पुण्णाणि य यदि चेन्निश्चयेन पुण्यपापरहितपरमात्मनो विपरीतानि पुण्यानि सन्ति। पुनरपि किंविशिष्टानि ? **परिणामसमुब्भवाणि** निर्विकारस्वसंवित्तिविलक्षणशुभपरिणाम-समुद्भवानि **विविहाणि** स्वकीयानन्तभेदेन बहुविधानि। तदा तानि किं कुर्वन्ति ? **जणयंति विसयतण्हं** जनयन्ति। का ? विषयतृष्णा। केषा ? **जीवाण देवदंताणं** दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षारूपनिदानबन्ध-प्रभृतिनानामनोरथहेयरूपविकल्पजालरहितपरमसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतरूपा सर्वात्मप्रदेशेषु परमाह्लादोत्पत्तिभूतामेकाकारपरमसमरसीभावरूपा विषयाकाङ्क्षाग्निजनितपरमदाहविनाशिका स्वरूपतृप्ति-मलभमानानां देवेन्द्रप्रभृतिबहिर्मुखसंसारिजीवानामिति।

इदमत्र तात्पर्यम्—यदि तथाविधा विषयतृष्णा नास्ति तर्हि दुष्टशोणिते जलयूका इव कथं ते विषयेषु प्रवृत्तिं कुर्वन्ति। कुर्वन्ति चेत् पुण्यानि तृष्णोत्पादकत्वेन दुःखकारणानि इति ज्ञायन्ते।।७४।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि पुण्यकर्म मिथ्यादृष्टि जीवो मे विषय की तृष्णा को पैदा कर देते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि हि) यद्यपि निश्चय करके (परिणामसमुब्भवाणि) विकार रहित स्वसंवेदन भाव से विलक्षण शुभ परिणामों के द्वारा पैदा होने वाले (विविहाणि पुण्णाणि संति) अपने अनन्तभेद से नाना तरह के तथा पुण्य व पाप से रहित परमात्मा से विपरीत पुण्य कर्म होते हैं तथापि वे (देवदंताणं जीवाणं) देवता तक के जीवों के भीतर (विसयतण्हं) विषयों की चाह को (जणयंति) पैदा कर देते हैं। ये पुण्यकर्म उन देवेन्द्र आदि बहिर्मुखी जीवों के भीतर विषय की तृष्णा बढ़ा देते हैं। जिन्होंने देखे, सुने,**

अनुभूत भोगों की इच्छा रूप निदानबन्ध को आदि लेकर नाना प्रकार के मनोरथरूप विकल्पजालों से रहित जो परमसमाधि उससे उत्पन्न जो सुखामृत रूप तथा सर्व आत्मा के प्रदेशों मे परम आल्हाद को पैदा करने वाली एक आकार स्वरूप परमसमरसीभावमयी और विषयों की इच्छा रूप अग्नि से पैदा होने वाले जो परमदाह उसको शांत करने वाली ऐसी अपने स्वरूप मे तृप्ति को नहीं प्राप्त किया है।

तात्पर्य यह है कि जो ऐसी विषयों की तृष्णा न होवे तो गंदे रुधिर में जोंकों की आसक्ति की तरह कौन विषय भोगों मे प्रवृत्ति करे ? और जब वे बहिर्मुखी जीव प्रवृत्ति करते देखे जाते हैं तब अवश्य यह मालूम होता है कि पुण्यकर्म ऐसे जीवों के तृष्णा को पैदा कर देने से दुःख का कारण है ॥७४॥

अथ पुण्यस्य दु.खबीजविजयमाघोषयति—

ते पुण उदिण्णतण्हा दुहिदा तण्हाहिं विसयसोक्खाणि ।
इच्छंति [1]अणुभवंति य आमरणं दुक्खसंतत्ता ॥७५॥

ते पुनरुदीर्णतृष्णा दुखितातृष्णाभिर्विषयसौख्यानि ।
इच्छन्त्यनुभवन्ति च आमरण दु खसतप्ता ॥७५॥

अथ ते पुनस्त्रिदशावसानाः कृत्स्नसंसारिणः समुदीर्णतृष्णाः पुण्यनिर्वर्तिताभिरपि तृष्णाभिर्दुःखबीजतयाऽत्यन्तदुःखिता सन्तो मृगतृष्णाभ्य इवाम्भांसि विषयेभ्यः सौख्यान्यभिलषन्ति । तद्दुःखसन्तापवेगमसहमाना अनुभवन्ति च विषयान् जलायुका इव, तावद्यावत् क्षयं यान्ति । यथा हि जलायुकास्तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा दुष्टकीलालमभिलषन्त्यस्तदेवानुभवन्त्यश्चाप्रलयात् क्लिश्यन्ते । एवममी अपि पुण्यशालिनः पापशालिन इव तृष्णाबीजेन विजयमानेन दुःखाङ्कुरेण क्रमतः समाक्रम्यमाणा विषयानभिलषन्तस्तानेवानुभवन्तश्चाप्रलयात् क्लिश्यन्ते । अतः पुण्यानि सुखाभासस्य दुःखस्यैव साधनानि स्यु ॥७५॥

भूमिका—अब (निरतिशय) पुण्य के दुख के बीज-रूप विजय को घोषित करते हैं—

अन्वयार्थ—[पुन] और फिर [उदीर्णतृष्णा ते] जिनके तृष्णा उदय हुई है, ऐसे जीव [तृष्णाभिः दु खिता] तृष्णाओ के द्वारा दुखी होते हुए [विषय–सौख्यानि इच्छन्ति] विषयो को चाहते है [च] और [दु खसन्तप्ता] दुखो से सतप्त होते हुए (दुख दाह को सहन न करते हुए) [आमरण] मरण पर्यन्त (उन विषयो को) [अनुभवति] भोगते है ।

टीका—अब जिनके तृष्णा उदय हुई है ऐसे देवपर्यन्त वे समस्त संसारी जीव पुण्य से रची हुई होने पर भी दुःख के बीजभूत तृष्णाओं के द्वारा अत्यन्त दुखी होते हुए, मृग-

(१) अणुहवति (ज० वृ०) ।

तृष्णा से जल प्राप्ति की इच्छा की भांति, विषयों से सुख को चाहते हैं। (जैसे हरिण मृग-तृष्णा से जल प्राप्ति की इच्छा कर दुःखी होता है, वैसे ही संसारी जीव विषयों से सुख की इच्छा करके दुःखी होते हैं, क्योंकि विषयों मे सुख नहीं है, किन्तु आकुलता रूप दुःख ही है)। उस (तृष्णा) के दुख रूप संताप के वेग को सहन न कर सकने से, जोंक की भांति, विषयों को तब तक भोगते हैं जब तक कि मरण को प्राप्त नहीं हो जाते।

भावार्थ—जैसे जोंक (गोंच), वास्तव में तृष्णा जिसका बीज है और जो तृष्णा विजयशील है, ऐसे दुःखांकुर से क्रमशः व्याप्त होती हुई दूषित रक्त को चाहती है, और उसी को पीती हुई मरण पर्यंत दुःख को पाती है। उसी प्रकार ये (निरतिशय) पुण्यशाली जीव भी पापशाली जीवों की भांति, तृष्णा जिसका बीज है और जो विजय को प्राप्त है, ऐसे दुखांकुर के द्वारा क्रमशः व्याप्त होते हुए विषयो को चाहते हुए और उनको ही भोगते हुए मरण-पर्यंत दुःख पाते हैं। इस कारण से (निरतिशय) पुण्य सुखाभास रूप दुख का साधन है।

विशेषार्थ—गाथा ४४ मे ग्रंथकार स्वयं 'पुण्य का फल अरिहंत पद है' ऐसा कह चुके हैं। इस गाथा में निरतिशय पुण्य का कथन है, जो कि भोगों की वांछा से किया जाता है।

तात्पर्यवृत्ति

अथ पुण्यानि दु:खकारणानीति पूर्वोक्तमेवार्थं विशेषेण समर्थयति —

ते पुण उदिण्णतण्हा सहजशुद्धात्मतृप्तेरभावात्ते निखिलससारिजीवा पुनरुदीर्णतृष्णा: सन्तः **दुहिदा तण्हाहिं** स्वसंवित्तिसमुत्पन्नपारमार्थिकसुखाभावात्पूर्वोक्ततृष्णाभिर्दुःखिता सन्तः। किं कुर्वन्ति? **विसयसोक्खाणि इच्छंति** निर्विषयपरमात्मसुखाद्विलक्षणानि विषयसुखानि इच्छन्ति। न केवलमिच्छन्ति **अणुहवंति य** अनुभवन्ति च। किं पर्यन्तम्? **आमरणं** मरणपर्यन्तं। कथंभूताः? **दुक्खसंतत्ता** दुःखसंतप्ता इति।

अयमत्रार्थ:—यथा तृष्णोद्रेकेण प्रेरिताः जलौकसः कीलालमभिलषन्त्यस्तदेवानुभवन्त्यश्चामरणं दुःखिता भवन्ति, तथा निजशुद्धात्मसंवित्तिपराङ्मुखा जीवा अपि मृगतृष्णाभ्योऽम्भासीव विषयानभिलषन्तस्तथैवानुभवन्तश्चामरणं दुःखिता भवन्ति। तत एतदायातं तृष्णातङ्कोत्पादकत्वेन पुण्यानि वस्तुतो दुःखकारणानि इति ॥७५॥

उत्थानिका—आगे पुण्यकर्म मिथ्यादृष्टि जीवो के लिये दुख के कारण है, इस ही पूर्व के भाव को विशेष करके समर्थन करते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(पुण) तथा फिर (ते) वे अज्ञानी सर्व संसारी जीव (उदिण्णतण्हा) स्वाभाविक शुद्ध आत्मा में तृप्ति को न पाकर तृष्णा को उठाए हुए (तण्हाहिं

दुहिदा) स्वसंवेदन से उत्पन्न जो पारमार्थिक सुख उसकी श्रद्धा के अभाव से अनेक प्रकार की तृष्णा से दुःखी होते हुए व (आमरणं दुक्खसंतत्ता) मरण पर्यंत दुःखों से संतापित रहते हुए (विषयसोक्खाणि) विषयों से रहित परमात्मा के सुख से विलक्षण विषय के सुखों को (इच्छंति) चाहते रहते हैं (अणुहवंति य) और भोगते रहते हैं।

यहाँ यह अर्थ है कि जैसे तृष्णा की तीव्रता से प्रेरित होकर जोंक जंतु खराब रुधिर की इच्छा करता है तथा उसको पीता है, इस तरह करती हुई जोंक मरण पर्यंत दुःखी रहती है अर्थात् खराब रुधिर पीते-पीते उसका मरण हो जाता है परन्तु उसकी तृष्णा नहीं मिटती, तैसे अपने शुद्ध आत्मा के अनुभव को न पाने वाले अर्थात् श्रद्धा न करने वाले जीव भी, जैसे मृग तृषातुर होकर बार-बार सूखी नदी के मैदान में जल जान जाता है, परन्तु तृषा न बुझाकर दुःखी ही रहता है, इसी तरह जीव विषयों को चाहते तथा अनुभव करते हुए मरण पर्यंत दुःखी रहते हैं। इससे यह सिद्ध हुआ कि अज्ञानी जीवों में तृष्णा रूपी रोग को पैदा करने के कारण से पुण्यकर्म वास्तव मे दुःख का ही कारण है ॥७५॥

अथ पुनरपि पुण्यजन्यस्येन्द्रियसुखस्य बहुधा दुःखत्वमुद्योतयति—

सपरं बाधासहिदं[1] विच्छिण्णं बंधकारणं विसमं।
जं इंदिएहिं[2] लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तधा[3] ॥७६॥

सपरं बाधासहितं विच्छिन्नं बन्धकारणं विषमम्।
यत् इन्द्रियैः लब्धं तत्सौख्यं दुःखं एव तथा ॥७६॥

सपरत्वात् बाधासहितत्वात् विच्छिन्नत्वात् बंधकारणत्वात् विषमत्वाच्च पुण्यजन्यमपीन्द्रियसुखं दुःखमेव स्यात्। सपरं हि सत् परप्रत्ययत्वात् पराधीनतया, बाधासहितं हि सदशनायोदन्यावृषस्यादिभिस्तृष्णाव्यक्तिभिरुपेतत्वात् अत्यन्ताकुलतया, विच्छिन्नं हि सदसद्वेद्योदयप्रच्यावितसद्वेद्योदयप्रवृत्ततयाऽनुभवत्वादुद्भूतविपक्षतया, बन्धकारणं हि सद्विषयोपभोगमार्गानुलग्नरागादिदोषसेनानुसारसंगच्छमानघनकर्मपांसुपटलत्वादुदर्कदुःसहतया, विषमं हि सदभिवृद्धिपरिहाणिपरिणतत्वादत्यन्तविसंष्ठुलतया च दुःखमेव भवति। अथैवं पुण्यमपि पापवद्दुःखसाधनमायातम् ॥७६॥

भूमिका—अब, फिर भी पुण्यजन्य इन्द्रियसुख के अनेक प्रकार से दुःखपने को प्रगट करते हैं—

अन्वयार्थ—[यत्] जो [इन्द्रियैः लब्धं] इद्रियों से प्राप्त होता है [तत् सौख्यं]

---

१ बाधासहियं (ज० वृ०)। २ इंदियेहिं (ज० वृ०)। ३, तहा (ज० वृ०)।

वह सुख (१) [सपरं] पर सम्बन्ध-युक्त (पराधीन) (२) [बाधासहितं] बाधासहित, (३) [विच्छिन्नं] विच्छिन्न, (४) [बधकारण] बध का कारण, (५) [विषम] और विषम है, [तथा] इस प्रकार [दुःख एव] वह दुख ही है।

टीका—(१) पर-सम्बन्ध-युक्त होने से, (२) बाधा-सहित होने से, (३) विच्छिन्न होने से, (४) बन्धका कारण होने से, और (५) विषम होने से पुण्य-जन्य भी इन्द्रियसुख दुखरूप ही है।

गाथा का अर्थ पूरा हो चुका। अब उसके भाव को स्वयं टीकाकार स्पष्ट करते हैं—(१) 'परके सम्बन्ध वाला' होता हुआ पराश्रयता के कारण पराधीनता से, (२) 'बाधा सहित' होता हुआ भोजन, पानी और मैथुन आदि तृष्णा की प्रगटताओं से युक्त होने के कारण अत्यन्त आकुलता से, (३) 'विच्छिन्न' होता हुआ असातावेदनीय का उदय जिसे च्युत कर देता है, ऐसे सातावेदनीय के उदय की प्रवर्तता से अनुभव में आने के कारण विपक्ष की उत्पत्ति वाला होने से, (४) 'बंध का कारण' होता हुआ, विषय-उपभोग के मार्ग में लगी हुई रागादि दोषों की सेना के अनुसार बन्ध वाले घन-कर्म-समूह के कारण परिणाम में (फल समय मे) दुःसह (दुःख से सहने योग्य) होने से और (५) 'विषम' होता हुआ विशेष वृद्धि और विशेष हानि मे परिणत होने के कारण अत्यन्त अस्थिरता से (इन्द्रिय सुख) दुःख ही है। जबकि ऐसा है (इन्द्रियसुख दुःख ही है) तो पुण्य भी पाप की भांति दुःख के साधन-पने को प्राप्त हुआ। (दुःख का साधन ही सिद्ध हुआ)।

तात्पर्यवृत्ति

अथ पुनरपि पुण्योत्पन्नस्येन्द्रियसुखस्य बहुधा दुःखत्व प्रकाशयति,—

सपरं सह परद्रव्यापेक्षया वर्तते सपर भवतीन्द्रियसुख, पारमार्थिकसुख तु परद्रव्यनिरपेक्षत्वादात्माधीनं भवति। **बाधासहियं** तीव्रक्षुधातृष्णाद्यनेकबाधासहितत्वाद्बाधासहितमिन्द्रियसुख, निजात्मसुख तु पूर्वोक्तसमस्तबाधारहितत्वादव्याबाध। **विच्छिण्णं** प्रतिपक्षभूतासातोदयेन सहितत्वाद्विच्छिन्न सान्तरित भवतीन्द्रियसुख, अतीन्द्रियसुख तु प्रतिपक्षभूतासातोदयाभावान्निरन्तर। **बंधकारणं** दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाङ्क्षाप्रभृत्यनेकापध्यानवशेन भाविनरकादिदुःखोत्पादककर्मबन्धोत्पादकत्वाद्बन्धकारणमतीन्द्रियसुख तु सर्वापध्यानरहितत्वादबन्धकारण। **विसमं** विगतः शमः परमोपशमो यत्र तद्विषममतृप्तिकर हानिवृद्धिसहितत्वाद्वा विषम, अतीन्द्रियसुख तु परमतृप्तिकर हानिवृद्धिरहित च। **जं इंदियेहिं लद्धं तं सोक्खं दुक्खमेव तहा** यदिन्द्रियैर्लब्ध ससारसुख तत्सुख यथा पूर्वोक्तपञ्चविशेषण विशिष्ट भवति तथैव दुःखमेवेत्यभिप्रायः ॥७६॥

एव पुण्यानि जीवस्य तृष्णोत्पादकत्वेन दुःखकारणानि भवन्तीति कथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाचतुष्टय गतम्।

उत्थानिका—आगे फिर भी पुण्य से उत्पन्न जो इन्द्रिय सुख होता है, उसको बहुत प्रकार से दुःखरूप प्रकाश करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जं) जो संसारिकसुख (इंदियेहिं लद्धं) **पांचों इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त होता है (तं सोक्खं) वह सुख (सपरं) परद्रव्य की अपेक्षा से होता है इसलिये पराधीन है, जब कि पारमार्थिकसुख परद्रव्य की अपेक्षा न रखने से आत्मा के अधीन यानी स्वाधीन है। इन्द्रियसुख (बाधासहियं) तीव्र क्षुधा तृषा आदि अनेक रोगों का सहकारी है, जबकि आत्मीक सुख सर्व बाधाओ से रहित होने से अव्याबाध है। इन्द्रियसुख (विच्छिण्णं) साताका विरोधी जो असातावेदनीयकर्म उसके उदय सहित होने से नाशवंत तथा अन्तर सहित होने वाला है, जबकि अतीन्द्रियसुख असाता के उदय के न होने से निरन्तर विना अन्तर पड़े व नाश हुए रहने वाला है। इन्द्रियसुख (बन्धकारणं) देखे, सुने, अनुभव लिये हुए भोगों की इच्छा को आदि लेकर अनेक खोटे ध्यान के अधीन होने से भविष्य मे नरक आदि के दुःखों को पैदा करने वाले कर्मबन्ध को बांधने वाला है अर्थात् कर्मबन्ध का कारण है, जबकि अतीन्द्रियसुख सर्व अपध्यानों से शून्य होने के कारण से बंध का कारण नहीं है। तथा (विसम) यह इन्द्रियसुख परम उपशम या शान्तभाव से रहित तृप्तिकारी नहीं है अथवा हानि वृद्धि रूप होने से एकसा नहीं चलता किन्तु विषम है, जब कि अतीन्द्रियसुख परम तृप्तिकारी और हानि वृद्धि से रहित है, (तथा दुक्खमेव) इसलिये यह इन्द्रियसुख पांच विशेषण सहित होने से दुःखरूप ही है, ऐसा अभिप्राय है ॥७६॥**

इस तरह (मिथ्यादृष्टि) जीव के भीतर तृष्णा पैदा करने निमित्त होने से यह पुण्यकर्म दुःख का कारण है, ऐसा कहते हुए दूसरे स्थल मे चार गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथ पुण्यपापयोरविशेषत्वं निश्चिन्वन्नुपसंहरति—

ण हि मण्णदि जो एवं णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाणं।
हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णो ॥७७॥

न हि मन्यते य एव नास्ति विशेष इति पुण्यपापयो.।
हिण्डति घोरमपार ससार मोहसछन्न: ॥७७॥

एवमुक्तक्रमेण शुभाशुभोपयोगद्वैतमिव सुखदुःखद्वैतमिव च न खलु परमार्थतः पुण्यपापद्वैतमवतिष्ठते, उभयत्राप्यनात्मधर्मत्वाविशेषत्वात्। यस्तु पुनरनयोः कल्याणकालायसनिगडयोरिवाहङ्कारिकं विशेषमभिमन्यमानोऽहमिन्द्रपदादिसंपदां निदानमिति निर्भरतरं

धर्मानुरागमवलम्बते स खलूपरक्तचित्तभित्तितया तिरस्कृतशुद्धोपयोगशक्तिरासंसारं शारीरं दुःखमेवानुभवति ॥७७॥

भूमिका—अब, पुण्य और पाप के अविशेषपने को (अन्तर न होने पनेको—समानता को) निश्चय करते हुए (इस विषय का) उपसंहार करते है—

अन्वयार्थ—[एव] इस प्रकार [पुण्यपापयो] पुण्य और पाप मे [विशेष. नास्ति] अन्तर नही है [इति] इस बात को [य] जो [न मन्यते] नही मानता है [मोहसछन्न] वह मोह से आच्छादित (मिथ्या अभिप्राय से युक्त) होता हुआ [घोर अपार ससार] घोर अपार (अन्तरहित) ससार मे [हिण्डति] परिभ्रमण करता है।

टीका—यों पूर्वोक्त प्रकार से शुभाशुभ उपयोग के द्वैत की भाति, और सुख-दु ख के द्वैत की भांति, परमार्थ से पुण्यपाप का द्वैत नहीं टिकता है क्योकि दोनो मे ही अनात्मधर्मत्व की अविशेषता (समानता) है। (दोनो आत्मा के धर्म नहीं हैं) (ऐसा होने पर भी) जो उन दोनों मे, सुवर्ण और लोहे की बेडी की भांति, अहकारिक अन्तर मानता हुआ, (पुण्य) अहमिन्द्र पद आदि सम्पदाओ का हेतु है, इस कारण से अत्यन्त गाढ धर्मानुराग को (शुभ परिणाम को) आश्रय करता है। वह वास्तव मे चित्तभूमि के उपरक्त होने के (मनके गाढ रागी हो जाने से) जिसने शुद्धोपयोग शक्ति का तिरस्कार किया है ऐसा वर्तता हुआ, संसारपर्यन्त शारीरिक दु.ख को ही भोगता है ॥७७॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ निश्चयेन पुण्यपापयोर्विशेषो नास्तीति कथयन् पुण्यपापयोर्व्याख्यानमुपसहरति,—

ण हि मण्णदि जो एव न हि मन्यते य एव। किं? **णत्थि विसेसो त्ति पुण्णपावाण** पुण्यपापयोर्निश्चयेन विशेषो नास्ति। स किं करोति? **हिंडदि घोरमपार ससार** हिण्डति भ्रमति। क? ससार। कथभूत? घोर अपार चाभव्यापेक्षया। कथभूत! **मोहसछण्णो** मोहप्रच्छादित इति।

तथाहि—द्रव्यपुण्यपापयोर्व्यवहारेण भेद, भावपुण्यपापयोस्तत्फलभूतसुखदुःखयोश्चाशुद्धनिश्चयेन भेदः, शुद्धनिश्चयेन तु शुद्धात्मनोऽभिन्नत्वादभेदो नास्ति एव शुद्धनयेन पुण्यपापयोरभेद योसौ न मन्यते स देवेन्द्रचक्रवर्तिबलदेववासुदेवकामदेवादिपदनिमित्त निदानबन्धेन पुण्यमिच्छन्निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वविपरीतदर्शनचारित्रमोहप्रच्छादित सुवर्णलोहनिगडद्वयसमानपुण्यपापद्वयबद्ध सन् ससाररहितशुद्धात्मनो विपरीत ससार भ्रमतीत्यर्थ ॥७७॥

उत्थानिका—आगे निश्चय से पुण्य पाप मे कोई विशेष नही है ऐसा कहकर फिर इसी व्याख्यान को संकोचते हैं

अन्वय सहित विशेषार्थ—(**पुण्णपावाणं णत्थि विसेसो त्ति**) पुण्य पापकर्म मे निश्चय से भेद नहीं है (**जो एवं ण हि मण्णदि**) जो कोई इस तरह नही मानता है (**मोहसछण्णो**)

वह मोहकर्म से आच्छादित जीव (घोरं अपारं संसारं हिंडदि) भयानक और अभव्य की अपेक्षा से अपार संसार में भ्रमण करता है।

विशेष यह है कि द्रव्यपुण्य और द्रव्यपाप में व्यवहार नय से भेद है, भावपुण्य और भावपाप मे तथा पुण्य के फल रूप सुख और दुःख मे अशुद्धनिश्चयनय से भेद है। परन्तु शुद्धनिश्चयनय के ये द्रव्यपुण्य पापादिक सब शुद्ध आत्मा के स्वभाव से भिन्न हैं, इसलिये इन पुण्य पापों मे कोई भेद नहीं है। इस तरह शुद्धनिश्चयनय से पुण्य व पाप की एकता को जो कोई नहीं मानता है वह इन्द्र, चक्रवर्ती, बलदेव, नारायण, कामदेव आदि के पदो के निमित्त निदान-बन्ध से पुण्य को चाहता हुआ मोह रहित शुद्ध आत्मतत्त्व से विपरीत दर्शनमोह तथा चारित्रमोह से ढका हुआ सोने और लोहे की दो बेड़ियों के समान पुण्य पाप दोनों से बधा हुआ संसार रहित शुद्धात्मा से विपरीत ससार में भ्रमण करता है ॥७७॥

अथैवमवधारितशुभाशुभोपयोगाविशेषः समस्तमपि रागद्वेषद्वैतमपहासयन्नशेषदुःखक्षयाय सुनिश्चितमनाः शुद्धोपयोगमधिवसति--

एवं विदिदत्थो जो दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा।
उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं ॥७८॥

एव विदितार्थो यो द्रव्येषु रागमेति द्वेष वा।
उपयोगविशुद्ध. स क्षपयति देहोद्भव दु खम् ॥७८॥

यो हि नाम शुभानामशुभाना च भावानामविशेषदर्शनेन सम्यक्परिच्छिन्नवस्तुस्वरूपः स्वपरविभागावस्थितेषु समग्रेषु ससमग्रपर्यायेषु द्रव्येषु रागं द्वेष चाशेषमेव परिवर्जयति स किलैकान्तेनोपयोगविशुद्धतया परित्यक्तपरद्रव्यालम्बनोऽग्निरिवायः पिण्डादननुष्ठितायः सारः प्रचण्डघनघातस्थानीय शारीरं दु ख क्षपयति, ततो ममायमेवैक शरणं शुद्धोपयोगः ॥७८॥

भूमिका—**अब इस प्रकार शुभ और अशुभ उपयोग की अविशेषता अवधारित करके समस्त ही राग द्वेष के द्वैत को दूर करते हुए सम्पूर्ण दुःख को क्षय करने के लिये मन मे दृढ़ निश्चय करने वाला जीव शुद्धोपयोग मे निवास करता है, शुद्धोपयोग में निवास करता है, शुद्धोपयोग की शरण लेता है—**

अन्वयार्थ—[एव] इस प्रकार [विदितार्थ] जान लिया है पदार्थ को जिसने [य.] ऐसा जो जीव [द्रव्येषु] द्रव्यो मे [राग वा द्वेष] राग अथवा द्वेष को [न एति] प्राप्त नही होता है, [उपयोगविशुद्ध] उपयोग से विशुद्ध [स] वह जीव [देहोद्भव दु ख] पञ्चेन्द्रिय सहित देह से उत्पन्न हुए दु ख को [क्षपयति] नाश कर देता है।

टीका—**शुभ और अशुभ भावों के अविशेष दर्शन से (समानता की श्रद्धा से) सम्यक् प्रकार से जान लिया है वस्तु के स्वरूप को जिसने ऐसा जो जीव वास्तव में स्व और पर ऐसे दो विभागों में रहने वाले तथा (अपनी) समस्त पर्यायों सहित (वर्तने वाले) ऐसे समस्त द्रव्यों में राग और द्वेष को सम्पूर्ण को ही (सर्वथा) छोड़ देता है, वह जीव वास्तव में, एकान्त से उपयोग की विशुद्धता (सर्वथा शुद्धोपयोगी होने) से जिसने पर द्रव्य का आलम्बन छोड़ दिया है, ऐसा वर्तता हुआ—लोहे के गोले मे से लोहे के सार का अनुसरण न करने वाली अग्नि की भाति प्रचड घन के आघात समान शारीरिक दु ख का क्षय करता है। (जैसे अग्नि लोहे के गोले मे से लोहे के सत्व को धारण नहीं करती इस लिये अग्नि पर प्रचंड घन के प्रहार नहीं होते, इसी प्रकार पर-द्रव्य का आलम्बन न करने वाले आत्मा को शारीरिक दुःख का वेदन नहीं होता) इस कारण से मेरे यही एक शुद्धोपयोग शरण है ॥७८॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथैवं शुभाशुभयो. समानत्वपरिज्ञानेन निश्चितशुद्धात्मतत्त्व सन् दु खक्षयाय शुद्धोपयोगानुष्ठान स्वीकरोति—

एव विदिदत्थो जो एवं चिदानन्दैकस्वभाव परमात्मतत्त्वमेवोपादेयमन्यदशेष हेयमिति हेयोपादेयपरिज्ञानेन विदितार्थ तत्त्वो भूत्वा य **दव्वेसु ण रागमेदि दोस वा** निजशुद्धात्मद्रव्यादन्येषु शुभाशुभसर्वद्रव्येषु राग द्वेष वा न गच्छति **उवओगविसुद्धो सो** रागादिरहितशुद्धात्मानुभूतिलक्षणेन शुद्धोपयोगेन विशुद्ध सन् स· **खवेदि देहुब्भव दुक्ख** तप्तलोहपिण्डस्थानीयदेहादुद्भव, अनाकुलत्वलक्षणपारमार्थिकसुखाद्विलक्षण परमाकुलत्वोत्पादक लोहपिण्डरहितोऽग्निरिव घनघातपरम्परास्थानीयदेहरहितो भूत्वा-शारीरं दु ख क्षपयतीत्यभिप्राय एवमुपसहाररूपेण तृतीयस्थले गाथाद्वय गतम् ॥७८॥

इति शुभाशुभमूढत्वनिरासार्थं गाथादशकपर्यन्त स्थलत्रयसमुदायेन **प्रथमज्ञानकण्ठिका** समाप्ता।

उत्थानिका—इस तरह निश्चयनय से शुभ तथा अशुभ उपयोग को समान जानकर निश्चय शुद्धात्मतत्व होता हुआ ससार के दु खो के क्षय के लिये शुद्धोपयोग के साधन को स्वीकार करता है, ऐसा कहते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(एवं विदिदत्थो जो) इस तरह चिदानन्दमयी एक स्वभाव रूप परमात्मतत्व को उपादेय तथा इसके सिवाय अन्य सर्व को हेय जान करके हेयोपादेय के यथार्थ ज्ञान से तत्त्व स्वरूप का ज्ञाता होकर जो कोई (दव्वेसु ण रागमेदि दोसं वा) अपने शुद्ध आतम द्रव्य से अन्य शुभ तथा अशुभ सर्व द्रव्यो में रागद्वेष नहीं करता है। (सो उवओगविसुद्धो) वह रागादि से रहित शुद्धातम अनुभवमयी लक्षण वाले शुद्धोपयोग**

से विशुद्ध होता हुआ (देहुब्भवं दुःखं खवेदि) देह के संयोग से उत्पन्न दुःख का नाश करते हैं। अर्थात् यह शरीर गर्म लोहे के पिण्ड समान है। उससे उत्पन्न दुःख का जो निराकुलता लक्षणमयी निश्चयसुख से विलक्षण है और बड़ी भारी आकुलता को पैदा करने वाला है, वह संयमी आत्मा लोहपिण्ड से रहित अग्नि के समान अनेक चोटों का स्थान जो शरीर उससे रहित होता हुआ नाश कर देता है, यह अभिप्राय है। इस तरह सक्षेप करते हुए तीसरे स्थल में दो गाथाएं पूर्ण हुईं ऊपर लिखित प्रमाण शुभ तथा अशुभ की मूढता को दूर करने के लिये दश गाथाओं तक तीन स्थलों के समुदाय से पहली ज्ञान कंठिका पूर्ण हुई।

अथ यदि सर्वसावद्ययोगमतीत्य चरित्रमुपस्थितोऽपि शुभोपयोगानुवृत्तिवशतया मोहादीन्नोन्मूलयामि, ततः कुतो मे शुद्धात्मलाभ इति सर्वारम्भेणोत्तिष्ठते—

चत्ता पावारंभं समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्मि[1]।
ण जहदि जदि मोहादी ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं ॥७९॥

त्यक्त्वा पापारभ समुत्थितो वा शुभे चरित्रे।
न जहाति यदि मोहादीन्न लभते स आत्मक शुद्धम् ॥७९॥

यः खलु समस्तसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणं परमसामायिक नाम चारित्रं प्रतिज्ञायापिशुभोपयोगवृत्त्या—बकाभिसारिकयेवाभिसार्यमाणो न मोहवाहिनीविधेयतामवकिरति स किल समासन्नमहादुःखसङ्कटः कथमात्मानमविप्लुतं लभते। अतो मया मोहवाहिनीविजयाय बद्धा कक्षेयम् ॥७९॥

भूमिका—अब सर्व सावद्य (सर्व पाप) योग को छोड़कर, चारित्र अङ्गीकार किया हो, तो भी यदि मै शुभोपयोग परिणति के वश के कारण, मोहादि को उन्मूलन न करूं, मेरे शुद्ध आत्मा का लाभ कहा से होगा ? (अर्थात् नहीं होगा) इस प्रकार विचार करके (मोहादि के उन्मूलन के लिये) सर्वारम्भ (सर्व उद्यम-सर्व पुरुषार्थ) से कटिबद्ध होता हूँ—

अन्वयार्थ—[पापारम्भं] पाप आरम्भ को [त्यक्त्वा] छोडकर [शुभे चारित्रे] शुभ चारित्र मे [समुत्थित] उद्यत हुआ भी [यदि] यदि [मोहादीन्] मोह आदि को [न जहाति] नही छोडता है तो [स] वह [शुद्ध आत्मक] शुद्ध अप्त्मा को [न लभते] प्राप्तनही करता।

टीका—जो जीव वास्तव मे समस्त-सावद्य (पाप) योग के प्रत्याख्यान (त्याग) स्वरूप परम सामायिक नामक चारित्र की प्रतिज्ञा करके भी धूर्त अभिसारिका (शील-रहित स्त्री) की भाति शुभ उपयोग परिणति से अभिसार (मिलन) को प्राप्त होता हुआ

---

१ चरियम्हि (ज० वृ०)।

(शुभोपयोग परिणति के प्रेम में फंसता हुआ) मोह की सेना की वशवर्तिता को दूर नहीं कर डालता (तो) जिसे महा-दुःख संकट निकट है, ऐसा वह निश्चय से कैसे शुद्ध आत्मा को प्राप्त कर सकता है ? (नहीं कर सकता) इस कारण से मेरे द्वारा मोह की सेना पर विजय प्राप्त करने के लिये कमर कसी गई है ॥७९॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुभाशुभोपयोगनिवृत्तिलक्षणशुद्धोपयोगेन मोक्षो भवतीति पूर्वसूत्रे भणितम् । अत्र तु द्वितीयज्ञानकण्ठिकाप्रारम्भे शुद्धोपयोगाभावे शुद्धात्मानं न लभते, इति तमेवार्थं व्यतिरेकरूपेण दृढयति—

चत्ता पावारंभं पूर्वं गृहवासादिरूपं पापारम्भं त्यक्त्वा **समुट्ठिदो वा सुहम्मि चरियम्हि** सम्यगुपस्थितो वा पुनः क्व ? शुभचरित्रे **ण जहदि जदि मोहादी** न त्यजति यदि चेन्मोहरागद्वेषान् **ण लहदि सो अप्पगं सुद्धं** न लभते स आत्मानं शुद्धमिति । इतो विस्तरः—कोऽपि मोक्षार्थी परमोपेक्षा-लक्षणं परमसामायिकं पूर्वं प्रतिज्ञाय पश्चाद्विषयसुखसाधकशुभोपयोगपरिणत्या मोहितान्तरङ्गः सन् निर्विकल्पसमाधिलक्षणपूर्वोक्तसामायिकचारित्राभावे सति निर्मोहशुद्धात्मतत्त्वप्रतिपक्षभूतान् मोहादीन्न त्यजति यदि चेत्तर्हि जिनसिद्धसदृशं निजशुद्धात्मानं न लभत इति सूत्रार्थः ॥७९॥

उत्थानिका—आगे पूर्व सूत्र मे यह कह चुके है कि शुभ तथा अशुभ उपयोग से रहित शुद्ध उपयोग से मोक्ष होता है। अब यहा दूसरी ज्ञान कठिका के व्याख्यात के प्रारम्भ मे शुद्धोपयोग के अभाव मे वह आत्मा शुद्ध आत्मीक स्वभाव को नही प्राप्त करता है ऐसा कहते हुए उस ही पहले प्रयोजन को व्यतिरेकपने से दृढ करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(पावारंभं चत्ता) पहले गृह में वास करना आदि पाप के आरम्भ को छोड़कर (वा सुहम्मि चरियम्हि समुट्ठिदो) तथा शुभचारित्र मे भले प्रकार आचरण करता हुआ (जदि मोहादी ण जहदि) यदि कोई मोह, रागद्वेषादि भावों को नहीं त्यागता है (सो अप्पगं सुद्धं ण लहदि) सो शुद्ध आत्मा को नहीं पाता है। इसका विस्तार यह है कि कोई भी मोक्ष का अर्थी पुरुष परम उपेक्षा या वैराग्य के लक्षण को रखने वाले परम सामायिक करने की पूर्व में प्रतिज्ञा करके पीछे विषयों के सुख के साधन के लिये जो शुभोपयोग की परिणतियां हैं उनमें परिणमन करके अंतरंग में मोही होकर यदि निर्विकल्प-समाधिलक्षणमयी पूर्व में कहे हुए मोह रहित शुद्ध आत्मतत्व के विरोधी मोह आदिकों को नहीं छोड़ता है, तो वह जिन या सिद्ध के समान अपने आत्मस्वरूप नहीं पाता है ॥७९॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुद्धोपयोगाभावे यादृशं जिनसिद्धस्वरूपं न लभते तमेव कथयति—

तवसंजमप्पसिद्धो सुद्धो सग्गापवग्गमग्गकरो ।
अमरासुरिंदमहिदो देवो सो लोयसिहरत्थो ॥७९-१॥

तवसंजमप्पसिद्धो समस्तरागादिपरभावेच्छात्यागेन स्वस्वरूपे प्रतपन विजयनं तपः, बहिरंगेन्द्रियप्राणसंयमबलेन स्वशुद्धात्मनि संयमनात्समरसीभावेन परिणमन संयमः, ताभ्यां प्रसिद्धो जातस्तप संयमप्रसिद्ध **सुद्धो** क्षुधाद्यष्टादशदोषरहित' **सग्गापवग्गमग्गकरो** स्वर्ग. प्रसिद्ध केवलज्ञानअनन्तचतुष्टयलक्षणोऽपवर्गो मोक्षस्तयोर्मार्गं करोत्युपदिशति स्वर्गापवर्गमार्गकर: **अमरासुरिंदमहिदो** तत्पदाभिलाषिभिरमरासुरेन्द्रैर्महित: पूजितोऽमरासुरेन्द्रमहित **देवो सो** स एव गुणविशिष्टोऽर्हन् **देवो** भवति। **लोयसिहरत्थो** स एव भगवान् लोकाग्रशिखरस्थ' सन् सिद्धो भवतीति जिनसिद्धस्वरूपज्ञातव्यम्।

उत्थानिका—आगे शुद्धोपयोग के अभाव मे जिस तरह के जिन व सिद्ध स्वरूप को यह नही प्राप्त करता है उसको कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(सो देवो) वह देव (तवसंजमप्पसिद्धो) सर्व रागादि परभावों की इच्छा के त्याग रूप अपने स्वरूप में दीप्तमान होना ऐसा जो तप तथा बाहरी इन्द्रियसंयम और प्राणिसंयम के बल से अपने शुद्धात्मा मे स्थिर होकर समतारस के भाव से परिणमना जो संयम इन दोनों से सिद्ध हुआ है, (सुद्धो) क्षुधा आदि अठारह दोषों से रहित शुद्ध वीतराग है, (सग्गापवग्गमग्गकरो) स्वर्ग तथा केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टय लक्षण रूप मोक्ष इन दोनों के मार्ग का उपदेश करने वाला है, (अमरासुरिंदमहिदो) उसही पद के इच्छुक स्वर्ग के अथवा भवनत्रिक के इन्द्रों द्वारा पूजनीय है, तथा (लोयसिहरत्थो) लोक के अग्र शिखर पर विराजित है, ऐसा जिन सिद्ध का स्वरूप जानना योग्य है ॥७९।१॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ तमित्थभूत निर्दोषिपरमात्मान ये श्रद्दधति मन्यन्ते तेऽक्षयसुख लभन्त इति प्रज्ञापयति—

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स।
पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥७९-२॥

तं देवदेवदेवं देवदेवा: सौधर्मेन्द्रप्रभृतयस्तेषा देव आराध्यो देवदेवस्त देवदेवदेवं, **जदिवरवसहं** जितेन्द्रियत्वेन निजशुद्धात्मनि यत्नपरास्ते यतयस्तेषा वरा गणधरदेवादयस्तेभ्योऽपि वृषभ प्रधानो यतिवरवृषभस्त यतिवरवृषभ, **गुरुं तिलोयस्स** अनन्तज्ञानादिगुरुगुणैस्त्रैलोक्यस्यापि गुरुस्त त्रिलोकगुरु **पणमंति जे मणुस्सा** तमित्थभूत भगवन्त ये मनुष्यादयो द्रव्यभावनमस्काराभ्यां प्रणमन्त्याराधयन्ति **ते सोक्खं अक्खयं जंति** ते तदाराधनाफलेन परम्परयाऽक्षयानन्तसौख्य यान्ति लभन्त इति सूत्रार्थ ॥७९-२॥

उत्थानिका—आगे सूचना करते है कि जो कोई इस प्रकार निर्दोष परमात्मा को मानते है, अपनी श्रद्धा मे लाते हैं वे ही अविनाशी आत्मीक सुख को पाते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जे मणुस्सा) जो कोई भव्य मनुष्य आदिक (तं देवदेवदेवं) उस महादेव को जो देवो के देव सौधर्म इन्द्र आदि का भी देव है अर्थात् उनके द्वारा आराधना के योग्य है, (जदिवरवसहं) इन्द्रियों के विषयों के जीतकर अपने शुद्ध आत्मा में**

यत्न करने वाले यतियों में श्रेष्ठ जो गणधरादिक उनमें भी प्रधान है, तथा (तिलोयस्स गुरुं) अनन्तज्ञान आदि महान् गुणों के द्वारा जो तीन लोक का भी गुरु है, उसे (पणमंति) द्रव्य और भाव नमस्कार के द्वारा प्रणाम करते हैं तथा पूजते हैं व उसका ध्यान करते हैं (ते) वे उसकी सेवा के फल से (अक्खयं सोक्खं जंति) परम्परा करके अविनाशी अतीन्द्रिय-सुख को पाते हैं, ऐसा सूत्र का अर्थ है। यहां आचार्य ने उपासक के लिये यह शिक्षा दी है कि "जो जैसा भावै सो तैसा हो जावै" अविनाशी अनंत अतींद्रियसुख का निरंतर लाभ आत्मा की शुद्ध अवस्था मे होता है। उस अवस्था की प्राप्ति का उपाय यद्यपि साक्षात् शुद्धोपयोग में तन्मय होकर निर्विकल्पसमाधि मे वर्तन करना है तथापि परम्परा से उसका उपाय अरहंत और सिद्ध जानकर उनको नमस्कार करना, पूजन करना, स्तुति करना आदि है ॥७९-२॥

अथ कथं मया विजेतव्या मोहवाहिनीत्युपायमालोचयति—

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु [1]जादि तस्स लयं ॥८०॥

यो जानात्यर्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः ।
स जानात्यात्मानं मोहः खलु याति तस्य लयम् ॥८०॥

यो हि नामार्हन्तं द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वैः परिच्छिनत्ति स खल्वात्मानं परिच्छिनत्ति, उभयोरपि निश्चयेनाविशेषात्। अर्हतोऽपि पाककाष्ठागतकार्तस्वरस्येव परिस्पष्टमात्म-रूपं, ततस्तत्परिच्छेदे सर्वात्मपरिच्छेदः। तत्रान्वयो द्रव्यं, अन्वयविशेषणं गुणः, अन्वय-व्यतिरेकाः पर्यायाः। तत्र भगवत्यर्हति सर्वतो विशुद्धे त्रिभूमिकमपि स्वमनसा समयमु-त्पश्यति। यश्चेतनोऽयमित्यन्वयस्तद्द्रव्यं, यच्चान्वयाश्रितं चैतन्यमिति विशेषणं स गुणः, ये चैकसमयमात्रावधृतकालपरिणामतया परस्परपरावृत्ता अन्वयव्यतिरेकास्ते पर्यायाश्चि-द्विवर्तनग्रन्थय इति यावत्। अथैवमस्य त्रिकालमप्येककालमाकलयतो मुक्ताफलानीव प्रलम्बे प्रालम्बे चिद्विवर्ताश्चेतन एव संक्षिप्य विशेषणविशेष्यत्ववासनान्तर्धानाद्धवलिमानमिव प्रालम्बे चेतन एव चैतन्यमन्तर्हितं विधाय केवलं प्रालम्बमिव केवलमात्मानं परिच्छिन्द-तस्तदुत्तरोत्तरक्षणक्षीयमाणकर्तृकर्मक्रियाविभागतया निष्क्रियं चिन्मात्रं भावमधिगतस्य जातस्य मणेरिवाकम्पप्रवृत्तनिर्मलालोकस्यावश्यमेव निराश्रयतया मोहतमः प्रलीयते। यद्येवं लब्धो मया मोहवाहिनीविजयोपायः ॥८०॥

---

१ जाइ (ज० वृ०)।

भूमिका—अब कैसे मेरे द्वारा मोह की सेना जीतने योग्य है, इसके उपाय को सोचते हैं—

अन्वयार्थ—[य] जो [अरहत] अरहन्त को [द्रव्यत्वगुणत्वपर्ययत्वै.] द्रव्यपने, गुणपने और पर्यायपने द्वारा [जानाति] जानता है, [स.] वह [आत्मान] (अपने) आत्मा को [जानाति] जानता है और [तस्य मोह.] उस जीव का मोह [खलु] अवश्य [लयं याति] नाश को प्राप्त होता है।

टीका—जो वास्तव में अरहंत को द्रव्य रूप से गुण रूप से और पर्याय रूप से जानता है वह वास्तव में अपने आत्मा को जानता है क्योंकि दोनों (अरहंत और अपनी आत्मा) में निश्चय से अन्तर नहीं है। अरहंत का रूप भी अन्तिम ताव को प्राप्त सोने के स्वरूप की भांति परिस्पष्ट (शुद्ध) आत्मा का रूप (ही) है, इस कारण से उनका (अरहन्त का) ज्ञान होने पर सर्व आत्मा का ज्ञान होता है। वहाँ (अरहन्त में) अन्वय रूप द्रव्य है, अन्वय का विशेषण गुण है, और अन्वय के व्यतिरेक (भिन्न-भिन्न, क्रम से होने वाली) पर्यायें हैं। वहाँ सर्वतः विशुद्ध भगवान् अरहन्त में (जीव) तीनो प्रकार युक्त समय को भी (द्रव्य गुण पर्यायमय निज आत्मा को भी) अपने मन से देख लेता है। जो यह चेतन है, यह अन्वय है, वह द्रव्य है, जो अन्वय के आश्रय रहने वाला चैतन्य है, यह विशेषण है, वह गुण है, और जो एक समय मात्र मर्यादित काल परिमाण के कारण से परस्पर भिन्न-भिन्न अन्वय के व्यतिरेक हैं वे पर्यायें हैं—जो कि चिद्विवर्तन की (आत्मा के परिणमन की) ग्रन्थियाँ (गांठें) हैं। इस प्रकार अरहन्त के द्रव्य गुण पर्याय का स्वरूप है।

अब, (१) इस प्रकार त्रैकालिक को भी (त्रिकाल इसी स्वभाव को धारण करने वाली अपनी आत्मा को भी) एक काल में समझ लेने वाले, (२) झूलते हुए हार में मोतियों की तरह (जैसे मोतियों को झूलते हुए हार में अन्तर्गत माना जाता है उसी प्रकार चिद्विवर्तों को (चैतन्य पर्यायो को) चेतन में ही अन्तर्गत करके तथा विशेषण विशेष्यता की वासना का अन्तर्धान होने से, हार मे सफेदी की तरह (जैसे सफेदी को हार में अन्तर्हित किया जाता है, उसी प्रकार) चैतन्य को चेतन में ही अन्तर्हित करके केवल हार की तरह (जैसे मोती व सफेदी आदि के विकल्प को छोड़कर मात्र हार को जानता है, उसी प्रकार) केवल आत्मा को जानने वाले, (३) उसके उत्तर क्षण में कर्ता-कर्म-क्रिया का विभाग नाश को प्राप्त हो जाने के निष्क्रिय चिन्मात्र भाव को प्राप्त होने वाले, (४) उत्तम मणि की भांति अकम्परूप से प्रवंत रहा है निर्मल प्रकाश जिसका, ऐसे उस

जीव के अवश्य ही निराश्रयता के कारण से मोहांधकार नष्ट हो जाता है। यदि ऐसा है तो मेरे द्वारा मोह की सेना को जीतने के लिये उपाय प्राप्त कर लिया गया ॥८०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ "चत्तापावारम्भ" इत्यादि सूत्रेण यदुक्त शुद्धोपयोगाभावे मोहादिविनाशो न भवति, मोहादिविनाशाभावेन शुद्धात्मलाभो न भवति तदर्थमेवेदानीमुपाय समालोचयति—

जो जाणदि अरहंतं य कर्ता जानाति। क ? अर्हन्त। कै कृत्वा ? **दव्वत्तगुणत्तपज्जयत्तेहिं** द्रव्यत्वगुणत्वपर्यायत्वै· **सो जाणदि अप्पाणं** स पुरुषोऽर्हत्परिज्ञानात्पश्चादात्मान जानाति **मोहो खलु जाइ तस्स लयं** तत आत्मपरिज्ञानात्तस्य मोहो दर्शनमोहो लय विनाशक्षय यातीति। तद्यथा—केवलज्ञानादयो विशेषगुणा, अस्तित्वादय: सामान्यगुणा., परमौदारिकशरीराकारेण यदात्म-प्रदेशानामवस्थान स व्यञ्जनपर्याय, अगुरुलघुकगुणषड्वृद्धिहानिरूपेण प्रतिक्षण प्रवर्तमाना अर्थपर्याया एव लक्षण-गुणपर्यायाधारभूतममूर्तमसख्यातप्रदेश शुद्धचैतन्यान्वयरूप द्रव्य चेति, इत्थभूत द्रव्यगुणपर्यायस्वरूप पूर्वमर्हदभिधाने परमात्मनि ज्ञात्वा पश्चान्निश्चयनयेन तदेवागमसारपदभूतयाऽध्यात्मभाषया निज-शुद्धात्मभावनाभिमुखरूपेण सविकल्पस्वसदवेनज्ञानेन तथैवागमभाषयाध प्रवृत्तिकरणापूर्वकरणा-निवृत्तिकरणसंज्ञदर्शनमोहक्षपणसमर्थपरिणामविशेषबलेन पश्चादात्मनि योजयति। तदनन्तरमविकल्प स्वरूप रूपे प्राप्ते, यथा पर्यायस्थानीयमुक्ताफलानि गुणस्थानीय धवलत्व चाभेदनयेन हार एव, तथा-पूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्याया अभेदनयेनात्मैवेति भावयतो दर्शनमोहान्धकार प्रलीयते। इति भावार्थ ॥८०॥

उत्थानिका—आगे "चत्तापावारम्भ" इत्यादि सूत्र से जो कहा जा चुका है कि शुद्धोपयोग के बिना मोह आदि का नाश नही होता है और मोहादि के नाश के बिना शुद्धात्मा का लाभ नही होता है, उस ही शुद्धात्मा के लाभ के लिये अब उपाय बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो) जो कोई (अरहत) अरहंत भगवान् को (दव्वत्तगुण-त्तपज्जत्तेहिं) द्रव्यपने, गुणपने, तथा पर्यायपने को (जाणदि) जानता है (सो) वह पुरुष (अप्पाणं जाणदि) अर्हंत के ज्ञान के पीछे अपने आत्मा को जानता है। उस आत्मज्ञान के प्रताप से (तस्स मोहो) उस पुरुष का दर्शनमोह (खलु लयं जादि) निश्चय से क्षय हो जाता है। इसका विस्तार यह है कि अर्हंत आत्मा के केवलज्ञान आदि विशेष गुण हैं। अस्तित्व आदि सामान्य गुण हैं। परम औदारिकशरीर के आकार जो आत्मा के प्रदेशों का होना सो व्यंजनपर्याय है। अगुरुलघुगुण द्वारा छः प्रकार वृद्धि-हानि रूप से वर्तन करने वालीं अर्थ-पर्याय हैं। इस तरह लक्षणधारी गुण और पर्यायों के आधाररूप, अमूर्तिक असंख्यात प्रदेशी, शुद्ध चैतन्यमयी अन्वयरूप अर्थात् नित्यस्वरूप अरहंत द्रव्य है। इस तरह द्रव्य गुण पर्याय स्वरूप अरहंत परमात्मा को पहले जानकर फिर निश्चयनय से उसी द्रव्यगुण पर्याय को आगम की सारभूत जो अध्यात्मभाषा है, उसके द्वारा अपने शुद्ध आत्मा**

की भावना के सन्मुख होकर अर्थात् विकल्प-सहित स्वसंवेदनज्ञान में परिणाम करते हुए तैसे ही आगम की भाषा से अध.करण अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण नाम के परिणाम विशेषों के बल से जो विशेषभाव दर्शनमोह के अभाव करने मे समर्थ हैं, अपने आत्मा में जोड़ता है। उसके पीछे निर्विकल्प स्वरूप की प्राप्ति के लिए जैसे पर्याय रूप से मोती के दाने, गुण रूप से सफेदी आदि अभेदनय से एक हार रूप ही मालूम होते हैं, तैसे पूर्व में कहे हुए द्रव्य गुण पर्याय अभेद-नय से आत्मा ही है, इस तरह भावना करते-करते दर्शनमोह का अन्धकार नष्ट हो जाता है ॥८०॥

अथैवं प्राप्तचिन्तामणेरपि मे प्रमादो दस्युरिति जागर्ति—

जीवो ववगदमोहो उवलद्धो तच्चमप्पणो सम्मं ।
जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥८१॥

जीवो व्यपगतमोह उपलब्धवातत्त्वात्मन· सम्यक् ।
जहाति यदि रागद्वेषौ स आत्मान लभते शुद्धम् ॥८१॥

एवमुपवर्णितस्वरूपेणोपायेन मोहमपसार्यापि सम्यगात्मतत्त्वमुपलभ्यापि यदि नाम रागद्वेषौ निर्मूलयति तदा शुद्धमात्मानमनुभवति। यदि पुनः पुनरपि तावनुवर्तेते तदा प्रमादतन्त्रतया लुण्ठितशुद्धात्मतत्त्वोपलम्भचिन्तारत्नोऽन्तस्ताम्यति। अतो मया रागद्वेष-निषेधायात्यन्तं जागरितव्यम् ॥८१॥

भूमिका—अब, इस प्रकार प्राप्त कर लिया है चिन्तामणि रत्न जिसने ऐसे मेरे भी प्रमाद चोर हैं—यह विचार कर जागृत रहता है—

अन्वयार्थ—[व्यपगतमोह] दूर हो गया है मोह जिसका और [आत्मन. सम्यक् तत्त्व उपलब्धवान्] आत्मा के सम्यक् (वास्तविक) तत्त्व को प्राप्त हुआ—जैसा [जीव.] जीव [यदि] जो [रागद्वेषौ] राग द्वेष को [जहाति] छोडता है तो [स] वह [शुद्ध आत्मान] शुद्ध आत्मा को [लभते] प्राप्त कर लेता है।

टीका—इस प्रकार जिस उपाय का स्वरूप वर्णन किया है, उस उपाय के द्वारा मोह को दूर करके भी तथा सम्यक् आत्मतत्त्व को प्राप्त करके भी यदि (जीव) राग द्वेष को निर्मूल करता है तो शुद्ध आत्मा को अनुभव करता है। और यदि पुन. पुनः (राग-द्वेष) को अनुसरण करता है, तो प्रमाद की अधीनता से शुद्धात्म-तत्त्व की प्राप्तिरूप चिंतामणि-रत्न लुट गया है जिसका, ऐसा वह जीव अन्तरंग मे खेद को प्राप्त होता है। इसलिये मुझको राग द्वेष को दूर करने के लिये अत्यन्त जागृत रहना चाहिये ॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ प्रमादोत्पादकचारित्रमोहसंज्ञश्चौरोस्तीति मत्वाप्तपरिज्ञानादुपलब्धस्य शुद्धात्मचिन्तामणेः रक्षणार्थं जागर्तीति कथयति—

जीवो जीवः कर्ता। किं विशिष्टः ? **ववगदमोहो** शुद्धात्मतत्त्वरुचिप्रतिबन्धकविनाशितदर्शनमोहः। पुनरपि किंविशिष्टः ? **उवलद्धो** उपलब्धवान् ज्ञातवान्। किं ? **तच्चं** परमानन्दैकस्वभावात्मतत्त्व। कस्य सम्बन्धी ? **अप्पणो** निजशुद्धात्मनः। कथं ? **सम्मं** सम्यक् संशयादिरहितत्वेन **जहदि जदि रागदोसे** शुद्धमानुभूतिलक्षणवीतरागचारित्रप्रतिबन्धकौ चारित्रमोहसंज्ञौ रागद्वेषौ यदि त्यजति **सो अप्पाणं लहदि सुद्धं** स एवमभेदरत्नत्रयपरिणतो जीवः शुद्धबुद्धैकस्वभावमात्मानं लभते, मुक्तो भवतीति।

किंच पूर्वं ज्ञानकण्ठिकायां **"उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भवं दुक्खं"** इत्युक्तं, अत्र तु **"जहदि जदि रागदोसे सो अप्पाणं लहदि सुद्धं"** इति भणितम्, उभयत्र मोक्षोस्ति को विशेषः ? प्रत्युत्तरमाह—तत्र शुभाशुभयोर्निश्चयेन समानत्वं ज्ञात्वा पश्चाच्छुद्धे शुभरहिते निजस्वरूपे स्थित्वा मोक्षं लभते, तेन कारणेन शुभाशुभमूढत्वनिरासार्थं ज्ञानकण्ठिका भण्यते। अत्र तु द्रव्यगुणपर्यायैराप्तस्वरूपं ज्ञात्वा पश्चात्तद्रूपे स्वशुद्धात्मनि स्थित्वा मोक्षं प्राप्नोति, ततः कारणादियमाप्तात्ममूढत्वनिरासार्थं ज्ञानकण्ठिका इत्येतावान् विशेषः ॥८१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि इस जगत् मे प्रमाद को उत्पन्न करने वाला चारित्रमोह नाम का चोर है, ऐसा मानकर आप्त श्री अरहत भगवान् के स्वरूप के ज्ञान से जो शुद्धात्मारूपी चिंतामणिरत्न प्राप्त हुआ है उसकी रक्षा के लिये ज्ञानी जीव जागता रहता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(**ववगदमोहो जीवो**) शुद्धात्मतत्त्व की रुचि के रोधक दर्शनमोह को जिसने दूर कर दिया है, ऐसा सम्यग्दृष्टि आत्मा (**अप्पणो तच्चं सम्मं उवलद्धो**) अपने ही शुद्ध आत्मा के परमानंदमयी एक स्वभावरूप तत्त्व को संशय आदि से रहित भले प्रकार जानता हुआ (**जदि रागदोसे जहदि**) यदि शुद्धात्मा के अनुभव रूपी लक्षण को धरने वाले वीतरागचारित्र के बाधक चारित्रमोहरूपी रागद्वेषों को छोड़ देता है (**सो सुद्धं अप्पाणं लहदि**) तब वह निश्चय अभेदरत्नत्रय मे परिणमन करने वाला आत्मा शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप आत्मा को प्राप्त कर लेता है अर्थात् मुक्त हो जाता है।

शंका—ज्ञानकंठिका मे "उवओगविसुद्धो सो खवेदि देहुब्भव दुक्ख" ऐसा कहा था। यहां "जहदि जदि रागदोसे अप्पाणं लहदि सुद्धं" ऐसा कहा है। दोनों में ही मोक्ष की बात है, इनमें विशेष क्या है ?

समाधान—वहां तो शुभ या अशुभ उपयोग को निश्चय से से समान जानकर फिर शुभ से रहित शुद्धोपयोग रूप निज आत्मस्वरूप में ठहरकर मोक्ष पाता है, इस कारण से शुभ अशुभ सम्बन्धी मूढ़ता हटाने के लिये ज्ञानकंठिका को कहा है। यहां तो द्रव्य, गुण, पर्यायों

के द्वारा आप्त—अरहंत के स्वरूप को जानकर पीछे अपने शुद्ध आत्मा के स्वरूप में ठहरकर मोक्ष प्राप्त करता है। इस कारण से यहां आप्त और आत्ममूढ़ता के निराकरण के लिए ज्ञान कंठिका को कहा है इतना हीविशेष है ॥८१॥

सूचना—इस गाथा में आचार्य ने स्पष्ट रूप से चारित्र की आवश्यकता को बता दिया है।

अथायमेवैको भगवद्भिः स्वयमनुभूयोपदर्शितो निःश्रेयसस्य पारमार्थिकः पन्था इति मतिं व्यवस्थापयति—

सव्वे वि य अरहंता तेण विधाणेण[1] खविदकम्मंसा।
किच्चा [2]तधोवदेसं णिव्वादा ते णमो तेसिं ॥८२॥

सर्वेऽपि चार्हन्तस्तेन विधानेन क्षपितकर्मांशाः।
कृत्वा तथोपदेशं निर्वृतास्ते नमस्तेभ्यः ॥८२॥

यतः खल्वतीतकालानुभूतक्रमप्रवृत्तयः समस्ता अपि भगवन्तस्तीर्थंकराः प्रकारान्तरस्यासंभवादसंभावितद्वैतेनामुनैवैकेन प्रकारेण क्षपणं कर्मांशानां स्वयमनुभूय, परमाप्ततया परेषामप्यायत्यामिदानींत्वे वा मुमुक्षूणां तथैव तदुपदिश्य निःश्रेयसमध्याश्रिताः। ततो नान्यद्वर्त्म निर्वाणस्येत्यवधार्यते। अलमथवा प्रलपितेन। व्यवस्थिता मतिर्मम, नमो भगवद्भ्यः ॥८२॥

भूमिका—अब, (पूर्वोक्त गाथाओं में वर्णित यह ही एक, भगवन्तों के द्वारा स्वयं अनुभव करके दिखलाया गया मोक्ष का सच्चा मार्ग है, इस प्रकार बुद्धि को व्यवस्थित (निश्चित) करता है—

अन्वयार्थ—[सर्वेऽपि च) सब ही [अर्हन्त] अरहन्त [तेन विधानेन] उसी विधि से [क्षपितकर्मांशाः] कर्मांशो का क्षय करके (और) [तथा] उसी प्रकार [उपदेश कृत्वा] उपदेश को करके [ते निर्वृता] वे निर्वाण को प्राप्त हुए [नमः तेभ्यः] उनके लिये नमस्कार हो।

टीका—क्योंकि वास्तव में भूतकाल में क्रमश हुए सब ही तीर्थंकर भगवान्, प्रकारान्तर का असभव होने से जिसमे द्वैत सभव नहीं है, ऐसे इस एक ही प्रकार से कर्मांशों के क्षय को स्वयं अनुभव करके (तथा) परम आप्तता के कारण भविष्यकाल में अथवा इस (वर्तमान) काल में अन्य मुमुक्षुओं के भी इसी प्रकार से उस (कर्मक्षय) का उपदेश

१ विहाणेण (ज० वृ०)। २ तहोवदेस (ज० वृ०)।

देकर निःश्रेयस (मोक्ष) को प्राप्त हुए। इस कारण से निर्वाण का अन्य कोई मार्ग नहीं है यह निश्चित किया जाता है। अथवा, अधिक प्रलाप से बस हो, मेरी बुद्धि व्यवस्थित (सुनिश्चित) हो गई है। भगवन्तों के लिये नमस्कार हो ॥८२॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वं द्रव्यगुणपर्यायैराप्तस्वरूपं विज्ञाय पश्चात्तथाभूते स्वात्मनि स्थित्वा सर्वेऽप्यर्हन्तो मोक्षं गता इति स्वमनसि निश्चयं करोति—

सव्वेवि य अरहंता सर्वेऽपि चार्हन्तः **तेण विहाणेण** द्रव्यगुणपर्यायैः पूर्वमर्हत्परिज्ञानात्पश्चात्तथाभूतस्वात्मावस्थानरूपेण तेन पूर्वोक्तप्रकारेण **खविदकम्मंसा** क्षपितकर्मांशा विनाशितकर्मभेदा भूत्वा **किच्चा तहोवदेसं** अहो भव्या अयमेव निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धात्मोपलम्भलक्षणो मोक्षमार्गो नान्य इत्युपदेशं कृत्वा **णिव्वादा** निर्वृता अक्षयानन्तसुखेन तृप्ता जाता, ते ते भगवन्तः। **णमो तेसिं** एवं मोक्षमार्गनिश्चयं कृत्वा श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवास्तस्मै निजशुद्धात्मानुभूतिस्वरूपमोक्षमार्गाय तदुपदेशकेभ्योऽर्हद्भ्यश्च तदुभयस्वरूपाभिलाषिणः सन्तो 'नमोस्तु तेभ्य' इत्यनेन पदेन नमस्कारं कुर्वन्तीत्यभिप्रायः ॥८२॥

उत्थानिका—आगे आचार्य अपने मन मे यह निश्चय करके वैसा ही कहते है कि पहले द्रव्य गुण पर्यायो के द्वारा आप्त अरहत के स्वरूप को जानकर पीछे उसी रूप अपने आत्मा मे ठहर कर सर्व ही अर्हंत हुए मोक्ष गए है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(तेण विहाणेण) इसी विधान से जैसा पहले कहा है कि पूर्व में द्रव्य गुण, पर्यायों के द्वारा अरहंतों के स्वरूप को अपने आत्मा में ठहरकर अर्थात् पुनः पुनः आत्मध्यान करके (खविदकम्मंसा) कर्मों के भेदों को क्षय करके (सव्वे वि य अरहंता) सर्व ही अरहंत हुए (तहोवदेसं किच्चा) फिर वैसा ही उपदेश करके कि अहो भव्य जीवो! यह निश्चय रत्नत्रयमयी शुद्धात्मा की प्राप्ति रूप लक्षण को धरने वाला मोक्ष-मार्ग है, दूसरा नहीं है, (ते णिव्वादा) वे भगवान् निर्वृत्त हो गए अर्थात् अक्षय अनंतसुख से तृप्त सिद्ध हो गए (तेसिं णमो) उनको नमस्कार हो। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेव इस तरह मोक्षमार्ग का निश्चय करके अपने शुद्ध आत्मा के अनुभव स्वरूप मोक्षमार्ग और उसके उपदेशक अरहंतों को इन दोनों के स्वरूप की इच्छा करते हुए "नमोस्तु तेभ्यः" इस पद से नमस्कार करते हैं—यह अभिप्राय है ॥८२॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ रत्नत्रयाराधका एव पुरुषा दानपूजागुणप्रशंसानमस्कारार्हा भवन्ति नान्य इति कथयति—

दंसणसुद्धा पुरिसा णाणपहाणा समग्गचरियत्था।
पूजासक्काररिहा दाणस्स य हि ते णमो तेसिं ॥८२-१॥

दंसणसुद्धा निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वसाधकेन मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितेन तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणेन दर्शनेन शुद्धा दर्शनशुद्धाः **पुरिसा** पुरुषा जीवाः। पुनरपि कथंभूताः? णाण-

पहाणा निरुपरागस्वसंवेदनज्ञानसाधकेन वीतरागसर्वज्ञप्रणीतपरमागमाभ्यासलक्षणज्ञाने प्रधानाः समर्थाः प्रौढज्ञानप्रधानाः । पुनश्च कथंभूता ? समग्गचरियत्था निर्विकारनिश्चलात्मानुभूतिलक्षणनिश्चय-चारित्रसाधकेनाचारादिशास्त्रकथितमूलोत्तरगुणानुष्ठानादिरूपेण चारित्रेण समग्राः परिपूर्णा समग्र-चारित्रस्था पूजासक्कारारिहा द्रव्यभावलक्षणपूजा गुणप्रशंसा सत्कारस्तयोरर्हा योग्य भवन्ति । दाणस्स य हि दानस्य च हि स्फुट ते पूर्वोक्तरत्नत्रयाधारा णमो तेसिं नमस्तेभ्य नमस्कारस्यापि त एव योग्या. ।।८२-१।।

एवमाप्तात्मस्वरूपविषये मूढत्वनिरासार्थं गाथासप्तकेन द्वितीयज्ञानकण्ठिका गता ।

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो पुरुष रत्नत्रय के आराधन करने वाले है वे ही दान, पूजा, गुणानुवाद, प्रशसा तथा नमस्कार के योग्य होते है, और कोई नही ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(दंसणसुद्धा) अपने शुद्ध आत्मा की रुचि-रूप सम्यग्दर्शन को साधने वाले, तीन मूढता आदि पच्चीस दोष रहित तत्त्वार्थ का श्रद्धानरूप लक्षण के धारी सम्यग्दर्शन से जो शुद्ध हैं (णाणपहाणा) उपमा रहित स्वसंवेदन ज्ञान के साधक वीतराग सर्वज्ञ से कहे हुए परमागम के अभ्यास रूप लक्षण के धारी ज्ञान में जो समर्थ हैं तथा (समग्गचरियत्था) विकार रहित निश्चल आत्मानुभूति के लक्षण रूप निश्चयचारित्र के साधने वाले आचार आदि शास्त्र में कहे हुए मूलगुण और उत्तरगुण की क्रिया रूप चारित्र से जो पूर्ण हैं अर्थात् पूर्ण चारित्र के पालने वाले (पुरिसा) जो जीव हैं वे (पूजा-सक्कारारिहा) द्रव्य व भावरूप पूजा व गुणों की प्रशंसारूप सत्कार के योग्य हैं, (दाणस्स य हि) तथा प्रगटपने दान के योग्य हैं । (णमो तेसिं) उन पूर्व में कहे हुए रत्नत्रय के धारियों को नमस्कार हो क्योंकि वे ही नमस्कार के योग्य हैं ।

भावार्थ—आचार्य ने इसके पहले की गाथा मे सच्चे आप्त को नमस्कार करके यहां सच्चे गुरु को नमस्कार किया है । इस गाथा मे बता दिया है कि जो साधु निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय के धारी हैं उन्हीं को अष्टद्रव्य से भाव सहित पूजना चाहिये, व उन्हीं की प्रशसा करनी चाहिये । उन्हीं का पूर्ण आदर करना चाहिये तथा उन्हीं को दान देना चाहिये व उन्हीं को नमस्कार करना चाहिये । प्रयोजन यह है कि उच्च आदर्श ही हमारा हितकारी हो सकता है । उन्हीं का भाव व आचरण हम उपासकों को उन रूप वर्तन करने की योग्यता की प्राप्ति के लिये प्रेरणा करता है । निर्ग्रन्थ साधु ही मोक्षमार्ग पर चलते हुए भक्तजनों को साक्षात् मोक्ष का मार्ग दिखाने वाले होते हैं । जैन गृहस्थों का मुख्य कर्तव्य है कि ऐसे साधुओं की सेवा करें, व साधुपद धारने की चेष्टा मे उत्साही रहें ।।८२।१।।

इस तरह आप्त और आत्मा के स्वरूप में मूढता या अज्ञानता को दूर करने के लिये सात गाथाओं से दूसरी ज्ञानकंठिका पूर्ण की।

अथ शुद्धात्मलाभपरिपन्थिनो मोहस्य स्वभावं भूमिकाश्च विभावयति—

दव्वादिएसु मूढो भावो जीवस्स हवदि मोहो त्ति।
खुब्भदि तेणुच्छण्णो [1]पप्पा रागं व दोसं वा ॥८३॥

द्रव्यादिकेषु मूढो भावो जीवस्य भवति मोह इति ॥
क्षुभ्यति तेनावच्छन्नः प्राप्य राग वा द्वेष वा ॥८३॥

यो हि द्रव्यगुणपर्यायेषु पूर्वमुपवर्णितेषु पीतोन्मत्तकस्येव जीवस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणो मूढो भावः स खलु मोहः तेनावच्छन्नात्मरूपः सन्नायमात्मा परद्रव्यमात्मद्रव्यत्वेन परगुणमात्मगुणतया परपर्यायानात्मपर्यायभावेन प्रतिपद्यमानः प्ररूढदृढतरसंस्कारतया परद्रव्यमेवाहरहरुपाददानो दग्धेन्द्रियाणां रुचिवशेनाद्वैतेऽपि प्रवर्तितद्वैतो रुचितारुचितेषु विषयेषु रागद्वेषावुपश्लिष्य प्रचुरतरम्भोभाररयाहतः सेतुबन्ध इव द्वेधा विदार्यमाणो नितरां क्षोभमुपैति। अतो मोहरागद्वेषभेदात्त्रिभूमिको मोहः ॥८३॥

भूमिका—अब, शुद्धात्म लाभ के लुटेरे मोह के स्वभाव को और भेदों को व्यक्त करते हैं—

अन्वयार्थ—[जीवस्य] जीव का [द्रव्यादिकेषु] द्रव्यादिको मे [मूढ भावः) जो मूढभाव अर्थात् अज्ञानभाव है [इति मोहः भवति] वह मोह है [तेन अवच्छन्न] उस मोह से व्याप्त हुआ (यह जीव) [राग वा द्वेष प्राप्य] राग अथवा द्वेष को प्राप्त करके [क्षुभ्यति] क्षुब्ध होता है।

टीका—पूर्व (गाथा ८० मे) वर्णित द्रव्य गुण पर्यायों में धतूरा खाये हुए पुरुष की भाँति जीव के जो तत्त्व में अप्रतिपत्ति लक्षण (वास्तविक स्वरूप की अश्रद्धा रूप) मूढभाव (अज्ञानभाव) है, वह वास्तव में मोह है। उस मोह से आच्छादित हो गया है निज रूप जिसका, ऐसा आच्छादित होता हुआ यह आत्मा (१) पर-द्रव्य को आत्म द्रव्य रूप से, पर-गुण को आत्म-गुण रूप से और पर-पर्याय को आत्म-पर्याय भाव से समझता हुआ (अंगीकार करता हुआ, (२) अतिरूढ़ दृढ़तर संस्कार के कारण से पर-द्रव्य को ही दिन प्रतिदिन (सदा) ग्रहण करता हुआ, (३) (निन्दनीय) इन्द्रियों की रुचि के वश से अद्वैत मे भी द्वैतरूप प्रवर्तित होते हुए रुचिकर और अरुचिकर विषयों मे रागद्वेष को करके, अति

१ पप्पा (ज० वृ०)।

प्रचुर जल-समूह के वेग से प्रहार को प्राप्त (खण्डों को प्राप्त) सेतुबन्ध (पुल) की भांति (रागद्वेष रूप) दो भागों में खण्डित हुआ, अत्यन्त क्षोभ को प्राप्त होता है। इस कारण मोह, राग और द्वेष के भेद से मोह तीन प्रकार का है ॥८३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुद्धात्मोपलम्भप्रतिपक्षभूतमोहस्य स्वरूप भेदाश्च प्रतिपादयति—

दव्वादिएसु शुद्धात्मादिद्रव्येषु, तेषा द्रव्याणामनन्तज्ञानाद्यस्तित्वादिविशेषसामान्यलक्षणगुणेषु, शुद्धात्मपरिणतिलक्षणसिद्धत्वादिपर्यायेषु च यथासभव पूर्वोपवर्णितेषु वक्ष्यमाणेषु च **मूढो भावो एतेषु** पूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्यायेषु विपरीताभिनिवेशरूपेण तत्त्वसशयजनको मूढो भाव: **जीवस्स हवदि मोहो त्ति** इत्थभूतो भावो जीवस्य दर्शनमोह इति भवति । **खुब्भदि तेणुच्छण्णो** तेन दर्शनमोहेनावच्छन्नो झम्पित: सन्नक्षुभितात्मतत्त्वविपरीतेन क्षोभेण क्षोभ स्वरूपचलन विपर्यय गच्छति । कि कृत्वा ? **पप्पा राग व दोस वा** निर्विकारशुद्धात्मनो विपरीतमिष्टानिष्टेन्द्रियविषयेषु हर्षविषादरूप चारित्रमोहसज्ञ रागद्वेष वा प्राप्य चेति । अनेन किमुक्त भवति । मोहो दर्शनमोहो रागद्वेषद्वय चारित्रमोहश्चेति त्रिभूमिको मोह इति ॥८३॥

उत्थानिका—आगे शुद्ध आत्मा के लाभ के विरोधी मोह के स्वरूप और भेदो को कहते है—

अवन्य सहित विशेषार्थ—(**दव्वादिएसु**) **शुद्ध आत्मा आदि द्रव्यों के अनन्तज्ञानादि व अस्तित्व आदि विशेष और सामान्य गुणो मे तथा शुद्ध आत्मा की परिणति रूप सिद्धत्व आदि पर्यायो में जिनका यथा-सम्भव पहले वर्णन हो चुका है व जिनका आगामी वर्णन किया जायगा इन सब द्रव्य गुण पर्यायों मे विपरीत अभिप्राय रखकर (मूढो भावो) तत्वों में संशय रूप अज्ञानभाव को उत्पन्न करने वाला (जीवस्स मोहो त्ति हवदि) इस संसारी जीव के दर्शन-मोहनीय-कर्म है (तेणोच्छण्णो) इस दर्शन-मोहनीयकर्म से आच्छादित हुआ यह जीव (रागं व दोस वा पप्पा) विकार रहित शुद्धात्मा से विपरीत इष्ट अनिष्ट इन्द्रियो के विषयो मे हर्ष विषाद रूप चारित्रमोहनीय नाम के रागद्वेष भाव को पाकर (खुब्भदि) क्षोभ रहित आत्मतत्व से विपरीत क्षोभ के कारण अपने स्वरूप से चलकर वर्तन करता है। इस कथन मे यह बतलाया गया कि दर्शनमोह का एक और चारित्र मोह के दो भेद राग, द्वेष इन तीन भेदरूप मोह है ॥८३॥**

अथानिष्टकार्यकारणत्वमभिधाय त्रिभूमिकस्यापि मोहस्य क्षयमासूत्रयति—

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स ।
जायदि [1]विविधो बंधो तम्हा ते संखवइदव्वा ॥८४॥

---

१ विविहो (ज० वृ०) ।

मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य जीवस्य ।
जायते विविधो बन्धस्तस्मात्ते सक्षपयितव्याः ॥८४॥

एवमस्य तत्त्वाप्रतिपत्तिनिमीलितस्य मोहेन वा रागेण वा द्वेषेण वा परिणतस्य तृणपटलावच्छन्नगर्तसंगतस्य करेणुकुट्टनीगात्रासक्तस्य प्रतिद्विरददर्शनोद्धतप्रविधावितस्य च सिन्धुरस्येव भवति नाम नानाविधो बन्धः । ततोऽमी अनिष्टकार्यकारिणो मुमुक्षुणा मोहरागद्वेषाः सम्यग्निर्मूलकाषं कषित्वा क्षपणीयाः ॥८४॥

भूमिका—**अब, (मोह से) अनिष्ट कार्य के कारण-पने को कह कर तीन भेद वाले भी मोह के नाश करने को सूत्र द्वारा कहते हैं:—**

अन्वयार्थ—[वा मोहेन] अथवा मोह से, [वा रागेण] अथवा राग से, [वा द्वेषेण] अथवा द्वेष से [परिणतस्य जीवस्य] परिणत जीव के [विविध. बन्ध] विविध (नाना प्रकार) का बन्ध [जायते] होता है । [तस्मात्] इसलिये [ते] वे (मोह, राग, द्वेष) [सक्षपयितव्याः] पूर्णतया नाश करने योग्य है ।

टीका—**इस प्रकार (१) तत्त्व की अप्रतिपत्ति (वस्तु-स्वरूप के अज्ञान) से (२) मोह रूप से अथवा रागरूप से अथवा द्वेषरूप से परिणत, ऐसे इस जीव के (१) घास के ढेर से ढके हुए खड्डे को प्राप्त होने वाले, (२) हथिनी रूपी कुट्टनी के शरीर मे आसक्त, तथा (३) विरोधी हाथी को देखकर उत्तेजित होकर (उसकी ओर) दौड़ने वाले हाथी की भांति, विविध प्रकार का बन्ध होता है । इस कारण से अनिष्ट कार्य को करने वाले मोह, राग और द्वेष मुमुक्षु द्वारा भले प्रकार जड़मूल से उखाड़कर नाश करने चाहिये (अर्थात् जिस प्रकार से उनकी सत्ता बिलकुल समाप्त हो जाय, उस प्रकार से नाश करने चाहिये) ॥८४॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ दुःखहेतुभूतबन्धस्य कारणभूता रागद्वेषमोहा निर्मूलनीयाः इत्याघोषयति—

मोहेण व रागेण व दोसेण व परिणदस्स जीवस्स मोहरागद्वेषपरिणतस्य मोहादिरहितपरमात्मस्वरूपपरिणतिच्युतस्य **बहिर्मुखजीवस्य जायदि विविहो बंधो** शुद्धोपयोगलक्षणो भावमोक्षस्तद्बलेन जीवप्रदेशकर्मप्रदेशानामत्यन्तविश्लेषो द्रव्यमोक्षः, इत्थभूतद्रव्यभावमोक्षाद्विलक्षण सर्वप्रकारोपादेयभूतस्वाभाविकसुखविपरीतस्य नारकादिदुःखस्य कारणभूतो विविधबन्धो जायते । **तम्हा ते सखवइदव्वा** यतो रागद्वेषमोहपरिणतस्य जीवस्येत्थभूतो बन्धो भवति ततो रागादिरहितशुद्धात्मध्यानेन ते रागद्वेषमोहाः सम्यक् क्षपयितव्या इति तात्पर्यम् ॥८४॥

उत्थानिका—आगे आचार्य यह घोषणा करते है कि इन राग द्वेष मोह को जो ससार के दुखो के कारणरूप कर्मबध के कारण है, निर्मूल करना चाहिए ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(मोहेण व रागेण व दोसेण वा परिणदस्स जीवस्स) मोह राग द्वेष से वर्तने वाले बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि जीव के जो मोहादि-रहित परमात्मा के स्वरूप मे परिणमन करने से दूर है (विविहो बंधो जायदि) नाना प्रकार कर्मों का बंध उत्पन्न होता है अर्थात् शुद्धोपयोग लक्षण को रखने वाला भाव—मोक्ष है, उस भावमोक्ष के बल से जीव के प्रदेशों से कर्मों के प्रदेशों का बिल्कुल अलग हो जाना द्रव्यमोक्ष है, इस प्रकार द्रव्य, भाव मोक्ष से विलक्षण तथा सर्व तरह से ग्रहण करने योग्य स्वाभाविक सुख से विपरीत जो नरक आदि का दुःख उसको उदय में लाने वाला कर्म-बंध होता है (तम्हा ते संखवइदव्वा) इसलिये जब राग द्वेष मोह वर्तने वाले जीव के इस तरह कर्मबंध होता है, तब रागादि से रहित शुद्ध आत्मा ध्यान बल से इन राग द्वेष मोह का भले प्रकार क्षय करना योग्य है, यह तात्पर्य है ॥८४॥

अथामी अमीभिर्लिङ्गैरुपलभ्योद्भवन्त एव निशुम्भनीया इति विभावयति—

अट्ठे अजधागहणं करुणाभावो य तिरियमणुएसु[1] ।
विसएसु[2] य [3]पसंगो मोहस्सेदाणि लिंगाणि ॥८५॥

अर्थे अयथाग्रहण करुणाभावश्च तिर्यङ्मनुजेषु ।
विषयेषु च प्रसङ्गो मोहस्यैतानि लिङ्गानि ॥८५॥

अर्थानामयथातथ्यप्रतिपत्त्या तिर्यग्मनुष्येषु प्रेक्षार्हेष्वपि कारुण्यबुद्धया च मोहमभीष्ट-विषयसंगेन रागमनभीष्टविषयाप्रीत्या द्वेषमिति त्रिभिर्लिङ्गैरधिगम्य झगिति संभवन्नपि त्रिभूमिकोऽपि मोहो निहन्तव्यः ॥८५॥

भूमिका—अब, ये (राग, द्वेष और मोह) इन चिन्हों द्वारा पहिचान कर, उत्पन्न होते ही नष्ट करने योग्य हैं, यह प्रकट करते हैं:—

अन्वयार्थ—[अर्थे अयथाग्रहण] पदार्थ मे अन्यथा ग्रहण (पदार्थों का मिथ्यास्वरूप ग्रहण करना) [च] और [तिर्यङ्मनुजेषु करुणाभाव] तिर्यंचो मनुष्यो मे करुणाभाव, [विषयेषु प्रसग च] तथा विषयो मे प्रसग (इष्ट विषयो मे प्रीति और अनिष्ट विषयो मे अप्रीति) [एतानि] ये सब [मोहस्य लिगानि] मोह के चिन्ह हैं।

टीका—पदार्थों की अयथार्थ (मिथ्या) प्रतिपत्ति (जानना श्रद्धान) से तथा जानने देखने योग्य तिर्यञ्चों, मनुष्यों में करुणाबुद्धि से मोह मिथ्यात्व को (जानकर), इष्ट विषयों की प्रीति से राग को और अनिष्ट विषयों की अप्रीति से द्वेष को (जानकर) इस प्रकार

१ मणुवतिरिएसु (ज० वृ०)। २ विसयेसु (ज० वृ०)। ३ अप्पसगो (ज० वृ०)।

तीन लिंगों से (तीन प्रकार के मोह को) पहिचानकर, तत्काल ही उत्पन्न होते ही तीन प्रकार का मोह नष्ट कर देने योग्य है ॥८५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ स्वकीयस्वकीयलिङ्गै रागद्वेषमोहान् ज्ञात्वा यथासभव त एव विनाशयितव्या इत्युपदिशति—

अट्ठे अजधागहणं शुद्धात्मादिपदार्थे यथास्वरूपस्थितेऽपि विपरीताभिनिवेशरूपेणायथाग्रहण **करुणाभावो य** शुद्धात्मोपलब्धिलक्षणपरमोपेक्षासंयमाद्विपरीत: करुणाभावो दयापरिणामश्च अथवा व्यवहारेण करुणाया अभाव.। केषु विषयेषु ? **मणुवतिरिएसु** मनुष्यतिर्यग्जीवेषु, इति दर्शनमोहचिन्ह। **विसयेसु अप्पसगो** निर्विषयसुखास्वादरहितबहिरात्मजीवाना मनोज्ञामनोज्ञविषयेषु च योसौ प्रकर्षेण सङ्ग. सगर्गस्त दृष्ट्वा प्रीत्यप्रीतिलिङ्गाभ्या चारित्रमोहसज्ञौ रागद्वेषौ च ज्ञायेते विवेकिभि:, ततस्तत्परिज्ञानानन्तरमेव निर्विकारस्वशुद्धात्मभावनया **मोहस्सेदाणि लिंगाणि** रागद्वेषमोहा निहन्तव्या इति सूत्रार्थ ॥८५॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि राग द्वेष मोहो को उनके चिन्हो से पहचानकर यथासम्भव उनका विनाश करना चाहिये।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(अट्ठे अजधागहणं) शुद्ध आत्मा आदि पदार्थों के स्वरूप में उनका जैसा स्वभाव है उस स्वभाव मे उनको रहते हुए भी विपरीत अभिप्राय से और का और अन्यथा समझना तथा (करुणाभावो य मणुवतिरिएसु) शुद्धात्मा की प्राप्तिरूप परम उपेक्षा संयम से विपरीत दया का परिणाम अथवा व्यवहारनय की अपेक्षा से तिर्यञ्च मनुष्यों में दया का अभाव होना दर्शनमोह का चिन्ह है (विसएसु अप्पसंगो) विषय-रहित सुख के स्वाद को न पाने वाले बहिरात्मा जीवों का इष्ट अनिष्ट इन्द्रियो के विषयों में जो अधिक संसर्ग रखना क्योंकि इसको देखकर विवेकी पुरुष प्रीति अप्रीतिरूप चारित्रमोह के राग द्वेष भेद को जानते हैं, इसलिये (मोहस्सेदाणि लिंगाणि) मोह के ये ही चिन्ह हैं। अर्थात् इन चिन्हों को जानने के पीछे ही विकार-रहित अपने शुद्ध आत्मा की भावना के द्वारा इन राग द्वेष मोह का घात करना चाहिये, ऐसा सूत्र का अर्थ है ॥८५॥

भावार्थ—यहां पर करुणा मे जो अध्यवसाय है उसको अथवा करुणा के अभाव को मोह का चिन्ह कहा है। श्री कुन्दकुन्द आचार्य ने बोधपाहुड गाथा २५ में 'धम्मो दया-विसुद्धो' शब्दों द्वारा यह कहा है कि धर्म दया करि विशुद्ध है, भावपाहुड गाथा १३१ मे मुनि को जीवों की रक्षा करने का उपदेश दिया है। शीलपाहुड गाथा १६ मे जीव-दया को जीव का स्वभाव बतलाया है—

> जीवदया दम सच्चं अचोरिय बम्भचेर सतोसे।
> सम्मद्दसण णाण तओ य सीलस्स परिवारो ॥

अर्थात्—जीव दया, दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, तप ये सब शील (जीव स्वभाव) के परिवार हैं।

श्री वीरसेनस्वामी ने भी धवल ग्रन्थ में कहा है—"करुणाए कारणं कम्मं करुणे त्ति किं ण वुत्तं ? ण करुणाए जीवसहावस्स कम्मजणिदत्तविरोहादो। अकरुणाए कारणं कम्मं वत्तव्वं ? ण एस दोसो, संजमघादि-कम्माणं फलभावेण तिस्से अब्भुवगमादो।"

शंका—करुणा का कारण भूत करुणा कर्म है, यह क्यो नही कहा ?

समाधान—नहीं, करुणा जीव का स्वभाव है, अतएव उसे कर्म-जनित मानने में विरोध आता है।

शका—तो फिर अकरुणा का कारण कर्म कहना चाहिये ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि उसे संयमघातिया कर्मों के फलरूप से स्वीकार किया गया है।

अथ मोहक्षपणोपायान्तरमालोचयति—

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहिं बुज्झदो णियमा।
खीयदि [1]मोहोवचयो तम्हा सत्थं समधिदव्वं[2] ॥८६॥

जिनशास्त्रात् अर्थान् प्रत्यक्षादिभिर्बुध्यमानस्यनियमात्।
क्षीयन्ते मोहोपचय. तस्मात् शास्त्र समध्येतव्यम् ॥८६॥

यत्किल द्रव्यगुणपर्यायस्वभावेनार्हतो ज्ञानादात्मनस्तथा ज्ञानं मोहक्षपणोपायत्वेन प्राक् प्रतिपन्नम्। तत् खलूपायान्तरमिदमपेक्षते। इदं विहितप्रथमभूमिकासंक्रमणस्य सर्वज्ञोपज्ञतया सर्वतोऽप्यबाधितं शब्द प्रमाणमाक्रम्य क्रीडतस्तत्संस्कारस्फुटीकृतविशिष्ट-संवेदनशक्तिसंपदःसहृदयहृदयानंदोद्भेददायिना प्रत्यक्षेणान्येन वा तदविरोधिना प्रमाणजातेन तत्त्वतः समस्तमपि वस्तुजातं परिच्छिन्दतः क्षीयत एवातत्त्वाभिनिवेशसंस्कारकारी मोहो-पचयः। अतो हि मोहक्षपणे परमं शब्दब्रह्मोपासनं भावज्ञानावष्टम्भदृढीकृतपरिणामेन सम्यगधीयमानमुपायान्तरम् ॥८६॥

भूमिका—अब, मोह के नाश के दूसरे उपाय का विचार करते हैं—

अन्वयार्थ—[जिनशास्त्रात्] जिन शास्त्र से (जिनेन्द्र द्वारा प्रणीत) [प्रत्यक्षादिभि] (तथा) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो से [अर्थान्] पदार्थों को [बुध्यमानस्य] जानने वाले (पुरुष)

---

१. मोहोवचओ (ज० वृ०)। २ समहिदव्व (ज० वृ०)।

के [नियमात्] नियम से [मोहोपचय] मोह-समूह [क्षीयते] नष्ट हो जाता है। [तस्मात्] इस कारण से [शास्त्र] शास्त्र [समध्येतव्य] सम्यक् प्रकार से अध्ययन करने योग्य है।

टीका—**जो द्रव्य-गुण-पर्याय स्वभाव रूप अरहन्त के ज्ञान से आत्मा का वैसा ज्ञान मोह क्षय के उपाय-पने से वास्तव में पहले (अस्सीवीं गाथा मे) प्रतिपादित किया गया है वह उपाय वास्तव में इस (निम्नलिखित) उपायान्तर को अपेक्षित करता है (उपायान्तर की अपेक्षा रखता है)।**

(१) प्रथम भूमिका मे गमन करने वाले के (२) जो सर्वज्ञ के द्वारा जान कर कहा हुआ होने से सर्व प्रकार से अबाधित है, ऐसे इस शब्द प्रमाण को (द्रव्यश्रुतप्रमाण को) प्राप्त करके क्रीडा करने वाले के, (३) उसके संस्कार से प्रगट हो गई है विशिष्ट सवेदन-शक्ति रूप सम्पदा जिसके, (४) सहृदयजनों के हृदय को आनन्द का उद्भेद देने वाले प्रत्यक्ष प्रमाण से अथवा उससे अविरोधी अन्य प्रमाण समूह से तत्वतः समस्त वस्तु मात्र को जानने वाले के, ऐसे जीव के अतत्त्व अभिनिवेश के संस्कार को करने वाला मोहोपचय (मोह समूह) क्षय को प्राप्त होता ही है। इस कारण से वास्तव में मोह के क्षय करने मे शब्दब्रह्म की उत्कृष्ट उपासना (अर्थात्) भावज्ञान के अवलम्बन द्वारा दृढ किये गये परिणाम से सम्यक् प्रकार अभ्यास करना उपायान्तर है। (अर्थात् जो परिणाम भाव ज्ञान के अवलम्बन से दृढीकृत हो ऐसे परिणाम से द्रव्यश्रुत का अभ्यास करना ही मोह क्षय करने के लिये उपायान्तर है) ॥८६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानाभावे मोहो भवतीति यदुक्त पूर्वं तदर्थमागमाभ्यास कारयति, अथवा द्रव्यगुणपर्यायत्वैरर्हत्परिज्ञानादात्मपरिज्ञान भवतीति यदुक्त, तदात्मपरिज्ञानमिममागमाभ्या-समपेक्षत इति पातनिकाद्वय मनसि धृत्वा सूत्रमिदं प्रतिपादयति,—

जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खादीहि बुज्झदो णियमा जिनशास्त्रात्सकाशाच्छुद्धात्मादिपदार्थान् प्रत्यक्षा-दिप्रमाणैर्बुध्यमानस्य जानतो जीवस्य नियमान्निश्चयात्। किं फल भवति ? **खीयदि मोहोवचओ** दुरभिनिवेशसस्कारकारी मोहोपचय क्षीयते प्रलीयते क्षय याति। **तम्हा सत्थ समहिदव्व** तस्माच्छास्त्र सम्यगध्येतव्य पठनीयमिति।

तद्यथा—वीतरागसर्वज्ञप्रणीतशास्त्रात् **"एगो मे सस्सदो अप्पा"** इत्यादि परमात्मोपदेशक-श्रुतज्ञानेन तावदात्मान जानीते कश्चिद्भव्य, तदनन्तर विशिष्टाभ्यासवशेन परमसमाधिकाले रागादि-विकल्परहितमानसप्रत्यक्षेण च तमेवात्मान परिच्छिनत्ति। तथैवानुमानेन वा, तथाहि—अत्रैव देहे निश्चयनयेन शुद्धबुद्धैकस्वभाव· परमात्मास्ति। कस्माद्धेतो ? निर्विकारस्वसवेदनप्रत्यक्षत्वात् सुखा-दिवत् इति, तथैवान्येपि पदार्था यथासभवमागमाभ्यासबलोत्पन्नप्रत्यक्षेणानुमानेन वा ज्ञायन्ते। ततो मोक्षार्थिना भव्येनागमाभ्यास: कर्तव्य इति तात्पर्यम् ॥८६॥

उत्थानिका—आगे यह पहले कह चुके है कि द्रव्य, गुण पर्याय का ज्ञान न होने से मोह रहता है इसलिये अब आचार्य आगम के अभ्यास की प्रेरणा करते है अथवा यह पहले कहा था कि द्रव्यपने, गुणपने व पर्यायपने के द्वारा अरहत भगवान् का स्वरूप जानने से आत्मा का ज्ञान होता है। ऐसे आत्मज्ञान के लिये आगम के अभ्यास की अपेक्षा है। इस प्रकार दोनो पातनिकाओ को मन मे रखकर आचार्य सूत्र कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जिणसत्थादो) जिन शास्त्र की निकटता से (अट्ठे) शुद्ध आत्मा आदि पदार्थों को (पच्चक्खादीहिं) प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा (बुज्झदो) जानने वाले जीव के (णियमा) नियम से (मोहोवचओ) मिथ्या अभिप्राय के सस्कार को करने वाला मोहकर्म का समूह (खीयदि) क्षय हो जाता है (तम्हा) इसलिये (सत्थं समाहिदव्व) शास्त्र को अच्छी तरह पढ़ना चाहिये।**

विशेष यह है कि कोई भव्य जीव वीतराग सर्वज्ञ से कहे हुए शास्त्र से "एगो मे सस्सदो अप्पा" इत्यादि परमात्मा के उपदेशक श्रुतज्ञान के द्वारा प्रथम ही अपने आत्मा के स्वरूप को जानता है, फिर विशेष अभ्यास के वश से परमसमाधि के काल में रागादि विकल्पों से रहित मानस प्रत्यक्ष से उस ही आत्मा का अनुभव करता है। तैसे ही अनुमान से भी निश्चय करता है। जैसे इस ही देह में निश्चयनय से शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप परमात्मा है क्योंकि विकार-रहित स्वसंवेदन प्रत्यक्ष से वह इस ही तरह जाना जाता है, जिस तरह सुख दुःख आदि। तैसे ही अन्य भी पदार्थ यथासम्भव आगम से उत्पन्न प्रत्यक्ष से वा अनुमान से जाने जा सकते हैं। इसलिये मोक्ष के अर्थी पुरुष को आगम का अभ्यास करना चाहिये, यह तात्पर्य है ॥८६॥

भावार्थ—**जिनवाणी मे प्रसिद्ध चारों ही अनुयोगो का कथन हर एक मुमुक्षु को जानना चाहिये। जितना अधिक शास्त्रज्ञान होगा उतना अधिक स्पष्ट ज्ञान होगा। जितना स्पष्ट ज्ञान होगा उतना ही निर्मल मनन होगा। प्रथमानुयोग मे पूज्य पुरुषों के जीवन चरित्र उदाहरण रूप से कर्मों के प्रपंच को व संसार या मोक्षमार्ग को दिखलाते हैं। कारणानुयोग मे जीवों के भावों के वर्तन की अवस्थाओं को व कर्मों की रचना को व लोक के स्वरूप को इत्यादि तारतम्य कथन को किया गया है। चरणानुयोग में मुनि तथा श्रावक के चारित्र के भेदों को बताकर व्यवहारचारित्र पर आरूढ़ किया गया है। द्रव्यानुयोग मे छः द्रव्यों का स्वरूप बताकर आत्म-द्रव्य के मनन, चिंतन व ध्यान का उपाय बताकर निश्चयरत्नत्रय के पथ को दर्शाया गया है। इन चारों ही प्रकार के**

सैंकड़ों ग्रन्थ जिनवाणी में हैं—इनका अभ्यास सदा ही उपयोगी है। सम्यक्त्व होने के पीछे सम्यक्चारित्र की पूर्णता व सम्यग्ज्ञान की पूर्णता के लिये भी जिनवाणी का अभ्यास कार्यकारी है। इस पंचम काल में तो इसका आलम्बन हर एक मुमुक्षु के लिये बहुत ही आवश्यक है क्योंकि यथार्थ उपदेष्टाओं का सम्बन्ध बहुत दुर्लभ है। जिनवाणी के पढ़ते रहने से एक मूढ मनुष्य भी ज्ञानी हो जाता है। आत्म हित के लिये यह अभ्यास परम उपयोगी है। स्वाध्याय के द्वारा आत्मा में ज्ञान प्रगट होता है, कषायभाव घटता है संसार से ममत्व हटता है, मोक्ष भाव से प्रेम जगता है। इसी के निरन्तर अभ्यास से मिथ्यात्वकर्म और अनंतानुबन्धी कषाय का उपशम हो जाता है और सम्यग्दर्शन पैदा हो जाता है। श्री अमृतचन्द्र आचार्य ने श्री समयसार कलश में कहा है—

उभयनयविरोधध्वंसिनि स्यात्पदांके जिनवचसि रमन्ते ये स्वयं वान्तमोहा।
सपदि समयसारं ते परंज्योतिरुच्चै-रनवमनयपक्षाक्षुण्णमीक्षन्त एव॥

अर्थ—निश्चयनय और व्यवहारनय के विरोध को मेटने वाली स्याद्वाद से लक्षित जिनवाणी में जो रमते हैं वे स्वयं मोह को वमन कर शीघ्र ही परमज्ञान ज्योतिमय शुद्धात्मा को, जो नया नहीं है और न किसी नय के पक्ष से खंडन किया जा सकता है, देखते ही हैं।

स्वाध्याय श्रावकधर्म और मुनिधर्म के लिये उपकारी है। मन को अपने अधीन रखने में सहायक है॥८६॥

अथ कथं जैनेन्द्रे शब्दब्रह्मणि किलार्थानां व्यवस्थितिरिति वितर्कयति—

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिदा[1]।
तेसु गुणपज्जयाणं अप्पा दव्व त्ति उवदेसो॥८७॥

द्रव्याणि गुणास्तेषां पर्याया अर्थसंज्ञया भणिताः।
तेषु गुणपर्यायाणामात्मा द्रव्यमित्युपदेशः॥८७॥

द्रव्याणि च गुणाश्च पर्यायाश्च अभिधेयभेदेऽप्यभिधानाभेदेन अर्थाः, तत्र गुणपर्यायानियर्ति गुणपर्यायैरर्यन्त इति वा अर्था द्रव्याणि, द्रव्याण्याश्रयत्वेनेयर्ति द्रव्यैराश्रयभूतैरर्यन्त इति वा अर्था गुणाः द्रव्याणि क्रमपरिणामेनेयर्ति द्रव्यैः क्रमपरिणामेनार्यन्त इति वा अर्था पर्यायाः। यथा हि सुवर्णं पीततादीन् गुणान् कुण्डलादींश्च पर्यायानियर्ति तैरर्यमाणं वा अर्थो द्रव्यस्थानीयं, यथा च सुवर्णमाश्रयत्वेनेयर्ति तेनाश्रयभूतेनार्यमाणा वा अर्थाः पीततादयो गुणाः, यथा च सुवर्णं क्रमपरिणामेनेयर्ति तेन क्रमपरिणामेनार्यमाणा वा अर्थाः

१ भणिया (ज० वृ०)।

कुण्डलादय. पर्यायाः। एवमन्यत्रापि। यथा चैतेषु सुवर्णपीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायेषु पीततादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणां सुवर्णादपृथग्भावात्सुवर्णमेवात्मा तथा च तेषु द्रव्यगुणपर्यायेषु गुणपर्यायाणां द्रव्यादपृथग्भावाद्द्रव्यमेवात्मा ॥८७॥

भूमिका—अब, जिनेन्द्र के शब्दब्रह्म में पदार्थों की व्यवस्था (स्थिति) किस प्रकार है, सो विचार करते हैं,—

अन्वयार्थ—[द्रव्याणि] द्रव्य [गुणा] गुण [तेषा पर्याया] और उन द्रव्यो और गुणो की पर्याये [अर्थसज्ञया] अर्थ नाम से [भणिता] कहे गये है। उनमे [गुणपर्यायाणा आत्मा द्रव्य] गुण पर्यायो का आत्मा [तदात्मरूप आधार] द्रव्य है [इति उपदेश·] ऐसा उपदेश है।

टीका—द्रव्य, गुण और पर्यायें, अभिधेयभेद होने पर भी अभिधान का अभेद होने से, 'अर्थ' हैं [अर्थात् द्रव्य, गुण, पर्यायों में वाच्य का भेद होने पर भी वाचक में भेद न रखें तो 'अर्थ' ऐसे एक ही वाचक (शब्द) से ये तीनों कहे जाते हैं।] उनमें (उन द्रव्य, गुण और पर्यायों मे), जो गुणो को और पर्यायों को प्राप्त करते है अथवा जो गुणो पर्यायो को प्राप्त करते हैं अथवा जो गुणो और पर्यायों को प्राप्त करते हैं अथवा जो गुणों और पर्यायों के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं, ऐसे 'अर्थ' द्रव्य हैं। जो द्रव्यो को आश्रय–पने से प्राप्त करते हैं अथवा जो आश्रयभूत द्रव्यों के द्वारा प्राप्त किये जाते है, 'अर्थ' गुण हैं। जो द्रव्यों को क्रमपरिणाम से प्राप्त करते है, अथवा जो द्रव्यों के द्वारा क्रमपरिणाम से प्राप्त किये जाते है, ऐसे 'अर्थ' पर्याय हैं। जैसे वास्तव में जो (सुवर्ण) पीलापन इत्यादि गुणों को और कुण्डल इत्यादि पर्यायों को प्राप्त करता है अथवा उनके द्वारा प्राप्त किया जाता है वह स्वर्ण पदार्थ द्रव्य के स्थान पर है। जैसे (जो) सुवर्ण को आश्रय–पने से प्राप्त करते है, अथवा आश्रयभूत सुवर्ण के द्वारा प्राप्त किये जाते हैं वे पदार्थ पीलापन आदि गुण हैं और जैसे (जो) सुवर्ण को क्रम–परिणाम से प्राप्त करती हैं अथवा सुवर्ण के द्वारा उस क्रम परिणाम से प्राप्त की जाती हैं वे पदार्थ कुण्डल आदि पर्यायें हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी है (इस दृष्टान्त की भाति सर्व द्रव्य, गुण, पर्यायों मे भी समझना चाहिये)। और जैसे उन सुवर्ण, पीलापन इत्यादि गुण और कुण्डल इत्यादि पर्यायों में पीलापन आदि गुण और कुण्डल इत्यादि पर्यायों के सुवर्ण से अपृथक्पना होने से, सुवर्ण ही आत्मा है, उसी प्रकार उन द्रव्य गुण पर्यायों मे, गुण-पर्यायों का आत्मा, द्रव्य से अपृथक्पना होने से, द्रव्य ही है ॥८७॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्यगुणपर्यायाणामर्थसंज्ञा कथयति—

दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया द्रव्याणि गुणास्तेषां द्रव्याणां पर्यायाश्च त्रयोऽप्यर्थसंज्ञया भणिताः कथिता अर्थसंज्ञा भवन्तीत्यर्थः । तेसु तेषु त्रिषु द्रव्यगुणपर्यायेषु मध्ये **गुणपज्जयाण अप्पा** गुणपर्यायाणां संबन्धी आत्मा स्वभावः । कः इति पृष्टे ? **दव्व त्ति उवदेसो** द्रव्यमेव स्वभाव इत्युपदेशः, अथवा द्रव्यस्य कः स्वभावः ? इति पृष्टे गुणपर्यायाणामात्मा एव स्वभाव इति । अथ विस्तरः—अनन्तज्ञानसुखादिगुणान् तथैवामूर्तत्वातीन्द्रियत्वसिद्धत्वादिपर्यायांश्च इयर्ति गच्छति परिणमत्याश्रयति येन कारणेन तस्मादर्थो भण्यते । किं ? शुद्धात्मद्रव्यम् । तच्छुद्धात्मद्रव्यमाधारभूतमियर्ति गच्छन्ति परिणमन्त्याश्रयन्ति येन कारणेन ततोऽर्था भण्यन्ते । के ते ? ज्ञानत्वसिद्धत्वादिगुणपर्यायाः । ज्ञानत्वसिद्धत्वादिगुणपर्यायाणामात्मा स्वभावः । कः इति पृष्टे शुद्धात्मद्रव्यमेव स्वभावः अथवा शुद्धात्मद्रव्यस्य कः स्वभाव इति पृष्टे पूर्वोक्तगुणपर्याया एव । एवं शेषद्रव्यगुणपर्यायाणामप्यर्थसंज्ञा बोद्धव्येत्यर्थः ॥८७॥

उत्थानिका—आगे द्रव्य, गुण पर्यायों की अर्थसंज्ञा को, कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(दव्वाणि) द्रव्य, (गुणा) उनके सहभावी गुण व (तेसिं पज्जाया) उन द्रव्यों की पर्यायें ये तीनों ही (अट्ठसण्णया) अर्थ के नाम से (भणिया) कहे गए हैं। अर्थात् तीनों को ही अर्थ कहते हैं। (तेसु) इन तीन द्रव्य गुण पर्यायों में से (गुणपज्जयाणं अप्पा) अपने गुण और पर्यायों का सम्बन्धी स्वभाव (दव्व त्ति) द्रव्य है, ऐसा उपदेश है। अथवा यह प्रश्न होने पर कि द्रव्य का क्या स्वभाव है ? यही उत्तर होगा कि जो गुण पर्यायों का आत्मा या आधार है, वही द्रव्य है, वही गुण पर्यायों का निजभाव है। विस्तार यह है कि जिस कारण से शुद्धात्मा अनन्तज्ञान, अनन्तसुख आदि गुणों को तैसे ही अमूर्तिकपना, अतीन्द्रियपना, सिद्धपना आदि पर्यायों को इयर्ति अर्थात् परिणमन करती है व आश्रय करती है इसलिये शुद्धात्मा द्रव्य अर्थ कही जाती है। तैसे ही जिस कारण से ज्ञानपना गुण और सिद्धपना आदि पर्यायें अपने आधारभूत शुद्धात्मा द्रव्य को इयर्ति अर्थात् परिणमन करती है–आश्रय करती है, इसलिये वे ज्ञानगुण व सिद्धत्व आदि पर्यायें भी अर्थ कही जाती हैं। ज्ञानपना गुण और सिद्धपना आदि पर्यायों का जो कुछ सर्वस्व है वही उनका निजभावस्व भाव है और वह शुद्धात्मा द्रव्य ही स्वभाव है। अथवा यह प्रश्न किया जाय कि शुद्धात्मा द्रव्य का क्या स्वभाव है तो कहना होगा कि पूर्व में कही हुई गुण और पर्यायें है। जिस तरह आत्मा की अर्थ संज्ञा जानना, उसी तरह द्रव्यों को व उनके गुण पर्यायों की अर्थ संज्ञा है, ऐसा जानना चाहिये ॥८७॥**

अथैवं मोहक्षपणोपायभूतजिनेश्वरोपदेशलाभेऽपि पुरुषकारोऽर्थक्रियाकारीति पौरुषं व्यापारयति—

जो मोहरागदोसे णिहणदि उवलब्भ[1] जोण्हमुवदेसं ।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि[2] अचिरेण कालेण ॥८८॥

यो मोहरागद्वेषान्निहन्ति उपलभ्य जैनमुपदेशम् ।
स. सर्वदु खमोक्ष प्राप्नोत्यचिरेण कालेन ॥८८॥

इह हि द्राघीयसि सदाजवंजवपथे कथमप्यमुं समुपलभ्यापि जैनेश्वरं निशिततरवारिधारापथस्थानीयमुपदेश य एव मोहरागद्वेषाणामुपरि दृढतरं निपातयति स एव निखिलदुःखपरिमोक्षं क्षिप्रमेवाप्नोति, नापरो व्यापारः करवालपाणिरिव । अत एव सर्वारम्भेण मोहक्षपणाय पुरुषकारे निषीदामि ॥८८॥

भूमिका—अब, इस प्रकार मोह क्षय के उपायभूत जिनेश्वर के उपदेश की प्राप्ति होने पर भी पुरुषार्थ अर्थ-क्रियाकारी (प्रयोजन-भूत क्रिया का करने वाला) है, इसलिये पुरुषार्थ करते है—

अन्वयार्थ—[य] जो [जैन उपदेश] जिनेन्द्र के उपदेश को [उपलभ्य] प्राप्त करके [मोहरागद्वेषान्] मोह, राग, द्वेष को [निहति] हनता है [नाश करता है] [स] वह [अचिरेण कालेन] अल्पकाल मे [सर्वदु खमोक्ष] सब दु खो से छुटकारे को [प्राप्नोति] पाता है ।

टीका—वास्तव में इस अति-दीर्घ संसार मार्ग में किसी भी प्रकार से जिनेन्द्रदेव के इस तीक्ष्ण असिधारा (तलवार की धार) समान उपदेश को प्राप्त करके भी, जो कोई मोह राग द्वेष के ऊपर अतिदृढता–पूर्वक हाथ मे तलवार लिये हुए (पुरुष) की भांति प्रहार करता है वही सब दुःखों से छुटकारे को शीघ्र ही प्राप्त होता है । अन्य (कोई) व्यापार (प्रयत्न-क्रिया) समस्त दुःखो से परिमुक्त नही करता (जैसे मनुष्य के हाथ मे तीक्ष्ण तलवार होने पर भी वह शत्रुओ पर अत्यन्त वेग से उसका प्रहार करे तो ही वह शत्रु-सम्बन्धी दुःख से मुक्त होता है, अन्यथा नहीं । इस प्रकार इस अनादि संसार में महा भाग्य से जिनेश्वर देव के उपदेश रूपी तीक्ष्ण तलवार को प्राप्त करके भी जो जीव मोह रागद्वेष रूपी शत्रुओं पर अति दृढता-पूर्वक उसका प्रहार करता है, वही सर्व दुःखों से मुक्त होता है–अन्यथा नहीं) । इसलिये सम्पूर्ण प्रयत्न से मोह का क्षय करने के लिये मै पुरुषार्थ में स्थित होता हूं ॥८८॥

---

१ उवलद्ध (ज० वृ०) । २ पावइ (ज० वृ०) ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ दुर्लभजैनोपदेश लब्ध्वापि य एव मोहरागद्वेषान्निहन्ति स एवाशेषदुःखक्षय प्राप्नोतीत्यावेदयति—

जो मोहरागदोसे णिहणदि य एव मोहरागद्वेषान्नि हन्ति। कि कृत्वा? **उवलद्ध** उपलभ्य प्राप्य। कम्? **जोण्हमुवदेसं** जैनोपदेश, **सो सव्वदुक्ख मोक्ख पावाइ** स सर्वदुःखमोक्ष प्राप्नोति। केन? **अचिरेण कालेण** स्तोककालेनेति।

तद्यथा—एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियादिदुर्लभपरम्परया जैनोपदेश प्राप्य मोहरागद्वेषविलक्षण निजशुद्धात्मनिश्चलानुभूतिलक्षण निश्चयसम्यक्त्वज्ञानद्वयाविनाभूत वीतरागचारित्रसज्ञ निशितखड्ग य एव मोहरागद्वेषशत्रूणामुपरि दृढतर पातयति स एव पारमार्थिकानाकुलत्वलक्षणसुखविलक्षणानां दुःखाना क्षयं करोतीत्यर्थ ॥८८॥

एव द्रव्यगुणपर्यायविषये मूढत्वनिराकरणार्थ गाथाषट्केन तृतीयज्ञानकण्ठिका गता।

उत्थानिका—आगे यह प्रगट करते है कि इस दुर्लभ जैन के उपदेश को प्राप्त करके जो भी कोई मोह रागद्वेषो को नाश करते है, वे ही सर्व दुःखो का क्षय करके निज स्वभाव प्राप्त करते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जो) जो कोई भव्य जीव (जोण्हमुवदेसं उवलद्ध) जैन के उपदेश को पाकर (मोहरागदोसे णिहणदि) मोह रागद्वेष को नाश करता है (सो) वह (अचिरेण कालेण) अल्पकाल में ही (सव्वदुखमोक्ख पावइ) सर्व दुःखों से छूट जाता है।

विषय यह है कि जो कोई भव्य जीव एकेन्द्रिय से विकलेन्द्रिय, फिर पंचेन्द्रिय फिर मनुष्य होना इत्यादि दुर्लभपने की परम्परा को समझकर अत्यन्त कठिनता से प्राप्त होने वाले जैन तत्व के उपदेश को पाकर मोह रागद्वेष से विलक्षण अपने शुद्धात्मा के निश्चल अनुभव रूप निश्चयसम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से अविनाभूत वीतरागचारित्ररूपी तीक्ष्ण खड्ग को मोह रागद्वेष शत्रुओ के ऊपर पटकता है वह ही वीर पुरुष परमार्थ रूप अनाकुलता लक्षण को रखने वाले सुख से विलक्षण सब दुःखों का क्षय कर देता है यह अर्थ है ॥८८॥

भावार्थ—आचार्य ने इस गाथा में चारित्र पालने की प्रेरणा की है। तथा वृत्तिकार के भावानुसार यह बात समझनी चाहिये कि मनुष्य जन्म का पाना ही अति कठिन है। निगोद एकेन्द्रिय से उन्नति करते हुए पंचेन्द्रिय शरीर में आना बड़ा दुर्लभ है। मनुष्य होकर भी जिनेन्द्र भगवान् का सार-उपदेश मिलना दुर्लभ है। यदि कोई शास्त्रों का मनन करेगा और गुरु से समझेगा तथा अनुभव में लायेगा तो उसे निज भगवान् का उपदेश समझ पड़ेगा। भगवान् का उपदेश आत्मा के शत्रुओ के नाश के लिये निश्चयरत्नत्रय

रूप स्वात्मानुभव है। इसी के द्वारा रागद्वेष मोह का नाश हो सकता है। सिवाय इस खड्ग के और किसी में बल नहीं है जो इन अनादि से लगे हुए आत्मा के वैरियों का नाश कर सके। जो कोई इस उपदेश को समझ भी लेवे परन्तु पुरुषार्थ करके स्वात्मानुभव न करे तो वह कभी भी दु:खों से छूटकर मुक्त नहीं हो सकता। जैसा यहाँ आचार्य ने कहा है, वैसा ही श्री समयसार जी मे आपने इन रागद्वेष मोह के नाश का उपाय इस गाथा से सूचित किया है—

जो आदभावणमिण णिच्चुवजुत्तो मुणी समाचरदि।
सो सव्वदुक्खमोक्ख पावदि अचिरेण कालेण॥

अर्थ—जो कोई मुनि नित्य उद्यमवंत होकर निज आत्मा की भावना को आचरण करता है, वह शीघ्र ही सर्व दु.खो से छूट जाता है ॥८८॥

इस तरह द्रव्य, गुण, पर्याय के सम्बन्ध मे मूढता को दूर करने के लिये छह गाथाओ से तीसरी ज्ञानकंठिका पूर्ण हुई।

अथ स्वपरविवेकसिद्धेरेव मोहक्षपणं भवतीति स्वपरविभागसिद्धये प्रयतते—

णाणप्पगमप्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्धं।
जाणदि जदि णिच्छयदो जो सो मोहक्खयं कुणदि ॥८९॥

ज्ञानात्मकमात्मान पर च द्रव्यत्वेनाभिसबद्धम्।
जानाति यदि निश्चयतो य सो मोहक्षय करोति ॥८९॥

य एव स्वकीयेन चैतन्यात्मकेन द्रव्यत्वेनाभिसंबद्धमात्मानं परं च परकीयेन यथोचितेन द्रव्यत्वेनाभिसम्बद्धमेव निश्चयतः परिच्छिनत्ति, स एव सम्यगवाप्तस्वपरविवेकः सकलं मोहं क्षपयति। अतः स्वपरविवेकाय प्रयतोऽस्मि ॥८९॥

भूमिका—अब, स्व-परके विवेक की (भेदज्ञान की) सिद्धि से ही मोह का क्षय हो सकता है। इसलिये स्व-पर के विभाग की सिद्धि के लिये प्रयत्न करते हैं—

अन्वयार्थ—[यः] जो [ज्ञानात्मक आत्मान] ज्ञानमयी (ज्ञान-स्वरूप) अपने को [च] और [पर] पर को [द्रव्यत्वेन अभिसम्बद्ध] (निज निज) द्रव्यत्व से सम्बद्ध [निश्चयत·] निश्चय से (जानाति) जानता है [स] वह [मोहक्षय करोति] मोह के क्षय को करता है।

टीका—जो स्वकीय (अपने) चैतन्यात्मक द्रव्यत्व से भले प्रकार संबद्ध (संयुक्त) अपने को और परको परकीय (दूसरे के) यथोचित द्रव्यत्व से भले प्रकार सम्बद्ध

ही निश्चय से जानता है, स्व–परके विवेक को प्राप्त वह ही सम्पूर्ण मोहको नष्ट करता है। इस कारण से स्व-परके विवेक के लिये मै प्रयत्नशील हूँ ॥८९॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ स्वपरात्मयोर्भेदज्ञानात् मोहक्षयो भवतीति प्रज्ञापयति—

णाणप्पगमप्पाण परं च दव्वत्तणाहिसबद्ध जाणदि जदि ज्ञानात्मकमात्मान जानाति यदि। कथभूत ? स्वकीयशुद्धचैतन्यद्रव्यत्वेनाभिसबद्ध, न केवलमात्मान। पर च यथोचितचेतनाचेतनपरकीय-द्रव्यत्वेनाभिसबद्ध। कस्मात् ? **णिच्छयदो** निश्चयत निश्चयनयानुकूल भेदज्ञानमाश्रित्य। **जो** य कर्ता **सो** स **मोहक्खय कुणदि** निर्मोहपरमानन्दैकस्वभाव-शुद्धात्मनो विपरीतस्य मोहस्य क्षय करोतीति सूत्रार्थ ॥८९॥

उत्थानिका—आगे सूचित करते है कि अपने आत्मा और पर के भेद-विज्ञान से मोह का क्षय होता है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो) जो कोई (णिच्छयदो) निश्चयनय के द्वारा भेद-ज्ञान को आश्रय करके (जदि) यदि (णाणप्पगम्पाणं परं च दव्वत्तणाहिसंबद्ध जाणदि) अपने ज्ञान-स्वरूप आत्मा को अपने ही शुद्ध चैतन्य द्रव्य से सम्बन्धित तथा अन्य चेतन अचेतन पदार्थों को यथायोग्य अपने से भिन्न चेतन अचेतन द्रव्य से सम्बन्धित जानता है या अनुभव करता है (सो मोहक्खयं कुणदि) वही मोह-रहित परमानन्दमयी एक स्वभावरूप शुद्धात्मा से विपरीत मोह का क्षय करता है ॥८९॥**

अथ सर्वथा स्वपरविवेकसिद्धिरागमतो विधातव्येत्युपसहरति—

तम्हा जिणमग्गादो गुणेहिं आदं परं च दव्वेसु।
अभिगच्छदु[1] इच्छादि[2] णिम्मोहं जदि अप्पणो अप्पा ॥९०॥

तस्माज्जिनमार्गात् गुणैरात्मान पर च द्रव्येषु।
अभिगच्छतु निर्मोहमिच्छति यद्यात्मन आत्मा ॥९०॥

इह खल्वागमनिगदितेष्वनन्तेषु गुणेषु कैश्चिद्गुणैरन्ययोगव्यवच्छेदकतया साधारणता-मुपादाय विशेषणतामुपगतैरनन्तायां द्रव्यसंततौ स्वपरविवेकमुपगच्छन्तु मोहप्रहाणप्रवण-बुद्धयो लब्धवर्णाः तथाहि–यदिदं सदकारणतया, स्वतः सिद्धमन्तर्बहिर्मुखप्रकाशशालितया स्वपरपरिच्छेदकं मदीयं मम नाम चैतन्यमहमनेन तेन समानजातीयमसमानजातीयं वा द्रव्यमन्यदपहाय ममात्मन्येव वर्तमानेनात्मीयमात्मानं सकलत्रिकालकलितध्रौव्यं द्रव्य जानामि। एवं पृथक्त्ववृत्तस्वलक्षणैर्द्रव्यमन्यदपहाय तस्मिन्नेव च वर्तमानै सकलत्रिकाल-कलितध्रौव्यं द्रव्यमाकाशं धर्ममधर्मं कालं पुद्गलमात्मान्तरं च निश्चिनोमि। ततो नाह-

---

१. अहिगच्छदु (ज० वृ०)। २ इच्छादि (ज० वृ०)।

माकाशं न धर्मो ना धर्मो न च कालो न पुद्गलो नात्मान्तरं च भवामि, यतोऽमीष्वेकाप-वरकप्रबोधितानेकदीपप्रकाशेष्विव, संभूयावस्थितेष्वपि मच्चैतन्यं स्वरूपादप्रच्युतमेव मां पृथगवगमयति। एवमस्य निश्चितस्वपर विवेकस्यात्मनो न खलु विकारकारिणो मोहाङ्कुरस्य प्रादुर्भूतिः स्यात् ॥९०॥

भूमिका—अब, सब प्रकार से स्व-परके विवेक की सिद्धि आगम से करने योग्य है, इस प्रकार उपसहार करते हैं—

अन्वयार्थ—[तस्मात्] इस कारण से (क्योकि स्व-पर के विवेक द्वारा मोह का नाश हो सकता है इस कारण से) [यदि] जो [आत्मा] आत्मा [आत्मनः] अपनी [निर्मोह] निर्मोहता [इच्छति] चाहता है तो [जिनमार्गात्] जिन मार्ग से (जिन आगम से) [द्रव्येषु] (छह) द्रव्यो मे से [गुणैः] (विशेष) गुणो के द्वारा [आत्मान परं च] स्व और पर को [अभिगच्छतु] जानो।

टीका—मोहका क्षय करने के प्रति अभिमुख बुध-जन इस जगत् में निश्चय से आगम मे कथित अनन्त गुणो मे से किन्ही गुणों के द्वारा—जो गुण अन्य (द्रव्य) के साथ योग (सम्बन्ध) रहित होने से असाधारणता को धारण करके विशेषत्व को प्राप्त हुए हैं, उनके द्वारा-अनन्त द्रव्य-परम्परा मे स्व-परके विवेक को प्राप्त करो (मोह का क्षय करने के इच्छुक पडित जन आगम-कथित अनन्त गुणों मे असाधारण लक्षणभूत गुणों के द्वारा अनन्त द्रव्य-परम्परा मे 'यह स्व-द्रव्य है और यह पर द्रव्य है'' ऐसा विवेक करो), जो कि इस प्रकार है—

सत् और अकारण होने से स्वत सिद्ध, अन्तर्मुख और बहिर्मुख प्रकाशवाला होने से स्व पर का ज्ञायक, ऐसा जो यह मेरे साथ संबन्ध वाला मेरा चैतन्य है तथा जो (चैतन्य) समान-जातीय अथवा असमान-जातीय अन्य द्रव्य को छोड़कर मेरे आत्मा में ही वर्तता है, उस (चैतन्य) के द्वारा मै अपने आत्मा को सकल त्रिकाल मे ध्रुवत्व का धारक द्रव्य जानता हूँ, इस प्रकार पृथक् रूप से वर्तने वाले स्वलक्षणों के द्वारा जो अन्य द्रव्य को छोड़कर उसी द्रव्य मे वर्तते हैं उनके द्वारा—आकाश, धर्म, अधर्म, काल, पुद्गल और अन्य आत्मा को सकल त्रिकाल मे ध्रुवत्व-धारक द्रव्य के रूप में निश्चित करता हूँ (जैसे चैतन्य लक्षण के द्वारा आत्मा को ध्रुव द्रव्य के रूप मे जाना, उसी प्रकार अवगाहहेतुत्व, गति-हेतुत्व, इत्यादि लक्षणो से जो कि स्वलक्षणभूत द्रव्य के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों में नहीं पाये जाते उनके द्वारा-आकाश धर्मास्तिकाय इत्यादि को भिन्न-भिन्न ध्रुव द्रव्यों के रूप में

जानता हूँ)। इसलिये न मै आकाश हूँ, न धर्म हूँ, न अधर्म हूँ, न काल हूँ, न पुद्गल हूँ और न आत्मान्तर (अन्य आत्मा) हूँ, क्योंकि मकान के एक ही कमरे में जलाये गये अनेक दीपकों के प्रकाशों की भांति, इकट्ठे (एक क्षेत्रावगाही) रहने वाले द्रव्यों मे भी मेरा चैतन्य, निजस्वरूप से अच्युत ही रहता हुआ, मुझको पृथक् जनाता (प्रगट करता) है। इस प्रकार निश्चित किया है स्व-पर का विवेक जिसने—ऐसे इस आत्मा के वास्तव मे विकार को उत्पन्न करने वाले मोहांकुर का प्रादुर्भाव नहीं होता ॥६०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वसूत्रे यदुक्तं स्वपरभेदविज्ञान तदागमतः सिद्धयतीति प्रतिपादयति—

तम्हा जिणमग्गादो यस्मादेव भणित पूर्वं स्वपरभेदविज्ञानाद् मोहक्षयो भवति, तस्मात्कारणा-ज्जिनमार्गाज्जिनागमात् **गुणेहिं** गुणै. **आदं** आत्मान, न केवलमात्मान **परं च** परद्रव्य च। केषु मध्ये ? **दव्वेसु** शुद्धात्मादिषड्द्रव्यमध्येषु **अहिगच्छदु** अभिगच्छतु जानातु यदि। किं ? **णिम्मोहं इच्छदि जदि** निर्मोहभावमिच्छति यदिचेत्। स क ? **अप्पा** आत्मा। कस्य सबन्धित्वेन ? **अप्पणो** आत्मन इति।

तथाहि—यदिदं मम चैतन्य स्वपरप्रकाशक तेनाह कर्ता शुद्धज्ञानदर्शनभाव स्वकीयमात्मान जानामि, पर च पुद्गलादिपञ्चद्रव्यरूप शेषजीवान्तर च पररूपेण जानामि, तत. कारणादेकापवरक-प्रबोधितानेकप्रदीपप्रकाशेष्वेव सभूयावस्थितेष्वपि सर्वद्रव्येषु मम सहजशुद्धचिदानन्दैकस्वभावस्य केनापि सह मोहो नास्तीत्यभिप्राय· ॥६०॥

एव स्वपरपरिज्ञानविषये मूढत्वनिरासार्थं गाथाद्वयेन चतुर्थज्ञानकण्ठिका गता। इति पञ्च-विंशतिगाथाभिर्ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयाभिधानो द्वितीयोऽधिकार समाप्त।

उत्थानिका—आगे पूर्व सूत्र मे जिस स्व-पर के भेद-विज्ञान की बात कही है, वह भेद-विज्ञान जिन-आगम के द्वारा सिद्ध हो सकता है, ऐसा कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(तम्हा) क्योंकि पहले यह कह चुके है कि स्व पर के भेद-विज्ञान से मोह का क्षय होता है इसलिये (जिणमग्गादो) जिन-आगम (दव्वेसु) शुद्धात्मा आदि छ द्रव्यों के मध्य मे से (गुणे:) उनके उन गुणो के द्वारा (आदं परं च) आत्मा को और परद्रव्य को (अहिगच्छदु) जाने, (जदि) यदि (अप्पा) आत्मा (अप्पणो) अपने भीतर (णिम्मोहं) मोह-रहित भाव को (इच्छदि) चाहता है।

विशेष यह है कि जो यह मेरा चैतन्यभाव अपने को और पर को प्रकाशमान करने वाला है उसी करके मैं शुद्ध ज्ञानदर्शन भाव को अपना आत्मा रूप जानता हूँ तथा पर जो पुद्गल आदि पांच द्रव्य हैं तथा अपने जीव के सिवाय अन्य सर्व जीव हैं, उन सबको पररूप से जानता हूँ। इस कारण से जैसे एक घर मे जलते हुए अनेक दीपकों का प्रकाश है किन्तु सबका प्रकाश अलग-अलग है। इस ही तरह सर्व द्रव्यो के भीतर मे मेरा

सहज शुद्ध चिदानन्दमय एक स्वभाव अलग है उसका किसी के साथ मोह नहीं है, यह अभिप्राय है ॥९०॥

इस तरह स्व-पर के ज्ञान में मूढता को हटाते हुए दो गाथाओं के द्वारा चौथी ज्ञानकंठिका पूर्ण हुई।

इस तरह पच्चीस गाथाओं के द्वारा ज्ञानकंठिका का चतुष्टय नाम का दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

अथ जिनोदितार्थश्रद्धानमन्तरेण धर्मलाभो न भवतीति प्रतर्कयति—

सत्तासंबद्धेदे सविसेसे जो हि णेव सामण्णे।
सद्दहदि ण सो समणो तत्तो धम्मो ण संभवदि ॥९१॥

सत्तासम्बद्धानेतान् सविशेषान् यो हि नैव श्रामण्ये।
श्रद्धधाति न स श्रमण ततो धर्मो न सभवति ॥९१॥

यो हि नामैतानि सादृश्यास्तित्वेन सामान्यमनुव्रजन्त्यपि स्वरूपास्तित्वेनाश्लिष्टविशेषाणि द्रव्याणि स्वपरावच्छेदेनापरिच्छन्दन्नश्रद्दधानो वा एवमेव श्रामण्येनात्मानं दमयति स खलु न नाम श्रमणः। यतस्ततोऽपरिच्छिन्नरेणुकनककणिकाविशेषाद्धूलिधावकात्कनकलाभ इव निरुपरागात्मतत्त्वोपलम्भलक्षणो धर्मोपलम्भो न संभूतिमनुभवति ॥९१॥

भूमिका—अब, जिनेन्द्र के कहे हुए पदार्थों के श्रद्धान बिना धर्म लाभ नहीं होता, यह न्यायपूर्वक विचार करते हैं—

अन्वयार्थ—[य. श्रामण्ये] जो श्रमण अवस्था मे [एतान् सत्तासबद्धान् सविशेषान्] इन सत्ता—सयुक्त सविशेष पदार्थों को [न एव श्रद्दधाति] श्रद्धान नही करता [स] वह [श्रमण न] श्रमण नही है [तत] उस (श्रमणाभासपने) से [धर्म न सभवति] धर्म का उद्भव नही होता है।

टीका—जो (जीव) सादृश्य अस्तित्व से समानता को धारण करते हुये भी स्वरूप अस्तित्व से विशेष-युक्त इन द्रव्यों को स्व-पर के भेद से नहीं जानता हुआ और श्रद्धान नहीं करता हुआ, यों ही (ज्ञान श्रद्धान के बिना) मात्र श्रमणता से (द्रव्य मुनित्व से) आत्मा को (अपने को) दमन करता है, वह वास्तव मे श्रमण नही है। क्योंकि जैसे रेत और स्वर्ण-कणों मे भेद ज्ञात न होने पर, मात्र धूल के (रेत के) धोने से स्वर्ण का उद्भव नहीं होता, इसी प्रकार स्व-पर का भेद ज्ञान न होने से, मात्र श्रमणाभासपने से निरुपराग (निर्विकार) आत्मतत्त्व की उपलब्धि (प्राप्ति) लक्षण वाला धर्म लाभ का भी उद्भव नहीं होता ॥९१॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ निर्दोषिपरमात्मप्रणीतपदार्थश्रद्धानमन्तरेण श्रमणो न भवति, तस्माच्छुद्धोपयोगलक्षण-धर्मोऽपि न सभवतीति निश्चिनोति—

सत्तासंबद्धे महासत्तासबन्धेन सहितान् **एदे** एतान् पूर्वोक्तशुद्धजीवादिपदार्थान् । पुनरपि किं विशिष्टान् ? **सविसेसे** विशेषसत्तावान्तरसत्तास्वकीयस्वरूपसत्ता तया सहितान् **जो हि णेव सामण्णे सद्दहदि** यः कर्ता द्रव्यश्रामण्ये स्थितोऽपि न श्रद्धत्ते हि स्फुट **ण सो समणो** निजशुद्धात्मरुचिरूप-निश्चयसम्यक्त्वपूर्वकपरमसामायिकसयमलक्षणश्रामण्याभावात्स श्रमणो न भवति । इत्थभूतभाव-श्रामण्याभावात् **तत्तो धम्मो ण सभवदि** तस्मात्पूर्वोक्तद्रव्यश्रमणत्सकाशान्निरुपरागशुद्धात्मानुभूति-लक्षणधर्मोऽपि न सभवतीति सूत्रार्थः ॥९१॥

उत्थानिका—आगे यह निश्चय करते है कि दोषरहित अरहत परमात्मा द्वारा कहे हुए पदार्थों के श्रद्धान के बिना कोई श्रमण या साधु नही हो सकता है ऐसे श्रद्धारहित साधु मे शुद्धोपयोग लक्षण को रखने वाला धर्म भी सभव नही है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जो) **जो कोई जीव** (हि) **निश्चय से** (सामण्णे) **द्रव्य रूप से साधु अवस्था में विराजमान होकर भी** (सत्तासंबंद्धे सविसेसे) **महासत्ता के सबध रूप सामान्य अस्तित्व सहित तथा विशेष सत्ता या अवान्तर सत्ता या अपने स्वरूप की सत्ता सहित विशेष अस्तित्व सहित** (एदे) **इन पूर्व में कहे हुए शुद्ध जीव आदि पदार्थों को** (ण सद्दहदि) **नहीं श्रद्धान करता है** (सो समणो ण) **वह अपने शुद्ध आत्मा की रुचि रूप निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक परम सामायिक संयम लक्षण को रखने वाले साधुपने के बिना भाव साधु नहीं है, इस तरह भाव साधुपने के अभाव से** (तत्तो धम्मो ण सभवदि) **उस पूर्वोक्त द्रव्य साधु से वीतराग शुद्धात्मानुभव लक्षण को धरने वाला धर्म भी नहीं पालन हो सकता है, यह सूत्र का अर्थ है ॥९१॥**

अथ 'उवसपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती' इति प्रतिज्ञाय 'चारित्त खलु धम्मो धम्मो जो सो समो त्ति णिद्दिट्ठो' इति साम्यस्य धर्मत्वं निश्चित्य 'परिणमदि जेण दव्व तक्कालं तम्मयं त्ति पण्णत्तं, तम्हा धम्मपरिणदो आदा धम्मो मुणेयव्वो' इति यदात्मनो धर्मत्वमासूत्रयितुमुपक्रान्तं, यत्प्रसिद्धये च 'धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो पावदि णिव्वाणसुहं' इति निर्वाणसुखसाधनशुद्धोपयोगोऽधिकर्तुमारब्धः, शुभाशुभोपयोगौ च विरोधिनौ निर्ध्वस्तौ, शुद्धोपयोगस्वरूपं चोपवर्णितं, तत्प्रसादजौ चात्मनो ज्ञानानन्दौ सहजौ समुद्योतयता संवेदन-स्वरूपं सुखस्वरूपं च प्रपञ्चितम् ।

तदधुना कथं कथमपि शुद्धोपयोगप्रसादेन प्रसाध्य परमनिःस्पृहमात्मतृप्तां पारमेश-

वरीप्रवृत्तिमभ्युपगत कृतकृत्यतामवाप्य नितान्तमनाकुलो भूत्वा प्रलीनभेदवासनोन्मेषः स्वयं साक्षाद्धर्म एवास्मीत्यवतिष्ठते—

जो णिहदमोहदिट्ठी आगमकुसलो विरागचरियम्हि ।
अब्भुट्ठिदो महप्पा धम्मो त्ति विसेसिदो समणो ॥९२॥

यो निहतमोहदृष्टिरागमकुशलो विरागचरिते ।
अभ्युत्थितो महात्मा धर्म इति विशेषितः श्रमणः ॥९२॥

यदयं स्वयमात्मा धर्मो भवति स खलु मनोरथ एव, तस्य त्वेका बहिर्मोहदृष्टिरेव विहन्त्री । सा चागमकौशलेनात्मज्ञानेन च निहता, नात्र मम पुनर्भावमापत्स्यते । ततो वीतरागचारित्रसूत्रितावतारो ममायमात्मा स्वयं धर्मो भूत्वा निरस्तसमस्तप्रत्यूहतया नित्यमेव निष्कम्प एवावतिष्ठते । अलमति विस्तरेण । स्वस्ति स्याद्वादमुद्रिताय जैनेन्द्राय शब्दब्रह्मणे स्वस्ति तन्मूलायात्मतत्त्वोपलम्भाय च, यत्प्रसादादुद्ग्रन्थितो झगित्येवासंसारबद्धो मोहग्रन्थिः । स्वस्ति च परमवीतरागचारित्रात्मने शुद्धोपयोगाय, यत्प्रसादादयमात्मा स्वयमेव धर्मो भूतः ॥९२॥

भूमिका—"उपसंपद्ये साम्य यतो निर्वाणसंप्राप्तिः" इस प्रकार (पांचवीं गाथा में) प्रतिज्ञा करके, 'चारित्र खलु धर्मः' धर्मः यः 'तत् साम्यं इति निर्दिष्टं' इस प्रकार (सातवीं गाथा मे) साम्य के धर्म-पनेको निश्चित करके, 'परिणमति येन द्रव्यं तत्कालं तन्मयं इति प्रज्ञप्तं तस्मात् धर्मपरिणत आत्मा धर्मः मन्तव्यः" इस प्रकार (आठवी गाथा मे) जो आत्मा का धर्मत्व कहना प्रारम्भ किया और जिसकी सिद्धि के लिये "धर्मेण परिणतात्मा आत्मा यदि शुद्धसंप्रयोगयुत· प्राप्नोति निर्वाणसुख" इस प्रकार (ग्यारहवीं गाथा मे) निर्वाण सुख का साधन शुद्धोपयोग कथन करने के लिये प्रारम्भ किया, विरोधी शुभ अशुभ उपयोगों को नष्ट किया (हेय बताया), शुद्धोपयोग के स्वरूप को (चौदहवीं गाथा मे) वर्णन किया, उस (शुद्धोपयोग) के प्रसाद से उत्पन्न होने वाले आत्मा के सहज ज्ञान और आनन्द को समझाते हुये ज्ञान के स्वरूप का (गाथा २१ से ५२ तक) और सुख के स्वरूप का (गाथा ५३ से ६८ तक) विस्तार किया, उसको (आत्मा के धर्मत्व को) अब किसी भी प्रकार शुद्धोपयोग के प्रसाद से (गाथा ७८ से ९१ तक) सिद्ध करके, परम निःस्पृह आत्मतृप्त पारमेश्वरी प्रवृत्ति को प्राप्त होते हुये कृतकृत्यता को प्राप्त करके अत्यन्त अनाकुल होकर, जिनके भेदवासना (विकल्प परिणाम) की प्रगटता का प्रलय हुआ है ऐसे होते हुए ठहरते हैं । अब (आचार्य देव) मै स्वयं साक्षात् धर्म ही हूँ" इस प्रकार रहते है (ऐसे भाव में निश्चल-स्थिर होते है)—

अन्वयार्थ—[यः] जो [निहतमोहदृष्टिः] जिसकी मोहदृष्टि नष्ट हो गई है (सम्यग्दृष्टि है) [आगम-कुशलः] आगम मे कुशल है (सम्यग्ज्ञानी है) और [विरागचरिते अभ्युत्थित.] जो वीतरागचारित्र मे आरूढ है, [महात्मा श्रमण.] (वह) महात्मा श्रमण [धर्म. इति विशेषित] "धर्म" इस नाम से विशेषित किया गया है। अर्थात् वह धर्म ही है।

टीका—**जो यह आत्मा स्वयं धर्म होता है, वह वास्तव में मनोरथ ही है। उसके (आत्मा के या मनोरथ के)** तो विघ्न डालने वाली एक (मात्र) **बहिर्मोहदृष्टि (बहिर्मुख मोहदृष्टि) ही है, और वह (मोह-दृष्टि) आगम–कौशल्य (आगम में कुशलता) से तथा आत्मज्ञान से नष्ट हो चुकी है।** इसलिये अब वह मेरे पुन उत्पन्न नहीं होगी। **इसलिये वीतरागचारित्र रूप से प्रगटता को प्राप्त** (वीतरागचारित्ररूप पर्याय मे परिणत) मेरा **यह आत्मा, स्वयं धर्म होकर, समस्त** विघ्नो **का** नाश हो जाने से, **सदा निष्कम्प ही रहता है। अधिक विस्तार से बस हो।** जयवन्त वर्तो स्याद्वाद **मुद्रित जैनेन्द्र-शब्द-ब्रह्म और** जयवन्त वर्तो शब्द-ब्रह्ममूलक आत्मतत्त्वोपलब्धि, कि जिसके **प्रसाद से अनादि संसार से बंधी हुई मोहग्रन्थि** तत्काल हो छूट गई है। **और जयवन्त वर्तो परम वीतरागचारित्र स्वरूप शुद्धोपयोग, कि जिसके प्रसाद से यह आत्मा स्वयमेव** धर्म हुआ **है ॥९२॥**

कलश (मन्दाक्राता छन्द)

आत्मा धर्मं स्वयमिति भवन् प्राप्य शुद्धोपयोग,
नित्यानन्दप्रसररसरसज्ञानतत्त्वे निलीय।
प्राप्स्यत्युच्चैरविचलतया नि प्रकम्पप्रकाशां,
स्फूर्जज्ज्योतिःसहजविलसद्रत्नदीपस्य लक्ष्मीम् ॥५॥

अन्वय—**इति शुद्धोपयोगं प्राप्य आत्मा स्वयं धर्मः भवन् नित्यानन्दप्रसररसन्संज्ञानतत्त्वे उच्चैः अविचलतया स्फूर्जज्ज्योतिःसहजविलसद्रत्नदीपस्य निःप्रकम्पप्रकाशां लक्ष्मी प्राप्स्यति।**

अन्वयार्थ—[इति] इस प्रकार [शुद्धोपयोग] शुद्धोपयोग को [प्राप्य] प्राप्त करके [आत्मा] आत्मा [स्वय] स्वय [धर्म भवन्] धर्म होता हुआ [अर्थात् स्वय धर्मरूप परिणत होता हुआ] [नित्यानन्दप्रसररसरस ज्ञानतत्त्वे] नित्य आनन्द के प्रसार से सरस (शाश्वत आनन्द के प्रसार से रस-युक्त) ज्ञान तत्त्व मे (लीन होकर) [उच्चै अविचलतया] अत्यन्त अविचलता के कारण [स्फूर्जज्ज्योति -सहजविलसद्रत्नदीपस्य] दैदीप्यमान और

सहजरूप से विलसित (स्वभाव से ही प्रकाशित) रत्नदीपक की [निःकंप-प्रकाशा] निष्कंप-प्रकाशमय [लक्ष्मी] शोभा को [प्राप्स्यति] पाता है (अर्थात् रत्नदीपक की भाँति स्वभाव से ही निष्कपतया अत्यन्त प्रकाशित होता जानता रहता है)।

निश्चित्यात्मन्यधिकृतमिति ज्ञानतत्त्वं यथावत् तत्सिद्ध्यर्थं प्रशमविषयं ज्ञेयतत्त्वं बुभुत्सुः।
सर्वानर्थान् कलयति गुणद्रव्यपर्याययुक्त्या प्रादुर्भूतिर्न भवति यथा जातु मोहांकुरस्य ॥६॥

अन्वय—**आत्मनि अधिकृत ज्ञानतत्त्वं इति यथावत् निश्चित्य तत्सिद्ध्यर्थं प्रशमविषयं ज्ञेयतत्त्वं बुभुत्सुः सर्वान् अर्थान् द्रव्यगुणपर्याययुक्त्या यथा कलयति येन मोहांकुरस्य जातु प्रादुर्भूतिः न भवति।**

अन्वयार्थ—[आत्मनि अधिकृत] आत्मारूपी अधिकरण (आश्रय) मे रहने वाले ज्ञान तत्व को [इति] इस प्रकार [यथावत् निश्चित्य] यथार्थतया निश्चय करके, [तत्सिद्धचर्थं] उसकी सिद्धि के लिये (केवलज्ञान प्रगट करने के लिये) [प्रशमविषय] प्रशम के लक्ष्य से (उपशम प्राप्त करने के हेतु से) [ज्ञेयतत्त्व बुभुत्सु] ज्ञेय तत्त्व को जानने का इच्छुक जीव [सर्वान् अर्थान्] सब पदार्थों को [द्रव्यगुणपर्याययुक्त्या] द्रव्य-गुण-पर्याय सहित [यथा] इस प्रकार से [कलयति] जानता है [येन] (कि) जिससे [मोहाकुरस्य] मोहाकुर की [जातु] कभी किंचित् मात्र भी [प्रादुर्भूति. न भवति] उत्पत्ति नही होती।

प्रवचनसार श्री अमृतचन्द्र सूरि विरचित तत्त्वदीपिका नामक टीका सहित ज्ञानतत्त्व प्रज्ञापन नामक प्रथम श्रुतस्कन्ध समाप्त हुआ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ **"उपसपयामि सम्मं"** इत्यादि नमस्कारगाथाया यत्प्रतिज्ञात, तदनन्तर **"चारित्त खलु धम्मो"** इत्यादिसूत्रेण चारित्रस्य धर्मत्व व्यवस्थापित, अथ **"परिणमदि जेण दव्व"** इत्यादिसूत्रेणात्मनो धर्मत्व भणितमित्यादि। तत्सर्वं शुद्धोपयोगप्रसादात्प्रसाध्येदानी निश्चयरत्नत्रयपरिणत आत्मैव धर्म इत्यवतिष्ठते। अथवा द्वितीयपातनिकासम्यक्त्वाभावे श्रमणो न भवति तस्मात् श्रमणाद्धर्मोपि न भवति, तर्हि कथ श्रमणो भवति ? इति पृष्टे प्रत्युत्तर प्रयच्छन् ज्ञानाधिकारमुपसहरति—

जो णिहदमोहदिट्ठी तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणव्यवहारसम्यक्त्वोत्पन्नेन निजशुद्धात्मरुचिरूपेण निश्चयसम्यक्त्वेन परिणतत्वान्निहतमोहदृष्टिर्विध्वसितदर्शनमोहो य। पुनश्च किं रूप: ? **आगमकुसलो** निर्दोषिपरमात्मप्रणीतपरमागमाभ्यासेन निरुपाधिस्वसवेदनज्ञानकुशलत्वादागमकुशल आगमप्रवीण.। पुनश्च किं रूप. ? **विरागचरियम्हि अब्भुट्ठिदो** व्रतसमितिगुप्त्यादिबहिरङ्गचारित्रानुष्ठानवशेन स्वशुद्धात्मनि निश्चलपरिणतिरूपवीतरागचारित्रपरिणतत्वात् परमवीतरागचारित्रे सम्यगभ्युत्थित उद्यत। पुनरपि कथभूत ? **महप्पा** मोक्षलक्षणमहार्थसाधकत्वेन महात्मा **धम्मोत्ति विसेसिदो समणो** जीवितमरणलाभालाभादिसमताभावनापरिणतात्मा स श्रमण एवाभेदनयेन धर्म इति विशेषितो मोहक्षोभविहीनात्मपरिणामरूपो निश्चयधर्मो भणित इत्यर्थ. ॥६२॥

उत्थानिका—आगे आचार्य महाराज ने पहली नमस्कार की गाथा मे "उवसपयामि सम्म" आदि मे जो प्रतिज्ञा की थी। उसके पीछे "चारित्त खलु धम्मो" इत्यादि सूत्र से

चारित्र के धर्मपना व्यवस्थापित किया था तथा "परिणमदि जेण दव्व" इत्यादि सूत्र से आत्मा के धर्मपना कहा था इत्यादि सो सब शुद्धोपयोग के प्रसाद से साधने योग्य है। अब यह कहते हैं कि निश्चयरत्नत्रय मे परिणमन करता हुआ आत्मा ही धर्म है। अथवा दूसरी पातनिका यह है कि सम्यक्त्व के बिना मुनि नही होता है ऐसे मिथ्यादृष्टि श्रमण से धर्म सिद्ध नहीं होता है, तब फिर किस तरह श्रमण होता है ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हुए इस ज्ञानाधिकार को सकोच करते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो समणो) जो साधु (णिहदमोहदिट्ठी) तत्वार्थ श्रद्धानरूप व्यवहार सम्यक्त्व के द्वारा उत्पन्न निश्चयसम्यग्दर्शन में परिणमन करने से दर्शनमोह को नाश कर चुका है, (आगमकुसलो) निर्दोष परमात्मा से कहे हुए परमागम के अभ्यास से उपाधि रहित स्वसवेदनज्ञान की चतुराई से आगमज्ञान में प्रवीण है, (विरागचरियम्हि अब्भुट्ठिदो) व्रत, समिति, गुप्ति आदि बाहरी चारित्र के साधन के वश से अपने शुद्धात्मा में निश्चल परिणमन रूप वीतरागचारित्र मे वर्तने के द्वारा परम वीतरागचारित्र में भले प्रकार उद्यमी है तथा (महप्पा) मोक्ष रूप महा पुरुषार्थ को साधने के कारण महात्मा है वही (धम्मो त्ति विसेसिदो) जीना, मरना, लाभ, अलाभ आदि मे समता की भावना में परिणमन करने वाला श्रमण ही अभेदनय से मोह क्षोभ रहित आत्मा का परिणामरूप निश्चयधर्म कहा गया है ॥९२॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथैवभूतनिश्चयरत्नत्रयपरिणतमहातपोधनस्य योऽसौ भक्ति करोति तस्य फल दर्शयति—

जो तं दिट्ठा तुट्ठो अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कारं।
वंदणणमंसणादिहि तत्तो सो धम्ममादियदि ॥९२-१॥

जो तं दिठ्ठा तुट्ठो यो भव्यवरपुण्डरीको निरुपरागशुद्धात्मोपलम्भलक्षणनिश्चयधर्मपरिणत पूर्वसूत्रोक्त मुनीश्वरं दृष्ट्वा तुष्टो निर्भरगुणानुरागेण सतुष्ट. सन्। किं करोति ? **अब्भुट्ठित्ता करेदि सक्कार** अभ्युत्थान कृत्वा मोक्षसाधकसम्यक्त्वादिगुणाना सत्कार प्रशसा करोति **वंदणणमसणादिहि तत्तो सो धम्ममादियदि** "तवसिद्धे णयसिद्धे" इत्यादि वदना भण्यते, नमोऽस्त्विति नमस्कारो भण्यते, तत्प्रभृतिभक्तिविशेषैः तस्माद्यतिवरात्स भव्यः पुण्यमादत्ते पुण्य गृह्णाति इत्यर्थ ॥९२-१॥

उत्थानिका—आगे ऐसे निश्चयरत्नत्रय मे परिणमन करने वाले महामुनि की जो कोई भक्ति करता है उसके फल को दिखाते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो तं दिट्ठा तुट्ठो) जो कोई भव्यों में प्रधान वीतराग शुद्धात्मा के अनुभवरूप निश्चयधर्म में परिणामने वाले सूत्र में कहे हुए मुनीश्वर को देखकर पूर्ण गुणों में अनुरागभाव से संतोषी होता हुआ (अब्भुट्ठित्ता) उठकर (वंदणणमंसणादिहि सक्कारं करेदि) "तव सिद्धे णयसिद्धे" इत्यादि वदना तथा "नमोस्तु" रूप नमस्कार इत्यादि भक्ति विशेषों के द्वारा सत्कार या प्रशंसा करता है (सो तत्तो धम्ममादियदि) सो भव्य उस यतिवर के निमित्त से धर्म प्राप्त करता है ॥९२।१॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ तेन पुण्येन भवान्तरे किं फल भवतीति प्रतिपादयति—

तेण णरा व तिरिच्छा देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा।
विहविस्सरियेहिं सया सपुण्णमणोरहा होंति ॥६२-२॥

तेण णरा व तिरिच्छा तेन पूर्वोक्तपुण्येनात्र वर्तमानभवे नरा वा तिर्यञ्चो **वा देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा** भवान्तरे देवी वा मानुषी वा गतिं प्राप्य **विहविस्सरियेहिं सया संपुण्णमणोरहा होंति** राजाधिराजरूपलावण्यसौभाग्यपुत्रकलत्रादिपरिपूर्णविभूतिर्विभवो भण्यते, आज्ञाफलमैश्वर्यं भण्यते, ताभ्यां विभवैश्वर्याभ्यां सपूर्णमनोरथा भवन्तीति। तदेव पुण्य भोगादिनिदानरहितत्वेन यदि सम्यक्त्वपूर्वक भवति तर्हि तेन परम्परया मोक्षं लभन्त इति भावार्थ. ॥६२-२॥

इति श्रीजयसेनाचार्यकृतायां तात्पर्यवृत्तौ पूर्वोक्तप्रकारेण "एस सुरासुरमणुसिंदवंदियं" इतीमां गाथामादिं कृत्वा द्वासप्ततिगाथाभि शुद्धोपयोगाधिकार., तदनन्तरं "देवजदिगुरुपूजासु" इत्यादि पञ्चविंशतिगाथाभिर्ज्ञानकण्ठिकाचतुष्टयाभिधानो द्वितीयोऽधिकारः ततश्च "सत्तासंबद्धे" इत्यादि सम्यक्त्वकथनरूपेण प्रथमा गाथा, रत्नत्रयाधारपुरुषस्य धर्मं सम्भवतीति "जो णिहदमोहदिट्ठी" इत्यादि द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयम्, तस्य निश्चयधर्मसंज्ञतपोधनस्य योऽसौ भक्तिं करोति तत्फलकथनेन "जो तं दिट्ठा" इत्यादि गाथाद्वयम्। इत्यधिकार—द्वयेन पृथग्भूतगाथाचतुष्टयसहितेनैकोत्तरशतगाथाभि—र्ज्ञानतत्त्वप्रतिपादक-नामा प्रथमो महाधिकार. समाप्तः ॥१॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि उस पुण्य से परभव मे क्या फल होता है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(तेण) **उस पूर्व में कहे हुए पुण्य से (णरा वा तिरिच्छा) वर्तमान के मनुष्य या तिर्यंच (देविं वा माणुसिं गदिं पप्पा) मरकर अन्यभव मे देव या मनुष्य की गति को पाकर (विहविस्सरियेहिं सया सपुण्णमणोरहा होंति) राजाधिराज-सम्बन्धी रूप,** सुन्दरता, सौभाग्य, पुत्र, स्त्री आदि से **पूर्ण विभूति तथा आज्ञारूप ऐश्वर्य से सफल मनोरथ होते हैं। वही पुण्य यदि भोगों के निदान बिना सम्यक्दर्शन पूर्वक होता है तो उस पुण्य से परम्परा मोक्ष की प्राप्ति होती है। यह भावार्थ है ॥६२।२॥**

इस प्रकार श्री जयसेनाचार्य कृत तात्पर्य-वृत्ति टीका मे पूर्व में कहे प्रमाण "एस सुरासुरमणुसिंदवंदियं" इस गाथा को आदि लेकर ७२ (बहत्तर) गाथाओ में शुद्धोपयोग का अधिकार है, फिर "देवदजदि गुरु पूजासु" इत्यादि पच्चीस गाथाओं से ज्ञानकंठिका चतुष्टय नाम का दूसरा अधिकार है फिर "सत्तासंबद्धेदे" इत्यादि सम्यक्दर्शन का कथन करते हुए प्रथम गाथा, तथा रत्नत्रय के धारी पुरुष के ही धर्म सम्भव है, ऐसा कहते हुए "जो णिहदमोहदिट्ठी' इत्यादि दूसरी गाथा है, इस तरह दो स्वतन्त्र गाथाएं है। उस निश्चयधर्मधारी तपस्वी की जो कोई भक्ति करता है उसका फल कहते हुए "जो तं दिट्ठा" इस तरह दो अधिकारों से व पृथक् चार गाथाओं से, सब एक-सौ-एक गाथाओं से यह ज्ञानतत्त्वप्रतिपादक नामक प्रथम अधिकार समाप्त।

卐

ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन

२

अथ ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनं, तत्र पदार्थस्य सम्यग्द्रव्यगुणपर्यायस्वरूपमुपवर्णयति—

अत्थो खलु दव्वमओ दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि ।
तेहिं पुणो पज्जाया पज्जयमूढा हि परसमया ।।९३।।

अर्थः खलु द्रव्यमयो द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि ।
तैस्तु पुनः पर्यायाः पर्ययमूढा हि परसमयाः ।।९३।।

इह किल यः कश्चन परिच्छिद्यमानः पदार्थः स सर्व एव विस्तारायतसामान्यसमुदायात्मना द्रव्येणाभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यमयः । द्रव्याणि तु पुनरेकाश्रयविस्तारविशेषात्मकैर्गुणैरभिनिर्वृत्तत्वाद्गुणात्मकानि । पर्यायास्तु पुनरायतविशेषात्मका उक्तलक्षणैर्द्रव्यैरपि गुणैरप्यभिनिर्वृत्तत्वाद्द्रव्यात्मका अपि गुणात्मका अपि । तत्रानेकद्रव्यात्मकैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो द्रव्यपर्यायः । स द्विविधः, समानजातीयोऽसमानजातीयश्च । तत्र समानजातीयो नाम यथा अनेकपुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुक इत्यादि, असमानजातीयो नाम यथा जीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यादि । गुणद्वारेणायतानैक्यप्रतिपत्तिनिबन्धनो गुणपर्यायः । सोऽपि द्विविधः स्वभावपर्यायो विभावपर्यायश्च । तत्र स्वभावपर्यायो नाम समस्तद्रव्याणामात्मीयात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः, विभावपर्यायो नाम रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिः । अथेदं दृष्टान्तेन द्रढयति—यथैव हि सर्व एव पटोऽवस्थायिना विस्तारसामान्यसमुदायेनाभिधावताऽऽयतसामान्यसमुदायेन चाभिनिर्वर्त्यमानस्तन्मय एव, तथैव हि सर्व एव पदार्थोऽवस्थायिना विस्तारसामान्यसमुदायेनाभिधावताऽऽयतसामान्यसमुदायेन च द्रव्यनाम्नाभिनिर्वर्त्यमानो द्रव्यमय एव । यथैव च पटेऽवस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा गुणैरभिनिर्वर्त्यमानो गुणेभ्यः पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव । तथैव च पदार्थेष्ववस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा द्रव्यनामा गुणैरभिनिर्वर्त्यमानो गुणेभ्यः पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव । तथैव च पदार्थेष्ववस्थायी विस्तारसामान्यसमुदायोऽभिधावन्नायतसामान्यसमुदायो वा द्रव्यनामा गुणैरभिनिर्वर्त्यमानो गुणेभ्यः पृथगनुपलम्भाद्गुणात्मक एव ।

यथैव चानेकपटात्मको द्विपटिका त्रिपटिकेति समानजातीयो द्रव्यपर्यायः, तथैव चानेकपुद्गलात्मको द्व्यणुकस्त्र्यणुक इति समानजातीयो द्रव्यपर्यायः। यथैव चानेककौशेयककार्पाससमयपटात्मको द्विपटिकात्रिपटिकेत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्यायः, तथैव चानेकजीवपुद्गलात्मको देवो मनुष्य इत्यसमानजातीयो द्रव्यपर्यायः। यथैव च क्वचित्पटे स्थूलात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण कालक्रमवृत्तेन नानाविधेन परिणमन्नानात्वप्रतिपत्तिर्गुणात्मकः स्वभावपर्यायः, तथैव च समस्तेष्वपि द्रव्येषु सूक्ष्मात्मीयागुरुलघुगुणद्वारेण प्रतिसमयसमुदीयमानषट्स्थानपतितवृद्धिहानिनानात्वानुभूतिः गुणात्मकः स्वभावपर्यायः। यथैव च पटे रूपादीनां स्वपरप्रत्ययप्रवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिर्गुणात्मको विभावपर्याय, तथैव च समस्तेष्वपि द्रव्येषु रूपादीनां ज्ञानादीनां वा स्वपरप्रत्ययप्रवर्तमानपूर्वोत्तरावस्थावतीर्णतारतम्योपदर्शितस्वभावविशेषानेकत्वापत्तिर्गुणात्मकोविभावपर्यायः इयं हि सर्वपदार्थानां द्रव्यगुणपर्यायस्वभावप्रकाशिका पारमेश्वरी व्यवस्था साधीयसी, न पुनरितरा। यतो हि बहवोऽपि पर्यायमात्रमेवावलम्ब्य तत्त्वाप्रतिपत्तिलक्षणं मोहमुपगच्छन्तः परसमया भवन्ति ॥९३॥

भूमिका—अब ज्ञेयतत्त्व का प्रज्ञापन करते हैं, अर्थात् ज्ञेयतत्त्व बतलाते हैं। उसमें (प्रथम ही) पदार्थ के द्रव्यगुणपर्याय के सम्यक् (यथार्थ) स्वरूप का वर्णन करते हैः—

अन्वयार्थ—[अर्थ खलु] पदार्थ वास्तव मे [द्रव्यमय] द्रव्यस्वरूप है, [द्रव्याणि] द्रव्य [गुणात्मकानि] गुणात्मक [भणितानि] कहे गये है, [तै तु पुन] और द्रव्य तथा गुणो से [पर्याया] पर्याय होती है। [पर्यायमूढा हि] पर्यायमूढ जीव [परसमया] परसमय [मिथ्यादृष्टि) है।

टीका—इस विश्व मे वास्तव मे जो कोई जानने मे आने वाला पदार्थ है, वह समस्त ही विस्तारसामान्यसमुदायात्मक (गुणात्मक अर्थात् गुणो का समूह) और आयतसामान्यसमुदायात्मक (क्रमभावी पर्यायात्मक-पर्यायो का समूह) द्रव्य से रचित होने से द्रव्यमय है अर्थात् द्रव्य है और द्रव्य एक जिनका आश्रय है ऐसे विस्तार विशेष स्वरूप गुणों से रचित होने से, गुणात्मक है।

पर्यायें जो कि आयतविशेष स्वरूप हैं, जिनके लक्षण (ऊपर) कहे गये हैं ऐसे द्रव्यों से, तथा जिनके लक्षण ऊपर कहे गये ऐसे गुणों से रचित होने से—द्रव्यात्मक भी हैं तथा गुणात्मक भी हैं। उनमें, अनेक द्रव्यात्मक एकता की प्रतिपत्ति की (ज्ञान कराने की) कारणभूत द्रव्यपर्याय है। वह दो प्रकार है। (१) समानजातीय (२) असमानजातीय।

उसमे (१) समानजातीय वह है,—जैसे कि अनेक पुद्गलात्मक द्वयणुक त्र्यणुक इत्यादि (२) असमानजातीय वह है, जैसे कि जीव पुद्गलात्मक देव, मनुष्य इत्यादि। गुण द्वारा आयतरूप अनेकता की प्रतिपत्ति की कारणभूत गुणपर्याय है। वह भी दो प्रकार है। (१) स्वभावप्रर्याय, (२) विभावपर्याय। उसमें, समस्त द्रव्यों के अपने-अपने अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होने वाली षट्स्थानपतित हानि—वृद्धि रूप अनेकतत्व की अनुभूति स्वभावपर्याय है, रूपादि के या ज्ञानादि के स्व पर के कारण *प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्था में होने वाले तारतम्य के कारण देखने मे आने वाले स्वभाव विशेषरूप अनेकत्व से आ पड़ने वाली विभावपर्याय है।

अब यह (पूर्वोक्त) कथन को दृष्टान्त से दृढ करते हैं जैसे सम्पूर्ण पट अवस्थायी (स्थिर) विस्तार सामान्य समुदाय से (चौड़ाई से) और दौड़ते (बहते, प्रवाह रूप काल-क्रम से चलते हुये) आयत सामान्य समुदाय से (लम्बाई से) रचित होता हुआ तन्मय ही है, इसी प्रकार सब ही पदार्थ 'द्रव्य' नामक अवस्थायी विस्तार सामान्य समुदाय से और दौड़ते हुये आयत सामान्य समुदाय से रचित होता हुआ द्रव्यमय ही है। और जैसे पट मे, अवस्थायी विस्तार सामान्य समुदाय या दौड़ते हुये आयत सामान्यसमुदाय (रूप पट) गुणों से रचित होता हुआ गुणों से पृथक् नहीं प्राप्त होने से गुणात्मक ही है, उसही प्रकार से पदार्थों में, अवस्थायी विस्तार सामान्य समुदाय या दौड़ता हुआ आयत सामान्य समुदाय जिसका नाम 'द्रव्य' है वह—गुणों से रचित होता हुआ गुणो से पृथक् नहीं प्राप्त होने से गुणात्मक ही है। और जैसे अनेक पटात्मक (एक से अधिक वस्त्रो से निर्मित) द्विपटिक, +त्रिपटिक समानजातीय द्रव्य-पर्याय है, उसी प्रकार अनेक पुद्गलात्मक द्वि-अणुक, त्रिअणुक आदि समानजातीय द्रव्यपर्याय है और जैसे अनेक रेशमी और सूती पटों के बने हुए द्विपटिक, त्रिपटिक ऐसी असमानजातीय द्रव्यपर्याय है, उसी प्रकार अनेक जीव पुद्गलात्मक देव, मनुष्य ऐसी असमानजातीय द्रव्य पर्याय है। जैसे कभी पट में अपने स्थूल अगुरुलघुगुण द्वारा कालक्रम से प्रवर्तमान अनेक प्रकार रूप से परिणमित होने के कारण अनेकत्व की प्रतिपत्ति रूप गुणात्मक स्वभावपर्याय है। उसी प्रकार समस्त द्रव्यों मे अपने

*—स्व उपादान और पर निमित्त है। + —द्विपटिक-दो थानो को जोडकर (सीकर) बनाया गया एक वस्त्र (यदि दोनो थान एक ही जाति के हो तो समानजातीय द्रव्यपर्याय कहलाता है, और यदि दो थानभिन्न जाति के हो(जैसे एक रेशमी और दूसरा सूती) तो असमान जातीय द्रव्यप्रर्याय कहलाता है।

अपने सूक्ष्म अगुरुलघुगुण द्वारा प्रतिसमय प्रगट होने वाली षट्स्थानपतित हानि-वृद्धिरूप अनेकत्व की अनुभूति रूप (नाना-पनका ज्ञान कराने वाली) गुणात्मक स्वभावपर्याय है, और जैसे पट मे स्व-पर के कारण रूपादिक के प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्था में होने वाले तारतम्य से दिखलाये हुये स्वभाव विशेष अनेकपने से आ पड़ने रूप गुणात्मक विभावपर्याय है, उसी प्रकार समस्त द्रव्यो मे रूपादि के या ज्ञानादि के स्व-पर के कारण प्रवर्तमान पूर्वोत्तर अवस्था में होने वाले तारतम्य से दिखलाये हुये स्वभाव विशेष से अनेकपने से आ पड़ने रूप गुणात्मक विभाव-पर्याय है। वास्तव मे यह सर्व पदार्थों के द्रव्यगुण पर्याय स्वभाव की प्रकाशक पारमेश्वरी व्यवस्था भली उत्तम-पूर्ण-योग्य है, अन्य कोई नहीं, क्योंकि बहुत से (जीव) पर्याय मात्र ही अवलम्बन करके तत्त्व की अप्रतिपत्ति जिसका लक्षण है, ऐसे मोह को प्राप्त होते हुए परसमय (मिथ्या-दृष्टि) होते है ॥९३॥

तात्पर्यवृत्ति

इत ऊर्ध्वं "**सत्तासबद्धे दे**" इत्यादि गाथासूत्रेण पूर्वं सक्षेपेण यद्व्याख्यात सम्यग्दर्शन तस्येदानी विषयभूतपदार्थव्याख्यानद्वारेण त्रयोदशाधिकशतप्रमितगाथापर्यन्त विस्तरव्याख्यान करोति। अथवा द्वितीयपातनिका-पूर्वं यद्व्याख्यात ज्ञान तस्य ज्ञेयभूतपदार्थान् कथयति। तत्र त्रयोदशाधिकशतगाथासु मध्ये प्रथमस्तावत् "**तम्हा तस्स णमाइ**" इमा गाथामादिं कृत्वा पाठक्रमेण पञ्चत्रिंशद्गाथापर्यन्त सामान्यज्ञेयव्याख्यान, तदनन्तर "**दव्व जीवमजीव**" इत्याद्येकोनविंशतिगाथापर्यन्त विशेषज्ञेयव्याख्यान, अथानन्तर "**सपदेसेहि समग्गो लोगो**" इत्यादि गाथाष्टकपर्यन्त सामान्यभेदभावना, ततश्च "**अत्थि-त्तणिच्छिदस्स हि**" इत्याद्येकपञ्चाशद्गाथापर्यन्त विशेषभेदभावना चेति, द्वितीयमहाधिकारे समुदायपातनिका।

अथेदानी सामान्यज्ञेयव्याख्यानमध्ये प्रथमा नमस्कारगाथा, द्वितीया द्रव्यगुणपर्यायव्याख्यान-गाथा, तृतीया स्वसमयपरसमयनिरूपणगाथा, चतुर्थी द्रव्यस्य सत्तादिलक्षणत्रयसूचनगाथा चेति पीठि-काभिधाने प्रथमस्थले स्वतन्त्रगाथाचतुष्टय। तदनन्तर '**सब्भावो हि सहावो**" इत्यादिगाथाचतुष्टय-पर्यन्त सत्तालक्षणव्याख्यानमुख्यत्व, तदनन्तर "**ण भवो भगविहिणो**" इत्यादिगाथात्रयपर्यन्तमुत्पा-दव्ययध्रौव्यलक्षणकथनमुख्यता, ततश्च "पाडुब्भवदि य अण्णो" इत्यादि गाथाद्वयेन द्रव्यपर्याय—निरूपणमुख्यता। अथानन्तर "**ण हवदि जदि सद्दव्व**" इत्यादि गाथाचतुष्टयेन सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये युक्तिं कथयति, तदनन्तर '**जो खलु दव्वसहावो**' इत्यादि सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिकथनेन प्रथम गाथा, द्रव्येण सह गुणपर्याययोरभेदमुख्यत्वेन 'णत्थि गुणोत्ति य कोई' इत्यादि द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वय, तदनन्तर द्रव्यस्य द्रव्यार्थिकनयेन सदुत्पादो भवति, पर्यायार्थिकनयेनासदित्यादिकथनरूपेण 'एवविह' इतिप्रभृति गाथाचतुष्टय, ततश्च 'अत्थित्ति य' इत्याद्येकसूत्रेण नयसप्तभङ्गीव्याख्यानमिति समुदायेन चतुर्विंशतिगाथाभिरष्टभि स्थलैर्द्रव्यनिर्णय करोति। तद्यथा—अथ सम्यक्त्व कथयति—

तम्हा तस्स णमाइं किच्चा णिच्चंपि तम्मणो होज्जं ।
वोच्छामि संगहादो परमट्ठविणिच्छयाधिगमं ॥

तम्हा तस्स णमाइ किच्चा यस्मात्सम्यक्त्वं विना श्रमणो न भवति तस्मात्कारणात्तस्य सम्यक्चारित्रयुक्तस्य पूर्वोक्ततपोधनस्य नमस्या नमस्क्रिया नमस्कार कृत्वा **णिच्च पि तम्मणो होज्जं** नित्यमपि तद्गतमना भूत्वा **वोच्छामि** वक्ष्याम्यहं कर्ता **संगहादो** संग्रहात्संक्षेपात्सकाशात् । किं ? **परमट्ठविणिच्छयाधिगमं** परमार्थविनिश्चयाधिगम सम्यक्त्वमिति परमार्थविनिश्चयाधिगमशब्देन सम्यक्त्वं कथं भण्यत इति चेत्—परमोऽर्थः परमार्थः शुद्धबुद्धैकस्वभाव परमात्मा, परमार्थस्य विशेषेण संशयादिरहितत्वेन निश्चय. परमार्थनिश्चियरूपोऽधिगम शङ्काद्यष्टदोषरहितश्च यः परमार्थतोऽर्थावबोधो यस्मात्सम्यक्त्वात्तत् परमार्थविनिश्चयाधिगम । अथवा परमार्थविनिश्चयोऽनेकान्तात्मकपदार्थसमूहस्तस्याधिगमो यस्मादिति ।

अथ पदार्थस्य द्रव्यगुणपर्यायस्वरूप निरूपयति—

अत्थो खलु दव्वमओ अर्थो ज्ञानविषयभूतः पदार्थं खलु स्फुट द्रव्यमयो भवति । कस्मात् ? तिर्यक्सामान्योर्द्ध्वतासामान्यलक्षणेन द्रव्येण निष्पन्नत्वात् । तिर्यक्सामान्योर्द्ध्वतासामान्यलक्षण कथ्यते—एककाले नानाव्यक्तिगतोन्वयस्तिर्यक्सामान्य भण्यते, तत्र दृष्टान्तो यथा—नानासिद्धजीवेषु सिद्धोऽयमित्यनुगताकारः सिद्धजातिप्रत्यय. । नानाकालेष्वेकव्यक्तिगतोन्वय ऊर्ध्वतासामान्य भण्यते । तत्र दृष्टान्तः यथा—य एव केवलज्ञानोत्पत्तिक्षणे मुक्तात्मा द्वितीयादिक्षणेष्वपि स एवेतिप्रतीतिः, अथवा नाना गोशरीरेषु गौरय गौरयमिति गोजातिप्रतीतिस्तिर्यक्सामान्य । यथैव चैकस्मिन् पुरुषे बालकुमाराद्यवस्थासु स एवाय देवदत्त इतिप्रत्यय ऊर्ध्वतासामान्यम् ।

दव्वाणि गुणप्पगाणि भणिदाणि द्रव्याणि गुणात्मकानि भणितानि, अन्वयिनो गुणा अथवा सहभुवो गुणा इति गुणलक्षण । यथा अनन्तज्ञानसुखादिविशेषगुणेभ्यस्तथैवागुरुलघुकादिसामान्यगुणेभ्यश्चाभिन्नत्वाद्गुणात्मक भवति सिद्धजीवद्रव्य, तथैव स्वकीयविशेषसामान्यगुणेभ्य. सकाशादभिन्नत्वात् सर्वद्रव्याणि गुणात्मकानि भवन्ति । **तेहिं पुणो पज्जाया** तै पूर्वोक्तलक्षणैर्द्रव्यगुणैश्च पर्याया भवन्ति, व्यतिरेकिणः पर्याया, अथवा क्रमभुव पर्याया इति पर्यायलक्षण । यथैकस्मिन् मुक्तात्मद्रव्ये किञ्चिदूनचरमशरीराकारगतिमार्गणाविलक्षण सिद्धगतिपर्याय तथागुरुलघुकगुणषड्वृद्धिहानिरूपा साधारणस्वभावगुणपर्यायाश्च, तथा सर्वद्रव्येषु स्वभावद्रव्यपर्याया स्वजातीयविभावद्रव्यपर्यायाश्च, तथैव स्वभावविभावगुणपर्यायाश्च "जेसिं अत्थसहाओ" इत्यादिगाथाया, तथैव "भावा जीवादीया" इत्यादिगाथायां च पञ्चास्तिकाये पूर्वं कथितक्रमेण यथासंभव ज्ञातव्या **पज्जयमूढा हि परसमया** यस्मादित्थंभूतद्रव्यगुणपर्यायपरिज्ञानमूढा अथवा नरकादिपर्यायरूपो न भवाम्यहमिति भेदविज्ञानमूढाश्च परसमया मिथ्यादृष्टयो भवन्तीति । तस्मादियं पारमेश्वरी द्रव्यगुणपर्यायव्याख्या समीचीना भद्रा भवतीत्यभिप्रायः ॥९३॥

पूर्व पीठिका—आगे इस द्वितीय अधिकार की सूची लिखते हैं—

इसके आगे "सत्ता सबद्धेदे" इत्यादि गाथा सूत्र से जो पूर्व मे सक्षेप से सम्यग्दर्शन का व्याख्यान किया था, उसी को यहाँ विषयभूत पदार्थों के व्याख्यान के द्वारा एकसौ तेरह गाथाओ मे विस्तार से व्याख्यान करते है। अथवा दूसरी पातनिका यह है कि पूर्व मे जिस ज्ञान का व्याख्यान किया था उसी ज्ञान के द्वारा जानने योग्य पदार्थों को अब कहते है। यहा इन एकसौ तेरह गाथाओ के मध्य मे पहले ही "तम्हा तस्स णमाइ" इस गाथा को आदि लेकर पाठ के क्रम से पैंतीस गाथाओ तक सामान्य ज्ञेय पदार्थ का व्याख्यान है। उसके पीछे "दव्व जीवमजीव" इत्यादि उन्नीस गाथाओ तक विशेष ज्ञेय पदार्थ का व्याख्यान है। उसके पीछे "सपदेसेहिं समग्गो लोगो" इत्यादि आठ गाथाओं तक सामान्य भेद की भावना है फिर "अत्थित्तणिच्छिदस्स हि" इत्यादि इक्यावन गाथाओ तक विशेष भेद की भावना है। इस तरह इस दूसरे अधिकार मे समुदाय पातनिका है।

अब यहाँ सामान्य ज्ञेय के व्याख्यान मे पहले ही नमस्कार गाथा है फिर द्रव्य गुण पर्याय की व्याख्यान गाथा है। तीसरी स्वसमय परसमय को कहने वाली गाथा है। चौथी द्रव्य की सत्ता आदि तीन लक्षणो को सूचना करने वाली गाथा है, इस तरह पीठिका नाम के पहले स्थल मे स्वतन्त्र रूप से गाथाये चार है। उसके पीछे "सब्भावो हि सहावो" इत्यादि चार गाथाओ तक सत्ता के लक्षण के व्याख्यान की मुख्यता है फिर "ण भवो भगविहीणो" इत्यादि तीन गाथाओ तक उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षण के कथन की मुख्यता है फिर "पाडुब्भवदि य अण्णो" इत्यादि दो गाथाओ से द्रव्य की पर्याय के निरूपण की मुख्यता है। फिर "ण हवदि जदि सद्दव्व" इत्यादि चार गाथाओ से सत्ता और द्रव्य का अभेद है इस सम्बन्ध मे युक्ति को कहते है। फिर "जो खलु दव्वसहाओ" इत्यादि सत्ता और द्रव्य मे गुण गुणी सम्बन्ध है ऐसा कहते हुए पहली गाथा, द्रव्य के साथ गुण और पर्यायो का अभेद है इस मुख्यता से "णत्थि गुणोत्ति य कोई" इत्यादि दूसरी ऐसी दो स्वतन्त्र गाथाए है। फिर द्रव्य का द्रव्यार्थिकनय से सत् का उत्पाद होता है इत्यादि कथन करते हुए "एव विह" इत्यादि गाथाए चार है। फिर "अत्थित्ति य" इत्यादि एक सूत्र से सप्तभंगी का व्याख्यान है। इस तरह समुदाय से चौबीस गाथाओ से और आठ स्थलो से द्रव्य का निर्णय करते है।

अब आगे सम्यक्त्व को कहते है—

क्योकि सम्यग्दर्शन के बिना साधु नही होता है (तम्हा) इस कारण से (तस्स) उस सम्यक्त्व सहित सम्यक्चारित्र से युक्त पूर्व मे कहे हुए साधु को (णमाइ किच्चा) नमस्कार करके (णिच्चवि तं मणो होज्ज) तथा नित्य ही उन साधुओ मे मन को धारण करके (परमट्ठविणिच्छयाधिगम) परमार्थ जो एक शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप परमात्मा है उसको विशेष करके सशय आदि से रहित निश्चय कराने वाले सम्यक्त्व को अर्थात् जिस सम्यक्त्व से शका आदि आठ दोष रहित वास्तव मे जो अर्थ का ज्ञान होता है उस सम्यक्त्व को अथवा अनेक धर्मरूप पदार्थ–समूह का अधिगम जिससे होता है ऐसे कथन को (सगहादो) सक्षेप से (वोच्छामि) कहूगा ।

उत्थानिका— आगे पदार्थ के द्रव्य गुण पर्याय स्वरूप को कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(खलु) निश्चय से (अत्थो) ज्ञान का विषयभूत पदार्थ (दव्वमओ) द्रव्यमय होता है । क्योकि वह पदार्थ तिर्यक्–सामान्य तथा ऊर्ध्वता सामान्यमय द्रव्य से निष्पन्न होता है अर्थात् उसमें तिर्यक् सामान्य और ऊर्ध्वता सामान्य रूप द्रव्य का लक्षण पाया जाता है । इन दो प्रकार के सामान्य का स्वरूप ऐसा है–एक ही समय मे नाना व्यक्तियों में पाया जाने वाला जो अन्वय उसको तिर्यक् सामान्य कहते हैं । यहाँ यह दृष्टांत है कि जैसे नाना प्रकार सिद्ध जीवों मे यह सिद्ध हैं, ऐसा जोड़ रूप एक तरह के स्वभाव को रखने वाला सिद्धकी जाति का विश्वास है—इस एक जातिपने को तिर्यक् सामान्य कहते हैं तथा भिन्न-भिन्न समयों मे एक ही व्यक्ति का एक तरह का ज्ञान होना सो ऊर्ध्वता सामान्य कहा जाता है । यहाँ यह दृष्टांत है कि जैसे जो कोई केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय मुक्तात्मा है दूसरे तीसरे आदि समयों से भी वही है, ऐसी प्रतीति होना सो ऊर्ध्वता सामान्य है । अथवा दोनों सामान्य के दो दूसरे दृष्टांत है—जैसे नाना गौके शरीरों में यह गौ है, यह गौ है ऐसी गो–जाति की प्रतीति होना सो तिर्यक्सामान्य है । तथा जो कोई पुरुष बाल, कुमारादि अवस्थाओं में था सो ही यह देवदत्त है, ऐसा विश्वास सो ऊर्ध्वता सामान्य है ।

(दव्वाणि) द्रव्य सब (गुणप्पगाणि) गुणमयी (भणिदाणि) कहे गए हैं । जो द्रव्य के साथ अन्वयरूप रहें अर्थात् उसके साथ-साथ वर्तें वे गुण होते हैं–ऐसा गुण का लक्षण है । जैसे सिद्ध जीव द्रव्य है, सो अनन्तज्ञान सुख आदि विशेष गुणों से तथा अगुरुलघुक आदि सामान्यगुणों से अभिन्न हैं अर्थात् ये सामान्य विशेष गुण सिद्ध आत्मा के साथ

सदा पाए जाते हैं, तैसे ही सर्व द्रव्य अपने-अपने सामान्य विशेष गुणो से अभिन्न हैं, इसलिये सब द्रव्य गुणरूप होते है। (पुणो) तथा (तेहिं पज्जाया) उन्हीं पूर्व में कहे हुए लक्षण स्वरूप द्रव्य व गुणो से पर्यायें होती हैं जो एक दूसरे से भिन्न अथवा क्रम-क्रम से हों, उनको पर्याय कहते हैं, यह पर्याय का लक्षण है। जैसे एक सिद्ध भगवान्रूपी द्रव्य में अन्तिम शरीर से कुछ कम आकारमयी, गति मार्गणा से विलक्षण सिद्धगति रूप पर्यायें, है तथा अगुरुलघु गुण में षट्गुणी वृद्धि तथा हानिरूप साधारण स्वाभाविक गुण पर्यायें, स्वजातीय विभाव द्रव्य पर्यायें तैसे ही स्वाभाविक और वैभाविक गुण पर्यायें होती हैं।" "जेसिं अत्थिसहाओ" इत्यादि गाथा मे तथा "भावा जीवादीया" इत्यादि गाथा में श्री पंचास्तिकाय के भीतर पहले कथन किया गया है सो वहाँ से यथासम्भव जान लेना योग्य है। (पज्जय मूढा) जो इस प्रकार द्रव्य गुण पर्याय के ज्ञान से मूढ हैं अथवा मैं नारकी आदि पर्यायरूप सर्वथा नहीं हूँ इस भेदविज्ञान को अथवा अनेकान्त को न समझकर अज्ञानी हैं वे (हि) वास्तव मे (परसमया) परात्मवादी मिथ्यादृष्टी हैं। इसलिये यही जिनेन्द्र परमेश्वर की करी हुई समीचीन द्रव्यगुण पर्याय की व्याख्या कल्याणकारी है, यह अभिप्राय है ॥९३॥

अथानुषङ्गिकीमिमामेव स्वसमयपरसमयव्यवस्थां प्रतिष्ठाप्योपसंहरति—

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा [1]परसमइग त्ति णिद्दिट्ठा।
आदसहावम्मि ठिदा ते सगसमया [2]मुणेदव्वा ॥९४॥

ये पर्यायेषु निरता जीवा परसमयिका इति निर्दिष्टाः।
आत्मस्वभावे स्थितास्ते स्वकसमया ज्ञातव्याः ॥९४॥

ये खलु जीवपुद्गलात्मकमसमानजातीयद्रव्यपर्यायं सकलाविद्यानामेकमूलमुपगता यथोदितात्मस्वभावसंभावनक्लीबास्तस्मिन्नेवाशक्तिमुपव्रजन्ति, ते खलूच्छलितनिरर्गलैकान्तदृष्टयो मनुष्य एवाहमेष ममैवैतन्मनुष्यशरीरमित्यहङ्कारममकाराभ्यां विप्रलभ्यमाना अविचलितचेतनाविलासमात्रादात्मव्यवहारात् प्रच्युत्य क्रोडीकृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमाश्रित्य रज्यन्तो द्विषन्तश्च परद्रव्येण कर्मणा संगतत्वात्परसमया जायन्ते। ये तु पुनरसंकीर्णद्रव्यगुणपर्यायसुस्थितं भगवंतमात्मनः स्वभावं सकलविद्यानामेकमूलमुपगम्य यथोदितात्मस्वभावसंभावनसमर्थतया पर्यायमात्राशक्तिमत्यस्यात्मनः स्वभाव एव स्थितिमासूत्रयन्ति, ते खलु सहजविजृम्भितानेकान्तदृष्टिप्रक्षपितसमस्तैकान्तदृष्टिपरिग्रहग्रहां

१ परसमयिग त्ति। २ मुणेयव्वा (ज० वृ०)।

मनुष्यादिगतिषु तद्विग्रहेषु चाविहिताहङ्कारममकारा अनेकापवरकसंचारितरत्नप्रदीपमिवै-करूपमेवात्मानमुपलभमाना, अविचलितचेतनाविलासमात्रमात्मव्यवहारमुररीकृत्य क्रोडी-कृतसमस्तक्रियाकुटुम्बकं मनुष्यव्यवहारमनाश्रयन्तो विश्रान्तरागद्वेषोन्मेषतया परममौदासी-न्यमवलम्बमाना निरस्तसमस्तपरद्रव्यसंगतितया स्वद्रव्येणैव केवलेन संगतत्वात्स्वसमया जायन्ते । अतः स्वसमय एवात्मनस्तत्त्वम् ॥९४॥

भूमिका—अब आनुषंगिक ऐसी यह ही स्वसमय-परसमय की व्यवस्था (भेद) निश्चित करके (उसका) उपसंहार करते हैं—

अन्वयार्थ—[ये जीवाः] जो जीव [पर्यायेषु निरताः] (विभाव) पर्यायो मे लीन है [परसमयिकाः इति निर्दिष्टाः] उन्हे पर-समय कहा गया है [आत्मस्वभावे स्थिताः] जो जीव आत्मस्वभाव मे स्थित है [ते] वे [स्वकसमयाः ज्ञातव्याः] स्व-समय जानने योग्य हैं।

टीका—जो (१) जीव पुद्गलात्मक असमानजातीय द्रव्य पर्याय का, जो सकल अविद्याओं की (मिथ्या-ज्ञान की) एक जड़ है, आश्रय करते हैं (२) यथोक्त आत्म स्वभाव की संभावना (अनुभव) करने मे नपुसक है, (३) उस (पर्याय) मे ही आसक्ति को प्राप्त हैं, वे (१) जिनकी निरर्गल एकान्तदृष्टि उछलती है, (२) 'यह मै मनुष्य ही हूँ, मेरा ही यह मनुष्य शरीर है' इस प्रकार अहंकार-ममकार से ठगाये हुए, (३) अविचलितचेतना-विलासमात्र आत्म व्यवहार से च्युत होकर, (४) जिसमें समस्त क्रिया-कलाप को छाती से लगाया जाता है ऐसे मनुष्य व्यवहार का आश्रय करके, (५) रागी-द्वेषी होते हुए, (६) पर-द्रव्यरूप कर्म के साथ संगति के कारण वास्तव में परसमय होते हैं (अर्थात् परसमयरूप परिणमित होते हैं।)

जो, असंकीर्ण पर से भिन्न द्रव्य गुण-पर्यायों से सुस्थित भगवान् आत्मा के स्वभाव का, जो सकल विद्याओं का एक मूल है, आश्रय करके, यथोक्त आत्मस्वभाव की संभावना में (अनुभव में) समर्थ होने से, पर्यायमात्र की आसक्ति को छोड़ करके, आत्मा के स्वभाव में ही स्थिति करते हैं (लीन होते हैं), वे (१) जिन्होंने सहज विकसित अनेकान्तदृष्टि से समस्त एकान्तदृष्टि के परिग्रह के आग्रह प्रक्षीण (नष्ट) कर दिये हैं, (२) मनुष्यादि गतियों में और उन गतियों के शरीरों में अहंकार–ममकार न करके, अनेक कक्षों (कमरों) में संचारित रत्नदीपक की भांति एकरूप ही आत्मा को उपलब्ध (अनुभव) करते हुये, (३) अविचलितचेतनाविलासमात्र आत्म व्यवहार को अंगीकार करके, (४) जिसमें समस्त

क्रिया-कलाप से भेट की जाती है ऐसे मनुष्य व्यवहार का आश्रय नहीं करते हुए, (५) राग-द्वेष की प्रगटता रुक जाने से, परम उदासीनता का आलंबन लेते हुये, (६) समस्त परद्रव्यों की संगति दूर कर देने से, मात्र स्वद्रव्य के साथ ही संगति होने से, वास्तव में स्वसमय होते हैं, अर्थात् स्वसमयरूप परिणमित होते हैं। इसलिये स्वसमय ही आत्मा का तत्व है। परसमय के कथन मे जो बात जिस नम्बर पर कही गई है, स्वसमय के कथन में उसके सापेक्ष नम्बर पर ठीक उसके विपरीत बात दिखलाई गई है। इसी बात का ध्यान दिलाने के लिये भाषा टीका में नम्बर डाले गये है ॥९४॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ प्रसगायाता परसमयस्वसमयव्यवस्था कथयति—

जे पज्जयेसु णिरदा जीवा ये पर्यायेषु निरता जीवा **परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा** ते परसमया इति निर्दिष्टा कथिता। तथाहि मनुष्यादिपर्यायरूपोऽहमित्यहङ्कारो भण्यते, मनुष्यादिशरीर तच्छरीराधारोत्पन्नपञ्चेन्द्रियविषयसुखस्वरूप च ममेति ममकारो भण्यते, ताभ्या परिणता: ममकाराहकाररहितपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतेश्च्युता ये ते कर्मोदयजनितपरपर्यायनिरतत्वात्परसमया मिथ्यादृष्टयो भण्यन्ते **आवसहावम्मि ठिदा** ये पुनरात्मस्वरूपे स्थितास्ते **सगसमया मुणेयव्वा** स्वसमया मन्तव्या ज्ञातव्या इति। तद्यथा—अनेकापवरकसचारितैकरत्नप्रदीप इवानेकशरीरेष्वप्येकोहमिति दृढसस्कारेण निजशुद्धात्मनि स्थिता ये ते कर्मोदयजनितपर्यायपरिणतिरहितत्वात्स्वसमया भवन्तीत्यर्थ ॥४९॥

उत्थानिका—आगे यहाँ प्रसग पाकर परसमय और स्वसमय की व्यवस्था बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जे जीवा) जो जीव (पज्जयेसु णिरदा) पर्यायों में लवलीन है। अर्थात् जिनको पर्याय के अतिरिक्त द्रव्य सामान्य का बोध नहीं है (परसमयिग त्ति णिद्दिट्ठा) परसमयरूप कहे गए हैं। विस्तार यह है कि मै मनुष्य, पशु, देव, नारकी इत्यादि पर्याय रूप ही हूँ, इस भाव को अहंकार कहते है। यह मनुष्य आदि शरीर तथा उस शरीर के आधार से उत्पन्न पचेन्द्रियो के विषय रूप सुख मेरे स्वभाव हैं इस भाव को ममकार कहते हैं। जो अज्ञानी ममकार और अहंकार से रहित परम चैतन्य चमत्कार की परिणति से अनभिज्ञ इन अहंकार ममकार भावों से परिणमन करते है, वे जीव कर्मों के उदय से उत्पन्न परपर्याय में सर्वथा लीन होने के कारण से परसमय कहे जाते हैं। (आवसहावम्मि ठिदा) जो ज्ञानी अपने आत्मा के स्वभाव मे ठहरे हुए है (ते सगसमया मुणेयव्वा) वे स्वसमयरूप जानने चाहिये। विस्तार यह है कि जैसे एक रत्न-दीपक अनेक प्रकार के घरो मे घुमाए जाने पर भी एक रत्न-रूप ही है, इसी तरह अनेक शरीरों में**

घूमते रहने पर भी मैं एक वही आत्मद्रव्य हूँ, इस तरह दृढ़ संस्कार के द्वारा जो अपने शुद्धात्मा में ठहरते हैं वे कर्मों के उदय से होने वाली मनुष्य पर्याय में परिणति से रहित अर्थात् रागद्वेष न करते हुए स्वसमयरूप होते हैं, ऐसा अर्थ है ।।९४।।

अथ द्रव्यलक्षणमुपलक्षयति—

[1]अपरिच्चत्तसहावेणुप्पादव्वयधुवत्तसंबद्धं[2] ।
गुणवं च सपज्जायं जं तं दव्वं[3] ति वुच्चंति ।।९५।।

अपरित्यक्तस्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसबद्धम् ।
गुणवच्च सपर्यायं यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवन्ति ।।९५।।

इह खलु यदनारब्धस्वभावभेदमुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेण गुणपर्यायद्वयेन च यल्लक्ष्यते तद्द्रव्यम् । तत्र द्रव्यस्य स्वभावोऽस्तित्वसामान्यान्वयः, अस्तित्वं हि वक्ष्यति द्विविधं, स्वरूपास्तित्वं सादृश्यास्तित्वं चेति । तत्रोत्पादः प्रादुर्भावः, व्ययः प्रच्यवनं, ध्रौव्यमवस्थितिः। गुणा विस्तारविशेषाः ते द्विविधाः सामान्यविशेषात्मकत्वात् । तत्रास्तित्वं नास्तित्वमेकत्वमन्यत्वं द्रव्यत्वं पर्यायत्वं सर्वगतत्वमसर्वगतत्वं सप्रदेशत्वमप्रदेशत्वं मूर्तत्वममूर्तत्वं सक्रियत्वमक्रियत्वं चेतनत्वमचेतनत्वं कर्तृत्वमकर्तृत्वं भोक्तृत्वमभोक्तृत्वमगुरुलघुत्वं चेत्यादयः सामान्यगुणाः । अवगाहहेतुत्वं गतिनिमित्तता स्थितिकारणत्वं वर्तनायतनत्वं रूपादिमत्ता चेतनत्वमित्यादयो विशेषगुणाः । पर्याया आयतविशेषाः, ते पूर्वमेवोक्ताश्चतुर्विधाः । न च तैरुत्पादादिभिर्गुणपर्यायैर्वा सह द्रव्यं लक्ष्यलक्षणभेदेऽपि स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव द्रव्यस्य तथाविधत्वादुत्तरीयवत् । यथा खलूत्तरीयमुपात्तमलिनावस्थं प्रक्षालितममलावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । द्रव्यमपि समुपात्तप्राक्तनावस्थं समुचितबहिरङ्गसाधनसन्निधिसद्भावे विचित्रबहुतरावस्थानं स्वरूपकर्तृकरणसामर्थ्यस्वभावेनान्तरङ्गसाधनतामुपागतेनानुग्रहीतमुत्तरावस्थयोत्पद्यमानं तेनोत्पादेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथा च तदेवोत्तरीयममलावस्थयोत्पद्यमानं मलिनावस्थया व्ययमानं तेन व्ययेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथा तदेव द्रव्यमप्युत्तरावस्थयोत्पद्यमानं प्राक्तनावस्थया व्ययमानं तेन व्ययेन लक्ष्यते । न च तेन सह स्वपररूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । यथैव च तदेवोत्तरीयमेककालममलावस्थयोत्पद्यमानं मलिनावस्थया व्ययमानम-

१ अपरिच्चत्तसहाव (ज० वृ०) । २ सजुत्त (ज० वृ०) । ३ दव्व त्ति (ज० वृ०) ।

वस्थायिन्योत्तरीयत्वावस्थया ध्रौव्यमालम्बमानं ध्रौव्येण लक्ष्यते। न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। तथैव तदेव द्रव्यमप्येककालमुत्तरावस्थयोत्पद्यमानं प्राक्तनावस्थया व्ययमानमवस्थायिन्या द्रव्यत्वावस्थया ध्रौव्यमालम्बमानं ध्रौव्येण लक्ष्यते न च तेन सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। यथैव च तदेवोत्तरीयं विस्तारविशेषात्मकैर्गुणैर्लक्ष्यते। न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। तथैव तदेव द्रव्यमपि विस्तारविशेषात्मकैर्गुणैर्लक्ष्यते। न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। यथैव च तदेवोत्तरीयमायतविशेषात्मकैः पर्यायवर्तिभिस्तन्तुभिर्लक्ष्यते। न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते। तथैव तदेव द्रव्यमप्यायतविशेषात्मकैः पर्यायैर्लक्ष्यते। न च तैः सह स्वरूपभेदमुपव्रजति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते ॥९५॥

भूमिका—अब द्रव्य का लक्षण बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—[अपरित्यक्तस्वभावेन] स्वभाव को छोडे बिना [यत्] जो [उत्पादव्ययध्रुवत्वसम्बद्धम्] उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य संयुक्त है [च] तथा [गुणवत् सपर्यायं] गुणयुक्त और पर्यायसहित है, [तत्] उसे [द्रव्यम् इति] 'द्रव्य' ऐसा [ब्रुवन्ति] कहते हैं।

टीका—यहां (इस विश्व में) वास्तव में जो, स्वभावभेद किये बिना उत्पाद-व्यय ध्रौव्य त्रयसे और गुण पर्यायद्वय से लक्षित होता है, वह द्रव्य है। इनमें से (स्वभाव, उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य गुण और पर्याय में से) वास्तव में द्रव्य का स्वभाव अस्तित्वसामान्यरूपअन्वय[1] है, अस्तित्व को तो दो प्रकार का आगे कहेंगे—१. स्वरूप अस्तित्व २. सादृश्य अस्तित्व। उत्पाद, प्रादुर्भाव (प्रगट होना–उत्पन्न होना) है, व्यय, प्रच्युति (नष्ट होना) है, ध्रौव्य, अवस्थिति (टिकना) है, गुण, विस्तार–विशेष हैं। वे सामान्य–विशेषात्मक[2] होने से दो प्रकार के हैं। इनमें, अस्तित्व, नास्तित्व, एकत्व, अन्यत्व, पर्यायत्व, सर्वगतत्व, असर्वगतत्व भोक्तृत्व, अगुरुलघुत्व इत्यादि सामान्य गुण हैं। अवगाह–हेतुत्व, गतिनिमित्तता, स्थितिकारणत्व, वर्तनायतनत्व, रूपादिमत्व, चेतनत्व इत्यादि विशेष गुण हैं। पर्याय आयत, विशेष हैं। वे पूर्व ही (९३वीं गाथा की टीका में) कही गई चार प्रकार की हैं।

---

१. अस्तित्वसामान्यरूप अन्वय है, ऐसा एकरूप भाव द्रव्य का स्वभाव है। अर्थात् विशेष–पर्यायों से निरपेक्ष धारावाही सामान्य स्वरूप। (अन्वय-एकरूपता, सादृश्यभाव)। २ जो गुण एक से अधिक द्रव्यो मे पाया जाय वह सामान्य है। जो मात्र एक ही द्रव्य मे पाया जाय वह विशेष है।

द्रव्य का उन उत्पादादि के साथ अथवा गुणपर्यायों के साथ लक्ष्य—लक्षण भेद होने पर भी स्वरूप भेद नहीं है (सत्ता भेद नहीं है) स्वरूप से ही द्रव्य वैसा होने से (अर्थात् द्रव्य ही स्वयं उत्पादि रूप तथा गुणपर्यायरूप परिणमन करता है, इस कारण स्वरूप भेद नहीं है), वस्त्र के समान।

जैसे मलिन अवस्था को प्राप्त वस्त्र, धोने पर निर्मल अवस्था से उत्पन्न होता हुआ उस उत्पादरूप लक्षित होता (देखा जाता) है, किन्तु उसका उस उत्पाद के साथ स्वरूप भेद (सत्ता भेद) नहीं है, स्वरूप से ही वैसा है (अर्थात् स्वयं उत्पादरूप से ही परिणत है), उसी प्रकार जिसने पूर्व अवस्था प्राप्त की है ऐसा द्रव्य भी—जो कि उचित बहिरग साधनों के सान्निध्य के सद्भाव मे अनेक प्रकार की बहुत सी अवस्थायें करता है—अन्तरंगसाधन-भूत[1] स्वरूपकर्ता और स्वरूपकरण के सामर्थ्यरूप स्वभाव से अनुगृहीत (सहित) हुआ अवस्था से उत्पन्न होता हुआ, उत्पादरूप लक्षित होता (देखा जाता) है, किन्तु उसका उस उत्पाद के साथ स्वरूप भेद (सत्ता भेद) नहीं है, स्वरूप से ही वैसा है और जैसे वही वस्त्र निर्मल अवस्था से उत्पन्न होता हुआ और मलिन अवस्था से व्यय को प्राप्त होता हुआ उस व्यय से लक्षित होता है, परन्तु उसका उस व्यय के साथ स्वरूप भेद नही है, स्वरूप से ही वैसा है, उसी प्रकार वही द्रव्य भी उत्तर अवस्था से उत्पन्न होता हुआ और पूर्व अवस्था से व्यय को प्राप्त होता हुआ उस व्यय से लक्षित होता है, परन्तु उसका उस व्यय के साथ स्वरूपभेद नही है, वह स्वरूप से ही वैसा है और जैसे वही वस्त्र एक ही समय मे निर्मल अवस्था से उत्पन्न होता हुआ, मलिन अवस्था से व्यय को प्राप्त होता हुआ और टिकने वाली वस्त्रत्व-अवस्था से ध्रुव रहता हुआ ध्रौव्य से लक्षित होता है, परन्तु उसका उस ध्रौव्य के साथ स्वरूप भेद नहीं है, स्वरूप से ही वैसा है, इसी प्रकार वही द्रव्य भी एक ही समय उत्तर अवस्था से उत्पन्न होता हुआ, पूर्व अवस्था से व्यय होता हुआ, और टिकने वाली द्रव्यत्व अवस्था से ध्रुव रहता हुआ ध्रौव्य से लक्षित होता है। किन्तु उसका उस ध्रौव्य के साथ स्वरूप भेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है और जैसे वही वस्त्र विस्तारविशेषस्वरूप (शुक्लत्वादि) गुणो से लक्षित होता है, किन्तु उसका उन गुणो के साथ स्वरूपभेद नहीं है, स्वरूप से ही वैसा है, इसी प्रकार वही द्रव्य भी विस्तारविशेष-स्वरूप गुणों से लक्षित होता है, किन्तु उसका उन गुणों के साथ स्वरूप भेद नहीं है, वह

---

१ द्रव्य मे निज मे ही स्वरूपकर्ता और स्वरूपकरण होने की सामर्थ्य है। यह सामर्थ्यस्वरूप स्वभाव ही अपने परिणमन मे (अवस्थान्तर करने मे) अन्तरग साधन है।

स्वरूप से ही वैसा है और जैसे वही वस्त्र आयतविशेषरूप पर्यायवर्ती (पर्यायस्थानीय) तंतुओं से लक्षित होता है, किन्तु उसका उन तंतुओं के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है। उसी प्रकार वही द्रव्य भी आयतविशेषस्वरूप पर्यायों से लक्षित होता है, परन्तु उसका उन पर्यायों के साथ स्वरूपभेद नहीं है, वह स्वरूप से ही वैसा है ॥६५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्यस्य सत्तादिलक्षणत्रयं सूचयति—

अपरिच्चत्तसहावं अपरित्यक्तस्वभावमस्तित्वेन सहाभिन्नं उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं उत्पादव्यय-ध्रौव्यैः सह संयुक्तं गुणवं च सपज्जायं गुणवत्पर्यायसहितं च जं यदित्थंभूतं सत्तादिलक्षणत्रयसंयुक्तं तं दव्वत्ति वुच्चंति तं द्रव्यमिति ब्रुवन्ति सर्वज्ञाः ।

इदं द्रव्यमुत्पादव्ययध्रौव्यैर्गुणपर्यायैश्च सह लक्ष्यलक्षणभेदे अपि सति सत्ताभेदं न गच्छति । तर्हि किं करोति । स्वरूपतयैव तथाविधत्वमवलम्बते । कोऽर्थः । उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूपं गुणपर्यायरूपं च परिणमति शुद्धात्मवदेव ।

तथाहि—केवलज्ञानोत्पत्तिप्रस्तावे शुद्धात्मरूपपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिरूपकारणसमयसार-पर्यायस्य विनाशे सति शुद्धात्मोपलम्भव्यक्तिरूपकार्यसमयसारस्योत्पादः कारणसमयसारस्य व्ययस्त-दुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यं च । तथानन्तज्ञानादिगुणाः, गतिमार्गणाविपक्षभूतसिद्धगतिः, इन्द्रियमार्गणाविपक्षभूतातीन्द्रियत्वादिलक्षणाः शुद्धपर्यायाश्च भवन्तीति । यथा शुद्धसत्तया सहाभिन्नं परमात्मद्रव्यं पूर्वोक्तोत्पादव्ययध्रौव्यैर्गुणपर्यायैश्च सह संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि सति तैः सह सत्तादिभेदं न करोति, स्वरूपत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथाविधत्वं कोऽर्थः ? उत्पादव्ययध्रौव्य-गुणपर्यायस्वरूपेण परिणमन्ति, तथा सर्वद्रव्याणि स्वकीयस्वकीययथोचितोत्पादव्ययध्रौव्यैस्तथैव-गुणपर्यायैश्च सह यद्यपि संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभिर्भेदं कुर्वन्ति तथापि सत्तास्वरूपेण भेदं न कुर्वन्ति, स्वभावत एव तथाविधत्वमवलम्बते । तथाविधत्वं कोऽर्थः ? उत्पादव्ययादिस्वरूपेण परिणमन्ति । अथवा यथा वस्त्रं निर्मलपर्यायेणोत्पन्नं मलिनपर्यायेण विनष्टं तदुभयाधारभूतवस्त्ररूपेण ध्रुवमविन-श्वरं, तथैव शुक्लवर्णादिगुणनवजीर्णादिपर्यायसहितं च सत् तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैस्तथैव च स्वकीयगुण-पर्यायैः सह संज्ञादिभेदेपि सति सत्तारूपेण भेदं न करोति । तर्हि किं करोति ? स्वरूपत एवोत्पादादि-रूपेण परिणमन्ति, तथा सर्वद्रव्याणीत्यभिप्रायः ॥९५॥

एवं नमस्कारगाथा द्रव्यगुणपर्यायकथनगाथा स्वसमयपरसमयनिरूपणगाथा सत्तादिलक्षणत्रय-सूचनगाथा चेति स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन पीठिकाभिधानं प्रथमस्थलं गतम् ।

उत्थानिका—आगे द्रव्य का लक्षण सत्ता आदि तीन रूप हैं ऐसा सूचित करते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(यत्) जो (अपरिच्चत्तसहावेण) अभिन्न स्वभाव रूप से रहता है अर्थात् अपने अस्तित्व या सत् स्वभाव से भिन्न नहीं है, (उप्पादव्वयधुवत्तसंजुत्तं) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य सहित है। (गुणवं च सपज्जायं) गुणवान होकर पर्याय-सहित है,

इस तरह सत्ता आदि तीन लक्षणों को रखने वाला है (तं दव्व त्ति) उसको द्रव्य ऐसा (वुच्चंति) सर्वज्ञ भगवान् कहते हैं।

यह द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य तथा गुण पर्यायों के साथ लक्ष्य और लक्षण की अपेक्षा भेद रूप होने पर भी सत्ता के भेद को नहीं रखता है। जिसका लक्षण या स्वरूप कहा जाय वह लक्ष्य है और जो उसका विशेष स्वरूप है वह लक्षण है। तब यह द्रव्य क्या करता है? अपने स्वरूप से ही उस–विधपने को आलंबन करता है। इसका भाव यह है कि यह द्रव्य शुद्धात्मा की तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप तथा गुणपर्याय रूप परिणमन करता है।

केवलज्ञान की उत्पत्ति के समय मे शुद्ध आत्मा के स्वरूप ज्ञानमयी निश्चल अनुभव-रूप कारणसमयसार रूप पर्याय का विनाश होते हुए शुद्धात्मा का लाभ या उसकी प्रगटता रूप कार्य-समयसार का उत्पाद या जन्म होता है और इन दोनों पर्यायो के आधार रूप परमात्म द्रव्य की अपेक्षा से ध्रुवपना या स्थिरपना रहता है तथा उस परमात्मा के अनंतज्ञानादि गुण होते हैं। गतिमार्गणा से विपरीत सिद्ध गति व इन्द्रिय मार्गणा से विपरीत अतींद्रियपना आदि लक्षण को रखने वाली शुद्ध पर्यायें होती है अर्थात् वह परमात्म-द्रव्य जैसे अपनी शुद्ध सत्ता से भिन्न नहीं है, एक है, पूर्व मे कहे हुए उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वभावों से तथा गुण पर्यायों से संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि की अपेक्षा से भेद रूप होने पर भी उनके साथ सत्ता आदि के भेद को नहीं रखता है, स्वरूप से ही उसी प्रकार पने को धारण करता है अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप तथा गुण पर्याय स्वरूप रूप परिणमन करता है तैसे ही सर्व द्रव्य अपने-अपने यथायोग्य उत्पाद व्यय ध्रौव्यपने से तथा गुण पर्यायों के साथ यद्यपि संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि की अपेक्षा भेद रखते हैं तथापि सत्ता स्वरूप से भेद नहीं रखते हैं, स्वभाव से ही उन प्रकार–रूपपने को आलम्बन करते हैं, अर्थात् उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप या गुणपर्याय–स्वरूप परिणमन करते हैं। अथवा जैसे वस्त्र जब स्वच्छ किया जाता है तब अपनी निर्मल पर्याय से पैदा होता है, मलिन पर्याय से नष्ट होता है और इन दोनों के आधार रूप वस्त्र स्वभाव से ध्रुव या अविनाशी है तैसे ही अपने ही श्वेतादिगुण तथा मलिन यथा स्वच्छ पर्यायों के साथ संज्ञा आदि की अपेक्षा भेद होने पर भी सत्ता रूप से भेद नहीं रखता है, तब क्या करता है? स्वरूप से ही उत्पाद आदि रूप से परिणमन करता है, तैसे ही सर्व द्रव्य परिणमन करते हैं यह अभिप्राय है ॥९५॥

भावार्थ—इस गाथा में आचार्य ने द्रव्य के तीन लक्षण बताए हैं। सत्‌रूप, उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप और गुण पर्याय रूप। अभेद की अपेक्षा द्रव्य जैसे अपने सत् स्वभाव से

एक है वैसे वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य या गुण पर्यायों से एक है, भेद की अपेक्षा वह जैसे सत्पने को रखता है वैसे वह उत्पादादि को रखता है ॥९५॥

इस तरह नमस्कार गाथा, द्रव्य गुण पर्याय कथनगाथा, स्वसमय परसमय निरूपणगाथा, सत्तादि लक्षणत्रय-सूचनगाथा, इस तरह स्वतंत्र चार गाथाओं से पीठिका नाम का पहला स्थल पूर्ण हुआ ।

अथ क्रमेणास्तित्वं द्विविधमभिदधाति स्वरूपास्तित्वं सादृश्यास्तित्वं चेति तत्रेदं स्वरूपास्तित्वाभिधानम्—

सब्भावो हि सहावो गुणेहिं [1]सगपज्जएहिं चित्तेहिं ।
दव्वस्स सव्वकालं उप्पादव्वयधुवत्तेहिं ॥९६॥

सद्भावो हि स्वभावो गुणैः स्वकपर्ययैश्चित्रैः ।
द्रव्यस्य सर्वकालमुत्पादव्ययध्रुवत्वैः ॥९६॥

अस्तित्वं हि किल द्रव्यस्य स्वभावः, तत्पुनरन्यसाधननिरपेक्षत्वादनाद्यनन्ततया हेतुकयैकरूपया वृत्त्या नित्यप्रवृत्तत्वाद्विभावधर्मवैलक्षण्याच्च, भावभाववद्भावान्नानात्वेऽपि प्रदेशभेदाभावाद्द्रव्येण सहैकत्वमवलम्बमानं द्रव्यस्य स्वभाव एव कथं न भवेत् । तत्तु द्रव्यान्तराणामिव द्रव्यगुणपर्यायाणां न प्रत्येकं परिसमाप्यते । यतो हि परस्परसाधितसिद्धियुक्तत्वात्तेषामस्तित्वमेकमेव, कार्तस्वरवत् । यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात् पृथगनुपलभ्यमानैः, कर्तृकरणाधिकरणरूपेण पीततादिगुणानां कुण्डलादिपर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य, कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः कुण्डलादिपर्यायैश्च यदस्तित्वं, कार्तस्वरस्य स स्वभावः, तथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेण गुणानां पर्यायाणां च स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य, द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः । यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा पीततादिगुणेभ्यः कुण्डलादिपर्यायैश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः पीततादिगुणैः कुण्डलादिपर्यायैश्च निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य कार्तस्वरस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा गुणेभ्यः पर्यायेभ्यश्च पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैर्गुणैः पर्यायैश्च निष्पा-

---

१ सहपज्जएहिं (ज० वृ०) ।

दितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः । किंच—यथा हि द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कार्तस्वरात्पृथगनुपलभ्यमानैः, कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कुण्डलाङ्गदपीततताद्युत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य, कार्तस्वरास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं कार्तस्वरस्य स स्वभावः, तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा द्रव्यात्पृथगनुपलभ्यमानैः कर्तृकरणाधिकरणरूपेणोत्पादव्ययध्रौव्याणां स्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तस्य, द्रव्यास्तित्वेन निष्पादितनिष्पत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्यदस्तित्वं द्रव्यस्य स स्वभावः । यथा वा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वा कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण कार्तस्वरस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैः कुण्डलाङ्गदपीतताद्युत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य, कार्तस्वरस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादितं यदस्तित्वं स स्वभावः तथा द्रव्येण वा क्षेत्रेण वा कालेन वा भावेन वोत्पादव्ययध्रौव्येभ्यः पृथगनुपलभ्यमानस्य कर्तृकरणाधिकरणरूपेण द्रव्यस्वरूपमुपादाय प्रवर्तमानप्रवृत्तियुक्तैरुत्पादव्ययध्रौव्यैर्निष्पादितनिष्पत्तियुक्तस्य द्रव्यस्य मूलसाधनतया तैर्निष्पादित यदस्तित्वं स स्वभावः ॥९६॥

भूमिका—अब अनुक्रम से दो प्रकार का अस्तित्व कहते हैं । स्वरूप-अस्तित्व और सादृश्य-अस्तित्व इनमें से यह स्वरूपास्तित्व का कथन है—

अन्वयार्थ—[चित्रैः गुणैः] अनेक प्रकार के गुण तथा [चित्रैः स्वकपर्यायैः] अनेक प्रकार की अपनी पर्यायो से [उत्पादव्ययध्रुवत्वैः] और उत्पाद व्यय ध्रौव्य से [सर्वकालं] सर्वकाल मे [द्रव्यस्य सद्भाव] द्रव्य का जो अस्तित्व है [हि] वह वास्तव मे [स्वभावः] स्वभाव है ।

टीका—अस्तित्व वास्तव में द्रव्य का स्वभाव है, और वह (अस्तित्व) (१) अन्य साधन से निरपेक्ष होने के कारण से, (२) अनादि-अनन्त, अहेतुक, एकरूप वृत्ति से सदा ही प्रवृत्त होने के कारण से, (३) विभाव धर्म से विलक्षण होने से, (४) भाव और भाववानता के [1]भाव से अनेकत्व होने पर भी प्रदेशभेद न होने से, द्रव्य के साथ एकत्व को धारण करता हुआ द्रव्य का स्वभाव ही क्यों न हो ? (अवश्य होवे) वह अस्तित्व, जैसे भिन्न-भिन्न द्रव्यों में प्रत्येक में समाप्त हो जाताहै, उसी प्रकार द्रव्य-गुण-पर्याय मे प्रत्येक में समाप्त नहीं हो जाता, क्योंकि वास्तव मे परस्पर में साधित सिद्धि (युक्त होने से) अर्थात्

१ अस्तित्व तो (द्रव्य का) भाव है और द्रव्य भाववान् है ।

द्रव्य गुण और पर्याय एक दूसरे से परस्पर सिद्ध होते हैं, —यदि एक न हो तो दूसरे दो भी सिद्ध नहीं होते, (इसलिये) उनका अस्तित्व एक ही है, सुवर्ण की भांति।

जैसे वास्तव मे, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सुवर्ण से पृथक् न प्राप्त होने वाले तथा सुवर्ण के अस्तित्व से बने हुए पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायों के द्वारा जो अस्तित्व है वह (अस्तित्व), कर्ता-करण-अधिकरण रूप से पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायों के स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान सुवर्ण का स्वभाव है। उसी प्रकार वास्तव में, द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव से पृथक् प्राप्त न होने वाले तथा द्रव्य के अस्तित्व से बने हुए गुणों और पर्यायों के द्वारा जो अस्तित्व है, वह (अस्तित्व), कर्ता-करण-अधिकरण रूप से गुणों के और पर्यायों के स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान प्रवृत्ति-युक्त द्रव्य का स्वभाव है।

(द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से सुवर्ण से भिन्न न दिखाई देने वाले पीतत्वादिक और कुण्डलादिक का जो अस्तित्व है वह सुवर्ण का ही अस्तित्व है, क्योंकि पीतत्वादिक के और कुण्डलादिक के स्वरूप को सुवर्ण ही धारण करता है, इसलिये सुवर्ण के अस्तित्व से ही पीतत्वादिक की और कुण्डलादि की निष्पत्ति-सिद्धि होती है, सुवर्ण न हो तो पीतत्वादिक और कुण्डलादिक भी न हों। इसी प्रकार द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से भिन्न नहीं दिखाई देने वाले गुणो और पर्यायो का जो अस्तित्व है वह द्रव्य का ही अस्तित्व है, क्योकि गुणों और पर्यायो के स्वरूप को द्रव्य ही धारण करता है, इसलिये द्रव्य के अस्तित्व से ही गुणों की और पर्यायों की निष्पत्ति होती है, द्रव्य न हो तो गुण और पर्यायें भी न हो। ऐसा अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है।)

अथवा, जैसे द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से पीतत्वादि गुणों से और कुण्डलादि पर्यायो से पृथक् प्राप्त होने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरण रूप से सुवर्ण के स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान पीतत्वादि गुणों और कुण्डलादि पर्यायों से निष्पन्न होने वाले सुवर्ण का, मूल साधन रूप से (पीतत्वादिक गुणों और कुण्डलादि पर्यायों से) निष्पन्न हुआ अस्तित्व स्वभाव है, इसी प्रकार द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से गुणों से और पर्यायो से जो पृथक् नहीं दिखाई देने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरण रूप से द्रव्य के स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान गुणों और पर्यायों से निष्पन्न होने वाले द्रव्य का, मूल साधन रूप से गुणो और पर्यायों से निष्पन्न हुआ अस्तित्व स्वभाव है।

(पीतत्वादिक से और कुण्डलादिक से भिन्न न दिखाई देने वाले सुवर्ण का

अस्तित्व है वह पीतत्वादिक और कुण्डलादिक का ही अस्तित्व है, क्योंकि सुवर्ण के स्वरूप को पीतत्वादिक और कुण्डलादिक ही धारण करते हैं, इसलिये पीतत्वादिक और कुण्डलादिक के अस्तित्व से ही सुवर्ण की निष्पत्ति होती है। पीतत्वादिक और कुण्डलादिक न हों तो सुवर्ण भी न हो। इसी प्रकार गुणों से और पर्यायों से भिन्न न दिखाई देने वाले द्रव्य का अस्तित्व है वह गुणो और पर्यायों का ही अस्तित्व है, क्योंकि द्रव्य के स्वरूप को गुण और पर्यायें ही धारण करती हैं, इसलिये गुण और पर्यायो के अस्तित्व से ही द्रव्य की निष्पत्ति होती है। यदि गुण और पर्यायें न हों तो द्रव्य भी न हो। ऐसा अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है। जिस प्रकार द्रव्य का और गुण पर्याय का एक ही अस्तित्व है, ऐसा स्वर्ण के दृष्टान्त-पूर्वक समझाया, उसी प्रकार अब सुवर्ण के दृष्टान्त-पूर्वक ऐसा बताया जा रहा है कि द्रव्य का और उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य का भी एक ही अस्तित्व है।) जैसे वास्तव में द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से स्वर्ण से पृथक् नहीं प्राप्त होने वाले तथा स्वर्ण के अस्तित्व से बने हुए कुण्डलादि के उत्पाद, बाजूबंधादि के व्यय और पीतत्वादि के ध्रौव्य से जो अस्तित्व है, वह (अस्तित्व), कर्ता-करण-अधिकरण रूप से कुण्डलादि के उत्पाद को, बाजूबंधादि के व्यय के और पीतत्वादि के ध्रौव्य के स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान प्रवृत्ति युक्त स्वर्ण का स्वभाव है। इसी प्रकार द्रव्य से जो अस्तित्व है, वह (अस्तित्व), कर्ता-करण-अधिकरण रूप से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान द्रव्य का स्वभाव है। (द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से) द्रव्य से भिन्न दिखाई न देने वाले उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का जो अस्तित्व है वह द्रव्य का ही अस्तित्व है, क्योंकि उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य के स्वरूप को द्रव्य ही धारण करता है, इसलिये द्रव्य के अस्तित्व से ही उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य की निष्पत्ति होती है। यदि द्रव्य न हो तो उत्पाद, व्यय ध्रौव्य भी न हों। ऐसा अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है। अथवा, जैसे द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से कुण्डलादि के उत्पाद से बाजूबंधादि के व्यय से और पीतत्वादि के ध्रौव्य से पृथक् नहीं प्राप्त होने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरण रूप से स्वर्ण के स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान कुण्डलादि के उत्पाद से, बाजूबंधादि के व्यय से और पीतत्वादि के ध्रौव्य से निष्पन्न होने वाले स्वर्ण का, मूल साधन रूप उनसे (कुण्डलादि के उत्पाद से, बाजूबंधादि के व्यय से पीतत्वादि के ध्रौव्य से निष्पन्न हुआ जो अस्तित्व है, वह (अस्तित्व) स्वभाव है। इसी प्रकार द्रव्य से, क्षेत्र से, काल से या भाव से उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से पृथक् नहीं प्राप्त होने वाले तथा कर्ता-करण-अधिकरण रूप से द्रव्य के

स्वरूप को धारण करके प्रवर्तमान उत्पाद व्यय-ध्रौव्य निष्पन्न होने वाले द्रव्य का, मूल साधनपने से उनसे (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य से) निष्पन्न हुआ जो अस्तित्व है, वह (अस्तित्व) स्वभाव है।

उत्पाद से व्यय से और ध्रौव्य से भिन्न न दिखाई देने वाले द्रव्य का अस्तित्व वह उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का ही अस्तित्व है, क्योंकि द्रव्य के स्वरूप को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही धारण करते हैं, इसलिये उत्पाद-व्यय और ध्रौव्य के अस्तित्व से ही द्रव्य की निष्पत्ति होती है। यदि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य न हो तो द्रव्य भी न हो। ऐसा अस्तित्व वह अस्तित्व द्रव्य का स्वभाव है ॥९६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ प्रथम तावत्स्वरूपास्तित्व प्रतिपादयति—

सब्भावो हि स्वभाव स्वरूप भवति हि स्फुट। क कर्ता? **सहावो** सद्भाव. शुद्धसत्ता शुद्धास्तित्व। कस्य स्वभावो भवति? **दव्वस्स** मुक्तात्मद्रव्यस्य, तच्च स्वरूपास्तित्व यथा मुक्तात्मन. सकाशात्पृथग्भूताना पुद्गलादि-पञ्चद्रव्याणा शेषजीवाना च भिन्न भवति न च तथा। कै सह? **गुणेहि सहपज्जएहि** केवलज्ञानादिगुणै किंचिदूनचरमशरीराकारादिस्वकीयपर्यायैश्च सह। कथंभूतै? **चित्तेहि** सिद्धगतित्वमतीन्द्रियत्वमकायत्वमयोगत्वमवेदत्वमित्यादिबहुभेदभिन्नैर्न केवल गुणपर्यायै सह भिन्न न भवति। **उप्पादव्वयधुवत्तेहि** शुद्धात्मप्राप्तिरूपमोक्षपर्यायस्योत्पादो रागादिविकल्परहितपरमसमाधिरूपमोक्षमार्गपर्यायस्य व्ययस्तथा मोक्षमार्गाधारभूतान्वयद्रव्यत्वलक्षण ध्रौव्य चेत्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यैश्च सह भिन्न न भवति। कथ? **सव्वकाल** सर्वकालपर्यन्त यथा भवति। कस्मात्तं सह भिन्न न भवतीति चेत्? यत कारणाद्गुणपर्यायोऽस्तित्वेनोत्पादव्ययध्रौव्यास्तित्वेन च कर्तृभूतेन शुद्धात्मद्रव्यास्तित्व साध्यते, शुद्धात्मद्रव्यास्तित्वेन च गुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यास्तित्व साध्यत इति।

तद्यथा—यथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावै सुवर्णादभिन्नाना पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणां सबन्धि यदस्तित्व,स एव सुवर्णस्य सद्भाव, तथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावै परमात्मद्रव्यादभिन्नाना केवलज्ञानादिगुणकिञ्चदूनचरमशरीराकारादिपर्यायाणा सबन्धि यदस्तित्व स एव मुक्तात्मद्रव्यस्य सद्भाव. यथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावैः पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायेभ्य सकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य सम्बन्धि यदस्तित्व स एव पीतत्वादिगुणकुण्डलादिपर्यायाणा स्वभावो भवति, तथा स्वकीयद्रव्यक्षेत्रकालभावै. केवलज्ञानादिगुणकिञ्चिदूनचरमशरीराकारपर्यायेभ्य सकाशादभिन्नस्य मुक्तात्मद्रव्यस्य सम्बन्धि यदस्तित्व स एव केवलज्ञानादिगुणकिञ्चिदूनचरमशरीराकारपर्यायाणा स्वभावो ज्ञातव्य.। अथेदानीमुत्पादव्ययध्रौव्याणामपि द्रव्येण सहाभिन्नास्तित्व कथ्यते। यथा स्वकीयद्रव्यादिचतुष्टयेन सुवर्णादभिन्नाना कटकपर्यायोत्पादकङ्कणपर्यायविनाशसुवर्णत्वलक्षणध्रौव्याणा सम्बन्धि यदस्तित्व स एव सुवर्णसद्भाव, तथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन परमात्मद्रव्यादभिन्नाना मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमार्गपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्याणा सम्बन्धि यदस्तित्व स एव मुक्तात्मद्रव्यस्वभाव यथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन कटकपर्यायोत्पादकङ्कणपर्यायव्ययसुवर्णत्वलक्षणध्रौव्येभ्य सकाशादभिन्नस्य सुवर्णस्य सम्बन्धि यदस्तित्व स एव कटकपर्यायोत्पादकङ्कणपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतसुवर्णत्वलक्षण-

ध्रौव्याणां सद्भावः, तथा स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमार्गपर्यायव्ययतदुभयाधारभूत-मुक्तात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्येभ्यः सकाशादभिन्नस्य परमात्मद्रव्यस्य संबन्धि यदस्तित्वं स एव मोक्षपर्यायोत्पादमोक्षमार्गपर्यायव्ययतदुभयाधारभूतमुक्तात्मद्रव्यत्वलक्षणध्रौव्याणां स्वभाव इति । एवं यथा मुक्तात्मद्रव्यस्य स्वकीयगुणपर्यायोत्पादव्ययध्रौव्यैः सह स्वरूपास्तित्वाभिधानमवान्तरास्तित्वमभिन्नं व्यवस्थापितं, तथैव समस्तशेषद्रव्याणामपि व्यवस्थापनीयमित्यर्थः ॥९६॥

उत्थानिका—आगे अस्तित्व या सत् के दो प्रकार अस्तित्व मे से स्वरूप अस्तित्व को बताते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(चित्तेहिं गुणेहिं सहपज्जएहिं) नाना प्रकार के अपने गुण और अपनी पर्यायों के साथ सिद्ध जीव की अपेक्षा से अपने केवलज्ञान आदि गुण तथा अंतिम शरीर से कुछ कम आकार रूप अपनी पर्याय तथा सिद्ध गतिपना, अतीन्द्रियपना, कायरहितपना, योगरहितपना, वेदरहितपना इत्यादि नाना प्रकार की अपनी अवस्थाओं के साथ और (उप्पादव्वयधुवत्तेहिं) उत्पाद व्यय ध्रौव्यपने के साथ सिद्ध जीव की अपेक्षा से शुद्ध आत्मा की प्राप्ति रूप मोक्ष पर्याय का उत्पाद, रागद्वेषादि विकल्पों से रहित परम-समाधि रूप मोक्ष मार्ग की पर्याय का व्यय तथा मोक्षमार्ग और मोक्ष के आधारभूत चले आने वाले द्रव्यपने का लक्षणरूप ध्रौव्यपना इन तीन प्रकार उत्पाद व्यय ध्रौव्य के साथ (दव्वस्स) द्रव्य का अर्थात् मुक्तात्मा रूपी द्रव्य का (सव्वकालं) सर्व कालों में अर्थात् सदा ही (सब्भावो) शुद्ध अस्तित्व है या उसकी शुद्ध सत्ता है (हि) सो ही निश्चय करके (सहावो) उसका निज भाव या निज रूप है, क्योंकि मुक्तात्मा इनके साथ अभिन्न हैं इसका हेतु यह है कि गुण पर्यायों के अस्तित्व से तथा उत्पाद व्यय ध्रौव्यपने के अस्तित्व से ही शुद्ध आत्मा के द्रव्य का अस्तित्व साधा जाता है और शुद्ध आत्मा के द्रव्य के अस्तित्व से गुण पर्यायों का और उत्पाद व्यय ध्रौव्यपने का अस्तित्व साधा जाता है।

किस तरह परस्पर साधा जाता है सो बताते हैं—जैसे स्वर्ण के पीतपना आदि गुण तथा कुंडल आदि पर्यायों का जो स्वर्ण के द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा स्वर्ण से भिन्न नहीं है, जो अस्तित्व है वही स्वर्ण का अपना अस्तित्व है या सद्भाव है। तैसे ही मुक्तात्मा के केवलज्ञान आदि गुण और अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार आदि पर्यायों का जो मुक्तात्मा के द्रव्य क्षेत्र काल भावों की अपेक्षा परमात्मा-द्रव्य से भिन्न नहीं है, जो अस्तित्व है वही मुक्तात्मा द्रव्य का अपना अस्तित्व या सद्भाव है। और जैसे स्वर्ण के पीतपना आदि गुण और कुंडल आदि पर्यायों के साथ जो स्वर्ण अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावों की अपेक्षा अभिन्न है, उस स्वर्ण का जो अस्तित्व है वही पीतपना आदि गुण तथा

कुंडल आदि पर्यायों का अस्तित्व या निज भाव है। तैसे ही मुक्तात्मा के केवलज्ञान आदि गुण और अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार आदि पर्यायों के साथ जो मुक्तात्मा अपने द्रव्य क्षेत्र काल भावों की अपेक्षा अभिन्न है उस मुक्तात्मा का जो अस्तित्व है, वही केवलज्ञानादि गुण तथा अन्तिम शरीर से कुछ कम आकार आदि पर्यायों का अस्तित्व या निजभाव जानना चाहिये। अब उत्पाद व्यय ध्रौव्य का भी द्रव्य के साथ जो अभिन्न अस्तित्व है उसको कहते हैं। जैसे स्वर्ण के द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा स्वर्ण से अभिन्न कटक पर्याय का उत्पाद और कंकण पर्याय का विनाश तथा स्वर्णपने का ध्रौव्य इनका जो अस्तित्व है वही स्वर्ण का अस्तित्व व उसका निज भाव या स्वरूप है। तैसे ही परमात्मा के द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा परमात्मा से अभिन्न मोक्ष पर्याय का उत्पाद और मोक्षमार्ग पर्याय का व्यय तथा इन दोनों के आधारभूत परमात्म-द्रव्यपने का ध्रौव्य इनका जो अस्तित्व है वही मुक्तात्मा द्रव्य का अस्तित्व या उसका निजभाव या स्वरूप है। और जैसे अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा कटक पर्याय का उत्पाद और कंकण पर्याय का व्यय तथा इन दोनों के आधारभूत स्वर्णपने का ध्रौव्य इनके साथ अभिन्न जो स्वर्ण उसका जो अस्तित्व है वही कटक पर्याय का उत्पाद, कंकण पर्याय का व्यय तथा इन दोनों के आधारभूत स्वर्णपना रूप ध्रौव्य इनका अस्तित्व या निजभाव या स्वरूप है। तैसे ही अपने द्रव्य क्षेत्र काल भाव की अपेक्षा मोक्ष पर्याय का उत्पाद, और मोक्षमार्ग पर्याय का व्यय तथा दोनों के आधारभूत मुक्तात्मा द्रव्यपनारूप ध्रौव्य इनके साथ अभिन्न जो परमात्मा द्रव्य उसका जो अस्तित्व है वही मोक्ष पर्याय का उत्पाद, मोक्षमार्ग पर्याय का व्यय तथा इन दोनों के आधारभूत मुक्तात्मा द्रव्य रूप ध्रौव्य इनका अस्तित्व या निजभाव या स्वरूप है। इस तरह जैसे मुक्तात्मा द्रव्य का अपने ही गुण पर्याय और उत्पाद ध्रौव्य के साथ स्वरूप का अस्तित्व या अवान्तर अस्तित्व अभिन्न स्थापित किया गया है तैसे ही शेष सर्व द्रव्यों का भी स्वरूप-अस्तित्व या अवान्तर अस्तित्व स्थापित करना चाहिये। इस गाथा का यह अर्थ है।

भावार्थ—इस गाथा मे आचार्य ने स्वरूप-अस्तित्व या अवान्तर-सत्ताका स्वरूप बताया है। हर एक द्रव्य अपने अखण्ड जितने प्रदेशों को लिये है चाहे वह एक प्रदेश हो व अनेक, वह द्रव्य उतने प्रदेशों के साथ अपनी सत्ता को दूसरे द्रव्य से पृथक् रखता है। तथा उसकी इस अवान्तर या पृथक् सत्ता मे ही गुणपर्यायपना या उत्पाद व्यय ध्रौव्य रहते हैं, न कोई द्रव्य कभी अपनी सत्ता को छोड़ता है, न गुणपर्याय से रहित होता है, न उत्पाद

व्यय ध्रौव्य को त्यागता है। द्रव्य में हरसमय द्रव्य के ये तीनों ही लक्षण पाए जाते हैं। यही द्रव्य का स्वभाव है ॥९६॥

इदं तु सादृश्यास्तित्वाभिधानमस्तीति कथयति—

इह विविहलक्खणाणं लक्खणमेगं सदित्ति सव्वगयं।
उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं ॥९७॥

इह विविधलक्षणानां लक्षणमेकं सदिति सर्वगतम्।
उपदिशता खलु धर्मं जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तम् ॥९७॥

इह किल प्रपञ्चितवैचित्र्येण द्रव्यान्तरेभ्यो व्यावृत्य वृत्तेन प्रतिद्रव्य सीमानमासूत्रयता विशेषलक्षणभूतेन च स्वरूपास्तित्वेन लक्ष्यमाणानामपि सर्वद्रव्याणामस्तमितवैचित्र्यप्रपञ्चं प्रवृत्य वृत्तं प्रतिद्रव्यमासूत्रितं सीमानं भिन्दत्सदिति सर्वगतं सामान्यलक्षणभूत सादृश्यास्तित्वमेकं खल्ववबोद्धव्यम्। एवं सदित्यभिधानं सदिति परिच्छेदन च सर्वार्थपरामर्शि स्यात्। यदि पुनरिदमेव न स्यात्तदा किंचित्सदिति किंचिदसदिति किंचित्सच्चासच्चेति किंचिदवाच्यमिति च स्यात्। तत्तु विप्रतिषिद्धमेव प्रसाध्यं चैतदनोकहवत्। यथा हि बहूनां बहुविधानामनोकहानामात्मीयस्यात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वारूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वं सामान्यलक्षण-भूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितमेकत्वं तिरियति। तथा बहूनां बहुविधाना द्रव्याणामात्मीयात्मीयस्य विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्व सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेनोत्थापितमेकत्वं तिरियति। यथा च तेषामनोकहाना सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिनानोकहत्वेनोत्थापितेनैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नात्वमुच्चकास्ति, तथा सर्वद्रव्याणामपि सामान्यलक्षणभूतेन सादृश्योद्भासिना सदित्यस्य भावेनोत्थापितेनैकत्वेन तिरोहितमपि विशेषलक्षणभूतस्य स्वरूपास्तित्वस्यावष्टम्भेनोत्तिष्ठन्नानात्वमुच्चकास्ति ॥९७॥

भूमिका—अब सादृश्य-अस्तित्व का कथन करते हैं—

अन्वयार्थ—[धर्मं] धर्म का [उपदिशता] उपदेश करने वाले [जिनवरवृषभेण] जिनवर वृषभ के द्वारा [इह] इस विश्व मे [विविधलक्षणाना] विविध लक्षण वाले (भिन्न भिन्न स्वरूपास्तित्व वाले सर्व) द्रव्यो का [खलु] वास्तव मे [सत् इति] 'सत्' ऐसा [सर्व गत] सर्वगत (सब मे व्यापने वाला) [एक लक्षण] एक लक्षण [प्रज्ञप्तम्] कहा गया है।

टीका—वास्तव मे इस विश्व मे, विचित्रता को विस्तारित करते हुये (विविधता-अनेकत्व को दिखाते हुये), अन्य द्रव्यों से व्यावृत (भिन्न) रहकर प्रवर्तमान, और प्रत्येक द्रव्य की सीमा को बांधते हुये, ऐसे विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्व से लक्षित भी सर्व द्रव्यों की, विचित्रता के विस्तार को अस्त करता हुआ, सर्व द्रव्यो में प्रवृत्त होकर रहने वाला, और प्रत्येक द्रव्य की बधी हुई सीमा को भेदता (तोड़ता) हुआ, 'सत्' ऐसा जो सर्वगत सामान्य लक्षणभूत एक सादृश्यास्तित्व है, वह ही वास्तव मे एक ही जानने योग्य है। इस प्रकार 'सत्' ऐसा कथन और 'सत्' ऐसा ज्ञान सर्व पदार्थों का परामर्श (स्पर्श-ग्रहण) करने वाला है। यदि वह ऐसा (सर्व पदार्थ परामर्शी) न हो तो कोई पदार्थ सत्, कोई असत्, कोई सत् तथा असत् और कोई अवाच्य होना चाहिये, किन्तु वह तो निषिद्ध ही है, और यह ('सत्' ऐसा कथन और ज्ञान के सर्व पदार्थ परामर्शी होने की बात) तो सिद्ध हो सकती है, वृक्ष की भाँति।

जैसे वास्तव में बहुत से और अनेक प्रकार के वृक्षो को अपने-अपने विशेष लक्षण-भूत स्वरूपास्तित्व के अवलम्बन से उत्थित होते (खड़े होते) अनेकत्व को, सामान्य लक्षण-भूत सादृश्यदर्शक वृक्षत्व से उत्थित होता एकत्व तिरोहित (अदृश्य) कर देता है, इसी प्रकार बहुत से और अनेक प्रकार के द्रव्यों को अपने-अपने विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्व के अवलम्बन से उत्थित होते अनेकत्व को, सामान्य लक्षणभूत सादृश्यदर्शक 'सत्' पनेसे ('सत्' ऐसे भाव से, अस्तित्व से है-पने से) उत्थित होता एकत्व तिरोहित कर देता है। और जैसे उन वृक्षो के विषय मे सामान्य लक्षणभूत सादृश्यदर्शक वृक्षत्व से उत्थित होते एकत्व से तिरोहित होता है तो भी, (अपने-अपने) विशेष लक्षणभूत स्वरूपास्तित्व के अवलम्बन से उत्थित हुआ अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है, (बना रहता है, नष्ट नहीं होता), इसी प्रकार सर्व द्रव्यों के विषय में भी सामान्य लक्षणभूत सादृश्यदर्शक 'सत्' पने से उत्थित होते एकत्व से तिरोहित होने पर भी, (अपने-अपने) विशेष लक्षण-भूत स्वरूपास्तित्व के अवलम्बन से उत्थित हुआ अनेकत्व स्पष्टतया प्रकाशमान रहता है ॥९७॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ सादृश्यास्तित्वशब्दाभिधेया महासत्ता प्रज्ञापयति—

इह विविहलक्खणाण इह लोके प्रत्येकसत्ताभिधानेन स्वरूपास्तित्वेन विविधलक्षणाना भिन्न-लक्षणाना चेतनाचेतनमूर्तामूर्तपदार्थाना **लक्खणमेग तु** एकमखण्डलक्षण भवति। किं कर्तृ ? **सदिति** सर्वं सदिति महासत्तारूप किविशिष्ट ? **सव्वगय** सकरव्यतिकरपरिहाररूपस्वजात्यविरोधेन शुद्ध-

संग्रहनयेन सर्वगतं सर्वपदार्थव्यापकं । इदं केनोक्तं ? उवदिसदा खलु धम्मं जिणवरवसहेण पण्णत्तं धर्मं वस्तुस्वभावसंग्रहमुपदिशता खलु स्फुटं जिनवरवृषभेण प्रज्ञप्तमिति ।

तद्यथा— यथा सर्वे मुक्तात्मानः सन्तीत्युक्ते सति परमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादभरितावस्थलोकाकाशप्रमितशुद्धासंख्येयात्मप्रदेशैस्तथा किञ्चिदूनचरमशरीराकारादिपर्यायैश्च संकरव्यतिकरपरिहाररूपजातिभेदेन भिन्नानामपि सर्वेषां सिद्धजीवानां ग्रहणं भवति, तथा "सर्वं सत्" इत्युक्ते संग्रहनयेन सर्वपदार्थानां ग्रहणं भवति । अथवा सेनेयं वनमिदमित्युक्ते अश्वहस्त्यादिपदार्थानां निम्बाम्रादिवृक्षाणां स्वकीयस्वकीयजातिभेदभिन्नानां युगपद्ग्रहणं भवति, तथा सर्वं सदित्युक्ते सति सादृश्यसत्ताभिधानेन महासत्तारूपेण शुद्धसंग्रहनयेन सर्वपदार्थानां स्वजात्यविरोधेन ग्रहणं भवतीत्यर्थः ॥९७॥

उत्थानिका—आगे सादृश्य अस्तित्व शब्द से कहे जाने वाली महासत्ता का वर्णन करते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(इह) इस लोक मे (विविहलक्खणाणं) नाना प्रकार भिन्न-भिन्न लक्षण रखने वाले पदार्थों का (एगं) एक (सव्वगयं) सर्व पदार्थों में व्यापक (लक्खणं) लक्षण (सदिति) सत् ऐसा (धम्मं) वस्तु के स्वभाव को (उवदिसदा) उपदेश करने वाले (जिणवरवसहेण) श्री वृषभ जिनेन्द्र ने (खलु) प्रगट रूप से (पण्णत्तं) कहा है ।

इस जगत मे भिन्न-भिन्न लक्षण को रखने वाले चेतन अचेतन मूर्त अमूर्त अनेक पदार्थ हैं, उनमें से प्रत्येक पदार्थ की सत्ता या स्वरूपास्तित्व भिन्न-भिन्न है तो भी इन सबका एक अखंड सर्व व्यापक लक्षण भी है । यह लक्षण मिलाप व भिन्नता के विकल्प से रहित अपनी-अपनी जाति मे विरोध न पड़ने देने वाले शुद्ध संग्रहनय से सर्व पदार्थों में व्यापक एक सत् रूप है या महासत्ता रूप है ऐसा वस्तु स्वभावो के संग्रह को उपदेश करने वाले श्री तीर्थंकर भगवान् ने प्रगटरूप से वर्णन किया है ।

इस प्रकार—जैसे 'सर्व मुक्तात्मा हैं, ऐसा कहा जाने से सर्व ही सिद्धो का एक साथ ग्रहण हो जाता है । यद्यपि वे सर्व सिद्ध परमानंदमयी एक लक्षण वाले सुखामृत रस स्वाद से भरे हुए अपने-अपने शुद्ध लोकाकाश प्रमाण असंख्यात प्रदेशों की अपेक्षा तथा अपने-अपने अन्तिम शरीर से किंचित् न्यून पर्याय की अपेक्षा मिश्र व भिन्नता के विकल्प से रहित अपनी-अपनी जाति के भेद से भिन्न हैं तो भी एक सत्ता लक्षण की अपेक्षा उन सब सिद्धों का ग्रहण हो जाता है । वैसे ही 'सर्व सत्' ऐसा कहने पर संग्रहनय से सर्व पदार्थों का ग्रहण हो जाता है । अथवा यह सेना है, ऐसा कहने पर अपनी-अपनी जाति से भिन्न घोड़े, हाथी आदि पदार्थों की भिन्नता है तो भी सबका एक काल में ग्रहण हो जाता है, अथवा यह वन है, ऐसा कहने पर अपनी-अपनी जाति से भिन्न निम्ब, आम्र

आदि वृक्षों की भिन्नता है तो भी सब वृक्षों का एक काल में ग्रहण हो जाता है। तैसे ही सर्व सत् ऐसे सदृश सत्ता कहने पर महासत्ता रूप से शुद्ध संग्रहनय की अपेक्षा सर्व ही पदार्थों का बिना उनकी जाति से विरोध के एक साथ ग्रहण हो जाता है, ऐसा अर्थ है ॥९७॥

अथ द्रव्यैर्द्रव्यान्तरस्यारम्भं द्रव्यादर्थान्तरत्वं च सत्तायाः प्रतिहन्ति—

दव्वं सहावसिद्धं सदिति जिणा तच्चदो समक्खादा।
सिद्धं तध[1] आगमदो णेच्छदि जो सो हि परसमओ ॥९८॥

द्रव्यं स्वभावसिद्ध सदिति जिनास्तत्त्वत समाख्यातवन्त ।
सिद्ध तथा आगमतो नेच्छति य स हि परसमय· ॥९८॥

न खलु द्रव्यैर्द्रव्यान्तराणामारम्भः, सर्वद्रव्याणां स्वभावसिद्धत्वात्। स्वभावसिद्धत्वं तु तेषामनादिनिधनत्वात्। अनादिनिधनं हि न साधनान्तरमपेक्षते। गुणपर्यायात्मानमात्मनः स्वभावमेव मूलसाधनमुपादाय स्वयमेव सिद्धसिद्धिमद्भूतं वर्तते। यत्तु द्रव्यैरारभ्यते न तद्द्रव्यान्तरं कादाचित्कत्वात् स पर्यायः। द्व्यणुकादिवन्मनुष्यादिवच्च। द्रव्यं पुनरनवधि त्रिसमयावस्थायि न तथा स्यात्। अथैवं यथा सिद्धं स्वभावत एव द्रव्यं तथा सदित्यपि तत्स्वभावत एव सिद्धमित्यवधार्यताम्। सत्तात्मनात्मनः स्वभावेन निष्पन्ननिष्पत्तिमद्भावयुक्तत्वात्। न च द्रव्यादर्थान्तरभूता सत्तोपपत्तिमभिप्रपद्यते, यतस्तत्समवायात्तत्सदिति स्यात्। सत सत्तायाश्च न तावद्युतसिद्धत्वेनार्थान्तरत्वं, तयोर्दण्डदण्डिवद्युतसिद्धस्यादर्शनात्। अयुतसिद्धत्वेनापि न तदुपपद्यते। इहेदमितिप्रतीतेरुत्पद्यत इति चेत् किंनिबन्धना हीदमिति प्रतीतिः भेदनिबन्धनेतिचेत् को नाम भेदः। प्रादेशिक अताद्भाविको वा। न तावत्प्रादेशिक·, पूर्वमेव युतसिद्धत्वस्यापसारणात्। अताद्भाविकश्चेत् उपपन्न एव यद्द्रव्य तन्न गुण इति वचनात्। अयं तु न खल्वेकान्तेनेहेदमितिप्रतीतेर्निबन्धनं, स्वयमेवोन्मग्ननिमग्नत्वात्। तथाहि—यदैव पर्यायेणार्प्यते द्रव्यं तदैव गुणवदिदं द्रव्यमयमस्य गुणः, शुभ्रमिदमुत्तरीयमयमस्य शुभ्रो गुण इत्यादिवदताद्भाविको भेद उन्मज्जति। यदा तु द्रव्येणार्प्यते द्रव्यं तदास्तमितसमस्तगुणवासनोन्मेषस्य तथाविधं द्रव्यमेव शुभ्रमुत्तरीयमित्यादिवत्प्रपश्यत· समूल एवाताद्भाविको भेदो निमज्जति। एवं हि भेदे निमज्जति तत्प्रत्यया प्रतीतिर्निमज्जति। तस्यां निमज्जत्यामयुतसिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वं निमज्जति। ततः समस्तमपि द्रव्यमेवैकं भूत्वावतिष्ठते। यदा तु भेद उन्मज्जति, तस्मिन्नुन्मज्जति

[1] तह (ज० वृ०)।

तत्प्रत्यया प्रतीतिरुन्मज्जति । तस्यामुन्मज्जत्यामयुतसिद्धत्वोत्थमर्थान्तरत्वमुन्मज्जति । तत्रापि तत्पर्यायत्वेनोन्मज्जज्जलराशेर्जलकल्लोल इव द्रव्यान्न व्यतिरिक्तं स्यात् एवं सति स्वयमेव सद्द्रव्यं भवति । यस्त्वेवं नेच्छति स खलु परसमय एव द्रष्टव्यः ॥९८॥

भूमिका—अब, द्रव्यों से द्रव्यान्तर की उत्पत्ति होने का और द्रव्य से सत्ता का अर्थान्तरत्व (अन्य भिन्न पदार्थ) होने का खण्डन करते हैं। (अर्थात् ऐसा निश्चित करते हैं कि किसी द्रव्य से अन्य द्रव्य की उत्पत्ति नहीं होती और द्रव्य से अस्तित्व कोई पृथक् पदार्थ नहीं है):—

अन्वयार्थ—[द्रव्य] द्रव्य [स्वभाव–सिद्ध] स्वभाव से सिद्ध और [सत् इति] (स्वभाव से ही) 'सत्' है, ऐसा [जिना] जिनेन्द्रदेव ने [तत्त्वत] यथार्थतः [समाख्यातवन्तः] कहा है, [यथा] इस प्रकार [आगमत] आगम से [सिद्धं] सिद्ध है, [य] जो [न इच्छति] (इसको) नही मानता [स] वह [हि] वास्तव मे [परसमय] परसमय है।

टीका—वास्तव मे द्रव्यों से द्रव्यान्तरों की उत्पत्ति नहीं होती, क्योंकि सर्व द्रव्यो के स्वभावसिद्धपना है (सर्व द्रव्य, पर–द्रव्य की अपेक्षा बिना, अपने स्वभाव से ही सिद्ध है) उनकी स्वभावसिद्धता तो उनकी अनादिनिधनता है, क्योंकि अनादिनिधन अन्य साधन की अपेक्षा नहीं रखता। वह (द्रव्य) गुणपर्यायात्मक अपने स्वभाव को ही–जो कि मूलसाधन है, धारण करके स्वयमेव सिद्ध और सिद्धि वाला हुआ वर्तता है। जो द्रव्यो मे उत्पन्न होता है वह तो द्रव्यान्तर नहीं है, (किन्तु) कादाचित्कता (अनित्यता) के होने से वह पर्याय है, जैसे—द्विअणुक इत्यादि तथा मनुष्य इत्यादि। द्रव्य तो अनवधि (मर्यादा रहित) त्रिसमय-अवस्थायी (त्रिकालस्थायी) है, (इसलिये) वैसा (कादाचित्क-क्षणिक-अनित्य) नहीं है।

अब इस प्रकार–जैसे द्रव्य स्वभाव से ही सिद्ध है उसी प्रकार (वह) 'सत् है' ऐसा भी वह स्वभाव से ही सिद्ध है, ऐसा निर्णय हो, क्योंकि सत्तात्मक ऐसे अपने स्वभाव से निष्पन्न निष्पत्तिमत् भाव वाला है–(द्रव्य 'सत्' है ऐसा भाव द्रव्य के सत्तास्वरूप स्वभाव का ही बना हुआ है)। द्रव्य से अर्थान्तरभूत सत्ता की उत्पत्ति नही है, कि जिसके समवाय से वह द्रव्य 'सत्' हो। (इसी को स्पष्ट समझाते हैं)—

प्रथम तो सत् के (द्रव्य के) और सत्ता के युतसिद्धता से अर्थान्तरत्व नहीं है, क्योंकि दण्ड और दण्डी की भांति उनके सम्बन्ध में युतसिद्धता दिखाई नहीं देती। (दूसरे)

अयुतसिद्धता से भी वह (अर्थान्तरत्व) नहीं बनता। 'इसमें यह है' (अर्थात् द्रव्य में सत्ता है) ऐसी प्रतीति होती है इसलिये वह बन सकता है—ऐसा कहा जाय तो (पूछते हैं कि) 'इसमे यह है' ऐसी प्रतीति किसके आश्रय (कारण) से होती है ? यदि ऐसा कहा जाय कि भेद के आश्रय से (अर्थात् द्रव्य और सत्ता मे भेद होने से) होती है तो वह कौनसा भेद है ? प्रादेशिक या अताद्भाविक ? प्रादेशिक तो है नहीं, क्योंकि युतसिद्धत्व का पहले ही निषेध कर दिया गया है, और यदि अताद्भाविक कहा जाय तो वह उत्पन्न (ठीक) ही है, क्योंकि ऐसा (शास्त्र का) वचन है कि 'जो द्रव्य है वह गुण नहीं है।' परन्तु (यहां यह भी ध्यान मे रखना कि) यह अताद्भाविक भेद 'एकान्त से इसमे से यह है' ऐसी प्रतीति का आश्रय (कारण) नहीं है, क्योंकि वह स्वयमेव उन्मग्न (प्रगट) और निमग्न (गौण) होता है। वह इस प्रकार है—जब द्रव्य को पर्याय की मुख्यता से (दृष्टि) से मुख्य किया जाता है (पर्यार्थिकनय से देखा जाय) तब ही—'शुक्ल यह वस्त्र है, यह इसका शुक्लत्व गुण है' इत्यादि की भांति, 'गुणवाला यह द्रव्य है, यह इसका गुण है' इस प्रकार अताद्भाविक भेद उन्मग्न होता है, परन्तु जब द्रव्य को द्रव्य की मुख्यता से (दृष्टि) से मुख्य किया जाता है (द्रव्यार्थिकनय से देखा जाता है), तब जिसके समस्त गुणवासना के उन्मेष (प्रगटता) अस्त हो गयी है, ऐसे उस जीव के—'शुक्लवस्त्र ही है' इत्यादि की भांति—'ऐसा द्रव्य ही है, इस प्रकार देखने वाले के समूल ही अताद्भाविक भेद निमग्न (गौण) होता है। इस प्रकार वास्तव मे भेद के निमग्न होने पर उसके आश्रय से (कारण से) होने वाली प्रतीति निमग्न होती है। उसके निमग्न होने पर अयुतसिद्धत्वजनित अर्थान्तरत्व निमग्न होता है, इसलिये समस्त ही एक द्रव्य ही होकर रहता है। और जब भेद उन्मग्न होता है, उसके उन्मग्न होने पर उसके आश्रय (कारण) से होने वाली प्रतीति उन्मग्न होती है, उसके उन्मग्न होने पर अयुतसिद्धत्वजनित अर्थान्तरत्व उन्मग्न होता है, तब भी वह (सत्) द्रव्य के पर्यायरूप से उन्मग्न होने से, —जैसे जलराशि से जलतरंगें व्यतिरिक्त नहीं हैं (अर्थात् समुद्र से तरंगें अलग नहीं है) उसी प्रकार द्रव्य से व्यतिरिक्त नहीं होता। ऐसा होने से (यह निश्चित हुआ कि द्रव्य स्वयमेव सत् है। जो ऐसा नहीं मानता वह वास्तव मे 'परसमय' (मिथ्यादृष्टि) ही मानना ॥६८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ यथा द्रव्य स्वभावसिद्ध तथा सदपि स्वभावित एवेत्याख्याति—

दव्व सहावसिद्ध द्रव्य परमात्मद्रव्य स्वभावसिद्ध भवति। कस्मात् ? अनाद्यनन्तेन परहेतु-निरपेक्षेण स्वत सिद्धेन केवलज्ञानादिगुणाधारभूतेन सदानन्दैकरूपसुखसुधारसपरमसमरसीभावपरिण-

तत्सर्वशुद्धात्मप्रदेशभरितावस्थेन शुद्धोपादानभूतेन स्वकीयस्वभावेन निष्पन्नत्वात् । यच्च स्वभावसिद्धं न भवति तद्द्रव्यमपि न भवति । द्व्यणुकादिपुद्गलस्कन्धपर्यायवत् मनुष्यादिजीवपर्यायवच्च । सदिति यथा स्वभावतः सिद्धं तद्द्रव्यं तथा सदिति सत्तालक्षणमपि स्वभावत एव भवति, न च भिन्न-सत्तासमवायात् । अथवा यथा द्रव्यं स्वभावतः सिद्धं तथा तस्य योसौ सत्तागुणः सोपि स्वभावसिद्ध एव । कस्मादिति चेत् । सत्ताद्रव्ययोः संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेपि दण्डदण्डिवद्भिन्नप्रदेशाभावात् । इदं के कथितवन्तः । जिणा तच्चदो समक्खादा जिना कर्तारः तत्त्वतः सम्यगाख्यातवन्तः कथितवन्तः सिद्धं तह आगमदो सन्तानापेक्षया द्रव्यार्थिकनयेनानादिनिधनागमादपि तथा सिद्धं णेच्छदि जो, सो हि परसमओ नेच्छति न मन्यते य इदं वस्तुस्वरूपं स हि स्फुटं परसमयो मिथ्यादृष्टिर्भवति । एवं यथा परमात्मद्रव्यं स्वभावतः सिद्धमवबोद्धव्यं तथा सर्वद्रव्याणीति । अत्र द्रव्यं केनापि पुरुषेण न क्रियते । सत्तागुणोपि द्रव्याद्भिन्नो नास्तीत्यभिप्रायः ॥९८॥

उत्थानिका—आगे यह कहते है कि जैसे द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है वैसे ही सत् भी स्वभाव से सिद्ध है—

गाथार्थ—(दव्वं) द्रव्यं (सहावसिद्धं) स्वभाव से सिद्ध है (सदिति) सत् भी स्वभाव सिद्ध है ऐसा (जिणा) जिनेन्द्रों ने (तच्चदो) तत्त्व से (समक्खादा) कहा है (तध) तैसे ही (आगमदो) आगम से (सिद्धं) सिद्ध है (जो) जो कोई (णेच्छदि) नहीं मानता है (सो हि परसमओ) वही प्रगट रूप से परसमय रूप है ।

टीकार्थ—यहाँ परमात्म-द्रव्य पर घटाकर कहते हैं कि परमात्मारूपी द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है क्योंकि परमात्मा अनादि अनन्त, बिना अन्य कारणों की अपेक्षा के अपने स्वतः सिद्ध केवलज्ञानादि गुणों के आधारभूत हैं, सदा आनन्दमयी सुधामृतरूपी परम समरसी भाव में परिणमन करते हुए सर्व शुद्ध आत्मप्रदेशों से भरपूर हैं तथा शुद्ध उपादान रूप से अपने ही स्वभाव से उत्पन्न हैं । जो सत् स्वरूप स्वभाव से सिद्ध नहीं होता है वह द्रव्य भी नहीं होता है । जैसे द्विणुक आदि पुद्गलस्कंध की पर्याय व मनुष्यादि जीव-पर्याय । जैसे द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है वैसे उसकी सत्ता भी स्वभाव से सिद्ध है, सत्ता किसी भिन्न सत्ता के समवाय से नहीं हुई है । क्योंकि सत्ता और द्रव्य में संज्ञा, लक्षण, प्रयो-जनादि से भेद होने पर भी जैसे दण्ड और दण्डी पुरुष के प्रदेशों का भेद है, ऐसी प्रदेशों की भिन्नता सत्ता और द्रव्यों में नहीं है । इस बात को तीर्थंकरों ने भले प्रकार वर्णन किया है । तथा यही बात सन्तान की अपेक्षा द्रव्यार्थिकनय से अनादि अनंत आगम से भी सिद्ध है । जो ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं स्वीकार करता है वह मिथ्यादृष्टि है । इस तरह जैसा परमात्म द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है तैसे ही सर्व द्रव्यों को स्वभाव से सिद्ध जानना चाहिये द्रव्य को किसी पुरुष ने रचा नहीं है और न द्रव्य का सत्ता गुण ही द्रव्य से भिन्न है इस गाथा का यह अभिप्राय है ॥९८॥

अथोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकत्वेऽपि सद्द्रव्यं भवतीति विभावयति—

सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हि परिणामो ।
अत्थेसु सो सहावो ठिदिसंभवणाससंबद्धो ॥९९॥

सदवस्थित स्वभावे द्रव्य द्रव्यस्य यो हि परिणाम ।
अर्थेषु स स्वभाव स्थितिसभवनाशसबद्ध ॥९९॥

इह हि स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात्सदिति द्रव्यम् । स्वभावस्तु द्रव्यस्य ध्रौव्योत्पादोच्छेदैक्यात्मकपरिणामः । यथैव हि द्रव्यवास्तुनः सामस्त्येनैकस्यापि विष्कम्भक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः प्रदेशाः, तथैव हि द्रव्यवृत्तेः सामस्त्येनैकस्यापि प्रवाहक्रमप्रवृत्तिवर्तिनः सूक्ष्मांशाः परिणामाः । यथा च प्रदेशानां परस्परव्यतिरेकनिबन्धनो विष्कम्भक्रमः, तथा परिणामानां परस्पर-व्यतिरेकनिबन्धनः प्रवाहक्रमः यथैव च ते प्रदेशाः स्वस्थाने स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतयानुत्पन्नप्रलीनत्वाच्च संभूतिसंहारध्रौव्यात्मकमात्मानं धारयन्ति, तथैव ते परिणामा स्वावसरे स्वरूपपूर्वरूपाभ्यामुत्पन्नोच्छन्नत्वात्सर्वत्र परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतयानुत्पन्नप्रलीनत्वाच्च संभूतिसंहारध्रौव्यात्मकमात्मानं धारयन्ति । यथैव च य एव हि पूर्वप्रदेशोच्छेदनात्मको वास्तुसीमान्तः स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकवास्तुतयातदुभयात्मक इति । तथैव य एव हि पूर्वपरिणामोच्छेदात्मकः प्रवाहसीमान्तः स एव हि तदुत्तरोत्पादात्मकः, स एव च परस्परानुस्यूतिसूत्रितैकप्रवाहतया तदुभयात्मक इति एवमस्य स्वभावत एव त्रिलक्षणायां परिणामपद्धतौ दुर्ललितस्य स्वभावानतिक्रमात्त्रिलक्षणमेव सत्त्वमनुमोदनीयम् मुक्ताफलदामवत् । यथैव हि परिगृहीतद्राघिम्नि प्रलम्बमाने मुक्ताफलदामनि समस्तेष्वपि स्वधामसूच्चकासत्सु मुक्ताफलेषूत्तरोत्तरेषु धामसूत्तरोत्तरमुक्ताफलानामुदयनात्पूर्वपूर्वमुक्ताफलानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य सूत्रकस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति, तथैव हि परिगृहीतनित्यवृत्तिनिवर्तमाने द्रव्ये समस्तेष्वपि स्वावसरेषूच्चकासत्सु परिणामेषूत्तरोत्तरेष्ववसरेषूत्तरोत्तरपरिणामानामुदयनात्पूर्वपूर्वपरिणामानामनुदयनात् सर्वत्रापि परस्परानुस्यूतिसूत्रकस्य प्रवाहस्यावस्थानात्त्रैलक्षण्यं प्रसिद्धिमवतरति ॥९९॥

भूमिका—**अब, यह बतलाते हैं कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक होने पर भी द्रव्य 'सत्' है—**

अन्वयार्थ—[स्वभावे] स्वभाव मे [अवस्थित] अवस्थित [सत्] सत् [द्रव्य] द्रव्य है [द्रव्यस्य] द्रव्य का [अर्थेषु] गुणपर्यायो मे [य हि] जो [स्थितिसभवनाशसबद्ध] उत्पादव्ययध्रौव्य सहित [परिणाम] परिणाम है [स] वह [स्वभाव] उसका स्वभाव है।

टीका—यहां (विश्व में) वास्तव में स्वभाव में नित्य अवस्थित होने से सत् द्रव्य है। स्वभाव द्रव्य का ध्रौव्य-उत्पाद-विनाश की एकता स्वरूप परिणाम है। जैसे द्रव्य वास्तु के +समग्रतया (अखण्डता से) एक होने पर भी, विस्तार क्रम की प्रवृत्ति मे वर्तने वाले सूक्ष्म अंश प्रदेश हैं, इसी प्रकार द्रव्य की वृत्ति (द्रव्य परिणति, द्रव्य प्रवाह) के, समग्रतया एक होने पर भी, प्रवाह क्रम की प्रवृत्ति मे वर्तने वाला सूक्ष्म अंश परिणाम है। जैसे प्रदेशों के परस्पर व्यतिरेक के कारण से होने वाला विष्कम्भ क्रम है, उसी प्रकार परिणामों के परस्पर व्यतिरेक के कारण से होने वाला प्रवाह क्रम है।

जैसे वे प्रदेश अपने स्थान मे स्व-रूप से उत्पन्न और पूर्व-रूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एकवास्तुपने से अनुत्पन्न-अविनष्ट होने से उत्पत्ति सहार-ध्रौव्यात्मक अपने स्वरूप को धारण करते है, उसी प्रकार वे परिणाम अपने अवसर में स्व-रूप से उत्पन्न और पूर्व-रूप से विनष्ट होने से तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाहपने से अनुत्पन्न अविनष्ट होने से उत्पत्ति सहार-ध्रौव्यात्मक अपने स्वरूप को धारण करते हैं। और जैसे जो पूर्व प्रदेश के विनाश रूप वस्तुका सीमान्त है, वही उसके बाद के प्रदेश का उत्पाद स्वरूप है तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एक वास्तुत्व से दोनों (उत्पाद-व्यय) स्वरूप नहीं हैं (ध्रुव है) इसी प्रकार जो ही पूर्व परिणाम के विनाश रूप प्रवाह का सीमान्त है, वही उसके बाद के परिणाम के उत्पादस्वरूप है, तथा वही परस्पर अनुस्यूति से रचित एक प्रवाहत्व से दोनो (उत्पाद-व्यय) स्वरूप नही हैं (ध्रुव हैं)।

इस प्रकार स्वभाव से ही त्रिलक्षण परिणाम पद्धति मे (परिणामों की परम्परा मे) प्रवर्तमान द्रव्य स्वभाव का अतिक्रम नहीं करता, इसलिये सत्त्व को त्रिलक्षण ही अनुमोदित करना चाहिये मोतियों के हार की भाति। जैसे—जिसने (अमुक) लम्बाई ग्रहण की है ऐसे लटकते हुये मोतियों के हार मे, अपने अपने स्थानो मे प्रकाशित होते हुये समस्त मोतियों मे, अगले-अगले स्थानो में अगले-अगले मोती प्रगट होते हैं इसलिये, और पहले-पहले के मोती प्रगट नहीं होते इसलिये तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति का रचयिता सूत्र

+ द्रव्य का वास्तु-द्रव्यका स्व-विस्तार, द्रव्य का स्व क्षेत्र, द्रव्य का स्व-आकार, द्रव्य का स्व-बल। (वास्तु घर, निवासस्थान, आश्रय, भूमि।)

अवस्थित होने से, त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धि को प्राप्त होता है। इसी प्रकार जिसने नित्यवृत्ति ग्रहण की है ऐसे रचित (परिणमित) होते हुये समस्त परिणामों मे अगले-अगले अवसरों पर अगले परिणाम प्रगट होते हैं इसलिये और पहले-पहले के परिणाम नहीं प्रगट होते हैं इसलिये तथा सर्वत्र परस्पर अनुस्यूति रचने वाला प्रवाह अवस्थित होने से, त्रिलक्षणत्व प्रसिद्धि प्राप्त होती है ॥९९॥

तात्पर्यवृत्ति

अथोत्पादव्ययध्रौव्यत्वे सति सत्तैव द्रव्य भवतीति प्रज्ञापयति—

सदवठ्ठिद सहावे दव्व द्रव्य मुक्तात्मद्रव्य भवति। कि कर्तृ ? सदिति शुद्धचेतनान्वयरूप मस्तित्व। किविशिष्ट ? अवस्थित। क्व ? स्वभावे स्वभाव कथयति—**दव्वस्स जो हि परिणामो** तस्य परमात्मद्रव्यस्य सबन्धी हि स्फुट य परिणाम केषु विषयेषु ? **अत्थेसु** परमात्मपदार्थस्य धर्मत्वादभेदनये-नार्था भण्यन्ते। के ते ? केवलज्ञानादिगुणा सिद्धत्वादिपर्यायाश्च, तेष्वर्थेषु विषयेषु यऽसौ परिणाम। **सो सहाओ** केवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वादिपर्यायरूपस्तस्य परमात्मद्रव्यस्य स्वभावो भवति। स च कथभूत ? **ठिदिसभवणासबधो** स्वात्मप्राप्तिरूपमोक्षपर्यायस्य सभवस्तस्मिन्नेव क्षणे परमागमभाषयैकत्ववितर्कविचारद्वितीयशुक्लध्यानसज्ञस्य शुद्धोपादानभूतस्य समस्तरागादिविकल्पोपाधिरहितस्य सवेदनज्ञानपर्यायस्य नाशस्तस्मिन्नेव समये तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यस्य स्थितिरित्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेण सबन्धो भवतीति। एवमुत्पादव्ययध्रौव्यत्रयेणैकसमये यद्यपि पर्यायार्थिकनयेन परमात्मद्रव्य परिणत, तथापि द्रव्यार्थिकनयेन सत्तालक्षणमेव भवति। त्रिलक्षणमपि सत्सत्तालक्षण कथ भण्यत इति चेत् "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्" इति वचनात्। यथेद परमात्मद्रव्यमेकसमयेनोत्पादव्ययध्रौव्यै परिणतमेव सत्तालक्षण भण्यते, तथा सर्वद्रव्याणीत्यर्थ ॥९९॥

एव स्वरूपसत्तारूपेण प्रथमगाथा, महासत्तारूपेण द्वितीया, यथा द्रव्य स्वत सिद्ध तथा सत्तागुणोपीति कथनेन तृतीया, उत्पादव्ययध्रौव्यत्वेपि सत्तैव द्रव्य भण्यत इति कथनेन चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्तालक्षणविवरणमुख्यतया द्वितीयस्थल गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप होते हुए सत्ता ही द्रव्य स्वरूप है अथवा द्रव्य सत् स्वरूप है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(सहावे) स्वभाव मे (अवट्ठिद) रहा हुआ (सत्) सत् (दव्वं) द्रव्य है। (दव्वस्स) द्रव्य का (अत्थेसु) गुण पर्यायो मे (जो) जो (ठिदिसंभवणास-संबद्धो) ध्रौव्य, उत्पाद व्यय सहित परिणाम है (सो) वह (हि) ही (सहावो) स्वभाव है।**

स्वभाव में तिष्ठा हुआ शुद्ध चेतना का अन्वयरूप (बराबर) अस्तित्व परमात्मा द्रव्य है। उस परमात्मा द्रव्य का अपने केवलज्ञानादि गुण और सिद्धत्व (यहाँ अरहंतपने से मतलब है) आदि पर्यायों में अपने आत्मा की प्राप्ति रूप उत्पाद उसी ही समय में परमागम की भाषा से एकत्व वितर्क अवीचाररूप दूसरे शुक्लध्यान का या

शुद्ध उपादान रूप सर्व रागादि के विकल्प की उपाधि से रहित स्वसंवेदन ज्ञान पर्याय का नाश तथा उसी समय इन दोनों उत्पाद व्यय के आधार रूप परमात्मद्रव्य की स्थिति इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य सम्बन्धी जो परिणाम है वही निश्चय से उस परमात्म द्रव्य का केवलज्ञानादि गुण वा सिद्धत्व आदि पर्याय रूप स्वभाव है। गुण पर्याय द्रव्य के स्वभाव हैं इसलिये उनको अर्थ कहते हैं। इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीन स्वभाव से एक समय में यद्यपि पर्यायार्थिकनय से परमात्म द्रव्य परिणमन करते हैं तथापि द्रव्यार्थिकनय से सत्ता लक्षण रूप ही हैं। तीन लक्षण रूप होते हुये भी सत्ता लक्षण क्यों कहते हैं ? इसका समाधान यह है कि सत्ता उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। जैसा कहा है "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्" जैसे यह परमात्म द्रव्य एक समय में ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य से परिणमन करता हुआ ही सत्ता लक्षण कहा जाता है तैसे ही सर्व द्रव्यों का स्वभाव है, यह अर्थ है ॥९९॥

इस तरह स्वरूप सत्ता को कहते हुये प्रथम गाथा, महासत्ता को कहते हुए दूसरी गाथा, जैसे द्रव्य स्वतः सिद्ध है वैसे उसकी सत्ता गुण भी स्वतः सिद्ध है ऐसा कहते हुये तीसरी गाथा, उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप होते हुये भी सत्ता ही को द्रव्य कहते हुये चौथी गाथा इस तरह चार गाथाओं के द्वारा सत्ता लक्षण के व्याख्यान की मुख्यता करके दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

अथोत्पादव्ययध्रौव्याणां परस्पराविनाभावं दृढयति—

ण भवो भंगविहोणो भंगो वा णत्थि संभवविहीणो ।
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण[1] अत्थेण ॥१००॥

न भवो भङ्गविहीनो भङ्गो वा नास्ति सभवविहीन ।
उत्पादोऽपि च भङ्गो न विना ध्रौव्येणार्थेन ॥१००॥

न खलु सर्ग. संहारमन्तरेण, न संहारो वा सर्गमन्तरेण, न सृष्टिसंहारौ स्थितिमन्तरेण, न स्थितिः सर्गसंहारमन्तरेण। य एव हि सर्गः स एव संहारः, य एव संहारः स एव सर्गः, यावेव सर्गसंहारौ सैव स्थितिः, यैव स्थितिस्तावेव सर्गसंहाराविति। तथाहि— य एव कुम्भस्य सर्ग. स एव मृत्पिण्डस्य संहार., भावस्य भावान्तराभावस्वभावेनावभासनात्। य एव च मृत्पिण्डस्य संहारः, स एव कुम्भस्य सर्ग., अभावस्य भावान्तरभावस्वभावेनावभासनात्। यौ च कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ सैव मृत्तिकायाः स्थितिः, व्यतिरेकमुखेनैवान्वयस्य

---

१. दव्वेण (ज० वृ०)।

प्रकाशनात । यैव च मृत्तिकायाः स्थितिस्तावेव कुम्भपिण्डयोः सर्गसंहारौ, व्यतिरेकाणाम-न्वयानतिक्रमणात् । यदि पुनर्नैवमेवमिष्येत तदान्यः सर्गोऽन्यः संहारः अन्या स्थितिरित्यायाति तथा सति हि केवलं सर्गं मृगयमाणस्य कुम्भस्योत्पादनकारणाभावादभवनिरेव भवेत्, असदुत्पाद एव वा । तत्र कुम्भस्याभवनौ सर्वेषामेव भावानामभवनिरेव भवेत् । असदुत्पादे वा व्योमप्रसवादीनामप्युत्पादः स्यात् । तथा केवल संहारमारभमाणस्य मृत्पिण्डस्य संहारकारणा-भावादसंहरणिरेव भवेत्, सदुच्छेद एव वा तत्र मृत्पिण्डस्यासंहरणौ सर्वेषामेव भावानामसं-हरणिरेव भवेत् । सदुच्छेदे वा संविदादीनामप्युच्छेदः स्यात् । तथा केवलां स्थितिमुपगच्छ-न्त्या मृत्तिकाया व्यतिरेकाक्रान्तस्थित्यन्वयाभावादस्थानिरेव भवेत्, क्षणिकनित्यत्वमेव वा । तत्र मृत्तिकाया अस्थानौ सर्वेषामेव भावानामस्थानिरेव भवेत् । क्षणिकनित्यत्वे वा चित्तक्षणा-नामपि नित्यत्वं स्यात् । तत उत्तरोत्तरव्यतिरेकाणां सर्गेण पूर्वपूर्वव्यतिरेकाणां संहारेणान्व-यस्यावस्थानेनाविनाभूतमुद्योतमाननिर्विघ्नत्रैलक्षण्यलाञ्छनं द्रव्यमवश्यमनुमन्तव्यम् ॥१००॥

भूमिका—अब, उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का परस्पर अविनाभाव दृढ़ करते हैं—

अन्वयार्थ—[भव] उत्पाद [भङ्गविहीन·] भग (व्यय) रहित [न] नही होता [वा] और [भङ्गः] व्यय [सभवविहीन·] उत्पाद-रहित [नास्ति] नही होता, [उत्पादः] उत्पाद [अपि च] तथा [भङ्गः] व्यय [ध्रौव्येण अर्थेन बिना] ध्रौव्य पदार्थ के बिना [न] नही होता ।

टीका—वास्तवमें उत्पाद, व्यय के बिना नहीं होता और व्यय, उत्पाद के बिना नहीं होता तथा उत्पाद और व्यय, स्थिति (ध्रौव्य) के बिना नहीं होते, और ध्रौव्य, उत्पाद तथा व्यय के बिना नहीं होता । जो उत्पाद है वही व्यय है । जो व्यय है वही उत्पाद है, जो उत्पाद और व्यय है वही ध्रौव्य है, जो ध्रौव्य है वही उत्पाद और व्यय है । वह इस प्रकार है कि जो कुम्भ का उत्पाद है वही मृत्तिका-पिण्ड का व्यय है, क्योंकि भाव का भावान्तर के अभाव स्वभाव से अवभासन है । (अर्थात् भाव अन्य भाव के अभाव रूप स्वभाव से प्रकाशित है—दिखाई देता है ।) और जो मृत्तिका-पिण्ड का व्यय है, वही कुम्भ का उत्पाद है, क्योंकि अभाव का भावान्तर के भाव-स्वभाव से अवभासन है, (अर्थात् व्यय अन्य भाव के उत्पाद रूप स्वभाव से प्रकाशित है ।) और जो कुम्भ का उत्पाद और पिण्ड का व्यय है, वही मृत्तिका का ध्रौव्य है, क्योंकि व्यतिरेकों के द्वारा ही अन्वय का प्रकाशन है । और जो मृत्तिका का ध्रौव्य है वही कुम्भ का उत्पाद और मृत्पिण्ड का व्यय है, क्योंकि व्यतिरेकों के अन्वय का उल्लघन नहीं है, और यदि ऐसा न माना जाय

तो ऐसा सिद्ध होगा कि उत्पाद अन्य है, व्यय अन्य है, ध्रौव्य अन्य है। (अर्थात् तीनो पृथक्-पृथक् हैं, ऐसा मानने का प्रसंग आजायगा।) ऐसा होने पर (क्या दोष आता है, सो समझाते हैं)—केवल उत्पाद-अन्वेषक को कुंभ की (व्यय और ध्रौव्य से भिन्न मात्र उत्पाद को जानने वाले व्यक्ति को कुंभ की), उत्पादन के (उत्पत्ति के) कारण का अभाव होने से, उत्पत्ति ही नहीं मिलेगी, अथवा असत् का ही उत्पाद होगा। और वहां, (१) यदि कुम्भ की उत्पत्ति न होगी तो समस्त ही भावों की उत्पत्ति ही न होगी। (अर्थात् जैसे कुम्भ की उत्पत्ति नहीं होगी, उसही प्रकार विश्व के किसी भी द्रव्य मे किसी भी भाव का उत्पाद नहीं होगा, यह दोष आयगा), अथवा (२) यदि असत् का उत्पाद हो, तो आकाश के पुष्प इत्यादि का भी उत्पाद होगा, (अर्थात् शून्य में से पदार्थ उत्पन्न होने लगेंगे,—यह दोष आएगा।) और, केवल व्यय को आरम्भ करने वाले (उत्पाद और ध्रौव्य से रहित केवल व्यय करने को उद्यत) मृतपिण्ड का, व्यय के कारण का अभाव होने से, व्यय ही नहीं होगा, अथवा सत् का ही उच्छेद होगा। वहां, (१) यदि मृत्पिण्डका व्यय न होगा तो समस्त ही भावों का व्यय ही नहीं होगा, (अर्थात् जैसे मृत्तिकापिण्डका व्यय नहीं होगा उसी प्रकार विश्व के किसी भी द्रव्य में किसी भी भाव का व्यय ही नहीं होगा,–यह दोष आएगा), अथवा (यदि सत् का उच्छेद होगा तो चैतन्य इत्यादि का भी उच्छेद हो जाएगा, (अर्थात् समस्त द्रव्यों का सम्पूर्ण नाश हो जायेगा,–यह दोष आयगा।) और केवल ध्रौव्य को प्राप्त करने को जाने वाली मृत्तिका का, व्यतिरेक सहित ध्रौव्य का अन्वय (मृत्तिका) अभाव होने से, ध्रौव्य ही नहीं होगा, अथवा क्षणिक का ही नित्यत्व आजायगा। वहां (१) मृत्तिका का ध्रौव्य न हो तो समस्त ही भावों का ध्रौव्य ही नहीं होगा, (अर्थात् यदि मिट्टी ध्रुव न रहे तो मिट्टी की ही भांति विश्व का कोई भी द्रव्य ध्रुव ही नहीं रहेगा–यह दोष आयगा।) अथवा (२) यदि क्षणिक का नित्यत्व हो तो चित्त के क्षणिक-भावों का भी नित्यत्व होगा, (अर्थात् मन का प्रत्येक विकल्प भी त्रैकालिक ध्रुव हो जाय यह दोष आयेगा।) इसलिये उत्तर उत्तर व्यतिरेको की उत्पत्ति के साथ, पूर्व पूर्व व्यतिरेकों के संहार के साथ और अन्वय के अवस्थान (ध्रौव्य) के साथ अविनाभाव वाला, जिसका निर्विघ्न (अबाधित) त्रिलक्षणतारूप चिह्न प्रकाशमान है, ऐसा द्रव्य अवश्य मानने योग्य है ॥१००॥

तात्पर्यवृत्ति

अथोत्पादव्ययध्रौव्याणा परस्परसापेक्षत्व दर्शयति—

ण भवो भगविहीणो निर्दोषपरमात्मरुचिरूपसम्यक्त्वपर्यायस्य भव उत्पाद , तद्विपरीतमिथ्यात्व-पर्यायस्य भङ्ग विना न भवति । कस्मात् ? उपादानकारणाभावात्, मृत्पिण्डभङ्गाभावे घटोत्पाद इव । द्वितीय च कारण मिथ्यात्वपर्यायभङ्गस्य सम्यक्त्वपर्यायरूपेण प्रतिभासनात् । तदपि कस्मात् ? "भावा-न्तरस्वभावरूपो भवत्यभाव " इति वचनात् । घटोत्पादरूपेण मृत्पिण्डभङ्ग इव । यदि पुनर्मिथ्यात्व-पर्यायभङ्गस्य सम्यक्त्वोपादानकारणभूतस्याभावेऽपि शुद्धात्मानुभूतिरुचिरूपसम्यक्त्वस्योत्पादो भवति, तर्ह्युपादानकारणरहिताना खपुष्पादीनामप्युत्पादो भवतु ? न च तथा । **भगो वा णत्थि सभवविहीणो** परद्रव्योपादेयरूपमिथ्यात्वस्य भङ्गो नास्ति । कथभूत ? पूर्वोक्तसम्यक्त्वपर्यायसभवरहित । कस्मादिति चेत् ? भङ्गकारणाभावात्, घटोत्पादाभावे मृत्पिण्डस्येव । द्वितीय च कारण सम्यक्त्वपर्यायोत्पादस्य मिथ्यात्वपर्यायाभावरूपेण दर्शनात् । तदपि कस्मात् ? पर्यायस्य पर्यायान्तराभावरूपत्वाद्, घटपर्यायस्य मृत्पिण्डाभावरूपेणेव । यदि पुन सम्यक्त्वोत्पादनिरपेक्षो भवति मिथ्यात्वपर्यायाभावस्तर्हिअभाव एव न स्यात् । कस्मात् ? अभावकारणाभावादिति, घटोत्पादाभावे मृत्पिण्डाभावस्य इव । **उप्पादोवि य भगो ण विणा दव्वेण अत्थेण** परमात्मरुचिरूपसम्यक्त्वस्योत्पादस्तद्विपरीतमिथ्यात्वस्य भङ्गो वा नास्ति । क विना ? तदुभयाधारभूतपरमात्मरूपद्रव्यपदार्थ विना । कस्मात् ? द्रव्याभावे व्ययोत्पादाभावान्मृत्तिकाद्रव्यभावे घटोत्पादमृत्पिण्डभङ्गाभावादिति । यथा सम्यक्त्वमिथ्यात्वपर्यायद्वये परस्परसापेक्षमुत्पादा-दित्रय दर्शित तथा सर्वद्रव्यपर्यायेषु द्रष्टव्यमित्यर्थ ॥१००॥

उत्थानिका—आगे उत्पाद व्यय ध्रौव्य इन तीनो मे परस्पर अपेक्षापना है, ऐसा दिखलाते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(भगविहीणो भवो ण) व्यय के विना उत्पाद नहीं होता है (वा) तथा (सभवविहीणो भगो णत्थि) उत्पाद के विना भग या व्यय नहीं होता है (य) और (उप्पादो वि) उत्पाद तथा (भगो) व्यय (दव्वेण अत्थेण विणा ण) ध्रौव्य पदार्थ के विना नहीं होते ।**

निर्दोष परमात्मा की रुचिरूप सम्यक्त्व अवस्था का उत्पाद सम्यक्त्व से विपरीत मिथ्यात्व पर्याय के नाश के विना नहीं होता है क्योंकि उपादानकारण के अभाव से कार्य नहीं बन सकेगा । जब उपादानकारण होगा तब ही कार्य हो सकता है । जैसे मिट्टी के पिंड का नाश हुए विना घड़ा नहीं पैदा हो सकता है । मिट्टी का पिंड उपादानकारण है । दूसरा कारण यह है कि जो मिथ्यात्वपर्याय का नाश है वही सम्यक्त्व की पर्याय का प्रतिभास है क्योंकि ऐसा सिद्धान्त का वचन है कि "भावान्तरस्वभावरूपो भवत्यभावः" अन्य भाव रूप स्वभाव ही अभाव होता है अर्थात् अभाव नहीं होता—अन्य अवस्थारूप परिणमना ही अभाव है, जैसे घटका उत्पन्न होना ही मिट्टी के पिंड का भंग (व्यय) है । यदि

मिथ्यात्वपर्याय के भंगरूप सम्यक्त्व के उपादानकारण के अभाव में शुद्धात्मा की अनुभूति की रुचि रूप सम्यक्त्व का उत्पाद हो जावे तो उपादानकारण से रहित आकाश के पुष्पों का भी उत्पाद हो जावे सो ऐसा नहीं हो सकता है। इसी तरह पर-द्रव्य उपादेय है— ग्राह्य है, ऐसे मिथ्यात्व का नाश पूर्व में कहे हुए सम्यक्त्व पर्याय के उत्पाद बिना नहीं होता है क्योंकि भंग के कारण का अभाव होने से भंग नहीं बनेगा जैसे घटकी उत्पत्ति के अभाव में मिट्टी के पिंड का नाश नहीं बनेगा। दूसरा कारण यह है कि सम्यक्त्व रूप पर्याय की उत्पत्ति मिथ्यात्व रूप पर्याय के अभाव रूप से ही देखने में आती है क्योंकि एक पर्याय का अन्य पर्याय में पलटना होता है। जैसे घट पर्याय की उत्पत्ति मिट्टी के पिंड के अभाव रूप से ही होती है। यदि सम्यक्त्व की उत्पत्ति की अपेक्षा के बिना मिथ्यात्व पर्याय का अभाव होता है, ऐसा माना जाय तो मिथ्यात्वपर्याय का अभाव हो ही नहीं सकता क्योंकि अभाव के कारण का अभाव है अर्थात् उत्पाद नहीं है। जैसे घट की उत्पत्ति के बिना मिट्टी के पिंड का अभाव नहीं हो सकता इसी तरह परमात्मा की रुचि-रूप सम्यक्त्व का उत्पाद तथा उससे विपरीत मिथ्यात्वपर्याय का नाश ये दोनों बातें इन दोनों के आधारभूत परमात्म-रूप द्रव्य पदार्थ के बिना नहीं होतीं। क्योंकि द्रव्य के अभाव में व्यय और उत्पाद का अभाव है। मिट्टी द्रव्य के अभाव होने पर न घट की उत्पत्ति होती है, न मिट्टी के पिंड का भंग होता है। जैसे सम्यक्त्व और मिथ्यात्वपर्याय दोनों में परस्पर अपेक्षापना है ऐसा समझकर ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों दिखलाए गए हैं। इसी तरह सर्व द्रव्य की पर्यायों में देख लेना व विचार लेना चाहिये, ऐसा अर्थ है ॥१००॥

अथोत्पादादीनां द्रव्यादर्थान्तरत्वं संहरति—

उप्पादट्ठिदिभंगा विज्जंते पज्जएसु पज्जाया।
दव्वे[1] हि संति णियदं तम्हा दव्वं हवदि सव्वं ॥१०१॥

उत्पादस्थितिभङ्गा विद्यन्ते पर्यायेषु पर्यायाः।
द्रव्ये हि सन्ति नियतं तस्माद्द्रव्यं भवति सर्वम् ॥१०१॥

उत्पादव्ययध्रौव्याणि हि पर्यायानालम्बन्ते, ते पुनः पर्याया द्रव्यमालम्बन्ते। ततः समस्तमप्येतदेकमेव द्रव्यं न पुनर्द्रव्यान्तरम्। द्रव्यं हि तावत्पर्यायैरालम्ब्यते। समुदायिनः समुदायात्मकत्वात् पादपवत्। यथा हि समुदायी पादपः स्कन्धमूलशाखासमुदायात्मकः

१ दव्व (ज० वृ०)।

स्कन्धमूलशाखाभिरालम्बित एव प्रतिभाति, तथा समुदायि द्रव्यं पर्यायसमुदायात्मकं पर्यायैरालम्बितमेव प्रतिभाति। पर्यायास्तूत्पादव्ययध्रौव्यैरालम्ब्यन्ते उत्पादव्ययध्रौव्याणामंशधर्मत्वात् बीजांकुरपादपत्ववत्। यथा किलांशिनः पादपस्य बीजांकुरपादपत्वलक्षणास्त्रयोंऽशा भङ्गोत्पाद—ध्रौव्यलक्षणैरात्मधर्मैरालम्बिताः सममेव प्रतिभान्ति, तथांशिनो द्रव्यस्योच्छिद्यमानोत्पद्यमानावतिष्ठमानभावलक्षणास्त्रयोंऽशा भङ्गोत्पादध्रौव्यलक्षणैरात्मधर्मैरालम्बिता. सममेव प्रतिभान्ति। यदि पुनर्भङ्गोत्पादध्रौव्याणि द्रव्यस्यैवेष्यन्ते तदा समग्रमेव विप्लवते। तथाहि भगे तावत् क्षणभङ्गकटाक्षितानामेकक्षण एव सर्वद्रव्याणां संहरणाद्द्रव्यशून्यतावतारः सदुच्छेदो वा। उत्पादे तु प्रतिसमयोत्पादमुद्रितानां प्रत्येकं द्रव्याणामानन्त्यमसदुत्पादो वा। ध्रौव्ये तु क्रमभुवा भावानामभावाद्द्रव्यस्याभावः क्षणिकत्वं वा। अत उत्पादव्ययध्रौव्यैरालम्ब्यन्तां पर्यायाः पर्यायैश्च द्रव्यमालम्ब्यतां, येन समस्तमप्येतदेकमेव द्रव्यं भवति ॥१०१॥

भूमिका—अब, उत्पादादि का द्रव्य से अर्थान्तरत्व को नष्ट करते हैं, (अर्थात् यह सिद्ध करते है कि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य द्रव्य से पृथक् पदार्थ नहीं हैं)—

अन्वयार्थ—[उत्पाद-स्थिति-भङ्गाः] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय [पर्यायेषु] पर्यायो मे (अशो मे) [विद्यन्ते] रहते है [हि] निश्चय से [पर्यायाः]पर्याये [द्रव्ये हि सन्ति] द्रव्य मे होती है, [तस्मात्] इसलिये [नियत] नियम से [सर्वं] वह सब (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य) [द्रव्य भवति] द्रव्य हैं।

टीका—उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य वास्तव मे पर्यायों (अंशों) को आलम्बन करते हैं, और वे पर्यायें द्रव्य को आलम्बन करती हैं, इसलिये यह सब द्रव्य ही है, द्रव्यान्तर नहीं (उत्पाद व्यय-ध्रौव्य द्रव्य से पृथक् पदार्थ नहीं हैं) वास्तव में प्रथम तो द्रव्य पर्यायों के (अंशों) के द्वारा आलम्बित किया जाता है, क्योंकि समुदायी (समुदायवान्) समुदाय स्वरूप होता है। वृक्ष की भांति जैसे समुदायी वृक्ष, स्कंधमूल और शाखाओं का समुदाय स्वरूप होने से स्कंध, मूल और शाखाओं से आलम्बित ही प्रतिभासित होता है (दिखाई देता है), इस ही प्रकार समुदायी द्रव्य, पर्यायों का समुदाय स्वरूप होने से पर्यायों के द्वारा आलम्बित ही प्रतिभासित होता है। (अर्थात् जैसे स्कंध, मूल और शाखायें वृक्षाश्रित ही हैं—वृक्ष से भिन्न पदार्थ रूप नहीं हैं, उस ही प्रकार पर्यायें द्रव्याश्रित ही हैं—द्रव्य से भिन्न पदार्थ रूप नहीं हैं।) और पर्यायें उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के द्वारा आलम्बित हैं (अर्थात् उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य पर्यायाश्रित हैं) क्योंकि उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के अंश—धर्मपना

है, बीज, अंकुर और वृक्षत्व की भांति। जैसे अंशीवृक्ष के बीज वृक्षत्व स्वरूप तीन अंश, व्यय-उत्पाद-ध्रौव्य स्वरूप निज धर्मों से आलम्बित एक साथ ही भासित होते हैं, उसी प्रकार अंशी-द्रव्य के, नष्ट होता हुआ भाव, उत्पन्न होता हुआ भाव, और अवस्थित रहने वाला भाव यह हैं लक्षण जिनके ऐसे तीनों अंश व्यय-उत्पाद-ध्रौव्य स्वरूप निज धर्मों के द्वारा आलम्बित एक साथ ही भासित होते हैं। किन्तु यदि द्रव्य का ही (१) व्यय, (२) उत्पाद और (३) ध्रौव्य माना जाय तो सारी गड़बड़ी हो जायेगी। यथा (१) अकेले, यदि द्रव्य का ही व्यय माना जाय, तो क्षण भग से लक्षित समस्त द्रव्यों का एक क्षण में ही व्यय हो जाने से द्रव्य शून्यता आ जायगी, अथवा सत् का उच्छेद हो जायगा। (यदि द्रव्य का ही उत्पाद माना जाय, तो समय-समय पर होने वाले उत्पाद के द्वारा चिन्हित द्रव्यों की अनन्तता आ जायगी। (अर्थात् समय-समय पर होने वाला उत्पाद जिसका चिन्ह हो ऐसा प्रत्येक द्रव्य अनन्त द्रव्यत्व को प्राप्त हो जायगा) अथवा असत् का उत्पाद हो जायगा, (३) यदि द्रव्य का ही ध्रौव्य माना जाय तो क्रमशः होने वाले भावो के अभाव के कारण द्रव्य का अभाव हो जायगा, अथवा क्षणिकत्व आ जायगा। इसलिये उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य के द्वारा पर्यायें आलम्बित हों, और पर्यायों के द्वारा द्रव्य आलम्बित हो, कि जिससे यह सब एक ही द्रव्य होता है ॥१०१॥

तात्पर्यवृत्ति

अथोत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्येण सह परस्पराधाराधेयभावत्वादन्वयद्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यमेव भवतीत्युपदिशति,—

उप्पादट्ठिदिभंगा विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावात्मतत्त्वनिर्विकारस्वसवेदनज्ञानरूपेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे स्वसवेदनज्ञानविलक्षणाज्ञानपर्यायरूपेण भङ्ग, तदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपेण स्थितिरित्युक्तलक्षणास्त्रयो भङ्गा कर्तार **विज्जते** विद्यन्ते तिष्ठन्ति। केषु ? **पज्जएसु** सम्यक्त्वपूर्वकनिर्विकारस्वसवेदनज्ञानपर्याये तावदुत्पादस्तिष्ठति स्वसवेदनज्ञानविलक्षणाज्ञानपर्यायरूपेण भगस्तदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपपर्यायेण ध्रौव्य चेत्युक्तलक्षणस्वकीयस्वकीयपर्यायेषु **पज्जाया दव्व हि सति** ते चोक्तलक्षणज्ञानाज्ञानतदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपपर्याया हि स्फुट द्रव्य सन्ति **णियद** निश्चित प्रदेशाभेदेपि स्वकीयस्वकीयसज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेन **तम्हा दव्वं हवदि सव्व** यतो निश्चयाधाराधेयभावेन तिष्ठन्त्युत्पादादयस्तस्मात्कारणादुत्पादादित्रय स्वसवेदनज्ञानादिपर्यायत्रय चान्वयद्रव्यार्थिकनयेन सर्व द्रव्य भवति। पूर्वोक्तोत्पादादित्रयस्य तथैव स्वसवेदनज्ञानादिपर्यायत्रयस्य चानुगताकारेणान्वयरूपेण यदाधारभूत तदन्वयद्रव्य भण्यते, तद्विषयो यस्य स भवत्यन्वयद्रव्यार्थिकनय। यथेव ज्ञानाज्ञानपर्यायद्वये भगत्रय व्याख्यात तथापि सर्वद्रव्यपर्यायेषु यथासभव ज्ञातव्यमित्यभिप्राय ॥१०१॥

उत्थानिका—आगे यह बताते है कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य का द्रव्य के साथ परस्पर आधार—आधेय भाव है इसलिये अन्वय रूप द्रव्यार्थिकनय से वे द्रव्य ही है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(उप्पादट्ठिदिभंगा) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य (पज्जएसु) पर्यायों में (विज्जंते) रहते हैं। (पज्जाया) पर्यायें (णियदं हि) निश्चय से ही (दव्व) द्रव्य मे (सति) रहती हैं। (तम्हा) इस कारण से (सव्वं) वे सब पर्यायें (दव्वं) द्रव्य (हवदि) हैं। (वृत्तिकार सम्यग्दर्शन पर्याय का दृष्टात देखकर बताते हैं कि) विशुद्धज्ञान-दर्शन स्वभाव रूप आत्मतत्व निर्विकार स्वसवेदनज्ञान रूप से उत्पाद, उसी ही समय मे स्वसंवेदनज्ञान से विलक्षण अज्ञान पर्याय रूप से व्यय तथा इन दोनो का आधारभूत आत्मद्रव्यपने की अवस्था रूप से ध्रौव्य ऐसे ये तीनों ही भेद पर्यायों में रहते हैं अर्थात् सम्यक्त्व-पूर्वक निर्विकार स्वसवेदनज्ञान पर्याय से उत्पाद है तथा स्वसवेदन–रहित अज्ञान पर्याय रूप से व्यय तथा इन दोनों का आधार रूप आत्मद्रव्यपने की अवस्था रूप से ध्रौव्य अपनी-अपनी पर्यायो मे रहते है। और ये ऊपर कहे हुए लक्षण सहित जो ज्ञान, अज्ञान और इन दोनो का आधार रूप आत्म-द्रव्यपना ऐसी ये पर्यायें निश्चय करके अपने-अपने सज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि के भेद से भेद रूप हैं तथापि आत्मा के प्रदेशों में होने से अभेद रूप हैं इसलिये जब निश्चय से ये उत्पाद व्यय ध्रौव्य आधार—आधेयभाव से द्रव्य मे रहते हैं तब यह स्वसंवेदनज्ञान आदि पर्याय रूप उत्पाद व्यय ध्रौव्य तीनों अन्वय द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य है। पूर्व कथित उत्पाद आदि तीनों का तैसे ही स्वसंवेदनज्ञान आदि तीनों पर्यायो का अनुगत आकार से व अन्वय रूप से जो आधार हो सो अन्वय द्रव्य कहलाता है। अन्वय द्रव्य जिसका विषय हो उसको अन्वय द्रव्यार्थिकनय कहते हैं। जैसे यहां ज्ञान अज्ञान पर्यायों मे तीन भेद कहे गये तैसे ही सर्व द्रव्य की पर्यायों मे यथा सम्भव जान लेना चाहिये, यह अभिप्राय है ॥१०१॥

अथोत्पादादीनां क्षणभेदमुदस्य द्रव्यत्वं द्योतयति—

समवेदं खलु दव्वं संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं।
एक्कम्मि चेव समये तम्हा दव्वं खु तत्तिदयं ॥१०२॥

समवेत खलु द्रव्य सभवस्थितिनाशसज्ञितार्थै।
एकस्मिन् चैव समये तस्माद्द्रव्य खलु तत्त्रितयम् ॥१०२॥

इह हि यो नाम वस्तुनो जन्मक्षण स जन्मनैव व्याप्तत्वात् स्थितिक्षणो नाशक्षणश्च न भवति। यश्च स्थितिक्षणः स खलूभयोरन्तरालदुर्ललितत्वाज्जन्मक्षणो नाशक्षणश्च न भवति। यश्च नाशक्षणः स तूत्पद्यावस्थाय च नश्यतो जन्मक्षण स्थितिक्षणश्च न भवति। इत्युत्पादादीनां वितर्क्यमाणः क्षणभेदो हृदयभूमिमवतरति। अवतरत्येवं यदि

द्रव्यमात्मनैवोत्पद्यते आत्मनैवावतिष्ठते आत्मनैव नश्यतीत्यभ्युपगम्यते । तत्तु नाभ्युपगतम् । पर्यायाणामेवोत्पादादयः कुतः क्षणभेदः । तथाहि—यथा कुलालदण्डचक्रचीवरारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एव वर्धमानस्य जन्मक्षणः स एव मृत्पिण्डस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य मृत्तिकात्वस्य स्थितिक्षणः । तथा अन्तरङ्गबहिरङ्गसाधनारोप्यमाणसंस्कारसन्निधौ य एवोत्तरपर्यायस्य जन्मक्षणः स एव प्राक्तनपर्यायस्य नाशक्षणः स एव च कोटिद्वयाधिरूढस्य द्रव्यत्वस्य स्थितिक्षण. । यथा च वर्धमानमृत्पिण्डमृत्तिकात्वेषु प्रत्येकवर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिन्यां मृत्तिकायां सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते, तथा उत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्वेषु प्रत्येकवर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि त्रिस्वभावस्पर्शिनी द्रव्ये सामस्त्येनैकसमय एवावलोक्यन्ते । यथैव च वर्धमानपिण्डमृत्तिकात्ववर्तीन्युत्पादव्ययध्रौव्याणि मृत्तिकैव न वस्त्वन्तरं, तथैवोत्तरप्राक्तनपर्यायद्रव्यत्ववर्तीन्यप्युत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्यमेव न खल्वर्थान्तरम् ॥१०२॥

भूमिका—अब उत्पादादिकों के समय–भेद को निराकृत करके, (उनके) द्रव्यपने को (एक ही द्रव्य है) प्रगट करते हैं—

अन्वयार्थ—[द्रव्य] द्रव्य [एकस्मिन् च एव समये] एक ही समय मे [सभवस्थितिनाशसज्ञितार्थैः] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थों के साथ [खलु] वास्तव मे [समवेत] एकमेक है, [तस्मात्] इसलिये [तत् त्रितय] यह त्रितय [खलु] वास्तव मे [द्रव्य] द्रव्य है ।

टीका—(प्रथम शंका उपस्थित की जाती है) यहां (विश्व मे) वस्तु का जो जन्मक्षण है वह जन्म से ही व्याप्त होने से स्थितिक्षण और नाशक्षण नहीं है, (वह पृथक् ही होता है), जो स्थितिक्षण है वह दोनों के अन्तराल मे (उत्पादक्षण और नाशक्षण के बीच) दृढतया रहता है, इसलिये (वह) जन्मक्षण और नाशक्षण नहीं है, वह, वस्तु उत्पन्न होकर और स्थिर रहकर फिर नाश को प्राप्त होती है इसलिये,–जन्मक्षण और स्थितिक्षण नहीं है,—इस प्रकार तर्क-पूर्वक विचार करने पर उत्पादादि का क्षणभेद हृदयभूमि में अवतरित होता है (अर्थात् उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य का समय भिन्न-भिन्न होता है, एक नहीं होता, इस प्रकार की बात हृदय में जमती है ।)

यहां उपरोक्त शंका का समाधान किया जाता है—इस प्रकार उत्पादादि का क्षणभेद हृदयभूमि में तभी उतर सकता है, जब कि यह माना जाय कि 'द्रव्य स्वयं ही उत्पन्न होता है, स्वयं ही ध्रुव रहता है और स्वय ही नाश को प्राप्त होता है । किन्तु ऐसा तो माना

नहीं गया है, (क्योंकि यह स्वीकार और सिद्ध किया गया है कि) पर्यायों के उत्पाद आदि हैं, (तब फिर) वहाँ क्षणभेद कहाँ से हो सकता है ? यह समझाते हैं—जैसे कुम्हार, दण्ड, चक्र और चीवर से आरोपित किये जाने वाले संस्कार की उपस्थिति में जो वर्धमान (घड़ा) का जन्मक्षण होता है वही मृत्तिकापिण्ड का नाशक्षण होता है, और वही दोनों कोटियों (उत्पाद-व्यय) मे रहने वाले मृत्तिकात्व का स्थितिक्षण होता है, इसी प्रकार अन्तरंग (उपादान) और बहिरंग (निमित्त) साधनों से आरोपित किये जाने वाले संस्कारों की उपस्थिति मे, जो उत्तरपर्याय का जन्मक्षण होता है, वही पूर्व-पर्याय का नाशक्षण होता है और वही दोनों कोटियों (उत्पाद-व्यय) मे रहने वाले द्रव्यत्वका स्थितिक्षण होता है।

जैसे रामपात्र मे, मृत्तिकापिण्ड मे और मृत्तिकात्व में प्रत्येक में (क्रमशः) बताते हुये भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य त्रिस्वभावस्पर्शी मृत्तिका मे सम्पूर्णतया (सभी एकत्रित) एक समय मे ही देखे जाते हैं, इसी प्रकार उत्तर—पर्याय मे, और पूर्वपर्याय में, और द्रव्यत्व मे प्रत्येक मे (क्रमशः) प्रवर्तमान होने पर भी उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य त्रिस्वभावस्पर्शी द्रव्य मे सम्पूर्णतया (तीनों एकत्रित) एक समय में ही देखे जाते हैं और जैसे रामपात्र, मृतिकापिण्ड तथा मृत्तिकात्व मे प्रवर्तमान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य मिट्टी ही हैं, अन्य, अन्य वस्तु नहीं हैं, उसी प्रकार उत्तर–पर्याय, पूर्व–पर्याय और द्रव्यत्व मे प्रवर्तमान उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य ही हैं, अन्य पदार्थ नहीं ॥१०२॥

तात्पर्यवृत्ति

अथोत्पादादीना पुनरपि प्रकारान्तरेण द्रव्येण सहाभेद समर्थयति समयभेद च निराकरोति—

समवेद खलु दव्व समवेतमेकीभूतमभिन्न भवति खलु स्फुट। कि ? आत्मद्रव्य। कै सह ? **सम्भवठिदिणाससण्णिदट्ठेहि** सम्यक्त्वज्ञानपूर्वकनिश्चलनिर्विकारनिजात्मानुभूतिलक्षणवीतरागचारित्रपर्यायेणोत्पाद तथैव रागादिपरद्रव्यैकत्वपरिणतिरूपचारित्रपर्यायेण नाशस्तदुभयाधारात्मद्रव्यत्वावस्थारूपपर्यायेण स्थितिरित्युक्तलक्षणसज्ञित्वोत्पादव्ययध्रौव्यै सह। तर्हि कि बौद्धमतवद्भिन्नभिन्नसमये त्रय भविष्यति ? नैव। **एक्कम्मि चेव समये** अगुलिद्रव्यस्य वक्रपर्यायवत्ससारिजीवस्य मरणकाले ऋजुगतिवत् क्षीणकषायचरमसमये केवलज्ञानोत्पत्तिवदयोगिचरमसमये मोक्षवच्चेत्येकस्मिन्समय एव। **तम्हा दव्वं खु तत्तियं** यस्मात्पूर्वोक्तप्रकारेणैकसमये भगत्रयेण परिणमति तस्मात्सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेऽपि प्रदेशानामभेदात्त्रयमपि खु स्फुट द्रव्य भवति। यथेद चारित्राचारित्रपर्यायद्वये भगत्रयमभेदे दर्शित तथा सर्वद्रव्यपर्यायेष्ववबोद्धव्यमित्यर्थं ॥१०२॥

एवमुत्पादव्ययध्रौव्यरूपलक्षणव्याख्यानमुख्यतया गाथात्रयेण तृतीयस्थल गतम्।

उत्थानिका—आगे फिर भी उत्पाद व्यय ध्रौ य का अन्य प्रकार से द्रव्य के साथ अभेद दिखाते है और उत्पाद व्यय ध्रौव्य का समय भेद नही है, ऐसा बताते है व जो समयभेद माने उसका निराकरण करते है या खण्डन करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(दव्वं) द्रव्य (खलु) निश्चय से (एकम्मि चेव समये) एक ही समय में परिणमन करने वाले (संभवठिदिणाससण्णिदट्ठेहिं) उत्पाद स्थिति व नाश के भावों से (समवेदं) एक रूप है अर्थात् अभिन्न है (तम्हा) इसलिये (दव्व) द्रव्य (खु) प्रगट रूप से (तत्तिदयं) उन तीन रूप है।

आत्मा नामा द्रव्य जब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक निश्चल और विकार-रहित अपने आत्मा के अनुभवमय लक्षण वाले वीतरागचारित्र की अवस्था से उत्पन्न होता है अर्थात् जब सम्यग्दृष्टि और ज्ञानी आत्मा में वीतरागचारित्र की पर्याय का उत्पाद होता है तब ही रागादिरूप पर्याय का जो परद्रव्यो के साथ एकता करके परिणमन कर रहा था, नाश होता है और उसी समय इन दोनों उत्पाद और व्यय के आधाररूप आत्मा द्रव्य की अवस्थारूप पर्याय से ध्रौव्यपना है। इस तरह वह आत्मद्रव्य अपने ही उत्पाद व्यय ध्रौव्य की पर्यायों से एक रूप है या अभिन्न है। यही बात निश्चय से है। ये तीनों पर्यायें बौद्धमत की तरह भिन्न-भिन्न समय मे नहीं होती हैं किन्तु एक ही समय में होती हैं। जैसे जब अंगुली को टेढा किया जावे तब एक ही समय मे टेढ़ेपने की उत्पत्ति और सीधेपन का नाश तथा अंगुलीपने का ध्रौव्य है। इसी तरह जब कोई संसारी जीव मरण करके ऋजुगति से एक ही समय मे जाता है तब जो समय मरण का है वही समय ऋजुगति प्राप्ति का है तथा वह जीव अपने जीवपने से विद्यमान है ही। तैसे ही जब क्षीणकषाय नाम के बारहवें गुणस्थान के अन्तिम समय मे केवलज्ञान की उत्पति होती है तब ही अज्ञानपर्याय का नाश होता है तथा वीतरागी आत्मा की स्थिति है ही। इसी तरह जब अयोगकेवली के अन्त समय मे मोक्ष होता है तब जिस समय मोक्ष पर्याय का उत्पाद है तब ही चौदहवें गुणस्थान की पर्याय का नाश है तथा दोनों ही अवस्थाओं में आत्मा ध्रुवरूप है ही। इस तरह एक ही समय में उत्पाद व्यय ध्रौव्य सिद्ध होते हैं। संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि से भेद होते हुए भी प्रदेशों की अपेक्षा अभेद है, इसलिये द्रव्य प्रगट रूप से उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप है। जैसे यहां आत्मा मे चारित्र पर्याय की उत्पत्ति और अचारित्रपर्याय का नाश समझाते हुए तीनों ही भंग अभेदपने से दिखाए गए हैं, ऐसे ही सर्व द्रव्यों की पर्यायों में भी जानना चाहिये, ऐसा अर्थ है ॥१०२॥

इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप द्रव्य का लक्षण है। इस व्याख्यान की मुख्यता से तीन गाथाओं में तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याण्यनेकद्रव्यपर्यायद्वारेण चिन्तयति—

पाडुब्भवदि य अण्णो पज्जाओ पज्जओ वयदि अण्णो ।
दव्वस्स तं पि दव्वं णेव [1]पणट्ठ ण उप्पण्णं ॥१०३॥

प्रादुर्भवति चान्य पर्याय पर्यायो व्येति अन्य ।
द्रव्यस्य तदपि द्रव्य नैव प्रणष्ट नोत्पन्नम् ॥१०३॥

इह हि यथा किलैकस्त्र्यणुक: समानजातीयोऽनेकद्रव्यपर्यायो विनश्यत्यन्यश्चतुरणुक: प्रजायते, ते तु त्रयश्चत्वारो वा पुद्गला अविनष्टानुत्पन्ना एवावतिष्ठन्ते । तथा सर्वेपि समानजातीया द्रव्यपर्याया विनश्यन्ति प्रजायन्ते च । समानजातीनि द्रव्याणि त्वविनष्टानुत्पन्नान्येवावतिष्ठन्ते । यथा चैको मनुष्यत्वलक्षणोऽसमानजातीयो द्रव्यपर्यायो विनश्यत्यन्यस्त्रिदशत्वलक्षण: प्रजायते तौ च जीवपुद्गलौ अविनष्टानुत्पन्नावेवावतिष्ठेते, तथा सर्वेऽप्यसमानजातीया द्रव्यपर्याया विनश्यन्ति प्रजायन्ते च असमानजातीति द्रव्याणि त्वविनष्टानुत्पन्नान्येवावतिष्ठन्ते । एवमात्मना ध्रुवाणि द्रव्यपर्यायद्वारेणोत्पादव्ययीभूतान्युत्पादव्ययध्रौव्याणि द्रव्याणि भवन्ति ॥१०३॥

भूमिका—**अब, द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को अनेक (एक से अधिक) द्रव्यों से होने वाली पर्याय द्वारा विचार करते हैं—**

अन्वयार्थ—[द्रव्यस्य] द्रव्य की [अन्य पर्याय] अन्य द्रव्य पर्याय [प्रादुर्भवति] उत्पन्न होती है [च] और [अन्य पर्याय] कोई अन्य द्रव्य पर्याय [व्येति] नष्ट होती है, [तदपि] फिर भी [द्रव्य] द्रव्य [प्रणष्ट न एव] न तो नष्ट होता है, [उत्पन्नं न] न उत्पन्न होता है। (वह तो द्रव्यपने से ध्रुव रहता है।)

टीका—**यहां (विश्व मे) वास्तव मे जैसे एक त्रि-अणुक की समानजातीय अनेकद्रव्यपर्याय विनष्ट होती हैं और दूसरी चतुरणुक (समानजातीय अनेकद्रव्यपर्याय) उत्पन्न होती हैं, परन्तु वे तीन या चार पुद्गल (परमाणु) तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं (ध्रुव है) इसी प्रकार सब ही समानजातीय द्रव्यपर्यायें विनष्ट होती हैं, किन्तु समानजातीय द्रव्य तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं (ध्रुव हैं) और, जैसे एक मनुष्यत्वस्वरूप असमानजातीय द्रव्य-पर्याय विनष्ट होती है और दूसरी देवत्वस्वरूप (असमानजातीय द्रव्य-पर्याय) उत्पन्न होती है, परन्तु वे जीव पुद्गल तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं, इसी प्रकार सब ही असमानजातीय द्रव्य-पर्यायें विनष्ट होती हैं और उत्पन्न होती हैं,**

---

१ य णट्ट (ज० वृ०)

परन्तु असमान-जातीय द्रव्य तो अविनष्ट और अनुत्पन्न ही रहते हैं। इस प्रकार स्वतः (द्रव्यत्वेन) ध्रुव और द्रव्य-पर्यायों द्वारा उत्पाद-व्ययरूप द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्य है ॥१०३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्यपर्यायेणोत्पादव्ययध्रौव्याणि दर्शयति,—

पाडुब्भवदि य प्रादुर्भवति च जायते **अण्णो** अन्य कश्चिदपूर्वानन्तज्ञानसुखादिगुणास्पदभूत शाश्वतिक.। स क ? **पज्जाओ** परमात्मावाप्तिरूप स्वभावद्रव्यपर्याय **पज्जओ वयदि अण्णो** पर्यायो व्यातिविनश्यति। कथभूत ? अन्य पूर्वोक्तमोक्षपर्यायाद्भिन्नो निश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिरूप-स्यैव मोक्षपर्यायस्योपादानकारणभूत। कस्य सम्बन्धी पर्याय ? **दव्वस्स** परमात्मद्रव्यस्य **तपि दव्व** तदपि परमात्मद्रव्य **णेव य णट्ठ ण उप्पण्ण** शुद्धद्रव्यार्थिकनयेन नैव नष्ट न चोत्पन्नम्।

अथवा ससारिजीवापेक्षया देवादिरूपो विभावद्रव्यपर्यायो जायते मनुष्यादिरूपो विनश्यति तदेव जीवद्रव्य निश्चयेन न चोत्पन्न न च विनष्ट, पुद्गलद्रव्य वा द्वयणुकादिस्कन्धरूपस्वजातीयविभावद्रव्य-पर्यायाणा विनाशोत्पादेपि निश्चयेन न चोत्पन्न न च विनष्टमिति। तत स्थित यत कारणादुत्पादव्यय-ध्रौव्यरूपेण द्रव्यपर्यायाणा विनाशोत्पादेऽपि द्रव्यस्य विनाशो नास्ति, तत कारणाद्द्रव्यपर्याया अपि द्रव्यलक्षण भवन्तीत्यभिप्राय ॥१०३॥

उत्थानिका—आगे इस बात को दिखलाते है कि द्रव्य मे पर्यायो की अपेक्षा उत्पाद व्यय ध्रौव्य है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(दव्वस्स) द्रव्य की (अण्णो पज्जाओ) अन्य कोई पर्याय (पाडुब्भवदि) प्रगट होती है (य) और (अण्णो पज्जाओ) अन्य कोई पूर्व पर्याय (वयदि) नष्ट होती है (तंपि) तोभी (दव्वं) द्रव्य (णेव पणट्ठण उप्पण्ण) न तो नाश हुआ है और न उत्पन्न हुआ है।**

शुद्ध आत्मा द्रव्य के जब कोई अपूर्व और अनन्तज्ञान सुख आदि गुणों के स्थान तथा अविनाशी परमात्म–स्वरूप की प्राप्तिरूप स्वभाव द्रव्य-पर्याय अथवा मोक्ष-अवस्था प्रगट होती है तब इस मोक्ष-पर्याय से भिन्न तथा निश्चय रत्नत्रयमयी निर्विकल्प समाधिरूप मोक्ष पर्याय की उपादानकारणरूप पूर्व पर्याय नाश होती है। तथापि वह परमात्मा द्रव्य शुद्ध द्रव्यार्थिकनय की अपेक्षा न नष्ट होता है न उत्पन्न होता है।

अथवा संसारी जीव की अपेक्षा जब देव आदि रूप विभाव-द्रव्य-पर्याय उत्पन्न होती है तब ही मनुष्य आदि रूप पर्याय नष्ट होती है। तथा वह जीव द्रव्य निश्चय से न उपजा है, न विनष्ट है। इसी तरह पुद्गल द्रव्य पर जब विचार किया जाय तो मालूम होगा कि दो अणु का स्कन्ध, चार अणु का स्कन्ध आदि स्कन्धरूप स्वजातीय विभाव-द्रव्य पर्याय जब कोई उत्पन्न होती है तब पूर्व पर्याय को नाश करके ही पैदा होती है। तो भी

पुद्गल द्रव्य निश्चय से न उपजता है न नष्ट होता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप होने के कारण द्रव्य की पर्यायों का नाश और उत्पाद होने पर भी द्रव्य का नाश नहीं होता है। इस हेतु से द्रव्य-पर्यायें भी द्रव्य लक्षण होती हैं, ऐसा अभिप्राय है ॥१०३॥

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याण्येकद्रव्यपर्यायद्वारेण चिन्तयति—

परिणमदि सयं दव्वं गुणदो य गुणंतरं सदविसिट्ठं ।
तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुन दव्वमेव[1] त्ति ॥१०४॥

परिणमति स्वय द्रव्य गुणतश्च गुणान्तर सदविशिष्टम् ।
तस्माद् गुणपर्याया भणिता पुन द्रव्यमेवेति ॥१०४॥

एकद्रव्यपर्याया हि गुणपर्यायाः, गुणपर्यायाणामेकद्रव्यत्वात् । एकद्रव्यत्वं हि तेषां सहकारफलवत् । यथा किल सहकारफलं स्वयमेव हरितभावात् पाण्डुभावं परिणमत्पूर्वोत्तरप्रवृत्तहरितपाण्डुभावाभ्यामनुभूतात्मसत्ताकं हरितपाण्डुभावाभ्या सममविशिष्टसत्ताकतथैकमेव वस्तु न वस्त्वन्तरं, तथा द्रव्य स्वयमेव पूर्वावस्थावस्थितिगुणादुत्तरावस्थावस्थितगुणं परिणमत्पूर्वोत्तरावस्थावस्थिगुणाभ्यां ताभ्यामनुभूतात्मसत्ताकं पूर्वोत्तरावस्थावस्थितगुणाभ्यां सममविशिष्टसत्ताकतयैकमेव द्रव्यं न द्रव्यान्तरम् । यथैव चोत्पद्यमानं पाण्डुभावेन, व्ययमानं हरितभावेनावतिष्ठमानं सहकारफलत्वेनोत्पादव्ययध्रौव्याण्येकवस्तुपर्यायद्वारेण सहकारफलं तथैवोत्पद्यमानमुत्तरावस्थावस्थितगुणेन, व्ययमानं पूर्वावस्थावस्थितगुणेनावतिष्ठमानं द्रव्यत्वगुणेनोत्पादव्ययध्रौव्याण्येकद्रव्यपर्यायद्वारेण द्रव्यं भवति ॥१०४॥

भूमिका—अब, द्रव्य के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य एक पर्याय के द्वारा विचार करते हैं—

अन्वयार्थ—[सदविशिष्ट] सत् से अभिन्न [द्रव्य स्वय] द्रव्य स्वय ही [गुणत. च गुणान्तर] गुण से गुणान्तररूप (एक गुणपर्याय से अन्य गुण पर्याय रूप) [परिणमते] परिणमता है, (द्रव्य की सत्ता गुण पर्यायो की सत्ता के साथ अविशिष्ट अभिन्न एक ही रहती है) [तस्मात् पुन] और इस कारण से [गुणपर्याया] गुणपर्याये [द्रव्यम् एव] द्रव्य ही है [इति भणिता.] ऐसा कहा गया है।

टीका—जो एक द्रव्य की पर्यायें है वह वास्तव मे गुण-पर्यायें हैं, क्योंकि गुण-पर्यायों के एक द्रव्यत्व है। उनका द्रव्यत्व आम्रफल की भाति है। जैसे आम्रफल स्वयं ही हरितभाव से पीतभावरूप परिणत होता हुआ, प्रथम और पश्चात् प्रवर्तमान हरितभाव

---

१ दव्वमेवेत्ति। (ज० वृ०)।

और पीतभाव के द्वारा अपनी सत्ता का अनुभव करता है, इसलिये हरितभाव और पीतभाव के साथ अभिन्न सत्ता वाला होने से एक ही वस्तु, अन्य वस्तु नहीं, इसी प्रकार द्रव्य स्वयं ही पूर्व अवस्था में अवस्थित गुण में से उत्तर अवस्था में अवस्थित गुणरूप परिणत होता हुआ, पूर्व और उत्तर अवस्था में अवस्थित उन गुणों के द्वारा अपनी सत्ता का अनुभव करता है, इसलिये पूर्व और उत्तर अवस्था में अवस्थित गुणों के साथ अभिन्न सत्ता वाला होने से एक ही द्रव्य है, द्रव्यान्तर नहीं है (अन्य द्रव्य नहीं है)।

जैसे पीतभाव से उत्पन्न होता है, हरितभाव से नष्ट होता है, और आम्रफल रूप से स्थिर रहता है, इसलिए आम्रफल एक वस्तु की पर्याय के द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है, उसी प्रकार उत्तर अवस्था मे अवस्थित गुण से उत्पन्न, पूर्व अवस्था मे अवस्थित गुण से नष्ट और द्रव्यत्व गुण से स्थिर होने से द्रव्य पर्याय के द्वारा उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य रूप है ।।१०४।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्याणिगुणपर्यायमुख्यत्वेन प्रतिपादयति—

परिणमदि सयं दव्वं परिणमति स्वय स्वयमेवोपादानकारणभूत जीवद्रव्य कर्तृ । क परिणमति ? **गुणदो य गुणंतरं** निरुपरागस्वसवेदनज्ञानगुणात्केवलज्ञानोत्पत्तिवीजभूतात्सकाशात्सकलविमलकेवलज्ञान-गुणान्तर । कथभूत सत्परिणमति ? **सदविसिठ्ठ** स्वकीयस्वरूपत्वाच्चिद्रूपास्तित्वादविशिष्टमभिन्न । **तम्हा गुणपज्जाया भणिया पुण दव्वमेवत्ति** तस्मात्कारणान्न केवल पूर्वसूत्रोदिता द्रव्यपर्याया द्रव्य भवन्ति, गुणरूपपर्याया गुणपर्याया भण्यन्ते तेपि द्रव्यमेव भवन्ति । अथवा ससारिजीवद्रव्य मतिस्मृत्यादिविभावगुण त्यक्त्वा श्रुतज्ञानादिविभावगुणान्तर परिणमति, पुद्गलद्रव्यं वा पूर्वोक्तशुक्लवर्णादिगुण त्यक्त्वा रक्तादिगुणान्तर परिणमति हरितगुण त्यक्त्वा पाण्डुरगुणान्तरमाम्रफलमिवेति भावार्थ ।।१०४।।

एव स्वभावविभावरूपा द्रव्यपर्याया गुणपर्यायाश्च नयविभागेन द्रव्यलक्षण भवन्ति इतिकथन-मुख्यतया गाथाद्वयेन चतुर्थस्थल गतम् ।

उत्थानिका—आगे द्रव्य के उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप को गुण पर्याय की मुख्यता से बताते हैं।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(सदविसिट्ठं) अपनी सत्ता से अभिन्न (दव्वं) द्रव्य (गुणदो) एक गुण से (गुणंतरं) अन्य गुणरूप (सयं) स्वयं आप ही (परिणमदि) परिणमन कर जाता है। (तम्हा) इस कारण से (य पुण) ही तव (गुणपज्जाया) गुणों की पर्यायें (दव्वमेवेत्ति) द्रव्य ही हैं ऐसी (भणिया) कही जाती हैं।

एक जीव द्रव्य अपने चैतन्य स्वरूप से अभिन्न रहकर अपने ही उपादानकारण से आप ही केवलज्ञान की उत्पत्ति का बीज जो वीतराग स्वसंवेदन गुणरूप अवस्था उसको

छोड़कर सर्व प्रकार से निर्मल केवलज्ञान गुण की अवस्था को परिणमन कर जाता है इस कारण से जो गुण की पर्यायें होती हैं वे भी द्रव्य ही हैं, पूर्व सूत्र में कहे प्रमाण केवल द्रव्य-पर्यायें ही द्रव्य नहीं हैं अथवा संसारी-जीव-द्रव्य मति स्मृति आदि विभावज्ञानगुण की अवस्था को छोड़कर श्रुतज्ञानादि विभावज्ञानगुण रूप अवस्था को परिणमन कर जाता है ऐसा होकर भी जीव द्रव्य ही है। अथवा पुद्गल द्रव्य अपने पहले के सफेद वर्ण आदि गुण पर्याय को छोड़कर लाल आदि गुण पर्याय में परिणमन करता है ऐसा होकर भी पुद्गल द्रव्य ही है। अथवा आम का फल अपने हरे गुण को छोड़कर वर्ण गुण की पीत पर्याय में परिणमन कर जाता है तो भी आम्र फल ही है। इस तरह यह भाव है कि गुण की पर्यायें भी द्रव्य ही हैं ॥१०४॥

इस तरह स्वभावरूप या विभावरूप द्रव्य की पर्यायें तथा गुणों की पर्यायें नय की अपेक्षा से द्रव्य का लक्षण हैं। ऐसे कथन की मुख्यता से दो गाथाओं से चौथा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ सत्ताद्रव्ययोरनर्थान्तरत्वे युक्तिमुपन्यस्यति—

ण हवदि जदि सद्दव्वं असद्धुव्वं हवदि तं कहं दव्वं।
हवदि पुणो अण्णं वा तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥१०५॥

न भवति यदि सद्द्रव्यमसद्ध्रुवं भवति तत्कथं द्रव्यम्।
भवति पुनरन्यद्वा तस्माद्द्रव्यं स्वयं सत्ता ॥१०५॥

यदि हि द्रव्यं स्वरूपत एव सन्न स्यात्तदा द्वितयी गतिः असद्वा भवति, सत्तातः पृथग्वा भवति। तत्रासद्भवद्ध्रौव्यस्यासंभवादात्मानमधारयद्द्रव्यमेवास्तं गच्छेत्। सत्तातः पृथग्भवत् सत्तामन्तरेणात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामेवास्तं गमयेत्। स्वरूपतस्तु सद्भवद्ध्रौव्यस्य संभवादात्मानं धारयद्द्रव्यमुद्गच्छेत्। सत्तातोऽपृथग्भूत्वा चात्मानं धारयत्तावन्मात्रप्रयोजनां सत्तामुद्गमयेत्। ततः स्वयमेव द्रव्यं सत्त्वेनाभ्युपगन्तव्यं, भावभाववतोरपृथक्त्वेनान्यत्वात् ॥१०५॥

भूमिका—अब, सत्ता और द्रव्य के अभिन्नपने में (प्रदेश भेद न होने में) युक्ति उपस्थित करते हैं—

अन्वयार्थ—[यदि] यदि [द्रव्य] द्रव्य [सत् न भवति] (स्वरूप से ही) सत् न हो तो+

+सत्ता का कार्य इतना ही है कि वह द्रव्य को विद्यमान रखे। यदि द्रव्य सत्ता से भिन्न रहकर भी स्थिर रहे तो फिर सत्ता का प्रयोजन ही नहीं रहता, अर्थात् सत्ता के अभाव का प्रसंग आ जायगा।

(१) [ध्रुव असत् भवति] निश्चित असत् होगा, [तत् कथ द्रव्य] (जो असत् होगा) वह द्रव्य कैसे हो सकता है ? (अर्थात् नही हो सकता) [पुनः वा] अथवा [यदि असत् न हो) तो (२) [अन्यत् भवति] वह सत्ता से अन्य [पृथक्] होगा ? (सो भी कैसे हो सकता है ?) [तस्मात्] इसलिये [द्रव्य स्वय] द्रव्य स्वय ही [सत्ता] सत्ता रूप है ।

टीका—**यदि द्रव्य स्वरूप से ही सत् न हो तो उसकी दो गति यह होंगी कि वह (१) असत् होगा, अथवा (२) सत्ता से पृथक् होगा। उनमें से यदि असत् होगा तो, ध्रौव्य के असम्भव होने से स्वय को स्थिर न रखता हुआ द्रव्य ही लोप हो जायगा, और (२) यदि सत्ता से पृथक् होगा तो सत्ता के बिना भी अपनी सत्ता रखता हुआ, इतने (द्रव्य की सत्ता रखने) मात्र प्रयोजन वाली सत्ता का लोप कर देगा।**

स्वरूप से ही सत् होता हुआ (१) ध्रौव्य के सद्भाव के कारण स्वयं को स्थिर रखता हुआ, द्रव्य उदित होता है, (अर्थात् सिद्ध होता है), और (२) सत्ता से पृथक् रहकर (द्रव्य) स्वयं को स्थिर (विद्यमान) रखता हुआ, इतने ही मात्र प्रयोजन वाली सत्ता को उदित (सिद्ध) करता है।

इसलिये द्रव्य स्वयं ही सत्व (सत्ता) रूप से स्वीकार करना चाहिये। क्योंकि भाव और भाववान् (द्रव्य) का अपृथक्त्व द्वारा अन्यत्व है (प्रदेश भेद न होते हुये संज्ञा-सख्या लक्षण आदि द्वारा अन्यत्व है ॥१०५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये पुनरपि प्रकारान्तरेण युक्ति दर्शयति,—

ण हवदि जदि सद्दव्व परमचैतन्यप्रकाशरूपेण स्वरूपेण स्वरूपसत्तास्तित्वगुणेन यदि चेत् सन्न भवति । किं कर्तृ ? परमात्मद्रव्य तदा **असद्धुवं होदि** असदविद्यमान भवति ध्रुव निश्चित । अविद्यमान सत् **तं कह दव्वं** तत्परमात्मद्रव्य कथ भवति ? किन्तु नैव । स च प्रत्यक्षविरोध । कस्मात् ? स्वसवेदनज्ञानेन गम्यमानत्वात् । अथाविचारितरमणीयन्यायेन सत्तागुणाभावेप्यस्तीति चेत् तत्र विचार्यते—यदि केवलज्ञानदर्शनगुणाविनाभूतस्वकीयस्वरूपास्तित्वात्पृथग्भूता तिष्ठति तदा स्वरूपास्तित्व नास्ति स्वरूपास्तित्वाभावे द्रव्यमपि नास्ति । अथवा स्वकीयस्वरूपास्तित्वात्सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदेपि प्रदेशरूपेणाभिन्न तिष्ठति तदा समतमेव। अत्रावसरे सौगतमतानुसारी कश्चिदाह—सिद्धपर्यायसत्तारूपेण शुद्धात्मद्रव्यमुपचारेणास्ति, न च मुख्यवृत्त्येति, । परिहारमाह—सिद्धपर्यायोपादानकारणभूतपरमात्मद्रव्याभावे सिद्धपर्यायसत्तैव न सभवति । वृक्षाभावे फलमिव । अत्र प्रस्तावे नैयायिकमतानुसारी कश्चिदाह—**हवदि पुणो अण्ण वा** तत्परमात्मद्रव्य भवति पुन किन्तु सत्ताया सकाशादन्यद्भिन्न भवति पश्चात्सत्तासमवायात्सद्भवति । आचार्या परिहारमाहु —सत्तासमवायात्पूर्व द्रव्य सदसद्वा ? यदि सत्तदा सत्तासमवायो वृथा पूर्वमेवास्तित्व तिष्ठति, अथासत्तर्हि खपुष्पवदविद्यमानद्रव्येण सह कथ सत्तासमवाय

करोति, करोतीति चेत्तर्हि खपुष्पेणापि सह सत्ताकर्तृ समवाय करोतु न च तथा। **तम्हा दव्वं सय सत्ता** तस्मादभेदनयेन शुद्धचैतन्यस्वरूपसत्तैव परमात्मद्रव्य भवतीति। यथेद परमात्मद्रव्येण सह शुद्धचेतना-सत्ताया अभेदव्याख्यान कृत तथा सर्वेषा चेतनाचेतनद्रव्याणा स्वकीयस्वकीयसत्तया सहाभेदव्याख्यान कर्तव्यमित्यभिप्राय ।।१०५।।

उत्थानिका—आगे सत्ता और द्रव्य का अभेद है इस सम्बन्ध मे फिर भी अन्य प्रकार से युक्ति दिखलाते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि) यदि (सद्दव्व) सत्ता रूप द्रव्य (ण हवदि) नहीं होवे तो (तं दव्वं असद्द्धुव्व कहं हवदि) वह द्रव्य निश्चय से असत्ता रूप होता हुआ किस तरह हो सकता है (वा पुणो अण्णं हवदि) अथवा फिर वह द्रव्य सत्ता से भिन्न हो जावे, क्योंकि ये दोनो बातें नहीं हो सकतीं (तम्हा दव्व सयं) सत्ता इसलिये द्रव्य स्वयं सत्ता स्वरूप है।**

यहाँ वृत्तिकार परमात्म-द्रव्य पर घटाकर कहते हैं—यदि वह परमात्म द्रव्य परम-चैतन्य प्रकाशमयी स्वरूप से व अपने स्वरूप सत्ता के अस्तित्व गुण से सत् रूप न होवे तब वह निश्चय से नहीं होता हुआ किस तरह परमात्म द्रव्य हो सके? अर्थात् परमात्म द्रव्य ही न होवे। यह बात प्रत्यक्ष से विरोध रूप है, क्योंकि स्वसंवेदनज्ञान से अनुभव मे आता है। यदि कोई बिना विचारे ऐसा माने कि सत्ता से द्रव्य जुदा है तो उसकी अपेक्षा से, यदि द्रव्य सत्ता गुण के अभाव में भी रहता है ऐसा माना जावे तो क्या-क्या दोष आवेंगे उसका विचार किया जाता है। यदि केवलज्ञान, केवलदर्शन गुणों के साथ अवश्य रहने वाले अपने स्वरूप की सत्ता से जुदा ही द्रव्य ठहर सकता है, ऐसा माना जावे तो जब उसके स्वरूप का अस्तित्व नहीं है तब अपने स्वरूप की सत्ता के बिना द्रव्य नहीं रह सकता अर्थात् द्रव्य का ही अभाव मानना पड़ेगा। अथवा यदि ऐसा माना जाता है कि अपने-अपने स्वरूप के अस्तित्व से सत्ता और द्रव्य मे संज्ञा, लक्षण तथा प्रयोजनादि की अपेक्षा भेद होते हुए भी प्रदेशो की अपेक्षा भिन्नता नहीं है—एकता है, तब तो हमको भी सम्मत है क्योकि द्रव्य का ऐसा ही स्वरूप है। इस अवसर पर बौद्ध मत के अनुसार कहने वाला तर्क करता है कि ऐसा मानना चाहिये कि सिद्ध पर्याय की सत्ता रूप से द्रव्य उपचार मात्र है, मुख्यता से नहीं है। इसका समाधान आचार्य करते हैं—कि यदि सिद्ध पर्याय का उपादानकारण रूप परमात्मा द्रव्य का अभाव होगा तो सिद्धपर्याय की सत्ता ही नहीं सम्भव है। जैसे वृक्ष के बिना फल का होना सम्भव नहीं है। इसी प्रस्ताव में नैयायिकमत के अनुसार कहने वाला कहता है कि परमात्मा द्रव्य

है किन्तु वह सत्ता से भिन्न रहता है, पीछे सत्ता के समवाय (सम्बन्ध) से वह सत् होता है। आचार्य इस पर प्रति-शंका करते हैं कि सत्ता के समवाय के पूर्व द्रव्य सत् या असत् है? यदि सत् है तो सत्ता का समवाय वृथा है क्योंकि द्रव्य पहले से ही अपने अस्तित्व में है। यदि सत्ता के समवाय से पहले द्रव्य नहीं था तब आकाश पुष्प की तरह अविद्यमान उस द्रव्य के साथ किस तरह सत्ता का समवाय होगा? यदि कहो कि सत्ता का समवाय हो जावेगा, तब फिर आकाश पुष्प के साथ भी सत्ता का समवाय हो जावेगा, परन्तु ऐसा नहीं है। इसलिए जैसे अभेदनय से शुद्ध स्वरूप की सत्ता रूप ही परमात्म द्रव्य के साथ शुद्ध चेतना स्वरूप सत्ता का अभेद व्याख्यान किया गया तैसे ही सर्व चेतन द्रव्यों का अपनी-अपनी सत्ता से अभेद व्याख्यान करना चाहिये। ऐसे ही अचेतन द्रव्यों का अपनी सत्ता से अभेद है, ऐसा समझना चाहिये ।।१०५।।

अथ पृथक्त्वान्यत्वलक्षणमुन्मुद्रयति—

पविभत्तपदेसत्तं पुधत्तमिदि[1] सासणं हि वीरस्स ।
अण्णत्तमतब्भावो ण तब्भवं होदि कधमेगं[2] ।।१०६।।

प्रविभक्तप्रदेशत्वं पृथक्त्वमिति शासनं हि वीरस्य ।
अन्यत्वमतद्भावो न तद्भवत् भवति कथमेकम् ।।१०६।।

प्रविभक्तप्रदेशत्वं हि पृथक्त्वस्य लक्षणम् । तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्न सम्भाव्यते, गुणगुणिनोः प्रविभक्तप्रदेशत्वाभावात् शुक्लोत्तरीयवत् । तथाहि—यथा य एव शुक्लस्य गुणस्य प्रदेशास्त एवोत्तरीयस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः, तथा य एव सत्ताया गुणस्य प्रदेशास्त एव द्रव्यस्य गुणिन इति तयोर्न प्रदेशविभागः । एवमपि तयोरन्यत्वमस्ति तल्लक्षणसद्भावात् । अतद्भावो ह्यन्यत्वस्य लक्षणं, तत्तु सत्ताद्रव्ययोर्विद्यत एव गुणगुणिनोस्तद्भावस्याभावात् शुक्लोत्तरीयवदेव । तथाहि—यथा यः किलैकचक्षुरिन्द्रिय-विषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्तः शुक्लो गुणो भवति, न खलु तदखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, यच्च किलाखिलेन्द्रियग्रामगोचरीभूतमुत्तरीयं भवति, न खलु स एकचक्षुरिन्द्रियविषयमापद्यमानः समस्तेतरेन्द्रियग्रामगोचरमतिक्रान्त शुक्लो गुणो भवतीति तयोस्तद्भावस्याभाव । तथा या किलाश्रित्य वर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषणं विधायिका वृत्तिस्वरूपा च सत्ता भवति, न खलु तदनाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदितं विशेष्यं विधीयमानं वृत्तिमत्स्वरूपं च द्रव्यं भवति यत्तु किलानाश्रित्य वर्ति गुणवदनेकगुणसमुदितं विशेष्यं विधीयमानं वृत्तिमत्स्वरूप च द्रव्यं भवति, न खलु

१ पुधत्त (ज० वृ०)। २ कहमेक्क (ज० वृ०)।

साश्रित्यवर्तिनी निर्गुणैकगुणसमुदिता विशेषणं विधायिका वृत्तिस्वरूपा च सत्ता भवतीति तयोस्तद्भावस्याभावः। अत एव च सत्ताद्रव्ययोः कथंचिदनर्थान्तरत्वेऽपि सर्वथैकत्वं न शङ्कनीयं, तद्भावो ह्येकत्वस्य लक्षणम्। यत्तु न तद्भवद्विभाव्यते तत्कथमेकं स्यात्। अपि- तु गुणगुणिरूपेणानेकमेवेत्यर्थः ॥१०६॥

भूमिका—**अब, पृथक्त्व का और अन्यत्व का लक्षण स्पष्ट करते हैं—**

अन्वयार्थ—[प्रविभक्तदेशत्व] विभक्तप्रदेशत्व (भिन्न भिन्न प्रदेशपना) [पृथक्त्व] पृथक्त्व है, [इति हि] ऐसा निश्चित [वीरस्य शासन] वीर का उपदेश है। [अतद्भाव·] अतद्भाव (उस रूप न होना) अन्यत्व है। (क्योकि) [न तत् भवत्] जो उस रूप न हो वह [कथ एक] एक कैसे हो सकता है? कथञ्चित् सज्ञा-सख्या-लक्षण आदि की अपेक्षा सत्ता द्रव्य रूप नही है, और द्रव्य सत्तारूप नही है। इसलिए वे एक नही है अर्थात् दोनो मे तद्भाव नही अतद्भाव है।

टीका—**विभक्त (भिन्न) प्रदेशत्व पृथक्त्व का लक्षण है। वह तो सत्ता और द्रव्य मे सम्भव नहीं है, क्योंकि गुण और गुणी मे विभक्त प्रदेशत्व का अभाव होता है,–शुक्लत्व और वस्त्र की भांति। वह इस प्रकार है कि जैसे जो ही शुक्लत्व के गुण के प्रदेश हैं वे ही वस्त्र के गुणी के (प्रदेश भेद नहीं है, इसी प्रकार जो ही सत्ता के गुण के (प्रदेश) हैं वे ही द्रव्य के गुणी के हैं, इसलिये उनमे प्रदेशभेद नहीं है। ऐसा होने पर भी उनमे (सत्ता और द्रव्य मे) अन्यत्व है, क्योंकि (उनमे) अन्यत्व के लक्षण का सद्भाव है। अतद्भाव अन्यत्व का लक्षण है। वह (अतद्भाव) तो सत्ता और द्रव्य के है ही, क्योकि गुण और गुणी के तद्भाव का अभाव होता है,–शुक्लत्व और वस्त्र की भांति। वह इस प्रकार है कि—जैसे जो निश्चय से एक चक्षुइन्द्रिय के विषय में आने वाला और अन्य सब इन्द्रियों के समूह को गोचर न होने वाला शुक्लत्व गुण है वह समस्त इन्द्रिय समूह को गोचर होने वाला वस्त्र नहीं है और जो समस्त इन्द्रिय–समूह को गोचर होने वाला वस्त्र है वह एक चक्षुइन्द्रिय के विषय मे आने वाला तथा अन्य समस्त इन्द्रियों के समूह को गोचर न होने वाला शुक्लत्व गुण नहीं है। इसलिये उनके तद्भाव का अभाव है इसी प्रकार, किसी के (द्रव्य के) आश्रय रहने वाली, निर्गुण (जिनके आश्रय अन्य गुण नहीं) एक गुण की बनी हुई, विशेषणरूप विधायक और वृत्तिस्वरूप (अस्तित्व रूप) जो सत्ता है वह किसी के आश्रय के बिना रहने वाला, गुणवाला, अनेक गुणों से निर्मित, विशेष्य, विधीयमान (अस्तित्व वाला) स्वरूप द्रव्य नहीं है, तथा जो किसी के आश्रय के बिना रहने वाला, गुणवाला, अनेक गुणों से निर्मित, विशेष्य, विधीयमान और वृत्तिमानस्वरूप द्रव्य है वह किसी के आश्रित रहने वाली,**

निर्गुण, एक गुण से निर्मित, विशेषण, विधायक और वृत्तिस्वरूप सत्ता नहीं है, इसलिये उनके तद्भाव का अभाव है। इस कारण से ही, सत्ता और द्रव्य के कथंचित् अनर्थान्तरत्व (अभिन्नपदार्थत्व, अनन्यपदार्थत्व) है, तथापि उनके सर्वथा एकत्व होगा, ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये क्योंकि तद्भाव एकत्व का लक्षण है। जो उसरूप ज्ञात नहीं होता, वह (सर्वथा) एक कैसे हो सकता है ? (नहीं हो सकता)। परन्तु वह गुण और गुणी रूप से अनेक ही है, यह अर्थ है ॥१०६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पृथक्त्वलक्षण किमन्यत्वलक्षण च किमिति पृष्टे प्रत्युत्तर ददाति—

पविभत्तपदेसत्त पुधत्त पृथत्त्व भवति पृथक्त्वाभिधानो भेदो भवति। किंविशिष्ट ? प्रकर्षेण विभक्तप्रदेशत्व भिन्नप्रदेशत्व। किंवत् ? दण्डदण्डिवत्। इत्थम्भूत पृथत्त्व शुद्धात्म शुद्धसत्तागुणयोर्न घटते, कस्माद्धेतो ? भिन्नप्रदेशाभावात्। कयोरिव ? शुक्लवस्त्रशुक्लगुणयोरिव **इदि सासण हि वीरस्स** इति शासनमुपदेश आज्ञेति। कस्य ? वीरस्य वीराभिधानान्तिमतीर्थंकरपरमदेवस्य **अण्णत्त** तथापि प्रदेशाभेदेऽपि मुक्तात्मद्रव्यशुद्धसत्तागुणयोरन्यत्वभिन्नत्व भवति। कथम्भूत ? **अतब्भावो** अतद्भावरूप सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदस्वभावम्। यथाप्रदेशरूपेणाभे दस्तथा सज्ञादिलक्षणरूपेणाप्यभेदो भवतु को दोष इति चेत् ? नैवम्। **ण तब्भव होदि** तन्मुक्तात्मद्रव्य शुद्धात्मसत्तागुणेन सह प्रदेशाभेदेऽपिसज्ञादिरूपेण तन्मयं न भवति **कहमेक्कं** तन्मयत्व हि किलैकत्वलक्षण सज्ञादिरूपेण तन्मय त्वभावमेकत्व किन्तु नानात्वमेव। यथेद मुक्तात्मद्रव्ये प्रदेशाभेदेऽपि सज्ञादिरूपेण नानात्व कथित तथैव सर्वद्रव्याणा स्वकीयस्वकीयस्वरूपास्तित्वगुणेन सह ज्ञातव्यमित्यर्थ ॥१०६॥

उत्थानिका—आगे आचार्य पृथक्त्व और अन्यत्व का लक्षण कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(पविभत्तपदेसत्तं) जिसमे प्रदेशो की अपेक्षा अत्यन्त भिन्नता हो (पुधत्तमिदि) वह पृथक्त्व है ऐसी (वीरस्स हि सासणं) श्री महावीर भगवान् की आज्ञा है। (अतब्भावो) स्वरूप की एकता का न होना (अण्णत्तम्) अन्यत्व है। (तब्भवं ण) ये सत्ता और द्रव्य एक स्वरूप नहीं हैं (कहमेक्कं होदि) अब किस तरह दोनों एक हो सकते हैं। जहां प्रदेशों की अपेक्षा एक दूसरे में अत्यन्त पृथक्पना हो अर्थात् प्रदेश भिन्न-भिन्न हों जैसे दण्ड और दण्डी में भिन्नता है। इसको पृथक्त्व नाम का भेद कहते है। इस तरह पृथक्त्व या भिन्नपना शुद्ध आत्मद्रव्य का शुद्ध सत्ता गुण के साथ नहीं सिद्ध होता है क्योंकि इनके परस्पर प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं हैं। जो द्रव्य के प्रदेश हैं वे ही सत्ता के प्रदेश हैं—जैसे शुक्ल वस्त्र और शुक्ल गुण का स्वरूप भेद है परंतु प्रदेश भेद नहीं है ऐसे गुणी और गुण के प्रदेश भिन्न-भिन्न नहीं होते। ऐसे श्रीवीर नाम के अंतिम तीर्थङ्कर परमदेव की आज्ञा है। जहां संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि से परस्पर स्वरूप की एकता नहीं है वहां अन्यत्व नाम का भेद है ऐसा अन्यत्व या भिन्नपना मुक्तात्मा द्रव्य और उसके शुद्ध सत्ता गुण में है। यदि कोई कहे कि जैसे सत्ता और द्रव्य मे प्रदेशों की अपेक्षा अभेद है**

वैसे संज्ञादि लक्षण रूप से भी अभेद हो, ऐसा मानने से क्या दोष होगा ? इसका समाधान करते हैं कि ऐसा वस्तु स्वरूप नहीं है। वह मुक्तात्मा द्रव्य शुद्ध अपने सत्ता गुण के साथ प्रदेशों की अपेक्षा अभेद होते हुए भी संज्ञा आदि के द्वारा सत्ता और द्रव्य तन्मयी नहीं है। तन्मय होना ही निश्चय से एकता का लक्षण है किन्तु संज्ञादि रूप से एकता का अभाव है। सत्ता और द्रव्य मे नानापना है। जैसे यहाँ मुक्तात्मा द्रव्य में प्रदेश के अभेद होने पर भी संज्ञादि रूप से नानापना कहा गया है, तैसे ही सर्व द्रव्यों का अपने-अपने स्वरूप, सत्ता गुण के साथ नानापना जानना चाहिये, ऐसा अर्थ है ॥१०६॥

अथातद्भावमुदाहृत्य प्रथयति—

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओ त्ति वित्थारो।
जो खलु तस्स अभावो सो तदभावो अतब्भावो ॥१०७॥

सद्द्रव्य सश्च गुण सश्चैव च पर्याय इति विस्तार ।
य खलु तस्याभाव स तदभावोऽतद्भाव ॥१०७॥

यथा खल्वेक मुक्ताफलस्रग्दाम, हार इति सूत्रमिति मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तार्यते, तथैकं द्रव्य द्रव्यमिति गुण इति पर्याय इति त्रेधा विस्तार्यते। यथा चैकस्य मुक्ताफलस्रग्दाम्न: शुक्लो गुण: शुक्लो हार: शुक्ल सूत्र शुक्लं मुक्ताफलमिति त्रेधा विस्तार्यते। तथैकस्य द्रव्यस्य सत्तागुण सद्द्रव्यं सद्गुण: सत्पर्याय इति त्रेधा विस्तार्यते। यथा चैकस्मिन् मुक्ताफलस्रग्दाम्नि य. शुक्लो गुण: स न हारो न सूत्रं न मुक्ताफलं, यश्च हार: सूत्रं मुक्ताफल वास न शुक्लो गुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभाव स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वानिबन्धनभूत:। तथैकस्मिन् द्रव्ये य: सत्तागुणस्तन्न द्रव्यं नान्यो गुणो न पर्यायो यच्च द्रव्यमन्यो गुण: पर्यायो वा स न सत्तागुण इतीतरेतरस्य यस्तस्याभाव: स तदभावलक्षणोऽतद्भावोऽन्यत्वनिबन्धनभूत: ॥१०७॥

भूमिका—अब, अतद्भाव को उदाहरण पूर्वक स्पष्ट बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—[सत्द्रव्य] 'सत्द्रव्य' [सत् च गुण] 'सत्गुण' [च] और [सत् च एव पर्याय] 'सत् पर्याय' [इति] इस प्रकार [विस्तार] (सत्ता गुण का) विस्तार है। (उनमे परस्पर) [य खलु] जो वास्तव मे [तस्य अभाव] उसका (उस रूप होने का) अभाव है (अर्थात् सत् का सर्वथा द्रव्य रूप, अन्य गुण रूप या पर्याय रूप होने का अभाव और इसी प्रकार द्रव्य का अन्य गुण का या पर्याय का सर्वथा सत् होने का अभाव है) [स] वह [तदभाव] उसका अभाव [अतद्भाव] अतद्भाव है।

टीका—जैसे एक मोतियों की माला हार के रूप मे सूत्र (धागा) के रूप में और

मोती के रूप में ऐसे तीन प्रकार से विस्तारित की जाती है, उसी प्रकार एक द्रव्य–द्रव्य के रूप में, गुण के रूप में और पर्याय के रूप में–ऐसे तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है।

और जैसे एक मोतियों की माला का शुक्लत्व गुण शुक्ल हार, शुक्ल धागा, और शुक्ल मोती,–यों तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है, उसी प्रकार से द्रव्य का सत्तागुण-सत् द्रव्य, सत्‌गुण और सत्पर्याय,–यों तीन प्रकार से विस्तारित किया जाता है।

तथा जैसे मोतियों की माला में जो शुक्लत्व गुण है वह हार नहीं है, धागा नहीं है या मोती नहीं है, और जो हार, धागा या मोती है वह शुक्लत्व गुण नहीं है,—इस प्रकार एक दूसरे में जो 'उसका अभाव, (अर्थात् 'तद्रूप होने का अभाव' है) वह 'तद्–अभाव' लक्षण वाला 'अतद्‌भाव' है, जो कि अन्यत्व का कारण है। इसी प्रकार एक द्रव्य में जो सत्ता गुण है वह द्रव्य नहीं है, अन्य गुण नहीं है, या पर्याय नहीं है, और जो द्रव्य अन्य गुण या पर्याय है वह सत्ता गुण नहीं है,– इस प्रकार एक-दूसरे मे जो 'उसका अभाव' (अर्थात् 'तद्रूप होने का अभाव' है) वह 'तद् अभाव' लक्षण वाला 'अतद्‌भाव, है जो कि अन्यत्व का कारण है'॥१०७॥

तात्पर्यवृत्ति

अथातद्भाव विशेषेण विस्तार्य कथयति—

सद्दव्वं सच्च गुणो सच्चेव य पज्जओत्ति वित्थारो सद्द्रव्य सश्च गुण सश्चैव पर्याय इति सत्ता-गुणस्य द्रव्यगुणपर्यायेषु विस्तार । तथाहि यथा मुक्ताफलहारे सत्तागुणस्थानीयो योऽसौ शुक्लगुण स प्रदेशाभेदेन किं किं भण्यते ? शुक्लो हार इति शुक्ल सूत्रमिति शुक्ल मुक्ताफलमिति भण्यते, यश्च हार सूत्र मूक्ताफल वा तैस्त्रिभि प्रदेशाभेदेनेन शुक्लो गुणो भण्यत इति तद्भावस्य लक्षणमिद । तद्भावस्येति कोर्थ ? हारसूत्रमुक्ताफलाना शुक्लगुणेन सह तन्मयत्व प्रदेशाभिन्नत्वमिति तथा मुक्तात्मपदार्थे योऽसौ शुद्धसत्तागुण स प्रदेशाभेदेन कि कि भण्यते ? सत्तालक्षण परमात्मपदार्थ इति, सत्तालक्षण केवल-ज्ञानादिगुण इति, सत्तालक्षण सिद्धपर्याय इति भण्यते । यश्च परमात्मपदार्थ केवलज्ञानादिगुण सिद्ध-त्वपर्याय इति तैश्च त्रिभि शुद्धसत्तागुणो भण्यत इति तद्भावस्य लक्षणमिदम् ।

तद्‌भावस्येति कोऽर्थ ? परमात्मपदार्थकेवलज्ञानादिगुणसिद्धत्वपर्यायाणा शुद्धसत्तागुणेन सज्ञा-दिभेदेपि प्रदेशैस्तन्मयत्वमपि **जो खलु तस्स अभावो** यस्तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्य खलु स्फुट सज्ञा-दिभेदविवक्षायामभाव **सो तदभावो** स पूर्वोक्तलक्षणस्तदभावो भण्यते । स च तदभाव कि भण्यते ? **"अतब्भावो"** तदभावस्तन्मयत्व । किञ्चातद्‌भाव सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इत्यर्थ ।

तद्यथा—यथा मुक्ताफलहारे योऽसौ शुक्लगुणस्तद्वाचकेन शुक्लमित्यक्षरद्वयेन हारो वाच्यो न भवति सूत्र वा मुक्ताफल वा, हारसूत्रमुक्ताफलशब्दैश्च शुक्लगुणो वाच्यो न भवति । एव परस्पर प्रदेशा-भेदेऽपि योऽसौ सज्ञादिभेद स तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याभावस्तद्‌भावो भण्यते। स च तद्‌भाव पुनरपि

किं भण्यते ? अतद्भाव संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इति । तथा मुक्तजीवे योऽसौ शुद्धसत्तागुणस्तद्वाचकेन सत्ताशब्देन मुक्तजीवो वाच्यो न भवति केवलज्ञानादिगुणो वा सिद्धपर्यायो वा मुक्तजीवकेवलज्ञानादि-गुणसिद्धपर्यायैश्च शुद्धसत्तागुणो वाच्यो न भवति । इत्येव परस्पर प्रदेशाभेदेऽपि योऽसौ संज्ञादिभेद: सस्तस्य पूर्वोक्तलक्षणतद्भावस्याभावस्तदभावो भण्यते । स च तदभाव पुनरपि किं भण्यते ? अतद्-भाव संज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद इत्यर्थ । यथात्र शुद्धात्मनि शुद्धसत्तागुणेन सहाभेद स्थापितस्तथा यथासम्भव सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्य इत्यभिप्राय ॥१०७॥

उत्थानिका—आगे अन्यत्त्व का विशेष विस्तार के साथ कथन करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(सद्दव्व) सत्ता रूप द्रव्य है। (सच्च गुणो) और सत्ता रूप गुण है, (सच्चेव पज्जओत्ति) तथा सत्ता रूप पर्याय है, ऐसा (वित्थारो) सत्ता का विस्तार है (खलु) निश्चय करके (तस्स अभावो) जो उस सत्ता का परस्पर अभाव है (सो तदभावो) वह उसका अभाव रूप (अतब्भावो) अन्यत्व है ।**

जैसे मोती के हार में सत्ता गुण की जगह पर जो उसमें सफेदी का गुण है सो प्रदेशों की अपेक्षा एक रूप है तो भी उसको भेद करके इस तरह कहते हैं कि यह सफेद हार है, यह सफेद सूत है, यह सफेद मोती है तथा जो हार सूत या मोती है इन तीनो के साथ प्रदेशो का भेद न होते हुए सफेद गुण कहा जाता है यह एकता या तन्मय-पना का लक्षण है । तत्-अभाव का क्या अर्थ है ? हार सूत तथा मोती का शुक्ल गुण के साथ तन्मयपना या प्रदेशों का अभिन्नपना यह अर्थ है । तैसे मुक्त-आत्मा नाम के पदार्थ में जो कोई शुद्ध सत्ता गुण है वह प्रदेशों के अभेद होते हुए इस तरह कहा जाता है—सत्ता लक्षण परमात्मा पदार्थ, सत्ता लक्षण केवलज्ञानादि गुण, सत्ता लक्षण सिद्ध पर्याय । जो कोई परमात्म पदार्थ व केवलज्ञानादि गुण व पर्याय है इन तीनों के साथ शुद्ध सत्ता गुण कहा जाता है, यह तद्भाव या एकता का लक्षण है ।

तद्भाव का क्या प्रयोजन है ? परमात्मा पदार्थ, केवलज्ञानादि गुण, सिद्धत्व पर्याय इन तीनों का शुद्ध सत्ता नामा गुण के साथ संज्ञा संख्या लक्षण प्रयोजन की अपेक्षा भेद होते हुए भी और प्रदेशो की अपेक्षा तन्मयपना होते हुए भी, निश्चय करके जो इस तद्-भाव या एकता का संज्ञा सख्या आदि की अपेक्षा से परस्पर अभाव है उसको तद्भाव या उस एकता का अभाव या अतद्भाव या अन्यत्व कहते हैं । इस अन्यत्व का संज्ञा लक्षण प्रयोजनादि की अपेक्षा जो स्वरूप है उसको दृष्टांत देकर बताते हैं ।

जैसे मोती के हार मे जो कोई शुक्ल गुण है उसका वाचक जो शुक्ल नाम का दो अक्षर का शब्द है उस शब्द से हार या सूत्र या मोती कोई वाच्य नहीं है अर्थात् शुक्ल

शब्द से हार, सूत्र या मोती का ज्ञान नहीं होता है केवल सफेद गुण का ज्ञान होता है इसी तरह हार, सूत या मोती शब्दो से शुक्ल नहीं कहा जाता है। इस तरह हार, सूत तथा मोती के साथ शुक्ल गुण का प्रदेशों की अपेक्षा अभेद या एकत्त्व होने पर भी जो संज्ञा आदि का भेद है वह भेद पहले कहे हुए तद्‌भाव या तन्मयपने का अभाव रूप अतद्‌भाव है या अन्यत्त्व है अर्थात् संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि का भेद है। तैसे मुक्त जीव में जो कोई शुद्ध सत्तागुण है उसको कहने वाले सत्ता शब्द से मुक्त जीव नहीं कहा जाता, न केवलज्ञानादि गुण कहे जाते हैं, न सिद्ध पर्याय कही जाती है और न मुक्त जीव केवलज्ञानादि गुण या सिद्ध पर्याय से शुद्ध सत्ता गुण कहा जाता है। इस तरह सत्ता गुण का मुक्त जीवादि के साथ परस्पर प्रदेशभेद न होते हुए भी जो संज्ञा आदिकृत भेद है वह भेद उस पूर्व में कहे हुए तद्भाव या तन्मयपने के लक्षण से रहित अतद्‌भाव या अन्यत्त्व कहा जाता है। अर्थात् संज्ञा लक्षण प्रयोजन आदि-कृत भेद है, ऐसा अर्थ है। जैसे यहा शुद्धात्मा में शुद्ध सत्ता गुण के साथ अभेद स्थापित किया गया, तैसे ही यथा-संभव सर्व द्रव्यो मे जानना चाहिये, यह अभिप्राय है—अर्थात् आत्मा का और सत्ता का प्रदेश की अपेक्षा अभेद है, मात्र संज्ञादि स्वरूप की अपेक्षा भेद या अन्यत्व है। ऐसा ही अन्य द्रव्यों मे समझना ॥१०७॥

अथ सर्वथाऽभावलक्षणत्वमतद्भावस्य निषेधयति—

जं दव्वं तं ण गुणो जो वि गुणो सो ण तच्चमत्थादो ।
एसो हि अतब्भावो णेव अभावो त्ति णिद्दिट्ठो ॥१०८॥

यद्द्रव्य तन्न गुणो योऽपि गुण स न तत्त्वमर्थात् ।
एप ह्यतद्भावो नैव अभाव इति निर्दिष्ट ॥१०८॥

एकस्मिन्द्रव्ये यद्द्रव्यं गुणो न तद्भवति, यो गुणः स द्रव्य न भवतीत्येव यद्द्रव्यस्य गुणरूपेण गुणस्य वा द्रव्यरूपेण तेनाभवनं सोऽतद्भावः। एतावतैवान्यत्वव्यवहारसिद्धेर्न पुनर्द्रव्यस्याभावो गुणो, गुणस्याभावो द्रव्यमित्येवलक्षणोऽभावोऽतद्भाव, एवं सत्येकद्रव्यस्यानेकत्वमुभयशून्यत्वमपोहरूपत्वं वा स्यात्। तथाहि—यथा खलु चेतनद्रव्यस्याभावोऽचेतनद्रव्यमचेतनद्रव्यस्याभावश्चेतनद्रव्यमिति तयोरनेकत्वं, तथा द्रव्यस्याभावो गुणो गुणस्याभावो द्रव्यमित्येकस्यापि द्रव्यस्यानेकत्वं स्यात्। यथा सुवर्णस्याभावे सुवर्णत्वस्याभावः, सुवर्णत्वस्याभावे सुवर्णस्याभाव इत्युभयशून्यत्वं, तथा द्रव्यस्याभावे गुणस्याभावो गुणस्याभावे द्रव्य-

---

१ तण्ण (ज० वृ०)।

स्याभाव इत्युभयशून्यत्वं स्यात् । यथा पटाभावमात्र एव घटो घटाभावमात्र एव पट इत्युभयोरपोहरूपत्वं तथा द्रव्याभावमात्र एव गुणो गुणाभावमात्र एव द्रव्यमित्यत्राप्यपोहरूपत्वं स्यात् । ततो द्रव्यगुणयोरेकत्वमशून्यत्वमनपोहत्वं चेच्छता यथोदित एवातद्भावोऽभ्युपगन्तव्यः ॥१०८॥

भूमिका—अब, सर्वथा अभाव अतद्भाव का लक्षण है, इसका निषेध करते हैं—

अन्वयार्थ—[अर्थात्] स्वरूपापेक्षा से [यत् द्रव्य] जो द्रव्य है [तत् न गुण] वह गुण नही है, [य. अपि गुण] और जो गुण है [स न तत्त्व] वह द्रव्य नही है। [एषः हि अतद्भाव.] यह ही वास्तव मे अतद्भाव है, [न एव अभाव] (सर्वथा) अभाव रूप ही (अतद्भाव) नही है, [इति दिर्दिष्ट.] इस प्रकार से (जिनेन्द्र देव द्वारा) निर्देश किया गया है ।

टीका—एक द्रव्य मे जो द्रव्य है वह गुण नहीं है, जो गुण है वह द्रव्य नहीं है—इस प्रकार जो द्रव्य का गुण रूप से अथवा गुण का द्रव्य रूप से न होना है, वह अतद्भाव है । इतने से ही अन्यत्व व्यवहार (अन्यत्व रूप व्यवहार) सिद्ध होता है । (परन्तु) द्रव्य का अभाव गुण है, गुण का अभाव द्रव्य है—ऐसे लक्षण वाला अभाव अतद्भाव नहीं है । यदि ऐसा हो तो (१) एक द्रव्य को अनेकत्व (अनेक द्रव्यपना) आ जायगा, (२) उभय शून्यता दोनों का अभाव (हो जायगा,) अथवा (३) अपोहरूपता (एक दूसरे का अभाव मात्र होना) आ जायेगी । इसी को समझाते हैं—

(१) जैसे अचेतन द्रव्य का अभाव चेतन द्रव्य है (और) चेतन द्रव्य का अभाव अचेतन द्रव्य है—इस प्रकार उनके अनेकत्व (द्वित्व) है, उसी प्रकार द्रव्य का अभाव गुण, (और) गुण का अभाव द्रव्य है—इस प्रकार एक द्रव्य के भी अनेकत्व आ जायगा । (अर्थात् द्रव्य के एक होने पर भी, द्रव्य स्वयं एक पृथक् द्रव्य हो जायेगा और उसके गुणों मे से प्रत्येक गुण पृथक्-पृथक् द्रव्य बन जायेंगे, इस प्रकार एक द्रव्य के अनेक द्रव्य बन जायेंगे) ।

(२) जैसे सुवर्ण का अभाव होने पर सुवर्णत्व का अभाव हो जाता है, और सुवर्णत्व का अभाव होने पर सुवर्ण का अभाव हो जाता है—इस प्रकार उभय शून्यत्व हो जाता है, उसी प्रकार द्रव्य का अभाव होने पर गुण का अभाव और गुण का अभाव होने पर द्रव्य का अभाव हो जायेगा, इस प्रकार उभय शून्यता हो जायेगी । (अर्थात् द्रव्य तथा गुण दोनों के अभाव का प्रसग आ जावेगा) ।

(३) जैसे पटाभाव मात्र ही घट है, घटाभाव मात्र ही पट है, (अर्थात् वस्त्र के केवल अभाव जितना ही घट है, और घट का केवल अभाव जितना ही वस्त्र है)—इस प्रकार दोनों के अपोहरूपता है, उस ही प्रकार द्रव्याभाव मात्र ही गुण और गुणाभाव मात्र ही द्रव्य होगा, इस प्रकार इसमें भी (द्रव्य-गुण में भी) अपोहरूपता आ जायेगी, (अर्थात् केवल नकाररूपता का प्रसंग आ जायेगा।

इसलिये द्रव्य और गुण का एकत्व, अशून्यत्व और अनपोहत्व चाहने वाले को यथोक्त ही अतद्भाव मानना चाहिये ॥१०८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ गुणगुणिनो प्रदेशभेदनिषेधेन तमेव सज्ञादिभेदरूपमतद्भाव द्रढयति—

जं दव्वं तण्ण गुणो यद्द्रव्य स न गुण यन्मुक्तजीवद्रव्य स शुद्ध सन् गुणो न भवति। मुक्तजीव-द्रव्यशब्देन शुद्धसत्तागुणो वाच्यो न भवतीत्यर्थ । **जोवि गुणो सो ण तच्चमत्थादो** योऽपि गुण स न तत्त्व द्रव्यमर्थत परमार्थत, य शुद्धसत्तागुण स मुक्तात्मद्रव्य न भवति शुद्धसत्ताशब्देन मुक्तात्मद्रव्य वाच्य न भवतीत्यर्थ । **एसो हि अतब्भावो** एष उक्तलक्षणो हि स्फुटमतद्भाव । उक्तलक्षण इति कोऽर्थ. ? गुणगुणिनो सज्ञादिभेदेऽपि प्रदेशभेदाभाव **णेव अभावोत्ति णिद्दिट्ठो** नैवाभाव इति निर्दिष्ट । नैव अभाव इति कोऽर्थ ? यथा सत्तावाचकशब्देन मुक्तात्मद्रव्य वाच्य न भवति तथा यदि सत्ताप्रदेशै-रपि सत्तागुणात्सकाशाद्भिन्न भवति तदा यथा जीवप्रदेशेभ्य पुद्गलद्रव्य भिन्न सद्द्रव्यान्तर भवति तथा सत्तागुणप्रदेशेभ्यो मुक्तजीवद्रव्य सत्तागुणाद्भिन्न सत्पृथग्द्रव्यान्तर प्राप्नोति। एव कि सिद्ध ? सत्तागुणरूप पृथग्द्रव्य मुक्तात्मद्रव्य च पृथगिति द्रव्यद्वय जात, न च तथा। द्वितीय च दूषण प्राप्नोति— यथा सुवर्णत्वगुणप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सुवर्णस्याभावस्तथैव सुवर्णप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सुवर्णत्वगुणस्याप्य-भाव, तथा सत्तागुणप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य मुक्तजीवद्रव्यस्याभावस्तथैव मुक्तजीवद्रव्यप्रदेशेभ्यो भिन्नस्य सत्तागुणस्याप्यभाव इत्युभयशून्यत्व प्राप्नोति। यथैव मुक्तजीवद्रव्ये सज्ञादिभेदभिन्नस्यातद्भावस्तस्य सत्तागुणेन सह प्रदेशाभेदव्याख्यान कृत तथा सर्वद्रव्येषु यथासम्भव ज्ञातव्यमित्यर्थ ॥१०८॥

एव द्रव्यस्यास्तित्वकथनरूपेण प्रथमगाथा पृथक्त्वलक्षणातद्भावविधानान्यत्वलक्षणयो कथनेन द्वितीया सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदरूपस्यातद्भावस्य विवरणरूपेण तृतीया तस्यैव दृढीकरणार्थ च चतुर्थीतिद्रव्यगुणयोरभेदविषये युक्तिकथनमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन पचमस्थल गतम् ।

उत्थानिका—गुण और गुणी मे प्रदेश भेद नही है परन्तु सज्ञादि कृत भेद है इस तरह अन्यत्व को दृढ करते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जं दव्वं) जो द्रव्य है (तण्ण गुणो) वह गुण नहीं है (जो वि गुणो) जो निश्चय से गुण है (सो अत्थादो ण तच्चं) वह स्वरूप के भेद से द्रव्य नहीं है (एसो हि अतब्भावो) ऐसा ही स्वरूप भेदरूप अन्यत्व है (णेव अभावोत्ति) निश्चय से सर्वथा अभाव नहीं है ऐसा (णिद्दिट्ठो) सर्वज्ञद्वारा कहा गया है।**

जो द्रव्य है सो स्वरूप से गुण नहीं है। जो मुक्त जीवद्रव्य है, वह शुद्ध सत्तागुण नहीं है उस मुक्त जीव द्रव्य शब्द से शुद्ध सत्ता गुण वाच्य नहीं होता है अर्थात् नहीं कहा जाता है। जो गुण है वह वास्तव मे द्रव्य नहीं होता।

इसी तरह जो शुद्ध सत्ता गुण है वह परमार्थ से मुक्तात्मा-द्रव्य नहीं होता है। शुद्ध सत्ता शब्द से मुक्तात्मा द्रव्य नहीं कहा जाता। यही अतद्भाव का लक्षण है। इस तरह गुण और गुणी मे स्वरूप की अपेक्षा या संज्ञादि की अपेक्षा भेद है तो भी प्रदेशों का भेद नहीं है। इसमें सर्वथा एक का दूसरे मे अभाव नहीं है ऐसा सर्वज्ञ भगवान् ने कहा है— यदि गुणी मे गुण का सर्वथा अभाव माना जावे तो क्या-क्या दोष होगे उनको समझाते हैं। जैसे सत्ता नाम के वाचक शब्द से मुक्तात्मा द्रव्य वाच्य नहीं होता तैसे यदि सत्ता के प्रदेशों से भी सत्तागुण के मुक्तात्म द्रव्य भिन्न हो जावे तब जैसे जीव के प्रदेशों से पुद्गल द्रव्य भिन्न होता हुआ अन्य द्रव्य है तैसे सत्ता गुण के प्रदेशों से सत्ता गुण से मुक्त जीव द्रव्य भिन्न होता हुआ भिन्न ही दूसरा द्रव्य प्राप्त हो जावे। तब यह सिद्ध होगा कि सत्तागुण रूप भिन्न द्रव्य और मुक्तात्मा द्रव्य भिन्न इस तरह दो द्रव्य हो जावेंगे। सो ऐसा वस्तु स्वरूप नहीं है। इसके सिवाय दूसरा दूषण यह प्राप्त होगा कि जैसे सुवर्णपना नामा गुण के प्रदेशों से सुवर्ण भिन्न होता हुआ अभाव रूप हो जाएगा जैसे ही सुवर्ण द्रव्य के प्रदेशो से सुवर्णपना गुण भिन्न होता हुआ अभाव रूप हो आयगा वैसे सत्ता गुण के प्रदेशों से मुक्त जीवद्रव्य भिन्न होता हुआ अभावरूप हो जाएगा, तैसे ही मुक्त जीव द्रव्य के प्रदेशों से सत्ता गुण भिन्न होता हुआ अभाव रूप हो जाएगा, इस तरह दोनों का शून्यपना प्राप्त हो आयगा। इस तरह गुणी और गुण का सर्वथा भेद मानने से दोष आजावेंगे। जैसे जहां मुक्त जीव द्रव्य मे सत्ता गुण के साथ संज्ञा आदि के भेद से अन्यपना है किन्तु प्रदेशों की अपेक्षा अभेद या एकपना है ऐसा व्याख्यान किया गया है तैसे ही सर्व द्रव्यो में यथासम्भव जान लेना चाहिये, ऐसा अर्थ है ॥१०८॥

इस तरह द्रव्य के अस्तित्व को कथन करते हुए प्रथम गाथा, पृथक्त्व लक्षण और अतद्भाव रूप अन्यत्व लक्षण को कहते हुए, दूसरी गाथा, संज्ञा लक्षणप्रयोजनादि से भेदरूप अतद्भाव को कहते हुए तीसरी गाथा, उसी को दृढ़ करने के लिये चौथी गाथा, इस तरह द्रव्य और गुण मे अभेद है इस विषय में युक्ति द्वारा कथन की मुख्यता से चार गाथाओं से पांचवां स्थल पूर्ण हुआ।

अथ सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभावं साधयति—

जो खलु दव्वसहावो[1] परिणामो सो गुणो सदविसिट्ठो ।
सदवट्ठिदं सहावे दव्व त्ति जिणोवदेसोयं ॥१०९॥

य· खलु द्रव्यस्वभाव परिणाम स गुण सदविशिष्ट ।
सदवस्थित स्वभावे द्रव्यमिति जिनोपदेशोऽयम् ॥१०९॥

द्रव्यं हि स्वभावे नित्यमवतिष्ठमानत्वात्सदिति प्राक् प्रतिपादितम् । स्वभावस्तु द्रव्यस्य परिणामोऽभिहितः । य एव द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः, स एव सदविशिष्टो गुण इतीह साध्यते । यदेव हि द्रव्यस्वरूपवृत्तिभूतमस्तित्वं द्रव्यप्रधाननिर्देशात्सदिति संशब्द्यते तदविशिष्टगुणभूत एव द्रव्यस्य स्वभावभूतः परिणामः द्रव्यवृत्तेर्हि त्रिकोटिसमयस्पर्शिन्याः प्रतिक्षणं तेन तेन स्वभावेन परिणमनाद्द्रव्यस्वभावभूत एव तावत्परिणामः । स त्वस्तित्वभूतद्रव्यवृत्त्यात्मकत्वात्सदविशिष्टो द्रव्यविधायको गुण एवेति सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिभावः सिद्ध्यति ॥१०९॥

भूमिका—अब, सत्ता और द्रव्य का गुण-गुणित्व सिद्ध करते हैं—

अन्वयार्थ—[य· खलु] जो वास्तव मे [द्रव्यस्वभाव परिणाम] द्रव्य का स्वभाव भूत (उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक) परिणाम है [स] वह [सदविशिष्ट गुण] 'सत्' से अविशिष्ट (सत्ता से अभिन्न) गुण है । [स्वभावे अवस्थित] 'स्वभाव मे अवस्थित (होने से) [द्रव्य] द्रव्य [सत्] सत् है'—[इति अय जिनोपदेश] ऐसा यह जिनेन्द्र भगवान का उपदेश है ।

टीका—द्रव्य, स्वभाव में नित्य अवस्थित होने से, सत् है,—ऐसा पहले (९९वीं गाथा में) प्रतिपादित किया गया है, और (वहां) स्वभाव तो द्रव्य का परिणाम कहा गया है । यहां यह सिद्ध किया जा रहा है कि जो ही द्रव्य का स्वभावभूत परिणाम है वह ही 'सत्' से अविशिष्ट (अस्तित्व से अभिन्न), गुण है ।

जो द्रव्य के स्वरूप का वृत्तिभूत अस्तित्व द्रव्यप्रधान कथन के द्वारा 'सत्' शब्द से कहा जाता है, उससे अविशिष्ट (उस अस्तित्व से अनन्य) गुणभूत ही द्रव्य स्वभावभूत परिणाम है, क्योंकि द्रव्य की वृत्ति (अस्तित्व) तीन प्रकार के समय को (भूत, भविष्यत, वर्तमान काल को) स्पर्शित करती है, (और) प्रतिक्षण उस स्वभावरूप परिणमन करने के कारण द्रव्य का स्वभावभूत परिणाम है । और वह (उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक परिणाम)

---

१. दव्वसहाओ (ज० वृ०) ।

अस्तित्वभूत द्रव्य की वृत्ति स्वरूप होने से, 'सत्' से अविशिष्ट, द्रव्यविधायक (द्रव्य का रचयिता) गुण ही है। इस प्रकार सत्ता और द्रव्य का गुण-गुणी सबंध है ॥१०९॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ सत्ता गुणो भवति द्रव्य च गुणी भवतीति प्रतिपादयति,—

जो खलु दव्वसहाओ परिणामो य खलु स्फुट द्रव्यस्य स्वभावभूत परिणाम पचेन्द्रियविषयानुभवरूपमनोव्यापारोत्पन्नसमस्तमनोरथरूपविकल्पजालाभावे सति यश्चिदानन्दैकानुभूतिरूप स्वस्थभावस्तस्योत्पाद, पूर्वोक्तविकल्पजालविनाशो व्यय, तदुभयाधारभूत जीवत्व ध्रौव्यमित्युक्तलक्षणोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकजीवद्रव्यस्य स्वभावभूतो योऽसौ परिणाम **सो गुणो** स गुणो भवति स परिणाम। कथम्भूत सन्गुणो भवति ? **सदविसिट्ठो** सतोऽस्तित्वादविशिष्टोऽभिन्नस्तदुत्पादादित्रय तिष्ठत्यस्तित्व चैकं तिष्ठत्यस्तित्वेन सह कथमभिन्नो भवतीतिचेत्। "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्त सत्" इति वचनात्। एव सति सत्तैव गुणो भवतीत्यर्थं। इति गुणव्याख्यानं गतम्। **सदवट्ठिद सहावे दव्वत्ति** सदवस्थित स्वभावे द्रव्यमिति द्रव्य परमात्मद्रव्य। कि कर्तृ ? सदिति। केन ? अभेदनयेन। कथम्भूत ? सत् अवस्थित। क्व ? उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकस्वभावे **जिणोवदेसोय** अय जिनोपदेश इति "सदवट्ठिद सहावे दव्व दव्वस्स जो हु परिणामो" इत्यादिपूर्वसूत्रे यदुक्त तदेवेद व्याख्यान, गुणकथन पुनरधिकमिति तात्पर्यम्। यथेद जीवद्रव्ये गुणगुणिनोर्व्याख्यान कृत तथा सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्यमिति ॥१०९॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि सत्ता गुण है और द्रव्य गुणी है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(खलु) निश्चय से (जो दव्वसहाओ परिणामो) जो द्रव्य का स्वभावमयी उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप परिणाम है (सो सदविसिट्ठो गुणो) सो सत्ता से अभिन्न गुण है। (सहावे अवट्ठियं दव्व त्ति सत्) जो अस्तित्व स्वभाव में तिष्ठता है, वह द्रव्य है (जिणो-वदेसोय) ऐसा श्री जिनेन्द्र का उपदेश है।**

जब आत्मा में पंचेंद्रिय के विषयों के अनुभव रूप मन के व्यापार से पैदा होने वाले सब मनोरथ रूप विकल्पजालों का अभाव हो जाता है, तब चिदानंद मात्र की अनुभूति रूप जो आत्मा मे ठहरा हुआ भाव है उसका उत्पाद होता है और पूर्व में कहे हुए विकल्पजाल का नाश सो व्यय है, तथा इस उत्पाद और व्यय दोनो का आधार रूप जीवपना ध्रौव्य है। इस तरह त्रयलक्षण वाले उत्पाद व्यय ध्रौव्य स्वरूप जीव द्रव्य का जो कोई स्वभावभूत परिणाम है, वही सत्ता से अभिन्न गुण है। जीव में उत्पादादि तीन रूप परिणमन है सो ही सत्गुण है जैसा कहा है "उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्"। ऐसा होने पर यह सिद्ध हुआ कि सत्ता ही द्रव्य का गुण है। इस तरह सत्ता गुण का व्याख्यान किया गया। परमात्मा द्रव्य अभेदनय से अपने उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप स्वभाव में तिष्ठा हुआ सत् है, ऐसा श्री जिनेन्द्र का उपदेश है। "सदवट्ठिदं सहावे दव्वं दव्वस्स जो हु

परिणामो" इत्यादि निन्यानवे गाथा में जो कहा था वही यहां कहा गया है। मात्र गुण का कथन किया गया है, यह तात्पर्य है। जैसा जीव द्रव्य में गुण और गुणी का व्याख्यान किया गया है वैसा सर्व द्रव्य में जानना चाहिये ॥१०९॥

अथ गुणगुणिनोर्नानात्वमुपहन्ति—

णत्थि गुणो त्ति [1]व कोई पज्जाओ त्तीह वा विणा दव्वं ।
दव्वत्तं पुण भावो तम्हा दव्वं सयं सत्ता ॥११०॥

नास्ति गुण इति वा कश्चित् पर्याय इतीह वा विना द्रव्यम् ।
द्रव्यत्व पुनर्भावस्तस्माद्द्रव्य स्वय सत्ता ॥११०॥

न खलु द्रव्यात्पृथग्भूतो गुण इति वा पर्याय इति वा कश्चिदपि स्यात् । यथा सुवर्णात्पृथग्भूतं तत्पीतत्वादिकमिति वा तत्कुण्डलत्वादिकमिति वा । अथ तस्य तु द्रव्यस्य स्वरूपवृत्तिभूतमस्तित्वाख्यं यद्द्रव्यत्वं स खलु तद्भावाख्यो गुण एव भवन् किं हि द्रव्यात्पृथग्भूतत्वेन वर्तते । न वर्तत एव । तर्हि द्रव्य सत्ताऽस्तु, स्वयमेव ॥११०॥

भूमिका—अब, गुण गुणी के अनेकत्व का (प्रदेश भेद सहित भिन्न-भिन्न पदार्थ होने का) खण्डन करते हैं—

अन्वयार्थ—[इह] इस विश्व मे [द्रव्य बिना] द्रव्य के बिना (द्रव्य से प्रदेश भेद सहित पृथक्) [गुण इति] गुण ऐसी [वा] अथवा [पर्याय इति] पर्याय ऐसी [कश्चित्] कोई पदार्थ [नास्ति] नही है [पुन] और [द्रव्यत्व] अस्तित्व [भावः] स्वभावभूत गुण है, [तस्मात्] इसलिये [द्रव्य] द्रव्य [स्वय] आप ही [सत्ता] अस्तित्व रूप सत्ता है।

टीका—वास्तव मे द्रव्य से पृथग्भूत (प्रदेश भेद रूप) ऐसा गुण या ऐसी पर्याय कोई भी नहीं है, जैसे—सुवर्ण से पृथग्भूत उसका पीलापन आदि या उसका कुण्डलत्वादि नहीं होता। अब, उस द्रव्य के स्वरूप की वृत्तिभूत जो, अस्तित्व नाम से कहा जाने वाला, द्रव्यत्व है वह वास्तव में उसका 'भाव' नाम से कहा जाने वाला गुण ही होता हुआ क्या उस द्रव्य से पृथक्रूप से रहता है ? (नहीं ही रहता)। तब फिर द्रव्य स्वयमेव सत्ता हो ॥११०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ सह गुणपर्यायाभ्या सह द्रव्यस्याभेद दर्शयति—

णत्थि नास्ति न विद्यते । स क ? गुणोत्ति य कोई गुण इति कश्चित् । न केवल गुण: पज्जाओत्तीह वा पर्यायो वेतीह । कथ ? विणा विना । किं विना ? दव्व द्रव्यमिदानी द्रव्य कथ्यते दव्वत्तं पुण

[1] य (ज० वृ०)।

भावो द्रव्यत्वभावो द्रव्यत्वमस्तित्वं। तत्पुन किं भण्यते ? भाव । कोऽर्थ ? उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक-सद्भाव. **तम्हा दव्वं सयं सत्ता** तस्मादभेदनयेन सत्ता स्वयमेव द्रव्य भवतीति । तद्यथा—मुक्तात्मद्रव्ये परमावाप्तिरूपो मोक्षपर्याय केवलज्ञानादिरूपो गुणसमूहश्च येन कारणेन तद्द्वयमपि परमात्मद्रव्य विना नास्ति न विद्यते । कस्मात्प्रदेशाभेदादिति ? उत्पादव्ययध्रौव्यात्मकशुद्धसत्तारूप मुक्तात्मद्रव्य भवति। तस्मादभेदेन सत्तैव द्रव्यमित्यर्थ । यथा मुक्तात्मद्रव्ये गुणपर्यायाभ्या सहाभेदव्याख्यान कृत तथा यथासम्भव सर्वद्रव्येषु ज्ञातव्यमिति ॥११०॥

एव गुणगुणिव्याख्यानरूपेण प्रथमगाथा द्रव्यस्य गुणपर्यायाभ्या सह भेदो नास्तीति कथनरूपेण-द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वयेन षष्ठस्थल गतम् ।

उत्थानिका—आगे गुण और पर्यायो से द्रव्य का अभेद दिखलाते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ–(इह) **इस जगत् में (दव्वं विणा) द्रव्य के बिना कोई (गुणो त्ति पज्जाओ त्ति णत्थि) न कोई गुण होता है न कोई पर्याय होती है (पुण दव्वत्तं भावो) तथा द्रव्यपना या उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप से परिणमनपना द्रव्य का स्वभाव है (तम्हा दव्वं सयं सत्ता) इसलिये द्रव्य स्वयं सत्ता रूप है ।**

मुक्तात्मा द्रव्य में केवलज्ञानादि रूप गुणों के समूह तथा परम पद की प्राप्ति रूप मोक्ष पर्याय ये दोनों ही परमात्मा द्रव्य के बिना नहीं पाए जाते क्योंकि गुण और पर्यायों का द्रव्य के प्रदेशों से भेद नहीं है किन्तु एकत्व है तथा मुक्तात्मा द्रव्य उत्पाद व्यय ध्रौव्यमयी शुद्ध सत्तास्वरूप है । इसलिये अभेदनय से सत्ता ही द्रव्य है या द्रव्य ही सत्ता है । जैसे मुक्तात्मा द्रव्य मे गुणपर्यायों के साथ अभेद व्याख्यान किया तैसे यथा सम्भव सर्व द्रव्यों में जान लेना चाहिये ॥११०॥

इस तरह गुण और गुणी का व्याख्यान करते हुए प्रथम गाथा तथा द्रव्य का अपने गुण व पर्यायों से भेद नहीं है ऐसा कहते हुए दूसरी गाथा इस तरह स्वतन्त्र दो गाथाओं से छठा स्थल पूर्ण हुआ ।

अथ द्रव्यस्य सदुत्पादासदुत्पादयोरविरोधं साधयति—

एवंविहं [1]सहावे दव्वं दव्वत्थपज्जयत्थेहिं ।
सदसब्भावणिबद्धं पादुब्भावं सदा[2] लभदि[3] ॥१११॥

एवविध स्वभावे द्रव्य द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्याम् ।
सदसद्भावनिबद्ध प्रादुर्भाव सदा लभते ॥१११॥

एवमेतद्यथोदितप्रकारसाकल्याकलङ्कलाञ्छनमनादिनिधनं सत्स्वभावे प्रादुर्भावमास्कन्दति द्रव्यम् । स तु प्रादुर्भावो द्रव्यस्य द्रव्याभिधेयतायां सद्भावनिबद्ध एव स्यात् । पर्या-

---

१ एवविहसब्भावे (ज० वृ०) । २ सया (ज० वृ०) । ३ लहदि (ज० वृ०) ।

यामिधेयतायां त्वसद्भावनिबद्ध एव। तथाहि—यदा द्रव्यमेवाभिधीयते न पर्यायास्तदा प्रभवावसानवर्जिताभिर्यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्द्रव्यनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभि प्रभवावसानलाञ्छना: क्रमप्रवृत्ता: पर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ता: सक्रामतो द्रव्यस्य सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भाव: हेमवत्। तथाहि—यदा हेमैवाभिधीयते नाङ्गदादय: पर्यायास्तदा हेमसमानजीविताभिर्यौगपद्यप्रवृत्ताभिर्हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभिरङ्गदादिपर्यायसमानजीविता: क्रमप्रवृत्ता अङ्गदादिपर्यायनिष्पादिका व्यतिरेकव्यक्तीस्तास्ता: संक्रामतो हेम्न: सद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भाव:। यदा तु पर्याया एवाभिधीयन्ते न द्रव्यं तदा प्रभवावसानलाञ्छनाभि: क्रमप्रवृत्ताभि: पर्यायनिष्पादिकाभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ताभिस्ताभि: प्रभवावसानवर्जिता यौगपद्यप्रवृत्ता द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्ती: संक्रामतो द्रव्यस्यासद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भाव: हेमवदेव। तथाहि—यदाङ्गदादिपर्याया एवाभिधीयन्ते न हेम तदाङ्गदादिपर्यायसमानजीविताभि: क्रमप्रवृत्ताभिरङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिस्ताभिस्ताभिर्हेमसमानजीविता यौगपद्यप्रवृत्ता हेमनिष्पादिका अन्वयशक्ती: संक्रामतो हेम्नोऽसद्भावनिबद्ध एव प्रादुर्भाव:। अथ पर्यायाभिधेयतायामप्यसदुत्पत्तौ पर्यायनिष्पादिकास्तास्ता व्यतिरेकव्यक्तयो यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्ना पर्यायान् द्रवीकुर्यु:, तथाङ्गदादिपर्यायनिष्पादिकाभिस्ताभिस्ताभिर्व्यतिरेकव्यक्तिभिर्यौगपद्यप्रवृत्तिमासाद्यान्वयशक्तित्वमापन्नाभिरगंदादिपर्याया अपि हेमीक्रियेरन्। द्रव्याभिधेयतायामपि सदुत्पत्तौ द्रव्यनिष्पादिका अन्वयशक्तय: क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकव्यक्तित्वमापन्ना द्रव्य पर्यायीकुर्यु:। तथा हेमनिष्पादिकाभिरन्वयशक्तिभि: क्रमप्रवृत्तिमासाद्य तत्तद्व्यतिरेकमापन्नाभिर्हेमागदादिपर्यायमात्री क्रियेत। ततो द्रव्यार्थादेशात्सदुत्पाद: पर्यायार्थादेशादसत् इत्यनवद्यम् ॥१११॥

भूमिका—अब, द्रव्य के सत्-उत्पाद और असत्-उत्पाद होने मे अविरोध सिद्ध करते हैं—

अन्वयार्थ—[एवविध द्रव्यं] ऐसा (पूर्वोक्त) द्रव्य [स्वभावे] स्वभाव मे [द्रव्यार्थपर्यायार्थाभ्या] द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक नयो की अपेक्षा से [सदसद्भावनिबद्धं प्रादुर्भाव] सद्भावसबद्ध और असद्भावसम्बद्ध उत्पाद को [सदा लभते] सदा प्राप्त करता है।

टीका—इस प्रकार यह यथोचित (पूर्वकथित) सर्वप्रकार से निर्दोष लक्षणवाला अनादिनिधन द्रव्य सत्स्वभाव में उत्पाद को प्राप्त होता है। द्रव्य का यह उत्पाद द्रव्यार्थिक नय की अपेक्षा सद्भावसंबद्ध ही है और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा असद्भावसम्बद्ध ही है। इसे स्पष्ट समझाते हैं—

जब द्रव्य ही कहा जाता है, पर्यायें नहीं, तब उत्पत्ति-विनाश से रहित, युगपत् प्रवर्तमान द्रव्य को उत्पन्न करने वाली अन्वय शक्तियों के (गुणों के) द्वारा, उत्पत्ति विनाश लक्षण वाली, क्रमशः प्रवर्तमान, पर्यायों की उत्पादक उन-उन व्यतिरेक व्यक्तियों को प्राप्त होने वाले द्रव्य के सद्भावसबद्ध ही उत्पाद है, सुवर्ण की भांति। जैसे—जब सुवर्ण ही कहा जाता है, बाजूबन्ध आदि पर्यायें नहीं, तब सुवर्ण जितनी स्थायी, युगपत् प्रवर्तमान, स्वर्ण की उत्पादक अन्वयशक्तियो के द्वारा, बाजूबन्ध इत्यादि पर्याय जितनी स्थायी, क्रमश प्रवर्तमान, बाजूबन्ध इत्यादि पर्यायो की उत्पादक उन उन व्यतिरेक व्यक्तियों को प्राप्त होने वाले सुवर्ण के सद्भावसम्बद्ध ही उत्पाद है। (जो द्रव्य पूर्व पर्याय मे था, वह ही अगली पर्याय को प्राप्त हुआ है, इस अपेक्षा से सत् का उत्पाद है)। और जब पर्यायें ही कही जाती है, द्रव्य नहीं, तब उत्पत्ति-विनाश जिनका लक्षण है ऐसी, क्रमशः प्रवर्तमान, पर्यायो को उत्पन्न करने वाली उन उन व्यतिरेक व्यक्तियों के द्वारा उत्पत्ति-विनाश रहित, युगपत् प्रवर्तमान द्रव्य की उत्पादक अन्वयशक्तियों को प्राप्त होने वाले द्रव्य के असद्भावसम्बद्ध ही उत्पाद है, सुवर्ण की ही भांति। यथा—जब बाजूबंधादि पर्यायें ही कही जाती है, स्वर्ण नहीं, तब बाजूबध इत्यादि पर्याय जितनी टिकने वाली, क्रमशः प्रवर्तमान, बाजूबंध इत्यादि पर्यायो की उत्पादक उन उन व्यतिरेक व्यक्तियो के द्वारा, सुवर्ण जितनी टिकने वाली, युगपत् प्रवर्तमान, सुवर्ण की उत्पादक अन्वयशक्तियो को प्राप्त सुवर्ण के असद्भावयुक्त ही उत्पाद है। (जिस पर्याययुक्त अब नही है, इस अपेक्षा से असत् का उत्पाद है।)

अब, पर्यायों की अभिधेयता (अपेक्षा) के समय भी, असत्-उत्पाद में पर्यायों को उत्पन्न करने वाली वे वे व्यतिरेक व्यक्तियां, युगपत् प्रवृत्ति प्राप्त करके अन्वय शक्तित्व को प्राप्त होती हुई, पर्यायों को, द्रव्य करती हैं (पर्यायो की विवक्षा के समय भी व्यतिरेक व्यक्तियां अन्वयशक्तिरूप बनती हुई पर्यायों को, द्रव्यरूप करती हैं), जैसे बाजूबंध आदि पर्यायों को उत्पन्न करने वाली वे-वे व्यतिरेकव्यक्तियां, युगपत् प्रवृत्ति प्राप्त करके अन्वय-शक्तित्व को प्राप्त करती हुई, बाजूबन्ध इत्यादि पर्यायों को, सुवर्ण करती हैं। द्रव्य की अभिधेयता के समय भी, सत् उत्पादक अन्वयशक्तियां, क्रमप्रवृत्तिको प्राप्त करके उस उस व्यतिरेक व्यक्तित्व को होती हुई, द्रव्य को पर्यायरूप करती हैं, जैसे सुवर्ण की उत्पादक अन्वयशक्तियां क्रमप्रवृत्ति प्राप्त करके उस उस व्यतिरेकत्व को प्राप्त होती हुई, सुवर्ण को बाजूबंधादि पर्यायमात्ररूप करती हैं। अतः द्रव्यार्थिक कथन से सत्–उत्पाद है,–यह बात अनवद्य (निर्दोष, अबाध्य) है ॥१११॥

सूचना—इसको स्वयं ग्रन्थकार आगे स्पष्ट करते हैं ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्यस्य द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्या सदुत्पादासदुत्पादौ दर्शयति—

एवंविहसब्भावे एवंविधसद्भावे सत्तालक्षणमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षण गुणपर्यायलक्षण द्रव्य चेत्येवविधपूर्वोक्तसद्भावे स्थित अथवा **एवविह सहावे** इति पाठान्तरम् । तत्रैवविध पूर्वोक्तलक्षण स्वकीयसद्भावेस्थित । किं ? **दव्व** द्रव्य कर्तृ । किं करोति ? **सया लहदि** सदासर्वकाल लभते । क कर्मतापन्न ? **पादुब्भाव** प्रादुर्भावमुत्पाद कथम्भूत ? **सदसब्भावणिबद्धं** सद्भावनिबद्धमसद्भावनिबद्धं च । काभ्या कृत्वा ? **दव्वत्थपज्जयत्थेहिं** द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिकनयाभ्यामिति । तथाहि—यथा यदा काले द्रव्यार्थिकनयेन विवक्षा क्रियते यदेव कटकपर्याये सुवर्ण तदेव कङ्कणपर्याये नान्यदिति, तदा काले सद्भावनिबद्ध एवोत्पाद । कस्मादिति चेत् ? द्रव्यस्य द्रव्यरूपेणाविनष्टत्वात् । यदा पुन पर्यायविवक्षा क्रियते कटकपर्यायात् सकाशादन्यो य कङ्कणपर्याय सुवर्णसम्बन्धी स एव न भवति । तदा पुनरसदुत्पाद कस्मादिति चेत् ? पूर्वपर्यायस्य विनष्टत्वात् । तथा यदा द्रव्यार्थिकनयविवक्षा क्रियते य एव पूर्वं गृहस्थावस्थायामेवमेव गृहव्यापार कृतवान् पश्चाज्जिनदीक्षा गृहीत्वा स एवेदानी रामादिकेवलीपुरुषो निश्चयरत्नत्रयात्मकपरमात्मध्यानेनानन्तसुखामृततृप्तो जात , न चान्य इति । तदा सद्भावनिबद्ध एवोत्पाद । कस्मादिति चेत् । पुरुषत्वेनाविनष्टत्वात् । यदा तु पर्यायनयविवक्षा क्रियते । पूर्वं सरागावस्थाया सकाशादन्योऽय भरतसगररामपाण्डवादिकेवलिपुरुषाणा सम्बन्धी निरुपरागपरमात्मपर्याय स एव न भवति । तदा पुनरसद्भावनिबद्ध एवोत्पाद । कस्मादिति चेत् ? पूर्वपर्यायादन्यत्वादिति । यथेद जीवद्रव्ये सदुत्पादासदुत्पादव्याख्यान कृत तथा सर्वद्रव्येषु यथासम्भव ज्ञातव्यमिति ।।१११।।

उत्थानिका—आगे द्रव्य का द्रव्यार्थिकनय से सत् उत्पाद और पर्यायार्थिकनय से असत् उत्पाद दिखलाते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(एवंविहं) इस तरह के (सब्भावे) स्वभाव रखते हुए (द.व) द्रव्य (दव्वत्थ पज्जयत्थेहिं) द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा से (सदसब्भावणिबद्ध) सद्भाव रूप और असद्भाव रूप (पादुब्भाव) उत्पाद को (सया लहदि) सदा ही प्राप्त होता रहता है ।**

जैसे सुवर्ण द्रव्य मे जिस समय द्रव्यार्थिकनय की विवक्षा की जाती है अर्थात् द्रव्य की अपेक्षा से विचार किया जाता है, उस समय ही कटक रूप पर्याय मे जो सुवर्ण है वही सुवर्ण उसकी कंकण पर्याय में है—दूसरा नहीं है । इस अवसर पर सद्भाव उत्पाद ही है क्योंकि द्रव्य अपने द्रव्य रूप से नष्ट नहीं हुआ किन्तु बराबर बना रहा और जब पर्याय मात्र की अपेक्षा से विचार किया जाता है तब सुवर्ण की जो पहले कटकरूप पर्याय थी उससे अब वर्तमान की कंकण रूप पर्याय भिन्न ही है । इस अवसर पर असत्

उत्पाद है क्योंकि पूर्व पर्याय नष्ट हो गई और नई पर्याय पैदा हुई। तैसे ही यदि द्रव्यार्थिकनय के द्वारा विचार किया जावे तो जो आत्मा पहले गृहस्थ अवस्था में जो-जो गृह का व्यापार करता था वही पीछे जिनदीक्षा लेकर निश्चयरत्नत्रयमयी परमात्मा के ध्यान से अनन्त सुखामृत मे तृप्त रामचंद्र आदि केवली पुरुष हुआ अन्य कोई नहीं—यह सत् उत्पाद है। क्योंकि पुरुष की अपेक्षा नष्ट नहीं हुआ। और जब पर्यायार्थिकनय की अपेक्षा की जाती है तब पहली जो सराग-अवस्था थी उससे यह भरत, सगर, रामचंद्र, पाडव आदि केवली पुरुषो को जो वीतरागपरमात्म-पर्याय है सो अन्य है, वही नहीं है—यह असत् उत्पाद है। क्योंकि पूर्व पर्याय से यह अन्य पर्याय है। जैसे यहां जीव द्रव्य मे सत् उत्पाद और असत् उत्पाद का व्याख्यान किया गया तैसा सर्व द्रव्यों में यथासंभव जान लेना चाहिये ॥१११॥

अथ सदुत्पादमनन्यत्वेन निश्चिनोति—

जीवो भवं भविस्सदि णरोऽमरो वा परो भवीय पुणो।
किं दव्वत्तं [1]पजहदि ण [2]जहं अण्णो कहं होदि [3] ॥११२॥

जीवो भवन् भविष्यति नरोऽमरो वा परो भूत्वा पुन।
किं द्रव्यत्व प्रजहाति न जहदन्य कथ भवति ॥११२॥

द्रव्यं हि तावद्द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्तिं नित्यमप्यपरित्यजद्भवति सदेव। यस्तु द्रव्यस्य पर्यायभूताया व्यतिरेकव्यक्तेः प्रादुर्भावः, तस्मिन्नपि द्रव्यत्वभूताया अन्वयशक्तेरप्रच्यवनात् द्रव्यमनन्यदेव। ततोऽनन्यत्वेन निश्चीयते द्रव्यस्य सदुत्पादः। तथाहि—जीवो द्रव्यं भवन्नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वानामन्यतमेन पर्यायेण द्रव्यस्य पर्यायदुर्ललितवृत्तित्वादवश्यमेव भविष्यति। स हि भूत्वा च तेन किं द्रव्यत्वभूतामन्वयशक्तिमुज्झति, नोज्झति। यदि नोज्झति कथमन्यो नाम स्यात्, येन प्रकटितत्रिकोटिसत्ताकः स एव न स्यात् ॥११२॥

भूमिका—अब, (सर्व पर्यायों में द्रव्य अनन्य है अर्थात् द्रव्य वह ही रहता है—इसलिये उसके सत् उत्पाद है,—इस प्रकार) सत्-उत्पाद को अनन्यत्व के द्वारा निश्चित करते हैं—

अन्वयार्थ—[जीव] जीव [भवन्] परिणमित होता हुआ [नर.] मनुष्य, [अमर.] देव [वा] अथवा [पर.] अन्य (तिर्यंच, नारकी या सिद्ध) [भविष्यति] होगा, [पुन.] परन्तु [भूत्वा] मनुष्य देवादि होकर [किं] क्या वह [द्रव्यत्व प्रजहाति] द्रव्यत्व

---

१ पजयदि इति पाठान्तरम्। २ जहदि (ज० वृ०) चयदि। ३ हवदि (ज० वृ०)।

को छोड देता है ? [न जहत्] नही छोडता हुआ वह [अन्यः कथ भवति] अन्य कैसे हो सकता है ? (अर्थात् वह अन्य नही, वह का वही है)।

टीका—**प्रथम तो द्रव्य, द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति को कभी भी न छोड़ता हुआ, सत् ही है। द्रव्य के जो पर्यायभूत व्यतिरेकव्यक्ति का उत्पाद होता है, उसमे भी द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति का अच्युतपना होने से, द्रव्य अनन्य ही है, (अर्थात् उस उत्पाद में भी अन्वयशक्ति अचलित अविनष्ट-निश्चल होने से द्रव्य वह ही है, अन्य नहीं।) इसलिये अनन्यत्व के द्वारा द्रव्य के सत्-उत्पाद निश्चित होता है, (अर्थात् उपरोक्त कथनानुसार द्रव्य का द्रव्यापेक्षा से, अनन्यत्व होने से, उसके सत्-उत्पाद है,—ऐसा अनन्यत्व के द्वारा सिद्ध होता है। जैसे—द्रव्य का विचित्र पर्यायों मे व्यापार होने के कारण से, जीव, द्रव्य होता हुआ, नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व में से किसी एक पर्यायरूप अवश्य ही (परिणत) होगा। (परन्तु) वह जीव उस पर्यायरूप होकर क्या द्रव्यत्वभूत अन्वयशक्ति को छोड़ देता है ? नहीं छोड़ता यदि नहीं छोडता है तो अन्य कैसे हो सकता है, कि जिससे त्रिकोटि सत्ता (तीन प्रकार की सत्ता, त्रैकालिक अस्तित्व) जिसके प्रगट है ऐसा वह (जीव) वह ही न हो ? (अर्थात् तीनों काल मे विद्यमान वह जीव अन्य नहीं, वह ही है।)** ॥११२॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वोक्तमेव सदुत्पाद द्रव्यादभिन्नत्वेन विवृणोति,—

जीवो जीव कर्ता **भव** भवन् परिणमन् सन् **भविस्सदि** भविष्यति तावत्। कि कि भविष्यति ? निर्विकारशुद्धोपयोगविलक्षणाभ्या शुभाशुभोपयोगाभ्या परिणम्य **णरोऽमरो वा परो** नरो देवो परस्तिर्यड्नारकरूपो वा निर्विकारशुद्धोपयोगेन सिद्धो वा भविष्यति **भवीय पुणो** एव पूर्वोक्तप्रकारेण पुनर्भवीय भूत्वापि। अथवा द्वितीयव्याख्यान। भवन् वर्तमानकालापेक्षया भविष्यति भाविकालापेक्षया भूत्वा चेति भूतकालापेक्षया कालत्रये चैव भूत्वापि **कि दव्वत्त पजहदि** कि द्रव्यत्व परित्यजति ? **ण जहदि** द्रव्यार्थिकनयेन द्रव्यत्व न त्यजति द्रव्याद्भिन्नो न भवति। **अण्णो कह हवदि** अन्यो भिन्न कथ भवति ? किन्तु द्रव्यान्वयशक्तिरूपेण सद्भावनिबद्धोत्पाद स एवेति द्रव्यादभिन्न इति भावार्थ ॥११२॥

उत्थानिका—आगे पहले कहा हुआ सत् उत्पाद द्रव्य से अभिन्न है ऐसा खुलासा करते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जीवो) यह आत्मा (भवं) परिणमन करता हुआ (णरोऽमरो वा परो) मनुष्य, देव या अन्य कोई (भविस्सदि) होवेगा (पुणो भवीय) तथा इस तरह होकर (किं दव्वत्तं पजहदि) क्या वह अपने द्रव्यपने को छोड़ बैठेगा ? (ण जहदि अण्णो कहं हवदि) नहीं छोड़ता हुआ वह भिन्न कैसे होवेगा ? अर्थात् द्रव्यपने से अन्य नहीं**

होगा। यह परिणमन स्वभाव जीव विकार रहित शुद्धोपयोग से विलक्षण शुभ या अशुभ उपयोग से परिणमन करके मनुष्य, देव, पशु या नारकी अथवा निर्विकार शुद्धोपयोग में परिणमन करके सिद्ध हो जावेगा। इस प्रकार होकर के भी अथवा वर्तमान काल में होता हुआ भाविकाल में होगा व भूतकाल मे हुआ था इस तरह तीनों कालों में पर्यायों को बदलता हुआ भी क्या अपने द्रव्यपने को छोड़ देता है ? द्रव्यार्थिकनय से द्रव्यपने को कभी नहीं छोड़ता है तब अपनी अनेक भिन्न-भिन्न पर्यायों मे दूसरा कैसे हो सकता है ? अर्थात् दूसरा नहीं होता किन्तु द्रव्य को अन्वयरूपशक्ति से सद्भाव उत्पाद रूप वही अपने द्रव्य से अभिन्न है, यह भावार्थ है ॥११२॥

अथासदुत्पादमन्यत्वेन निश्चिनोति—

मणुवो ण होदि[1] देवो देवो वा माणुसो व सिद्धो वा।
एवं अहोज्जमाणो अणण्णभावं कधं[2] लहदि ॥११३॥

मनुजो न भवति देवो देवो वा मानुषो वा सिद्धो वा।
एवमभवन्ननन्यभाव कथ लभते ॥११३॥

पर्याया हि पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्तेः काल एव सत्त्वात्ततोऽन्यकालेषु भवन्त्यसन्त एव। यश्च पर्यायाणां द्रव्यत्वभूतयान्वयशक्त्यानुस्यूतः क्रमानुपाती स्वकाले प्रादुर्भावः तस्मिन्पर्यायभूताया आत्मव्यतिरेकव्यक्ते पूर्वमसत्त्वात्पर्याया अन्य एव। ततः पर्यायाणामन्यत्वेन निश्चीयते पर्यायस्वरूपकर्तृकरणाधिकरणभूतत्वेन पर्यायेभ्योऽपृथग्भूतस्य द्रव्यस्यासदुत्पाद। तथाहि—न हि मनुजस्त्रिदशो वा सिद्धो वा स्यात् न हि त्रिदशो मनुजो वा सिद्धो वा स्यात्। एवमसन् कथमनन्यो नाम स्यात् येनान्य एव न स्यात्। येन च निष्पद्यमानमनुजादिपर्यायं जायमानवलयादिविकारं काञ्चनमिव जीवद्रव्यमपि प्रतिपदमन्यन्न स्यात् ॥११३॥

भूमिका—अब, असत्-उत्पाद को अन्यत्व के द्वारा निश्चित करते हैं—

अन्वयार्थ—[मनुज] मनुष्य [देव. न भवति] देव नही है, [वा] अथवा [देवः] देव [मानुष वा सिद्ध वा] मनुष्य या सिद्ध नहीं है, [एव अभवन्] इस प्रकार (मनुष्य, देवादिक या देव, मनुष्यादिक) न होता हुआ [अनन्यभाव कथ लभते] अनन्यभाव को कैसे प्राप्त हो सकता है ?

१ मणुओ ण हवदि (ज० वृ०)। २ कह (ज० वृ०)।

टीका—पर्यायें, पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्ति के काल में ही सत् (विद्यमान) होने से, उससे अन्य कालों में असत् (अविद्यमान) ही हैं। पर्यायों का द्रव्यत्वभूत अन्वय-शक्ति के साथ गुंथा हुआ (एकरूपता से युक्त) जो क्रमानुपाती (क्रमानुसार) स्वकाल में उत्पाद होता है, उसमें, पर्यायभूत स्वव्यतिरेकव्यक्ति का पहले असत्त्व होने से, पर्यायें अन्य हैं। इसलिये पर्यायों की अन्यता के द्वारा, पर्यायों के स्वरूप का कर्ता, करण और अधि-करण होने से पर्यायों से अपृथक्भूत द्रव्य का असत्-उत्पाद निश्चित होता है। जैसे—मनुष्य, देव या सिद्ध नहीं है, और देव, मनुष्य या सिद्ध नहीं है, ऐसा न होता हुआ अनन्य (वह का वही) कैसे हो सकता है, कि जिससे अन्य हो न हो और जिससे जिसके मनुष्यादि पर्यायें उत्पन्न होती हैं ऐसा जीव द्रव्य भी, जिसको कंकणादिक पर्यायें उत्पन्न होती हैं ऐसे सुवर्ण की भांतिपद-पद पर (प्रति पर्याय पर) अन्य न हो ? (अर्थात् अन्य ही होगा) ॥११३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्यस्यासदुत्पाद पूर्वपर्यायादन्यत्वेन निश्चिनोति,—

मणुओ ण हवदि देवो आकुलत्वोत्पादकमनुज देवादिविभावपर्यायविलक्षणमनाकुलत्वरूपस्व-भावपरिणतिलक्षण परमात्मद्रव्य यद्यपि निश्चयेन मनुष्यपर्याये देवपर्याये च समान तथापि मनुजो देवो न भवति। कस्मात् ? देवपर्यायकाले मनुष्यपर्यायस्यानुपलम्भात्। **देवो वा माणुसो व सिद्धो वा** देवो वा मनुष्यो न भवति स्वात्मोपलब्धिरूपसिद्धपर्यायो वा न भवति। कस्मात् ? पर्यायाणा परस्पर भिन्नकाल-त्वात्, सुवर्णद्रव्ये कुण्डलादिपर्यायाणामिव। एव **अहोज्जमाणो** एवमभवन्सन् **अणण्णभाव कहं लहदि** अनन्यभावमेकत्व कथ लभते ? न कथमपि। तत एतावदायाति असद्भावनिबद्धोत्पाद पूर्वपर्यायाद-भिन्नो भवतीति ॥११३॥

उत्थानिका—आगे द्रव्य के असत् उत्पाद को पूर्व पर्याय से भिन्न निश्चय करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(मणुओ) मनुष्य (देवो ण होदि) देव नहीं होता है। (वा देवो) अथवा देव (माणुसो व सिद्धो वा) मनुष्य या सिद्ध नहीं होता है। (एवं अहोज्ज माणो) ऐसा नहीं होने पर भी (अणण्णभाव कहं लहदि) एकपने को कैसे प्राप्त हो सकता है ? आकुलता-जनक देव मनुष्यादि पर्यायों से विलक्षण तथा निराकुल-स्वरूप अपने स्वभाव में परिणमन रूप लक्षण को धरने वाला परमात्मा द्रव्य यद्यपि निश्चय से मनुष्य पर्याय में तथा देव पर्याय में समान है तथापि मनुष्य देव नहीं होता है क्योंकि देव पर्याय के काल में मनुष्य पर्याय की प्राप्ति नहीं है, मनुष्य पर्याय के काल में देव पर्याय की तथा निज-आत्म-उपलब्धिरूप सिद्ध पर्याय की प्राप्ति नहीं है, क्योंकि पर्यायों का परस्पर भिन्न भिन्न काल है। जैसे सुवर्ण द्रव्य में कुण्डल कंकण आदि पर्यायों का भिन्न-भिन्न

काल है। इस तरह एक पर्याय रूप द्रव्य दूसरे-रूप न होता हुआ एकपने को कैसे प्राप्त हो सकता है? किसी भी तरह प्राप्त नहीं हो सकता। इससे यह सिद्ध हुआ कि असद्भाव उत्पाद या सत् रूप उत्पाद पूर्व पूर्व पर्याय से भिन्न होता है ॥११३॥

अथैकद्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वविप्रतिषेधमुद्धुनोति—

दव्वट्ठिएण[1] सव्वं दव्वं तं [2]पज्जयट्ठिएण पुणो।
हवदि य अण्णमणण्णं तक्काले तम्मयत्तादो ॥११४॥

द्रव्यार्थिकेन सर्वं द्रव्य तत्पर्यायार्थिकेन पुन।
भवति चान्यदनन्यत्तत्काले तन्मयत्वात् ॥११४॥

सर्वस्य हि वस्तुनः सामान्यविशेषात्मकत्वात्तत्स्वरूपमुत्पश्यतां यथाक्रमं सामान्यविशेषौ परिच्छिन्दती द्वे किल चक्षुषी, द्रव्यार्थिकं पर्यायार्थिकं चेति। तत्र पर्यायार्थिकमेकान्तनिमीलितं विधाय केवलोन्मीलितेन द्रव्यार्थिकेन यदावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकेषु विशेषेषु व्यवस्थितं जीव सामान्यमेकमलोकयतामनवलोकितविशेषाणां तत्सर्वं जीवद्रव्यमिति प्रतिभाति। यदा तु द्रव्यार्थिकमेकान्तनिमीलितं केवलोन्मीलितेन पर्यायार्थिकेनावलोक्यते तदा जीवद्रव्ये व्यवस्थितान्नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मकान् विशेषाननेकानवलोकयतामनवलोकितसामान्यानामन्यदन्यत्प्रतिभाति, द्रव्यस्य तत्तद्विशेषकाले तत्तद्विशेषेभ्यस्तन्मयत्वेनानन्यत्वात् गणतृणपर्णदारुमयहव्यवाहवत्। यदा तु ते उभे अपि द्रव्यार्थिकपर्यायार्थिके तुल्यकालोन्मीलिते विधाय तत् इतश्चावलोक्यते तदा नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायेषु व्यवस्थितं जीवसामान्यं जीवसामान्ये च व्यवस्थिता नारकतिर्यग्मनुष्यदेवसिद्धत्वपर्यायात्मका विशेषाश्च तुल्यकालमेवावलोक्यन्ते। तत्रैकचक्षुरवलोकनमेकदेशावलोकनं, द्विचक्षुरवलोकनं सर्वावलोकनं। ततः सर्वावलोकने द्रव्यस्यान्यत्वानन्यत्वं च न विप्रतिषिध्यते ॥११४॥

भूमिका—अब एक ही द्रव्य के अन्यत्व और अनन्यत्व होने में जो विरोध है, उसे दूर करते हैं। (अर्थात् उसमे विरोध नहीं आता, यह बतलाते हैं)—

अन्वयार्थ—[द्रव्यार्थिकेन] द्रव्यार्थिकनय से [तत् सर्वं] वह सब [द्रव्य] द्रव्य है, [पुन च] और फिर [पर्यायार्थिकेन] पर्यायार्थिक नय से (वह सब) [अन्यत्] अन्य-अन्य है, क्योकि [तत्काले तन्मयत्वात्] उस समय (द्रव्य, पर्यायो से) तन्मय होने के कारण से [अनन्यत्] (द्रव्य, पर्यायो से) अनन्य है।

---

१. दव्वट्ठियेण (ज० वृ०)। २ पज्जयट्ठियेण (ज० वृ०)।

टीका—वास्तव में सभी वस्तु के सामान्यविशेषात्मकपना होने से, वस्तु के स्वरूप को देखने वालों के क्रमशः (१) सामान्य और (२) विशेष को जानने वाली दो आंखें हैं—(१) द्रव्यार्थिक और (२) पर्यायार्थिक।

इनमे से पर्यायार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके, जब मात्र खुली हुई द्रव्यार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है, तब नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व-पर्याय-स्वरूप विशेषों मे रहने वाले एक जीवसामान्य को देखने वाले जीवों के वह सब 'जीव द्रव्य है' ऐसा भासित होता है। जब, द्रव्यार्थिक चक्षु को सर्वथा बन्द करके, मात्र खुली हुई पर्यायार्थिक चक्षु के द्वारा देखा जाता है, उस समय जीव द्रव्य मे रहने वाले नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व पर्याय स्वरूप अनेक विशेषों को देखने वाले और सामान्य को न देखने वाले जीवों के (वह जीव द्रव्य) अन्य-अन्य भासित होता है, क्योंकि द्रव्य का उन-उन विशेषों के समय में उन-उन विशेषों से तन्मयपने से अनन्यपना है; उपले, घास, पत्ते और काष्ठमय अग्नि की भांति। (जैसे घास, लकडी इत्यादि की अग्नि उस-उस समय घासमय, लकड़ीमय इत्यादि होने से घास लकडी इत्यादि से अनन्य है, उसी प्रकार द्रव्य उन-उन पर्याय रूप विशेषों के समय तन्मय होने से उनसे अनन्य है, पृथक् नहीं है।) जब, उन द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक दोनों आंखो को एक ही काल मे खोलकर, उसके और इसके (अर्थात् द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक चक्षु के) द्वारा देखा जाता है तब नारकत्व, तिर्यंचत्व, मनुष्यत्व, देवत्व और सिद्धत्व पर्यायो मे रहने वाला जीव सामान्य तथा जीव सामान्य में रहने वाले नारकत्व, तिर्यंचत्व, देवत्व और सिद्धत्व पर्याय स्वरूप विशेष एक काल मे ही (एक ही साथ) दिखाई देते हैं।

वहां एक आंख से देखना एक देश अवलोकन है और दोनों आंखों से देखना सर्वावलोकन (सम्पूर्ण अवलोकन) है। इसलिये सर्वावलोकन में द्रव्य के अन्यत्व और अनन्यत्व विरोध को प्राप्त नहीं होते ॥११४॥

तात्पर्यवृत्ति

अथैकद्रव्यस्य पर्यायैस्सहानन्यत्वाभिधानमेकत्वमन्यत्वाभिधानमनेकत्व च नयविभागेन दर्शयति, अथवा पूर्वोक्तसद्भावनिबद्धासद्भावमुत्पादद्वय प्रकारान्तरेण समर्थयति—

हवदि भवति। किं कर्तृ? **सव्वं दव्वं** सर्वं विवक्षिताविवक्षितजीवद्रव्य। किविशिष्ट भवति? **अणण्णं** अनन्यमभिन्नमेक तन्मयमिति। केन सह? तेन नारकतिर्यङ्मनुष्यदेवरूपविभावपर्यायसमूहेन केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयशक्तिरूपसिद्धपर्यायेण च। केन कृत्वा? **दव्वट्ठियेण** शुद्धान्वयद्रव्यार्थिकनयेन। कस्मात्? कुण्डलादिपर्यायेषु सुवर्णस्येव भेदाभावात् **तं पज्जयट्ठियेण पुणो** तद्द्रव्यं पर्यायार्थिकनयेन पुन

अण्णं अन्यद्भिन्नमनेक पर्यायै सह पृथग्भवति। कस्मादिति चेत्? **तक्काले तम्मयत्तादो** तृणाग्नि-काष्ठाग्निपत्राग्निवत् स्वकीयपर्यायै सह तत्काले तन्मयत्वादिति। एतावता किमुक्त भवति? द्रव्यार्थिकनयेन यदा वस्तुपरीक्षा क्रियते तदा पर्यायसन्तानरूपेण सर्वपर्यायकदम्बक द्रव्यमेव प्रतिभाति। यदा तु पर्यायनयविवक्षा क्रियते तदा द्रव्यमपि पर्यायरूपेण भिन्नं भिन्न प्रतिभाति। यदा च परस्पर सापेक्षया नयद्वयेन युगपत्समीक्ष्यते, तदैकत्वमनेकत्व च युगपत्प्रतिभातीति। यथेद जीवद्रव्ये व्याख्यान कृत तथा सर्वद्रव्येषु यथासम्भव ज्ञातव्यमित्यर्थ ॥११४॥

एव सदुत्पादकथनेन प्रथमा सदुत्पादविशेषविवरणरूपेण द्वितीया तथैवासदुत्पादविशेषविवरण-रूपेण तृतीया द्रव्यपर्याययोरेकत्वानेकत्वप्रतिपादनेन चतुर्थीति सदुत्पादासदुत्पादव्याख्यानमुख्यतया गाथाचतुष्टयेन सप्तमस्थल गतम्।

उत्थानिका—आगे एक द्रव्य का अपनी पर्यायो के साथ अनन्यत्व नाम का एकत्व है तथा अन्यत्व नाम का अनेकत्व है ऐसा नयो को अपेक्षा दिखलाते है। अथवा पूर्व मे कहे गए सद्भावउत्पाद और असद्भाव-उत्पाद को एक साथ अन्य प्रकार से दिखाते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(दव्वट्ठियेण) द्रव्यार्थिकनय से (तं सव्वं) वह सब (दव्वं) द्रव्य (अणण्णं) अन्य नहीं है, वही है (पुणो) परन्तु (पज्जयट्ठियेण) पर्यायार्थिक नय से (अण्णं य) अन्य भी (हवदि) है क्योंकि (तक्काले तम्मयत्तादो) उस काल में द्रव्य अपनी पर्याय से तन्मय हो रहा है। शुद्ध अन्वयरूप द्रव्यार्थिकनय से यदि विचार किया जाय तो विवक्षित अविवक्षित सर्व ही जीव नामा द्रव्य अपनी नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव रूप विभाव पर्यायों के साथ तथा केवलज्ञान दर्शन सुख वीर्य रूप अनन्त चतुष्टयशक्ति रूप सिद्ध पर्याय के साथ अन्य-अन्य नहीं है किन्तु तन्मय है एक है। जैसे कुण्डल कंकण आदि पर्यायों मे सुवर्ण का भेद नहीं है। वही सुवर्ण है। परन्तु यदि पर्याय की अपेक्षा से विचार किया जावे तो अपनी अनेक पर्यायों के साथ वह द्रव्य भिन्न-भिन्न ही है, क्योंकि जैसे अग्नि तृण की अग्नि, काष्ठ की अग्नि, पत्र की अग्नि रूप से भिन्न-भिन्न है, अपनी पर्यायों के साथ उस समय तन्मय है। इससे यह बात कही गई कि जब द्रव्यार्थिकनय से वस्तु की परीक्षा की जाती है तब पर्यायों मे सन्तान रूप से सब पर्यायों का समूह द्रव्य ही प्रगट होता है। परन्तु जब पर्यायार्थिकनय की विवक्षा की जाती है तब पर्याय रूप से वही द्रव्य भिन्न-भिन्न झलकता है। और जब परस्पर अपेक्षा से दोनों नयों के द्वारा एक ही काल मेविचार किया जाता है तब वह द्रव्य एक ही साथ एक रूप और अनेक रूप मालूम होता है। जैसे यहां जीव द्रव्य के सम्बन्ध मे व्याख्यान किया गया है तैसे सब द्रव्यों के यथासम्भव जान लेना चाहिये, यह अर्थ है ॥११४॥**

अथ सर्वविप्रतिषेधनिषेधिकां सप्तभंगीमवतारयति—

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं ।
[1]पज्जाएण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा ॥११५॥

अस्तीति च नास्तीति च भवत्यवक्तव्यमिति पुनर्द्रव्यम् ।
पर्यायेण तु केनचित् तदुभयमादिष्टमन्यद्वा ॥११५॥

स्यादस्त्येव १, स्यान्नास्त्येव २, स्यादवक्तव्यमेव ३, स्यादस्तिनास्त्येव ४, स्यादस्त्यवक्तव्यमेव ५, स्यान्नास्त्यवक्तव्यमेव ६, स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यमेव ७, स्वरूपेण १, पररूपेण २, स्वपररूपयौगपद्येन ३, स्वपररूपक्रमेण ४, स्वरूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां ५, पररूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां ६, स्वरूपपररूपस्वपररूपयौगपद्यैराविश्यमानस्य स्वरूपेण सतः, पररूपेणासतः, स्वपररूपाभ्यां युगपद्वक्तुमशक्यस्य, स्वपररूपाभ्यां क्रमेण सतोऽसतश्च, स्वरूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यां सतो वक्तुमशक्यस्य च, पररूपस्वपररूपयौगपद्याभ्यामसतो वक्तुमशक्यस्य च, स्वरूपपररूपस्वपररूपयौगपद्यैः सतोऽसतो वक्तुमशक्यस्य चानन्तधर्मणो द्रव्यस्यैकैकं धर्ममाश्रित्य विवक्षिताविवक्षितविधिप्रतिषेधाभ्यामवतरन्ती सप्तभंगिकैवकारविश्रान्तमश्रान्तसमुच्चार्यमाणस्यात्कारामोघमन्त्रपदेन समस्तमपि विप्रतिषेधविषमोहमुदस्यति ॥११५॥

भूमिका—**अब, समस्त विरोधों को दूर करने वाली सप्तभंगी प्रगट करते हैं—**

अन्वयार्थ—[द्रव्य] द्रव्य [केनचित् पर्यायेण तु] किसी पर्याय से तो [अस्ति इति च] 'अस्ति' [नास्ति इति च] (किसी पर्याय से) 'नास्ति' [पुन] और [अवक्तव्यम् इति भवति] (किसी पर्याय से) 'अवक्तव्य' है, [तदुभय] (और किसी पर्याय से) अस्ति नास्ति (दोनो रूप) [वा] अथवा [अन्यत् आदिष्टम्] (किसी पर्याय से) अन्य (तीन भगरूप) कहा गया है ।

टीका—**द्रव्य (१) स्वरूपापेक्षा से 'स्यात् अस्ति ही' (२) पररूप की अपेक्षा से 'स्यात् नास्ति ही', (३) स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से 'स्यात् अवक्तव्य ही' (एक ही साथ द्रव्य स्वरूप-पररूप से नहीं कहा जा सकता, अतः अवक्तव्य है), (४) स्वरूप-पररूप के क्रम की अपेक्षा से 'स्यात् अस्ति-नास्ति ही', (५) स्वरूप की और स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से 'स्यात् अस्ति-अवक्तव्य ही', (६) पररूप की और स्वरूपपररूप की युगपत् अपेक्षा से 'स्यात नास्ति अवक्तव्य ही' और (७) स्वरूप की, पररूप की तथा स्वरूप-पररूप की युगपत् अपेक्षा से 'स्यात् अस्ति-नास्ति-अवक्तव्य ही' है ।**

(१) जो स्वरूप से 'सत्' है, (२) जो पररूप से 'असत्' है, (३) जिसका स्वरूप

---

१ पज्जायेण (ज० वृ०)

और पररूप से युगपत् कथन अशक्य है, (४) जो स्वरूप से और पररूप से क्रमशः 'सत् और असत्' है, (५) जो स्वरूप से और स्वरूप-पररूप से युगपत् 'सत् और अवक्तव्य' है; (६) जो पररूप से और स्वरूप-पररूप से युगपत् 'असत् और अवक्तव्य' है; तथा (७) जो स्वरूप से-पर-रूप से और स्वरूपपररूप से युगपत् 'सत्, असत् और अवक्तव्य' है,—ऐसे अनन्त धर्मों वाले कथनीय द्रव्य के एक-एक धर्म का आश्रय लेकर विवक्षित रूप विधि-निषेध के द्वारा प्रगट होने वाली सप्तभंगी सतत सम्यक्तया उच्चारित स्यात्कार रूपी अमोघ मंत्र पद के द्वारा 'एव' कार (एकान्त) रहने वाले समस्त विरोध-विष के मोह को दूर करती है ॥११५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ समस्तदुर्नयैकान्तरूपविवादनिषेधिका नयसप्तभङ्गी विस्तारयति—

अत्थित्ति य स्यादस्त्येव । स्यादिति कोऽर्थ ? कथञ्चित् कथचित्कोऽर्थ ? विवक्षितप्रकारेण स्वद्रव्यादिचतुष्टयेन । तच्चतुष्टय, शुद्धजीवविषये कथ्यते । शुद्धगुणपर्यायाधारभूत शुद्धात्मद्रव्य भण्यते, लोकाकाशप्रमिता शुद्धासख्येयप्रदेशा क्षेत्र भण्यते, वर्तमानशुद्धपर्यायरूपपरिणतो वर्तमानसमय कालो भण्यते, शुद्धचैतन्य भावश्चेत्युक्तलक्षणद्रव्यादिचतुष्टयेन इति प्रथमभङ्ग १ । **णत्थित्ति य** स्यान्नास्त्येव स्यादिति कोऽर्थ कथचिद्विवक्षितप्रकारेण परद्रव्यादिचतुष्टयेन **हवदि** भवति २ । कथम्भूत ? **अवत्तव्व-मिदि** स्यादवक्तव्यमेव ३ स्यादिति कोऽर्थ ? कथचिद्विवक्षितप्रकारेण युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन स्यादस्ति स्यान्नास्ति, स्यादवक्तव्य, स्यादस्तिनास्ति, स्यादस्त्येवावक्तव्यम्, स्यान्नास्त्येवावक्तव्य स्यादस्तिनास्त्यवक्तव्यम् । **पुणो** पुन इत्थभूत । कि भवति ? **दव्व** परमात्मद्रव्य कर्तृ ? पुनरपि कथम्भूत भवति ? **तदुभय** स्यादस्तिनास्त्येव । स्यादिति कोऽर्थ ? कथचिद्विवक्षितप्रकारेण क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन ४ । कथम्भूत ? सदित्थमित्थ भवति । **आदिट्ठ** आदिष्ट विवक्षित सत् । केन कृत्वा ? **पज्जायेण दु** पर्यायेण तु प्रश्नोत्तररूपनयविभागेन तु । कथम्भूतेन ? **केणवि** केनापि विवक्षितेन नैगमादिनयरूपेण **अण्ण वा** अन्यथा सयोगभङ्गत्रयरूपेण । तत्कथ्यते—स्यादस्त्येवावक्तव्य स्यादिति कोऽर्थ कथञ्चित् विवक्षित प्रकारेण स्वद्र व्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन च ५ । स्यान्नास्त्ये-वावक्तव्य परद्रव्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन च ६ । स्यादस्तिनास्त्येवावक्तव्य क्रमेण स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन युगपत्स्वपरद्रव्यादिचतुष्टयेन च ७ । पूर्वं पञ्चास्तिकाये स्यादस्तीत्या-दिप्रमाणवाक्येन प्रमाणसप्तभङ्गी व्याख्याता, अत्र तु स्यादस्त्येव यदेवकारग्रहण तन्नयसप्तभङ्गी-ज्ञापनार्थमिति भावार्थ । यथेद सप्तभङ्गीव्याख्यान शुद्धात्मद्रव्ये दर्शित तथा यथासम्भव सर्वपदार्थेषु द्रष्टव्यमिति ॥११५॥

एव नयसप्तभङ्गी व्याख्यानगाथयाष्टमस्थल गतम् ।

एव पूर्वोक्तप्रकारेण प्रथमा नमस्कारगाथा, द्रव्यगुणपर्यायकथनरूपेण द्वितीया, स्वसमयपर-समयप्रतिपादनेन तृतीया, द्रव्यस्य सत्तादिलक्षणत्रयसूचनरूपेण चतुर्थीति, स्वतन्त्रगाथाचतुष्टयेन पीठि-कास्थल तदनन्तरमवान्तरसत्ताकथनरूपेण प्रथमा महासत्तारूपेण द्वितीया, यथा द्रव्य स्वभावसिद्ध तथा

सत्तागुणोऽपीति कथनरूपेण तृतीया, उत्पादव्ययध्रौव्यत्वेपि सत्तैव द्रव्य भवतीति कथनेन चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्तालक्षणविवरणमुख्यता । तदनन्तरमुत्पादव्ययध्रौव्यलक्षणविवरणमुख्यत्वेन गाथात्रय, तदनन्तर द्रव्यपर्यायकथनेन गुणपर्यायकथनेन च गाथाद्वय, ततश्च द्रव्यस्यास्तित्वस्थापनारूपेण प्रथमा, पृथक्त्वलक्षणस्यातद्भावाभिधान्यत्वलक्षणस्य च कथनरूपेण द्वितीया, सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेदरूपस्यातद्भावस्य विवरणरूपेण तृतीया, तस्यैव दृढीकरणार्थं चतुर्थीति गाथाचतुष्टयेन सत्ताद्रव्ययोरभेदविषये युक्तिकथनमुख्यता । तदनन्तर सत्ताद्रव्ययोर्गुणगुणिकथनेन प्रथमा, गुणपर्यायाणा द्रव्येण सहाभेदकथनेन द्वितीया चेति स्वतन्त्रगाथाद्वय । तदनन्तर द्रव्यस्य सदुत्पादासदुत्पादयो सामान्यव्याख्यानेन विशेषव्याख्यानेन च गाथाचतुष्टय, ततश्च सप्तभङ्गीकथनेन गाथैका चेति समुदायेन चतुर्विंशतिगाथाभिरष्टभि स्थलै सामान्यज्ञेयव्याख्यानमध्ये सामान्यद्रव्यप्ररूपण समाप्तम् ।

अत पर तत्रैव सामान्यद्रव्यनिर्णयमध्ये सामान्यभेदभावनामुख्यत्वेनैकादशगाथापर्यन्त व्याख्यान करोति । तत्र क्रमेण पञ्चस्थानानि भवन्ति । प्रथमस्तावद्वार्तिकव्याख्यानाभिप्रायेण साख्यैकान्तनिराकरण, अथवा शुद्धनिश्चयनयेन जैनमतमेवेति व्याख्यानमुख्यतया **एसो त्ति णत्थि कोई** इत्यादि सूत्रगाथैका । तदनन्तर मनुष्यादिपर्याय निश्चयनयेन कर्मफल भवति, न च शुद्धात्मस्वरूपमिति तस्यैवाधिकारसूत्रस्य विवरणार्थं **कम्म णामसमक्ख** इत्यादिपाठक्रमेण गाथा चतुष्टय, तत पर रागादिपरिणाम एव द्रव्यकर्म्मकारणत्वाद्भावकर्म्म भण्यत इति परिणाममुख्यत्वेन **आदा कम्ममलिमसो** इत्यादिसूत्रद्वय, तदनन्तर कर्मफलचेतना कर्मचेतना ज्ञानचेतनेति त्रिविधचेतनाप्रतिपादनरूपेण **परिणमदि चेदणाए** इत्यादिसूत्रद्वय तदनन्तर शुद्धात्मभेदभावनाफल कथयन् सन् **कत्ताकरण** इत्याद्येकसूत्रेणोपसहरति । एव भेदभावनाधिकारे स्थलपञ्चकेन समुदायपातनिका ।

उत्थानिका—आगे सब खोटी नयो के एकान्त रूप विवाद को मेटने वाली सप्तभगी नय का विस्तार करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(दव्वं) द्रव्य (केणवि पज्जायेण) किसी एक पर्याय से (दु) तो (अत्थि त्ति) अस्ति रूप ही है (य) और किसी एक पर्याय से (णत्थि त्ति य) नास्ति रूप ही है तथा किसी एक पर्याय से (अवत्तव्वमिदि) अवक्तव्य रूप ही (हवदि) होता है । (पुणो तदुभयम्) तथा किसी एक पर्याय से अस्ति नास्ति दोनों रूप ही है । (वा अण्ण) अथवा किसी अपेक्षा से अन्य तीन रूप अस्ति एवं अवक्तव्य, नास्ति एवं अवक्तव्य तथा अस्ति नास्ति एवं अवक्तव्य रूप (आविट्ठम्) कहा गया है । यहां स्याद्वाद का कथन है, स्यात् का अर्थ कथंचित् है, अर्थात् किसी एक अपेक्षा से, वाद का अर्थ—कथन करना है । वृत्तिकार यहां शुद्ध जीव के सम्बन्ध में स्याद्वाद का या सप्तभंग का प्रयोग करके बताते हैं । शुद्ध जीव द्रव्य अपने ही स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव के चतुष्टय की अपेक्षा स्यात् अस्तिरूप ही है अर्थात् जीव में अस्तिपना है । शुद्ध गुण तथा पर्यायों का आधारभूत जो शुद्ध आत्मद्रव्य है वह स्वद्रव्य है, लोकाकाश प्रमाण शुद्ध असंख्यात प्रदेश हैं सो स्वक्षेत्र कहा जाता है । वर्तमान शुद्ध पर्याय में परिणमन करता हुआ वर्तमान समय स्वकाल कहा**

जाता है। शुद्ध चैतन्य यह स्वभाव है। इस तरह स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा शुद्ध जीव है अथवा शुद्ध जीव में अस्तित्व स्वभाव है। यह स्यात् अस्ति एव प्रथम भंग है तथा पर-द्रव्य, पर-क्षेत्र, पर-काल व परभावरूप परद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा नास्तिरूप ही है। अर्थात् शुद्ध जीव मे अपने सिवाय सब द्रव्यों के द्रव्यादि चतुष्टका अभाव है। यह "स्यात् नास्ति एव" दूसरा भंग है एक समय मे ही जीव द्रव्य किसी अपेक्षा से अस्तिरूप ही है व किसी अपेक्षा से नास्ति रूप ही है तथापि वचनों से एक समय मे कहा नहीं जा सकता इससे अवक्तव्य ही है। यह तीसरा स्यात् अवक्तव्य एक भंग है। वह परमात्मद्रव्य स्व-द्रव्यादि चतुष्टयकी अपेक्षा अस्ति रूप है, पर-द्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा नास्ति रूप है, ऐसे क्रम से कहते हुए अस्तिनास्ति स्वरूप ही है यह चौथा "स्यात् अस्तिनास्ति एव" भग है। इस तरह प्रश्नोत्तर रूप नय विभाग से जैसे ये चार भग हुए तैसे तीन भंग और हैं जिनको सयोगी कहते है। स्वद्रव्यादि चतुष्टय की अपेक्षा अस्ति ही है परन्तु एक समय मे स्व-द्रव्यादि की अपेक्षा अस्ति और परद्रव्यादि की अपेक्षा नास्ति होने पर भी अवक्तव्य है यह पाचवा भग है। पर द्रव्यादि की अपेक्षा नास्ति रूप ही है परन्तु एक समय मे स्व-पर-द्रव्यादि की अपेक्षा "अस्तिनास्ति" होने पर भी अवक्तव्य है इससे स्यात् नास्ति एवं अवक्तव्य है यह छठा भंग है। क्रम से कहते हुए स्वद्रव्यादिकी अपेक्षा अस्ति रूप ही है तथा पर-द्रव्यादिकी अपेक्षा नास्ति रूप ही है तथापि एक समय मे अस्तिनास्ति रूप कहा नहीं जा सकता इससे स्यात् अस्तिनास्ति एवं अवक्तव्य रूप है, यह सातवा भंग है। पहले पंचास्ति-काय ग्रन्थ मे स्यात् अस्ति इत्यादि प्रमाण वाक्य से प्रमाण सप्तभगी का व्याख्यान किया गया, यहाँ "स्यात् अस्ति एव" के द्वारा जो "एव" का ग्रहण किया गया है वह नय-सप्तभगी के बताने के लिये किया गया है। जैसे यहाँ शुद्ध आत्मद्रव्य मे सप्तभंगी नयका व्याख्यान किया गया तैसे यथासंभव सब पदार्थों मे जान लेना चाहिये ॥११५॥

नोट—इस तरह सप्तभंगी के व्याख्यान की गाथा के द्वारा आठवां स्थल पूर्ण हुआ।

इस तरह जैसा पहले कह चुके है पहले एक नमस्कार गाथा कही, फिर द्रव्य गुण पर्याय को कथन करते हुए दूसरी कही, फिर स्वसमय को दिखलाते हुए तीसरी, फिर द्रव्य के सत्ता आदि तीन लक्षण होते है इसकी सूचना करते हुए चौथी, इस तरह स्वतन्त्र गाथा चार से पीठिका कही। इसके पीछे अवान्तर सत्ता को कहते हुए पहली, महासत्ता को कहते दूसरी, जैसा द्रव्य स्वभाव से सिद्ध है वैसे सत्ता गुण भी है ऐसा कहते हुए तीसरी, उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना होते हुए भी सत्ता ही द्रव्य है ऐसा कहते हुए चौथी, इस तरह चार

गाथाओ से सत्ता का लक्षण मुख्यता से कहा गया। फिर उत्पाद व्यय ध्रौव्य लक्षण का कहते हुये गाथा तीन, तथा द्रव्य पर्याय को कहते हुए व गुण पर्याय को कहते हुए गाथा दो, फिर द्रव्य के अस्तित्व को स्थापन करते हुए पहली, पृथक्त्व लक्षणधारी अतद्भाव नाम के लक्षण को कहते हुये दूसरी, सज्ञा लक्षण प्रयोजनादि भेद रूप अतद्भाव को कहते हुए तीसरी, उसको ही दृढ़ करने के लिये चौथी, इस तरह गाथा चार से सत्ता ओर द्रव्य मे अभेद है, इसको युक्तिपूर्वक कहा गया। इसके पीछे सत्ता गुण है, द्रव्य गुणी है ऐसा कहते हुये पहली गुण पर्यायो का द्रव्य के साथ अभेद है ऐसा कहते हुए दूसरी ऐसी स्वतंत्र गाथाये दो हैं। फिर द्रव्य के सत् उत्पाद, असत् उत्पाद का सामान्य तथा विशेष व्याख्यान करते हुए गाथायें चार है। फिर सप्तभगी को कहते हुए गाथा एक है, इस तरह समुदाय से चौबीस गाथाओ के द्वारा आठ स्थलो से सामान्य ज्ञेय के व्याख्यान मे सामान्य द्रव्य का वर्णन पूर्ण हुआ।

इसके आगे इसी ही सामान्य द्रव्य के निर्णय के मध्य मे सामान्य भेद की भावना की मुख्यता करके ग्यारह गाथाओ तक व्याख्यान करते है। इसमे क्रम से पाच स्थान है। पहले वार्तिक के व्याख्यान के अभिप्राय से सांख्य के एकात का खडन है। अथवा शुद्ध निश्चयनय से फल कर्म रूप है, शुद्धात्मा का स्वरूप नहीं है ऐसी गाथा एक है। फिर इसी अधिकार सूत्र के वर्णन के लिये "कम्म णाम समक्ख" इत्यादि पाठ क्रम से चार गाथाए इसके आगे रागादि परिणाम ही द्रव्य कर्मो के कारण है इसलिये भावकर्म कहे जाते है। इस तरह परिणाम की मुख्यता "आदा कम्म मलिमसो" इत्यादि सूत्र दो हैं। फिर कर्मफल चेतना, कर्मचेतना, ज्ञानचेतना इस तरह तीन प्रकार चेतना को कहते हुते "परिणमदि चेदणाए" इत्यादि तीन सूत्र हैं। फिर शुद्धात्मा की भेद भावना का फल कहते हुए "कत्ता-करण" इत्यादि एक सूत्र मे उपसहार है या सकोच है—इस तरह भेद भावना के अधिकार मे पाच स्थल मे समुदायपातनिका है।

अथ निर्धार्यमाणत्वेनोदाहरणीकृतस्य जीवस्य मनुष्यादिपर्यायाणां क्रियाफलत्वेनान्यत्वं द्योतयति—

एसो त्ति णत्थि कोई ण णत्थि किरिया सहावणिव्वत्ता[1] ।
किरिया हि णत्थि अफला धम्मो जदि णिप्फलो परमो ॥११६॥

---

१ सभावणिवत्ता (ज० वृ०)।

एष इति नास्ति कश्चिन्न नास्ति क्रिया स्वभावनिर्वृत्ता ।
क्रिया हि नास्त्यफला धर्मो यदि निष्फल परम ॥११६॥

इह हि संसारिणो जीवस्यानादिकर्मपुद्गलोपाधिसन्निधिप्रत्ययप्रवर्तमानप्रतिक्षणविवर्तनस्य क्रिया किल स्वभावनिर्वृत्तैवास्ति । ततस्तस्य मनुष्यादिपर्यायेषु न कश्चनाप्येष एवेति टङ्कोत्कीर्णोऽस्ति, तेषां पूर्वपूर्वोपमर्दप्रवृत्तक्रियाफलत्वेनोत्तरोत्तरोपमर्द्यमानत्वात् फलमभिलष्येत वा मोहसंवलनाविलयनात् क्रियायाः । क्रिया हि तावच्चेतनस्य पूर्वोत्तरदशाविशिष्टचैतन्यपरिणामात्मिका । सा पुनरणोरण्वन्तरसंगतस्य परिणतिरिवात्मनो मोहसंवलितस्य द्वयणुककार्यस्येव मनुष्यादिकार्यस्य निष्पादकत्वात्सफलैव । सैव मोहसंवलनविलयने पुनरणोरुच्छिन्नाण्वन्तरसंगमस्य परिणतिरिव द्वयणुककार्यस्येव मनुष्यादिकार्यस्यानिष्पादकत्वात् परमद्रव्यस्वभावभूततया परमधर्माख्या भवत्यफलैव ॥११६॥

भूमिका—**अब, जिसका निर्धारण करना है, इसलिये जिसे उदाहरण रूप बनाया गया है ऐसे जीव की मनुष्यादि पर्यायें क्रिया की फल हैं इसलिये उनका अन्यत्व (एक पर्याय का दूसरी पर्याय से भिन्नपना) प्रकाशित करते हैं—**

अन्वयार्थ—[एष इति कश्चित् नास्ति] यह पर्याय टकोत्कीर्ण अविनाशी है, (नर नारकादि पर्यायो मे) ऐसी कोई पर्याय नही है (अर्थात् नर-नारकादि पर्यायो मे टकोत्कीर्ण अविनाशी रहने वाली कोई पर्याय नही है) [स्वभाव-निर्वृत्ता क्रिया नास्ति न] (ससारी जीव के) रागादि अशुद्ध विभाव रूप स्वभाव से उत्पन्न होने वाली क्रिया न हो, ऐसा भी नही है (अर्थात् ससारी जीव के रागादि विभाव रूप स्वभाव से उत्पन्न होने वाली राग-द्वेपमय क्रिया अवश्य होती ही है) [यदि] यदि [परम धर्म निष्फल] (वीतरागभावरूप) उत्कृष्ट धर्म (नर-नारकादि उत्पन्न करने रूप) फल से रहित है (वीतराग रूप धर्म नर नारक आदि पर्याय उत्पन्न नही कर सकता है) तो तो [क्रिया हि अफला नास्ति] (रागादि परिणति रूप) क्रिया अवश्य ही (नर-नारकादि पर्याय उत्पन्न करने रूप) फल से रहित नहा है (अर्थात् रागादिरूप क्रिया अवश्य ही नर-नारक आदि पर्याय उत्पन्न करती है) ।

टीका—**यहा (इस विश्व मे), अनादि कर्म पुद्गल की उपाधि के सन्निधि प्रत्यय (निमित्तकारण) से होने वाला प्रतिक्षण विपरिणमन जिसके होता रहता है, ऐसे ससारी जीव की क्रिया वास्तव मे स्वभाव-निष्पन्न ही है, इसलिये उसके मनुष्यादि पर्यायो मे से कोई भी पर्याय 'यह ही' है ऐसी टकोत्कीर्ण नहीं है, क्योंकि वे पर्यायें, पूर्व-पूर्व पर्यायों के नाश मे प्रवर्तमान क्रिया की फलरूप होने से, उत्तर-उत्तर (अगली-अगली) पर्यायो के द्वारा**

नष्ट होती हैं। मोह के साथ मिलन (मिश्रितता) का नाश न हुआ होने से, क्रिया का फल तो मानना चाहिये। क्रिया चेतन की पूर्वोत्तर दशा से विशिष्ट (विशेषित) चैतन्य परिणाम स्वरूप है। जैसे-दूसरे अणु के साथ युक्त अणु की परिणति द्विअणुक कार्य की निष्पादक है, उसी प्रकार मोह के साथ मिलित आत्मा की परिणति मनुष्यादि कार्य की निष्पादक होने से, वह (क्रिया) फल वाली ही है। जैसे दूसरे अणु के साथ का सम्बन्ध जिसका नष्ट हो गया है ऐसे अणु की परिणति द्वि-अणुक कार्य की निष्पादक नहीं है, उसी प्रकार मोह के साथ मिलन का नाश होने पर द्रव्य की परम स्वभावभूत होने से 'परमधर्म' नाम से कही जाने वाली वही क्रिया, मनुष्यादि कार्य की निष्पादक न होने से, अफल ही है।

सूचना—**इस गाथा मे नर-नारक आदि पर्यायों की उत्पत्ति को ही फल माना गया है। चूंकि संसारी जीव के रागादिक भाव विना प्रयत्न के स्वत. उत्पन्न होने रहते है, अतः रागादिक भाव को यहां स्वभाव कहा है ॥११६॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ नर-नारकादिपर्याय कर्माधीनत्वेन विनश्वरत्वादिति शुद्धनिश्चयनयेन जीवस्वरूप न भवतीति भेदभावना कथयति—

एसो त्ति णत्थि कोई टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावपरमात्मद्रव्यवत्ससारे मनुष्यादिपर्यायेषु मध्ये **सर्वदैवैष** एकरूप एव नित्य कोऽपि नास्ति ? तर्हि मनुष्यादिपर्यायनिर्वर्तिका ससारक्रिया सापि न भविष्यति ? **ण णत्थि किरिया** न नास्ति क्रिया मिथ्यात्वरागादिपरिणतिस्ससार कर्मेति यावत् इति पर्यायनामचतुष्टयरूपा क्रियास्त्येव। सा च कथम्भूता ? **सभावणिव्वत्ता** शुद्धात्मस्वभावाद्विपरीतापि नरनारकादिविभावपर्यायस्वभावेन निर्वृत्ता। तर्हि कि निष्फला भविष्यति ? **किरिया हि णत्थि अफला** क्रिया हि नास्त्यफला सा मिथ्यात्वरागादिपरिणतिरूपा क्रिया यद्यप्यनन्तसुखादिगुणात्मकमोक्षकार्य प्रति निष्फला तथापि नानादुखदायकस्वकीयकार्यभूतमनुष्यादिपर्यायनिर्वर्तकत्वात्सफलेति मनुष्यादि-पर्यायनिष्पत्तिरेवास्या फल। कथ ज्ञायत इति चेत् ? **"धम्मो जदि णिप्फलो परमो"** धर्मो यदि निष्फल परम नीरागपरमात्मोपलम्भपरिणतिरूप आगमभाषया परमयथाख्यातचारित्ररूपो वा **योऽसौ परमो धर्म**, स केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिरूपस्य कार्यसमयसारस्योत्पादकत्वात्सफलोऽपि नरनारकादिपर्यायकरणभूत ज्ञानावरणादिकर्मबन्ध नोत्पादयति, तत कारणान्निष्फल। ततो ज्ञायते नरनारकादिससारकार्य मिथ्यात्वरागादिक्रियाया फलमिति। अथवास्य सूत्रस्य द्वितीयव्याख्यान क्रियते—यथा शुद्धनयेन रागादिविभावेन न परिणमत्यय जीवस्तथैवाशुद्धनयेनापि न परिणमतीति [1]यदुक्त साङ्ख्येन तन्निराकृत। कथमिति चेत् ? अशुद्धनयेन मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणतजीवाना नरनारकादिपर्यायपरिणतिदर्शनादिति। एव प्रथमस्थले सूत्रगाथा गता ॥११६॥

---

[1] ख पुस्तके "परिणमति रागादिभावेन जीव साङ्ख्येन यदुक्त" इति वर्तते।

उत्थानिका—आगे कहते है कि नारक आदि पर्याय कर्म के अधीन है इससे नाशवत हैं। इस कारण शुद्ध निश्चय से नारकादि पर्याये जीव का स्वरूप नही हैं, ऐसी भेद भावना को कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(एसो त्ति णत्थि कोई) कोई भी मनुष्यादि पर्याय ऐसी नहीं है जो नित्य हो (ण सहावणिव्वत्ता किरिया णत्थि) और रागादि विभाव स्वभाव से होने वाली क्रिया न होती हों ऐसा भी नहीं है अर्थात् रागादि रूप क्रिया अवश्य है। (किरिया हि अफला णत्थि) यह रागादि रूप क्रिया निश्चय से बिना फल के नहीं होती है अर्थात् मनुष्यादि पर्याय रूप फल को देती है (जदि परमा धम्मो णिप्फलो) किन्तु उत्कृष्ट वीतरागधर्म मनुष्यादि पर्याय रूप फल देने से रहित है।**

जैसे टंकोत्कीर्ण (टांकी से उकेरे के समान अमिट) ज्ञाता दृष्टा एक स्वभाव रूप परमात्मा द्रव्य नित्य है वैसे इस ससार मे मनुष्य आदि पर्यायों मे से कोई भी पर्याय ऐसी नहीं है जो नित्य हो तब क्या मनुष्यादि पर्यायो को उत्पन्न करने वाली संसार की क्रिया भी नहीं है? इसके उत्तर मे कहते है कि मिथ्यादर्शन व रागद्वेषादिकी परिणति रूप सांसारिक क्रिया न होती हों, ऐसा नही है। ये मनुष्यादि चारो गतियां क्योंकि कर्म (कार्य) हैं इसलिये इनको उत्पन्न करने वाली रागादि क्रिया अवश्य है। यह क्रिया शुद्धात्मा के स्वभाव से विपरीत होने से नर नारकादि विभाव पर्याय के स्वभाव से उत्पन्न हुई है। तब क्या यह रागादि क्रिया निष्फल रहेगी? मिथ्यात्व रागादि में परिणतिरूप क्रिया यद्यपि अनन्त सुखादि गुणमयी मोक्ष के कार्य को पैदा करने के लिये निष्फल है तथापि नाना प्रकार के दुःखो को देने वाली स्व-कार्यभूत मनुष्यादि पर्याय को पैदा करने के कारण फल सहित है, निष्फल नहीं है—इस रागादि क्रिया का फल मनुष्यादि पर्याय को उत्पन्न करना है। यह बात कैसे मालूम होती है? इसके उत्तर मे कहते हैं कि यद्यपि वीतराग परमात्मा की प्राप्ति मे परिणमन करने वाली क्रिया, जिसको आगम की भाषा में परम यथाख्यातचारित्र रूप परमधर्म कहते है, केवलज्ञानादि अनन्त चतुष्टय की प्रगटता रूप कार्य-समयसार को उत्पन्न करने के कारण फल सहित है तथापि नर नारक आदि पर्यायों के कारणरूप ज्ञानावरणादि कर्मबंध को नहीं पैदा करती है इसलिये निष्फल है। इससे यह ज्ञात होता है कि नरनारक आदि सांसारिक कार्य मिथ्यात्व रागादि क्रिया के फल हैं। अथवा इस सूत्र का दूसरा व्याख्यान किया जाता है—जैसे शुद्ध निश्चयनय से यह जीव रागादि विभाव-भावों से नहीं परिणमन करता है तैसे ही अशुद्ध नय से भी नहीं परिणमन

करता है ऐसा जो सांख्यमत कहता है उसका निषेध इस गाथा में है, क्योकि अशुद्धनय से जो जीव मिथ्यात्व व रागादि विभावों मे परिणमन करते है उन्हीं को नर नारक आदि पर्यायों की प्राप्ति है, ऐसा देखा जाता है।

अथ मनुष्यादिपर्यायाणां जीवस्य क्रियाफलत्वं व्यनक्ति—

कम्मं णामसमक्खं सभावमध[1] अप्पणो सहावेण।
अभिभूयं णरं तिरियं णेरइयं वा सुरं कुणदि ॥११७॥

कर्म नामसमाख्य स्वभावमथात्मन स्वभावेन।
अभिभूय नर तिर्यच नैरयिक वा सुर करोति ॥११७॥

क्रिया खल्वात्मना प्राप्यत्वात्कर्म, तन्निमित्तप्राप्तपरिणामः पुद्गलोऽपि कर्म, तत्कार्यभूता मनुष्यादिपर्याया जीवस्य क्रियाया मूलकारणभूताया प्रवृत्तत्वात् क्रियाफलमेव स्युः। क्रियाऽभावे पुद्गलानां कर्मत्वाभावात्तत्कार्यभूताना तेषामभावात्। अथ कथं ते कर्मणः कार्यभावमायान्ति, कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणत्वात् प्रदीपवत्। तथाहि—यथा खलु ज्योति–स्वभावेन तैलस्वभावमभिभूय क्रियमाणः प्रदीपो ज्योतिःकार्यं तथा कर्मस्वभावेन जीवस्वभावमभिभूय क्रियमाणा मनुष्यादिपर्यायाः कर्मकार्यम् ॥११७॥

भूमिका—अब, जीव के, मनुष्यादि पर्यायो का क्रिया का फलपना होना व्यक्त करते हैं—

अन्वयार्थ—[अथ] अब, [नामसमाख्य कर्म] 'नाम' सज्ञावाला कर्म [स्वभावेन] अपने स्वभाव से [आत्मन स्वभाव अभिभूय] जीव के स्वभाव का पराभव करके, [नर तिर्यञ्च नैरयिक वा सुर) मनुष्य, तिर्यच, नारक अथवा देव (इन पर्यायो) को [करोति] करता है।

टीका—क्रिया वास्तव मे आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से कर्म है, (अर्थात् आत्मा क्रिया को प्राप्त करता है इसलिये वास्तव मे क्रिया ही आत्मा का कर्म है।) उसके निमित्त से परिणमन (द्रव्यकर्मरूप) को प्राप्त होता हुआ पुद्गल भी कर्म है। उस (पुद्गलकर्म) की कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायें, मूलकारणभूत जीव की क्रिया से प्रवर्तमान होने से, क्रिया-फल ही हैं, क्योंकि क्रिया के अभाव मे पुद्गलो के कर्मत्व का अभाव होने से, उस (पुद्गल कर्म) की कार्यभूत मनुष्यादि पर्यायो का अभाव होता है। वहां, वे मनुष्यादि पर्यायें कर्म के कार्य कैसे हैं? (सो कहते हैं) क्योंकि वे (पर्याये) कर्मस्वभाव के द्वारा, जीव के स्वभाव

१ मह (ज० वृ०)।

का पराभव करके, की जाती हैं, दीपक की भांति। यथा ज्योति (लौ) के स्वभाव के द्वारा तेल के स्वभाव का पराभव करके किया जाने वाला दीपक ज्योति का कार्य है, उसी प्रकार कर्म स्वभाव के द्वारा जीव के स्वभाव का पराभव करके जाने वाली मनुष्यादि पर्यायें कर्मके कार्य है ॥११७॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ मनुष्यादिपर्याय कर्मजनिता इति विशेषेण व्यक्तीकरोति—

कम्म कर्मरहितपरमात्मनो विलक्षण कर्म कर्तृ कि विशिष्ट ? **णामसमक्खं** निर्नामनिर्गोत्रमुक्तात्मनो विपरीत नामेति सम्यगाख्या सज्ञा यस्य तद्भवति नामसमाख्य, नामकर्मेत्यर्थ । **सभावं** शुद्धबुद्धैकपरमात्मस्वभाव **अह** अथ **अप्पणो सहावेण** आत्मीयेन ज्ञानावरणादिस्वकीयस्वभावेन करणभूतेन **अभिभूय** तिरस्कृत्य प्रच्छाद्य त पूर्वोक्तमात्मस्वभाव । पश्चात्कि करोति ? **णर तिरिय णेरइय वा सुर कुणदि** नरतिर्यग्नारकसुररूप करोतीति । अयमत्रार्थ —यथाग्नि कर्ता तैलस्वभाव कर्म्मतापन्नमभिभूय तिरस्कृत्य वर्त्याधारेण दीपशिखारूपेण परिणमयति, तथा कर्माग्नि कर्ता तैलस्थानीय शुद्धात्मस्वभाव तिरस्कृत्य वर्तिस्थानीयशरीराधारेण दीपशिखास्थानीयनरनारकादिपर्यायरूपेण परिणमयति। ततो ज्ञायते मनुष्यादिपर्याया निश्चयनयेन कर्मजनिता इति ॥११७॥

उत्थानिका—आगे इसी सूत्र का विशेष कहते हुए बताते है कि ये मनुष्य आदि पर्यायें कर्मों के द्वारा पैदा होती है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अह) तथा (णामसमक्ख कम्म) नाम नामका कर्म (सहावेण) अपने कर्म स्वभाव से (अप्पणो सभाव) आत्मा के स्वभाव को (अभिभूय) ढककर (णरं तिरियं णेरइय वा सुरं कुणदि) उसे मनुष्य, तिर्यंच, नारकी या देवरूप कर देता है। कर्मों से रहित परमात्मा से विलक्षण ऐसा कर्म जिसकी भले प्रकार नाम संज्ञा की गई है, अर्थात् नाम कर्म जो नामरहित, गोत्र—रहित परमात्मा से विपरीत है, अपने ही सहभावी-ज्ञानावरणादि कर्मों के स्वभाव से शुद्धबुद्ध एक परमात्मस्वभाव को आच्छादन कर उसे नर, नारक, तिर्यंच या देवरूप कर देता है। यहां यह विशेष अर्थ है—जैसे अग्नि कर्त्ता होकर तैल के स्वभाव को तिरस्कार करके बत्ती के आधार से उस तैल को दीपक की शिखारूप मे परिणमन कर देती है तैसे कर्मरूपी अग्नि कर्ता होकर तैल के स्थान मे शुद्ध आत्मा के स्वभाव को तिरस्कार करके बत्ती के समान शरीर के आधार से उसे दीपक की शिखा के समान नर, नारकादि पर्यायों के रूप से परिणमन कर देती है। इससे जाना जाता है कि मनुष्य आदि पर्यायें निश्चय से कर्म-जनित हैं ॥११७॥**

अथ कुतो मनुष्यादिपर्यायेषु जीवस्य स्वभावाभिभवो भवतीति निर्धारयति—

णरणारयतिरियसुरा जीवा खलु णामकम्मणिव्वत्ता ।
ण हि ते लद्धसहावा परिणममाणासकम्माणि ॥११८॥

नरनारकतिर्यक्सुरा जीवा खलु नामकर्मनिर्वृत्ता ।
न हि ते लब्धस्वभावा परिणममाना स्वकर्माणि ॥११८॥

अमी मनुष्यादयः पर्याया नामकर्मनिर्वृत्ताः सन्ति तावत् । न पुनरेतावतापि तत्र जीवस्य स्वभावाभिभवोऽस्ति । यथा कनकबद्धमाणिक्यकङ्कणेषु माणिक्यस्य । यत्तत्र नैव जीवः स्वभावमुपलभते तत् स्वकर्मपरिणमनात् पयःपूरवत् । यथा खलु पयःपूरः प्रदेशस्वादाभ्यां पिचुमन्दचन्दनादिवनराजीं परिणमन्न द्रव्यत्वस्वादुत्वस्वभावमुपलभते, तथात्मापि प्रदेशभावाभ्यां कर्मपरिणमनान्नामूर्तत्वनिरुपरागविशुद्धिमत्त्वस्वभावमुपलभते ॥११८॥

भूमिका—**अब यह निर्णय करते हैं कि मनुष्यादि पर्यायों में जीव के स्वभाव का पराभव किस कारण से होता है ?—**

अन्वयार्थ—[नरनारकतिर्यक्सुरा जीवाः] मनुष्य, नारक, तिर्यंच और देवरूप जीव [खलु] वास्तव मे [नामकर्म-निर्वृत्ता] नामकर्म से निष्पन्न है। [हि] वास्तव मे [ते] वे जीव [स्वकर्माणि] अपने अपने उपार्जित कर्मरूप [परिणममाना] परिणत होते हुए [न लब्धस्वभाव.] (चिदानंद) स्वभाव को प्राप्त नही होते ।

टीका—**प्रथम तो यह मनुष्यादि पर्यायें नामकर्म से निष्पन्न हैं, किन्तु इतने से भी वहां (उन पर्यायो मे) जीव के स्वभाव का पराभव नही है, जैसे—सुवर्ण मे जड़े हुये माणिक वाले कंकणों में माणिक के स्वभाव का पराभव नहीं होता। जो वहां (उन पर्यायों मे) जीव स्वभाव को प्राप्त नही करता (अनुभव नहीं करता), सो स्वकर्म रूप परिणमित होने से है, पानी के पूर (बाढ) की भाति । जैसे—पानी का पूर प्रदेश से और स्वाद से निम्ब-चन्दनादि वनराजिरूप (नीम, चन्दन इत्यादि वृक्षों की लम्बी पंक्ति रूप) परिणमित होता हुआ (अपने) द्रवत्व (तरलता, बहना) और स्वादुत्व रूप (स्वादिष्टपना) स्वभाव को प्राप्त नहीं करता, उसी प्रकार आत्मा भी प्रदेश से और भाव से स्वकर्म रूप परिणमित होने से (अपने) अमूर्तत्व और निरुपराग-विशुद्धिमत्व रूप स्वभाव को प्राप्त नहीं करता ॥११८॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ नरनारकादिपर्यायेषु कथ जीवस्य स्वभावाभिभवो जातस्तत्र कि जीवाभाव इति प्रश्ने ? प्रत्युत्तर ददाति—

णरणारयतिरियसुरा जीवा नरनारकतिर्यक्सुरनामानो जीवा सन्ति तावत् **खलु** स्फुट । कथम्भूता ? **णामकम्मणिव्वत्ता** नरनारकादिस्वकीयस्वकीयनामकर्मणा निर्वृत्ता **ण हि ते लद्धसहावा** किन्तु यथा माणिक्यबद्धसुवर्णकङ्कणेषु माणिक्यस्य हि मुख्यता नास्ति, तथा ते जीवाश्चिदानन्दैकशुद्धात्मस्वभावमलभमाना सन्तो लब्धस्वभावा न भवन्ति, तेन कारणेन स्वभावाभिभवो भण्यते, न च जीवाभाव । कथम्भूता सन्तो लब्धस्वभावा न भवन्ति ? **परिणममाणा सकम्माणि** स्वकीयोदयागतकर्माणि सुखदु खरूपेण परिणममाना इति ।' अयमत्रार्थ—यथा वृक्षसेचनविषये जलप्रवाहश्चन्दनादिवनराजिरूपेण परिणत सन्स्वकीयकोमलशीतलनिर्मलादिस्वभाव न लभते, तथाय जीवोऽपि वृक्षस्थानीयकर्मोदयपरिणत सन्परमाह्लादैकलक्षणसुखामृतास्वादनैर्मल्यादिस्वकीयगुणसमूह न लभत इति ॥११८॥

उत्थानिका—आगे शिष्य ने प्रश्न कियाकि नरनारकादि पर्यायो मे किस तरह जीव के स्वभाव का तिरस्कार हुआ है । क्या जीव का अभाव हो गया है ? इसका समाधान आचार्य करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(णरणारयतिरियसुरा) **मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव पर्याय मे तिष्ठने वाले (जीवा) जीव (खलु) प्रगटपने (णाम कम्मणिव्वत्ता) नामकर्म द्वारा उन गतियों मे रचे (जीवा) जीव की (णरणारयतिरियसुरा) मनुष्य, नारकी, तिर्यंच और देव पर्यायें (खलु) प्रगटपने (णाम कम्मणिव्वत्ता) नामकर्म द्वारा रची हैं । इस कारण (ते) वे जीव (सकम्माणि परिणममाणा) अपने-अपने कर्मों के उदय में परिणमन करते हुए (लद्धसहावा ण हि) अपने स्वभाव को निश्चय से नहीं प्राप्त होते हैं । जीव नर, नारक, तिर्यंच, देव इन चार प्रगट गति रूप होता है, क्योंकि ये गतियां अपने-अपने नर नारकादि नामकर्म के द्वारा रची गई हैं । वे अपने-अपने उदय प्राप्त कर्मों के अनुसार सुख तथा दुःख को भोगते हुए अपने चिदानन्दमयी एक शुद्ध आत्म-स्वभाव को नहीं पाते हैं । जैसे माणिक-जड़ित सुवर्ण-कंकण मे माणिक की मुख्यता नहीं है, उसी तरह इन नर नारकादि पर्यायों मे जीव-स्वभाव का तिरस्कार है । इससे जीव का अभाव नहीं हो जाता है । इसका यह भाव है जैसे जल का प्रवाह वृक्षों के सींचने मे परिणमन करता हुआ चन्दन व नीम आदि वन के वृक्षों मे जाकर उन रूप मीठा, कड़ुवा, सुगन्धित, दुर्गंधित होता हुआ अपने जल के कोमल, शीतल, निर्मल स्वभाव को नही रखता है, इसी तरह यह जीव भी वृक्षों के स्थान में कर्मों के उदय के अनुसार परिणमन करता हुआ परमानन्द रूप एक लक्षणमय सुखामृत का स्वाद तथा निर्मलता आदि अपने निज गुणों को नहीं प्राप्त करता है ॥११८॥**

अथ जीवस्य द्रव्यत्वेनावस्थितत्वेऽपि पर्यायैरनवस्थितत्वं द्योतयति—

जायदि णेव ण णस्सदि खणभंगसमुब्भवे जणे कोई ।
जो हि भवो सो विलओ संभवविलय त्ति[1] ते णाणा ॥११६॥

जायते नैव न नश्यति क्षणभङ्गसमुद्भवे जने कश्चित् ।
यो हि भव स विलय सभवविलयाविति तौ नाना ॥११६॥

इह तावन्न कश्चिज्जायते न म्रियते च । अथ च मनुस्यदेवतिर्यङ्नारकात्मको जीवलोकः प्रतिक्षणपरिणमित्वादुत्संगितक्षणभगोत्पाद । न च विप्रतिषिद्धमेतत्, सभवविलययोरेकत्वनानात्वाभ्याम् । यदा खलु भंगोत्पादयोरेकत्व तदा पूर्वपक्षः, यदा तु नानात्वं तदोत्तरः । तथाहि—यथा य एव घटस्तदेव कुण्डमित्युक्ते घटकुण्डस्वरूपयोरेकत्वासभवात्तदुभयाधारभूता मृत्तिका संभवति, तथा य एव संभवः स एव विलय इत्युक्ते संभवविलयस्वरूपयोरेकत्वासंभवात्तदुभयाधारभूत ध्रौव्यं सभवति । ततो देवादिपर्याये संभवति मनुष्यादिपर्याये विलीयमाने च य एव सभव स एव विलय इति कृत्वा तदुभयाधारभूत ध्रौव्यवज्जीवद्रव्य सभाव्यत एव । ततः सर्वदा द्रव्यत्वेन जीवष्टङ्कोत्कीर्णोऽवतिष्ठते । अपि च यथाऽन्यो घटोऽन्यत्कुण्डमित्युक्ते तदुभयाधारभूताया मृत्तिकाया अन्यत्वासंभवात् घटकुण्डस्वरूपे सभवत, तथान्य. सभवोऽन्यो विलय इत्युक्ते तदुभयाधारभूतस्य ध्रौव्यस्यान्यत्वासभवात्संभवविलयस्वरूपे सभवतः । ततो देवादिपर्याये सभवति मनुष्यादिपर्याये विलीयमाने चान्यः संभवोऽन्यो विलय इति कृत्वा सभवविलयवन्तौ देवादिमनुष्यादिपर्यायौ संभाव्येते । ततः प्रतिक्षणं पर्यायैर्जीवोऽनवस्थितः ॥११६॥

भूमिका—**अब, जीव के, द्रव्य रूप से अवस्थितता (ध्रौव्य वह का वह ही) होने पर भी पर्यायों से अनवस्थितता । (अध्रौव्यपना, भिन्न-भिन्नपना, नानापना) प्रकाशते हैं—**

अन्वयार्थ—[क्षण-भङ्गसमुद्भवे जने] प्रतिक्षण उत्पाद और विनाश वाले जीव लोक मे [कश्चित्] कोई (भी जीव) [न एव जायते] (द्रव्यपने से) न उत्पन्न ही होता है, और [न नश्यति] न नष्ट होता है, (क्योकि) [हि] निश्चय से [य भवः स. विलय] जो (जीव) उत्पाद रूप है वही विनाशरूप है, (किन्तु) [सभवविलयौ इति तौ नाना] उत्पाद तथा विनाश, ऐसी वे दोनो (पर्याय) नाना (भिन्न-भिन्न, भेद रूप) है ।

टीका—**प्रथम तो यहां न कोई (जीव) जन्म लेता है और न मरता है, (अर्थात् इस लोक मे कोई जीव न तो उत्पन्न होता है और न नाश को प्राप्त होता है), (ऐसा**

---

1 सभवविलओ त्ति (ज० वृ०) ।

होने पर भी) मनुष्य-देव-तिर्यंच-नारकात्मक जीव लोक, प्रतिक्षण परिणामी होने से, क्षण-क्षण मे होने वाले विनाश और उत्पाद से भी सहित हैं। यह विरोध को (भी) प्राप्त नहीं होता, क्योंकि उद्‌भव और विलय का एकत्व और अनेकत्व है। जब उद्‌भव और विलय का एकत्व है तब पूर्वपक्ष है और जब अनेकत्व है तब उत्तरपक्ष है। (अर्थात्—जब उत्पाद और विनाश के एकत्व की अपेक्षा ली जाय तब यह पक्ष फलित होता है कि—'न तो जीव उत्पन्न होता है और न नष्ट होता है और जब उत्पाद तथा विनाश के अनेकत्व की अपेक्षा ली जाय तब प्रतिक्षण होने वाले विनाश और उत्पाद का पक्ष फलित होता है।) वह इस प्रकार है—जैसे—'जो घड़ा है वही कूंडा है' ऐसा कहे जाने पर, घड़े और कूंडे के स्वरूप का एकत्व असम्भव होने से, उन दोनो की आधारभूत मिट्टी प्रगट होती है, उसी प्रकार 'जो उत्पाद है वही विनाश है' ऐसा कहे जाने पर, उत्पाद और विनाश के स्वरूप का एकत्व असम्भव होने से उन दोनो का आधारभूत ध्रौव्य प्रगट होता है, इसलिये देवादि पर्याय के उत्पन्न होने और मनुष्यादि पर्याय के नष्ट होने पर, 'जो उत्पाद है वही विलय है' ऐसा मानने से (इस अपेक्षा से) उन दोनो का आधारभूत ध्रौव्य वाला जीवद्रव्य प्रगट होता ही है (लक्ष्य मे आता है)। इसलिये सर्वदा द्रव्यपने से जीव टकोत्कीर्ण रहता है और फिर, जैसे—'अन्य घडा है और अन्य कूंडा है' ऐसा कहे जाने पर, उन दोनो की आधारभूत मिट्टी का अन्यत्व (भिन्न-भिन्नपना) असभव होने के कारण घड़े का और कूंडे का (दोनों का भिन्न-भिन्न) स्वरूप प्रगट होता है, उस ही प्रकार 'अन्य उत्पाद है और अन्य व्यय है' ऐसा कहा जाने पर, उन दोनो के आधारभूत ध्रौव्य का अन्यत्व असभव होने से, उत्पाद और व्यय का स्वरूप प्रगट होता है, इसलिये देवादि पर्याय के उत्पन्न होने पर और मनुष्यादि पर्याय के नष्ट होने पर अन्य उत्पाद है और 'अन्य व्यय है' ऐसा मानने से (इस अपेक्षा से), उत्पाद और व्यय वाली देवादिपर्याय और मनुष्यादिपर्याय प्रगट होती है (लक्ष्य मे आती है)। इसलिये जीव प्रतिक्षण पर्याय से अनवस्थित (भेदरूप) है ॥११६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ जीवस्य द्रव्येण नित्यत्वेऽपि पर्यायेण विनश्वरत्व दर्शयति—

जायदि णेव ण णस्सदि जायते नैव न नश्यति द्रव्यार्थिकनयेन। क्व ? **खणभगसमुब्भवे जणे कोई** क्षणभङ्गसमुद्भवे जने कोऽपि। क्षण क्षण प्रति भङ्गसमुद्भवो यत्र सम्भवति क्षणभङ्गसमुद्भवस्तस्मिन्क्षणभङ्गसमुद्भवे विनश्वरे द्रव्यार्थिकनयेन जने लोके जगति कश्चिदपि, तस्मान्नैव जायते न चोत्पद्यत इति हेतु वदति **जो हि भवो सो विलओ** द्रव्यार्थिकनयेन यो हि भवस्स एव विलयो यत कारणात्। तथाहि—मुक्तात्मना य एव सकलविमलकेवलज्ञानादिरूपेण मोक्षपर्यायेण भव उत्पाद स

एव निश्चयरत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गपर्यायेण विलयो विनाशस्तौ च मोक्षपर्यायमोक्षमार्गपर्यायौ कार्यकारणरूपेण भिन्नौ, तदुभयाधारभूत यत्परमात्मद्रव्य तदेव मृत्पिण्डघटाधारभूतमृत्तिकाद्रव्यवत् मनुष्यपर्यायदेवपर्यायाधारभूतससारिजीवद्रव्यवद्वा । क्षणभगसमुद्भवे हेतु कथ्यते । **सभवविलओ त्ति ते णाणा** सम्भवविलयौ द्वाविति तौ नाना भिन्नौ यत कारणात्तत पर्यायार्थिकनयेन भगोत्पादौ । तथाहि—य एव पूर्वोक्तमोक्षपर्यायस्योत्पादो मोक्षमार्गपर्यायस्य विनाशस्तावेव भिन्नौ न च तदाधारभूतपरमात्मद्रव्यमिति । ततो ज्ञायते द्रव्यार्थिकनयेन नित्यत्वेऽपि पर्यायरूपेण विनाशोऽस्तीति ॥११९॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि द्रव्य की अपेक्षा जीवन नित्य है तथापि पर्याय की अपेक्षा विनाशीक या अनित्य है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(खणभगसमुब्भवे जणे) पर्यायार्थिकनय से क्षण-क्षण मे नाश व उत्पन्न होता है ऐसे लोक मे (कोई णेव जायदि ण णस्सदि) द्रव्यार्थिकनय से कोई जीव न तो उत्पन्न होता है और न नाश होता है । कारण (जो हि भवोसो विलओ) जो निश्चय से उत्पत्ति रूप है वही नाश रूप है । (ते सभव बिलयत्ति णाणा) वे उत्पाद और नाश भिन्न-भिन्न है । क्षण-क्षण मे जहा पर्यायार्थिकनय से अवस्था का नाश व उत्पाद होता है ऐसे इस लोक मे कोई भी जीव द्रव्यार्थिकनय से न नया पैदा होता है, न पुराना नाश होता है । इसका कारण यह है कि पर्याय की अपेक्षा जो निश्चय से उपजे है वही नाश होय है । जैसे मुक्त आत्माओ का जो ही सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञानादि रूप मोक्ष की अवस्था से उत्पन्न होना है सो ही निश्चयरत्नत्रयमयी निश्चयमोक्षमार्ग की पर्याय की अपेक्षा विनाश होना है । वे मोक्ष पर्याय और मोक्षमार्ग पर्याय यद्यपि कार्य और कारण रूप से परस्पर भिन्न-भिन्न हैं तथापि इन पर्यायो का आधार रूप जो परमात्मा द्रव्य है सो वही है, अन्य नहीं है । अथवा जैसे मिट्टी के पिण्ड के नाश होते हुए और घटके बनते हुए इन दोनों की आधारभूत मिट्टी वही है । अथवा मनुष्य पर्याय को नष्ट होकर देव पर्याय को पाते हुए इन दोनों का आधार रूप संसारी जीव द्रव्य वही है । पर्यायार्थिक नय से विचार करें तो वे उत्पाद और व्यय परस्पर भिन्न-भिन्न हैं । जैसे पहली कही हुई बात में जो कोई मोक्ष अवस्था का उत्पाद है तथा मोक्षमार्ग की पर्याय का नाश है ये दोनों ही एक नहीं हैं किन्तु भिन्न-भिन्न हैं । यद्यपि इन दोनो का आधार रूप परमात्म-द्रव्य भिन्न नहीं है अर्थात् वही एक है इससे यह जाना जाता है कि द्रव्यार्थिकनय से द्रव्य में नित्यपना होते हुए भी पर्याय की अपेक्षा नाश है ॥११९॥**

अथ जीवस्यानवस्थितत्वहेतुमुद्योतयति—

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति संसारे ।
संसारो पुण किरिया संसरमाणस्स दव्वस्स[1] ॥१२०॥

तस्मात्तु नास्ति कश्चित् स्वभावसमवस्थित इति ससारे ।
ससार पुन क्रिया ससरतो द्रव्यस्य ॥१२०॥

यत खलु जीवो द्रव्यत्वेनावस्थितोऽपि पर्यायैरनवस्थित:, तत: प्रतीयते·न कश्चिदपि संसारे स्वभावेनावस्थित इति । यच्चात्रानवस्थितत्वं तत्र ससार एव हेतुः । तस्य मनुष्यादिपर्यायात्मकत्वात् स्वरूपेणैव तथाविधत्वात् । अथ यस्तु परिणममानस्य द्रव्यस्य पूर्वोत्तरदशापरित्यागोपादात्मक: क्रियाख्य: परिणामस्तत्ससारस्य स्वरूपम् ॥१२०॥

भूमिका—**अब, जीव की अनवस्थितता का हेतु प्रगट करते हैं—**

अन्वयार्थ—[तस्मात् तु] इसलिये [ससारे] ससार मे [स्वभावसमवस्थित. इति] स्वभाव से अवस्थित ऐसी [कश्चित् नास्ति] कोई (वस्तु) नही है, (अर्थात् ससार मे किसी भी वस्तु का स्वभाव केवल एक रूप रहना नही है) [पुन]और (जो) [ससरतो द्रव्यस्य] (चारो गतियो मे) भ्रमण करने वाले (जीव) द्रव्य की [क्रिया] (अन्य अवस्था रूप) परिणति है, (वही) [ससार] ससार है ।

टीका—**क्योंकि वास्तव मे जीव द्रव्यत्व से अवस्थित होने पर भी पर्यायों से अनवस्थित है, इससे यह प्रतीत होता है कि ससार मे कोई भी (वस्तु) स्वभाव से अवस्थित नहीं है (अर्थात् किसी का स्वभाव केवल अविचल-एकरूप रहना नहीं हैं) और यहां (इस ससार मे) जो अनवस्थितता है उसमे ससार ही हेतु है, क्योंकि उसके (संसार के) मनुष्यादि पर्यायात्मकपना है, कारण कि वह संसार रूप से ही वैसा (अनवस्थित) है । (अर्थात् संसार का स्वरूप ही ऐसा है ।) अब, परिणमन करते हुये द्रव्य का जो पूर्व दशा का परित्याग तथा उत्तर दशा का ग्रहण रूप क्रिया नामक परिणाम है, वह ही संसार का स्वरूप है ॥१२०॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ विनश्वरत्वे कारणमुपन्यस्यति, अथवा प्रथमस्थलेऽधिकारसूत्रेण मनुष्यादिपर्यायाणा कर्मजनितत्वेन यद्विनश्वरत्व सूचित तदेव गाथात्रयेण विशेषेण व्याख्यातमिदानी तस्योपसहारमाह—

तम्हा दु णत्थि कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति तस्मान्नास्ति कश्चित्स्वभावसमवस्थित इति । यस्मात्पूर्वोक्तप्रकारेण मनुष्यादिपर्यायाणा विनश्वरत्वव्याख्यान कृत तस्मादेव ज्ञायते परमानन्दैकलक्षणपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतशुद्धात्मस्वभाववदवस्थितो नित्य कोऽपि नास्ति । क्व ? **ससारे**

[1] जीवस्स (ज० वृ०) ।

निस्ससारशुद्धात्मनो विपरीते ससारे। ससारस्वरूप कथयति—**संसारो पुण किरिया** ससार पुन क्रिया निष्क्रियनिर्विकल्पशुद्धात्मपरिणतेर्विसदृशा मनुष्यादिविभावपर्यायपरिणतिरूपा क्रिया ससारस्वरूप। सा च कस्य भवति ? **ससरमाणस्स जीवस्स** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावमुक्तात्मनो विलक्षणस्य ससरत परिभ्रमत ससारिजीवस्येति। तत स्थित मनुष्यादिपर्यायात्मक ससार एव विनश्वरत्वे कारण-मिति ॥१२०॥

एव शुद्धात्मनो भिन्नाना कर्मजनितमनुष्यादिपर्यायाणा विनश्वरत्वकथनमुख्यतया गाथाचतुष्ट-येन द्वितीयस्थल गतम्।

उत्थानिका—आगे इस विनाश स्वरूप जगत् के लिये कारण क्या है? उसको सक्षेप मे कहते हैं अथवा पहले स्थल मे अधिकार सूत्र से जो यह सूचित किया था कि मनुष्यादि पर्यायें कर्मो के उदय से हुई है इससे विनाशीक है इसी ही बात को तीन गाथाओ से विशेष करके व्याख्यान किया गया अब उसको सकोचते हुए कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(तम्हा दु) इसी कारण से (ससारे) इस ससार मे (कोई सहावसमवट्ठिदो त्ति णत्थि) कोई वस्तु स्वभाव से स्थिर नहीं है। (पुण) तथा (ससरमा-णस्स जीवस्स) भ्रमण करते हुए जीव द्रव्य की (क्रिया) क्रिया (ससारो) ससार है।**

जैसा पहले कह चुके हैं कि मनुष्यादि पर्यायें नाशवन्त हैं इसी कारण से यह बात जानी जाती है कि जैसे परमानन्दमयी एक लक्षणधारी परम चैतन्य के चमत्काररूप परिणत शुद्धात्म स्वभाव स्थिर है, वैसा कोई भी जीव पदार्थ इस ससार-रहित शुद्धात्मा से विपरीत संसार मे अवस्थित नित्य नहीं है। तथा विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभाव के धारी मुक्तात्मा से विलक्षण ससार मे भ्रमण करते हुये इस ससारी जीव की जो क्रिया रहित और विकल्प रहित शुद्धात्मा की परिणति से विरुद्ध मनुष्यादि रूप विभावपर्याय मे परिणमन रूप क्रिया है सो ही संसार का स्वरूप है। इससे यह सिद्ध हुआ कि मनुष्यादि पर्यायस्वरूप संसार ही जगत् के नाश मे कारण है ॥१२०॥

इस तरह शुद्धात्मा से भिन्न कर्मो से उत्पन्न मनुष्यादि पर्याय नाशवत है इस कथन की मुख्यता से चार गाथाओ के द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ परिणामात्म के ससारे कुत पुद्गलश्लेषो येन तस्य मनुष्यादिपर्यायात्मकत्व-मित्यत्र समाधानमुपवर्णयति—

आदा कम्ममलिमसो परिणामं लहदि कम्मसंजुत्तं।
तत्तो सिलिसदि कम्मं तम्हा कम्मं दु[1] परिणामो ॥१२१॥

आत्मा कर्ममलीमस परिणाम लभते कर्मसयुक्तम्।
तत श्लिष्यति कर्म तस्मात् कर्म तु परिणाम ॥१२१॥

---

१ तु (ज० वृ०)

यो हि नाम संसारनामायमात्मनस्तथाविधः परिणामः स एव द्रव्यकर्मश्लेषहेतु । अथ तथाविधपरिणामस्यापि को हेतुः, द्रव्यकर्म हेतुः तस्य, द्रव्यकर्मसंयुक्तत्वेनेवोपलम्भात् । एवं सतीतरेतराश्रयदोषः न हि । अनादिप्रसिद्धद्रव्यकर्माभिसंबद्धस्यात्मनः प्राक्तनद्रव्यकर्मणस्तत्र हेतुत्वेनोपादानात् एवं कार्यकारणभूतनवपुराणद्रव्यकर्मत्वादात्मनस्तथाविधपरिणामो द्रव्यकर्मैव । तथात्मा चात्मपरिणामकर्तृत्वाद्द्रव्यकर्मकर्ताप्युपचारात् ॥१२१॥

भूमिका—**अब, परिणमनस्वरूप ससार मे किस कारण से पुद्गल का सम्बन्ध होता है-कि जिससे उसके (संसार के) मनुष्यादि पर्यात्मकपना होता है ? इसका यहां समाधान करते हैं—**

अन्वयार्थ—[कर्ममलीमस आत्मा] कर्म से मलिन आत्मा [कर्मसयुक्त परिणाम] कर्मसयुक्त परिणाम को (द्रव्यकर्म के सयोग से होने वाले अशुद्ध परिणाम को) [लभते] प्राप्त करता है, [तत] उससे [कर्म श्लिष्यति] कर्म चिपक जाता है (द्रव्य कर्म का बंध होता है), [तस्मात् तु] इसलिये [परिणाम कर्म] परिणाम कर्म है ।

टीका—**'ससार' नामक जो यह आत्मा का तथाविध (उस प्रकार का परिणाम है वही द्रव्यकर्म के चिपकने का (बन्ध का) हेतु है । अब, उस प्रकार के परिणाम का हेतु कौन है ? (इसके उत्तर मे कहते है कि) द्रव्यकर्म उसका हेतु है, क्योंकि द्रव्यकर्मकी[1] सयुक्तता से ही वह (अशुद्ध परिणाम) कर्म है ।**

शका—**ऐसा होने से इतरेतराश्रयदोष[2] आयगा, क्योंकि अनादिसिद्ध द्रव्यकर्म के साथ सम्बद्ध आत्माका जो पूर्वका द्रव्यकर्म[3] है उसका वहां हेतुरूप से ग्रहण (स्वीकार) किया गया है ।**

इसप्रकार नवीन द्रव्यकर्म जिसका कारणभूत है, और पुराना द्रव्यकर्म जिसका कारणभूत है, ऐसा आत्मा का तथाविध परिणाम होने से, वह उपचार से द्रव्यकर्म ही है, और आत्मा भी अपने परिणाम का कर्त्ता भी उपचार से है ॥१२२॥

---

१ द्रव्यकर्म के सयोग से ही अशुद्ध परिणाम होते है, द्रव्यकर्म के बिना वे कभी नही होते । इसलिये द्रव्यकर्म अशुद्ध परिणाम का कारण है । २ एक असिद्ध बात को सिद्ध करने के लिये दूसरी असिद्ध बात का आश्रय लिया जाय, और फिर उस दूसरी बात को सिद्ध करने के लिये पहली का आश्रय लिया जाय,—सो इस तर्क-दोष को इतरेतराश्रयदोष कहा जाता है ।

द्रव्यकर्म का कारण अशुद्ध परिणाम कहा है, फिर उस अशुद्ध परिणाम के कारण के सम्बन्ध मे पूछे जाने पर, उसका कारण पुन द्रव्यकर्म कहा है, इसलिये शकाकार को शका होती है कि इस बात मे इतरेतराश्रय दोष आता है । ३ नवीन द्रव्यकर्म का कारण अशुद्ध आत्मपरिणाम है, और उस अशुद्ध आत्म-परिणाम का कारण वह का वही (नवीन) द्रव्यकर्म नही किन्तु पहले का (पुराना) द्रव्यकर्म है, इसलिये इसमे इतरेतराश्रय दोष नही आता ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ ससारस्य कारण ज्ञानावारणादि द्रव्यकर्म तस्य तु कारण मिथ्यात्वरागादिपरिणाम इत्यावेदयति—

आदा निर्दोषिपरमात्मा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावोऽपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशात् **कम्ममलिमसो** कर्ममलीमसो भवति। तथा भवन्सन कि करोति ? **परिणाम लहदि** परिणाम लभते। कथम्भूत ? **कम्मसजुत्त** कर्मरहितपरमात्मनो विसदृशकर्मसयुक्त मिथ्यात्वरागादिविभावपरिणाम **तत्तो सिलिसदि कम्म** तत परिणामात् श्लिष्यति बध्नाति। कि ? कर्म। यदि पुनर्निर्मलविवेकज्योति - परिणामेन परिणमति तदा तु कर्म मुञ्चति **तम्हा कम्म तु परिणामो** तस्मात् कर्म तु परिणाम। यस्माद्रागादिपरिणामेन कर्म बध्नाति, तस्माद्रागादिविकल्परूपो भावकर्मस्थानीय सरागपरिणाम एव कर्म-कारणत्वादुपचारेण कर्मेति भण्यते। तत स्थित रागादिपरिणाम कर्मबन्धकारणमिति ॥१२१॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि ससार का कारण ज्ञानावरण आदि द्रव्यकर्म है और इन द्रव्यकर्म के बध का कारण मिथ्यादर्शन व राग आदि रूप परिणाम है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(आदा कम्ममलिमसो) आत्मा द्रव्य कर्मो से अनादि काल से मैला है इसलिये (कम्मसजुत्त परिणाम) मिथ्यात्व आदि भाव-कर्म रूप परिणाम (लहदि) प्राप्त होता है। (तत्तो) उस मिथ्यात्व आदि परिणाम से (कम्म सिलिसदि) पुद्गल कर्म जीव के साथ बध जाता है (तम्हा) इसलिये (परिणामो) मिथ्यात्व व रागादि रूप परिणाम ही (कम्मं दु) भावकर्म है अर्थात् कर्म के बन्ध का कारण है। निश्चय-नय से यह दोष-रहित परमात्मा शुद्धबुद्ध एक स्वभाव वाला होने पर भी व्यवहार नयसे अनादि कर्म बन्ध के कारण कर्मो से मैला हो रहा है। इसलिये कर्म रहित परमात्मा से विरुद्ध कर्मसहित मिथ्यात्व व रागादि परिणाम को प्राप्त होता है—इस परिणाम से द्रव्य कर्मो को बांधता है। और जब निर्मल भेद-विज्ञान की ज्योतिरूप परिणाम मे परिणमता है तब कर्मो से छूट जाता है, क्योकि रागद्वेष आदि परिणाम से कर्म बंधता है। इसलिये राग आदि विकल्परूप जो भावकर्म या सरागपरिणाम है सो ही द्रव्यकर्मो का कारण होने से उपचार से कर्म कहलाता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि राग आदि परिणाम ही कर्म बन्ध का कारण है ॥१२१॥**

अथ परमार्थादात्मनो द्रव्यकर्माकर्तृत्वमुद्योतयति—

परिणामो सयमादा सा पुण किरिय त्ति होदि जीवमया।
किरिया कम्म त्ति मदा तम्हा कम्मस्स ण दु[1] कत्ता ॥१२२॥

परिणाम स्वयमात्मा सा पुन क्रियेति भवति जीवमयी।
क्रिया कर्मेति मता तस्मात्कर्मणो न तु कर्ता ॥१२२॥

---

१ तु (ज० वृ०)

आत्मपरिणामो हि तावत्स्वयमात्मैव, परिणामिनः परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात्। यश्च तस्य तथाविधः परिणामः सा जीवमय्येव क्रिया, सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षणक्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात्। या च क्रिया सा पुनरात्मना स्वतन्त्रेण प्राप्यत्वात्कर्म। ततस्तस्य परमार्थादात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मण एव कर्ता, न तु पुद्गलपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मणः। अथ द्रव्यकर्मण. क. कर्तेति चेत् ? पुद्गलपरिणामो हि तावत्स्वयं पुद्गल एव, परिणामिन परिणामस्वरूपकर्तृत्वेन परिणामादनन्यत्वात्। यश्च तस्य तथाविध परिणामः सा पुद्गलमय्येव क्रिया, सर्वद्रव्याणां परिणामलक्षणक्रियाया आत्ममयत्वाभ्युपगमात्। या च क्रिया सा पुन पुद्गलेन स्वतन्त्रेण प्राप्यत्वात्कर्म। ततस्तस्य परमार्थात् पुद्गलात्मा आत्मपरिणामात्मकस्य द्रव्यकर्मण एव कर्ता, न त्वात्मपरिणामात्मकस्य भावकर्मणः तत आत्मात्मस्वरूपेण परिणमति न पुद्गलस्वरूपेण परिणमति ॥१२२॥

भूमिका—अब, परमार्थ से आत्मा के द्रव्यकर्म का अकर्तृत्व प्रकाशित करते है (निश्चय से आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं है ऐसा प्रगट करते है)—

अन्वयार्थ—[परिणाम] परिणाम [स्वयम्] स्वय [आत्मा] आत्मा है, [सा पुन] और वह [जीवमयी क्रिया इति भवति] जीवमय क्रिया है, [क्रिया] क्रिया को [कर्म इति मता] कर्म माना गया है, [तस्मात्] इसलिये आत्मा [कर्मण कर्ता तु न] द्रव्यकर्म का कर्त्ता तो नही है।

टीका—प्रथम तो आत्मा का परिणाम वास्तव मे स्वयं आत्मा ही है, क्योंकि परिणामी के परिणाम के स्वरूप का कर्त्तापना होने से, अनन्यपना है। जो उस (आत्मा) का तथाविध परिणाम है, वह जीवमयी ही क्रिया है, क्योकि सर्व द्रव्यों की परिणाम लक्षण वाली क्रिया आत्ममयता (निजमयता) से स्वीकार की गई है जो (जीवमयी) क्रिया है, वह, आत्मा के द्वारा स्वतन्त्रतया प्राप्य होने से, कर्म है। इसलिये परमार्थ से आत्मा अपने परिणाम स्वरूप भावकर्म का ही कर्ता है, किन्तु पुद्गल परिणाम स्वरूप द्रव्यकर्म का नही।

अब यहां यह प्रश्न होता है कि '(जीव भावकर्म का ही कर्त्ता है तब फिर) द्रव्य कर्म का कर्त्ता कौन है ?' इसका उत्तर इस प्रकार है—प्रथम तो पुद्गल का परिणाम वास्तव में स्वयं पुद्गल ही है, क्योंकि परिणामी के, परिणाम के स्वरूप का कर्त्तापना होने से अनन्यपना है। जो उस (पुद्गल) का तथाविध परिणाम है, वह पुद्गलमयी ही

क्रिया है, क्योंकि सर्व द्रव्यों की परिणाम स्वरूप क्रिया निजमय होती है, यह स्वीकार किया गया है। जो (पुद्गलमयी) क्रिया है, वह पुद्गल के द्वारा स्वतन्त्रतया प्राप्त होने से, कर्म है। इसलिये परमार्थ से पुद्गल अपने परिणाम स्वरूप उस द्रव्यकर्म का ही कर्त्ता है, किन्तु आत्मा के परिणाम स्वरूप भावकर्म का नहीं। इससे (यह समझना चाहिये कि) आत्मा आत्मस्वरूप परिणमित होता है, पुद्गलस्वरूप परिणमित नहीं होता ॥१२२॥

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मा निश्चयेन स्वकीयपरिणामस्यैव कर्ता, न च द्रव्यकर्मण इति प्रतिपादयति। अथवा द्वितीयपातनिकाशुद्धपारिणामिकपरमभावग्राहकेण शुद्धनयेन यथैवाकर्ता तथैवाशुद्धनयेनापि साख्येन यदुक्त तन्निषेधार्थमात्मनो बन्धमोक्षसिद्धयर्थ कथचित्परिणामित्व व्यवस्थापयतीति पातनिकाद्वय मनसि सप्रधार्य सूत्रमिद निरूपयति—

परिणामो सयमादा परिणाम स्वयमात्मा आत्मपरिणामस्तावदात्मैव। कस्मात् ? परिणाम-परिणामिनोस्तन्मयत्वात्। **सा पुण किरियत्ति होदि** सा पुन क्रियेति भवति स च परिणाम क्रिया परिणतिरिति भवति। कथम्भूता ? **जीवमया** जीवेन निर्वृत्तत्वाज्जीवमयी **किरिया कम्म त्ति मदा** जीवेन स्वतन्त्रेण स्वाधिनेन शुद्धाशुद्धोपादानकारणभूतेन प्राप्यत्वात्मा क्रिया कर्मेति मता समता। कर्मशब्देनात्र यदेव चिद्रूप जीवादभिन्न भावकर्मसज्ञ निश्चयकर्म तदेव ग्राह्य। तस्यैव कर्ता जीव **तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता** तस्माद्द्रव्यकर्मणो न कर्तेति। अत्रैतदायाति–यद्यपि कथचित् परिणामित्वे सति जीवस्य कर्तृत्व जात तथापि निश्चयेन स्वकीयपरिणामानामेव कर्ता पुद्गलकर्मणा व्यवहारेणेति। तत्र तु यदा शुद्धोपादानकारणरूपेण शुद्धोपयोगेन परिणमति तदा मोक्ष साधयति, अशुद्धोपादानकारणेन तु बन्धमिति। पुद्गलोऽपि जीववन्निश्चयेन स्वकीयपरिणामानामेव कर्ता जीवपरिणामाना व्यवहारेणेति ॥१२२॥

एव रागादिपरिणामा कर्मबन्धकारण तेषामेव कर्ता जीव इतिकथनमुख्यतया गाथाद्वयेन तृतीयस्थल गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते है कि निश्चय से यह आत्मा अपने ही परिणाम का कर्ता है, द्रव्य कर्मो का कर्ता नही है। अथवा दूसरी उत्थानिका यह है कि शुद्ध पारिणामिक परम भाव को ग्रहण करने वाली शुद्धनय से जैसे यह जीव अकर्ता है वैसे ही अशुद्ध निश्चयनय से भी साख्य मत के कहे अनुसार जीव अकर्ता है। इस बात के निषेध के लिये तथा आत्मा के बन्ध व मोक्ष सिद्ध करने के लिये किसी अपेक्षा परिणामीपना है ऐसा स्थापित करते है। इस तरह दो उत्थानिका मन मे रखकर आगे का सूत्र आचार्य कहते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(परिणामो सयम् आदा) जो परिणाम या भाव है सो स्वय आत्मा है (पुण सा किरिय त्ति होदि) तथा वही परिणाम क्रिया है। (जीवमयी)**

क्योंकि, वह क्रिया जीव के द्वारा की गई है इसलिये जीवमयी है (किरिया कम्मत्ति मदा) तथा जो क्रिया है उसी को जीव का कर्म ऐसा माना है (तम्हा कम्मस्स ण दु कत्ता) इसलिये यह आत्मा द्रव्यकर्म का कर्ता नहीं है।

आत्मा का जो परिणाम होता है वह आत्मा ही है क्योंकि परिणाम और परिणामी तन्मय होते हैं। इस परिणाम को ही क्रिया कहते हैं क्योकि यह परिणाम जीव से उत्पन्न हुआ है। जो क्रिया जीवने स्वाधीनता से शुद्ध या अशुद्ध उपादानकारण रूप से प्राप्त की है वह क्रिया जीव का कर्म है यह सम्मत है। यहा कर्म शब्द से जीव से अभिन्न चैतन्य कर्म को लेना चाहिये। इसी को भावकर्म या निश्चयकर्म भी कहते हैं। इस कारण यह आत्मा द्रव्यकर्मों का कर्ता नहीं है। यहां यह सिद्ध हुआ कि यद्यपि जीव कथंचित् परिणामी है इससे जीव के कर्तापना है तथापि निश्चय से यह जीव अपने परिणामों का ही कर्ता है, व्यवहार मात्र से ही पुद्गल कर्मों का कर्त्ता है। इनमे से भी जब यह जीव शुद्ध उपादान रूप से शुद्धोपयोग रूप से परिणमन करता है तब मोक्ष को साधता है और जब अशुद्ध उपादान रूप से परिणमता है तब बन्ध को साधता है। इसी तरह पुद्गल भी जीव के समान निश्चय से अपने परिणामो का ही कर्ता है। व्यवहार से जीव के परिणामों का कर्त्ता है, ऐसा जानना ॥१२२॥

इस तरह रागादि भाव कर्मबंध के कारण है उन्हीं का कर्त्ता जीव है, इस कथन की मुख्यता से दो गाथाओ मे तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ कि तत्स्वरूपं येनात्मा परिणमतीति तदावेदयति—

परिणमदि चेदणाए आदा पुण चेदणा तिधाभिमदा।
सा पुण णाणे कम्मे फलम्मि वा कम्मणो भणिदा ॥१२३॥

परिणमति चेतनया आत्मा पुन चेतना त्रिधाभिमता।
सा पुन ज्ञाने कर्मणि फले वा कर्मणो भणिता ॥१२३॥

यतो हि नाम चैतन्यमात्मनः स्वधर्मव्यापकत्व, ततश्चेतनैवात्मन. स्वरूपं तया खल्वात्मा परिणमति। यः कश्चनाप्यात्मनः परिणामः स सर्वोऽपि चेतना नातिवर्तत इति तात्पर्यम्। चेतना पुनर्ज्ञानकर्मकर्मफलत्वेन त्रेधा। तत्र ज्ञानपरिणतिर्ज्ञानचेतना, कर्मपरिणतिः कर्मचेतना, कर्मफलपरिणति. कर्मफलचेतना ॥१२३॥

भूमिका—अब, यह कहते हैं कि वह कौन सा स्वरूप है जिसरूप आत्मा परिणमित होती है ?—

अन्वयार्थ—[आत्मा] आत्मा [चेतनया] चेतनारूप से [परिणमति] परिणमित होता है। [पुन] और [चेतना] चेतना [त्रिधा अभिमता] तीन प्रकार की मानी गई है, [पुन] और [सा] वह [ज्ञाने] ज्ञान सम्बन्धी, [कर्मणि] कर्मसम्बन्धी [वा] अथवा [कर्मण फले] कर्मफल सम्बन्धी [भणिता] कही गई है।

टीका—**क्योंकि चैतन्य आत्मा का स्वधर्मव्यापक[1] है, इसलिये चेतना ही आत्मा का स्वरूप है, उस रूप (चेतनारूप) वास्तव मे आत्मा परिणमित होती है। आत्मा का जो कुछ भी परिणाम हो वह सब ही चेतना का उल्लघन नहीं करता, (अर्थात् आत्मा का कोई भी परिणाम चेतना को किंचित्मात्र भी नही छोडता—बिना चेतना के बिल्कुल नहीं होता)—यह तात्पर्य है और चेतना ज्ञानरूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप से तीन प्रकार की है। उसमे ज्ञानपरिणति ज्ञानचेतना, कर्म परिणति कर्मचेतना और कर्मफलपरिणति कर्मफलचेतना है ॥१२३॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ येन परिणामेनात्मा परिणमति त परिणाम कथयति—

परिणमदि चेदणाए आदा परिणमति चेतनया करणभूतया। स क ? आत्मा। य कोऽप्यात्मन शुद्धाशुद्धपरिणाम स सर्वोऽपि चेतना न त्यजति इत्यभिप्राय। **पुण चेदणा तिधाभिमदा सा** चेतना पुनस्त्रिधाभिमता। कुत्र कुत्र ? **णाणे** ज्ञानविषये **कम्मे** कर्मविषये **फलम्मि वा** फले वा। कस्य फले ? **कम्मणो** कर्मण **भणिदा** भणिता कथितेति। ज्ञानपरिणति ज्ञानचेतना अग्रेवक्ष्यमाणा, कर्मपरिणति कर्मचेतना कर्मफलपरिणति कर्मफलचेतनेति भावार्थ ॥१२३॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जिस परिणाम से आत्मा परिणमन करता है, वह परिणाम क्या है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(आदा) आत्मा (चेदणाए) चेतना के स्वभाव रूप से (परिणमदि) परिणमन करता है (पुण) तथा (चेदणा तिधा अभिमदा) वह चेतना तीन प्रकार मानी गई है। (पुण) अर्थात् (सा) वह चेतना (णाणे) ज्ञान के सम्बन्ध मे (कम्मे) कर्म या कार्य के सम्बन्ध मे (वा कम्मणो फलम्मि) तथा कर्मो के फल मे (भणिदा) कही गई है। हर एक आत्मा चेतना से परिणमन करता रहता है अर्थात् जो कोई भी आत्मा का शुद्ध या अशुद्ध परिणाम है वह सर्व ही परिणाम चेतना को नहीं छोडता है। वह चेतना जब ज्ञान को विषय करती है अर्थात् ज्ञान की परिणति मे वर्तन करती है तब उसको ज्ञान चेतना कहते हैं। जब वह चेतना किसी कर्म के करने मे उपयुक्त है तब उसे कर्म चेतना और जब वह कर्मों के फल की तरफ परिणमन कर रही है तब उसको कर्मफल चेतना कहते हैं। इस तरह चेतना तीन प्रकार की होती है ॥१२३॥**

१ स्वधर्मव्यापकत्व—निजधर्मो मे व्यापकपना।

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलस्वरूपमुपवर्णयति—

णाणं अट्ठवियप्पो[1] कम्मं जीवेण जं समारद्धं ।
तमणेगविधं[2] भणिदं[3] फलं त्ति सोक्खं व दुक्खं वा ॥१२४॥

ज्ञानमर्थविकल्प कर्म जीवेन यत्समारब्धम् ।
तदनेकविध भणित फलमिति सौख्य वा दु ख वा ॥१२४॥

अर्थविल्कपस्तावत् ज्ञानम् । तत्र कः खल्वर्थः, ? स्वपरविभागेनावस्थितं विश्वं, विकल्पस्तदाकारावभासनम् । यस्तु मुकुरुन्दहृदयाभोग इव युगपदवभासमानस्वपराकारोऽर्थविकल्पस्तद् ज्ञानम् । क्रियमाणमात्मना कर्म, क्रियमाण. खल्वात्मा प्रतिक्षणं तेन तेन भावेन भवता यः तद्भाव स एव कर्मात्मना प्राप्यत्वात् । तत्त्वेकविधमपि द्रव्यकर्मोपाधिसन्निधिसद्भावासद्भावाभ्यामनेकविधम् । तस्य कर्मणो यन्निष्पाद्य सुखदुःखं तत्कर्मफलम् । तत्र यद्द्रव्यकर्मोपाधिसान्निध्यासद्भावात्कर्म तस्य फलमनाकुलत्वलक्षणं प्रकृतिभूतं सौख्य, यत्तु द्रव्यकर्मोपाधिसान्निध्यसद्भावात्कर्म तस्य फल सौख्यलक्षणाभावाद्विकृति भूत दुःखम् । एव ज्ञानकर्मकर्मफलस्वरूपनिश्चय· ॥१२४॥

भूमिका—**अब ज्ञान, कर्म और कर्म फल का स्वरूप वर्णन करते है—**

अन्वयार्थ—[अर्थविकल्प] अर्थ विकल्प (अर्थात् स्व-पर पदार्थो का भिन्नता पूर्वक युगपत् अवभासन) [ज्ञान] ज्ञान है, [जीवेन] जीव के द्वारा [यत् समारब्ध] जो किया जा रहा हो वह [कर्म] कर्म है, [तत् अनेकविध] वह कर्म अनेक प्रकार का है, [सौख्य वा दु ख वा] सुख अथवा दु ख [फल इति भणितम्] कर्मफल कहा गया है ।

टीका—**प्रथम तो, अर्थविकल्प ज्ञान है । वहाँ, अर्थ क्या है ? स्व-परके विभागपूर्वक अवस्थित विश्व अर्थ (समस्त पदार्थ) है । उसके आकारो का अवभासन (प्रकाशित होना) विकल्प है । और दर्पण के निज विस्तार की भाँति (अर्थात् जैसे दर्पण के निज विस्तार मे स्व और पर आकार एक ही साथ प्रकाशित होते है; उसी प्रकार) जिसमे एक ही साथ स्व-परा-कार अवभासित होते है, ऐसा अर्थ-विकल्प ज्ञान है । जो आत्मा के द्वारा किया जाता है वह कर्म है । क्रिया करती हुई आत्मा वास्तव मे प्रतिक्षण उन-उन भावरूप होती है । जो वह भाव है वही, आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से, कर्म है । वह (कर्म) एक प्रकार का होने पर भी द्रव्यकर्मरूप उपाधि की निकटता के सद्भाव और असद्भाव के कारण अनेक प्रकार का है ।**

---

१ अट्ठवियप्प (ज० वृ०) । २ तमणेगविह (ज० वृ०) । ३ भणिय (ज० वृ०) ।

अब कर्म से उत्पन्न किया जाने वाला सुख-दुःख कर्मफल है। वहां, द्रव्य कर्मरूप उपाधि की निकटता के असद्भाव के कारण जो कर्म होता है, उसका फल अनाकुलत्व-लक्षण प्रकृति (स्वभाव) भूत-सुख है, और द्रव्यकर्म रूप उपाधि की निकटता के सद्भाव के कारण जो कर्म होता है, उसका फल विकृति-(विकार) भूत दु.ख है, क्योंकि वहां सुख के लक्षण का अभाव है।

इस प्रकार ज्ञान, कर्म और कर्मफल के स्वरूप निश्चित हुये ॥१२४॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलरूपेण त्रिधा चेतना विशेषेण विचारयति—

णाण अट्ठवियप्प ज्ञान मत्यादिभेदेनाष्टविकल्प भवति। अथवा पाठान्तर **णाण अट्ठवियप्पो** ज्ञानमर्थविकल्प तथाह्यर्थ परमात्मादिपदार्थ अनन्तज्ञानसुखादिरूपोऽहमिति, रागाद्यास्रवास्तु मत्तो भिन्ना इति स्वपराकारावभासेनादर्श इवार्थपरिच्छित्तिसमर्थो विकल्प विकल्पलक्षणमुच्यते। स एव ज्ञान ज्ञानचेतनेति। **कम्म जीवेण ज समारद्ध** कर्म जीवेन यत्समारब्ध बुद्धिपूर्वकमनोवचनकायव्या-पाररूपेण जीवेन यत्सम्यक्कर्तुमारब्ध तत्कर्म भण्यते। सैव कर्मचेतनेति **तमणेगविह भणिय** तच्च कर्म शुभाशुभशुद्धोपयोगभेदेनानेकविध त्रिविध भणितमिदानी फलचेतना कथ्यते—**फलति सोक्ख व दु ख वा** फलमिति सुख व दु ख वा विषयानुरागरूप यदशुभोपयोगलक्षण कर्म तस्य फलमाकुलत्वोत्पादक नारकादिदु ख, यच्च धर्मानुरागरूप शुभोपयोगलक्षण कर्म तस्य फल चक्रवर्त्यादिपञ्चेन्द्रियभो-गानुभवरूप, तच्चाशुद्धनिश्चयेन सुखमप्याकुलोत्पादकत्वात् शुद्धनिश्चयेन दु खमेव। यच्च रागादि-विकल्परहितशुद्धोपयोगपरिणतिरूप कर्म तस्य फलमनाकुलत्वोत्पादक परमानन्दैकरूपसुखामृतमिति। एव ज्ञानकर्म्मकर्म्मफलचेतनास्वरूप ज्ञातव्यम् ॥१२४॥

उत्थानिका—आगे चेतना के तीन प्रकार ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफल-चेतना के स्वरूप का विशेष विचार करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(णाण अट्ठवियप्प) ज्ञान मति आदि के भेद से आठ प्रकार का है। अथवा (अट्ठवियप्पो) पदार्थों के जानने मे समर्थ जो विकल्प है (णाण) वह ज्ञान या ज्ञान चेतना है। (जीवेण ज समारद्ध कम्म) जीव के द्वारा जो प्रारम्भ किया हुआ कर्म है (तमणेगविहं भणियं) वह अनेक प्रकार का कहा गया है इस कर्म की चेतना सो कर्म चेतना है (वा सोक्ख व दुक्खं फलत्ति) तथा सुख या दुःख रूप फल मे चेतना सो कर्मफल चेतना है। ज्ञान को अर्थ का विकल्प कहते हैं—जिसका प्रयोजन यह है कि ज्ञान अपने और परके आकार को झलकाने वाले दर्पण के समान स्व-पर पदार्थों को जानने में समर्थ है। वह ज्ञान इस तरह जानता है कि अनन्तज्ञान सुखादि रूप मे परमात्मा पदार्थ हूं तथा रागादि आस्रव को आदि लेकर सर्व पुद्गलादि द्रव्य मुझसे भिन्न हैं। इसी**

अर्थ विकल्प को ज्ञानचेतना कहते हैं। इस जीव ने अपनी बुद्धिपूर्वक मन वचन काय के व्यापार रूप से जो कुछ करना प्रारम्भ किया हो उसको कर्म कहते हैं। यही कर्मचेतना है। सो कर्मचेतना शुभोपयोग, अशुभोपयोग और शुद्धोपयोग के भेद से तीन प्रकार की कही गई। सुख तथा दुःख को कर्म का फल कहते हैं उसको अनुभव करना सो कर्मफल-चेतना है। विषयानुराग रूप जो अशुभोपयोग लक्षण कर्म है उसका फल अति आकुलता को पैदा करने वाला नारक आदि का दुःख है। धर्मानुराग रूप जो शुभोपयोग लक्षण कर्म है उसका फल चक्रवर्ती आदि पचेन्द्रियों के भोगों का भोगना है। यद्यपि इसको अशुद्धनिश्चयनय से सुख कहते हैं तथापि यह आकुलता को उत्पन्न करने वाला होने से शुद्धनिश्चयनय से दुःख ही है। और जो रागादि रहित शुद्धोपयोग मे परिणमन रूप कर्म है उसका फल अनाकुलता को पैदा करने वाला परमानन्दमयी एक रूप सुखामृत का स्वाद है। इस तरह ज्ञानचेतना, कर्मचेतना और कर्मफलचेतना स्वरूप जानना चाहिये ॥१२४॥

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलान्यात्मत्वेन निश्चिनोति—

अप्पा परिणामप्पा परिणामो णाणकम्मफलभावी।
तम्हा णाणं कम्मं फलं च आदा मुणेदव्वो ॥१२५॥

आत्मा परिणामात्मा परिणामो ज्ञानकर्मफलभावी।
तस्मात् ज्ञान कर्म फल चात्मा ज्ञातव्य ॥१२५॥

आत्मा हि तावत्परिणामात्मैव, परिणामः स्वयमात्मेति स्वयमुक्तत्वात्। परिणामस्तु चेतनात्मकत्वेन ज्ञानं .र्म कर्मफलं वा भवितु शीलः, तन्मयत्वाच्चेतनायाः। ततो ज्ञान कर्म कर्मफल चात्मैव। एवं हि शुद्धद्रव्यनिरूपणायां परद्रव्यसंपर्कासंभवात्पर्यायाणा द्रव्यान्तःप्रलयाच्च शुद्धद्रव्य एवात्मावतिष्ठते ॥१२५॥

भूमिका—अब ज्ञान, कर्म और कर्मफल को आत्मा रूप से निश्चित करते हैं—

अन्वयार्थ—[आत्मा परिणामात्मा] आत्मा परिणाम स्वभाव वाली है, [परिणाम] परिणाम [ज्ञानकर्मफलभावी] ज्ञान रूप, कर्मरूप और कर्मफलरूप होता है, [तस्मात्] इसलिये [ज्ञान, कर्म, फल च] ज्ञान, कर्म और कर्मफल [आत्मा ज्ञातव्य] आत्म-स्वरूप समझने चाहिये।

टीका—प्रथम तो आत्मा वास्तव मे परिणाम स्वरूप ही है, क्योंकि 'परिणाम स्वयं आत्मा है, ऐसा (१२२ वीं गाथा मे भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य देव ने) स्वयं कहा है। परिणाम तो चेतना स्वरूप होने से ज्ञान, कर्म और कर्मफल रूप होने के स्वभाव वाला

है, क्योंकि चेतना तन्मय (ज्ञानमय, कर्ममय अथवा कर्मफलमय) होती है। इसलिये ज्ञान, कर्म और कर्मफल आत्मा ही है। इसी प्रकार वास्तव मे शुद्ध द्रव्य के निरूपण मे, परद्रव्य के सम्पर्क (सम्बन्ध) का असम्भव होने से और पर्यायों का द्रव्य के भीतर प्रलीन (लोप) हो जाने से, आत्मा शुद्ध द्रव्य ही रहता है ॥१२५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ ज्ञानकर्मकर्मफलान्यभेदनयेनात्मैव भवतीति प्रज्ञापयति—

अप्पा परिणामप्पा आत्मा भवति ? कथम्भूत ? परिणामात्मा परिणामस्वभाव । कस्मादिति चेत् ? "परिणामो सयमादा" इति पूर्वं स्वयमेव भणितत्वात् । परिणाम कथ्यते **परिणामो णाणकम्मफलभावी** परिणामो भवति । किंविशिष्ट ? ज्ञानकर्म्मकर्मफलभावी ज्ञानकर्मकर्मफलरूपेण भवित शील इत्यर्थ **तम्हा** तस्मादेव तस्मात्कारणात् **णाण** पूर्वसूत्रोक्ता ज्ञानचेतना **कम्म** तत्रैवोक्तलक्षणा कर्मचेतना **फल च** पूर्वोक्तलक्षण कर्म फलचेतना च । **आदा मुणेदव्वो** इय चेतना त्रिविधाप्यभेदनयेनात्मैव मन्तव्यो ज्ञातव्य इति । एतावता किमुक्त भवति । त्रिविधचेतनापरिणामेन परिणामी सन्नात्मा । कि करोति ? निश्चयरत्नत्रयात्मकशुद्धपरिणामेन मोक्ष साधयति, शुभाशुभाभ्या पुनर्बन्धमपि ॥१२५॥

एव त्रिविधचेतनाकथनमुख्यतया गाथात्रयेण चतुर्थस्थलम् गतम् ।

उत्थानिका—आगे कहते है कि यह आत्मा ही अभेदनय से ज्ञानचेतना, कर्मचेतना तथा कर्मफलचेतना रूप हो जाता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अप्पा परिणामप्पा) आत्मा परिणाम-स्वभावी है। (परिणामो णाणकम्मफलभावी) परिणाम ज्ञानरूप कर्म्मरूप व कर्म्मफल रूप हो जाता है (तम्हा) इसलिये (आदा) आत्मा (णाणं कम्म च फल) ज्ञानरूप कर्मरूप व कर्म-फलरूप (मुणेदव्वो) जानना चाहिये। आत्मा परिणमन स्वभाव है, यह बात तो पहले ही "परिणामो सयमादा" इस गाथा मे कही जा चुकी है। उसी परिणमन स्वभाव मे यह शक्ति है कि आत्मा का भाव ज्ञानचेतना रूप, कर्मचेतना रूप व कर्मफलचेतना रूप हो जावे। इसलिये ज्ञान, कर्म, कर्मफलचेतना इन तीन प्रकार चेतना रूप अभेदनय से आत्मा को ही जानना चाहिये। इस कथन से यह अभिप्राय प्रगट किया गया है कि यह आत्मा तीन प्रकार चेतना के परिणामों से परिणमन करता हुआ निश्चयरत्नत्रयमयी शुद्ध परिणाम से मोक्ष का साधन करता है। तथा शुभ और अशुभ परिणामों से बन्ध को साधता है ॥१२५॥**

इस तरह तीन प्रकार चेतना के कथन की मुख्यता से चौथा स्थल पूर्ण हुआ।

अथैवमात्मनो ज्ञेयतामापन्नस्य शुद्धत्वनिश्चयात् ज्ञानतत्त्वसिद्धौ शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भो भवतीति तमभिनन्दन् द्रव्यसामान्यवर्णनामुपसंहरति—

कत्ता करणं कम्मं फलं च अप्प त्ति णिच्छिदो समणो।
परिणमदि णेव अण्णं जदि अप्पाणं लहदि सुद्धं ॥१२६॥

कर्ता करण कर्म कर्मफल चात्मेति निश्चित श्रमण ।
परिणमति नैवान्यद्यदि आत्मान लभते शुद्धम् ॥१२६॥

यो हि नामैव कर्तारं करण कर्म कर्मफल चात्मानमेव निश्चित्य न खलु परद्रव्यं परिणमति स एव विश्रान्तपरद्रव्यसपर्कं द्रव्यान्त प्रलीनपर्यायं च शुद्धमात्मानमुपलभते, न पुनरन्यः। तथाहि—यदा नामानादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसनिधिप्रधावितोपरागरजितात्मवृत्तिर्जपापुष्पसनिधिप्रधावितोपरागरजितात्मवृत्तिः स्फटिकमणिरिव परारोपितविकारोऽहमास ससारी तदापि न नाम मम कोऽप्यासीत्, तदाप्यहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन स्वतन्त्रः कर्तासम्, अहमेक एवोपरक्तचित्स्वभावेन साधकतमः करणमासम्, अहमेक एवोपरक्तचित्परिणमनस्वभावेनात्मना प्राप्यः कर्मासम्, अहमेक एव चोपरक्त चित्परिणमनस्वभावस्य निष्पाद्य सौख्य विपर्यस्तलक्षणं दुःखाख्य कर्मफलमासम्। इदानीं पुनरनादिप्रसिद्धपौद्गलिककर्मबन्धनोपाधिसन्निधिध्वंसविस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिर्जपापुष्पसनिधिध्वसविस्फुरितसुविशुद्धसहजात्मवृत्तिः स्फटिकमणिरिव विश्रान्तपरारोपितविकारोऽहमेकान्तेनास्मि मुमुक्षुः, इदानीमपि न नाम मम कोऽप्यस्ति, इदानीमप्यहमेक एव सुविशुद्धचित्स्वभावेन स्वतन्त्र. कर्तास्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्स्वभावेन साधकतमः करणमस्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणमनस्वभावेनात्मना प्राप्य· कर्मास्मि, अहमेक एव च सुविशुद्धचित्परिणमनस्वभावस्य निष्पाद्यमनाकुलत्वलक्षण सौख्याख्यं कर्मफलमस्मि। एवमस्य बन्धपद्धतौ मोक्षपद्धतौ चात्मानमेकमेव भावयतः परमाणोरिवैकत्वभावनोन्मुखस्य परद्रव्यपरिणतिर्न जातु जायते। परमाणुरिवभावितैकत्वश्च परेण नो संपृच्यते। ततः परद्रव्यासंपृक्तत्वात्सुविशुद्धो भवति। कर्तृकरणकर्मकर्मफलानि चात्मत्वेन भावयन् पर्यायैर्न संकीर्यते ततः पर्यायासंकीर्णत्वाच्च सुविशुद्धो भवतीति ॥१२६॥

भूमिका—अब, इस प्रकार ज्ञेयत्व को प्राप्त आत्मा के, शुद्धता के निश्चय से, ज्ञान तत्व की सिद्धि होने से पर शुद्ध आत्म तत्त्व की उपलब्धि (प्राप्ति) होती है, इस प्रकार उसका अभिनन्दन करते हुये (अर्थात् आत्मा की शुद्धता के निर्णय की प्रशंसा करते हुये) द्रव्य सामान्य के वर्णन का उपसंहार करते है—

अन्वयार्थ—[कर्त्ता करण कर्म कर्मफल च आत्मा] 'कर्ता-करण-कर्म-कर्मफल आत्मा है' [इति निश्चित] ऐसा निश्चय करता हुआ [श्रमण] मुनि [यदि] यदि [अन्यत्] अन्यरूप [न एव परिणमति] नही हो तो वह [शुद्ध आत्मान] शुद्ध आत्मा को [लभते] प्राप्त करता है ।

टीका—**जो पुरुष इस प्रकार 'कर्ता-करण-कर्म-कर्मफल आत्मा ही है' यह निश्चय करके वास्तव में परद्रव्य रूप परिणमित नहीं होता, जिसका परद्रव्य के साथ संपर्क रुक गया है, और जिसकी पर्यायें द्रव्य के भीतर प्रलीन हो गई है ऐसा वही पुरुष शुद्धात्मा को प्राप्त करता है, अन्य कोई नहीं ।**

इसी को स्पष्टतया समझाते है—"जब अनादिसिद्ध पौद्गलिककर्म की बंधनरूप उपाधि की निकटता से उत्पन्न हुये उपराग (उपाधि के अनुरूप विकारी भाव) के द्वारा जिसकी स्वपरिणति रंजित (विकृत) थी, ऐसा मै—जपाकुसुम की निकटता से उत्पन्न हुये उपराग (लालिमा) से जिसकी स्वपरिणति रंजित (रगी हुई) हो ऐसे स्फटिक मणिकी भांति-परके द्वारा आरोपित विकार—वाला होने से संसारी (अज्ञानी) था, तब भी (अज्ञान दशा मे भी) वास्तव में मेरा कोई भी (सबंधी) नहीं था । तब भी मै अकेला ही कर्ता था, क्योंकि में अकेला ही उपरक्त (विकृत) चैतन्यरूप स्वभाव से स्वतन्त्र था (अर्थात् स्वाधीन-तया कर्ता था), मैं अकेला ही करण था, क्योकि मै अकेला ही उपरक्त चैतन्यरूप स्वभाव के द्वारा साधकतम (उत्कृष्टसाधन) था, मै अकेला ही उपरक्त चैतन्य रूप परिणमित होने के स्वभाव के कारण, आत्मा से प्राप्य था और मै अकेला ही उपरक्त चैतन्य परिणामरूप स्वभाव से निष्पन्न तथा सुख से विपरीत लक्षण वाला 'दुःख' नामक कर्मफल रूप था । अब, जपाकुसुम की निकटता के नाश से जिसकी सुविशुद्ध सहज स्वपरिणति प्रगट हुई हो, ऐसी स्फटिकमणिकी भांति—अनादिसिद्ध पौद्गलिक कर्म की बन्धनरूप उपाधि की निकटता के नाश से जिसकी सुविशुद्ध साहजिक (स्वाभाविक) स्वपरिणति प्रगट हुई है तथा जिसका पर के द्वारा आरोपित विकार रुक गया है, ऐसा मै एकान्ततः मुमुक्षु (केवल मोक्षार्थी) हूं, अब भी (मुमुक्षु दशा में—ज्ञान दशा मे भी) वास्तव मे मेरा कोई भी नहीं है । अब भी मै अकेला ही कर्ता हूं, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्य रूप स्वभाव से स्वतन्त्र हूं, अर्थात् स्वाधीनतया कर्ता हूं), मै अकेला ही करण हूं, क्योंकि मैं अकेला ही सुविशुद्धचैतन्य रूप स्वभाव से साधकतम हूं, मे अकेला ही कर्म हूं, क्योंकि मै अकेला ही सुविशुद्ध चैतन्य

परिणमित होने के स्वभाव के कारण आत्मा से प्राप्य हूँ और मै अकेला ही विशुद्ध चैतन्य परिणामरूप स्वभाव से निष्पन्न तथा अनाकुलता लक्षण वाला, 'सुख' नामक कर्मफल हूँ।

इस प्रकार बंधमार्ग में तथा मोक्षमार्ग मे आत्मा अकेला ही है, इस प्रकार चिन्तन करने वाले तथा परमाणु की भाति एकत्व की भावना के उन्मुख पुरुष के परद्रव्य रूप परिणति—किंचित् भी नहीं होती। परमाणु की भांति एकत्व को समझने वाला पुरुष परके साथ संबद्ध नहीं होता। इसलिये परद्रव्य के साथ असबद्धता के कारण वह सुविशुद्ध होता है। कर्ता, करण, कर्म तथा कर्मफल को आत्मारूप से (अभेददृष्टि से) जानता हुआ, वह पुरुष पर्यायों से सकीर्ण (खडित) नहीं होता इसलिये—पर्यायों के द्वारा सकीर्ण न होने से वह सुविशुद्ध होता है ॥१२६॥

उक्त आशय को प्रगट करने हेतु काव्य लिखते है—

द्रव्यान्तरव्यतिकरादपसारितात्मा, सामान्यमज्जितसमस्तविशेषजातः।
इत्येष शुद्धनय उद्धतमोहलक्ष्मी-लुण्टाकउत्कटविवेकविविक्ततत्त्वः ॥७॥

अर्थ—जिसने आत्मा को अन्य द्रव्य से भिन्नता के द्वारा हटा लिया है तथा जिसने समस्त विशेषो के समुदाय को सामान्य मे अन्तर्भूत किया है। ऐसा जो यह उद्धत मोह की लक्ष्मी को लूट लेने वाला शुद्धनय है, उसने उत्कृष्ट विवेक (प्रशस्तज्ञान) के द्वारा आत्मस्वरूप को प्राप्त किया है ॥७॥

इत्युच्छेदात्परपरिणते कर्तृकर्मादिभेद-भ्रान्तिध्वंसादपि च सुचिराल्लब्धशुद्धात्मतत्त्वः।
सञ्चिन्मात्रे महसि विशदे मूर्च्छितश्चेतनोऽय, स्थास्यत्युद्यत्सहजमहिमा सर्वदा मुक्त एव ॥८॥

अर्थ—इस प्रकार पर परिणति के उच्छेद से और कर्त्ता कर्म आदि भेदों की भ्रान्ति के ध्वंस से भी जिसने बहुत लम्बे समय से शुद्धात्मतत्त्व को प्राप्त किया है ऐसा यह आत्मा चैतन्य मात्र स्वरूप निर्मल (पूर्ण विशुद्ध) तेज मे लीन होता हुआ अपनी सहज महिमा के प्रकाश से प्रकाशित हमेशा मुक्त ही रहेगी ॥८॥

अब द्रव्य विशेष के वर्णन की सूचनार्थ काव्य लिखते हैं—

द्रव्यसामान्यविज्ञाननिम्न कृत्वेति मानसम्।
तद्विशेषपरिज्ञानप्राग्भार. क्रियतेऽधुना ॥९॥

इस प्रकार द्रव्यसामान्य का विशेषज्ञान मानस मे उतारकर, अब द्रव्य विशेष के परिज्ञान (विस्तृत ज्ञान) का प्रारम्भ किया जाता है।

इति प्रवचनसारवृत्तौ तत्त्वदीपिकायां श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि विरचितायां ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापने द्रव्यसामान्यप्रज्ञापनम् समाप्तम्।

इस प्रकार श्रीमद् अमृतचन्द्रसूरि विरचित प्रवचनसार की तत्त्वदीपिकावृत्ति का ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापन मे द्रव्यसामान्य कथन अधिकार समाप्त हुआ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ सामान्यज्ञेयाधिकारसमाप्तौ पूर्वोक्तभेदभावनाया शुद्धात्मप्राप्तिरूप फल दर्शयति,—

कत्ता स्वतन्त्र स्वाधीन कर्ता साधको निष्पादकोऽस्मि भवामि। स क ? **अप्प त्ति** आत्मेति। आत्मेति कोऽर्थ ? अहमिति। कथम्भूत ? एक। कस्या साधक ? निर्मलात्मानुभूते। किविशिष्ट ? निर्विकारपरमचैतन्यपरिणामेन परिणत सन् **करणं** अतिशयेन साधक साधकतम करणमुपकरण करणकारकमहमेक एवास्मि भवामि। कस्या साधक ? सहजशुद्धपरमात्मानुभूते। केन कृत्वा ? रागादिविकल्परहितस्वसवेदनज्ञानपरिणतिबलेन **कम्म** शुद्धबुद्धैकस्वभावेन परमात्मना प्राप्य व्याप्यमहमेक एव कर्मकारकमस्मि। फल च शुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मन साध्य निष्पाद्य निज-शुद्धात्मरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिरूपाभेदरत्नत्रयात्मकपरमसमाधिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादपरिण-तिरूपमहमेक एव फल चास्मि **णिच्छिदो** एवमुक्तप्रकारेण निश्चितमति सन् **समणो** सुखदु खजीवित-मरणशत्रुमित्रादिसमताभावनापरिणत श्रमण परममुनि **परिणमदि णेव अण्ण जदि** परिणमति नैवान्य रागादिपरिणाम यदिचेत् ? **अप्पाण लहदि सुद्धम्** तदात्मान भावकर्मद्रव्यकर्मरहितत्वेन शुद्ध शुद्धबुद्धैक-स्वभाव लभते प्राप्नोति इत्यभिप्रायो भगवता श्रीकुन्दकुन्दाचार्यदेवानाम् ॥१२६॥

उत्थानिका—आगे सामान्य ज्ञेय अधिकार की समाप्ति करते हुए पहले कही हुई भेदज्ञान की भावना का फल शुद्धात्मा की प्राप्ति है, ऐसा दिखलाते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(कत्ता, करण, कम्मफल च अप्प त्ति) कर्त्ता, करण, कर्म तथा फल आत्मा ही है, ऐसा (णिच्छिदो) निश्चय करने वाला (समणो) श्रमण या मुनि (जदि) यदि (अण्ण) अन्य रूप (णेव परिणमदि) नहीं परिणमन करता है तो (सुद्ध अप्पाण लहदि) शुद्ध आत्मीक स्वरूप को पाता है।**

मै एक आत्मा ही स्वाधीन होकर अपनी निर्मल आत्मानुभूति का अपने विकार-रहित परम-चैतन्य के परिणाम से परिणमन करता हुआ साधन करने वाला हूँ। इससे मै ही कर्ता हूँ तथा मै ही रागादि विकल्पो से रहित अपनी स्वसवेदनज्ञान की परिणति के बल से सहज शुद्ध परमात्मा की अनुभूति का साधकतम हूँ, अर्थात् अवश्य साधने वाला हूँ इसलिये मै ही करण स्वरूप हूँ इसलिये मै ही शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप परमात्मा के स्वरूप से प्राप्ति योग्य हूँ इसलिये मै ही कर्म हूँ तथा मै ही शुद्ध ज्ञान-दर्शन-स्वभावरूप परमात्मा से साधने योग्य अपने ही शुद्धात्मा की रुचि, व उसी का ज्ञान व उसी मे निश्चल अनुभूति रूप अभेद रत्नत्रयमयी परमसमाधि से पैदा होने वाले सुखामृत रस के आस्वाद मे परिण-मन रूप हूँ, इससे मै ही फलरूप हूँ। इस तरह निश्चयनय से बुद्धि को रखने वाला परम मुनि जो सुख-दु ख, जन्म-मरण, शत्रु-मित्र आदि मे समता की भावना से परिणमन कर

रहा है यदि अपने से अन्य रागादि परिणामों मे नहीं परिणमन करता है तो भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से रहित शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप आत्मा को प्राप्त करता है। ऐसा अभिप्राय भगवान् श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव का है ॥१२६॥

तात्पर्यवृत्ति

एवमेकसूत्रेण पञ्चमस्थल गतम्। इति सामान्यज्ञेयाधिकारमध्ये स्थलपचकेन भेदभावना गता। इत्युक्तप्रकारेण **तम्हा तस्स णमाइ** इत्यादि पचत्रिंशत्सूत्रै सामान्यज्ञेयाधिकार व्याख्यान समाप्तम्।

इत ऊर्ध्वमेकोनविशतिगाथाभिर्जीवाजीवद्रव्यादिविवरणरूपेण विशेषज्ञेयव्याख्यान करोति। तत्राष्टस्थालानि भवन्ति। तेष्वादौ जीवाजीवत्वकथनेन प्रथमगाथा, लोकालोकत्वकथनेन द्वितीया, सक्रियनि क्रियत्वव्याख्यानेन तृतीया चेति। **दव्व जीवमजीव** इत्यादिगाथात्रयेण प्रथमस्थल, तदनन्तर ज्ञानादिविशेषगुणाना स्वरूपकथनेन **लिगेहि जेहि** इत्यादिगाथाद्वयेन द्वितीयस्थलम। अथानन्तर स्वकीय-स्वकीयविशेषगुणोपलक्षितद्रव्याणा निर्णयार्थ **वण्णरस** इत्यादिगाथात्रयेण तृतीयस्थलम्। अथ पचास्तिकायकथनमुख्यत्वेन **जीवा पोग्गलकाया** इत्यादिगाथाद्वयेन चतुर्थस्थलम्। अत पर द्रव्याणा लोकाकाशमाधार इति कथनेन प्रथमा, यदेवाकाशद्रव्यस्य प्रदेशलक्षण तदेव शेषाणामिति कथनरूपेण द्वितीया चेति, **लोयालोयेसु** इत्यादिसूत्रद्वयेन पचमस्थलम्। तदनन्तर कालद्रव्यस्याप्रदेशत्वस्थापनरूपेण प्रथमा, समयरूप पर्यायकाल कालाणुरूपो द्रव्यकाल इति कथनरूपेण द्वितीया चेति **समओ दु अप्पदेसो** इत्यादिगाथाद्वयेन षाठस्थलम्। अथ प्रदेशलक्षणकथनेन प्रथमा, तदनन्तर तिर्यक्प्रचयोर्ध्वप्रचयस्वरूपकथनेन द्वितीया चेति, **आयासमणुणिविट्ठ** इत्यादिसूत्रद्वयेन सप्तमस्थलम्। तदनन्तर कालाणुरूपद्रव्यकालस्थापनरूपेण **उप्पादो पद्धसो** इत्यादिगाथात्रयेणाष्टमस्थलमिति विशेषज्ञेयाधिकारे समुदायपातनिका।

समुदायपातनिका—इस तरह एक सूत्र से पाँचवा स्थल पूर्ण हुआ इस तरह सामान्य ज्ञेय के अधिकार के मध्य मे पाँच स्थलो से भेद भावना कही गई। ऊपर कहे प्रमाण "तम्हा तस्स णमाइ" इत्यादि पैंतीस सूत्रो के द्वारा सामान्य ज्ञेयाधिकार का व्याख्यान पूर्ण हुआ।

आगे उन्नीस गाथाओ से जीव अजीव द्रव्यादि का विवरण करते हुए विशेष ज्ञेय का व्याख्यान करते है। इसमे आठ स्थल है। इन आठ मे से पहले स्थल मे प्रथम ही जीवत्व व अजीवत्व को कहते हुए पहली गाथा, लोक और अलोकपने को कहते हुए दूसरी, सक्रिय और नि क्रियपने का व्याख्यान करते हुए तीसरी, इसी तरह "दव्व जीवमजीव" इत्यादि तीन गाथाओ से पहला स्थल है। इसके पीछे ज्ञान आदि विशेष गुणो का स्वरूप कहते हुए "लिगेहि जेहि' इत्यादि दो गाथाओ पर दूसरा स्थल है। आगे अपने-अपने गुणो से द्रव्य पहचाने जाते है इसके निर्णय के लिये "वण्णरस" इत्यादि तीन गाथाओ से तीसरा स्थल है आगे पचास्तिकाय के कथन की मुख्यता से "जोवा पोग्गल काया" इत्यादि दो गाथाओ से चौथा स्थल है। इसके पीछे द्रव्यो का आधार लोकाकाश है ऐसा कहते हुये पहली, जैसा आकाश द्रव्य का प्रदेश लक्षण है वैसा ही शेष द्रव्यो का है ऐसा कहते हुए

दूसरी, इस तरह "लोयालोयेसु" इत्यादि दो सूत्रो से पाचवा स्थल है। इसके पीछे काल द्रव्य को अप्रदेशी स्थापित करते हुये पहली, समयरूप पर्यायकाल है कालाणुरूप द्रव्यकाल है ऐसा कहते हुए दूसरी, इस तरह "समओ दु अप्पदेसो" इत्यादि दो गाथाओ से छठा स्थल है। आगे प्रदेश का लक्षण कहते हुए पहली, फिर तिर्यक् प्रचय को कहते हुए दूसरी इस तरह "आयासमणुणिविट्ठ" इत्यादि दो सूत्रो से सातवा स्थल है। फिर कालाणु को द्रव्य काल स्थापित करते हुए "उप्पादो पद्धसो" इत्यादि तीन गाथाओ से आठवा स्थल है इस तरह विशेष ज्ञेय के अधिकार मे समुदायपातनिका है।

अथ द्रव्यविशेषप्रज्ञापनं तत्र द्रव्यस्य जीवाजीवत्वविशेष निश्चिनोति—

दव्वं जीवमजीवं जीवो पुण चेदणोवओगमओ।
पोग्गलदव्वप्पमुहं अचेदणं हवदि य[1] अजीवं[2] ॥१२७॥

द्रव्य जीवोऽजीवो जीव पुनश्चेतनोपयोगमय ।
पुद्गलद्रव्यप्रमुखोऽचेतनो भवति चाजीव ॥१२७॥

इह हि द्रव्यमेकत्वनिबन्धनभूतं द्रव्यत्वसामान्यमनुज्झदेव तदधिरूढविशेषलक्षण-सद्भावादन्योन्यव्यवच्छेदेन जीवाजीवत्वविशेषमुपढौकते । तत्र जीवस्यात्मद्रव्यमेवैका व्यक्तिः। अजीवस्य पुनः पुद्गलद्रव्यं धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्यं कालद्रव्यमाकाशद्रव्यं चेति पञ्च व्यक्तयः। विशेषलक्षणं जीवस्य चेतनोपयोगमयत्व, अजीवस्य पुनरचेतनत्वम्। तत्र यत्र स्वधर्मव्यापकत्वात्स्वरूपत्वेन द्योतमानयानपायिन्या भगवत्या संवित्तिरूपया चेतनया तत्परिणामलक्षणेन द्रव्यवृत्तिरूपेणोपयोगेन च निर्वृत्तत्वमवतीर्णं प्रतिभाति स जीव । यत्र पुनरुपयोगसहचरिताया यथोदितलक्षणायाश्चेतनाया अभावाद्बहिरन्तश्चाचेतनत्वमवतीर्णं प्रतिभाति सोऽजीवः ॥१२७॥

भूमिका—**अब, द्रव्यविशेष का प्रज्ञापन करते है, अर्थात् द्रव्यविशेषों को (द्रव्य के भेदों को) बतलाते हैं। उसमे (प्रथम) द्रव्य के जीवाजीवत्वरूप विशेष का निश्चय करते है, (अर्थात् द्रव्य के जीव और अजीव दो भेद बतलाते है)—**

अन्वयार्थ—[द्रव्यं] द्रव्य [जीव. अजीव] जीव और अजीव (ऐसे दो भेद रूप) है। [पुन:] और (उसमे) [चेतनोपयोगमय:] चेतन तथा उपयोगमयी [जीव] जीव है [च] और [पुद्गलद्रव्यप्रमुख अचेतन] पुद्गल आदि अचेतनद्रव्य [अजीव भवति] अजीव है।

---

१. ज० वृ० गाथा मे 'य' पाठ नही है। २ अज्जीव (ज० वृ०)।

टीका—यहां (इस विश्व मे) वास्तव में, एकत्व के कारणभूत द्रव्यत्व सामान्य को छोडे बिना ही, उसमें (द्रव्य मे) रहने वाले विशेष लक्षणों के सद्भाव के कारण एक दूसरे से पृथक्पने से, द्रव्य जीवत्व रूप और अजीवत्व रूप विशेषता को प्राप्त होता है, उसमे जीव का आत्मद्रव्य एक ही भेद है, और अजीव के पुद्गलद्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्म-द्रव्य, कालद्रव्य तथा आकाशद्रव्य यह पाच भेद है। जीव का विशेष लक्षण चेतनोप-योगमयत्व (चेतनामयता और उपयोगमयता) है, और अजीव का अचेतनत्व है। उनमे (से) स्वधर्मों मे व्यापकपना होने से स्वरूपपने से प्रकाशित होने वाली, अविनाशिनी, भगवती, (स्व) सवेदनरूप चेतना के द्वारा तथा चेतना परिणाम लक्षण, द्रव्य परिणति रूप उपयोग के द्वारा, जिसमे निष्पन्नत्व अवतरित प्रतिभासित होता है (अर्थात् जो चेतना तथा उपयोग से रचा हुआ—बना हुआ है), वह जीव है जिसमे, उपयोग के साथ रहने वाली, यथोक्त (ऊपर कहे अनुसार) लक्षण वाली चेतना का अभाव होने से बाहर तथा भीतर अचेतनत्व अवतरित प्रतिभासित होता है, वह अजीव है ॥१२७॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ जीवाजीवलक्षणमावेदयति—

दव्व जीवमजीव द्रव्य जीवाजीवलक्षण भवति **जीवो पुण चेदणो** जीव पुनश्चेतन स्वत-सिद्धया बहिरङ्गकारणनिरपेक्षया बहिरन्तश्च प्रकाशमानया नित्यरूपया निश्चयेन परमशुद्धचेतनया व्यवहारेण पुनरशुद्धचेतनया च युक्तत्वाच्चेतनो भवति। पुनरपि किविशिष्ट ? **उवओगमओ** उपयोग-मय अखण्डैकप्रतिभासमयेन सर्वविशुद्धेन केवलज्ञानदर्शनलक्षणेनार्थग्रहणव्यापाररूपेण निश्चयनयेनेत्थ-म्भूतशुद्धोपयोगेन, व्यवहारेण पुनर्मतिज्ञानाद्यशुद्धोपयोगेन च निर्वृत्तत्वान्निष्पन्नत्वादुपयोगमय **पोग्गलदव्व-प्पमुह अचेदण हवदि अज्जीव** पुद्गलद्रव्यप्रमुखोऽचेतनभवत्यजीवद्रव्य पुद्गलधर्माधर्माकाशकाल-सज्ञ द्रव्यपचक पूर्वोक्तलक्षणचेतनाया उपयोगस्य चाभावादजीवमचेतन भवतीत्यर्थ ॥१२७॥

उत्थानिका—आगे जीव और अजीव का लक्षण कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(दव्व) द्रव्य (जीवमजीव) जीव और अजीव हैं (पुण) और (जीवो) जीव द्रव्य (चेदणा उवओगमओ) चेतना स्वरूप तथा ज्ञान दर्शन उपयोगवान् हैं (य पोग्गलदव्वप्पमुहं) और पुद्गलद्रव्य आदि (अचेदणं) चेतनारहित (अजीवं) अजीव हैं।

द्रव्य के दो भेद हैं–जीव और अजीव, इनमें से जीवद्रव्य स्वयं सिद्ध बाहरी और अन्तरङ्ग व बाहर मे प्रकाशमान नित्य रूप निश्चय से परम शुद्धचेतना से तथा व्यवहार में अशुद्धचेतना से युक्त होने के कारण चेतन स्वरूप है तथा निश्चयनय से अखंड व

एक रूप प्रकाशमान् व सर्व तरह से शुद्ध केवलज्ञान तथा केवलदर्शन लक्षणधारी पदार्थों के जानने देखने के व्यापार गुण वाले शुद्धोपयोग से तथा व्यवहारनय से मतिज्ञान आदि अशुद्धोपयोग से जो वर्तन करता है इससे उपयोगमयी है। तथा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल यह पांच द्रव्य पूर्व मे कही हुई चेतना तथा उपयोग के अभाव से अजीव है, अचेतन हैं, ऐसा अर्थ है ॥१२७॥

अथ लोकालोकत्वविशेषं निश्चिनोति—

पोग्गलजीवणिबद्धो धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो।
वट्टदि आगासे जो लोगो सो सव्वकाले दु ॥१२८॥

पुद्गलजीवनिबद्धो धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्य ।
वर्तते आकाशे यो लोक स सर्वकाले तु ॥१२८॥

अस्ति हि द्रव्यस्य लोकालोकत्वेन विशेषविशिष्टत्व स्वलक्षणसद्भावात् । स्वलक्षण हि लोकस्य षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वं, अलोकस्य पुन केवलाकाशात्मकत्वम् । तत्र सर्व-द्रव्यव्यापिनि परममहत्याकाशे यत्र यावति जीवपुद्गलौ गतिस्थितिधर्माणौ गतिस्थिती आस्कन्दतस्तद्गतिस्थितिनिबन्धनभूतौ च धर्माऽधर्मावभिव्याप्यावस्थितौ, सर्वद्रव्यवर्तना-निमित्तभूतश्च कालो नित्यदुर्ललितस्तत्तावदाकाश शेषाण्यशेषाणि द्रव्याणि चेत्यमीषा समवाय आत्मत्वेन स्वलक्षणं यस्य स लोक. । यत्र यावति पुनराकाशे जीवपुद्गलयोर्गतिस्थिती न संभवतो धर्माधर्मौ नावस्थितौ न कालो दुर्ललितस्तावत्केवलमाकाशमात्मत्वेन स्वलक्षण यस्य सोऽलोकः ॥१२८॥

भूमिका—अब (द्रव्य के) लोकालोकत्व रूप भेद का निश्चय करते हैं—

अन्वयार्थ—[आकाशे] आकाश मे [य] जो भाग [पुद्गलजीवनिबद्ध] पुद्गल और जीव से सयुक्त है, तथा [धर्माधर्मास्तिकायकालाढ्य वर्तते] धर्मास्तिकाय, अधर्मास्ति-काय, और काल से समृद्ध है, [स] वह [सर्वकाले तु] सर्वकाल मे [लोक] लोक है। (शेष केवल आकाश अलोक है।)

टीका—वास्तव मे द्रव्य के (आकाश के) अपने-अपने लक्षण के सद्भाव के कारण से, लोक और अलोकपने भेदरूप विशेषता है। लोक का स्वलक्षण षड्द्रव्य-समवायात्मकत्व (छह द्रव्यों की समुदायरूपता) है, और अलोक का केवल आकाशात्मकत्व (मात्र आकाश स्वरूपत्व) है। वहा, सर्व द्रव्यो मे व्याप्त होने वाले परम महान् आकाश मे, जहां जितने मे, गति स्थिति धर्म वाले जीव तथा पुद्गल गति, स्थिति को प्राप्त होते हैं

तथा उनकी (जीव-पुद्गल की) गति, स्थिति में निमित्तभूत धर्म तथा अधर्म (द्रव्य) व्याप्त होकर रहते हैं और सर्व द्रव्यों की वर्तना में निमित्तभूत काल सदा वर्तता है, वह उतना आकाश, शेष समस्त द्रव्य उनका समुदाय जिसका स्व-रूपता से स्वलक्षण है, वह लोक है। जहां जितने आकाश मे जीव तथा पुद्गल की गति-स्थिति नहीं होती, धर्म तथा अधर्म नहीं रहते, और काल नहीं पाया जाता, उतना, केवल आकाश जिसका स्व-रूपता से स्वलक्षण है, वह अलोक है ॥१२८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ लोकालोकरूपेणाकाशपदार्थस्य द्वैविध्यमाख्याति,—

पोग्गलजीवणिबद्धो अणुस्कन्धभेदभिन्ना पुद्गलास्तावत्तथैवामूर्तातीन्द्रियज्ञानमयत्वनिर्विकार-परमानन्दैकसुखमयत्वादिलक्षणा जीवाश्चेत्थम्भूतजीवपुद्गलैर्निबद्ध सबद्धो भृत पुद्गलजीवनिबद्ध. **धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो** धर्माधर्मास्तिकायौ च कालश्च धर्माधर्मास्तिकायकालास्तैराढ्यो भृतो धर्मा-धर्मास्तिकायकालाढ्य **जो य** एतेषा पचानामित्थम्भूतसमुदायो राशि समूह **वट्टदि** वर्तते। कस्मिन ? **आगासे** अनन्तानन्ताकाशद्रव्यस्य मध्यवर्तिनि लोकाकाशे **सो लोगो** स पूर्वोक्तपचाना समुदायस्तदाधार-भूत लोकाकाश चेति षड्द्रव्यसमूहो लोको भवति। क्व ? **सव्वकाले दु** सर्वकाले तु तद्बहिर्भूतमनन्तान-न्ताकाशमलोक इत्यभिप्राय ॥१२८॥

उत्थानिका—आगे लोक और अलोक के भेद से आकाश पदार्थ के दो भेद बताते है —

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो) जितना क्षेत्र (आगासे) इस आकाश में (पोग्गल-जीवणिबद्धो) पुद्गल और जीवो से भरा हुआ तथा (धम्माधम्मत्थिकायकालड्ढो) धर्मास्ति-काय, अधर्मास्तिकाय और काल से भरा हुआ (वट्टदि) वर्तन करता है (सो दु) वही क्षेत्र (सव्वकाले) सदा हि (लोगो) लोक है। पुद्गल के दो भेद हैं—अणु और स्कंध तथा जीव अमूर्तिक अतीन्द्रिय ज्ञान-मयी और निर्विकार परमनान्द रूप एक सुखमयी आदि लक्षणो के धारी हैं इनसे जितना आकाश भरा हुआ है व जिसमे धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय और काल द्रव्य भी व्यापक हैं, इस तरह जो पाचों द्रव्यों के समूह को रखता हुआ वर्तता है वह इस अनन्तानन्त आकाश के मध्य में रहने वाला लोकाकाश है। वास्तव में आकाश सहित जो इन पांच द्रव्यों का आधार है वह छः द्रव्य का समूह रूप लोक सदा ही है उसके बाहर अनन्तानन्त खाली जो आकाश है वह अलोकाकाश है, ऐसा अभिप्राय है ॥१२८॥**

अथ क्रियाभावतद्भावविशेष निश्चिनोति—

उप्पादट्ठिदिभंगा पोग्गलजीवप्पगस्स लोगस्स ।
परिणामा जायंते[1] संघादादो व भेदादो ॥१२९॥

उत्पादस्थितिभङ्गा पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य ।
परिणामाज्जायन्ते सघाताद्वा भेदात् ॥१२९॥

क्रियाभाववत्त्वेन केवलभाववत्त्वेन च द्रव्यस्यास्ति विशेषः । तत्र भाववन्तौ क्रियावन्तौ च पुद्गलजीवौ परिणामाद्भेदसंघाताभ्यां चोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वात् । शेषद्रव्याणि तु भाववन्त्येव परिणामादेवोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानत्वादिति निश्चयः । तत्र परिणाममात्रलक्षणो भाव, परिस्पन्दनलक्षणा क्रिया । तत्र सर्वाण्यपि द्रव्याणि परिणामस्वभावत्वात् परिणामेनोपात्तान्वयव्यतिरेकाण्यवतिष्ठमानोत्पद्यमानभज्यमानानि भाववन्ति भवन्ति । पुद्गलास्तु परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन भिन्ना· संघातेन सहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमानाः क्रियावन्तश्च भवन्ति । तथा जीवा अपि परिस्पन्दस्वभावत्वात्परिस्पन्देन नूतनकर्मनोकर्मपुद्गलेभ्यो भिन्नास्तै सह सघातेन सहताः पुनर्भेदेनोत्पद्यमानावतिष्ठमानभज्यमाना. क्रियावन्तश्च भवन्ति ॥१२९॥

भूमिका—**अब, क्रिया–रूप और 'भाव' रूप जो द्रव्य के भाव हैं उनकी अपेक्षा से द्रव्य का भेद निश्चित करते हैं—**

अन्वयार्थ—[पुद्गलजीवात्मकस्य लोकस्य] पुद्गल-जीवमयी लोक के (अर्थात् जीव पुद्गल के) [परिणामात्] परिणमन से, तथा [संघातात् या भेदात्] सघात (मिलने) और भेद (पृथक् होने) से [उत्पादस्थितिभगा] उत्पाद, ध्रौव्य, और व्यय [जायन्ते] होते है। (सामर्थ्य से अर्थात् परिशेष न्याय से यह भी सिद्ध हो जाता है कि शेष चार द्रव्यो के केवल परिणमन से उत्पाद आदि होते है)

टीका—**कोई द्रव्य 'भाव' वाले तथा 'क्रिया वाले होने से और कोई द्रव्य केवल 'भाव' वाले होने से, इस अपेक्षा से द्रव्यों के भेद होते हैं। उनमें पुद्गल तथा जीव (१) भाव वाले तथा (२) क्रिया वाले हैं, क्योंकि (१) परिणाम द्वारा तथा (२) सघात और भेद के द्वारा वे (जीव पुद्गल) उत्पन्न होते हैं, टिकते है और नष्ट होते है। शेष द्रव्य तो भाव वाले ही है, क्योंकि वे परिणाम के द्वारा ही उत्पन्न होते है, टिकते है और नष्ट होते है,–ऐसा निश्चय है।**

[1] जायदि (ज० वृ०)

उसमे, 'भाव' परिणाममात्र लक्षण वाला है, (और) 'क्रिया' परिस्पंद (कम्पन) लक्षण वाली है। इनमे, समस्त द्रव्य भाव वाले तो हैं ही, क्योंकि परिणाम स्वभाव वाले होने से परिणाम के द्वारा अन्वय (सह भावित्व ध्रुवता) और व्यतिरेक (क्रम-भावित्व पर्याय) को प्राप्त होते हुये वे उत्पन्न होते हैं, टिकते हैं और नष्ट होते हैं। पुद्गल तो (भाव वाले होने के अतिरिक्त) क्रिया वाले भी होते हैं, क्योंकि परिस्पंद-स्वभाव वाले होने से परिस्पंद के द्वारा पृथक् पृथक् पुद्गल एकत्रित हो जाने से और एकत्रित—मिले हुये पुद्गल पुन. पृथक् हो जाने से वे उत्पन्न होते हैं, टिकते है और नष्ट होते हैं तथा जीव भी (भाव वाले होने के अतिरिक्त) क्रिया वाले भी होते हैं, क्योंकि परिस्पंद स्वभाव वाले होने से परिस्पद के द्वारा नवीन कर्म-नोकर्मरूप भिन्न पुद्गलों के साथ एकत्रित होने से और कर्म-नोकर्मरूप एकत्रित हुये पुद्गलो से बाद मे पृथक् होने से, वे जीव उत्पन्न होते हैं, टिकते है, और नष्ट होते है ॥१२९॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्याणा सक्रियनि क्रियत्वेन भेद दर्शयतीत्येका पातनिका, द्वितीया तु जीवपुद्गलयोरर्थ-व्यञ्जनपर्यायौ द्वौ, शेषद्रव्याणा तु मुख्यवृत्त्यार्थपर्याय इति व्यवस्थापयति,—

जायदि जायते। के कर्तार ? **उप्पादट्ठिदिभगा** उत्पादस्थितिभङ्गा। कस्य सबन्धिन ? **लोगस्स** लोकस्य। कि विशिष्टस्य ? **पोग्गलजीवप्पगस्स**। पुद्गलजीवात्मकस्य पुद्गलजीवावित्युपलक्षण षड्द्रव्यात्मकस्य। कस्मात्सकाशात् जायन्ते ? **परिणामादो** परिणामात् एकसमयवर्तिनोऽर्थपर्यायात् **सघादादो व भेदादो** केवलमर्थपर्यायात्सकाशाज्जायन्ते। जीवपुद्गलानामुत्पादादय सघाताद्वा भेदाद्वा व्यञ्जन-पर्यायादित्यर्थ। तथाहि—धर्माधर्माकाशकालाना मुख्यवृत्त्यैकसमयवर्तिनोऽर्थपर्याया एव जीवपुद्गलाना-मर्थपर्यायव्यञ्जनपर्यायाश्च। कथमिति चेत् ? प्रतिसमयपरिणतिरूपा अर्थपर्याया भण्यन्ते। यदा जीवोऽनेन शरीरेण सह भेदवियोग त्याग कृत्वा भवान्तरशरीरेण सह सघात मेलापक करोति तदा विभावव्यञ्जन-पर्यायो भवति, तस्मादेव भवान्तरसक्रमणात्सक्रियत्व भण्यते पुद्गलाना तथैव विवक्षितस्कन्धविघटनात्स-क्रियत्वेन स्कन्धान्तरसयोगे सति विभावव्यञ्जनपर्यायो भवति। मुक्तजीवाना तु निश्चयरत्नत्रयलक्षणेन परमकारणसमयसारसज्ञेन निश्चयमोक्षमार्गबलेनायोगिचरमसमये नखकेशान्विहाय परमौदारिक-शरीरस्य विलीयमानरूपेण विनाशे सति केवलज्ञानाद्यनन्तचतुष्टयव्यक्तिलक्षणेन परमकार्यसमयसार-रूपेण स्वभावव्यञ्जनपर्यायेण कृत्वा योऽसावुत्पाद स भेदादेव भवति न सघातात्। कस्मादितिचेत् ? शरीरान्तरेण सह सबन्धाभावादिति भावार्थ ॥१२९॥

एव जीवाजीवत्वलोकालोकत्वसक्रियनि क्रियत्वकथनक्रमेण प्रथमस्थले गाथात्रय गतम्।

उत्थानिका—आगे द्रव्यो मे सक्रिय और नि क्रिय भेद को दिखलाते हैं यह एक पातनिका है। दूसरी यह है कि जीव और पुद्गल मे अर्थ-पर्याय और व्यजन-पर्याय दोनो होती है जबकि शेष द्रव्यो मे मुख्यता से अर्थपर्याय होती है, इसको सिद्ध करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(लोगस्स) इस छह द्रव्यमयी लोक के (उप्पादट्ठिदिभंगा) उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूपी अर्थपर्याय होते हैं तथा (पोग्गलजीवप्पगस्स) पुद्गल और जीवमयी लोक के अर्थात् पुद्गल और जीवों के (परिणाम) व्यंजन पर्यायरूप परिणमन भी (सघादादो) सघात से (व) या (भेदादो) भेद से (जायदि) होते हैं। यह लोक छह द्रव्यमयी है। इन सब द्रव्यो मे सत्पना होने से समय-समय उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप परिणमन हुआ करते हैं इनको अर्थ-पर्याय कहते हैं। जीव और पुद्गलो मे केवल अर्थ-पर्याय ही नहीं होती किन्तु संघात या भेद से व्यंजन पर्यायें भी होती हैं। अर्थात् धर्म, अधर्म, आकाश तथा काल की मुख्यता से एक समयवर्ती अर्थ-पर्यायें ही होती हैं तथा जीव और पुद्गलो के अर्थ-पर्याय और व्यंजन-पर्याय दोनों होती है। किस तरह होती हैं, सो कहते हैं, सो समय-समय परिणमन रूप अवस्था है उसको अर्थ-पर्याय कहते है। जब यह जीव इस शरीर को त्यागकर भवान्तर शरीर के साथ मिलाप करता है तब विभाव व्यजनपर्याय होती है। इसी ही कारण से कि यह जीव एक जन्म से दूसरे जन्म मे जाता है इसको क्रियावान् कहते हैं। तैसे ही पुद्गलों की भी व्यंजन-पर्याय होती है। जब कोई विशेष स्कध से छूट कर एक पुद्गल अपने क्रियावानपने से दूसरे स्कध मे मिल जाता है तब विभाव व्यजन-पर्याय होती है। मुक्त जीवों के स्वभाव व्यंजनपर्याय किस तरह होती है सो कहते हैं। निश्चयरत्नत्रयमयी परम कारण-समयसाररूप निश्चयमोक्षमार्ग के बल से अयोग केवली गुण-स्थान के अंत समय में नख केशो को छोड़कर परमौदारिक शरीर का विलय होता है इस तरह का नाश होते हुए केवलज्ञान आदि अनंत चतुष्टय की व्यक्तिरूप परम कार्य-समय-सार रूप सिद्ध अवस्था का स्वभाव-व्यजन-पर्यायरूप उत्पाद होता है, यह भेद से ही होता है, सघात से नहीं होता है क्योंकि मुक्तात्मा के अन्य शरीर के सम्बन्ध का अभाव है॥१२९॥

इस तरह जीव और अजीवपना, लोक और अलोकपना, सक्रिय और निष्क्रियपना को क्रम से कहते हुए प्रथम स्थल में तीन गाथाएं समाप्त हुईं।

अथ द्रव्यविशेषो गुणविशेषादिति प्रज्ञापयति—

लिंगेहिं जेहिं दव्वं जीवमजीवं च हवदि विण्णादं।
तेऽतब्भावविसिट्ठा मुत्तामुत्ता गुणा णेया॥१३०॥

लिंगैर्यैर्द्रव्य जीवोऽजीवश्च भवति विज्ञातम्।
तेऽतद्भावविशिष्टा मूर्तामूर्ता गुणा ज्ञेया॥१३०॥

द्रव्यमाश्रित्य परानाश्रयत्वेन वर्तमानैर्लिङ्ग्यते गम्यते द्रव्यमेतैरिति लिङ्गानि गुणाः। ते च यद्द्रव्यं भवति न तद्गुणा भवन्ति, ये गुणा भवन्ति ते न द्रव्यं भवतीति द्रव्यादतद्भावेन विशिष्टा सन्तो लिङ्गलिङ्गिप्रसिद्धौ तल्लिङ्गत्वमुपढौकन्ते। अथ ते द्रव्यस्य जीवोऽयमजीवोऽयमित्यादिविशेषमुत्पादयन्ति, स्वयमपि तद्भावविशिष्टत्वेनोपात्तविशेषत्वात्। यतो हि यस्य यस्य द्रव्यस्य यो यः स्वभावस्तस्य तस्य तेन तेन विशिष्टत्वात्तेषामस्ति विशेषः। अत एव च मूर्तानाममूर्तानां च द्रव्याणां मूर्तत्वेनामूर्तत्वेन च तद्भावेन विशिष्टत्वादिमे मूर्ता गुणा इमे अमूर्ता इति तेषां विशेषो निश्चेयः ॥१३०॥

भूमिका—**अब यह बतलाते है कि–गुण-विशेष (गुणों के भेद) से द्रव्य-विशेष (द्रव्य का भेद) होता है—**

अन्वयार्थ—[यैं लिगैं] जिन लिगो से [द्रव्य] द्रव्य [जीव. अजीव' च] जीव और अजीव के रूप मे [विज्ञात भवति] ज्ञात होता है, [ते] वे [अतद्भावविशिष्टाः] अतद्भाव से विशिष्ट (मूर्त गुण का अमूर्त मे अतद्भाव तथा अमूर्त का मूर्त मे अतद्भाव, अथवा अतद्भाव के द्वारा द्रव्य से भिन्न) [मूर्तामूर्ता.] मूर्त-अमूर्त [गुणा] गुण [ज्ञेयाः] जानने चाहिये।

टीका—**द्रव्य का आश्रय लेकर और परके आश्रय के बिना प्रवर्तमान होने से जिनके द्वारा द्रव्य 'लिंगित' (चिन्हित) होताहै—पहचाना जाता है, ऐसे लिंग गुण हैं। वे (गुण), 'जो द्रव्य है वे गुण नहीं हैं और जो गुण हैं वे द्रव्य नहीं हैं' इस अपेक्षा से द्रव्य से अतद्भाव के द्वारा विशिष्ट (भिन्न) रहते हुये, लिंगी के रूप मे प्रसिद्धि (परिचय) के समय द्रव्य के लिंगत्व को प्राप्त होते हैं। अब, वे द्रव्य के—'यह जीव है, यह अजीव है'—ऐसे भेद उत्पन्न करते है, क्योकि स्वय भी, तद्भाव (जीवत्व-अजीवत्व भाव) के द्वारा विशिष्ट (भिन्न) होने से विशेष (भेद) को प्राप्त हैं। क्योकि जिस द्रव्य का जो जो स्वभाव हो उस उसका उस उसके द्वारा विशिष्टत्व होने से उनके विशेष (भेद) हैं। इसीलिये मूर्त तथा अमूर्त द्रव्यो का मूर्तत्व अमूर्तत्व रूप तद्भाव के द्वारा विशिष्टत्व होने से, उनके इस प्रकार के भेद निश्चित करने चाहियें कि 'यह मूर्त गुण हैं और यह अमूर्तगुण हैं' ॥१३०॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ ज्ञानादिविशेषगुणभेदेन द्रव्यभेदमावेदयति—

लिंगेहिं जेहिं लिगैर्यैं सहजशुद्धपरमचैतन्यविलासरूपैस्तथैवाचेतनैर्जडरूपैर्वा लिगैश्चिन्हैर्विशेषगुणैर्यैं करणभूतैर्जीवेन कर्तृभूतेन **हवदि विण्णाद** विशेषेण ज्ञात भवति। कि कर्मतापन्न ? **दव्व** द्रव्य। कथम्भूत ? **जीवमजीव च** जीवद्रव्यमजीवद्रव्य च ते **मुत्तामुत्तागुणा णेया** ते तानि पूर्वोक्तचेतनाचेतन-

लिङ्गानि मूर्तामूर्तगुणा ज्ञेया ज्ञातव्या । ते च कथम्भूता ? **अतब्भावविसिट्ठा** अतद्भावविशिष्टा । तद्यथा—शुद्धजीवद्रव्ये ये केवलज्ञानादिगुणास्तेषा शुद्धजीवप्रदेशै सह यदेकत्वमभिन्नत्व तन्मयत्व स तद्भावो भण्यते, तेषामेव गुणाना तै प्रदेशै सह यदा सज्ञालक्षणप्रयोजनादिभेद क्रियते तदा पुनरतद्भावो भण्यते, तेनातद्भावेन संज्ञादिभेदरूपेण स्वकीयस्वकीयद्रव्येण सह विशिष्टा भिन्ना इति, द्वितीयव्याख्यानेन पुन स्वकीयद्रव्येण सह तद्भावेन तन्मयत्वेनान्यद्रव्यादिविशिष्टा भिन्ना इत्यभिप्राय ॥१३०॥

एव गुणभेदेन द्रव्यभेदो ज्ञातव्य ।

उत्थानिका—आगे ज्ञानादि विशेष गुणो के भेद से द्रव्यो के भेदो को बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जेहिं लिंगेहिं) **जिन चेतन अचेतन लक्षणो से (जीवमजीवं दव्वं) जीव और अजीव द्रव्य (विण्णादं हवदि) जाने जाते हैं (ते) वे लक्षण या चिह्न (अब्भावविसिट्ठा) यद्यपि वे लक्षण या चिन्ह संज्ञा आदि की अपेक्षा अतद्भाव विशिष्ट (भिन्न) हैं तथापि प्रदेश अभिन्न होने से उनके साथ तन्मयता को रखने वाले हैं (मुत्तामुत्ता गुणा) वे चेतन और अचेतन मूर्तिक और अमूर्तिक गुण वाले हैं** (णेया) ऐसा जानना **चाहिये। स्वाभाविक शुद्ध परम चैतन्य के विलासरूप विशेष गुणो से जीव द्रव्य तथा अचेतन या जड़रूप विशेष गुणो से अजीव द्रव्य पहचाने जाते हैं। ये चेतन तथा अचेतन गुण अपने-अपने द्रव्य से तन्मय हैं। जैसे शुद्ध जीव द्रव्य मे जो केवलज्ञान आदि गुण हैं उनकी शुद्ध जीव के प्रदेशों के साथ जो एकता, अभिन्नता तथा तन्मयता है उसको तद्भाव कहते है। इस तरह शुद्ध जीव द्रव्य अपने प्रदेशों की अपेक्षा अपने शुद्ध गुणो से तन्मय है परन्तु जब गुणों का और उन प्रदेशो का जहां वे गुण पाए जाते हैं संज्ञा, लक्षण, प्रयोजन आदि से भेद किया जाता है तब गुण और द्रव्य मे अतद्भावपना या भेदपना भी सिद्ध होता है। द्रव्य और गुण किसी अपेक्षा अभेदरूप व किसी अपेक्षा भेदरूप हैं। अथवा दूसरा व्याख्यान यह है कि जिस द्रव्य के जो विशेष गुण है वे अपने द्रव्य से तद्भाव रूप या तन्मय हैं परन्तु अन्य द्रव्यों से वे अतद्भाव रूप या भिन्न हैं। ये चेतन अचेतन मूर्तिक और अमूर्तिक गुण वाले हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥१३०॥**

इस तरह गुणों के भेद से द्रव्य का भेद जानना चाहिये।

अथ मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणसंबन्धमाख्याति—

मुत्ता इंदियगेज्झा पोग्गलदव्वप्पगा अणेगविधा[1] ।
दव्वाणममुत्ताणं गुणा अमुत्ता मुणेदव्वा ॥१३१॥

---

१ अणेयविहा (ज० वृ०)।

मूर्ता इन्द्रियग्राह्या पुद्गलद्रव्यात्मका अनेकविधा ।
द्रव्याणाममूर्तानां गुणा अमूर्ता ज्ञातव्या ।।१३१।।

मूर्तानां गुणानामिन्द्रियग्राह्यत्वं लक्षणम् । अमूर्तानां तदेव विपर्यस्तम् । ते च मूर्ताः पुद्गलद्रव्यस्य, तस्यैवैकस्य मूर्तत्वात् । अमूर्ताः शेषद्रव्याणां, पुद्गलादन्येषां सर्वेषामप्यमूर्तत्वात् ।।१३१।।

भूमिका—**अब मूर्त और अमूर्त गुण के लक्षण तथा सम्बन्ध (अर्थात् उनका किन द्रव्यों के साथ सबंध है, यह) कहते है—**

अन्वयार्थ—[मूर्ता] मूर्त गुण [इन्द्रियग्राह्या] इन्द्रिय-ग्राह्य है [पुद्गलद्रव्यात्मका] पुद्गल द्रव्यमयी है तथा [अनेक-विधा] अनेक प्रकार के है, [अमूर्तानां द्रव्याणां] अमूर्त द्रव्यो के [गुणा] गुण [अमूर्ता ज्ञातव्या] अमूर्त जानना चाहिये ।

टीका—**मूर्त गुणो का लक्षण इन्द्रिय ग्राह्यत्व है, और अमूर्त गुणों का उससे विपरीत है, (अर्थात् अमूर्त गुण इन्द्रियो से ज्ञात नहीं होते) और मूर्त गुण पुद्गल द्रव्य के है, क्योंकि वही (पुद्गल ही) एक मूर्त है, और अमूर्त गुण शेष द्रव्यो के हैं, क्योंकि पुद्गल के अतिरिक्त शेष द्रव्य अमूर्त है ।।१३१।।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणं सम्बन्धं च निरूपयति—

मुत्ता इंदियगेज्झा मूर्ता गुणा इन्द्रियग्राह्या भवन्ति, अमूर्ताः पुनरिन्द्रियविषया न भवन्ति इति मूर्तामूर्तगुणानामिन्द्रियानिन्द्रियविषयत्वलक्षणमुक्तं । इदानीं मूर्तगुणाः कस्य सम्बन्धिनो भवन्तीति सम्बन्धं कथयति ? **पोग्गलदव्वप्पगा अणेयविहा** मूर्तगुणाः पुद्गलद्रव्यात्मका अनेकविधा भवन्ति पुद्गलद्रव्यसम्बन्धिनो भवन्तीत्यर्थः । अमूर्तगुणानां सम्बन्धं प्रतिपादयति **दव्वाणममुत्ताणं** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावं यत्परमात्मद्रव्यं तत्प्रभृतीनाममूर्तद्रव्याणानां सम्बन्धिनो भवन्ति । ते के गुणाः ? **गुणा अमुत्ता** अमूर्ता गुणाः केवलज्ञानादय इत्यर्थः । इति मूर्तामूर्तगुणानां लक्षणसम्बन्धौ **मुणेदव्वा** ज्ञातव्यौ ।।१३१।।

एवं ज्ञानादिविशेषगुणभेदेन द्रव्यभेदो भवतीति कथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वयं गतम् ।

उत्थानिका—आगे मूर्तिक और अमूर्तिक गुणो का लक्षण और सम्बन्ध कहते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(इंदियगेज्झा) जो इन्द्रिय के ग्रहण करने योग्य हैं (मुत्ता) वे मूर्तिक है वे (अणेयविहा) अनेक प्रकार के हैं तथा (पोग्गल-दव्वप्पगा) पुद्गल-द्रव्यमयी है । (अमुत्ताणं दव्वाणं) अमूर्तिक द्रव्यों के (गुणा) गुण (अमुत्ता) अमूर्तिक (मुणेदव्वा) जानने योग्य है । जो इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण करने योग्य हैं वे मूर्तिक गुण हैं और जो अमूर्तिक गुण हैं वे इद्रियो के द्वारा नहीं ग्रहण किये जाते है । इस तरह मूर्तिक गुणों का लक्षण इन्द्रियो का विषयपना है जब कि अमूर्तिक गुणों का लक्षण इन्द्रियों का विषयपना नहीं है । मूर्तिकगुण अनेक प्रकार के पुद्गल द्रव्य सम्बन्धी होते हैं तथा अमूर्तिकगुण**

विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी परमात्म-द्रव्य को आदि लेकर अमूर्तिकद्रव्यों के होते हैं। वे अमूर्तिकगुण केवलज्ञान आदि होते हैं। इस तरह मूर्त और अमूर्त गुणों के लक्षण और सम्बन्ध जानने योग्य हैं ॥१३१॥

इस तरह ज्ञान आदि विशेष गुणों के भेद से द्रव्यों में भेद होता है, ऐसा कहते हुए दूसरे स्थल मे दो गाथाएँ पूर्ण हुईं।

अथ मूर्तस्य पुद्गलद्रव्यस्य गुणान् गृणाति—

वण्णरसगंधफासा विज्जंते पुग्गलस्स सुहुमादो।
पुढवीपरियंतस्स य सद्दो सो पोग्गलो चित्तो ॥१३२॥

वर्णरसगधस्पर्शा विद्यन्ते पुद्गलस्य सूक्ष्मात्।
पृथिवीपर्यन्तस्य च शब्द स पुद्गलश्चित्र ॥१३२॥

इन्द्रियग्राह्याः किल स्पर्शरसगन्धवर्णास्तद्विषयत्वात्, ते चेन्द्रियग्राह्यत्वव्यक्तिशक्तिवशात् गृह्यमाणा अगृह्यमाणाश्च आ एकद्रव्यात्मकसूक्ष्मपर्यायात्परमाणो आ अनेकद्रव्यात्मकस्थूलपर्यायात्पृथिवीस्कन्धाच्च सकलस्यापि पुद्गलस्याविशेषेण विशेषगुणत्वेन विद्यन्ते। ते च मूर्तत्वादेव शेषद्रव्याणामसभवन्तः पुद्गलमधिगमयन्ति। शब्दस्यापीन्द्रियग्राह्यत्वाद्गुणत्वं न खल्वाशङ्कनीयं, तस्य वैचित्र्यप्रपञ्चितवैश्वरूपस्याप्यनेकद्रव्यात्मकपुद्गलपर्यायत्वेनाभ्युपगम्यमानत्वात्। गुणत्वे वा न तावदमूर्तद्रव्यगुण· शब्दः गुणगुणिनोरविभक्तप्रदेशत्वेनैकवेदनवेद्यत्वादमूर्तद्रव्यस्यापि श्रवणेन्द्रियविषयत्वापत्तेः। पर्यायलक्षणेनोत्खातगुणलक्षणत्वान्मूर्तद्रव्यगुणोऽपि न भवति। पर्यायलक्षणं हि कादाचित्कत्वं गुणलक्षणं तु नित्यत्वम्। ततः कादाचित्कत्वोत्खातनित्यत्वस्य न शब्दस्याऽस्ति गुणत्वम्। यत्तु तत्र नित्यत्वं तत्तदारम्भकपुद्गलानां तद्गुणाना च स्पर्शादीनामेव न शब्दपर्यायस्येति दृढतरं ग्राह्यम्। न च पुद्गलपर्यायत्वे शब्दस्य पृथिवीस्कन्धस्येव स्पर्शनादीन्द्रियविषयत्वम्। अपां घ्राणेन्द्रियाविषयत्वात्, ज्योतिषो घ्राणरसनेन्द्रियाविषयत्वात्, मरुतो घ्राणरसनचक्षुरिन्द्रियाविषयत्वाच्च। न चागन्धागन्धरसागन्धरसवर्णाः, एवमप्ज्योतिर्मरुतः, सर्वपुद्गलानां स्पर्शादिचतुष्कोपेतत्वाभ्युपगमात्। व्यक्तस्पर्शादिचतुष्कानां च चन्द्रकान्तारणियवानामारम्भकैरेव पुद्गलैरव्यक्तगन्धाव्यक्तगन्धरसाव्यक्तगन्धरसवर्णानामप्ज्योतिरुदरमरुतामारम्भदर्शनात्। न च क्वचित्कस्यचित् गुणस्य व्यक्ताव्यक्तत्वं कादाचित्कपरिणामवैचित्र्यप्रत्ययं नित्यद्रव्यस्वभावप्रतिघाताय। ततोऽस्तु शब्दः पुद्गलपर्याय एवेति ॥१३२॥

भूमिका—**अब मूर्त पुद्‌गल द्रव्य के गुण कहते हैं—**

अन्वयार्थ—[सूक्ष्मात् पृथिवीपर्यन्तस्य पुद्‌गलस्य] सूक्ष्म (परमाणु) से लेकर समस्त पुद्‌गल के [वर्णरसगधस्पर्शा.] वर्ण, रस, गध और स्पर्श (गुण) [विद्यन्ते] होते है, [चित्रः शब्द] जो विविध प्रकार का शब्द है [स] वह [पुद्‌गल] पुद्‌गल है। (अर्थात् पुद्‌गल की पर्याय है)।

टीका—**स्पर्श, रस, गध और वर्ण इन्द्रियग्राह्य हैं क्योकि वे इन्द्रियों के विषय हैं। वे इन्द्रिय-ग्राह्यता की व्यक्ति और शक्ति के वश से भले ही इन्द्रियो के द्वारा ग्रहण किये जाते हों या न किये जाते हो तथापि वे एक द्रव्यात्मक सूक्ष्म पर्यायरूप परमाणु से लेकर अनेक द्रव्यात्मक स्थूल पर्यायरूप पृथ्वीस्कध तक के समस्त पुद्‌गल के अविशेषतया (क्योकि कोई भी पुद्‌गल ऐसा नहीं है जिसमे ये न पाये जायें अतः साधारण रूप से या समस्त रूप से) विशेष गुणों के रूप मे होते हैं (क्योकि ये अन्य द्रव्यों में नहीं हो सकते, अतः विशेष या असाधारण गुण हैं।) और वे, मूर्त होने के कारण से ही (पुद्‌गल के अतिरिक्त) शेष द्रव्यो मे न होने से, पुद्‌गल को बतलाते हैं (उसका ज्ञान कराते हैं)।**

ऐसी शंका नहीं करनी चाहिये कि शब्द भी इन्द्रियग्राह्य होने से गुण होगा, **क्योंकि विचित्रता के द्वारा विश्वरूपत्व को (अनेकानेक प्रकारत्व को) प्राप्त उसके (शब्द के) अनेक द्रव्यात्मक पुद्‌गल-पर्यायता स्वीकार की गई है (अर्थात् शब्द पुद्‌गलस्कंध की पर्याय है)।**

यदि शब्द को (पर्याय न मानकर) गुण माना जाय, तो वह क्यों योग्य नहीं है, उसका समाधान—

प्रथम तो, शब्द अमूर्त द्रव्य का गुण नही है, क्योंकि गुण-गुणी में अभिन्न-प्रदेशत्व होने से तथा वे (गुण-गुणी) (एक वेदन से वेद्य-एक ही ज्ञान से ज्ञात होने योग्य होने से, अमूर्त द्रव्य के भी श्रवणेन्द्रिय की विषयभूतता आ जायगी। (दूसरे, शब्द मे) पर्याय के लक्षण से गुण का लक्षण उत्थापित (खण्डित) होने से, शब्द मूर्त द्रव्य का गुण भी नहीं है। पर्याय का लक्षण कादाचित्कत्व (अनित्यत्व) है और गुण का लक्षण नित्यत्व है, इसलिये (शब्द को) अनित्यत्व से नित्यत्व के उत्थापित होने से (अर्थात् शब्द कभी-कभी ही होता है, अतः नित्य नहीं है, इसलिये) शब्द गुण नहीं है। जो वहां नित्यत्व है, वह उसको (शब्द को) उत्पन्न करने वाले पुद्‌गलों का और उनके स्पर्शादिक गुणों का ही है, शब्द पर्याय का नहीं,—इस प्रकार अतिदृढ़ता-पूर्वक ग्रहण करना चाहिये।

"यदि शब्द पुद्गल की पर्याय हो तो वह पृथ्वीस्कंध की भांति स्पर्शनादिक इंद्रियों का भी विषय होना चाहिये, अर्थात् जैसे पृथ्वीस्कध रूप पुद्गलपर्याय सर्व इन्द्रियो से ज्ञात होती है उसी प्रकार शब्दरूप पुद्गल पर्याय भी सभी इन्द्रियो से ज्ञात होनी चाहिये" (ऐसा तर्क किया जाय तो) ऐसा भी नहीं है, क्योंकि जल (पुद्गल की पर्याय है, फिर भी) घ्राणेन्द्रिय का विषय नहीं है, अग्नि घ्राणेन्द्रिय तथा रसनेन्द्रिय का विषय नहीं है और वायु घ्राण, रसना तथा चक्षुइन्द्रिय का विषय नहीं है (इसलिये नाक तथा जीभ से अग्राह्य है) और वायु, गंध, रस वर्ण रहित है (इसलिये नाक, जीभ तथा आखो से अग्राह्य है) क्योंकि सभी पुद्गल स्पर्शादिचतुष्क युक्त (स्पर्श-रस-गध-वर्ण युक्त) स्वीकार किये गये है। क्योंकि जिनके स्पर्शादिचतुष्क व्यक्त है ऐसे (१) चन्द्रकान्तमणि को, (२) अरणिको और (३) जौ को जो पुद्गल उत्पन्न करते है उन्ही के द्वारा (१) जिसकी गध अव्यक्त है ऐसे पानी की, (२) जिसकी गध तथा रस अव्यक्त है ऐसी अग्नि की और (३) जिसके गंध, रस तथा वर्ण अव्यक्त हैं ऐसी उदरवायु की उत्पत्ति होती देखी जाती है। और कही (किसी पर्याय में) किसी गुण की कादाचित्क परिणाम की विचित्रता के कारण होने वाली व्यक्तता या अव्यक्तता नित्य द्रव्यस्वभाव का प्रतिघात नहीं करती। (अर्थात् अनित्य-परिणाम के कारण होने वाली गुण की प्रगटता और अप्रगटता नित्य द्रव्यस्वभाव के साथ कहीं विरोध को प्राप्त नहीं होती। इसलिये शब्द पुद्गल की पर्याय ही है ॥१३२॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ मूर्तपुद्गलद्रव्यस्य गुणानावेदयति,—

वण्णरसगन्धफासा विज्जते पोग्गलस्स वर्णरसगन्धस्पर्शा विद्यन्ते। कस्य ? पुद्गलस्य। कथम्भूतास्य ? **सुहुमादो पुढवीपरियतस्स य।**

"पुढवी जल च छाया चउरिदियविसयकम्मपरमाणू। छव्विहभेय भणिय पोग्गलदव्व जिणवरेहिं" ॥

इति गाथाकथितक्रमेण परमाणुलक्षणसूक्ष्मस्वरूपादे पृथ्वीस्कन्धलक्षणस्थूलस्वरूपपर्यन्तस्य च।

तथाहि—यथानन्तज्ञानादिचतुष्टय विशेपलक्षणभूत यथासम्भव सर्वजीवेषु साधारण तथा वर्णादिचतुष्टय विशेषलक्षणभूत यथासम्भव सर्वपुद्गलेषु साधारणम्। यथैव चानन्तज्ञानादिचतुष्टय मुक्तजीवेऽतीन्द्रियज्ञानविषयमनुमानगम्यमागमगम्य च, तथा शुद्धपरमाणुद्रव्ये वर्णादिचतुष्टयमप्यतीन्द्रियज्ञानविषयमनुमानगम्यमागमगम्य च। यथा वानन्तचतुष्टयस्य ससारिजीवे रागादिस्नेहनिमित्तेन कर्मबन्धवशादशुद्धत्व भवति तथा वर्णादिचतुष्टयस्यापि स्निग्धरूक्षगुणनिमित्तेन द्वयणुकादिबन्धावस्थायामशुद्धत्वम्। यथा वानन्तज्ञानादिचतुष्टयस्य रागादिस्नेहरहितशुद्धात्मध्यानेन शुद्धत्व भवति तथा वर्णादिचतुष्टयस्यापि स्निग्धगुणाभावे बन्धनेऽसति परमाणुपुद्गलावस्थाया शुद्धत्वमिति। **सद्दो सो पोग्गलो यस्तु शब्द** स पौद्गल यथा जीवस्य नरनारकादिविभावपर्याया तथाय शब्द पुद्गलस्य विभावपर्यायो

न च गुण । कस्मात् ? गुणस्याविनश्वरत्वात् अय च विनश्वरो । नैयायिकमतानुसारी कश्चिद्वदत्या-काशगुणोऽय शब्द । परिहारमाह—आकाशगुणत्वे सत्यमूर्तो भवति । अमूर्तश्च श्रवणेन्द्रियविषयो न भवति, दृश्यते च श्रवणेन्द्रियविषयत्व । शेषेन्द्रिविषय कस्मान्न भवतीति चेत् ? अन्येन्द्रिविषयोऽन्येन्द्रियस्य न भवति वस्तुस्वभावादेव रसादिविषयवत् । पुनरपि कथभूत ? **चित्तो** चित्र भाषात्मकाभाषात्मकरूपेण च प्रायोगिक वैस्रसिकरूपेण च नानाप्रकार तच्च । "सद्दो खधप्पभवो" इत्यादि गाथाया पचास्तिकाये व्याख्यात तिष्ठत्यत्राल प्रसगेन ॥१३२॥

उत्थानिका—आगे मूर्तिक पुद्गल द्रव्य के गुणो को कहते है—

अन्वय सहित विशेपार्थ—**(सुहुमादो पुढवीपरियंतस्स) सूक्ष्म परमाणु से लेकर पृथ्वी पर्यंत (पोग्गलस्स) पुद्गल द्रव्य के (वण्णरसगधफासा) वर्ण, रस, गध, स्पर्श, (विज्जते) विद्यमान होते है । (य) और (सद्दो) शब्द है (सो पोग्गलो चित्तो) वह नाना प्रकार का है और पौद्गलिक है । पुद्गल द्रव्य के विशेष गुण स्पर्श रस गध वर्ण है । वे पुद्गल सूक्ष्म परमाणु से लेकर स्थूल पृथ्वी स्कध रूप तक हैं । जैसे इस गाथा मे कहा है—**

जिनेन्द्र देव ने पुद्गल को छह् प्रकार कहा है, पृथ्वी, जल, छाया, चार इन्द्रियों के विषय, कार्मणवर्गणा और परमाणु ।

जैसे सर्व जीवों मे अनन्तज्ञानादि-चतुष्टय–विशेष लक्षण यथासंभव साधारण हैं तैसे ही वर्णादि चतुष्टय रूप विशेष लक्षण यथासम्भव सर्व पुद्गलों मे साधारण हैं और जैसे अनन्तज्ञानादि चतुष्टय मुक्तजीव मे प्रगट हैं सो अतीन्द्रियज्ञान का विषय है । हमको अनुमान से तथा आगम प्रमाण से मान्य हैं तैसे ही शुद्ध परमाणु मे वर्णादि-चतुष्टय भी अतीन्द्रिय ज्ञान का विषय है । हमको अनुमान से तथा आगम से मान्य है । जैसे यहो अनन्तचतुष्टय संसारी जीव मे रागद्वेषादि चिकनाई के कारण कर्मबध होने के वश से अशुद्धता रखते है तैसे ही स्निग्ध रूक्ष गुण के निमित्त से दो अणु तीन अणु आदि की बंध अवस्था मे वर्णादि–चतुष्टय भी अशुद्धता को रखते है । जैसे रागद्वेषादि रहित शुद्ध आत्मा के ध्यान से इन अनन्तज्ञानादि–चतुष्टय की शुद्धता हो जाती है तैसे ही यथायोग्य स्निग्ध रूक्ष गुण के न होने पर बन्धन न होते हुए एक पुद्गल परमाणु की अवस्था में शुद्धता रहती है । और जैसे नरनारक आदि जीव की विभावपर्याय हैं तैसे यह शब्द भी पुद्गल की विभावपर्याय है, गुण नहीं है क्योंकि गुण अविनाशी होता है परन्तु यह शब्द विनाशीक है । यहां नैयायिक मत के अनुसार कोई कहता है कि यह शब्द आकाश का गुण है, इसका खंडन करते हुए कहते हैं कि यदि शब्द आकाश का गुण हो तो शब्दअमूर्तिक हो जावे । जो अमूर्त्त वस्तु है वह कर्ण इन्द्रिय से ग्रहण नहीं हो सकती और यह प्रत्यक्ष प्रगट है कि शब्द कर्ण

इन्द्रिय का विषय है। वह बाकी इन्द्रियों का विषय क्यों नहीं होता है ? ऐसी शंका का समाधान यह है कि अन्य इन्द्रिय का विषय अन्य इन्द्रिय द्वारा ग्रहण नही किया जा सकता, ऐसा वस्तु का स्वभाव है। जैसे रसादि विषय रसना इन्द्रिय आदि के है। वह शब्द भाषा-रूप, प्रायोगिक और वैश्रसिकरूप अनेक प्रकार का है जैसा कि पंचास्तिकाय की "सद्दो खंधप्पभवो" इस गाथा में समझाया है यहां इतना ही कहना पर्याप्त है ॥१३२॥

भावार्थ—श्री पंचास्तिकाय में भी कहा है—

सद्दो खंधप्पभवो खधो परमाणुसगसघादो।
पुट्ठेसु तेसु जायदि सद्दो उप्पादगो णियदो ॥७९॥

शब्द स्कधों के द्वारा पैदा होता है, स्कध परमाणुओ के मेल से बनते हैं और उन स्कंधों के परस्पर संघट्ट होने पर शब्द पैदा होता है। भाषावर्गणा के योग्य सूक्ष्म स्कंध जो शब्द के अभ्यंतर कारण हैं लोक में हर जगह, हर समय मौजूद है। जब तालु, ओठ आदि का व्यापार होता है या घंटे की चोट होती है या मेघादि का मिलान होता है तब भाषा-वर्गणा योग्य पुद्गल शब्द रूप मे परिणमन कर जाते है। निश्चय से भाषावर्गणा योग्य पुद्गल ही शब्दों के उत्पन्न करने वाले हैं ॥१३२॥

अथामूर्तानां शेषद्रव्याणां गुणान् गृणाति—

आगासस्सवगाहो धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्तं।
धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा ॥१३३॥
कालस्स वट्टणा से गुणोवओगो त्ति अप्पणो भणिदो।
णेया संखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाणं ॥१३४॥ जुगलं।

आकाशस्यावगाहो धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्वम्।
धर्मेतरद्रव्यस्य तु गुण पुन स्थानकारणता ॥१३३॥
कालस्य वर्तना स्यात् गुण उपयोग इति आत्मनो भणित।
ज्ञेया सक्षेपाद्गुणा हि मूर्तिप्रहीणानाम् ॥१३४॥ युगलम्।

विशेषगुणो हि युगपत्सर्वद्रव्याणां साधारणावगाहहेतुत्वमाकाशस्य, सकृत्सर्वेषां गमनपरिणामिनां जीवपुद्गलानां गमनहेतुत्वं धर्मस्य, सकृत्सर्वेषां स्थानपरिणामिनां जीवपुद्गलानां स्थानहेतुत्वमधर्मस्य, अशेषशेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायं समयवृत्तिहेतुत्वं कालस्य, चैतन्यपरिणामो जीवस्य। एवममूर्तानां विशेषगुणसंक्षेपाधिगमे लिङ्गम्। तत्रैककालमेव सकलद्रव्यसाधारणावगाहसम्पादनमसर्वगतत्वादेव शेषद्रव्याणामसंभवदाकाशमधिगमयति। तथैकवारमेव गतिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामालोकाद्गमनहेतुत्वमप्रदेशत्वात्कालपुद्गलयोः

समुद्घातादन्यत्र लोकासंख्येयभागमात्रत्वाज्जीवस्य लोकालोकसीम्नोऽचलितत्वावाकाशस्य विरुद्धकार्यहेतुत्वादधर्मस्यासंभवद्धर्ममधिगमयति। तथैकवारमेव स्थितिपरिणतसमस्तजीव-पुद्गलानामालोकात्स्थानहेतुत्वमप्रदेशत्वात्कालपुद्गलयो, समुद्घातादन्यत्र लोकासंख्येय-भागमात्रत्वाज्जीवस्य, लोकालोकसीम्नोऽचलितत्वादाकाशस्य, विरुद्धकार्यहेतुत्वाद्धर्मस्य चासम्भवदधर्ममधिगमयति। तथा अशेषशेषद्रव्याणां प्रतिपर्यायं समयवृत्तिहेतुत्वं कारणा-न्तरसाध्यत्वात्समयविशिष्टाया वृत्तेः स्वतस्तेषामसभवत्कालमधिगमयति। तथा चैतन्य-परिणामश्चेतनत्वादेव शेषद्रव्याणामसभवन् जीवमधिगमयति। एवं गुणविशेषाद्द्रव्य-विशेषोऽधिगन्तव्यः ॥१३३।१३४॥

भूमिका—अब, शेष अमूर्तद्रव्यो के गुण कहते हैं—

अन्वयार्थ—[आकाशस्यावगाहः] आकाश का अवगाह, [धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्व] धर्मद्रव्य का गमनहेतुत्व [तु पुन] और [धर्मेतरद्रव्यस्य गुण] अधर्म द्रव्य का गुण [स्थानकारणता] स्थानकारणता है। [कालस्य] काल का गुण [वर्तना स्यात्] वर्तना है, [आत्मन गुण] आत्मा का गुण [उपयोग इति भणित] उपयोग कहा है। [मूर्तिप्रही-णाना गुणा हि] इस प्रकार अमूर्तद्रव्यो के गुण [सक्षेपात्] सक्षेप से [ज्ञेया] जानने चाहिये।

टीका—युगपत् सर्वद्रव्यों के साधारण अवगाह का हेतुत्व आकाश का विशेष गुण है। एक ही साथ गतिरूप परिणमित सर्व जीव-पुद्गलो के गमन का हेतुत्व धर्म का विशेष गुण है। एक ही साथ स्थितिरूप परिणमित सर्व जीव-पुद्गलो के स्थिर होने का हेतुत्व अधर्म का विशेष गुण है। (काल के अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्यों की प्रति-पर्याय में समयवृत्ति का हेतुत्व (समय-समय की परिणति का निमित्तत्व) काल का विशेष गुण है। चैतन्यपरिणाम जीव का विशेष गुण है। इस प्रकार अमूर्तद्रव्यों के विशेषगुणों का संक्षिप्त ज्ञान होने पर अमूर्तद्रव्यों को जानने के लिंग (चिन्ह, लक्षण, साधन) प्राप्त होते है, अर्थात् उन-उन विशेष गुणो के द्वारा उन-उन अमूर्त द्रव्यों का अस्तित्व ज्ञात होता है—सिद्ध होता है। (इसी को स्पष्टता-पूर्वक समझाते हैं—

वहाँ एक ही काल मे समस्त द्रव्यों को साधारण अवगाह का संपादन (अवगाह हेतुत्व रूप लिंग) आकाश को ज्ञात कराता है, क्योंकि शेष द्रव्यो के सर्वगत-पना न होने से उनके वह (अवगाह-संपादन) संभव नहीं है। इसी प्रकार एक ही काल में गति-परिणत समस्त जीव-पुद्गलों को लोक तक गमन का हेतुत्व धर्म को ज्ञात कराता है, क्योंकि काल

और पुद्गल अप्रदेशी हैं इसलिये उनके वह संभव नहीं है, जीव समुद्घात को छोड़कर अन्यत्र लोक के असख्यातवें भागमात्र है , इसलिये उसके संभव नहीं है, लोक अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश के वह संभव नहीं है, और विरुद्ध कार्य का हेतु होने से अधर्म के वह संभव नहीं है। काल और पुद्गल एक-प्रदेशी है, इसलिये वे लोक तक गमन मे निमित्त नहीं हो सकते, जीव समुद्घात को छोड़कर अन्य काल मे लोक के असंख्यातवें भाग में ही रहता है, इसलिये वह भी लोक तक गमन मे निमित्त नही हो सकता, यदि आकाश गति मे निमित्त हो तो जीव और पुद्गलों की गति अलोक मे भी होने लगे, जिससे लोकालोक की मर्यादा ही न रहेगी। इसलिये गति-हेतुत्व आकाश का भी गुण नहीं है, अधर्मद्रव्य तो गति से विरुद्ध—स्थिति कार्य मे निमित्तभूत है, इसलिये वह भी गति मे निमित्त नहीं हो सकता। इस प्रकार गतिहेतुत्वगुण धर्म नामक द्रव्य का अस्तित्व बतलाता है)

इसी प्रकार एक ही काल मे स्थिति-परिणत समस्त जीव-पुद्गलो को लोक तक स्थिति का हेतुत्व अधर्म को ज्ञात कराता है, क्योकि काल और पुद्गल अप्रदेशी हैं, इसलिये उनके वह संभव नहीं है, जीव समुद्घात को छोडकर अन्यत्र लोक के असख्यातवें भाग मात्र है, इसलिये उसके वह सभव नहीं है, लोक और अलोक की सीमा अचलित होने से आकाश के वह संभव नहीं है और विरुद्ध कार्य का हेतु होने से धर्म के वह संभव नहीं है। इसी प्रकार (काल के अतिरिक्त) शेष समस्त द्रव्यो के, प्रत्येक पर्याय मे समयवृत्ति का हेतुत्व काल को ज्ञात कराता है, क्योकि उनके, समयविशिष्टवृत्ति (समय समय परिणमन) कारणान्तर से साध्य होने से (अर्थात् उनके समय से विशिष्टपरिणति अन्य कारण से होती है, इसलिये) स्वतः उनके वह (समयवृत्ति-हेतुत्व) संभवित नही है।

इसी प्रकार चैतन्य परिणाम जीव को ज्ञात कराता है, क्योकि वह चेतन है, इसलिये शेष द्रव्यों के वह संभव नहीं है। इस प्रकार गुण-विशेष से द्रव्यविशेष जानना चाहिये ॥१३३-१३४॥

तात्पर्यवृत्ति

अथाकाशाद्यमूर्त्तद्रव्याणा विशेषगुणान्प्रतिपादयति—

आगासस्सवगाहो आकाशस्यावगाहहेतुत्व, **धम्मद्दव्वस्स गमण हेवुत्त** धर्मद्रव्यस्य गमनहेतुत्व **धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो पुणो ठाणकारणदा** धर्मेतरद्रव्यस्य तु पुन स्थानकारणता गुणो भवतीति प्रथम-गाथा गता। **कालस्स वट्टणा** कालस्य वर्तना स्याद्गुण **गुणोवओगोत्ति अप्पणो भणिदो** ज्ञानदर्शनोप-योगद्वयमित्यात्मनो गुणो भणित । **णेया सखेवादो गुणा हि मुत्तिप्पहीणाण** एव सक्षेपादमूर्त्तद्रव्याणा गुणा ज्ञेया इति।

तथाहि—सर्वद्रव्याणा साधारणमवगाहहेतुत्व विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसम्भवत्सदाकाश निश्चिनोति । गतिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामेकसमये साधारण गमनहेतुत्व विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसम्भवत्सद्धर्म्मद्रव्य निश्चिनोति । तथैव च स्थितिपरिणतसमस्तजीवपुद्गलानामेकसमये साधारण स्थितिहेतुत्व विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसम्भवदधर्म्मद्रव्य निश्चिनोति । सर्वद्रव्याणा युगपत्पर्यायपरिणतिहेतुत्व विशेषगुणत्वादेवान्यद्रव्याणामसम्भवत्कालद्रव्य निश्चिनोति । सर्वजीवसाधारण सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनद्वय विशेषगुणत्वादेवान्याचेतनपञ्चद्रव्याणामसम्भवत्सच्छुद्धबुद्धैकस्वभाव—परमात्मद्रव्य निश्चिनोति । अयमत्रार्थ यद्यपि पचद्रव्याणि जीवस्योपकार कुर्वन्ति, तथापि तानि दु ख-कारणान्येवेति ज्ञात्वा । यदि वाक्षयानन्तसुखादिकारण विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगस्वभाव परमात्मद्रव्य तदेव मनसा ध्येय वचसा वक्तव्य कायेन तत्साधकमनुष्ठान च कर्त्तव्यमिति ॥१३३-१३४॥

एव कस्य द्रव्यस्य के विशेषगुणा भवन्तीति कथनरूपेण तृतीयस्थले गाथात्रय गतम् ।

उत्थानिका—आगे आकाश आदि अमूर्तद्रव्यो के गुणो को बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(आगासस्सवगाहो) आकाश द्रव्य का विशेष गुण सर्व द्रव्यो को जगह देना ऐसा अवगाह-हेतुत्व गुण है, (धम्मद्दव्वस्स गमणहेदुत्त) धर्म द्रव्य का विशेष गुण जीव पुद्गलो के गमन मे कारण ऐसा गमनहेतुत्व है, (पुणो धम्मेदरदव्वस्स दु गुणो ठाणकारणदा) तथा अधर्मद्रव्य का विशेष गुण जीव पुद्गलो को स्थिति का कारण स्थानकारणता है, (कालस्स वट्टणा से) कालद्रव्य का विशेष गुण सभी द्रव्यों में समय समय परिणमन की प्रवृत्ति का कारण वर्तना है और (अप्पणो गुणोवओगोत्ति भणिदो) आत्मा का विशेष गुण उपयोग है, ऐसा कहा गया है । (हि) निश्चय से (मुत्तिप्पहीणाणं गुणा) मूर्तिक रहित द्रव्यो के विशेष गुण इस तरह (सखेवादो णेया) सक्षेप से जानने योग्य हैं ।**

सर्व द्रव्यो को साधारण रूप से अवगाह देने का कारणपना आकाश का ही विशेष गुण है क्योंकि अन्य द्रव्यों मे यह गुण असंभव है इसलिये इस विशेष गुण से आकाश का निश्चय होता है । एक समय मे गमन करते हुए सर्व जीव तथा पुद्गलों को साधारण गमन मे हेतुपना धर्मद्रव्य का ही विशेष गुण है क्योंकि अन्य द्रव्यो मे यह असंभव है । इसी गुण से धर्मद्रव्य का निश्चय होता है । इसी तरह एक समय में स्थिति करते हुए जीव पुद्गलो को साधारण स्थिति मे कारणपना अधर्मद्रव्य का ही विशेष गुण है क्योंकि अन्य द्रव्यो मे यह असम्भव है । इसी गुण से अधर्मद्रव्य का निश्चय होता है । एक समय मे सर्व द्रव्यों की पर्यायों के परिणमन मे हेतुपना कालद्रव्य का विशेष गुण है क्योकि अन्य द्रव्यों में यह असम्भव है । इसी गुण से कालद्रव्य का निश्चय होता है । सर्व जीवो में साधारण ऐसा सर्व तरह निर्मल ऐसा केवलज्ञान और केवलदर्शन जीवद्रव्य का विशेष गुण है क्योंकि अन्य पाँच अचेतन द्रव्यों मे यह असम्भव है, इसी विशेष उपयोग गुण से शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्म-द्रव्य का निश्चय होता है । यहाँ पर यह प्रयोजन है कि

यद्यपि पाँच द्रव्य जीव का उपकार करते हैं तो भी इनको दुःख का कारण जान करके जो अक्षय और अनन्तसुख आदि का कारण विशुद्ध ज्ञान दर्शन-स्वभावरूप परमात्म द्रव्य है उसी को ही मन से ध्याना चाहिये, वचन से उसका ही वर्णन करना चाहिये, तथा शरीर से उस ही का साधक जो अनुष्ठान या क्रियाकर्म है, उसको करना चाहिये ।।१३३–१३४।।

इस तरह किस द्रव्य के क्या विशेष गुण होते है ऐसा कहते हुए तीसरे स्थल में तीन गाथाएँ पूर्ण हुई ।

अथ द्रव्याणां प्रदेशवत्त्वाप्रदेशवत्त्वविशेषं प्रज्ञापयति—

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आगासं ।
सपदेसेहिं असंखादा[1] णत्थि पदेस त्ति कालस्स ।।१३५।।

जीवा पुद्गलकाया धर्माधर्मौ पुनश्चाकाशम् ।
स्वप्रदेशैरसख्याता न सन्ति प्रदेशा इति कालस्य ।।१३५।।

प्रदेशवन्ति हि जीवपुद्गलधर्माधर्माकाशानि अनेकप्रदेशवत्त्वात् । अप्रदेशः कालाणु प्रदेशमात्रत्वात् । अस्ति च संवर्तविस्तारयोरपि लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशापरित्यागाज्जीवस्य, द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वेऽपि द्विप्रदेशादिसंख्येयासख्येयानन्तप्रदेशपर्यायेणानवधारितप्रदेशत्वात्पुद्गलस्य, सकललोकव्याप्यसंख्येयप्रदेशप्रस्ताररूपत्वात् धर्मस्य, सकललोकव्याप्यसंख्येयप्रदेशप्रस्ताररूपत्वादधर्मस्य, सर्वव्याप्यनन्तप्रदेशप्रस्ताररूपत्वादाकाशस्य च प्रदेशवत्त्वम् । कालाणोस्तु द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात्पर्यायेण तु परस्परसंपर्कासंभवादप्रदेशत्वमेवास्ति । ततः कालद्रव्यमप्रदेशं शेषद्रव्याणि प्रदेशवन्ति ।।१३४।।

भूमिका—अब, द्रव्यों का प्रदेशवत्व और अप्रदेशवत्वरूप विशेष (भेद) बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—[जीवाः] जीव, [पुद्गलकाया] पुद्गलकाय (पुद्गल-स्कध), [धर्माधर्मौ] धर्म, अधर्म [पुन च] और [आकाशं] आकाश [स्वप्रदेशै] स्वप्रदेशो की अपेक्षा से [असंख्याता] असख्यात अर्थात् अनेक (एक से अधिक प्रदेश वाले) है, [इति] इस प्रकार [कालस्य] काल के [प्रदेशाः] अनेक प्रदेश [न सन्ति] नही है ।

टीका—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाशद्रव्य अनेक प्रदेश वाले होने से प्रदेशवान् हैं । कालाणु प्रदेश मात्र (एक प्रदेशी) होने से अप्रदेशी है । इसी को स्पष्ट करते हैं—) सकोच-विस्तार के होने पर भी जीव लोकाकाशतुल्य असख्य प्रदेशों को नहीं छोड़ता, इसलिये वह प्रदेशवान् है । पुद्गल, यद्यपि द्रव्य अपेक्षा से प्रदेशमात्र (एक प्रदेशी) होने से

---

१ असखा ।

अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेशों से लेकर सख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेशों वाली पर्यायों की अपेक्षा से अनिश्चित प्रदेश वाला होने से, प्रदेशवान् है। सकल लोक-व्यापी असंख्य प्रदेशों के विस्ताररूप होने से धर्म प्रदेशवान् है। सकललोक-व्यापी असख्य प्रदेशों के विस्ताररूप होने से अधर्मद्रव्य प्रदेशवान् है। सर्व-व्यापी अनन्त प्रदेशों के विस्तार रूप होने से आकाश प्रदेशवान् है। कालाणु तो, द्रव्यतः प्रदेशमात्र होने से और पर्यायतः परस्पर सम्पर्क न होने से, अप्रदेशी है। इसलिये कालद्रव्य अप्रदेशी है और शेष द्रव्य प्रदेशवान् हैं ॥१३५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ कालद्रव्य विहाय जीवादिपञ्चद्रव्याणामस्तिकायत्व व्याख्याति,—

जीवा पोग्गलकाया धम्माधम्मा पुणो य आयास जीवा पुद्गलकाया धर्माधर्मौ पुनश्चाकाशम्। **सपदेसेहिं असखा।** एते पचास्तिकाया किविशिष्टा ? स्वप्रदेशैरसख्येया। अत्रासख्येयप्रदेशशब्देन प्रदेशवहुत्व ग्राह्यम्। तच्च यथासम्भव योजनीयम्। जीवस्य तावत्ससारावस्थाया विस्तारोपसहारयोरपि प्रदीपवत्प्रदेशाना हानिवृद्ध्योरभावाद्व्यवहारेण देहमात्रेऽपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितासख्येयप्रदेशत्वम्। धर्माधर्मयो पुनरवस्थितरूपेण लोकाकाशप्रमितासख्येयप्रदेशत्वम्। स्कन्धाकारपरिणतपुद्गलाना तु सख्येयासख्येयानन्तप्रदेशत्वम्। किन्तु पुद्गलव्याख्यानेन प्रदेशशब्देन परमाणवो ग्राह्या, न च क्षेत्र-प्रदेशा। कस्मात्पुद्गलानामनन्तप्रदेशक्षेत्रेऽवस्थानाभावादिति ? परमाणोर्व्यक्तिरूपेणैकप्रदेशत्व शक्ति-रूपेणोपचारेण वहुप्रदेशत्व च। आकाशस्यानन्ता इति। **णत्थि पदेसत्ति कालस्स** न सन्ति प्रदेशा इति कालस्य। कस्माद्द्रव्यरूपेणैकप्रदेशत्त्वात् ? परस्परसम्बन्धाभावात्पर्यायरूपेणापीति ॥१३५॥

उत्थानिका—आगे काल द्रव्य को छोडकर जीव आदि पाँच द्रव्यो के अस्तिकायपना है ऐसा व्याख्यान करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जीवा पोग्गलकाया) अनन्तानंत जीव और अनन्तानन्त पुद्गल (धम्माऽधम्मा) एक धर्मद्रव्य एक अधर्मद्रव्य (पुणो य आयास) और एक आकाश द्रव्य (देसेहि असखादा) अपने प्रदेशों की गणना की अपेक्षा संख्या-रहित है, (कालस्स णत्थि पदेसत्ति) काल द्रव्य के बहुत प्रदेश नहीं हैं। यहां पर 'असख्यात प्रदेश' शब्द से बहु-प्रदेशी' ग्रहण करना चाहिये। वह यहां यथासम्भव घटित कर लेना चाहिये। हर एक जीव संसार की अवस्था में व्यवहारनय से अपने प्रदेशों मे संकोच विस्तार होने के कारण से दीपक के प्रकाश की तरह अपने प्रदेशो की सख्या मे कमती व बढती न होता हुआ शरीर के प्रमाण आकार रहता है तो भी निश्चय से लोकाकाश के बराबर असंख्यात प्रदेश वाला है। धर्म और अधर्म सदा ही स्थित है उनके प्रदेश लोकाकाश के बराबर असख्यात है। स्कध अवस्था मे परिणमन किये हुए पुद्गलो के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते है,**

किन्तु पुद्गल के व्याख्यान में प्रदेश शब्द से परमाणु ग्रहण करने योग्य हैं, क्षेत्र के प्रदेश नहीं क्योंकि पुद्गलों का स्थान अनन्त प्रदेश वाला क्षेत्र नहीं है। (सर्व पुद्गल असंख्यात प्रदेश वाले लोकाकाश मे हैं। उनके स्कंध अनेक जाति के बनते हैं–सख्यात परमाणुओं के, असंख्यात परमाणुओ के तथा अनन्त परमाणुओ के स्कध बनते हैं वे सूक्ष्म परिणमन वाले भी होते हैं इससे लोकाकाश मे सब रह सकते हैं।) एक पुद्गल के अविभागी परमाणु मे प्रगट रूप से एक प्रदेशपना है, मात्र शक्तिरूप से उपचार से बहुप्रदेशीपना है। (क्योकि वे परस्पर मिल सकते हैं)। आकाशद्रव्य के अनन्त प्रदेश है। कालद्रव्य के बहुत प्रदेश नहीं है। हरएक कालाणु कालद्रव्य है सो एक प्रदेश मात्र है। कालाणुओ में परमाणुओ की तरह परस्पर सम्बन्ध करके स्कध की अवस्था मे बदलने की शक्ति नही है ॥१३५॥

अथ तमेवार्थं दृढयति—

एदाणि पचदव्वाणि उज्झियकाल तु अत्थिकायत्ति।
भण्णते काया पुण बहुप्पदेसाण पचयत्त ॥१३५-१॥
एतानि पचद्रव्याणि उज्झितकालतु अस्तिकाया इति।
भण्यते काया. पुन बहुप्रदेशाना प्रचयत्व ॥१३५-१॥

एदाणि पचदव्वाणि एतानि पूर्वसूत्रोक्तानि जीवादिषड्द्रव्याण्येव **उज्झियकाल तु** कालद्रव्य विहाय **अत्थिकायत्ति भण्णते** अस्तिकाया पचास्तिकाया इति भण्यन्ते **काया पुण** काया कायशब्देन पुन । कि भण्यते ? **बहुप्पदेसाण पचयत्तं** बहुप्रदेशाना सम्बन्धि प्रचयत्व समूह इति । अत्र पचास्तिकायमध्ये जीवास्तिकाय उपादेयस्तत्रापि पचरमेष्ठिपर्यायावस्था तस्यामप्यर्हत्सिद्धावस्था तत्रापि सिद्धावस्था । वस्तुतस्तु रागादिसमस्तविकल्पजालपरिहारकाले सिद्धजीवसदृशा स्वकीयशुद्धात्मावस्थेति भावार्थ ॥१३५॥

एव पचास्तिकायसक्षेपसूचनरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वय गतम् ।

उत्थानिका—आगे ऊपर के ही भाव को दृढ करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(एदाणि दव्वाणि) इन छ द्रव्यो मे से (उज्झिय कालं तु) काल द्रव्य को छोड़कर (पच अत्थिकायत्ति) शेष पाच द्रव्य पाच अस्तिकाय है ऐसा (भण्णते) कहा है (पुण) तथा (बहुप्पदेसाण पचयत्तं काया) बहुत प्रदेशो के समूह को काय कहते हैं। इन पांच अस्तिकायो के मध्य मे एक जीव अस्तिकाय ही ग्रहण करने योग्य है। उनमें भी अर्हंत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु पांच परमेष्ठी की अवस्था, इनमे से भी अरहंत और सिद्ध अवस्था, फिर इनमे से भी मात्र सिद्ध-अवस्था ग्रहण करनी योग्य है। वास्तव में तो या निश्चयनय से तो रागद्वेषादि सर्व विकल्पजालो के त्याग के समय मे सिद्ध जीव के समान अपना ही शुद्धात्मा ग्रहण करने योग्य है, यह भाव है। १३५–१॥

इस प्रकार पांच अस्तिकाय की सक्षेप में सूचना करते हुए चौथे स्थल मे दो गाथाएं पूर्ण हुई।

अथ क्वामी प्रदेशिनोऽप्रदेशाश्चावस्थिता इति प्रज्ञापयति—

लोगालोगेसु णभो धम्माधम्मेहिं आददो लोगो ।
सेसे पडुच्च कालो जीवा पुण पोग्गला[1] सेसा ॥१३६॥

लोकालोकयोर्नभो धर्माधर्माभ्यामाततो लोक ।
शेषौ प्रतीत्य कालो जीवा पुन पुद्गला शेषौ ॥१३६॥

आकाशं हि तावत् लोकालोकयोरपि षड्द्रव्यसमवायासमवाययोरविभागेन वृत्तत्वात् । धर्माधर्मौ सर्वत्र लोके तन्निमित्तगमनस्थानानां जीवपुद्गलानां लोकाद्बहिस्तदेकदेशे च गमनस्थानासंभवात् । कालोऽपि लोके जीवपुद्गलपरिणामव्यज्यमानसमयादिपर्यायत्वात्, स तु लोकैकप्रदेश एवाप्रदेशत्वात् । जीवपुद्गलौ तु युक्तित एव लोके षड्द्रव्यसमवायात्मकत्वाल्लोकस्य । किन्तु जीवस्य प्रदेशसंवर्तविस्तारधर्मत्वात् पुद्गलस्य बन्धहेतुभूतस्निग्धरूक्षगुणधर्मत्वाच्च तदेकदेशसर्वलोकनियमो नास्ति कालजीवपुद्गलानामित्येकद्रव्यापेक्षया एकदेश अनेकद्रव्यापेक्षया पुनरञ्जनचूर्णपूर्णसमुद्गकन्यायेन सर्वलोक एवेति ॥१३६॥

भूमिका—**अब, यह बतलाते है कि ये प्रदेशी और अप्रदेशी द्रव्य कहाँ रहते हैं—**

अन्वयार्थ—[नभ] आकाश [लोकालोकयोः] लोकालोक मे है, [लोक] लोक [धर्माधमभ्याम् आतत] धर्म और अधर्म से व्याप्त है, [शेषौ प्रतीत्य] शेष दो द्रव्यो की (जीव-पुद्गल की) प्रतीति से [काल] काल (लोक मे) तिष्ठ रहा है, [पुन] और [शेषौ] वे शेष दो द्रव्य [जीवा पुद्गला] जीव और पुद्गल (लोक मे) है ।

टीका—**प्रथम तो, आकाश लोक तथा अलोक मे है, क्योंकि वह छह द्रव्यों के समवाय और असमवाय मे विना विभाग के रहता है । धर्म और अधर्म द्रव्य सर्वत्र लोक मे है, क्योंकि उनके निमित्त से जिनकी गति और स्थिति होती है ऐसे जीव और पुद्गलों को गति या स्थिति लोक से बाहर नहीं होती और न लोक के एक-देश मे होती है, (अर्थात् लोक में सर्वत्र होती है) । काल भी लोक में है, क्योंकि जीव और पुद्गलों के परिणामो के द्वारा (काल की) समयादि पर्यायें व्यक्त होती हैं और वह काल लोक के एक प्रदेश मे है, क्योंकि वह अप्रदेशी है । जीव और पुद्गल तो युक्ति से ही लोक में हैं, क्योंकि लोक छह द्रव्यों का समवायस्वरूप है ।**

किन्तु प्रदेशों का संकोच विस्तार होना जीव का धर्म होने के कारण और बंध के हेतुभूत स्निग्ध-रूक्ष गुण पुद्गल का धर्म होने के कारण जीव और पुद्गल का समस्त लोक

---

१. पुग्गला (ज० वृ०) ।

मे या उसके एक प्रदेश मे रहने का (कोई) नियम नहीं है। काल, जीव तथा पुद्गल एक द्रव्य की अपेक्षा से लोक के एक देश में रहने हैं और अनेक द्रव्यों की अपेक्षा से अजनचूर्ण (काजल) से भरी हुई डिबिया के न्यायानुसार समस्त लोक मे ही हैं ॥१३६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्याणा लोकाकाशेऽवस्थानमाख्याति—

लोगालोगेसु णभो लोकालोकयोरधिकरणभूतयोर्नभ आकाश तिष्ठति **धम्माधम्मेहि आददो लोगो** धर्म्माधर्म्मास्तिकायाभ्यामाततो व्याप्तो भूतो लोक । कि कृत्वा ? **सेसे पडुच्च** शेषौ जीवपुद्गलौ प्रतीत्याश्रित्य । अयमत्रार्थ —जीवपुद्गलौ तावल्लोके तिष्ठतस्तयोर्गतिस्थित्यो कारणभूतौ धर्माधर्मावपि लोके । **कालो** कालोऽपि शेषौ जीवपुद्गलौ प्रतीत्ये लोके । कस्मादिति चेत् ? जीवपुद्गलाभ्या नवजीर्णपरिणतया व्यज्यमानसमयघटिकादिपर्यायत्वात् । शेषशब्देन कि भण्यते ? **जीवा पुण पुग्गला सेसा** जीवा पुद्गलाश्च पुन शेषा भण्यन्त इति । अयमत्र भाव —यथा सिद्धा भगवन्तो यद्यपि निश्चयेन लोकाकाशप्रमितशुद्धासख्येयप्रदेशे केवलज्ञानादिगुणाधारभूते स्वकीयस्वकीयभावे तिष्ठन्ति तथापि व्यवहारेण मोक्षशिलाया तिष्ठन्तीति भण्यन्ते । तथा सर्वे पदार्था यद्यपि निश्चयेन स्वकीयस्वकीयस्वरूपे तिष्ठन्ति तथापि व्यवहारेण लोकाकाशे तिष्ठन्तीति । अत्र यद्यप्यनन्तजीवद्रव्येभ्योऽनन्तगुणपुद्गलास्तिष्ठन्ति तथाप्येकदीपप्रकाशे बहुदीपप्रकाशवद्विशिष्टावगाहशक्तियोगेनासख्येयप्रदेशेऽपि लोकेऽवस्थान न विरुध्यते ॥१३६॥

उत्थानिका—आगे द्रव्यो का स्थान लोकाकाश मे है, ऐसा बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(णभो) आकाश द्रव्य (लोगालोगेसु) लोक और अलोकरूप है (सेसे पडुच्च) शेष जीव पुद्गल को आश्रय करके (लोगो धम्माधम्मेहि आददो) लोक धर्म और अधर्म द्रव्य से व्याप्त है तथा (कालो) काल है। (पुण सेसा जीवा पुग्गला) और वे दो शेष द्रव्य जीव और पुद्गल है। लोकाकाश और अलोकाकाश दोनो का आधार एक आकाश द्रव्य है। इनमे से जीव पुद्गलो की अपेक्षा से धर्मास्तिकाय अधर्मास्तिकाय है, जिनसे यह लोकाकाश व्याप्त है। अर्थात् इस लोकाकाश मे जीव और पुद्गल भरे हैं उन ही की गति और स्थिति को कारण रूप ये धर्म अधर्म भी लोक मे है। काल भी इन जीव पुद्गलों की अपेक्षा करके लोक मे है क्योंकि जीव पुद्गल की नई पुरानी अवस्था के होने से कालद्रव्य की समय घड़ी आदि पर्याय प्रगट होती है तथा जीव और पुद्गल तो इस लोक मे हैं ही। यहां यह भाव है कि जैसे सिद्ध भगवान् यद्यपि लोकाकाश प्रमाण अपने शुद्ध असंख्यात प्रदेशों में हैं जो प्रदेश केवलज्ञान आदि गुणों के आधारभूत हैं तथा अपने-अपने स्वभाव में ठहरते हैं तथापि व्यवहारनय से मोक्षशिला पर ठहरते हैं, ऐसा आचार्य कहते**

है, तैसे सर्व पदार्थ यद्यपि निश्चय से अपने स्वरूप में ठहरते हैं तथापि व्यवहारनय से लोकाकाश मे ठहरते है। यहा यद्यपि अनन्त जीव द्रव्यों से अनन्तगुणे पुद्गल हैं तथापि एक दीप के प्रकाश मे जैसे बहुत से दीपको के प्रकाश समा जाते हैं तैसे विशेष अवगाहना की शक्ति के योग से असख्यात प्रदेशी लोक मे ही सर्व द्रव्यो का स्थान विरोधरूप नहीं है ।।१३६।।

अथ प्रदेशवत्त्वाप्रदेशवत्त्वसंभवप्रकारमासूत्रयति—

जध[1] ते णभप्पदेसा[2] तधप्पदेसा[3] हवंति सेसाणं।
अपदेसो परमाणू तेण पदेसुब्भवो भणिदो ।।१३७।।

यथा ते नभ प्रदेशास्तथा प्रदेशा भवन्ति शेषाणाम्।
अप्रदेश परमाणुस्तेन प्रदेशोद्भवो भणित ।।१३७।।

सूत्रयिष्यते हि स्वयमाकाशस्य प्रदेशलक्षणमेकाणुव्याप्यत्वमिति। इह तु यथाकाशस्य प्रदेशास्तथा शेषद्रव्याणामिति प्रदेशलक्षणप्रकारैकत्वमासूत्र्यते। ततो यथैकाणुव्याप्येनांशेन गण्यमानस्याकाशस्यानन्तांशत्वादनन्तप्रदेशत्वं तथैकाणुव्याप्येनांशेन गण्यमानानां धर्माधर्मैकजीवानामसख्येयांशत्वात् प्रत्येकमसंख्येयप्रदेशत्वम्। यथा चावस्थितप्रमाणयोर्धर्माधर्मयोस्तथा सवर्तविस्ताराभ्यामनवस्थितप्रमाणस्यापि शुष्कार्द्रत्वाभ्यां चर्मण इव जीवस्य स्वांशाल्पबहुत्वाभावादसख्येयप्रदेशत्वमेव। अमूर्तसंवर्तविस्तारसिद्धिश्च स्थूलकृशशिशुकुमारशरीरव्यापित्वादस्ति स्वसवेदनसाध्यैव। पुद्गलस्य तु द्रव्येणैकप्रदेशमात्रत्वादप्रदेशत्वे यथोदिते सत्यपि द्विप्रदेशाद्युद्भवहेतुभूततथाविधस्निग्धरूक्षगुणपरिणामशक्तिस्वभावात्प्रदेशोद्भवत्वमस्ति। तत· पर्यायेणानेकप्रदेशत्वस्यापि सभवात् द्व्यादिसंख्येयासंख्येयानन्तप्रदेशत्वमपि न्याय्यं पुद्गलस्य ।।१३७।।

भूमिका—**अब, यह कहते है कि प्रदेशवत्त्व और अप्रदेशवत्त्व किस प्रकार से सभव है—**

अन्वयार्थः—[यथा] जैसे [ते नभ प्रदेशा] वे आकाश के प्रदेश है [तथा] उसी प्रकार [शेषाणा] शेष द्रव्यो के (भी) [प्रदेशा भवन्ति] प्रदेश है। (अर्थात् जैसे आकाश के प्रदेश परमाणुरूपी गज से नापे जाते है, उसी प्रकार शेष द्रव्यो के प्रदेश भी परमाणुरूपी गज से नापे जाते है। [परमाणु] परमाणु [अप्रदेश] अप्रदेशी है, [तेन] उसके द्वारा [प्रदेशोद्भव भणित] प्रदेशो का होना कहा है।

१ जह (ज० वृ०) २ णहप्पदेसा (ज० वृ०) ३ तहप्पदेसा (ज० वृ०)।

टीका—(भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य) स्वयं ही (१४०वें) सूत्र द्वारा कहेंगे कि आकाश के प्रदेश का लक्षण एकाणुव्याप्यत्व (अर्थात् एक परमाणु से व्याप्त होना) है। यहां (इस सूत्र या गाथा मे) 'जिस प्रकार आकाश के प्रदेश हैं उसी प्रकार शेष द्रव्यों के प्रदेश हैं' इस प्रकार प्रदेश के लक्षण की एक-प्रकारता कही जाती है। इसलिये, एकाणुव्याप्य (जो एक परमाणु से व्याप्य हो ऐसे) अंश के द्वारा गिने जाने पर जैसे आकाश के अनन्त अंश होने से आकाश अनन्त प्रदेशी है, उसी प्रकार एकाणुव्याप्य अंश के द्वारा गिने जाने पर धर्म, अधर्म और एक जीव के असंख्यात अश होने से वे-प्रत्येक असख्यातप्रदेशी है। जैसे (संकोच-विस्तार-रहित होने की अपेक्षा) अवस्थित प्रमाण वाले धर्म तथा अधर्म असंख्यात-प्रदेशी हैं, उसी प्रकार संकोच विस्तार के कारण (सकोच-विस्तार होने की अपेक्षा) अन-वस्थित प्रमाण वाले जीव के-सूखे गीले चमड़े की भाति-निज अंशो का अल्पबहुत्व नही होता (संख्या मे प्रदेशों की हानि-वृद्धि नही होती) इसलिये असंख्यातप्रदेशित्व ही है।

(यहां यह प्रश्न होता है कि अमूर्त जीव का संकोच विस्तार कैसे संभव है ? उसका समाधान किया जाता है—)

अमूर्त के संकोच-विस्तार की सिद्धि तो अपने अनुभव से ही साध्य है, क्योंकि (सबको स्वानुभव से स्पष्ट है कि) जीव स्थूल तथा कृश शरीर मे तथा बालक और कुमार के शरीर मे व्याप्त होता है। (जीव के जो प्रदेश मोटे शरीर मे फैले हुये थे, वे ही शरीर के पतले हो जाने पर सिकुड़ गये तथा बालक के शरीर मे जो जीव के प्रदेश सिकुडे हुये थे, वे ही कुमार अवस्था के शरीर मे फैल जाते है। इस प्रकार से जीव के प्रदेशो का सकोच तथा विस्तार सिद्ध होता है। पुद्गल तो द्रव्य की अपेक्षा से एक प्रदेश मात्र होने से यथोक्त (पूर्वकथित) प्रकार से अप्रदेशी है, तथापि दो प्रदेश आदि (द्वयणुक आदि) स्कंधो के हेतुभूत तथाविध (उस प्रकार के) स्निग्ध और रूक्ष गुणरूप परिणमित होने की शक्तिरूप स्वभाव के कारण उस पुद्गल के प्रदेशों का (बहु प्रदेशत्व का) उद्भव है। इसलिये पर्यायतः अनेक प्रदेशित्व की भी सभावना होने से पुद्गल द्विप्रदेशत्व से लेकर सख्यात, असख्यात और अनन्त प्रदेशत्व भी न्याययुक्त है ॥१३७॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ यदेवाकाशस्य परमाणुव्याप्तक्षेत्र प्रदेशलक्षणमुक्त शेषद्रव्यप्रदेशाना तदेवेति सूचयति—

जह ते णहप्पदेसा यथा ते प्रसिद्धा परमाणुव्याप्तक्षेत्रप्रमाणाकाशप्रदेशा **तहप्पदेसा हवंति सेसाण** तेनैवाकाशप्रदेशप्रमाणेन प्रदेशा भवन्ति। केषा ? शुद्धबुद्धैकस्वभाव यत्परमात्मद्रव्य तत्प्रभृति-शेषद्रव्याणाम्। **अपदेसो परमाणु** अप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेशरहितो योऽसौ पुद्गलपरमाणु **तेण पदेसुब्भवो**

भणिदो तेन परमाणुना प्रदेशस्योद्भव उत्पत्ति र्भणिता। परमाणुव्याप्तक्षेत्र प्रदेशो भवति। तदग्रे विस्तरेण कथयति इह तु सूचितमेव ॥१३७॥

एव पञ्चमस्थले स्वतन्त्रगाथाद्वय गतम्।

उत्थानिका—जैसे एक परमाणु से व्याप्त क्षेत्र को आकाश का प्रदेश कहते है वैसे ही अन्य द्रव्यो के प्रदेश भी होते है, ऐसा कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जह) जैसे (ते णहप्पदेसा) वह परमाणु से व्याप्त क्षेत्र आकाश द्रव्य का प्रदेश होता है (तहप्पदेसा सेसाणां हवंति) वैसे ही धर्मादि अन्य द्रव्यो के प्रदेश होते है। (परमाणु अपदेसो) एक अविभागी पुद्गल परमाणु अप्रदेशी है (तेण) उस परमाणु से (पदेसुब्भवो भणिदो) प्रदेश की प्रगटता होती है। एक परमाणु जितने आकाश क्षेत्र को रोकता है उसको प्रदेश कहते है उस परमाणु के दो आदि प्रदेश नहीं है। इस प्रदेश की माप से आकाशद्रव्य की तरह शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव परमात्म द्रव्य को आदि लेकर शेष द्रव्यो के भी प्रदेश होते है। इनका विस्तार से कथन आगे करेंगे ॥१३७॥**

इस तरह पाँचवें स्थल मे स्वतन्त्र दो गाथाएं गई।

अथ कालाणोरप्रदेशत्वमेवेति नियमयति—

समओ दु अप्पदेसो पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स।
वदिवददो सो वट्टदि पदेसमागासदव्वस्स ॥१३८॥

समयस्त्वप्रदेश प्रदेशमात्रस्य द्रव्यजातस्य।
व्यतिपतत स वर्तते प्रदेशमाकाशद्रव्यस्य ॥१३८॥

अप्रदेश एव समयो द्रव्येण प्रदेशमात्रत्वात् न च तस्य पुद्गलस्येव पर्यायेणाप्यनेकप्रदेशत्वं यतस्तस्य निरन्तरं प्रस्तारविस्तृतप्रदेशमात्रासंख्येयद्रव्यत्वेऽपि परस्परसंपर्कासंभवादेकैकमाकाशप्रदेशमभिव्याप्य तस्थुषः प्रदेशमात्रस्य परमाणोस्तदभिव्याप्तमेकमाकाशप्रदेशं मन्दगत्या व्यतिपतत एव वृत्तिः ॥१३८॥

भूमिका—**अब, यह नियम बतलाते हैं कि 'कालाणुके अप्रदेशत्व ही है'—**

अन्वयार्थ—[समय तु] काल तो [अप्रदेश] अप्रदेशी (एक प्रदेशी) है, [प्रदेशमात्रस्य द्रव्यजातस्य] प्रदेशमात्र पुद्गल-परमाणु [अकाशद्रव्यस्य प्रदेश] आकाश द्रव्य के प्रदेश को [व्यतिपतत.] मदगति से उल्लघन कर रहा हो तब [स वर्तते] वह (काल) वर्तता है, अर्थात् निमित्तभूततया परिणमित होता है।

टीका—काल, द्रव्यतः प्रदेशमात्र होने से, अप्रदेशी ही है। उसके (काल के), पुद्‌गल की भांति, पर्यायतः भी अनेक प्रदेशित्व नहीं है, क्योंकि उसके परस्पर अन्तर के बिना प्रस्तार रूप (फैले हुये) विस्तृत प्रदेशमात्र असख्यात कालद्रव्यत्व होने पर भी, परस्पर संपर्क न होने से एक एक आकाश प्रदेश को व्याप्त करके रहने वाले कालद्रव्य की वृत्ति तभी होती है (अर्थात् कालाणुकी परिणति तभी निमित्तभूत होती है) जब प्रदेश मात्र (एक प्रदेशी) परमाणु उस (कालाणु) से व्याप्त एक आकाश प्रदेश को मन्द-गति से उल्लंघन करता हो।

भावार्थ—लोकाकाश के असंख्यातप्रदेश है। एक-एक प्रदेश मे एक-एक कालाणु विद्यमान है। वे कालाणु स्निग्ध-रूक्षगुण के अभाव के कारण रत्नों की राशि की भाँति पृथक्-पृथक् ही रहते हैं, पुद्‌गल परमाणुओ की भाति परस्पर मिलते नही है।

जब पुद्‌गल परमाणु आकाश के एक प्रदेश को मन्दगति से उल्लघन करता है (अर्थात् एक प्रदेश से दूसरे अनन्तर-निकटतम प्रदेश पर मन्दगति से जाता है) तब उस (उल्लंघित किये जाने वाले) प्रदेश मे रहने वाला कालाणु उसमे निमित्तभूत रूप से रहता है। इस प्रकार प्रत्येक कालाणु पुद्‌गल परमाणु के एक प्रदेश तक के गमन पर्यंत ही सहकारी रूप से रहता है, अधिक नहीं। इससे स्पष्ट होता है कि काल द्रव्य पर्यायत· भी अनेक प्रदेशी नहीं है ॥१३८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ कालद्रव्यस्य द्वितीयादिप्रदेशरहितत्वेनाप्रदेशत्व व्यवस्थापयति—

समओ समयपर्यायस्योपादानकारणत्वात्समय कालाणु **दु** पुन। स च कथभूत ? **अप्पदेसो** अप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेशरहितो भवति। स च कि करोति ? **सो वट्टदि** स पूर्वोक्तकालाणु परमाणो-र्गतिपरिणते सहकारित्वेन वर्त्तते। कस्य सम्बन्धी योऽसौ परमाणु ? **पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स** प्रदेशमात्रपुद्गलजातिरूपपरमाणुद्रव्यस्य। कि कुर्वत ? **वदिवददो** व्यतिपततो मन्दगत्या गच्छत। क प्रति ? **पदेस** कालाणुव्याप्तमेकप्रदेशम्। कस्य सम्बन्धिन ? **आगासदव्वस्स** आकाशद्रव्यस्येति। तथाहि—कालाणुरप्रदेशो भवति। कस्मात् ? द्रव्येणैकप्रदेशत्वात्। अथवा यथा स्नेहगुणेन पुद्गलाना परस्परबन्धो भवति तथाविधबन्धाभावात्पर्यायेणापि। अयमत्रार्थ —यस्मात्पुद्गलपरमाणोरेकप्रदेश-गमनपर्यन्त सहकारित्व करोति नचाधिक तस्मादेव ज्ञायते सोऽप्येकप्रदेश इति ॥१३८॥

उत्थानिका—आगे काल द्रव्य के दो तीन आदि प्रदेश नही है, मात्र एक प्रदेश है इसी से वह अप्रदेशी है, ऐसी व्यवस्था करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(समओ दु अप्पदेसो) काल द्रव्य निश्चय से अप्रदेशी है (सो) वह काल द्रव्य (पदेसमेत्तस्स दव्वजादस्स) प्रदेश मात्र पुद्गल द्रव्यरूप परमाणु के (आगासदव्वस्स पदेस) आकाश द्रव्य के प्रदेश को (वदिवददो) उल्लंघन करने से (वट्टदि) वर्त्तन करता है।

समय नामा पर्याय का उपादान कारण कालाणु है इससे कालाणु को समय कहते हैं। वह कालाणु दो तीन आदि प्रदेशो से रहित मात्र एक प्रदेश वाला है इससेउसको अप्रदेशी कहते है। वह कालाणु पुद्गल द्रव्य की परमाणु की गति की परिणति रूप सहकारी कारण से वर्तन करता है। हर एक कालाणु से हर एक लोकाकाश का प्रदेश व्याप्त है। जब एक परमाणु मंदगति से ऐसे पास वाले प्रदेश पर जाता है तब इसकी गति की सहायता से कालद्रव्य वर्तन करता हुआ समय पर्याय को उत्पन्न करता है। जैसे स्निग्ध रूक्ष गुण के निमित्त से पुद्गल के परमाणुओ का परस्पर बन्ध हो जाता है इस तरह का बध कालाणुओ का कभी नही हो सकता इसलिये कालाणु को अप्रदेशी कहते है। यहा यह भाव है कि पुद्गल परमाणु का एक प्रदेश तक गमन होना ही सहकारी कारण है, अधिक दूर तक जाना सहकारी कारण नहीं इससे भी ज्ञात होता है कि कालाणु द्रव्य एक प्रदेश रूप ही है ॥१३८॥

अथ कालपदार्थस्य द्रव्यपर्यायौ प्रज्ञापयति—

वदिवददो तं देसं तस्सम समओ तदो परो पुव्वो।
जो अत्थो सो कालो समओ उप्पण्णपद्धंसी ॥१३९॥

व्यतिपततस्त देश तत्सम समयस्तत पर पूर्व ।
योऽर्थ स काल समय उत्पन्नप्रध्वसी ॥१३९॥

यो हि येन प्रदेशमात्रेण कालपदार्थेनाकाशस्य प्रदेशोऽभिव्याप्तस्त प्रदेशं मन्दगत्यातिक्रमत परमाणोस्तत्प्रदेशमात्रातिक्रमणपरिमाणेन तेन समो यः कालपदार्थसूक्ष्मवृत्तिरूपसमय स तस्य कालपदार्थस्य पर्यायस्ततः एवविधात्पर्यायात्पूर्वोत्तरवृत्तिवृत्तत्वेन व्यञ्जितनित्यत्वे योऽर्थ· तत्तु द्रव्यम्। एवमनुत्पन्नाविध्वस्तो द्रव्यसमयः, उत्पन्नप्रध्वंसी पर्यायसमय। अनश समयोऽयमाकाशप्रदेशस्यानंशत्वान्यथानुपपत्ते। न चैकसमयेन परमाणोरालोकान्तगमनेऽपि समयस्य साशत्व विशिष्टगतिपरिणामाद्विशिष्टावगाहपरिणामवत्। तथाहि—यथा विशिष्टावगाहपरिणामादेकपरमाणुपरिमाणोऽनन्तपरमाणुस्कन्धः परमाणोरनशत्वात् पुनरप्यनन्ताशत्वं न साधयति तथा विशिष्टगतिपरिणामादेककालाणुव्याप्तैकाकाशप्रदेशातिक्रमणपरिमाणावच्छिन्नेनैकसमयेनैकस्माल्लोकान्ताद्द्वितीय लोकान्तमाक्रामतः परमाणोरसंख्येयाः कालाणव. समयस्यानशत्वादसख्येयाशत्वं न साधयन्ति ॥१३९॥

अब काल पदार्थ के द्रव्य पर्याय को बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—[त देश व्यतिपततः] परमाणु एक आकाश प्रदेश को (मन्दगति से) (जब) उल्लघन करता है तब [तत्सम] उसके बराबर जो काल (लगता है) वह [समयः] 'समय' (पर्याय) है, [तत पूर्व पर] उस (समय) से पूर्व तथा पश्चात् ऐसा (नित्य) [यः अर्थः] जो पदार्थ है [सः कालः] वह कालद्रव्य है, [समय. उत्पन्नप्रध्वसी] समय उत्पन्नध्वसी है,) समय पर्याय तो उत्पन्न होती है और नाश होती है।)

टीका—**किसी प्रदेशमात्र काल पदार्थ के द्वारा आकाश का जो प्रदेश व्याप्त हो, उस प्रदेश को जब परमाणु मन्दगति से उल्लंघन करता है, तब उस प्रदेश मात्र अतिक्रमण (उल्लंघन) के परिमाण (काल) के बराबर जो काल पदार्थ की सूक्ष्मवृत्ति (परिणति) रूप 'समय' है, वह उस काल पदार्थ की पर्याय है और ऐसी उस पर्याय से पूर्व की तथा बाद की वृत्ति रूप से वर्तित होने से जिसका नित्यत्व प्रगट होता है, ऐसा पदार्थ द्रव्य है। इस प्रकार द्रव्य समय (कालद्रव्य) अनुत्पन्न-अविनष्ट है और पर्यायसमय उत्पन्नध्वंसी है; यह समय निरंश है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो आकाश के प्रदेश का निरंशत्व न बने। एक समय में परमाणु के लोक के अन्त तक जाने पर भी, समय के अंश नही होते, क्योकि (परमाणु के) विशिष्ट (विशेष प्रकार के) अवगाह परिणाम विशिष्ट गतिपरिणाम होता है। इसे समझाते हैं—जैसे विशिष्ट अवगाहपरिणाम के कारण एक परमाणु के परिमाण के बराबर अनन्त परमाणुओ का स्कध बनता है तथापि वह स्कध परमाणु के अनन्त अंशो को सिद्ध नहीं करता, क्योंकि परमाणु निरश है, उसी प्रकार जैसे एक कालाणु से व्याप्त एक आकाश प्रदेश के अतिक्रमण के माप के बराबर एक 'समय' मे परमाणु विशिष्टगति परिणाम के कारण लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक जाता है तब (उस परमाणु के द्वारा उल्लंघित होने वाले) असख्य कालाणु 'समय' के असख्य अंशों को सिद्ध नहीं करते, क्योंकि 'समय' निरंश है।**

भावार्थ—**यहां प्रश्न होता है कि "जब पुद्गल-परमाणु शीघ्र गति के द्वारा एक 'समय' में लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है तब वह चौदह राजू तक आकाश प्रदेशों मे श्रेणीबद्ध जितने कालाणु हैं उन सबको स्पर्श करता है। इसलिये असख्य कालाणुओ को स्पर्श करने से 'समय' के असंख्य अंश होने चाहियें" ? इसका समाधान यह है—**

जैसे अनन्त परमाणुओं का कोई स्कंध आकाश के एक प्रदेश में समाकर परिमाण में एक परमाणु जितना ही होता है, सो वह परमाणुओं के विशेष प्रकार के अवगाह परिणाम के कारण ही है, (परमाणुओं मे ऐसी ही कोई विशिष्ट प्रकार की अवगाह परिणाम की शक्ति है, जिसके कारण ऐसा होता है) इससे कहीं परमाणु के अनन्त अश नहीं होते, इसी प्रकार कोई परमाणु एक समय मे असंख्य कालाणुओं को उल्लघन करके लोक के एक छोर से दूसरे छोर तक पहुँच जाता है, सो वह परमाणु के विशेष प्रकार के गतिपरिणाम के कारण ही है, (परमाणु मे ऐसी ही कोई विशिष्ट प्रकार के गतिपरिणाम की शक्ति है, जिसके कारण ऐसा होता है) इससे कहीं 'समय' के असंख्य अंश नही होते ॥१३९॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वोक्तकालपदार्थस्य पर्यायस्वरूप द्रव्यस्वरूप च प्रतिपादयति—

वदिवददो तस्य पूर्वसूत्रोदितपुद्गलपरमाणोर्व्यतिपततो मन्दगत्या गच्छत । क कर्म्मतापन्नम् ? त **देस** त पूर्वगाथोदित कालाणुव्याप्तमाकाशप्रदेशम् **तस्सम** तेन कालाणुव्याप्तैकप्रदेशपुद्गलपरमाणु-मन्दगतिगमनेन सम समान सदृशस्तत्सम **समओ** कालाणुद्रव्यस्य सूक्ष्मपर्यायभूत समयो व्यवहार-कालो भवतीति पर्यायव्याख्यान गतम् । **तदो परो पुव्वो** तस्मात्पूर्वोक्तसमयरूपकालपर्यायात्परो भावि-काले पूर्वमतीतकाले च **जो अत्थो** य पूर्वपर्यायिष्वन्वयरूपेण वृत्तपदार्थो द्रव्य **सो कालो** स काल कालपदार्थो भवतीति द्रव्यव्याख्यानम् । **समओ उप्पण्णपद्धसी** स पूर्वोक्तसमयपर्यायो यद्यपि पूर्वापर-समयसन्तानापेक्षया सख्येयासख्येयानन्तसमयो भवति, तथापि वर्त्तमानसमय प्रत्युत्पन्नप्रध्वसी । यस्तु पूर्वोक्तद्रव्यकाल स त्रिकालस्थायित्वेन नित्य इति । एव कालस्य पर्यायस्वरूप द्रव्यस्वरूप च ज्ञातव्यम् ॥

उत्थानिका—आगे पूर्व कहे हुए काल पदार्थ के पर्याय स्वरूप को और द्रव्य स्वरूप को बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(तं देसं) उस कालाणु से व्याप्त आकाश के प्रदेश पर (वदिवददो) मंद गति से जाने वाले पुद्गल परमाणु को (तस्सम समओ) जो कुछ काल लगता है उसी के समान समय पर्याय है । (तदो परो पुव्वो जो अत्थो) इस समय पर्याय के आगे और पहले जो पदार्थ है (सो कालो) वह काल द्रव्य है । (समओ उप्पण्णपद्धंसी) समय पर्याय उत्पन्न होकर नाश होने वाली है । जब तक एक पुद्गल का परमाणु मंदगति से एक कालाणु व्याप्त आकाश के प्रदेश से दूसरे कालाणु व्याप्त आकाश के प्रदेश पर आता है तब तक उसमें जो काल लगता है उसी के समान कालाणु द्रव्य की सूक्ष्म समय नाम की पर्याय होती है—यही व्यवहारकाल है । कालद्रव्य की पर्याय का यह स्वरूप कहा गया । इस समय पर्याय के उत्पन्न होने के पहले जो अपनी पूर्व पूर्व समय पर्यायों में**

अन्वय रूप से बराबर चला आ रहा है व आगामी काल मे होने वाली समय पर्यायो मे अन्वय रूप से बराबर चला जायगा वह कालद्रव्य नामा पदार्थ है। यद्यपि यह समय पर्याय पूर्वकाल की और उत्तरकाल की समयो की संतान की अपेक्षा सख्यात, असंख्यात तथा अनन्त समय रूप है तथापि वर्तमान काल का समय उत्पन्न होकर नाश होने वाला है, किन्तु जो पूर्व मे कहा हुआ द्रव्यकाल है वह तीनो कालो मे स्थायी होने से नित्य है इस तरह कालद्रव्य को पर्याय स्वरूप और द्रव्यस्वरूप जानना योग्य है।

तात्पर्यवृत्ति

अथवानेन गाथाद्वयेन समयरूपव्यवहारकालव्याख्यान क्रियते निश्चयकालव्याख्यान तु 'उप्पादो पद्धसो' इत्यादि गाथात्रयेणाग्रे करोति ।

तद्यथा समओ परमार्थकालस्य पर्यायभूतसमय । **अवप्पदेसो** अपगतप्रदेशो द्वितीयादिप्रदेश-रहितो निरश इत्यर्थ । कथ निरश इति चेत् ? **पदेसमेत्तस्स दवियजादस्स** प्रदेशमात्रपुद्गलद्रव्यस्य सम्बन्धी योऽसौ परमाणु **वदिवादादो वट्टदि** व्यतिपातात् मन्दगतिगमनात्मकाशात्स परमाणुस्तावद्-गमनरूपेण वर्तते । क प्रति ? **पदेसमागासदवियस्स** विवक्षितैकाकाशप्रदेश प्रति । इति प्रथमगाथा-व्याख्यानम् । **वदिवददो त देस** स परमाणुस्तमाकाशप्रदेश यदा व्यतिपतितोऽतिक्रान्तो भवति **तस्सम समओ** तेन पुद्गलपरमाणुमन्दगतिगमनेन सम समान समयो भवतीति निरशत्वमिति वर्तमानसमयो व्याख्यात । इदानी पूर्वपरसमयौ कथयति—**तदो परो पुव्वो** तस्मात्पूर्वोक्तवर्त्तमानसमयात्परो भावी कोऽपि समयो भविष्यति पूर्वमपि कोऽपि गत **अत्थो जो** एव य समयत्रयरूपोऽर्थ **सो कालो** सोऽतीता-नागतवर्त्तमानरूपेण त्रिविधव्यवहारकालो भण्यते । **समओ उप्पण्णपद्धसी** तेषु त्रिषु मध्ये योऽसौ वर्त्तमान स उत्पन्नप्रध्वसी अतीतानागतौ तु सख्येयासख्येयानन्तसमयाविन्यर्थ । एवमुक्तलक्षणे काले विद्यमानेऽपि परमात्मतत्त्वमलभमानोऽतीतानन्तकाले ससारसागरे भ्रमितोऽयं जीवो यतस्तत कारणा-त्तदेव निजपरमात्मतत्त्व सर्वप्रकारोपादेयरूपेण श्रद्धेय, स्वसवेदनज्ञानरूपेण ज्ञातव्यमाहारभयमैथुनपरि-ग्रहसज्ञास्वरूपप्रभृतिसमस्तरागादिविभावत्यागेन ध्येयमिति तात्पर्यम् ।।१३९।।

एव कालव्याख्यानमुख्यत्वेन षष्ठस्थले गाथाद्वय गतम् ।

उत्थानिका—अथवा इन दो गाथाओ से समयरूप व्यवहार काल का व्याख्यान किया जाता है । निश्चय काल का व्याख्यान तो "उप्पादो पद्धसो" इत्यादि तीन गाथाओ से आगे करेंगे ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**सो इस तरह है कि द्वितीयादि प्रदेश रहित निरश प्रदेशमात्र पुद्गल द्रव्यरूप परमाणु को मदगति से किसी विवक्षित एक आकाश के प्रदेश पर जाते हुए जो वर्तन करती है वह निश्चय काल की समय पर्याय अश रहित है। यह पहली गाथा का व्याख्यान है। वह परमाणु उस आकाश के प्रदेश पर जब पतन करता है तब उस पुद्गल परमाणु के मन्द गति से गमन मे जो काल लगा है उसी के समान समय है**

इसलिये एक समय अंश रहित है। अर्थात् समय सबसे छोटा काल है। इस तरह वर्तमान समय कहा गया। अब आगे पीछे के समयों को कहते हैं कि इस पूर्व में कहे हुए वर्तमान समय से आगे कोई समय होगा तथा पूर्व में कोई समय हो चुका है इस प्रकार अतीत, अनागत, वर्तमान रूप से तीन प्रकार व्यवहार काल कहा जाता है। इन तीन प्रकार समयों में जो कोई वर्तमान का समय है वह उत्पन्न होकर नाश होने वाला है अतीत और अनागत संख्यात, असंख्यात और अनन्त समय है। इस तरह स्वरूप के धारी काल के होते हुए भी यह जीव अपने परमात्म-तत्व को नहीं प्राप्त करता हुआ भूत की अपेक्षा अनन्त काल से इस संसार समुद्र में भ्रमता चला आया है इसलिये ही अब इसके लिये अपना ही परमात्म तत्व सर्व तरह से ग्रहण करने योग्य मानकर श्रद्धान करने योग्य है, व स्वसंवेदन ज्ञान से जानने योग्य है तथा आहार, भय, मैथुन, परिग्रह संज्ञा को आदि लेकर सर्व रागादि भावों को त्याग कर ध्यान करने योग्य है, ऐसा तात्पर्य है ॥१३६॥

इस तरह काल के व्याख्यान की मुख्यता से छठे स्थल में दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथाकाशस्य प्रदेशलक्षणं सूत्रयति—

[1]आगासमणुणिविट्ठं आगासपदेससण्णया[2] भणिदं[3] ।
सव्वेसिं च अणूणं सक्कदि तं देदुमवगासं ॥१४०॥

आकाशमणुनिविष्टमाकाशप्रदेशसंज्ञया भणितम् ।
सर्वेषां चाणूनां शक्नोति तद्दातुमवकाशम् ॥१४०॥

आकाशस्यैकाणुव्याप्योऽशः किलाकाशप्रदेशः, स खल्वेकोऽपि शेषपंचद्रव्यप्रदेशानां परमसौक्ष्म्यपरिणतानन्तपरमाणुस्कन्धानां चावकाशदानसमर्थः । अस्ति चाविभागैकद्रव्यत्वेऽप्यंशकल्पनमाकाशस्य, सर्वेषामणूनामवकाशदानस्यान्यथानुपपत्तेः । यदि पुनराकाशस्यांशा न स्युरिति मतिस्तदाङ्गुलीयुगलं नभसि प्रसार्य निरूप्यतां किमेकं क्षेत्रं किमनेकम् ? एकं चेत्किमभिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन किं वा भिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन ? अभिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् येनांशेनैकस्या अङ्गुलेः क्षेत्रं तेनांशेनेतरस्या ? इत्यन्यतरांशाभावः । एवं द्व्याद्यंशानामभावादाकाशस्य परमाणोरिव प्रदेशमात्रत्वम् । भिन्नांशाविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्यस्यांशकल्पनमायातम् । अनेकं चेत् किं सविभागानेकद्रव्यत्वेन किं वाऽविभागैकद्रव्यत्वेन ? सविभागानेकद्रव्यत्वेन चेत् एकद्रव्यस्याकाशस्यानन्तद्रव्यत्वं, अविभागैकद्रव्यत्वेन चेत् अविभागैकद्रव्यस्यांशकल्पनमायातम् ॥१४०॥

---

१ आयासमणुणिविट्ठ (ज० वृ०) । २ आयासपदेससण्णया (ज० वृ०) । ३ भणिय (ज० वृ०) ।

भूमिका—अब, आकाश के प्रदेश का लक्षण सूत्र द्वारा कहते हैं—

अन्वयार्थ—[अणुनिविष्ट आकाश] एक परमाणु जितने आकाश मे रहता है उतने आकाश को [आकाश प्रदेशसज्ञया] 'आकाश प्रदेश' के नाम से [भणितम्] कहा गया है। [च] और [तत्] वह [सर्वेषा अणूना] समस्त परमाणुओ को [अवकाश दातु शक्नोति] अवकाश देने को समर्थ है।

टीका—आकाश का एक परमाणु से व्याप्त अंश आकाश प्रदेश है। वह एक (आकाशप्रदेश) भी शेष पांच द्रव्यों के प्रदेशो को तथा सूक्ष्मता रूप से परिणमित अनन्त परमाणुओं को और स्कंधो को अवकाश देने मे समर्थ है। आकाश अविभाग (अखड) एक द्रव्य होने पर भी, उसके (प्रदेशरूप) अंशकल्पना है, क्योंकि यदि ऐसा न हो तो सर्व परमाणुओं को अवकाश देना नहीं बन सकता। यदि 'आकाश के अश नहीं होते' (अर्थात् अंशकल्पना नहीं की जाती), ऐसी (किसी की) मान्यता हो तो आकाश मे दो उगलियां फैलाकर बताइये कि 'दो उंगलियो का एक क्षेत्र है या अनेक ?' यदि एक है तो (प्रश्न होता है कि—), (१) आकाश अभिन्न अंशो वाला अविभाग एक द्रव्य है, इसलिये दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है या (२) भिन्न अशों वाला अविभाग एक द्रव्य है, इसलिये ? (१) यदि 'आकाश अभिन्न अश वाला अविभाग एक द्रव्य है इसलिये दो अंगुलियो का एक क्षेत्र है' ऐसा कहा जाय तो, जो अंश एक अंगुली का क्षेत्र है वही अंश दूसरी अगुली का भी है, इसलिये दोनों मे से एक अंश का अभाव हो गया इस प्रकार दो इत्यादि (एक से अधिक) अशों का अभाव होने से आकाश परमाणु की भांति प्रदेशमात्र सिद्ध हुआ। (इसलिये यह तो घटित नहीं होता), (२) यदि यह कहा जाय कि 'आकाश भिन्न अंशो वाला अविभाग एक द्रव्य है' (इसलिये दो अंगुलियों का एक क्षेत्र है) तो (यह योग्य ही है, क्योंकि) अविभाग एक द्रव्य में अश-कल्पना फलित हुई। यदि यह कहा जाय कि (दो अंगुलियों के) 'अनेक क्षेत्र हैं' (अर्थात् एक से अधिक क्षेत्र हैं, एक नहीं) तो (प्रश्न होता है कि–), आकाश सविभाग (खडरूप) अनेक द्रव्य हैं इसलिये दो अगुलियो के अनेक क्षेत्र हैं या (२) आकाश के अविभाग एकद्रव्य होने पर भी दो अंगुलियो के अनेक क्षेत्र है ? (१) यदि सविभाग अनेक द्रव्य होने से माना जाय तो आकाश जो कि एक द्रव्य है उसे अनन्त-द्रव्यत्व आ जायगा, (इसलिये यह तो घटित नही होता), (२) यदि अविभाग एक द्रव्य होने से माना जाय तो (यह योग्य ही है, क्योकि) अविभाग एक द्रव्य मे अशकल्पना फलित हुई ॥१४०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वं यत्सूचित प्रदेशस्वरूप तदिदानी विवृणोति—

आयासमणुणिविट्ठ आकाश अणुनिविष्ट पुद्गलपरमाणुव्याप्तम् । **आयासपदेससण्णया भणियं** आकाशप्रदेशसज्ञया भणित कथितम् । **सव्वेसिं च अणूण** सर्वेषामणूना चकारात्सूक्ष्मस्कन्धाना च **सक्कदि त देदुमवगास** शक्नोति स आकाशप्रदेशो दातुमवकाशम् । तस्याकाशप्रदेशस्य यदीत्थभूतमवकाशदानसामर्थ्यं न भवति तदानन्तानन्तो जीवराशिस्तस्मादप्यनन्तगुणपुद्गलराशिश्चासख्येयप्रदेशलोके कथमवकाश लभते ? तच्च विस्तरेण पूर्व भणितमेव ।

अथ मत—अखण्डाकाशद्रव्यस्य प्रदेशविभाग कथ घटते ? परिहारमाह—चिदानन्दैकस्वभावनिजात्मतत्त्वपरमैकाग्रचलक्षणसमाधिसजातनिर्विकाराह्लादैकरूपसुखसुधारसास्वादतृप्तमुनियुगलस्यावस्थितक्षेत्र किमेकमनेक वा ? यद्येक तर्हि द्वयोरप्येकत्व प्राप्नोति न च तथा । भिन्न चेत्तदा अखण्डस्याप्याकाशद्रव्यप्रदेशविभागो न विरुध्यत इत्यर्थ ॥१४०॥

उत्थानिका—आगे जिसका पहले कथन किया है उस प्रदेश का स्वरूप कहते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अणुणिविट्ठ आयासं) अविभागी पुद्गलके परमाणु द्वारा व्याप्त जो आकाश है उसको (आयासपदेससण्णया) आकाश के प्रदेश की संज्ञा से (भणिय) कहा गया है। तथा (त) वह प्रदेश (सव्वेसिं च अणूण) सर्व परमाणु तथा सूक्ष्म स्कंधो को (अवकासं देदुं सक्कदि) जगह देने को समर्थ है। एक परमाणु द्वारा व्याप्त आकाश के प्रदेश में यदि इतनी जगह देने की शक्ति नही होती कि वह अन्य परमाणुओं को व सूक्ष्म पदार्थों को जगह दे सकता है, तो यह अनन्तानन्त जीवराशि और उससे भी अनन्तगुणी पुद्गलराशि किस तरह असंख्यातप्रदेशी लोकाकाश मे जगह पाती, इसको विस्तार से पहले कह चुके हैं।**

शका—**अखड आकाश द्रव्य के भीतर प्रदेशों का विभाग कैसे सिद्ध हो सकता है ?**

समाधान--**चिदानन्दमयी एक स्वभावरूप निज आत्मतत्त्व मे परम एकाग्रता लक्षण समाधिसे उत्पन्न विकार-रहित आल्हादमयी एक रूप, सुख, अमृत रस के स्वाद मे तृप्त दो मुनियों के जोड़े का ठहरने का क्षेत्र एक है वा अनेक है ? यदि एक ही स्थान है तब दो मुनियो का एकत्व हो जायगा, सो ऐसा नहीं है। और यदि उनका क्षेत्र भिन्न-भिन्न है तब अखंड आकाश के भी प्रदेशों का विभाग करने मे कोई विरोध नहीं आता है ॥१४०॥**

अथ तिर्यगूर्ध्वप्रचयावावेदयति—

एक्को व दुगे बहुगा संखातीदा तदो अणंता य।
दव्वाणं च पदेसा संति हि समय त्ति कालस्स ॥१४१॥

एको वा द्वौ बहव सख्यातीतास्ततोऽनन्ताश्च ।
द्रव्याणा च प्रदेशा सन्ति हि समया इति कालस्य ।।१४१।।

प्रदेशप्रचयो हि तिर्यक्प्रचय , समयविशिष्टवृत्तिप्रचयस्तदूर्ध्वप्रचयः । तत्राकाशस्यावस्थितानन्तप्रदेशत्वाद्धर्माधर्मयोरवस्थितासख्येयप्रदेशत्वाज्जीवस्यानवस्थितासख्येयप्रदेशत्वात् पुद्गलस्य द्रव्येणानेकप्रदेशत्वशक्तियुक्तैकप्रदेशत्वात्पर्यायेण द्विबहुप्रदेशत्वाच्चास्ति तिर्यक्प्रचयः । न पुनः कालस्य शक्त्या व्यक्त्या चैकप्रदेशत्वात् । ऊर्ध्वप्रचयस्तु, त्रिकोटिस्पर्शित्वेन सांशत्वाद्द्रव्यवृत्ते. सर्वद्रव्याणामनिवारित एव । अय तु विशेषः समयविशिष्टवृत्तिप्रचयः शेषद्रव्याणामूर्ध्वप्रचयः समयप्रचयः एव कालस्योर्ध्वप्रचयः । शेषद्रव्याणा वृत्तेर्हि समयादर्थान्तरभूतत्वादस्ति समयविशिष्टत्वम् । कालवृत्तेस्तु स्वतः समयभूतत्वात्तन्नास्ति ।।१४१।।

भूमिका—**अब, (प्रदेश अपेक्षा) तिर्यक् प्रचय तथा (काल प्रवाह अपेक्षा) ऊर्ध्वप्रचय बतलाते हैं ।**

अन्वयार्थ—[द्रव्याणा च] द्रव्यो के [हि] निश्चय मे [एक] एक, [द्वौ] दो, [बहव] बहुत (सख्यात) [वा] अथवा [सख्यातीता] असख्यात [तत च] और फिर [अनन्ता] अनन्त [प्रदेशा] प्रदेश [सन्ति] है । [कालस्य] काल के [समया इति] 'समय' है ।

टीका—**प्रदेशो का समूह तिर्यक्प्रचय और समयविशिष्ट वृत्तियो का (पर्यायो का) समूह ऊर्ध्वप्रचय है । वहाँ आकाश अवस्थित (स्थिर) अनन्त प्रदेश वाला है, धर्म तथा अधर्म अवस्थित असंख्य प्रदेश वाले हैं, जीव अनवस्थित असख्य प्रदेशी है, और पुद्गल द्रव्यतः अनेक-प्रदेशित्व की शक्ति से युक्त एक प्रदेशवाला है तथा पर्याय की अपेक्षा दो अथवा बहुत (संख्यात, असंख्यात, अनन्त) प्रदेशवाला है, इसलिये उनके (आकाशादिक के) तिर्यक्प्रचय है । परन्तु काल के तिर्यक्प्रचय नही है, क्योंकि वह शक्ति तथा व्यक्ति (की अपेक्षा) से एक प्रदेशवाला है ।**

ऊर्ध्वप्रचय तो सर्वद्रव्यो के अनिवार्य ही है, क्योंकि द्रव्य की वृत्ति (परिणति) तीन कोटियों को (भूत, वर्तमान और भविष्यत्-ऐसे तीनो कालो को) स्पर्श करती है, इसलिये अंशों से युक्त है (एक समय की पर्याय त्रैकालिक परिणतिका एक अश है) । परन्तु इतना अन्तर है कि समयविशिष्ट वृत्तियों का प्रचय (काल को छोड़कर) शेष द्रव्यो का ऊर्ध्वप्रचय है, और समयो का प्रचय काल द्रव्य का ऊर्ध्वप्रचय है, क्योंकि शेष द्रव्यो की

वृत्ति समय से अर्थान्तर भूत (अन्य) है, इसलिये वह (वृत्ति) समय से विशिष्ट (विशेषित) है, काल द्रव्य की वृत्ति तो स्वतः समयभूत है, इसलिये वह समयविशिष्ट नहीं है ।।१४१।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ तिर्यक्प्रचयोर्ध्वप्रचयौ निरूपयति—

एक्को वा दुगे बहुगा सखातीदा तदो अणता य एको वा द्वौ बहव सख्यातीतास्ततोऽनन्ताश्च । **दव्वाण च पदेसा सति हि** कालद्रव्य विहाय पञ्चद्रव्याणा सम्बन्धिन एते प्रदेशा यथासम्भव सन्ति हि स्फुटम् । **समयत्ति कालस्स** कालस्य पुन पूर्वोक्तसख्योपेता समया सन्तीति । तद्यथा—एकाकारपरम-समरसीभावपरिणतपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतभरितावस्थाना केवलज्ञानादिव्यक्तिरूपानन्तगुणाधार-भूताना लोकाकाशप्रमितशुद्धासख्येयप्रदेशाना मुक्तात्मपदार्थे योऽसौ प्रचय समूह समुदायो राशि स । कि कि भण्यते ? तिर्यक्प्रचया तिर्यक्सामान्यमिति विस्तारसामान्यमिति अक्रमानेकान्त इति च भण्यते । स च प्रदेशप्रचयलक्षणस्तिर्यक्प्रचयो यथा मुक्तात्मद्रव्ये भणितस्तथा काल विहाय स्वकीय-स्वकीयप्रदेशसख्यानुसारेण शेषद्रव्याणा स भवतीति तिर्यक्प्रचयो व्याख्यात । प्रतिसमयवर्तिना पूर्वो-त्तरपर्यायाणा मुक्ताफलमालावत्सन्तान ऊर्ध्वप्रचय इत्यूर्ध्वसामान्यमित्यायतसामान्यमिति क्रमानेकान्त इति च भण्यते । स च सर्वद्रव्याणा भवति । किन्तु पचद्रव्याणा सम्बन्धी पूर्वापरपर्यायसन्तानरूपो योऽसावूर्ध्वताप्रचयस्तस्य स्वकीयस्वकीयद्रव्यमुपादानकारणम् । कालस्तु प्रतिसमय सहकारिकारण भवति । यस्तु कालस्य समयसन्तानरूप ऊर्ध्वताप्रचयस्तस्य स्वकीय स्वकीयद्रव्यमुपादानकारणम् । कालस्तु प्रतिसमय सहकारिकारण भवति । यस्तु कालस्य समय सन्तानरूप ऊर्ध्वता प्रचयस्तस्य काल एवोपादानकारण सहकारिकारण च । कस्मात् ? कालस्य भिन्नसमयाभावात्पर्याया एव समया भवन्तीत्यभिप्राय ।।१४१।।

एव सप्तमस्थले स्वतन्त्रगाथाद्वय गतम् ।

उत्थानिका—आगे तिर्यक् प्रचय और ऊर्ध्व प्रचय का निरूपण करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(दव्वाणं पदेसा) काल द्रव्य के बिना पाँच द्रव्यों के प्रदेश (एक्को व दुगे च बहुगा सखातीदा तदो अणता य सति) एक या दो या बहुत, या असंख्यात तथा अनन्त यथायोग्य होते है (कालस्स हि समयत्ति) परन्तु निश्चय से एक प्रदेशी काल द्रव्य के समय पूर्वोक्त संख्या वाले होते हैं। मुक्तात्मा पदार्थ मे एकाकार व परम समता रस के भाव मे परिणमनरूप परमानन्दमयी एक लक्षण सुखामृत से भरे हुए और केवल-ज्ञानादि प्रगटरूप अनन्त गुणो के आधारभूत, लोकाकाश प्रमाण शुद्ध असंख्यात प्रदेशो का जो प्रचय या समूह या समुदाय या राशि है उसको तिर्यक् प्रचय, तिर्यक् विस्तार सामान्य या अक्रम अनेकान्त कहते है। यह प्रदेशों का समुदायरूप तिर्यक् प्रचय जैसे मुक्तात्मा द्रव्य मे कहा गया है तैसे काल को छोड़कर अन्य द्रव्यों मे अपने-अपने प्रदेशों की संख्या के अनुसार तिर्यक्-प्रचय होता है ऐसा कथन समझना चाहिये। तथा समय-समय वर्तने वाली**

पूर्व और उत्तर पर्यायों की सन्तान को ऊर्ध्व प्रचय, ऊर्ध्व सामान्य, आयत सामान्य, या क्रम अनेकान्त कहते हैं, जैसे मोती की माला मे मोतियो को क्रम से गिना जाता है इसी तरह द्रव्य की समय-समय मे होने वाली पर्यायों को क्रम से गिना जाता है। इन पर्यायों के समूह को ऊर्ध्व सामान्य कहते है। यह सब द्रव्यो मे होता है। किन्तु काल के सिवाय पाँच द्रव्यों की पूर्व उत्तर पर्यायो का सन्तान रूप जो ऊर्ध्व प्रचय है उसका उपादान कारण तो अपना-अपना द्रव्य है परन्तु कालद्रव्य उनके लिये प्रति समय मे सहकारी कारण है। परन्तु जो कालद्रव्य का समय सन्तान रूप ऊर्ध्व प्रचय है उसका काल ही उपादान कारण है और काल ही सहकारी कारण है। क्योंकि काल से भिन्न कोई और समय नहीं है। काल की जो पर्यायें हैं, वे ही समय है ऐसा अभिप्राय है ॥१४१॥

अथ कालपदार्थोर्ध्वप्रचयनिरन्वयत्वमुपहन्ति—

उप्पादो पद्धंसो विज्जदि जदि जस्स एगसमयम्हि[1]।
समयस्स सो वि समओ [2]सभावसमवट्ठिदो हवदि ॥१४२॥

उत्पाद प्रध्वसो विद्यते यदि यस्यैकसमये।
समयस्य सोऽपि समय स्वभावसमवस्थितो भवति ॥१४२॥

समयो हि समयपदार्थस्य वृत्त्यंश तस्मिन् कस्याप्यवश्यमुत्पादप्रध्वसौ संभवत·, परमाणोर्व्यतिपातोत्पद्यमानत्वेन कारणपूर्वत्वात्। तौ यदि वृत्त्यशस्यैव, कि यौगपद्येन कि क्रमेण, यौगपद्येन चेत् नास्ति यौगपद्यं सममेकस्य विरुद्धधर्मयोरनवतारात्। क्रमेण चेत् नास्ति क्रमः, वृत्त्यशस्य सूक्ष्मत्वेन विभागाभावात्। ततो वृत्तिमान् कोऽप्यवश्यमनुसर्तव्यः, स च समयपदार्थ एव। तस्य खल्वेकस्मिन्नपि वृत्त्यंशे समुत्पादप्रध्वसौ सभवत। यो हि यस्य वृत्तिमतो यस्मिन् वृत्त्यंशे तद्वृत्त्यंशविशिष्टत्वेनोत्पादः। स एव तस्यैव वृत्तिमतस्तस्मिन्नेव वृत्त्यंशे पूर्ववृत्त्यशविशिष्टत्वेन प्रध्वंसः। यद्येवमुत्पादव्ययावेकस्मिन्नपि वृत्त्यशे संभवतः समयपदार्थस्य कथं नाम निरन्वयत्वं, यत पूर्वोत्तरवृत्त्यंशविशिष्टत्वाभ्या युगपदुपात्तप्रध्वंसोत्पादस्यापि स्वभावेनाप्रध्वस्तानुत्पन्नत्वादवस्थितत्वमेव न भवेत्। एवमेकस्मिन् वृत्त्यंशे समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्वं सिद्धम् ॥१४२॥

भूमिका—अब, कालपदार्थ का ऊर्ध्वप्रचय निरन्वय है, इसका खंडन करते है—

अन्वयार्थ—[यदि यस्य समयस्य] यदि कालका [एक समये] एक समय मे [उत्पाद. प्रध्वस] उत्पाद और विनाश [विद्यते] पाया जाता है, [सः अपि समय] तो

---

१ एकसमयम्हि (ज० वृ०)। २ सहावसमवट्ठिदो (ज० वृ०)।

वह काल भी [स्वभावसमवस्थित] स्वभाव मे अवस्थित (अविनाशी स्वभाव मे स्थिर अर्थात् ध्रुव) [भवति] होता है।

टीका—समय काल पदार्थ का वृत्त्यंश (पर्याय) है, उस वृत्त्यंश में किसी के भी उत्पाद तथा विनाश अवश्य सम्भवित हैं, क्योंकि परमाणु के अतिक्रमण के द्वारा (समयरूपी वृत्त्यंश) उत्पन्न होता है, इसलिये वह कारणपूर्वक है। (परमाणु के द्वारा एक आकाश प्रदेश का मंदगति से उल्लघन करना कारण है और समयरूपी वृत्त्यंश उस कारण का कार्य है, इसलिये उसमे किसी पदार्थ का उत्पाद तथा विनाश होना चाहिये।) 'किसी पदार्थ के उत्पाद-विनाश होने की क्या आवश्यकता है ? उसके स्थान पर वृत्त्यंश को ही उत्पाद-विनाश होते हुये मान लें तो क्या हानि है ? इस तर्क का समाधान करते हैं— यदि उत्पाद और विनाश वृत्त्यंश के ही माने जायें तो (प्रश्न होता है कि–) (१) वे युगपत् हैं या (२) क्रमश. ? (१) यदि 'युगपत्' कहा जाय तो युगपत्पना घटित नहीं होता, क्योंकि एक ही समय एक के दो विरोधी धर्म नहीं होते। (एक ही समय एक वृत्त्यंश के, प्रकाश और अंधकार की भाति, उत्पाद और विनाश–दो विरुद्ध धर्म नहीं होते हैं।) (२) यदि 'क्रमशः' कहा जाय तो क्रम नहीं बनता, क्योंकि वृत्त्यंश के सूक्ष्म होने से उसमे विभाग का अभाव है। इसलिये (समयरूपी वृत्त्यंश के उत्पाद तथा विनाश होना अशक्य होने से) कोई वृत्तिमान् अवश्य ढूंढना चाहिये। वह (वृत्तिमान्) काल पदार्थ ही है। उसके वास्तव मे एक वृत्त्यंश मे भी उत्पाद और विनाश संभव है, क्योंकि जिस वृत्तिमान् के जिस वृत्त्यंश मे उस वृत्त्यंश की अपेक्षा से जो उत्पाद है, वही, उसी वृत्तिमान् के उसी वृत्त्यंश मे पूर्व वृत्त्यश की अपेक्षा से विनाश है। (अर्थात्—कालपदार्थ के जिस वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से उत्पाद है, वही पूर्व पर्याय की अपेक्षा से विनाश है।)

यदि इस प्रकार उत्पाद और विनाश एक वृत्त्यंश में संभवित हैं तो काल पदार्थ निरन्वय कैसे हो सकता है, कि जिससे पूर्व और पश्चात् वृत्त्यंश की अपेक्षा से युगपत् विनाश और उत्पाद को प्राप्त होता हुआ भी स्वभाव से अविनष्ट और अनुत्पन्न होने से वह (काल पदार्थ) अवस्थित न हो ? अर्थात् अवश्य अवस्थित होगा ? काल पदार्थ के एक वृत्त्यंश मे भी उत्पाद और विनाश युगपत् होते है, इसलिये वह निरन्वय अर्थात् खंडित नहीं है, इसलिये स्वभावतः अवश्य ध्रुव है।

इस प्रकार एक वृत्त्यंश में काल पदार्थ उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला है, यह सिद्ध हुआ ॥१४२॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ समयसन्तानरूपस्योर्ध्वप्रचयस्यान्वयिरूपेणाधारभूत कालद्रव्य व्यवस्थापयति—

उप्पादो पद्धसो विज्जदि जदि उत्पाद प्रध्वसो विद्यते यदि चेत्। कस्य। **जस्स** यस्य कालाणो। क्व ? **एकसमयम्हि** एकसमये वर्तमानसमये **समयस्स** समयोत्पादकत्वात्समय कालाणुस्तस्य **सोवि समओ** सोऽपि कालाणु **सहावसमवट्ठिदो हवदि** स्वभावसमवस्थितो भवति। पूर्वोक्तमुत्पादप्रध्वसद्वय तदाधारभूत कालाणुद्रव्यरूप ध्रौव्यमिति त्रयात्मकस्वभावसत्तास्तित्वमिति यावत्। तत्र सम्यगवस्थित स्वभाव समवस्थितो भवति। तथाहि—यथागुलिद्रव्ये यस्मिन्नेव वर्तमानक्षणे वक्रपर्यायस्योत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैवागुलिद्रव्यस्य पूर्वर्जुपर्यायेण प्रध्वसस्तदाधारभूतागुलिद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धि। अथवा स्वस्वभावरूपसुखेनोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैवात्मद्रव्यस्य पूर्वानुभूताकुलत्वदु खरूपेण प्रध्वसस्तदुभयाधारभूतपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धि। अथवा मोक्षपर्यायरूपेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे रत्नत्रयात्मकनिश्चयमोक्षमार्गपर्यायरूपेण प्रध्वसस्तदुभयाधारपरमात्मद्रव्यत्वेन ध्रौव्यमिति द्रव्यसिद्धि। तथा वर्तमानसमयरूपपर्यायेणोत्पादस्तस्मिन्नेव क्षणे तस्यैव कालाणुद्रव्यस्य पूर्वसमयरूपपर्यायेण प्रध्वसस्तदुभयाधारभूतागुलिद्रव्यस्थानीयेन कालाणुद्रव्यरूपेण ध्रौव्यमिति कालद्रव्यसिद्धिरित्यर्थ ॥१४२॥

उत्थानिका—आगे समय-सतानरूप ऊर्ध्व-प्रचय के अन्वयी रूप से आधारभूत काल द्रव्य को स्थापन करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जस्स समयस्स) समयरूप पर्याय को उत्पन्न करने वाले जिस कालाणु द्रव्य का (एक समयम्हि) एक वर्तमान समय मे (जदि) जो (उप्पादो) उत्पाद तथा (पद्धसो) नाश (विज्जदि) होता है (सो वि समओ) सो ही काल पदार्थ (सहावसमवट्ठिदो हवदि) अपने स्वभाव मे भले प्रकार स्थिर रहता है।**

कालाणु द्रव्य मे पहली समय रूप पर्याय का नाश नयी समय रूप पर्याय का उत्पाद जिस वर्तमान समय में होता है, उसी समय इन दोनो उत्पाद और नाश का आधाररूप कालाणुरूप द्रव्य ध्रौव्य रहता है। इस तरह उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप त्रयात्मक स्वभावमयी सत्तारूप अस्तित्व इस काल द्रव्य का भले प्रकार सिद्ध है। भले प्रकार अवस्थित स्वभाव वाला समवस्थित है। जैसे एक हाथ की अंगुली को टेढा करते हुए जिस वर्तमान क्षण मे ही वक्र अवस्था का उत्पाद हुआ है उसी ही क्षण मे उसी ही अंगुली द्रव्य की पहली सीधीपने की पर्याय का नाश हुआ है परन्तु इन दोनों की आधारभूत अंगुली द्रव्य ध्रौव्य है। इस तरह द्रव्य की सिद्धि होती है। अथवा जिस किसी आत्मद्रव्य मे अपने स्वभावमयी सुख का जिस क्षण मे उत्पाद है उसी ही क्षण मे उसके पूर्व अनुभव होने वाले आकुलता रूप दुःख पर्याय का नाश है परन्तु इन दोनों के आधारभूत परमात्म-द्रव्य का ध्रौव्य है। इस तरह द्रव्य की सिद्धि है। अथवा एक आत्मद्रव्य मे जिस समय मोक्ष पर्याय का उत्पाद है उस ही

समय रत्नत्रयमयी मोक्षमार्ग रूप पर्याय का नाश है परन्तु इन दोनों के आधारभूत परमात्म द्रव्य का ध्रौव्य है। इस तरह द्रव्य की सिद्धि है। उसी प्रकार जिस काल द्रव्य की जिस क्षण में वर्तमान समयरूप पर्याय का उत्पाद है उसी काल द्रव्य की पूर्व समय की पर्याय का नाश है परन्तु इन दोनों के आधाररूप अगुली द्रव्य के स्थान मे कालाणु द्रव्य का ध्रौव्य है, इस तरह काल द्रव्य की सिद्धि है ॥१४२॥

अथ सर्ववृत्त्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यवत्त्वं साधयति—

[1]एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा।
समयस्स सव्वकालं एस हि कालाणुसब्भावो ॥१४३॥

एकस्मिन् सन्ति समये सभवस्थितिनाशसज्ञिता अर्था ।
समयस्य सर्वकाल एष हि कालाणुसद्भाव ॥१४३॥

अस्ति हि समस्तेष्वपि वृत्त्यंशेषु समयपदार्थस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्वमेकस्मिन् वृत्त्यंशे तस्य दर्शनात् उपपत्तिमच्चैतत्, विशेषास्तित्वस्य सामान्यास्तित्वमन्तरेणानुपपत्तेः। अयमेव च समयपदार्थस्य सिद्धयति सद्भावः। यदि विशेषसामान्यास्तित्वे सिद्धयतस्तदा तु अस्तित्व-मन्तरेण न सिद्धयतः कथचिदपि ॥१४३॥

भूमिका—अब, (जैसे एक वृत्त्यंश मे काल पदार्थ का उत्पाद व्यय सिद्ध किया है, उसी प्रकार) सर्व वृत्त्यशो मे काल पदार्थ के उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व हैं, यह सिद्ध करते हैं :—

अन्वयार्थ—[एकस्मिन् समये] एक समय मे [सभवस्थितिनाशसंज्ञिता अर्था] उत्पाद, ध्रौव्य और व्यय नामक अर्थ [समयस्य] काल के [सर्वकाल] सदा [सति] होते है। [एष हि] यही [कालाणुसद्भाव] कालाणु का सद्भाव है, (यही कालाणु के अस्तित्व की सिद्धि है।)

टीका—काल पदार्थ के सभी वृत्त्यंशों में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य होते हैं, क्योंकि (१४२ वीं गाथा में जैसा सिद्ध हुआ है तदनुसार) एक वृत्त्यंश मे वे (उत्पादव्ययध्रौव्य) देखे जाते है। और यह योग्य ही है, क्योंकि विशेष अस्तित्व की सामान्य अस्तित्व के बिना, उत्पत्ति नही हो सकती। यही काल पदार्थ के सद्भाव की सिद्धि है। (क्योंकि) यदि विशेष और सामान्य अस्तित्व सिद्ध होते है, तो वे अस्तित्व के बिना किसी भी प्रकार से सिद्ध नहीं होते ॥१४३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वोक्तप्रकारेण यथा वर्तमानसमये कालद्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्व स्थापितम् तथा सर्व-समयेष्वस्तीति निश्चिनोति—

एगम्हि संति समये संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा एकस्मिन्समये सन्ति विद्यन्ते। के ? सम्भवस्थितिनाशसज्ञिता अर्था धर्म्मा स्वभावा इति यावत्। कस्य सम्बन्धिन ? **समयस्स** समयरूप-पर्यायस्योत्पादकत्वात् समय कालाणुस्तस्य **सव्वकाल** यथैकस्मिन् वर्तमानसमये सर्वदा तथैव **एस हि कालाणुसब्भावो** एष प्रत्यक्षीभूतो हि स्फुटमुत्पादव्ययध्रौव्यात्मककालाणुसद्भाव इति। तद्यथा—यथा पूर्वमेकसमयोत्पादप्रध्वसाधारेणागुलिद्रव्यादिदृष्टान्तेन वर्तमानसमये कालद्रव्यस्योत्पादव्ययध्रौव्यत्व स्थापित तथा सर्वसमयेषु ज्ञातव्यमिति। अत्र यद्यप्यतीतानन्तकाले दुर्लभाया सर्वप्रकारोपादेयभूताया सिद्धगतेः काललब्धिरूपेण बहिरङ्गसहकारी भवति कालस्तथापि निश्चयनयेन निजशुद्धात्मतत्त्वसम्यक-श्रद्धानाज्ञानानुष्ठानसमस्तपरद्रव्येच्छानिरोधलक्षणतपश्चरणरूपा या तु निश्चयचतुर्विधाराधना सैव तत्रोत्पादनकारण न च कालस्तेन कारणेन स हेय इति भावार्थ ॥१४३॥

उत्थानिका—आगे यह निश्चय करते है कि जैसे पूर्व मे कहे प्रमाण एक वर्तमान समय मे काल द्रव्य का उत्पाद व्यय ध्रौव्य सिद्ध किया गया उसी प्रकार सर्व समयो मे होता है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(एगम्हि समये) एक समय में (समयस्स) कालद्रव्य का (संभवठिदिणाससण्णिदा अट्ठा) उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य स्वभाव (सति) हैं (एस हि) निश्चय करके ऐसा ही (कालाणुसब्भावो) कालाणु द्रव्य का स्वभाव (सव्वकाल) सदाकाल रहता है।**

जैसे पहले अंगुली द्रव्य आदि के दृष्टांत से एक समय मे ही उत्पाद और व्यय का आधार भूत होने से एक विवक्षित वर्तमान समय मे ही काल द्रव्य के उत्पाद व्यय ध्रौव्यपना स्थापित किया गया तैसा ही सर्व समयों मे जानना योग्य है। यहां यह तात्पर्य निकालना चाहिये कि यद्यपि भूतकाल के अनन्त समयों मे दुर्लभ और सब तरह से ग्रहण करने योग्य सिद्धगति का काललब्धिरूप से बाहरी सहकारी कारण काल है तथापि निश्चय नय से अपने ही शुद्ध आत्मा के तत्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र तथा सर्व पर द्रव्य की इच्छा की निरोधमयी लक्षणरूप तपश्चरण इस तरह यह जो निश्चय चार प्रकार आराधना है यही उपादान कारण है, काल उपादान कारण नहीं है, इससे कालद्रव्य त्यागने योग्य है यह भावार्थ है ॥१४३॥

अथ कालपदार्थस्यास्तित्वान्यथानुपपत्त्या प्रदेशमात्रत्वं साधयति—

जस्स ण संति पदेसा[1] पदेसमेत्तं[2] व तच्चदो णादुं ।
सुण्णं जाण तमत्थं अत्थंतरभूदमत्थीदो ॥१४४॥

यस्य न सन्ति प्रदेशा प्रदेशमात्र वा तत्त्वतो ज्ञातुम् ।
शून्य जानीहि तमर्थमर्थान्तरभूतमस्तित्वात् ॥१४४॥

अस्तित्वं हि तावदुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यात्मिका वृत्तिः । न खलु सा प्रदेशमन्तरेण सूत्र्यमाणा कालस्य संभवति, यतः प्रदेशाभावे वृत्तिमदभावः । स तु शून्य एव, अस्तित्वसञ्ज्ञाया वृत्तेरर्थान्तरभूतत्वात् । न च वृत्तिरेव केवला कालो भवितुमर्हति; वृत्तेर्हि वृत्तिमन्तमन्तरेणानुपपत्ते, उपपत्तौ वा कथमुत्पादव्ययध्रौव्यैक्यात्मकत्वम् । अनाद्यनन्तनिरन्तरानेकांशवशीकृतैकात्मकत्वेन पूर्वपूर्वांशप्रध्वंसादुत्तरोत्तरांशोत्पादादेकात्मध्रौव्यादिति चेत् । नैवम् । यस्मिन्नंशे प्रध्वंसो यस्मिंश्चोत्पादस्तयोः सहप्रवृत्त्यभावात् कुतस्त्यमैक्यम् । तथा प्रध्वस्तांशस्य सर्वथास्तमितत्वादुत्पद्यमानांशस्य वा संभवितात्मलाभत्वात्प्रध्वंसोत्पादैक्यवर्तिध्रौव्यमेव कुतस्त्यम् । एवं सति नश्यति त्रैलक्षण्यं, उल्लसति क्षणभङ्गः, अस्तमुपैति नित्यं द्रव्य, उदीयन्ते क्षणक्षयिणो भावाः । ततस्तत्त्वविप्लवभयात्कश्चिदवश्यमाश्रयभूतो वृत्तेर्वृत्तिमाननुसर्तव्यः । स तु प्रदेश एवाप्रदेशस्यान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वासिद्धेः । एव सप्रदेशत्वे हि कालस्य कुत एकद्रव्यनिबन्धनं लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्व नाभ्युपगम्येत । पर्यायसमयाप्रसिद्धेः । प्रदेशमात्रं हि द्रव्यसमयमतिक्रामतः परमाणोः पर्यायसमयः प्रसिद्ध्यति । लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वे तु द्रव्यसमयस्य कुतस्त्या तत्सिद्धिः । लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशैकद्रव्यत्वेऽपि तस्यैकं प्रदेशमतिक्रामतः परमाणोस्तत्सिद्धिरिति चेन्नैवं । एकदेशवृत्तेः सर्ववृत्तित्वविरोधात् । सर्वस्यापि हि कालपदार्थस्य यः सूक्ष्मो वृत्त्यंशः स समयो न तु तदेकदेशस्य । तिर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचयत्वप्रसंगाच्च । तथाहि प्रथममेकेन प्रदेशेन वर्तते ततोऽन्येन ततोऽप्यन्तरेणेति तिर्यक्प्रचयोऽप्यूर्ध्वचयीभूय प्रदेशमात्रं द्रव्यमवस्थापयति । ततस्तिर्यक्प्रचयस्योर्ध्वप्रचयत्वमनिच्छता प्रथममेव प्रदेशमात्रं कालद्रव्यं व्यवस्थापयितव्यम् ॥१४४॥

भूमिका—**अब, काल पदार्थ का अस्तित्व अन्यथा (अन्य प्रकार से) नहीं बन सकता, इसलिये उसका प्रदेशमात्रत्व सिद्ध करते हैं—**

---

१ पएसा (ज० वृ०) । (२) पएसमेत्त (ज० वृ०) ।

अन्वयार्थ—[यस्य] जिस पदार्थ के [प्रदेशा.] बहुत प्रदेश [प्रदेशमात्र वा] अथवा एक प्रदेश भी [तत्त्वत.] परमार्थत· [ज्ञातुम् न सति] ज्ञात नही होते, [त अर्थं] उस पदार्थ को [शून्य जानीहि] शून्य जानो [अस्तित्वात् अर्थान्तरभूतत्] क्योकि वह अस्तित्व से अर्थान्तरभूत (अन्य) है।

टीका—**प्रथम तो, अस्तित्व उत्पाद, व्यय, और ध्रौव्य की ऐक्यरूप प्रवृत्ति है। सूत्र में कही हुई वह (वृत्ति) प्रदेश के बिना ही काल के होनी सम्भव नहीं है, क्योंकि प्रदेश के अभाव मे वृत्तिमान् का अभाव होता है। (और) वह तो शून्य ही है, क्योंकि अस्तित्व नामक वृत्ति से अर्थान्तरभूत (अन्य) है। और (यदि यहा यह तर्क किया जाय 'मात्र समय पर्यायरूपवृत्ति ही माननी चाहिये, वृत्तिमान् कालाणु पदार्थ की क्या आवश्यकता है ? तो उसका समाधान इस प्रकार है)—मात्र वृत्ति ही काल नहीं हो सकती, क्योंकि वृत्तिमान् के बिना वृत्ति नहीं हो सकती। यदि (यह कहा जाय कि वृत्तिमान् के बिना भी) वृत्ति हो सकती है तो, (प्रश्न होता है कि वृत्ति तो उत्पादव्ययध्रौव्य की एकतास्वरूप होनी चाहिये,) अकेली वृत्ति उत्पाद व्यय ध्रौव्य की एकतारूप कैसे हो सकती है ? यदि यह कहा जाय कि—'अनादि-अनन्त, अनन्तर (परस्पर अन्तर हुये बिना एक के बाद एक प्रवर्तमान) अनेक अंशो के कारण एकात्मकता (एक स्वरूपता) होती है इसलिये, पूर्व-पूर्व अशो का उत्पाद होता है तथा एकात्मकतारूप ध्रौव्य रहता है,—इस प्रकार मात्र (अकेली) वृत्ति भी उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य की एकतास्वरूप हो सकती है' ऐसा नहीं है। (क्योंकि उस अकेली वृत्ति मे तो) जिस अंश मे नाश है और जिस अश मे उत्पाद है वे दो अश एक साथ प्रवृत्त नहीं होते, इसलिये (उत्पाद और व्यय का) ऐक्य कहां से हो सकता है ? (अर्थात् नहीं हो सकता)। तथा नष्ट अश के सर्वथा अस्त होने से और उत्पन्न होने वाला अश अपने स्वरूप को प्राप्त होने से (अर्थात् उत्पन्न हुआ है, इसलिये दोनो भिन्न-भिन्न हुये, फिर) नाश और उत्पाद की एकता मे प्रवर्तमान ध्रौव्य कहां से हो सकता है (अर्थात् नही हो सकता)। ऐसा होने पर त्रिलक्षणता (उत्पादव्ययध्रौव्यता) नष्ट हो जाती है, क्षणभगुरता (बौद्धसम्मत क्षणविनाश) उल्लसित हो उठता है, नित्य द्रव्य अस्त हो जाता है, और क्षण-विध्वंसी भाव उत्पन्न होते हैं। इसलिये तत्वविप्लव के (वस्तु-स्वरूप की व्यवस्था बिगड़ जाने के) भय से अवश्य ही वृत्ति का आश्रयभूत कोई वृत्तिमान् ढूढ़ना स्वीकार करना योग्य है। वह तो प्रदेश ही है (अर्थात् वह वृत्तिमान् सप्रदेश ही होता है), क्योंकि अप्रदेश के अन्वय तथा व्यतिरेक का अनुविधायित्व असिद्ध है। (जो अप्रदेश होता है। वह अन्वय**

तथा व्यतिरेकों का अनुसरण नहीं कर सकता, अर्थात् उसमें ध्रौव्य तथा उत्पाद-व्यय नहीं हो सकते।)

प्रश्न—जब कि इस प्रकार काल सप्रदेश है तो उसके एक द्रव्य के कारणभूत लोकाकाश के तुल्य (बराबर) असंख्यात प्रदेश क्यो न मानने चाहियें ?

उत्तर—ऐसा हो तो पर्याय समय सिद्ध नही होता, इसलिये असंख्य प्रदेश मानना योग्य नहीं है। परमाणु के द्वारा प्रदेशमात्र कालद्रव्य का उल्लघन करने पर (अर्थात्—परमाणु के द्वारा एक प्रदेशमात्र कालाणु से निकट के दूसरे प्रदेशमात्र कालाणु तक मंदगति से गमन करने पर) समय रूप पर्याय की सिद्धि होती है। यदि द्रव्यसमय आकाशतुल्य असंख्यप्रदेशी हो तो समयरूप पर्याय की सिद्धि कहां से होगी ? (नहीं होगी।)

'यदि द्रव्यसमय अर्थात् कालपदार्थ लोकाकाश जितने असख्य प्रदेश वाला एक द्रव्य हो तो भी परमाणु के द्वारा उसका एक प्रदेश उल्लंघित होने पर पर्यायसमय की सिद्धि हो जायगी, ऐसा कहा जाय तो यह ठीक नही है, क्योंकि (उसमे दोष आते हैं)—

(१) एक प्रदेश की वृत्ति को सम्पूर्ण द्रव्य की वृत्ति मानने मे विरोध है। (उपरोक्त मान्यता से) सम्पूर्ण काल पदार्थ का जो सूक्ष्म वृत्यश है यह 'समय' होगा परन्तु उसके एक देश का वृत्यंश 'समय' नहीं होगा। (अथवा)

(२) तिर्यक्प्रचय को ऊर्ध्वप्रचयत्व का प्रसग आता है। वह इस प्रकार है कि—प्रथम, कालद्रव्य एक प्रदेश से वर्ते, फिर प्रदेश से वर्ते और फिर अन्य प्रदेश से वर्ते (ऐसा प्रसंग आता है) इस प्रकार तिर्यक्प्रचय ऊर्ध्वप्रचय बनकर द्रव्य को प्रदेशमात्र स्थापित करता है। (अर्थात् तिर्यक्प्रचय ही ऊर्ध्वप्रचय है, ऐसा मानने का प्रसग आता है, इसलिये द्रव्य प्रदेशमात्र ही सिद्ध होता है।) इसलिये तिर्यक्प्रचय को ऊर्ध्वप्रचयत्व न मानने (चाहने) वाले को प्रथम ही कालद्रव्य को प्रदेशमात्र निश्चय करना चाहिये ॥१४४॥

इस प्रकार ज्ञेयतत्वप्रज्ञापन में द्रव्यविशेषप्रज्ञापन अधिकार समाप्त हुआ।

तात्पर्यवृत्ति

अथोत्पादव्ययध्रौव्यात्मकास्तित्वावष्टम्भेन कालस्यैकप्रदेशत्व साधयति—

जस्स ण संति यस्य पदार्थस्य न सन्ति न विद्यन्ते। के ? **पएसा** प्रदेशा **पएसमेत्त तु** प्रदेशमात्र-मेकप्रदेशप्रमाण पुनस्तद्वस्तु **तच्चदो णादु** तत्त्वत पदार्थतो ज्ञातु शक्यते। **सुण्ण जाण तमत्थ** यस्यैकोऽपि प्रदेशो नास्ति तमर्थ पदार्थ शून्य जानीहि हे शिष्य ! कस्माच्छून्यमिति चेत् ? **अत्थतरभूदं** एकप्रदेशा-भावे सत्यर्थान्तरभूत भिन्न भवति यत. कारणात्। कस्या सकाशाद्भिन्नम् ? **अत्थीदो** उत्पादव्यय-

ध्रौव्यात्मकसत्ताया इति। तथाहि—कालपदार्थस्य तावत्पूर्वसूत्रोदितप्रकारेणोत्पादव्ययध्रौव्यात्मक-मस्तित्व विद्यते तच्चास्तित्व प्रदेश विना न घटते। यश्च प्रदेशवान् स कालपदार्थ इति। अथ मत कालद्रव्याभावेप्युत्पादव्ययध्रौव्यत्व घटते। नैव। अगुलिद्रव्याभावे वर्तमानवक्रपर्यायोत्पादो भूतर्जुपर्या-यस्य विनाशस्तदुभयाधारभूत ध्रौव्य। कस्य भविष्यति ? न कस्यापि। तथा कालद्रव्याभावे वर्तमान-समयरूपोत्पादो भूतसमयरूपो विनाशस्तदुभयाधारभूत ध्रौव्य। कस्य भविष्यति ? न कस्यापि। एव सत्येतदायाति–अन्यस्य भङ्गोऽन्यस्योत्पादोऽन्यस्य ध्रौव्यमिति सर्व वस्तुस्वरूप विप्लवते। तस्माद्वस्तु-विप्लवभयादुत्पादव्ययध्रौव्याणा कोऽप्येक आधारभूतोऽस्तीत्यभ्युपगन्तव्य। स चैकप्रदेशरूप कालाणु-पदार्थ एवेति। अत्रातीतानन्तकाले ये केचन सिद्धसुखभाजन जाता, भाविकाले चात्मोपादानसिद्ध स्वयमतिशयवदित्यादिविशेषेण विशिष्टसिद्धसुखस्य भाजन भविष्यन्ति ते सर्वेऽपि काललब्धिवशेनैव, तथापि तत्र निजपरमात्मोपादेयरुचिरूप वीतरागचारित्राविनाभूत यन्निश्चयसम्यक्त्व तस्यैव मुख्यत्व, न च कालस्य, तेन स हेय इति। तथा चोक्तम्—

"किं पलविएणबहुणा जे सिद्धा णरवरा गये काले, सिज्झिहहि जेवि भविया त जाणह सम्म-माहप्प" ॥१४४॥

एव निश्चयकालव्याख्यानमुख्यत्वेनाष्टमस्थले गाथात्रय गतम्। इति पूर्वोक्तप्रकारेण "दव्व जीवमजीव" इत्याद्येकोनविंशतिगाथाभि स्थलाष्टकेन विशेषज्ञेयाधिकार समाप्त। अत परम शुद्धजीवस्य द्रव्यभाव प्राणै सह भेदनिमित्त "सपदेसे हि समग्गो" इत्यादि यथाक्रमेण गाथाष्टक पर्यन्त सामान्य भेदभावना व्याख्यान करोति।

उत्थानिका—आगे उत्पाद व्यय ध्रौव्यमयी अस्तित्व मे ठहरे हुए कालद्रव्य के एक प्रदेशपना स्थापित करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जस्स पएसा ण संति) जिस किसी पदार्थ के बहुप्रदेश नहीं हैं (व पदेसमेत्तं तच्चदो णादु) अथवा जो वस्तु अपने स्वरूप से एक प्रदेश मात्र भी नहीं जानी जाती है (तमत्थं सुण्णं जाण) उस पदार्थ को शून्य जानो क्योंकि (अत्थीदो अत्थतर-भूदं) वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप अस्तित्व से अर्थान्तरभूत अर्थात् भिन्न हो जायेगा क्योंकि उसमे एक प्रदेश भी नहीं है, जिससे उसकी सत्ता का बोध हो।**

जैसा पूर्व सूत्रों मे कहा है उस प्रकार काल पदार्थ मे उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप अस्तित्व विद्यमान है। यह अस्तित्व प्रदेश के बिना नहीं घट सकता है। जो प्रदेशवान् है, वही काल पदार्थ है। कोई कहे कि कालद्रव्य के अभाव में भी उत्पाद व्यय ध्रौव्य घट जायेगा ? इसका समाधान करते हैं कि ऐसा नहीं है। जैसे अगुली द्रव्य के न होते हुए वर्तमान वक्र पर्याय का जन्म और भूतकाल की सीधी पर्याय का विनाश तथा दोनों के आधारभूत-ध्रौव्य किसका होगा ? अर्थात् किसी का भी न होगा। तैसे ही कालद्रव्य के अभाव मे वर्त-मान समय रूप उत्पाद व भूत समय रूप विनाश व दोनों का आधार रूप ध्रौव्य किसका

होगा ? किसी का नहीं हो सकेगा। यदि सत्तारूप पदार्थ को न माने तो यह होगा कि विनाश किसी दूसरे का, उत्पाद किसी अन्य का व ध्रौव्य किसी और का होगा। ऐसा होते हुए सर्व वस्तु का स्वरूप बिगड़ जायेगा। इसलिये वस्तु के नाश के भय से यह मानना पड़ेगा कि उत्पाद व्यय ध्रौव्य का कोई भी एक आधार है। वह इस प्रकरण में एक प्रदेश मात्र कालाणु पदार्थ ही है। यहां यह तात्पर्य समझना कि अनन्त भूतकाल मे जितने कोई सिद्ध सुख के पात्र हो चुके हैं व भविष्यकाल मे अपने ही उपादान से सिद्ध व स्वयं अतिशयरूप इत्यादि विशेषणरूप अतींद्रिय सिद्ध सुख के पात्र होवेंगे वे सब ही काल लब्धि के वश से ही हुए हैं व होंगे, तो भी अपना परमात्मा ही उपादेय है, ऐसी रुचिरूप तथा वीतरागचारित्र के अविनाभावी निश्चयसम्यग्दर्शन की ही मुख्यता है, न कि काल की। इसलिये काल हेय है। जैसा कि कहा है—

"बहुत क्या कहे जितने उत्तम पुरुष भूतकाल में सिद्ध हुए हैं व जो भव्य जीव भविष्य मे सिद्ध होंगे सो सब सम्यग्दर्शन की महिमा जानो" ॥१४४॥

इस तरह निश्चय काल के व्याख्यान की मुख्यता से आठवें स्थल मे तीन गाथायें पूर्ण हुई। इस तरह पूर्व मे कहे प्रमाण "दव्वं जीवमजीव" इत्यादि उन्नीस गाथाओं से आठवें स्थल से विशेषज्ञेयाधिकार समाप्त हुआ।

इसके आगे शुद्ध जीव का अपने द्रव्य और भाव प्राणों के साथ भेद के निमित्त "सपदेसेहिं समग्गो" इत्यादि यथाक्रम से आठ गाथाओ तक सामान्य भेद भावना का व्याख्यान करते हैं।

अथैवं ज्ञेयतत्त्वमुक्त्वा ज्ञानज्ञेयविभागेनात्मानं निश्चिन्वन्नात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय व्यवहारजीवत्वहेतुमालोचयति—

सपदेसेहिं समग्गो लोगो अट्ठेहिं णिट्ठिदो णिच्चो।
जो तं जाणदि जीवो [1]पाणचदुक्काभिसंबद्धो ॥१४५॥

सप्रदेशैः समग्रो लोकोऽर्थैर्निष्ठितो नित्यः।
यस्तं जानाति जीवः प्राणचतुष्काभिसंबद्धः ॥१४५॥

एवमाकाशपदार्थादाकालपदार्थाच्च समस्तैरेव संभावितप्रदेशसद्भावैः पदार्थैः समग्र एव यः समाप्तिं नीतो लोकस्तं खलु तदन्तःपातित्वेऽप्यचिन्त्यस्वपरपरिच्छेदशक्तिसंपदा जीव एव जानीते नत्वितरः। एवं शेषद्रव्याणि ज्ञेयमेव, जीवद्रव्यं तु ज्ञेयं ज्ञानं चेति ज्ञानज्ञेयविभागः। अथास्य जीवस्य सहजविजृम्भितानन्तज्ञानशक्तिहेतुके त्रिसमयावस्थायि-

---

[1] पाणचउक्केण सबद्धो (ज० वृ०)।

त्वलक्षणे वस्तुस्वरूपभूततया सर्वदानपायिनि निश्चयजीवत्वे सत्यपि संसारावस्थायामनादिप्रवाहप्रवृत्तपुद्गलसश्लेषदूषितात्मतया प्राणचतुष्काभिसंबद्धत्वं व्यवहारजीवत्वहेतुर्विभक्तव्योऽस्ति ॥१४५॥

भूमिका—अब, इस प्रकार ज्ञेयत्व को कहकर, ज्ञान और ज्ञेय के विभाग द्वारा आत्मा को निश्चित करते हुये, आत्मा को अत्यन्त विभक्त (भिन्न) करने के लिये व्यवहार जीवत्व के हेतु का विचार करते हैं .—

अन्वयार्थ—[सप्रदेशै अर्थै] सप्रदेश पदार्थों के द्वारा [निष्ठित] समाप्ति को प्राप्त[1] [समग्र· लोक] सम्पूर्ण लोक [नित्य] नित्य है, [त] उसे [य जानाति] जो जानता है [जीव] वह जीव है, [प्राणचतुष्काभिसबद्ध] जो कि (ससार दशा मे) चार प्राणो से संयुक्त है ।

टीका—इस प्रकार जिन्हे प्रदेश का सद्भाव फलित हुआ है ऐसा आकाश पदार्थ से लेकर काल पदार्थ तक के सभी पदार्थों से समाप्ति को प्राप्त जो समस्त लोक है, उसको वास्तव मे, उसमें अन्तर्भूत होने पर भी, स्वपर को जानने की अचिन्त्यशक्तिरूप सम्पत्ति के द्वारा जीव ही जानता है, दूसरा कोई नहीं । इस प्रकार शेष द्रव्य ज्ञेय ही हैं और जीवद्रव्य तो ज्ञेय तथा ज्ञान है,—इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय का विभाग है। अब, सहजरूप से (स्वभाव से ही) प्रगट अनन्तज्ञानशक्ति जिसका हेतु है और तीनों काल मे अवस्थायित्व जिसका लक्षण है ऐसे वस्तु का स्वरूपभूत होने से सर्वदा अविनाशी निश्चयजीवत्व होने पर भी, ससारावस्था मे अनादिप्रवाहरूप से प्रवर्तमान पुद्गल संश्लेष के द्वारा स्वयं दूषित होने से इस जीव के चार प्राणों से संयुक्तता है, जो कि व्यवहारजीवत्व का हेतु है, और विभक्त करने योग्य है ॥१४५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ ज्ञानज्ञेयज्ञापनार्थं तथैवात्मन प्राणचतुष्केन सह भेदभावनार्थं वा सूत्रमिद प्रतिपादयति—

लोगो लोको भवति । कथभूत ? **णिट्ठिदो** निष्ठित समाप्ति नीतो भृतो वा । कै कर्तृभूतै ? **अट्ठेहि** सहजशुद्धबुद्धैकस्वभावो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तत्प्रभृतयो येऽर्थास्तै । पुनरपि किंविशिष्ट ? **सपदेसेहिं समग्गो** स्वकीयप्रदेशै समग्र परिपूर्ण । अथवा पदार्थै कथभूतै ? सप्रदेशै प्रदेशसहितै । पुनरपि किंविशिष्टो लोक ? **णिच्चो** द्रव्यार्थिकनयेन नित्य लोकाकाशापेक्षया वा । अथवा नित्यो न केनापि पुरुषविशेषेण कृत **जो त जाणदि** य कर्ता त ज्ञेयभूतलोक जानाति **जीवो** स जीवपदार्थो भवति । एतावता किमुक्त भवति योऽसौ विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो जीव स ज्ञान ज्ञेयश्च भण्यते । शेषपदार्थास्तु ज्ञेया एवेति ज्ञातृज्ञेयविभाग । पुनरपि किंविशिष्टो जीव ? **पाणचउक्केण सबद्धो** यद्यपि

---

१ छह द्रव्यो से ही सम्पूर्ण लोक समाप्त हो जाता है, अर्थात् उनके अतिरिक्त लोक मे दूसरा कुछ नही है ।

निश्चयेन स्वत सिद्धपरमचैतन्यस्वभावेन निश्चयप्राणेन जीव ति तथापि व्यवहारेणानादिकर्मबन्ध-वशादायुराद्यशुद्धप्राणचतुष्केनापि सम्बद्ध सन् जीवति। तच्च शुद्धनयेन जीवस्वरूप न भवतीति भेदभावना ज्ञातव्येत्यभिप्राय ॥१४५॥

उत्थानिका—आगे ज्ञान और ज्ञेय को बताने के लिये तथा आत्मा का चार प्राणो के साथ भेद है इस भावना के लिये यह सूत्र कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(णिच्चो) द्रव्यार्थिक नय से नित्य अथवा किसी पुरुष विशेष से नहीं किया हुआ सदा से चला आया हुआ (लोगो) यह लोकाकाश (सपदेसेहिं समग्गो) अपने ही असंख्यात प्रदेशो से पूर्ण है और (अट्ठेहिं णिट्ठिदो) सहज शुद्धबुद्ध एक स्वभावरूप परमात्म पदार्थ को आदि लेकर अन्य पदार्थों से भरा हुआ है अथवा अपने-अपने प्रदेशो को रखने वाले पदार्थों से भरा हुआ है (जो तं जाणदि) जो कोई इस ज्ञेय रूप लोक को जानता है (जीवो) सो जीव पदार्थ है तथा वह (पाणचउक्केणसंबद्धो) संसार अवस्था मे व्यवहार से चार प्राणो का सम्बन्ध रखता है। निश्चय से यह जीव शुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावधारी है इसलिये यह ज्ञान भी है और ज्ञेय भी है। शेष सब पदार्थ मात्र ज्ञेय ही हैं इस तरह ज्ञाता और ज्ञेय का विभाग है। तथा यद्यपि निश्चय से यह स्वयसिद्ध परम चैतन्य स्वभावरूप निश्चय प्राण से जीता है तथापि व्यवहार से अनादि से कर्मबन्ध के वश से आयु आदि अशुद्ध चार प्राणो से भी सम्बन्ध रखता हुआ जीता है। यह चार प्राणों का सम्बन्ध शुद्ध निश्चय से जीव का स्वरूप नहीं है, ऐसी भेद भावना समझनी चाहिये यह अभिप्राय है ॥१४५॥**

अथ के प्राणा इत्यावेदयति—

इंदियपाणो य तधा[1] बलपाणो तह य आउपाणो य।
आणप्पाणप्पाणो जीवाणं होंति पाणा ते ॥१४६॥

इन्द्रियप्राणश्च तथा बलप्राणस्तथा चायु प्राणश्च।
आनपानप्राणो जीवाना भवन्ति प्राणास्ते ॥१४६॥

स्पर्शनरसनघ्राणचक्षु श्रोत्रपञ्चकमिन्द्रियप्राणा:, कायवाङ्मनस्त्रयं बलप्राणा:, भव-धारणनिमित्तमायु:प्राण:। उदञ्चनन्यञ्चनात्मको मरुदानपानप्राण: ॥१४६॥

भूमिका—**अब, प्राण कौन से है, सो बतलाते हैं—**

---

१ तहा (ज० वृ०)।

अन्वयार्थ—[इन्द्रिय प्राण च] इन्द्रिय प्राण [तथा बलप्राण] बलप्राण, [तथा च आयुप्राण] आयुप्राण [च] और [आनपानप्राण] श्वासोच्छ्वास प्राण, [ते] यह (चार) [जीवाना] जीवो के [प्राणा] प्राण [भवन्ति] है।

टीका—**स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र,—यह पाच इन्द्रियप्राण हैं, काय, वचन, और मन—यह तीन बलप्राण है, मनुष्यादि भव धारण का निमित्त आयुप्राण है, नीचे और ऊपर जाना जिसका स्वरूप है, ऐसी वायु (श्वास) श्वासोच्छ्वास प्राण है ।।१४६।।**

तात्पर्यवृत्ति

अथेन्द्रियादिप्राणचतुष्कस्वरूप प्रतिपादयति—

इन्दियपाणो य तहा अतीन्द्रियानन्तसुखस्वभावादात्मनो विलक्षण इन्द्रियप्राण **बलपाणो तह य** मनोवाक्कायव्यापाररहितात्मपरमात्मद्रव्याद्विसदृशो बलप्राण, **आउपाणो य** अनाद्यनन्तस्वभावात्परमात्मपदार्थाद्विपरीत साद्यन्त आयु प्राण, **आणप्पाणप्पाणो** उच्छ्वासनिश्वासजनितखेदरहिताच्छुद्धात्मतत्त्वात्प्रतिपक्षभूत आनपानप्राण । **जीवाण होंति पाणा** एवमायुरिन्द्रियबलोच्छ्वासरूपेणाभेदनयेन जीवाना सम्बन्धिनश्चत्वार प्राणा भवन्ति। ते ते च शुद्धनयेन जीवाद्भिन्ना भावयितव्या इति ।।१४६।।

उत्थानिका—आगे इन्द्रि आदि चार प्राणो का स्वरूप कहते है—

अन्वय सहीत विशेषार्थ—**(इन्दियपाणो) इन्द्रिय प्राण (य तहा) तथा (बलपाणो) बल प्राण (तह य) तैसे ही (आउपाणो) आयुप्राण (य) और (आणप्पाणप्पाणो) श्वासोच्छ्वास प्राण (ते पाणा) ये प्राण (जीवाणं) जीवो के (होंति) होते हैं ।**

विशेषार्थ—**अतींद्रिय और अनन्त सुख के कारण न होने से इन्द्रियप्राण आत्मा के स्वभाव से विलक्षण हैं। मन, वचन, काय के व्यापार से रहित परमात्मद्रव्य से भिन्न बल प्राण है। अनादि और अनन्त स्वभावमयी परमात्मपदार्थ से विपरीत आदि और अंत सहित आयु प्राण है। श्वासोच्छ्वास के पैदा होने के खेद से रहित शुद्धात्मतत्व से विपरीत श्वासोच्छ्वास प्राण है। इस तरह आयु, इन्द्रिय, बल, श्वासोच्छ्वास के रूप से व्यवहारनय से जीवों के चार प्राण होते है। ये प्राण शुद्ध निश्चयनय से जीव से भिन्न है, ऐसी भावना करनी योग्य है ।।१४६।।**

अथ ते एव प्राणा भेदनयेन दशविधा भवन्तीत्यावेदयति,—

पचवि इन्दियपाणा मणवचिकाया य तिण्णि बलपाणा ।
आणप्पाणप्पाणो आउगपाणेण होंति दसपाणा ।।१४६।।१

पचापि इन्द्रियप्राणा मनोवचःकाया च त्रयो बलप्राणा, ।
आनपानप्राणा आयु प्राणेन भवन्ति दश प्राणा ॥१४६-१॥

पचवि इन्दियपाणा इन्द्रियप्राण पञ्चविध, **मण वचिकाया य तिण्णि बल पाणा** त्रिधा मनोवाक्काया बलप्राण, **आणप्पाणप्पाणो** पुनश्चैक आनपानप्राण, **आउगपाणेण** आयु प्राण । **होंति दसपाणा** इति भेदेन दश प्राणास्तेऽपि । चिदानन्दैकस्वभावात्परमात्मनो निश्चयेन भिन्ना ज्ञातव्या इत्यभिप्राय ॥१४६-१॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि भेद नय से ये प्राण दस तरह के होते है—

अर्थ—**स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण ये पांच इन्द्रियप्राण हैं। मन, वचन, काय ये तीन बलप्राण हैं। श्वासोच्छ्वास तथा आयुप्राण को लेकर दश प्राण होते हैं। ये दसो प्राण चिदानन्दमयी एक रूप परमात्मा से निश्चय से भिन्न हैं ऐसा जानना चाहिये, यह अभिप्राय है ॥१४६।१॥**

अथ प्राणानां निरुक्त्या जीवत्वहेतुत्वं पौद्गलिकत्वं च सूत्रयति—

पाणेहिं [1]चदुहिं जीवदि जीविस्सदि जो हि जीविदो पुव्वं ।
सो जीवो [2]पाणा पुण [3]पोग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता ॥१४७॥

प्राणैश्चतुर्भिर्जीवति जीविष्यति यो हि जीवित पूर्वम् ।
स जीव प्राणा पुन पुद्गलद्रव्यैर्निर्वृत्ता ॥१४७॥

प्राणसामान्येन जीवति जीविष्यति जीवितवांश्च पूर्वमिति जीवः। एवमनादिसंतानप्रवर्तमानतया त्रिसमयावस्थत्वात्प्राणसामान्य जीवस्य जीवत्वहेतुरस्त्येव तथापि तन्न जीवस्य स्वभावत्वमावाप्नोति पुद्गलद्रव्यनिर्वृत्तत्वात् ॥१४७॥

भूमिका—**अब, व्युत्पत्ति द्वारा प्राणो को जीवत्व का हेतु और पौद्गलिकत्व सूत्र द्वारा कहते है—**

अन्वयार्थ—[य हि] जो [चतुर्भि प्राणै] चार प्राणो से [जीवति] जीता है, [जीविष्यति] जीवेगा, [जीवित पूर्वं] और पहले जीता था, [स जीव] वह जीव है। [पुन] और [प्राणा] प्राण [पुद्गल द्रव्यै निवृत्ता] पुद्गल द्रव्यो से निष्पन्न (रचित) है।

टीका—**(व्युत्पत्ति के अनुसार) जो प्राणसामान्य से जीता है, जीवेगा, और पहले जीता था, वह जीव है। इस प्रकार अनादि संतानरूप (प्रवाहरूप) प्रवृत्ति के कारण (ससार दशा मे) त्रिकाल-स्थायी होने से प्राणसामान्य जीव के जीवत्व का हेतु है ही, तथापि वह उसका स्वभाव नहीं है, क्योंकि वह पुद्गल द्रव्य से रचित है ॥१४७॥**

---

१ चउहि (ज० वृ०) २ ते पाणा (ज० वृ०) ३ पुग्गद दव्वेहि (ज० वृ०)।

तात्पर्यवृत्ति

अथ प्राणशब्दव्युत्पत्त्या जीवस्य जीवत्व प्राणाना पुद्‌गलस्वरूपत्व च निरूपयति—

पाणेहिं चदुहिं जीवदि यद्यपि निश्चयेन सत्ताचैतन्यसुखबोधादिशुद्धभावप्राणैर्जीवति तथापि व्यवहारेण वर्त्तमानकाले द्रव्यभावरूपैश्चतुर्भिरशुद्धप्राणैर्जीवति **जीवस्सदि** जीविष्यति भाविकाले **जो हि जीविदो** यो हि स्फुट जीवित **पुव्वं** पूर्वकाले **सो जीवो** स जीवो भवति **ते पाणा** ते पूर्वोक्ता प्राणा **पुग्गलदव्वेहिं णिव्वत्ता** उदयागतपुद्‌गलकर्मणा निर्वृत्ता निष्पन्ना इति । तत एव कारणात्पुद्‌गलद्रव्यविपरीतादनन्तज्ञानदर्शनसुखवीर्याद्यनन्तगुणस्वभावात्परमात्मतत्त्वाद्भिन्ना भावयितव्या इति भाव ॥१४७॥

उत्थानिका—आगे प्राण शब्द की व्युत्पत्ति करके जीव का जीवपना और प्राणो का पुद्‌गल स्वरूपपना कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो हि) जो कोई वास्तवमे (चदुहि पाणेहि) चार प्राणो से (जीवदि) जीता है, (जीविस्सदि) जीवेगा व (पुव्व जीविदो) पहले जीता था (सो जीवो) वह जीव है (ते) वे (पाणा) प्राण (पुग्गलदव्वेहि) पुद्‌गल द्रव्यो से (णिव्वत्ता) रचे हुए हैं। यद्यपि यह जीव निश्चयनय से सत्ता, चैतन्य, सुख, ज्ञान आदि शुद्ध भावप्राणो से जीता है, जीता था तथा जीता रहेगा तथापि व्यवहारनय से यह ससारी जीव इस अनादि संसार मे जैसे वर्तमान मे द्रव्य और भावरूप अशुद्ध प्राणो से जीता है, ऐसे ही पहले जीता था अथवा जब तक संसार मे है जीता रहेगा, क्योकि ये अशुद्ध प्राण उदय प्राप्त पुद्‌गल कर्मों से रचे गए हैं इसलिये ये प्राण पुद्‌गल द्रव्य से विपरीत अनन्तज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्तसुख, अनन्तवीर्य आदि अनन्तगुण स्वभावधारी परमात्म-तत्त्व से भिन्न है ऐसी भावना करनी योग्य है, यह भाव है ॥१४७॥**

अथ प्राणानां पौद्‌गलिकत्वं साधयति—

जीवो पाणणिबद्धो बद्धो मोहादिएहिं कम्मेहिं ।
उवभुंजं[1] कम्मफलं बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहिं ॥१४८॥

जीव प्राणनिबद्धो बद्धो मोहादिकै कर्मभि ।
उपभुजान कर्मफल बध्यतेऽन्यै कर्मभि ॥१४८॥

यतो मोहादिभिः पौद्‌गलिककर्मभिर्बद्धत्वाज्जीवः प्राणनिबद्धो भवति । यतश्च प्राणनिबद्धत्वात्पौद्‌गलिककर्मफलमुपभुञ्जानः पुनरप्यन्यैः पौद्‌गलिककर्मभिर्बध्यते । ततः पौद्‌गलिककर्मकार्यत्वात्पौद्‌गलिककर्मकारणत्वाच्च पौद्‌गलिका एव प्राणा निश्चीयन्ते ॥१४८॥

भूमिका—**अब, प्राणों की पौद्‌गलिकता सिद्ध करते हैं—**

---

१ उवभुजदि (ज० वृ०) ।

अन्वयार्थ—[मोहादिकै कर्मभि] मोहादिक कर्मों से [बद्धः] बधा हुआ होने से [जीव] जीव [प्राणनिबद्धः] प्राणो से सयुक्त होता हुआ [कर्मफल उपभुजान.] कर्म-फल को भोगता हुआ [अन्यै कर्मभि] अन्य (नवीन) कर्मों से [बध्यते] बन्धता है।

टीका—(१) **क्योंकि मोहादिक पौद्गलिक कर्मों से बंधा हुआ होने से जीव प्राणों से संयुक्त होता है और (क्योंकि) (२) प्राणों से सयुक्त होने के कारण पौद्गलिक कर्मफल को भोगता हुआ पुनः भी अन्य पौद्गलिक कर्मों से बंधता है, इसलिये (१) पौद्गलिक कर्म के कार्य होने से और (२) पौद्गलिक कर्म के कारण होने से प्राण पौद्गलिक ही निश्चित होते हैं ।।१४८।।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ प्राणाना यत्पूर्वसूत्रोदित पौद्गलिकत्व तदेव दर्शयति—

जीवो पाणणिबद्धो जीव कर्त्ता चतुर्भि प्राणैर्निबद्ध सम्बद्धो भवति। कथभूत सन् ? **बद्धो** शुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षादिविलक्षणैर्बद्ध । कैर्बद्ध ? **मोहादिएहिं कम्मेहिं** मोहनीयादिकर्मभिर्बद्धस्ततो ज्ञायते मोहादिकर्मभिर्बद्ध सन् प्राणनिबद्धो भवति, न च कर्मबन्धरहित इति। तत एव ज्ञायते प्राणा पुद्गलकर्मोदयजनिता इति। तथाविध सन् किकरोति ? **उवभुजदि कम्मफल** परमसमाधिसमुत्पन्न-नित्यानन्दैकलक्षणसुखामृतभोजनमलभमान सन् कटुकविषसमानमपि कर्मफलमुपभुङ्क्ते । **बज्झदि अण्णेहिं कम्मेहि** तत्कर्मफलमुपभुञ्जान सन्नय जीव कर्मरहितात्मनो विसदृशैरन्यकर्मभिर्नवतरकर्म-भिर्बध्यते। यत कारणात्कर्मफल भुञ्जानो नवतरकर्माणि बध्नाति, ततो ज्ञायते प्राणा नवतरपुद्गल-कर्मणा कारणभूता इति ।।१४८।।

उत्थानिका—आगे प्राण पौद्गलिक है, जैसा पहले कहा है उसी को दिखाते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(मोहादिएहिं कम्मेहिं) मोहनीय आदि कर्मों से (बद्धो) बधा हुआ (जीवो) जीव (पाणणिबद्धो) चार प्राणों से सम्बन्ध करता है (कम्मफलं उवभुजदि) व कर्मों के फल को भोगता हुआ (अण्णेहिं कम्मेहिं बज्झदि) अन्य नवीन कर्मों से बंध जाता है। शुद्धात्मा की प्राप्तिरूप मोक्ष आदि शुद्ध भावों से विलक्षण मोहनीय आदि आठ कर्मों से बंधा हुआ यह जीव इन्द्रिय आदि प्राणों को पाता है। जिसके कर्मबन्ध नहीं होते उसके यह चार प्राण भी नहीं होते हैं, इसी से यह जाना जाता है कि ये प्राण पुद्गल कर्म के उदय से उत्पन्न हुए हैं तथा जो इन बाह्य प्राणों को रखता है वही परम समाधि से उत्पन्न जो नित्यानन्दमयी एक सुखामृत का भोजन उसको न भोगता हुआ इन इन्द्रियादि प्राणो से कड़वे विष के समान ही कर्मों के फलरूप सुख दुःख को भोगता है और वही जीव कर्मफल भोगता हुआ कर्म-रहित आत्मा से विपरीत अन्य नवीन कर्मों से बंध जाता है, इसी से जाना जाता है कि ये प्राण नवीन पुद्गल कर्म के कारण भी हैं ।।१४८।।**

अथ प्राणानां पौद्गलिककर्मकारणत्वमुन्मीलयति—

पाणाबाधं जीवो मोहपदेसेहिं कुणदि जीवाणं ।
जदि सो हवदि हि बंधो णाणावरणादिकम्मेहिं ।।१४६।।

प्राणाबाध जीवो मोहप्रद्वेषाभ्या करोति जीवयो ।
यदि स भवति हि बन्धो ज्ञानावरणादिकर्मभि ।।१४६।।

प्राणैर्हि तावज्जीवः कर्मफलमुपभुंक्ते, तदुपभुञ्जानो मोहप्रद्वेषावाप्नोति ताभ्यां स्वजीवपरजीवयोः प्राणाबाधं विदधाति । तदा कदाचित्परस्य द्रव्यप्राणानाबाध्य कदाचिदनाबाध्य स्वस्य भावप्राणानुपरक्तत्वेन बाधमानो ज्ञानावरणादीनि कर्माणि बध्नाति । एव प्राणाः पौद्गलिककर्मकारणतामुपयान्ति ।।१४६।।

भूमिका—**अब, प्राणों के पौद्गलिक कर्म का कारणत्व प्रगट करते है—**

अन्वयार्थ—[यदि] यदि [स जीव] वह (प्राण-सयुक्त) जीव [मोहप्रद्वेषाभ्या] मोह और द्वेष के द्वारा [जीवयो·] (स्व तथा पर) जीवो के (प्राणाबाधं करोति] प्राणो को बाधा पहुचाते हैं, [हि] तो निश्चय से (ज्ञानावरणादिकर्मभि बध] ज्ञानावरणादिक कर्मों के द्वारा बध [भवति] होता है ।

टीका—**पहले तो प्राणों से जीव कर्मफल को भोगता है, उसे भोगता हुआ मोह तथा द्वेष को प्राप्त होता है और उनसे स्वजीव तथा परजीव के प्राणो को बाधा पहुँचाता है । वहाँ कदाचित् दूसरे के द्रव्य प्राणों को बाधा पहुँचाकर और बाधा न पहुचाकर, उपरक्तता (रागादिक रूप विकरिता) से (अवश्य ही) अपने भाव प्राणों को बाधा पहुँचाता हुआ, जीव ज्ञानावरणादि कर्मो को बांधता है । इस प्रकार प्राण पौद्गलिक कर्मों के कारणत्व को प्राप्त होते हैं ।।१४६।।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ प्राणा नवतरपुद्गलकर्मबन्धस्य कारण भवन्तीति पूर्वोक्तमेवार्थ विशेषेण समर्थयति—

पाणाबाधं आयुरादिप्राणाना बाधा पीडा **कुणदि** करोति । स क ? **जीवो** जीव । काभ्या कृत्वा ? **मोहपदेसेहिं** सकलविमलकेवलज्ञानप्रदीपेन मोहान्धकारविनाशकात्परमात्मनो विपरीताभ्या । मोहप्रद्वेषाभ्या । केषा प्राणबाधा करोति ? **जीवाण** एकेन्द्रियप्रमुखजीवानाम् । **जदि** यदि चेत् **सो हवदि बंधो** तदा स्वात्मोपलम्भप्राप्तिरूपान्मोक्षाद्विपरीतो मूलोत्तरप्रकृत्यादिभेदभिन्न स परमागमप्रसिद्धो **हि** स्फुट बन्धो भवति । कै कृत्वा ? **णाणावरणादिकम्मेहिं** ज्ञानावरणादिकर्मभिरिति । ततो ज्ञायते प्राणा पुद्गलकर्मबन्धकारण भवन्तीति ।

अयमत्रार्थ —यथा कोऽपि तप्तलोहपिण्डेन पर हन्तुकाम सन् पूर्वं तावदात्मानमेव हन्ति पश्चादन्यघाते नियमो नास्ति, तथायमज्ञानी जीवोऽपि तप्तलोहपिण्डस्थानीयमोहादिपरिणामेन परिणत सन् पूर्वं निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानस्वरूप स्वकीयशुद्धप्राण हन्ति पश्चादुत्तरकाले परप्राणघाते नियमो नास्तीति ॥१४९॥

उत्थानिका—आगे प्राण नवीन कर्म पुद्गल के बन्ध के कारण होते है, इसी ही पूर्वोक्त कथन को विशेषता से कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि) जब (जीवो) यह जीव (मोहपदेसेहिं) मोह और द्वेष के कारण (जीवाणं पाणाबाध) अपने और पर जीवों के प्राणो को बाधा (कुणदि) पहुँचाता है तब (हि) निश्चय से इसके (सो बंधो) वह बन्ध (णाणावरणादिकम्मेहिं) ज्ञानावरणी आदि कर्मों से (हवदि) होता है। जब यह जीव सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञानरूपी दीपक से मोह के अधकार को विनाश करने वाले परमात्मा से विपरीत मोहभाव और द्वेषभाव से परिणमन करके अपने भाव और द्रव्य प्राणों को घातता हुआ एकेन्द्रिय आदि जीवों के भाव और आयु आदि द्रव्य प्राणों को पीड़ा पहुंचाता है तब इसका ज्ञानावरणादि कर्मों के साथ बंध होता है जो बंध अपने आत्मा की प्राप्ति रूप मोक्ष से विपरीत है तथा मूल और उत्तर प्रकृतियों के भेद से अनेक रूप है। इससे जाना गया कि प्राण पुद्गल कर्मबंध के कारण होते हैं।**

यहां यह भाव है कि जैसे कोई पुरुष दूसरे को मारने की इच्छा से गर्म लोहे के पिंड को उठाता हुआ पहले अपने को ही कष्ट दे लेता है फिर अन्य का घात हो सके इसका कोई नियम नहीं है, तैसे यह अज्ञानी जीव भी तप्त लोहे के स्थान में मोहादि परिणामो से परिणमन करता हुआ पहले अपने ही निर्विकार स्वसवेदन ज्ञानस्वरूप शुद्ध प्राण को घातता है उसके पीछे दूसरे के प्राणों का घात हो या न हो ऐसा कोई नियम नहीं है ॥१४९॥

अथ पुद्गलप्राणसन्ततिप्रवृत्तिहेतुमन्तरङ्गमासूत्रयति—

आदा कम्ममलिमसो धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे।
ण चयदि जाव ममत्तं[1] देहपधाणेसु[2] विसयेसु ॥१५०॥

आत्मा कर्ममलीमसो धारयति प्राणान् पुन पुनरन्यान्।
न त्यजति यावन्ममत्व देहप्रधानेसु विषयेषु ॥१५०॥

येयमात्मन पौद्गलिकप्राणानां संतानेन प्रवृत्तिः तस्या अनादिपौद्गलकर्ममूलं शरीरादिममत्वरूपमुपरक्तत्वमन्तरङ्गो हेतुः ॥१५०॥

---

१ ममत्ति (ज० वृ०)। २ देहपहाणेसु (ज० वृ०)।

भूमिका—**अब पौद्‌गलिक प्राणों की संतति (प्रवाह-परम्परा) की प्रवृत्ति का अन्तरंग हेतु सूत्र द्वारा कहते हैं—**

अन्वयार्थ—[यावत्] जब तक [देहप्रधानेषु विषयेषु] देहप्रधान (देहादिक) विषयो मे [ममत्व] ममत्व को [न त्यजति] नही छोडता, [कर्ममलीमसः आत्मा] तब तक कर्म से मलीन आत्मा [पुन पुन] पुनः पुन [अन्यान् प्राणान्] अन्य-अन्य प्राणो को [धारयति] धारण करता है ॥१५०॥

टीका—**जो यह आत्मा की पौद्‌गलिक प्राणो की संतानरूप प्रवृत्ति है, उसका अन्तरंगहेतु शरीरादि का ममत्वरूप उपरक्तत्व है, जिसका मूल (निमित्त) अनादि पौद्‌लिक कर्म है ॥१५०॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथेन्द्रियादिप्राणोत्पत्तेरन्तरङ्गहेतुमुपदिशति—

आदाकम्ममलिमसो अयमात्मा स्वभावेन भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्ममलरहितत्वेनात्यन्तनिर्मलोऽपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशान्मलीमसो भवति। तथाभूत सन् कि करोति ? **धरेदि पाणे पुणो पुणो अण्णे** धारयति प्राणान् पुन पुन अन्यान्नवतरान्। यावत्किम् ? **ण चयदि जाव ममत्ति** निस्नेहचिच्च-मत्कारपरिणतेर्विपरीता ममता यावत्काल न त्यजति। केषु विषयेषु ? **देहपहाणेसु विसयेसु** देहविषय-रहितपरमचैतन्यप्रकाशपरिणते प्रतिपक्षभूतेषु देहप्रधानेषु पञ्चेन्द्रियविषयेष्विति। तत स्थितमेतत् इन्द्रियादिप्राणोत्पत्तेर्देहादिममत्वमेवान्तरङ्गकारणमिति ॥१५०॥

उत्थानिका—आगे इन्द्रिय आदि प्राणो की उत्पत्ति का अतरग कारण उपदेश करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(कम्ममलिमसो) कर्मों से मैला (आदा) आत्मा (पुणो पुणो) बार बार (अण्णे पाणे) अन्य-अन्य नवीन प्राणो को (धरेदि) धारण करता रहता है। (जाव) जब तक (देहपहाणेसु विसयेसु) शरीर आदि विषयों मे (ममत्ति ण चयदि) ममता को नहीं छोड़ता है। जो आत्मा स्वभाव से भावकर्म, द्रव्य कर्म और नोकर्मरूपी मल से रहित होने के कारण अत्यन्त निर्मल है तो भी व्यवहारनय से अनादि कर्म बंध के वश से मैला हो रहा है। ऐसा होता हुआ यह आत्मा उस समय तक बार-बार इन आयु आदि प्राणों को प्रत्येक शरीर मे नवीन-नवीन धारता रहता है जिस समय तक यह शरीर व इन्द्रिय विषयों से रहित परम चैतन्यमयी प्रकाश की परिणति से विपरीत देह आदि पचें-द्रियों के विषयों में स्नेह रहित चैतन्य चमत्कार की परिणति से विपरीत ममता को नहीं**

त्यागता है। इससे यह सिद्ध हुआ कि इन्द्रिय आदि प्राणो की उत्पत्ति का अतरंग कारण देह आदि मे ममत्व करना ही है ॥१५०॥

अथ पुद्गलप्राणसततिनिवृत्तिहेतुमन्तरङ्गं ग्राहयति—

जो इंदियादिविजई भवीय उवओगमप्पगं झादि ।
कम्मेहिं सो ण रंजदि[1] किह तं पाणा अणुचरंति ॥१५१॥

य इन्द्रियादिविजयी भूत्वोपयोगमात्मक ध्यायति ।
कर्मभि स न रज्यते कथ त प्राणा अनुचरन्ति ॥१५१॥

पुद्गलप्राणसंततिनिवृत्तेरन्तरङ्गो हेतुर्हि पौद्गलिककर्ममूलस्योपरक्तत्वस्याभावः। स तु समस्तेन्द्रियादिपरद्रव्यानुवृत्तिविजयिनो भूत्वा समस्तोपाश्रयानुवृत्तिव्यावृत्तस्य स्फटिकमणेरिवात्यन्तविशुद्धमुपयोगमात्रमात्मानं सुनिश्चलं केवलमधिवसतः स्यात्। इदमत्र तात्पर्यं आत्मनोऽत्यन्तविभक्तसिद्धये व्यवहारजीवत्वहेतवः पुद्गलप्राणा एवमुच्छेत्तव्याः ॥१५१॥

भूमिका—अब पौद्गलिक प्राणो की संतति की निवृत्ति का अन्तरंग हेतु समझाते हैं—

अन्वयार्थ—[य] जो [इन्द्रियादिविजयीभूत्वा] इन्द्रियादि का विजयी होकर [उपयोगात्मक] उपयोगमयी आत्मा को [ध्यायति] ध्याता है, [स] वह [कर्मभि] कर्मों के द्वारा [न रज्यते] रजित नही होता, [त] उसे [प्राणा] प्राण [कथ] कैसे [अनुचरति] अनुसरण कर सकते है ? (अर्थात् उससे प्राणो का सबध नही होता।)

टीका—वास्तव मे पौद्गलिक प्राणों की संतति की निवृत्ति का अतरङ्ग हेतु पौद्गलिक कर्म है मूल जिसका, ऐसी उपरक्तता का अभाव है। समस्त इन्द्रियादिक पर द्रव्यो के अनुसार परिणति का विजयी होकर, (अनेक वर्णों वाले) आश्रयानुसार होने वाली सारी परिणति से व्यावृत (पृथक्) हुये स्फटिकमणि को भांति, अत्यन्त विशुद्ध उपयोगमात्र अकेले आत्मा मे सुनिश्चलतया बसने वाले (जीव) के वह (अभाव) होता है।

यहाँ यह तात्पर्य है कि—आत्मा की अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करने के लिये व्यवहार जीवत्व के हेतुभूत पौद्गलिक प्राण इस प्रकार उच्छेद करने योग्य है ॥१५१॥

तात्पर्यवृत्ति

अथेन्द्रियादिप्राणानामभ्यन्तरं विनाशकारणमावेदयति—

जो इदियादिविजई भवीय य कर्त्तातीन्द्रियात्मोत्थसुखामृतसन्तोषबलेन जितेन्द्रियत्व नि कषायनिर्मलानुभूतिबलेन कषायजयेन पञ्चेन्द्रियादिविजयीभूत्वा **उवओगमप्पग झादि** केवलज्ञान-

1 रज्जदि (त० वृ०)।

दर्शनोपयोग निजात्मान ध्यायति **कम्मेहिं सो ण रज्जदि** कर्मभिश्चिच्चमत्कारात्मन प्रतिबन्धकैर्ज्ञानावरणादिकर्मभि स न रज्यते न बध्यते। **किह त पाणा अणुचरति** कर्मबन्धाभावे सति त पुरुष प्राणा कर्त्तार कथमनुचरन्ति कथमाश्रयन्ति ? न कथमपीति। ततो ज्ञायते कषायेन्द्रियविजय एव पञ्चेन्द्रियादिप्राणाना विनाशकारणमिति ॥१५१॥

"एव सपदेसेहि सम्मग्गो" इत्यादि गाथाष्टकेन सामान्यभेदभावनाधिकार समाप्त ।

उत्थानिका—आगे इन्द्रिय आदि प्राणो के अतरग नाश के कारण को प्रगट करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो) जो कोई (इंदियादिविजइ) इद्रिय आदि का जीतने वाला (भवीय) होकर (उवओग) उपयोगमयी (अप्पग) आत्मा को (झादि) ध्याता है। (सो) सो जीव (कम्मेहिं) कर्मों से (ण रज्जदि) लिप्त नहीं होता है अर्थात् नहीं बधता है (किह) तब किस तरह (पाणा) प्राण (तं) उस जीव को (अणुचरति) आश्रय करेगे ? जो कोई भव्य जीव अतीन्द्रिय आत्मा से उत्पन्न सुखरूपी अमृत मे सतोष के बल से जितेन्द्रिय होकर तथा कषाय-रहित निर्मल आत्मानुभव के बल से कषाय को जीतने से पंचेन्द्रिय को जीतकर केवलज्ञान और केवलदर्शन उपयोगमयी अपनी ही आत्मा को ध्याता है वह चैतन्य चमत्कारमयी आत्मा के गुणों के विघ्न करने वाले ज्ञानावरण आदि कर्मों से नहीं बंधता है। कर्मबन्ध के न होने पर ये इन्द्रियादि द्रव्यप्राण किस तरह उस जीव का आश्रय कर सकते है ? अर्थात् किसी भी तरह आश्रय नही करेंगे। इसी से जाना जाता है कि कषाय और इद्रिय के विषयों का जीतना ही पचेन्द्रिय आदि प्राणो के विनाश का कारण है ॥१५१॥**

इस तरह "एव सपदेसेहि सम्मग्गो" इत्यादि आठ गाथाओं से सामान्य भेद भावना का अधिकार समाप्त हुआ।

तात्पर्यवृत्ति

अथानन्तरमेकपञ्चाशद्गाथापर्यन्त विशेषभेदभावनाधिकार कथ्यते। तत्र विशेषान्तराधिकारचतुष्टय भवति। तेषु चतुर्षु मध्ये शुभाद्युपयोगत्रयमुख्यत्वेनैकादशगाथापर्यन्त प्रथमविशेषान्तराधिकार प्रारभ्यते। तत्र चत्वारि स्थलानि भवन्ति। तस्मिन्नादौ नरादिपर्यायै सह शुद्धात्मस्वरूपस्य पृथक्त्वपरिज्ञानार्थं "अत्थित्तणिच्छिदस्स हि" इत्यादि यथाक्रमेण गाथात्रयम्। तदनन्तर तेषा सयोगकारण "अप्पा उवओगप्पा" इत्यादि गाथाद्वयम्। तदनन्तर शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयसूचनमुख्यत्वेन "जो जाणादि जिणिंदे" इत्यादि गाथात्रयम्। तदनन्तर कायवाग्मनसा शुद्धात्मना सह भेदकथनरूपेण "णाह देहो" इत्यादि गाथात्रयम्। एवमेकादशगाथाभि प्रथमविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका।

अथानतर इक्यावन गाथाओ तक विशेष भेद की भावना का अधिकार कहा जाता है, यहा विशेष अन्तर अधिकार चार है। उन चारो के बीच मे शुद्ध आदि तीन उपयोग की मुख्यता से ग्यारह गाथाओ तक पहला विशेष अन्तर अधिकार प्रारम्भ किया जाता है, उसमे चार स्थल है। पहले स्थल मे मनुष्यादि पर्यायो के साथ शुद्धात्म स्वरूप का भिन्नपना बताने के लिये "अत्थित्तणिच्छिदस्सहि" इत्यादि यथाक्रम से तीन गाथाए है। उसके पीछे उनके सयोग का कारण "अप्पा उवओगप्पा" इत्यादि दो गाथाए है। फिर शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोग तीन की सूचना की मुख्यता से 'जो जाणादि जिणिदे" इत्यादि गाथा तीन है। फिर मन वचन काय का शुद्धात्मा के साथ भेद है, ऐसा कहते हुये "णाह देहो" इत्यादि तीन गाथाए है। इस तरह ११ गाथाओं से पहले विशेष अन्तर अधिकार मे समुदायपातनिका है।

अथ पुनरप्यात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वसिद्धये गतिविशिष्टव्यवहारजीवत्वहेतुपर्यायस्वरूपमुपवर्णयति—

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि अत्थस्सत्थंतरम्हि[1] संभूदो ।
अत्थो पज्जाओ सो संठाणादिप्पभेदेहिं ॥१५२॥

अस्तित्वनिश्चितस्य ह्यर्थस्यार्थान्तरे सभूत ।
अर्थ पर्याय स सस्थानादिप्रभेदै ॥१५२॥

स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितस्यैकस्यार्थस्य स्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चित एवान्यस्मिन्नर्थे विशिष्टरूपतया सभावितात्मलाभोऽर्थोऽनेकद्रव्यात्मकः पर्यायः। स खलु पुद्गलस्य पुद्गलान्तर इव जीवस्य पुद्गले संस्थानादिविशिष्टतया समुपजायमान सभाव्यत एव। उपपन्नश्चैवविधः पर्यायः। अनेकद्रव्यसंयोगात्मत्वेन केवलजीवव्यतिरेकमात्रस्यैकद्रव्यपर्यायस्यास्खलितस्यान्तरवभासनात् ॥१५२॥

भूमिका—**अब, फिर भी, आत्मा को अत्यन्त विभक्तता सिद्ध करने के लिये, व्यवहार जीवत्व की हेतुभूत गतिविशिष्ट (देव-मनुष्यादि) पर्यायो का स्वरूप कहते हैं—**

अन्वयार्थ—[अस्तित्वनिश्चितस्य अर्थस्य हि] (अपने सहज स्वभावरूप) अस्तित्व से निश्चित अर्थ (द्रव्य) का [अर्थान्तरे सभूत] अन्य अर्थ मे उत्पत्ति रूप [अर्थ] अर्थ (भाव) [पर्याय] पर्याय है, [स] वह (पर्याय) [सस्थानादिप्रभेदै] सस्थानादि भेदो सहित है।

---

१ अत्थस्सत्थतरम्मि (ज० वृ०)।

टीका—स्वलक्षणभूत स्वरूप-अस्तित्व से निश्चित एक अर्थ (द्रव्य) का, स्वलक्षणभूत स्वरूपअस्तित्व से ही निश्चित, अन्य अर्थ मे विशिष्ट (भिन्न-भिन्न) रूप से उत्पन्न होता हुआ अर्थ (भाव) अनेक द्रव्यात्मक पर्याय है। वह वास्तव मे, जैसे पुद्गल की अन्य पुद्गलात्मक पर्याय उत्पन्न होती हुई देखी जाती है, उसी प्रकार जीव की, पुद्गल मे सस्थानादि से विशिष्टतया (सस्थान इत्यादि के भेद सहित) उत्पन्न होती हुई अनुभव मे अवश्य आती है और ऐसी पर्याय योग्य घटित है, क्योंकि केवल जीव की व्यतिरेकमात्र अस्खलित एक द्रव्य पर्याय का अनेक द्रव्यो के सयोगात्मक भीतर अवभास (ज्ञान) होता है।

भावार्थ—यद्यपि प्रत्येक द्रव्य का स्वरूप-अस्तित्व सदा ही भिन्न-भिन्न रहता है तथापि, जैसे पुद्गल की अन्य पुद्गल के सम्बन्ध से स्कन्धरूप पर्याय होती है उसी प्रकार जीव की पुद्गलो के सम्बन्ध से देवादिक पर्याय होती हैं। जीव की ऐसी अनेक द्रव्यात्मक देवादि पर्याय अयुक्त नहीं हैं; क्योकि भीतर देखने पर, अनेक द्रव्यो का सयोग होने पर भी, जीव कहीं पुद्गलों के साथ एकरूप पर्याय नहीं करता, परन्तु वहा भी मात्र जीव की (पुद्गल-पर्याय से (भिन्न) अस्खलित (अपने से च्युत न होने वाली) एक द्रव्यपर्याय ही सदा प्रवर्तमान रहती है ॥१५२॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पुनरपि शुद्धात्मनो विशेषभेदभावनार्थ नरनारकादिपर्यायरूप व्यवहारजीवत्वहेतु दर्शयति—

अत्थित्तणिच्छिदस्स हि चिदानन्दैकलक्षणस्वरूपास्तित्वेन निश्चितस्य ज्ञानस्य हि स्फुट। कस्य ? **अत्थस्स** परमात्मपदार्थस्य **अत्थतरम्मि** शुद्धात्मार्थादन्यस्मिन् ज्ञानावरणादिकर्मरूपे अर्थान्तरे **सभूदो** सजात उत्पन्न **अत्थो** यो नरनारकादिरूपोऽर्थ । **पज्जाओ सो** निर्विकारशुद्धात्मानुभूतिलक्षण-स्वभावव्यञ्जनपर्यायादन्यादृश सन् विभावव्यञ्जनपर्यायो भवति । स इत्थभूतपर्यायो जीवस्य । कै कृत्वा जात ? **सठाणादिप्पभेदेहिं** सस्थानादिरहितपरमात्मद्रव्यविलक्षणै सस्थानसहननशरीरादि-प्रभेदैरिति ॥१५२॥

उत्थानिका—आगे और भी शुद्धात्मा की विशेष भेद भावना के लिये नर नारक आदि पर्याय का स्वरूप जो व्यवहार जीवपने का हेतु है दिखाते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(**अत्थित्तणिच्छिदस्स**) अपने अस्तित्व द्वारा निश्चित (**अत्थस्स**) जीव नामा पदार्थ के (हि) निश्चय से (**अत्थतरम्मि संभूदो**) पुद्गल द्रव्य के संयोग से उत्पन्न हुआ (अर्थः) नर नारक आदि विभाव पदार्थ है सो वही (**संठाणादिप्पभेदेहिं**) संस्थान आदि के भेदों से (**पज्जायो**) पर्याय है। चिदानन्दमयी एक लक्षणरूप स्वरूप

अस्तित्व से निश्चित ज्ञानमयी परमात्मा पदार्थरूप शुद्धात्मा से अन्य ज्ञानावरणादि कर्मों के सम्बन्ध से उत्पन्न हुआ जो नर नारक आदि का स्वरूप है वह छ: संस्थान व छ: संहनन आदि से रहित परमात्मा द्रव्य से विलक्षण संस्थान व संहनन आदि के द्वारा भेदरूप विकार रहित शुद्धात्मानुभवलक्षणरूप स्वभाव व्यंजनपर्याय से भिन्न विभाव व्यंजनपर्याय है ॥१५२॥

अथ पर्यायव्यक्तीर्दर्शयति,—

णरणारयतिरियसुरा सठाणादीहिं अण्णहा जादा ।
पज्जाया जीवाणं उदयादिहिं णामकम्मस्स ॥१५३॥

नरनारकतिर्यक्सुरा सस्थानादिभिरन्यथा जाता ।
पर्याया जीवानामुदयादिभिर्नामकर्मण ॥१५३॥

नारकस्तिर्यङ्मनुष्यो देव इति किल पर्याया जीवानाम् । ते खलु नामकर्मपुद्गलविपाककारणत्वेनानेकद्रव्यसयोगात्मकत्वात् कुकूलाङ्गारादिपर्याया जातवेदसः क्षोदखिल्वसस्थानादिभिरिव संस्थानादिभिरन्यथैव भूता भवन्ति ॥१५३॥

भूमिका—**अब, पर्याय के भेद बतलाते है—**

अन्वयार्थ—[नामकर्मण. उदयादिभि] नामकर्म के उदयादिक के कारण (होने वाली) [जीवानाम्] जीवो की [नरनारकतिर्यक्सुरा] मनुष्य-नारक-तिर्यंच-देवरूप [पर्याया] पर्यायें [सस्थानादिभि] सस्थानादि के द्वारा [अन्यथा जाता] अन्य-अन्य प्रकार की होती है ।

टीका—**नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देव–जीवो की पर्यायें है । नामकर्मरूप पुद्गल के विपाक के कारण अनेक द्रव्यों के सयोगात्मकपने से जैसे तुष की अग्नि और अंगार इत्यादि अग्नि की पर्यायें चूरा और डली इत्यादि आकारो से अन्य-अन्य प्रकार की होती है, उसी प्रकार वे (जीव की नारकादि पर्यायें) वास्तव मे संस्थानादि के द्वारा अन्यान्य प्रकार की होती हैं ॥१५३॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ तानेव पर्यायभेदान् व्यक्तीकरोति—

णरणारयतिरियसुरा नरनारकतिर्यग्देवरूपा अवस्थाविशेषा । **सठाणादीहिं अण्णहा जादा** सस्थानादिभिरन्यथा जाता, मनुष्यभवे यत्समचतुरस्रादिसस्थानमौदारिकशरीरादिक च तदपेक्षया भवान्तरेऽन्यद्विसदृश सस्थानादिक भवति । तेन कारणेन ते नरनारकादिपर्याया अन्यथा जाता भिन्ना भण्यन्ते । न च शुद्धबुद्धैकस्वभावपरमात्मद्रव्यत्वेन । कस्मात् ? तृणकाष्ठपत्राकारादिभेदभिन्नस्याग्नेरिव

स्वरूप तदेव। **पज्जाया जीवाण** ते च नरनारकादयो जीवाना विभावव्यञ्जनपर्याया भण्यन्ते। कै कृत्वा ? **उदयादिहि णामकम्मस्स** उदयादिभिर्नामकर्मणो निर्दोषपरमात्मशब्दवाच्यान्निर्णामनिर्गोत्रादि-लक्षणाच्छुद्धात्मद्रव्यादन्यादृशैर्नामकर्मजनितैर्बन्धोदयोदीरणादिभिरिति। यत एव ते कर्मोदयजनिता-स्ततो ज्ञायते शुद्धात्मस्वरूप न सम्भवन्तीति ।।१५३।।

उत्थानिका—आगे उन्ही पर्याय के भेदो को प्रगट करते हुए बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(णामकम्मस्स उदयादिहि) नाम कर्म के उदय से (निश्चय से) (जीवाणं) संसारी जीवों को (णरणारयतिरियसुरा) नर, नारक, तिर्यंच और देव (पज्जाया) पर्यायें (सठाणादीहिं) संस्थान आदि के द्वारा (अण्णहा) स्वभाव पर्याय से भिन्न अन्य-अन्य रूप (जादा) उत्पन्न होती हैं। निर्दोष परमात्मा शब्द से कहने योग्य, नाम गोत्रादि से रहित शुद्ध आत्मा द्रव्य से भिन्न नामकर्म के बन्ध, उदय, उदीरणा आदि के वश से जीवों की नर, नारक, तिर्यंच तथा देव रूप अवस्थाए अर्थात् विभाव व्यञ्जन पर्यायें अपने भिन्न-भिन्न आकारों से भिन्न-भिन्न उपजती हैं। मनुष्य भव में जो सम-चतुरस्रसंस्थान व औदारिकादि शरीर होता है उसकी अपेक्षा अन्य भव मे उससे भिन्न ही सस्थान शरीर आदि होते हैं। इस तरह हर एक नए-नए भव मे कर्मकृत भिन्नता होती है, परन्तु शुद्ध बुद्ध एक परमात्मा द्रव्य अपने स्वरूप को छोडकर भिन्न नहीं हो जाता है। जैसे अग्नि तृण, काष्ठ, पत्र आदि के आकार से भिन्न-भिन्न आकार वाली हो जाती है तो भी अग्निपने के स्वभाव को अग्नि नहीं छोड़ देती है। क्योकि ये नरनारकादि पर्यायें कर्मों के उदय से होती हैं, इससे ये शुद्धात्मा का स्वभाव नहीं है ।।१५३।।**

अथात्मनोऽन्यद्रव्यसंकीर्णत्वेऽप्यर्थनिश्चायकमस्तित्वं स्वपरविभागहेतुत्वेनोद्योतयति—

तं सब्भावणिबद्धं दव्वसहावं तिहा समक्खादं।
जाणदि[1] जो सवियप्पं ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि ।।१५४।।

त सद्भावनिबद्ध द्रव्यस्वभाव त्रिधा समाख्यातम्।
जानाति य सविकल्प न मुह्यति सोऽन्यद्रव्ये ।।१५४।।

यत्खलु स्वलक्षणभूतं स्वरूपास्तित्वमर्थनिश्चायकमाख्यातं स खलु द्रव्यस्य स्वभाव एव, सद्भावनिबद्धत्वाद्द्रव्यस्वभावस्य। यथासौ द्रव्यस्वभावो द्रव्यगुणपर्यायत्वेन स्थित्युत्पाद-व्ययत्वेन च त्रितयी विकल्पभूमिकामधिरूढः परिज्ञायमानः परद्रव्ये मोहमपोह्य स्वपर-विभागहेतुर्भवति ततः स्वरूपास्तित्वमेव स्वपरविभागसिद्धये प्रतिपदमवधार्यम्। तथाहि— यश्चेतनत्वान्वयलक्षणं द्रव्यं यश्चेतनाविशेषत्वलक्षणो गुणो यश्चेतनत्वव्यतिरेकलक्षणः

---

१ जाणदि (ज० वृ०)।

पर्यायस्तत्त्रयात्मक या पूर्वोत्तरव्यतिरेकस्पर्शिना चेतनत्वेन स्थितिर्यावुत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेन चेतनस्योत्पादव्ययौ तत्त्रयात्मकं च स्वरूपास्तित्व यस्य तु स्वभावोऽहं स खल्वयमन्यः । यश्चाचेतनत्वान्वयलक्षणं द्रव्यं योऽचेतनाविशेषत्वलक्षणो गुणो योऽचेतनत्वव्यतिरेकलक्षणः पर्यायस्तत्त्रयात्मकं या पूर्वोत्तरव्यतिरेकस्पर्शिनाचेतनत्वेन स्थितिर्यावुत्तरपूर्वव्यतिरेकत्वेनाचेतनस्योत्पादव्ययौ तत्त्रयात्मकं च स्वरूपास्तित्व यस्य तु स्वभावः पुद्गलस्य स खल्वयमन्यः । नास्ति मे मोहोऽस्ति स्वपरविभागः ॥१५४॥

भूमिका—अब, आत्मा की अन्य द्रव्य के साथ संयुक्तता होने पर भी, अर्थ-निश्चायक (स्वरूप) अस्तित्व को स्व-पर विभाग के हेतु रूप से समझाते हैं—

अन्वयार्थ—[य] जो जीव [त] उस (पूर्वोक्त) [सद्भावनिबद्ध] अस्तित्व निष्पन्न, [त्रिधा समाख्यात] तीन प्रकार से कथित, [सविकल्प] भेदो वाले [द्रव्यस्वभाव] द्रव्य स्वभाव को [जानाति] जानता है, [स] वह [अन्य द्रव्ये] अन्य द्रव्य मे [न मुह्यति] मोह को प्राप्त नही होता ॥१५४॥

टीका—जो, द्रव्य को निश्चित करने वाला, स्वलक्षण भूत स्वरूपअस्तित्व कहा गया है। वह वास्तव मे द्रव्य का स्वभाव ही है, क्योंकि द्रव्य का स्वभाव अस्तित्व से निष्पन्न (अस्तित्वका बना हुआ) है। द्रव्य गुण-पर्याय रूप से तथा ध्रौव्य-उत्पाद-व्ययरूप से त्रयात्मक भेद-भूमिका मे आरूढ द्रव्य स्वभाव ज्ञात होता हुआ, पर द्रव्य मे मोहको दूर करके स्व-पर के विभाग का हेतु होता है, इसलिये स्वरूपअस्तित्व ही स्व-पर के विभाग की सिद्धि के लिये पद-पद पर अवधारित करना (लक्ष्य मे लेना) चाहिये। वह इस प्रकार है—

(१) चेतनत्व का अन्वय जिसका लक्षण है ऐसा द्रव्य (२) चेतनाविशेषत्व जिसका लक्षण है ऐसा गुण, और चेतनत्व का व्यतिरेक जिसका लक्षण है ऐसी पर्याय—यह त्रयात्मक (ऐसा स्वरूप-अस्तित्व), तथा (१) पूर्व और उत्तर व्यतिरेक को स्पर्श करने वाले चेतनत्वरूप से जो ध्रौव्य और (२-३) चेतन के उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेक रूप से जो उत्पाद और व्यय, यह त्रयात्मक स्वरूप-अस्तित्व जिसका स्वभाव है ऐसा मै वास्तव मे यह अन्य हूँ, (अर्थात् मै पुद्गल से ये भिन्न रहा।) और (१) अचेतनत्व का अन्वय जिसका लक्षण है ऐसा द्रव्य, (२) अचेतना विशेषत्व जिसका लक्षण है ऐसा गुण, और (३) अचेतनत्व का व्यतिरेक जिसका लक्षण है ऐसी पर्याय—यह त्रयात्मक (ऐसा स्वरूप अस्तित्व) तथा (१) पूर्व और उत्तर व्यतिरेक को स्पर्श करने वाले अचेतनत्व रूप से जो

ध्रौव्य और (२-३) अचेतन के उत्तर तथा पूर्व व्यतिरेकरूप से जो उत्पाद और व्यय- यह त्रयात्मकस्वरूप अस्तित्व जिस पुद्गल का स्वभाव है वह वास्तव में (मुझसे) अन्य है। (इसलिये) मुझे मोह नहीं है, स्व-पर का विभाग है ॥१५४॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ स्वरूपास्तित्वलक्षण परमात्मद्रव्य योऽसौ जानाति स परद्रव्ये मोह न करोतीति प्रकाशयति—

जाणदि जानाति **जो** य कर्ता। क ? **त** पूर्वोक्त **दव्वसहाव** परमात्मद्रव्यस्वभाव। कि विशिष्ट ? **सब्भावणिबद्धं** स्वभाव स्वरूपसत्ता तत्र निबद्धमाधीन तन्मय सद्भावनिबद्धम्। पुनरपि कि विशिष्ट ? **तिहा समक्खाद** त्रिधा समाख्यात कथित। केवलज्ञानादयो गुणा सिद्धत्वादिविशुद्ध-पर्यायास्तदुभयाधारभूत परमात्मद्रव्य द्रव्यत्वमित्युक्तलक्षणत्रयात्मक तथैव शुद्धोत्पादव्ययध्रौव्यत्रया-त्मक च यत्पूर्वोक्त स्वरूपास्तित्व तेन कृत्वा त्रिधा सम्यगाख्यात कथित प्रतिपादितम्। पुनरपि कथभूत आत्मस्वभाव ? **सवियप्प** सविकल्प ज्ञान निर्विकल्प दर्शन पूर्वोक्तद्रव्यगुणपर्यायरूपेण सभेद। इत्थभूतमात्मस्वभाव जानाति, **ण मुहदि सो अण्णदवियम्हि** न मुह्यति सोऽन्यद्रव्ये स तु भेदज्ञानी विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावमात्मतत्त्व विहाय देहरागादिपरद्रव्ये मोह न गच्छतीत्यर्थ ॥१५४॥

एव नरनारकादिपर्यायै सह परमात्मनो विशेषभेदकथनरूपेण प्रथमस्थले गाथात्रय गतम्।

उत्थानिका—आगे यह प्रकाश करते है कि जो कोई अपने स्वरूप मे अस्तित्व को रखने वाले परमात्मद्रव्य को जानता है वह परद्रव्य मे मोह को नही करता है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो) जो ज्ञानी (सब्भावणिबद्धं) अपने स्वभाव में तन्मय (तिहा समक्खाद) व तीन प्रकार कहे हुए (दव्वसहाव) द्रव्य के स्वभाव को (सवियप्पं) भेदसहित (जाणदि) जानता है (सो) वह (अण्णदवियम्हि) अन्य द्रव्य मे (ण मुहदि) मोहित नही होता है। जो कोई परमात्म-द्रव्य के स्वभाव को ऐसा जानता है कि यह अपने स्वरूप सत्ता मे तन्मय रहता है तथा इसका स्वभाव तीन प्रकार कहा गया है अर्थात् केवलज्ञान आदि गुण हैं, सिद्धत्व आदि विशुद्ध पर्यायें हैं तथा इन दोनो का आधार-रूप परमात्मद्रव्य है तैसे ही आत्मा शुद्ध उत्पाद व्यय ध्रौव्य रूप पूर्वोक्त स्वरूप अस्तित्व के साथ तीन रूप कहा गया है तथा सविकल्पज्ञान निर्विकल्पज्ञानपूर्वोक्त दर्शन गुण पर्याय द्रव्य से भेद-सहित है। इनमे साकार ज्ञान व निराकार दर्शन है। वह भेदज्ञानी विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभाव आत्मतत्व को जानता हुआ देह व रागादि परद्रव्यो में मोह नहीं करता है ॥१५४॥**

इस तरह नर नारक आदि पर्यायो के साथ परमात्मा का विशेष भेद कथन करते हुए पहले स्थल मे तीन गाथाएं पूर्ण हुईं।

अथात्मनोऽत्यन्तविभक्तत्वाय परद्रव्यसंयोगकारणस्वरूपमालोचयति—

अप्पा उवओगप्पा उवओगो णाणदंसणं भणिदो ।
सो वि सुहो असुहो वा उवओगो अप्पणो हवदि ।।१५५।।

आत्मा उपयोगात्मा उपयोगो ज्ञानदर्शन भणित ।
सोऽपि शुभोऽशुभो वा उपयोग आत्मनो भवति ।।१५५।।

आत्मनो हि परद्रव्यसयोगकारणमुपयोगविशेषः उपयोगो हि तावदात्मनः स्वभावश्चैतन्यानुविधायिपरिणामत्वात् । स तु ज्ञान दर्शनं च साकारनिराकारत्वेनोभयरूपत्वाच्चैतन्यस्य अथायमुपयोगो द्वेधा विशिष्यते शुद्धाशुद्धत्वेन । तत्र शुद्धो निरुपरागः, अशुद्धः सोपरागः । स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपत्वेन द्वैविध्यादुपरागस्य द्विविधः शुभोऽशुभश्च ।।१५५।।

भूमिका—**अब, आत्मा को अत्यन्त विभक्त करने के लिये परद्रव्य के संयोग के कारण का स्वरूप कहते हैं ।**

अन्वयार्थ—[आत्मा उपयोगात्मा] आत्मा उपयोगमयी है, [उपयोग] उपयोग [ज्ञानदर्शन भणित] ज्ञान-दर्शनरूप कहा गया है, [अपि] और [आत्मन] आत्मा का [स उपयोग] वह उपयोग [शुभ अशुभ वा] शुभ अथवा अशुभ [भवति] होता है ।

टीका—**वास्तव में आत्मा का परद्रव्य के सयोग का कारण उपयोगविशेष है । प्रथम तो उपयोग वास्तव मे आत्मा का स्वभाव है, क्योंकि वह चैतन्यानुविधायी, (उपयोग चैतन्य का अनुसरण करके होने वाला) परिणाम है । और वह ज्ञान तथा दर्शन है, क्योंकि चैतन्य के साकार (विशेष) और निराकार (सामान्य) उभयरूपपना है । अब यह उपयोग शुद्ध अशुद्धपने से दो प्रकार का विशेष है । उसमे से शुद्ध निरुपराग (निर्विकार) है और अशुद्ध सोपराग (सविकार) है । वह अशुद्धोपयोग शुभ और अशुभ—दो प्रकार का है, क्योंकि उपराग विशुद्धि और संक्लेशरूप से दो प्रकार का है । अर्थात् विकार मन्दकषायरूप और तीव्रकषायरूप से दो प्रकार का है ।।१५५।।**

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मन पूर्वोक्तप्रकारेण नरनारकादिपर्यायै सह भिन्नत्वपरिज्ञान जात, तावदिदानी तेषा सयोगकारण कथ्यते—

अप्पा आत्मा भवति । कथभूत ? **उवओगप्पा** चैतन्यानुविधायी योऽसावुपयोगस्तेन निर्वृत्तत्वादुपयोगात्मा । **उवओगो णाणदसण भणिदो** स चोपयोग सविकल्प ज्ञान निर्विकल्प दर्शनमिति भणित । **सोवि सुहो** सोऽपि ज्ञानदर्शनोपयोगधर्मानुरागरूप शुभ **असुहो** विषयानुरागरूपो द्वेषमोहरूपश्चाशुभ । वाशब्देन शुभाशुभानुरागरहितत्वेन शुद्ध । **उवओगो अप्पणो हवदि** इत्थभूतस्त्रिलक्षण उपयोग आत्मन सम्बन्धी भवतीत्यर्थ ।।१५५।।

उत्थानिका—पूर्व मे कहे प्रमाण आत्मा का नर, नारक आदि पर्यायों के साथ भिन्नता का ज्ञान तो हुआ, अब उनके सयोग का कारण कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अप्पा) आत्मा (उवओगप्पा) उपयोग स्वरूप है, (उपओगो) उपयोग (णाणदंसण) ज्ञानदर्शन (भणिदो) कहा गया है। (सो हि अप्पणो उवओगो) वही आत्मा का उपयोग (सुहो वा असुहो) शुभ या अशुभ (हवदि) होता है। चैतन्य का अनुसरण करने वाला जो कोई परिणाम है, उसको उपयोग कहते हैं उस उपयोगमयी यह आत्मा है। वह उपयोग विकल्प-सहित ज्ञान व विकल्प-रहित दर्शन होता है, ऐसा कहा गया है। वही ज्ञानदर्शनोपयोग जब धर्मानुरागरूप होता है तब शुभ है और जब विषयानुरागरूप होता है व द्वेष मोहरूप होता है तब अशुभ है। गाथा मे 'वा' शब्द से शुभ अशुभ अनुराग से रहित शुद्ध उपयोग भी होता है ऐसा तीन प्रकार आत्मा का उपयोग होता है ॥१५५॥**

अथात्र क उपयोगः परद्रव्यसयोगकारणमित्यावेदयति—

उवओगो जदि हि सुहो पुण्णं जीवस्स संचयं जादि।
असुहो वा तध[1] पावं तेसिमभावे ण चयमत्थि ॥१५६॥

उपयोगो यदि हि शुभ पुण्य जीवस्य सचय याति।
अशुभो वा तथा पाप तयोरभावे न चयोऽस्ति ॥१५६॥

उपयोगो हि जीवस्य परद्रव्यसंयोगकारणमशुद्धः। स तु विशुद्धिसंक्लेशरूपोपरागवशात् शुभाशुभत्वेनोपात्तद्वैविध्यः। पुण्यपापत्वेनोपात्तद्वैविध्यस्य परद्रव्यस्य सयोगकारणत्वेन निर्वर्तयति। यदा तु द्विविधस्याप्यस्याशुद्धस्याभाव क्रियते तदा खलूपयोगः शुद्ध एवावतिष्ठते। स पुनरकारणमेव परद्रव्यसयोगस्य ॥१५६॥

भूमिका—**अब, यह बतलाते हैं कि इसमें कौन सा उपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण है—**

अन्वयार्थ—[उपयोग] उपयोग [यदि हि] यदि [शुभ.] शुभ हो तो [जीवस्य] जीव के [पुण्य] पुण्य [सचय याति] सचय को प्राप्त होता है, [तथा वा अशुभः] और यदि अशुभ हो तो [पाप] पाप संचय होता है। [तयोः अभावे] उन (शुभाशुभ) दोनो के अभाव मे [चय नास्ति] सचय नही होता।

टीका—**जीव का परद्रव्य के संयोग का कारण अशुद्ध उपयोग है। वह, विशुद्धि तथा संक्लेशरूप उपराग के कारण शुभ और अशुभ रूप से द्विविधता को प्राप्त होता**

---

१ तह (ज० वृ०)।

हुआ, पुण्य और पाप रूप से द्विविधता को प्राप्त जो परद्रव्य उसके संयोग बन्ध के कारण-रूप काम करता है। (उपराग मन्दकषायरूप और तीव्रकषायरूप से दो प्रकार का है, इसलिये अशुद्ध उपयोग भी शुभ, अशुभ के भेद से दो प्रकार का है। उसमे से शुभोपयोग पुण्यरूप परद्रव्य के संयोग का (बंध का) कारण होता है और अशुभोपयोग पापरूप परद्रव्य के संयोग का कारण होता है। किन्तु जब दोनो प्रकार के अशुद्धोपयोग का अभाव किया जाता है, तब वास्तव मे उपयोग शुद्ध ही रहता है और वह परद्रव्य के सयोग का अकारण ही है। (अर्थात् शुद्धोपयोग परद्रव्य के संयोग का कारण नहीं है।) ॥१५६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथोपयोगस्तावन्नरकादिपर्यायकारणभूतस्य कर्मरूपस्य परद्रव्यस्य सयोगकारण भवति। तावदिदानी कस्य कर्मण क उपयोग कारण भवतीति विचारयति—

उवओगो जदि हि सुहो उपयोगो यदि चेत् हि स्फुट शुभो भवति। **पुण्ण जीवस्स सचय जादि** तदा काले द्रव्यपुण्य कर्तृ जीवस्य सचयमुपचय वृद्धि याति बध्यत इत्यर्थ। **असुहो वा तह पावं** अशुभोपयोगो वा तथा तेनैव प्रकारेण पुण्यवद्द्रव्यपाप सचय याति **तेसिमभावे ण चयमत्थि** तयोरभावे न चयोऽस्ति। निर्दोषिनिजपरमात्मभावनारूपेण शुद्धोपयोगबलेन यदा तयोर्द्वयो शुभाशुभोपयोगयोर-भाव क्रियते तदोभय सचय कर्मबन्धो नास्तीत्यर्थ ॥१५६॥

एव शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयस्य सामान्यकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथाद्वय गतम्।

उत्थानिका—आगे फिर कहते है कि जब यह अशुद्ध उपयोग ही नरनारकादि पर्यायो के कारण रूप पर द्रव्यमयी पुद्गलकर्म के बध का कारण होता है, तब किस कर्म का कौन उपयोग कारण है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(हि) निश्चय से (जदि) यदि (उवओगो) उपयोग (सुहो) शुभ हो तो (जीवस्स) इस जीव के (पुण्ण) पुण्यकर्म का (संचयं जादि) सचय होता है (वा) अथवा (असुहो) अशुभ हो तब (पाव) पाप का संचय होता है। (तेसिमभावे) इन शुभ अशुभ उपयोगो के न होने पर (चयं) संचय (ण अत्थि) नहीं होता है। जब शुभ उपयोग होता है तब इस जीव के द्रव्य पुण्यकर्म का संचय, उपचय व वृद्धि व बन्ध होता है और जब अशुभोपयोग होता है तो द्रव्य पाप का संचय होता है, इन दोनों के अभाव में पुण्य पाप का बंध नहीं होता है अर्थात् जब दोष-रहित निज परमात्मा की भावना रूप से शुद्धोपयोग के बल के द्वारा दोनो ही शुभ अशुभ उपयोगो का अभाव किया जाता है तब दोनों ही प्रकार के कर्मबंध नहीं होते है ॥१५६॥**

भावार्थ—**स्वामी अमितगति बृहद् सामायिकपाठ में कहते हैं—**

पूर्वं कर्म्म करोति दु खमशुभ सौख्य शुभं निर्मित। विज्ञायेत्यशुभं निहतु-मनसो ये पोषयंते तपः॥
जायते समसयमैकनिधयस्ते दुर्लभा योगिनो। ये त्वत्रोभयकर्मनाशनपरास्तेषां किमत्रोच्यते ॥९०॥

अर्थ—पूर्व में बांधा हुआ अशुभकर्म दुःख पैदा करता है जबकि शुभकर्म सुख पैदा करता है, ऐसा जानकर जो इस अशुभ को नाश करने के भाव से तप करते हैं और समता तथा संयम रूप हो जाते है ऐसे योगी भी दुर्लभ हैं। परन्तु जो पुण्य पाप दोनों ही प्रकार के कर्मों के नाश मे लवलीन है उन योगियो की तो बात ही क्या कहनी।

इस तरह शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोग का सामान्य कथन करते हुए दूसरे स्थल मे दो गाथाए समाप्त हुईं।

अथ शुभोपयोगस्वरूप प्ररूपयति—

जो जाणादि जिणिंदे पेच्छदि सिद्धे तहेव अणगारे।
जीवेसु साणुकंपो उवओगो सो सुहो तस्स ॥१५७॥

यो जानाति जिनेन्द्रान् पश्यति सिद्धास्तथैवानागारान्।
जीवेषु सानुकम्प उपयोग स शुभस्तस्य ॥१५७॥

विशिष्टक्षयोपशमदशाविश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिग्रहीत शोभनोपरागत्वात् परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुश्रद्धाने समस्तभूतग्रामानुकम्पाचरणे च प्रवृत्त. शुभ उपयोगः ॥१५७॥

भूमिका—**अब शुभोपयोग का स्वरूप कहते हैं :—**

अन्वयार्थ—[य] जो [जिनेन्द्रान्, सिद्धान् तथैव अनागारान्] अर्हन्तो, सिद्धो तथा अनगारो (आचार्य, उपाध्याय, सर्वसाधुओ) को [जानाति, पश्यति] जानता है और श्रद्धा करता है, [जीवेषु सानुकम्प] और जीवो के प्रति अनुकम्पायुक्त है, [तस्य] उसका [स. उपयोग] वह उपयोग [शुभ] शुभ है।

टीका—**विशिष्ट क्षयोपशमदशा मे रहने वाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीय रूप पुद्गलो के अनुसार परिणति मे लगा होने से शुभ उपराग का ग्रहण करने से, जो (उपयोग) परमभट्टारक महादेवाधिदेव, परमेश्वर-अर्हंत, सिद्ध और साधु की श्रद्धा करने मे तथा समस्त जीव समूह की अनुकम्पा का आचरण करने मे प्रवृत्त है, वह शुभोपयोग है ॥१५७॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ विशेषेण शुभोपयोगस्वरूप व्याख्याति—

जो जाणादि जिणिंदे य कर्ता जानाति। कान्? अनन्तज्ञानादिचतुष्टयसहितान् क्षुधाद्यष्टादशदोषरहिताश्च जिनेन्द्रान् **पेच्छदि सिद्धे** पश्यति। कान्? ज्ञानावरणाद्यष्टकर्मरहितान्सम्यक्त्वाद्यष्टगुणान्तर्भूतानन्तगुणसहिताश्च सिद्धान् **तहेव अणगारे** तथैवानागारान्। अनागारशब्दवाच्या-

निश्चयव्यवहारपञ्चाचारादियथोक्तलक्षणानाचार्योपाध्यायसाधून् । **जीवेसु साणुकंपो** त्रसस्थावरजीवेषु सानुकम्प सदय **उवओगो सो सुहो** स इत्थभूत उपयोग शुभो भण्यते । स च कस्य भवति ? **तस्स** तस्य पूर्वोक्तलक्षणजीवस्येत्यभिप्राय ।।१५७।।

उत्थानिका—आगे विशेष करके शुभोपयोग का स्वरूप कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो) जीव (जिणिदे) जिनेन्द्रो को (जाणादि) जानता है (सिद्धे) सिद्धों को (पेच्छदि) देखता है । (तहेव) तैसे ही (अणगारे) साधुओं का दर्शन करता है (य) और (जीवे साणुकम्पा) जीवों पर दया भाव रखता है (तस्स) उस जीव का (सो उवओगो) वह उपयोग (सुहो) शुभ है । जो भव्यजीव अरहंतों को ऐसा जानता है कि वे अनन्तज्ञान आदि चतुष्टय के धारी हैं तथा क्षुधा आदि अठारह दोषों से रहित हैं तथा सिद्धों को ऐसा देखता है कि वे ज्ञानावरणादि आठ कर्म रहित है तथा सम्यक्त्व आदि आठ गुणों मे अतर्भूत अनन्तगुण सहित हैं तैसे ही अनगार शब्द से कहने योग्य निश्चय व्यवहार पच आचार आदि शास्त्रोक्त लक्षण के धारी आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओ की भक्ति करता है और त्रस स्थावर जीवों की दया पालता है उस जीव के ऐसा व इसी जाति का उपयोग शुभ कहा जाता है ।।१५७।।**

अथाशुभोपयोगस्वरूपं प्ररूपयति—

विसयकसाओगाढो दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठिजुदो ।
उग्गो उम्मग्गपरो उवओगो जस्स सो असुहो ।।१५८।।

विषयकषायावगाढो दु श्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठियुत ।
उग्र उन्मार्गपर उपयोगो यस्य सोऽशुभ ।।१५८।।

विशिष्टोदयदशाविश्रान्तदर्शनचारित्रमोहनीयपुद्गलानुवृत्तिपरत्वेन परिग्रहीताशोभनोपरागत्वात्परमभट्टारकमहादेवाधिदेवपरमेश्वरार्हत्सिद्धसाधुभ्योऽन्यत्रोन्मार्गश्रद्धाने विषयकषायदु.श्रवणदुराशयदुष्टसेवनोग्रताचरणे च प्रवृत्तोऽशुभोपयोग. ।।१५८।।

भूमिका—**अब अशुभोपयोग का स्वरूप कहते हैं :—**

अन्वयार्थ—[यस्य उपयोग.] जिसका उपयोग [विषयकषायावगाढ विषय कषाय मे अवगाढ (मग्न) है, [दु श्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठियुत] कुश्रुति, कुविचार और कुसगति मे लगा हुआ है, [उग्र] (कषायो की तीव्रता मे अथवा पापो मे उद्यत) है तथा [उन्मार्गपरः] उन्मार्ग मे लगा हुआ है, [स. अशुभ.] उसका वह उपयोग अशुभ है ।

टीका—**विशिष्ट उदयदशा मे रहने वाले दर्शनमोहनीय और चारित्रमोहनीयरूप पुद्गलों के अनुसार परिणति में लगा होने से अशुभोपराग के ग्रहण करने से, जो (उपयोग)**

परम भट्टारक, महादेवाधिदेव, परमेश्वर-अर्हंत सिद्ध और साधु को छोड़कर अन्य-उन्मार्ग की श्रद्धा करने में तथा विषय, कषाय, कुश्रवण, कुविचार, कुसंगति और उग्रता का आचरण करने में प्रवृत्त है, वह अशुभोपयोग है ।।१५८।।

तात्पर्यवृत्ति

अथाशुभोपयोगस्वरूप निरूपयति—

विसयकसाओगाढो विषयकषायावगाढ **दुस्सुदिदुच्चित्तदुट्ठगोट्ठजुदो** दु श्रुतिदुश्चित्तदुष्ठगोष्ठियुत **उग्गो** उग्र **उम्मग्गपरो** उन्मार्गपर **उवओगो** एव विशेषणचतुष्टययुक्त उपयोग परिणाम **जस्स** यस्य जीवस्य भवति **सो असुहो** स उपयोगस्त्वशुभोपयोगो भण्यते, अभेदेन पुरुषो वा । तथाहि—विषयकषायरहितशुद्धचैतन्यपरिणते प्रतिपक्षभूतो विषयकषायावगाढो विषयकषायपरिणत । शुद्धात्मतत्त्वप्रतिपादिका श्रुति सुश्रुतिस्तद्विलक्षणा दु श्रुति मिथ्याशास्त्रश्रुतिर्वा । निश्चिन्तात्मध्यानपरिणतं सुचित्त तद्विनाशक दुश्चित्तम्, स्वपरनिमित्तेष्टकामभोगचिन्तापरिणत रागाद्यपध्यान वा । परमचैतन्यपरिणतेर्विनाशिका दुष्टगोष्ठी तत्प्रतिपक्षभूतकुशीलपुरुषगोष्ठी वा इत्थभूत दु श्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठीभिर्युतो दु श्रुतिदुश्चित्तदुष्टगोष्ठियुक्त परमोपशमभावपरिणतपरमचैतन्यस्वभावात्प्रतिकूल उग्र वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहारमोक्षमार्गाद्विलक्षण उन्मार्गपर । इत्थभूतविशेषणचतुष्टयसहित उपयोग परिणाम । तत्परिणतपुरुषो वेत्यशुभोपयोगो भण्यत इत्यर्थ ।।१५८।।

उत्थानिका—आगे अशुभोपयोग का स्वरूप कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जस्स) जिस जीव का (उवओगो) उपयोग (विसयकसाओगाढो) विषयो की और कषायो की तीव्रता से भरा हुआ है (दुस्सुदिदुच्चितदुट्ठगोट्ठिजुदो) खोटे शास्त्र पढ़ने सुनने, खोटा विचार करने व खोटी संगतिमपूर्ण वार्तालाप मे लगा हुआ है, (उग्गो) हिंसादि मे उद्यमी दुष्ट रूप है, (उम्मग्गपरो) तथा मिथ्यामार्ग मे तत्पर है, ऐसे चार विशेषण सहित है (सो असुहो) सो अशुभ है । जो विषय कषाय-रहित शुद्ध चैतन्य की परिणति से विरुद्ध विषय कषायों मे परिणमन करने वाला है उसे विषय कषायावगाढ़ कहते है । शुद्ध आत्मतत्त्व को उपदेश करने वाले शास्त्र को सुश्रुति कहते हैं उससे विलक्षण मिथ्याशास्त्र को दुःश्रुति कहते हैं। निश्चिन्त होकर आत्मध्यान मे परिणमन करने वाले मन को सुचित्त कहते हैं । व्यर्थ वा अपने और दूसरे के लिये इष्ट कामभोगों की चिंता में लगे हुए रागादि अपध्यान को दुश्चित्त कहते हैं, परम चैतन्य परिणति को उत्पन्न करने वाली शुभ गोष्ठी है या संगति व उससे उल्टी कुशील या खोटे पुरुषों के साथ गोष्ठी करना दुष्ट गोष्ठी है । इस तरह तीन रूप जो वर्तन करता है उसे दुःश्रुति, दुश्चित्त, दुष्टगोष्ठी से युक्त कहते है । परम उपशमभाव में परिणमन करने वाले परम चैतन्य स्वभाव से उल्टे भाव हिंसादि मे लीन है उग्र कहते है, वीतराग सर्वज्ञ**

कथित निश्चय व्यवहार मोक्षमार्ग से विलक्षण भाव को उन्मार्ग में लीन कहते हैं, इस तरह चार विशेषण सहित परिणाम को व ऐसे परिणामों में परिणत होने वाले जीव को अशुभोपयोग कहते हैं ॥१५८॥

अथ परद्रव्यसंयोगकारणविनाशमभ्यस्यति—

असुहोवओगरहिदो सुहोवजुत्तो ण अण्णदवियम्हि ।
होज्जं मज्जत्थोऽहं णाणप्पगमप्पग झाए ॥१५९॥

अशुभोपयोगरहित शुभोपयुक्तो न अन्यद्रव्ये ।
भवन्मध्यस्थोऽह ज्ञानात्मकमात्मक ध्यायामि ॥१५९॥

यो हि नामायं परद्रव्यसयोगकारणत्वेनोपन्यस्तोऽशुद्ध उपयोग स खलु मन्दतीव्रोदयदशाविश्रान्तपरद्रव्यानुवृत्तितन्त्रत्वादेव प्रवर्तते न पुनरन्यस्मात् । ततोऽहमेष सर्वस्मिन्नेव परद्रव्ये मध्यस्थो भवामि । एवं भवंश्चाहं परद्रव्यानुवृत्तितन्त्रत्वाभावात् शुभेनाशुभेन वा शुद्धोपयोगेन निर्मुक्तो भूत्वा केवलस्वद्रव्यानुवृत्तिपरिग्रहात् प्रसिद्धशुद्धोपयोग उपयोगात्मनात्मन्येव नित्य निश्चलमुपयुक्तस्तिष्ठामि । एष मे परद्रव्यसंयोगकारणविनाशाभ्यासः ॥१५९॥

भूमिका—अब, परद्रव्य के संयोग के कारण अशुद्धोपयोग के विनाश का अभ्यास बतलाते हैं :—

अन्वयार्थ—[अन्यद्रव्ये] अन्य द्रव्य मे [मध्यस्थ] मध्यस्थ [भवन्] होता हुआ [अहम्] मै [अशुभोपयोगरहित] अशुभोपयोग रहित होता हुआ, (तथा) [शुभोपयुक्त न] शुभोपयोग न होता हुआ [ज्ञानात्मकम्] ज्ञान आत्मा को [ध्यायामि] ध्याता हू ।

टीका—जो यह (१५६वीं गाथा मे) परद्रव्य के संयोग के कारणरूप से कहा गया अशुद्धोपयोग है वह वास्तव मे मन्द-तीव्र उदयदशा मे रहने वाले परद्रव्यानुसार (द्रव्यकर्म अनुसार) परिणति के अधीन होने से ही प्रवर्तित होता है, किन्तु अन्य कारण से नहीं । इसलिये यह मै समस्त परद्रव्य (सुख-दुःख अथवा रागद्वेष आदि औदयिकभाव) में मध्यस्थ होता हूँ । इस प्रकार मध्यस्थ होता हुआ, परद्रव्यानुसार परिणति के अधीन न होने से शुभ अथवा अशुभरूप अशुद्धोपयोग से मुक्त होकर, मात्र स्वद्रव्यानुसार परिणति को ग्रहण करने से जिसको शुद्धोपयोग सिद्ध हुआ है, ऐसा मै उपयोगरूप-निजस्वरूप के द्वारा आत्मा में ही सदा निश्चलतया उपयुक्त रहता हूँ । यह मेरा परद्रव्य के संयोग के कारण विनाश का अभ्यास है ॥१५९॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुभाशुभरहितशुद्धोपयोग प्ररूपयति—

असुहोवओगरहिदो अशुभोपयोगरहितो भवामि । स क ? **अह** अह कर्ता । पुनरपि कथभूत ? **सुहोवजुत्तो ण** शुभोपयोगयुक्त परिणतो न भवामि । क्व विषयेऽसौ शुभोपयोग **अण्णदवियम्हि** निजपरमात्मद्रव्यादन्यद्रव्ये । तर्हि कथभूतो भवामि ? **होज्ज मज्झत्थो** जीवितमरणलाभालाभसुखदु खशत्रुमित्रनिन्दाप्रशसादिविषये मध्यस्थो भवामि । इत्थभूत सन् कि करोमि ? **णाणप्पगमप्पग झाए** ज्ञानात्मकमात्मान ध्यायामि । ज्ञानेन निर्वृत्तज्ञानात्मक केवलज्ञानान्तर्भूतानन्तगुणात्मक निजात्मान शुद्धध्यानप्रतिपक्षभूतसमस्तमनोरथरूपचिन्ताजालत्यागेन ध्यायामीति शुद्धोपयोगलक्षण ज्ञातव्यम् ॥१५६॥

एव शुभाशुभशुद्धोपयोगविवरणरूपेण तृतीयस्थले गाथात्रय गतम् ।

उत्थानिका—आगे शुभ अशुभ उपयोग से रहित शुद्ध उपयोग को वर्णन करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अहं) मैं (असुहोवओगरहिदो) अशुभोपयोग से रहित होता हूं, (सुहोवजुत्तो ण) शुभोपयोग मे भी परिणमन नहीं करता हूं तथा (अण्णदवियम्हि) निज परमात्मा सिवाय अन्य द्रव्य मे तथा जीवन, मरण, लाभ, अलाभ, सुख, दु ख, शत्रु, मित्र, निंदा, प्रशसा आदि में (मज्झत्थो होज्जं) मध्यस्थ होता हुआ (णाणप्पगं) ज्ञानस्वरूप (अप्पणं) आत्मा को (झाए) ध्याता हूं । अशुभोपयोग तथा शुभोपयोग मे परिणमन न करके वीतरागी होकर ज्ञान से निर्मित ज्ञानस्वरूप तथा उस केवलज्ञान में अंतर्भूत अनंतगुणमयी अपनी आत्मा को शुद्ध ध्यान के विरोधी सर्व मनोरथरूप चिंताजाल को त्यागकर ध्याता हूं । यह शुद्धोपयोग का लक्षण जानना चाहिये ॥१५६॥**

इस प्रकार शुभ-अशुभ-शुद्धोपयोग का वर्णन करने वाली तीसरे स्थल मे तीन गाथा हुई ।

अथ शरीरादावपि परद्रव्ये माध्यस्थ्यं प्रकटयति—

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी ण कारणं तेसिं ।
कत्ता ण [1]ण [2]कारयिदा अणुमंता णेव कत्तीणं ॥१६०॥

नाह देहो न मनो न चैव वाणी न कारण तेषाम् ।
कर्ता न न कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तॄणाम् ॥१६०॥

शरीरं च वाचं च मनश्च परद्रव्यत्वेनाहं प्रपद्ये, ततो न तेषु कश्चिदपि मम पक्षपातोऽस्ति । सर्वत्राप्यहमत्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि । तथाहि—न खल्वहं शरीरवाङ्मनसां स्वरूपाधारभूतमचेतनद्रव्यमस्मि, तानि खलु मां स्वरूपाधारमन्तरेणाप्यात्मनः स्वरूपं धारयन्ति । ततोऽहं शरीरवाङ्मनःपक्षपातमपास्यात्यन्तं मध्यस्थोऽस्मि । न च मे शरीरवाङ्मनःकारण-

---

१ ण—(ज० वृ०) । २ कारइदा (ज० वृ०) ।

चेतनद्रव्यत्वमस्ति, तानि खलु मां कर्तारमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कर्तृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यप्रयोजकत्वमस्ति, तानि खलु मा कारकप्रयोजकमन्तरेणापि क्रियमाणानि । ततोऽहं तत्कारकप्रयोजकत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः । न च मे स्वतन्त्रशरीरवाङ्मनःकारकाचेतनद्रव्यानुज्ञातृत्वमस्ति, तानि खलु मां कारकानुज्ञातारमन्तरेणापि क्रियमाणानि ततोऽहं तत्कारकानुज्ञातृत्वपक्षपातमपास्यास्म्ययमत्यन्तं मध्यस्थः ॥१६०॥

भूमिका—अब, शरीरादि परद्रव्य के प्रति भी मध्यस्थता प्रगट करते हैं—

अन्वयार्थ—[अह न देह] मै न देह हू, [न मन] न मन हू, [च] और [न वाणी एव] न वाणी ही हू, [तेषा कारण न] उनका (उपादान) कारण नही हूँ [कर्ता न] कर्ता नही हूँ, [कारयिता न] कराने वाला नही हू, [कर्तृणा अनुमन्ता न एव] (और) कर्ता का अनुमोदक नही हू ।

टीका—मै शरीर, वाणी और मन को परद्रव्यरूप से समझता हूँ, इसलिये उनमें मेरा कुछ भी पक्षपात नहीं है । मै उन सबके प्रति अत्यन्त मध्यस्थ हूँ । यथा :—वास्तव मे शरीर-वाणी और मन के स्वरूप का आधार भूत अचेतन द्रव्य नहीं हूँ, मेरे स्वरूपाधार (हुये) बिना भी, वे वास्तव मे अपने स्वरूप को धारण करते हैं । इसलिये शरीर, वाणी और मन का पक्षपात छोड़कर मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ । मैं शरीर-वाणी तथा मन का (उपादान) कारण अचेतन द्रव्य नहीं हूँ । मेरे कारण (हुये) बिना भी, वे वास्तव में कारणवान् हैं । इसलिये उनके कारणत्व का पक्षपात छोड़कर यह मै अत्यन्त मध्यस्थ हूँ । मैं स्वतन्त्र ऐसे शरीर, वाणी तथा मन का (उपादान) कर्ता अचेतन द्रव्य नहीं हूँ । मेरे कर्ता (हुये) बिना भी, वे वास्तव मे किये जाते हैं । इसलिये उनके कर्तृत्व का पक्षपात छोड़कर यह मैं अत्यन्त मध्यस्थ हूँ । मै स्वतन्त्र ऐसे शरीर, वाणी तथा मनका (उपादान) कारक (कर्ता) जो अचेतन द्रव्य है उसका प्रयोजक नहीं हूं । मेरे कारक प्रयोजक (हुये) बिना भी (अर्थात् मेरे उनके कर्ता का प्रयोजक, उनके कराने वाला हुये बिना भी) वे वास्तव में किये जाते हैं । इसलिये उनके कर्ता के प्रयोजकत्व का पक्षपात छोड़कर यह मै अत्यन्त मध्यस्थ हूँ । मैं स्वतन्त्र ऐसे शरीर, वाणी तथा मनका (उपादान) कारक जो अचेतन द्रव्य है, उसका अनुमोदक नहीं हूं । मेरे कारक-अनुमोदक (हुये) बिना भी (उनके कर्ता का अनुमोदक हुये बिना भी) वे वास्तन में किये जाते हैं । इसलिये उनके कर्ता के अनुमोदकत्व का पक्षपात छोड़कर यह मै अत्यन्त मध्यस्थ हूँ ॥१६०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ देहमनोवचनविषयेऽत्यन्तमाध्यस्थ्यमुद्योतयति—

णाहं देहो ण मणो ण चेव वाणी नाहं देहो न मनो न चैव वाणी। मनोवचनकायव्यापार-रहितात्परमात्मद्रव्याद्भिन्नं यन्मनोवचनकायत्रयं निश्चयनयेन तन्नाहं भवामि। ततः कारणात्तत्पक्ष-पातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि। **ण कारणं तेसिं** न कारणं तेषाम्। निर्विकारपरमाल्हादैकलक्षणसुखा-मृतपरिणतेर्यदुपादानकारणभूतमात्मद्रव्यं तद्विलक्षणो मनोवचनकायानामुपादानकारणभूतः पुद्गल-पिण्डो न भवामि। ततः कारणात्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मि। **कत्ता ण हि कारइदा अणुमंता णेव कत्तीणं** कर्ता न हि कारयिता अनुमन्ता नैव कर्तृणाम् स्वशुद्धात्मभावनाविषये यत्कृतकारिता-नुमतस्वरूपं तद्विलक्षणं यन्मनोवचनकायविषये कृतकारितानुमतस्वरूपं तन्नाहं भवामि। ततः कारणा-त्पक्षपातं मुक्त्वात्यन्तमध्यस्थोऽस्मीति तात्पर्यम् ॥१६०॥

उत्थानिका—आगे शरीर, वचन और मन के सम्बन्ध मे मध्यस्थ भाव को झलकाते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अहं देहो ण) मै शरीर नहीं हूं (ण मणो) न मन हूं (ण चेव वाणी) और न वचन ही हूं (ण तेसिं कारणं) न इन मन वचन काय का उपादान कारण हूं (ण कत्ता) न मै इनका करने वाला हू (ण कारइदा) न कराने वाला हूं (णेव कत्तीणं अणुमंता) और न करने वालो की अनुमोदना करता हूं। मन, वचन, काय के व्यापार से रहित, परमात्म-द्रव्य से भिन्न जो मन, वचन, काय तीन है, मै निश्चय से इन रूप नहीं हूं इसलिये इनका पक्ष छोडकर मै अत्यन्त मध्यस्थ होता हूं। विकार-रहित परम आनन्द-मयी एक लक्षणरूप सुखामृत मे परिणति होना उसका जो उपादानकारण आत्मद्रव्य उस रूप मैं हूं। आत्म-द्रव्य से विलक्षण मन वचन काय का उपादान कारण पुद्गल पिंड है, मैं नहीं हूं। इस कारण से उनके कारण का भी पक्ष छोड़कर मध्यस्थ होता हूं। मै अपने ही शुद्धात्मा की भावना के सम्बन्ध मे कर्ता, कराने वाला तथा अनुमोदना करने वाला नहीं हूं। इसलिये इसका पक्ष भी छोडकर मै अत्यन्त मध्यस्थ होता हूं ॥१६०॥**

अथ शरीरवाङ्मनसां परद्रव्यत्वं निश्चिनोति—

देहो य मणो वाणी पोग्गलदव्वप्पग[1] त्ति णिद्दिट्ठा।
पोग्गलदव्वं[2] हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाणं ॥१६१॥

देहश्च मनो वाणी पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टाः।
पुद्गलद्रव्यमपि पुनः पिण्डः परमाणुद्रव्याणाम् ॥१६१॥

शरीरं च वाक् च मनश्च त्रीण्यपि परद्रव्यं पुद्गलद्रव्यात्मकत्वात्। पुद्गलद्रव्यत्वं तु तेषां पुद्गलद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वनिश्चितत्वात् तथाविधपुद्गलद्रव्यं त्वनेकप-

---

१ पुग्गलदव्वप्पग त्ति (ज० वृ०)। २ पुग्गलदव्व (ज० वृ०)।

रमाणुद्रव्याणामेकपिण्डपर्यायेण परिणामः। अनेकपरमाणुद्रव्यस्वलक्षणभूतस्वरूपास्तित्वानामनेकत्वेऽपि कथंचिदेकत्वेनावभासनात् ॥१६१॥

भूमिका—**अब शरीर, वाणी और मन का परद्रव्यत्व निश्चित करते हैं :—**

अन्वयार्थ—[देहः च मनः वाणी] देह, मन और वाणी [पुद्गलद्रव्यात्मकाः] पुद्गल द्रव्यरूप है, [इति निर्दिष्टाः] ऐसा (वीतरागदेव ने) कहा है [अपि पुनः] और पुद्गल द्रव्य] वह पुद्गल द्रव्य [परमाणुद्रव्याणा पिण्डः]परमाणु द्रव्यो का पिण्ड है।

टीका—**शरीर वाणी और मन तीनों ही परद्रव्य हैं, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्यात्मक हैं। उनके पुद्गलद्रव्यत्व है, क्योंकि वे पुद्गल द्रव्य के स्वलक्षणभूत स्वरूपास्त्वि में निश्चित हैं। उस प्रकार का पुद्गलद्रव्य अनेक परमाणुओं का एक पिण्ड पर्यायरूप से परिणाम है, क्योंकि अनेक परमाणुद्रव्यों के स्वलक्षणभूत स्वरूपास्तित्व अनेक होने पर भी कथंचित् स्निग्धत्व रूक्षत्वकृत बंध परिणाम की अपेक्षा से एकत्वरूप अवभासित होते हैं ॥१६१॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ कायवाङ्मनसा शुद्धात्मस्वरूपात्परद्रव्यत्व व्यवस्थापयति—

देहो य मणो वाणी पुग्गलदव्वप्पगत्ति णिद्दिट्ठा देहश्च मनो वाणी तिस्रोऽपि पुद्गलद्रव्यात्मका इति निर्दिष्टा। कस्मात् ? व्यवहारेण जीवेन सहैकत्वेऽपि निश्चयेन परमचैतन्यप्रकाशपरिणतेर्भिन्नत्वात्। पुद्गलद्रव्य कि भण्यते ? **पुग्गलदव्व हि पुणो पिंडो परमाणुदव्वाण** पुद्गलद्रव्य हि स्फुट पुन पिण्ड समूहो भवति। केषा ? परमाणुद्रव्याणामित्यर्थ ॥१६१॥

उत्थानिका—आगे शरीर, वचन तथा मन को शुद्धात्मा के स्वरूप से भिन्न परद्रव्य रूप स्थापित करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(देहो य मणो वाणी) शरीर, मन और वचन (पुग्गलदव्वप्पगत्ति) ये तीनों ही पुद्गल द्रव्यमयी (णिद्दिट्ठा) कहे गए हैं। (पुणो) तथा (पुग्गलदव्वं पि) पुद्गलद्रव्य भी (परमाणुदव्वाण पिण्डो) परमाणुरूप पुद्गल द्रव्यों का समूहरूप स्कन्ध है। जीव के साथ इन मन वचन काय की एकता व्यवहारनय से माने जाने पर भी निश्चयनय से ये तीनों ही परम चैतन्यरूप प्रकाश की परिणति से भिन्न हैं। वास्तव में ये परमाणु रूप पुद्गलों के बने हुए स्कन्धरूप वर्गणाओं से बनकर पुद्गलद्रव्यमयी ही है ॥१६१॥**

अथात्मनः परद्रव्यत्वाभावं परद्रव्यकर्तृत्वाभाव च साधयति—

णाहं पोग्गलमइओ[1] ण ते मया पोग्गला[2] कया पिंडं।
तम्हा हि ण देहोऽहं कत्ता वा तस्स देहस्स ॥१६२॥

---

१ पुग्गलमइओ (ज० वृ०)। २ पुग्गला (ज० वृ०)।

नाहं पुद्गलमयो न ते मया पुद्गला कृता पिण्डम् ।
तस्माद्धि न देहोऽहं कर्ता वा तस्य देहस्य ॥१६२॥

यदेतत्प्रकरणनिर्धारितं पुद्गलात्मकमन्तर्नीतवाङ्मनोद्वैतं शरीरं नाम परद्रव्यं न तावदहमस्मि, ममापुद्गलमयस्य पुद्गलात्मकशरीरत्वविरोधात् । न चापि तस्य कारणद्वारेण कर्तृद्वारेण कर्तृप्रयोजकद्वारेण कर्त्रनुमन्तृद्वारेण वा शरीरस्य कर्ताहमस्मि, ममानेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामस्याकर्तुरनेकपरमाणुद्रव्यैकपिण्डपर्यायपरिणामात्मकशरीर-कर्तृत्वस्य सर्वथा विरोधात् ॥१६२॥

भूमिका—**अब आत्मा के परद्रव्यत्व का अभाव और परद्रव्य के कर्तृत्व का अभाव सिद्ध करते हैं—**

अन्वयार्थ—[अहं पुद्गलमयः न] मैं पुद्गलमय नहीं हूं, और [ते पुद्गलाः] वे पुद्गल [मया] मेरे द्वारा [पिण्डं न कृताः] पिण्डरूप नहीं किये गये हैं, [तस्मात् हि] इसलिये [अहं न देहः] मैं देह नहीं हूं, [वा] तथा [तस्य देहस्य कर्ता] उस देह का कर्त्ता नहीं हूं ।

टीका—**प्रथम तो जो यह प्रकरण से निर्धारित पुद्गलात्मक शरीर नामक परद्रव्य है,—जिसके भीतर वाणी और मन का समावेश हो जाता है, वह मैं नहीं हूं क्योंकि मुझ अपुद्गलात्मक का पुद्गलात्मक शरीररूप होने मे विरोध है। उस (शरीर) के कारण द्वारा कर्ता द्वारा, कर्ता के प्रयोजक द्वारा या कर्ता के अनुमोदक द्वारा शरीर का कर्ता भी मैं नहीं हूं, क्योंकि मै अनेक परमाणु द्रव्यों के एकपिण्ड पर्यायरूप परिणाम का अकर्ता हूं, (इसलिये) मेरे अनेक परमाणु द्रव्यों के एकपिण्ड पर्यायरूप परिणामात्मक शरीर के कर्तापने का सर्वथा विरोध है ।**

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मनः शरीररूपपरद्रव्याभावं तत्कर्तृत्वाभावं च निरूपयति—

णाहं पुग्गलमइओ नाहं पुद्गलमयः **ण ते मया पुग्गला कया पिंडा** न च ते पुद्गला मया कृताः पिण्डाः **तम्हा हि ण देहोऽहं** तस्माद्देहो न भवाम्यहं हि स्फुटं **कत्ता वा तस्स देहस्स** कर्ता वा न भवामि तस्य देहस्येति । अयमत्रार्थः—देहोऽहं न भवामि । कस्मात् ? अशरीरसहजशुद्धचैतन्यपरिणतत्वेन मम देहत्वविरोधात् । कर्त्ता वा न भवामि तस्य देहस्य । तदपि कस्मात् ? निःक्रियपरमचिज्ज्योतिः—परिणतत्वेन मम देहकर्तृत्वविरोधादिति ॥१६२॥

एवं कायवाङ्मनसां शुद्धात्मना सह भेदकथनरूपेणचतुर्थस्थले गाथात्रयं गतम् । इति पूर्वोक्तप्रकारेण "अत्थित्तणिच्छिदस्स हि" इत्याद्येकादशगाथाभिः स्थलचतुष्टयेन प्रथमो 'विशेषान्तराधिकारः' समाप्तः ।

अथ केवलपुद्गलमुख्यत्वेन नवगाथापर्यन्त व्याख्यान करोति। तत्र स्थलद्वय भवति। परमाणूना परस्परबन्धकथनार्थ "अपदेसो परमाणू" इत्यादि प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयम्। तदनन्तर स्कधाना बन्धमुख्यत्वेन "दुपदेसादी खधा" इत्यादिद्वितीयस्थले गाथापञ्चकम्। एव द्वितीयविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका।

उत्थानिका—आगे फिर दिखाते है कि इस आतमा के जैसे शरीर रूप पर द्रव्य का अभाव है वैसे उसके कर्तापने का भी अभाव है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(णाहं पुग्गलमइओ) **मै पुद्गलमयी नहीं हूँ (ते पुग्गला पिडं मया ण कया) तथा वे पुद्गल के पिंड जिन से मन वचन काय बनते हैं, मेरे से बनाए हुए नहीं हैं (तम्हा) इसलिये (हि) निश्चय से (अहं देहो ण) मै शरीररूप नहीं हूं (वा तस्स देहस्स कत्ता) और न उस देह का बनाने वाला हूँ। मै शरीर नहीं हूं क्योंकि मैं वास्तव में शरीर रहित सहज ही शुद्ध चैतन्य की परिणति का रखने वाला हूँ इससे मेरा और शरीर का विरोध है। और न मै इस शरीर का कर्ता हूँ क्योंकि मै क्रियारहित परम चैतन्य ज्योतिरूप परिणति का ही कर्ता हूं, मेरा कर्तापना देह के कर्तापन से विरोधरूप है॥१६२॥**

इस तरह मन वचन काय का शुद्धात्मा के साथ भेद है, ऐसा कथन करते हुए चौथे स्थल मे तीन गाथाये पूर्ण हुई। इस तरह पूर्व मे कहे प्रमाण "**अत्थित्तणिच्छिदस्स हि**" इत्यादि ग्यारह गाथाओ से चौथे स्थल मे प्रथम विशेष अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ।

अब केवल पुद्गल की मुख्यता से नव (६) गाथा तक व्याख्यान करते हैं। इसमें दो स्थल हैं। परमाणुओ मे परस्पर बध होता है इस बात के कहने के लिये "**अपदेसो** परमाणू" इत्यादि पहले स्थल मे गाथाए चार है। फिर स्कधो के बध की मुख्यता से दुपदेसादी खधा" इत्यादि दूसरे स्थल मे गाथा पाच है। इस तरह दूसरे विशेष अन्तर अधिकार मे समुदायपातनिका है।

अथ कथं परमाणुद्रव्याणां पिण्डपर्यायपरिणतिरिति संदेहमपनुदति—

अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य सयमसद्दो जो।
णिद्धो वा लुक्खो वा दुपदेसादित्तमणुभवदि[1] ॥१६३॥

अप्रदेश परमाणु प्रदेशमात्रश्च स्वयमशब्दो य।
स्निग्धो वा रूक्षो वा द्विप्रदेशादित्वमनुभवति ॥१६३॥

परमाणुर्हि द्व्यादिप्रदेशानामभावादप्रदेश:, एकप्रदेशसद्भावात्प्रदेशमात्र:, स्वयमनेकपरमाणुद्रव्यात्मकशब्दपर्यायव्यक्त्यसंभवादशब्दश्च। यतश्चतु:स्पर्शपञ्चरसद्विगन्धपञ्चवर्णा-

---

१ दुपदेसादित्तमणुहवदि (ज० वृ०)।

नामविरोधेन सद्भावात् स्निग्धो वा रूक्षो वा स्यात् । तत एव तस्य पिण्डपर्यायपरिणति-रूपा द्विप्रदेशादित्वानुभूतिः । अथैवं स्निग्धरूक्षत्वं पिण्डत्वसाधनम् ॥१६३॥

भूमिका—**अब, इस संदेह को दूर करते हैं कि "परमाणुद्रव्यो की पिण्ड पर्यायरूप परिणति कैसे होती है ?—**

अन्वयार्थ—[परमाणुः] परमाणु [यः अप्रदेश] जो कि अदेशी (बहु प्रदेशी नही) है, [प्रदेशमात्रः] प्रदेशमात्र है, [च] और [स्वय अशब्दः] स्वय अशब्द है, [स्निग्ध वा रूक्षः वा] वह स्निग्ध अथवा रूक्ष होता हुआ [द्विप्रदशादित्वम् अनुभवति] द्विप्रदेशादित्व का अनुभव करता है (अर्थात् द्वधणुक आदि स्कधो रूप परिणत होता है)।

टीका—**वास्तव में परमाणु द्व्यादि (दो–तीन आदि) प्रदेशो के अभाव के कारण अप्रदेशी है, एक प्रदेश के सद्भाव के कारण प्रदेशमात्र है और स्वय, अनेक परमाणुद्रव्यात्मक शब्दपर्यायरूप प्रगट होने को संभव न होने से, अशब्द है । क्योंकि (वह परमाणु) अविरोधपूर्वक चार स्पर्श, पांच रस, दो गंध और पांच वर्णों के सद्भाव के कारण स्निग्ध अथवा रूक्ष होता है, इसीलिये ही उसके पिण्ड पर्याय-परिणतिरूप द्विप्रदेशादित्व की अनुभूति होती है । इस प्रकार स्निग्धरूक्षत्व पिण्डत्व का कारण है ॥१६३॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ यद्यात्मा पुद्गलाना पिण्ड न करोति तर्हि कथ पिण्डपर्यायपरिणतिरिति प्रश्ने प्रत्युत्तर ददाति—

अपदेसो अप्रदेश । स क ? **परमाणू** पुद्गलपरमाणु ? पुनरपि कथभूत । **पदेसमेत्तो य** द्वितीयादिप्रदेशाभावात् प्रदेशमात्रश्च । पुनश्च किं रूप ? **सयमसद्दो य** स्वय व्यक्तिरूपेणाशब्द । एव विशेषणत्रयविशिष्ट सन् **णिद्धो वा लुक्खो वा** स्निग्धो वा रूक्षो वा यत कारणात्सभवति तत कारणात् । **दुपदेसादित्तमणुहवदि** द्विप्रदेशादिरूप बन्धमनुभवतीति । तथा—यथायमात्मा शुद्धबुद्धैकस्वभावेन बन्धरहितोऽपि पश्चादशुद्धनयेन स्निग्धस्थानीयरागभावेन रूक्षस्थानीयद्वेषभावेन यदा परिणमति तदा परमागमकथितप्रकारेण बन्धमनुभवति । तथा परमाणुरपि स्वभावेन बन्धरहितोऽपि यदा बन्धकारणभूत स्निग्धरूक्षगुणेन परिणतो भवति तदा पुद्गलान्तरेण सह विभावपर्यायरूप बन्धमनुभवतीत्यर्थ ॥१६३॥

उत्थानिका—यदि आत्मा पुद्गलो को पिडरूप नही करता है तो किस तरह पिड की पर्याय होती है इस प्रश्न का उत्तर देते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(परमाणू) पुद्गल का अविभागी अखंड परमाणु (जो अपदेसो) जो बहुत प्रदेशों से रहित है (पदेसमेत्तो य) एक प्रदेशमात्र है और (सयमसद्दो) स्वयं व्यक्तरूप से शब्द पर्याय से रहित है (णिद्धो वा लुक्खो वा) स्निग्ध होता है या रूक्ष**

होता है, इस कारण से (दुपदेसादित्तं) दो प्रदेशों के व अनेक प्रदेशों के मिलने से बंध अवस्था को (अणुहवदि) अनुभव करता है। जैसे यह आत्मा शुद्ध बुद्ध एक स्वभावरूप से बंधरहित है तो भी अनादिकाल से अशुद्ध निश्चयनय से स्निग्ध के स्थान में रागभाव से और रूक्ष के स्थान मे द्वेषभाव से जब-जब परिणमन करता है तब-तब परमागम में कहे प्रमाण बन्ध को प्राप्त करता है, तैसे ही परमाणु भी स्वभाव से बन्ध रहित होने पर भी जब-जब बन्ध के कारणभूत स्निग्ध रूक्ष गुण से परिणत होता है तब-तब दूसरे पुद्गल परमाणु से विभाव पर्यायरूप बन्ध को प्राप्त हो जाता है ॥१६३॥

अथ कीदृशं तत्स्निग्धरूक्षत्वं परमाणोरित्यावेदयति—

एगुत्तरमेगादी अणुस्स णिद्धत्तणं च लुक्खत्तं ।
परिणामादो भणिदं जाव अणंतत्तमणुभवदि[1] ॥१६४॥

एकोत्तरमेकाद्यणो स्निग्धत्व वा रूक्षत्वम् ।
परिणामाद्भणित यावदनन्तत्वमनुभवति ॥१६४॥

परमाणोर्हि तावदस्ति परिणामः तस्य वस्तुस्वभावत्वेनानतिक्रमात् । ततस्तु परिणामादुपात्तकादाचित्कवैचित्र्यं, चित्रगुणयोगित्वात्परमाणोरेकाद्येकोत्तरानन्तावसानाविभागपरिच्छेदव्यापिस्निग्धत्वं वा रूक्षत्व वा भवति ॥१६४॥

भूमिका—अब, यह बतलाते हैं कि परमाणु के वह स्निग्ध रूक्षत्व किस प्रकार का होता है—

अन्वयार्थ—[अणो] परमाणु के [परिणामात्] परिणमन के कारण [एकादि] एक (अविभागी प्रतिच्छेद) से लेकर [एकोत्तर] एक-एक बढते हुये [यावत्] जब तक [अनन्तत्वम् अनुभवति] अनन्तत्व को (अनन्त अविभागी प्रतिच्छेदत्व को) प्राप्त हो, तब तक [स्निग्धत्व वा रूक्षत्व] स्निग्धत्व अथवा रुक्षत्व होता है, ऐसा [भणितम्] (जिनेन्द्र-देव ने) कहा है।

टीका—प्रथम तो परमाणु के परिणमन होता है, क्योंकि वस्तु का स्वभाव होने से, उसका (परिणमन का) उल्लघन नहीं किया जा सकता। उस परिणमन के कारण जो क्षणिक विविधता धारण करता है ऐसा, एक से लेकर एक-एक बढ़ते हुए अनन्त अविभागी-प्रतिच्छेदों तक व्याप्त होने वाला स्निग्धत्व अथवा रूक्षत्व परमाणु के होता है, क्योंकि परमाणु अनेक प्रकार के गुणों वाला है ॥१६४॥

---

१ अणुहवदि (ज० वृ०)।

तात्पर्यवृत्ति

अथ कीदृश तत्स्निग्धरूक्षत्वमिति पृष्टे प्रत्युत्तर ददाति—

एगुत्तरमेगादी एकोत्तरमेकादि । किं ? **णिद्धत्तण च लुक्खत्त** स्निग्धत्व रूक्षत्व च कर्मतापन्न **भणिदं** भणित कथितम् । किं पर्यन्तम् ? **जाव अणतत्तमणुहवदि** अनन्तत्वमनन्तपर्यन्त यावदनुभवति प्राप्नोति । कस्मात्सकाशात् **परिणामादो** परिणतिविशेषात्परिणामित्वादित्यर्थ । कस्य सम्बन्धि ? **अणुस्स** अणो पुद्गलपरमाणो । तथाहि—यथा जीवे जलाजागोमहिषीक्षीरे स्नेहवृद्धिवत्स्नेहस्थानीय रागित्व रूक्षस्थानीय द्वेषत्व बन्धकारणभूत जघन्यविशुद्धसक्लेशस्थानीयमादि कृत्वा परमागमकथित-क्रमेणोत्कृष्टविशुद्धसक्लेशपर्यन्त वर्द्धते । तथा पुद्गलपरमाणुद्रव्येऽपि स्निग्धत्व रूक्षत्व च बन्धकारण-भूत पूर्वोक्तजलादितारतम्यशक्तिदृष्टान्तेनैकगुणसज्ञाजघन्यशक्तिमादि कृत्वा गुणसज्ञेनाविभागपरिच्छेद-द्वितीयनामाभिधेयेन शक्तिविशेषेण वर्द्धते । कि पर्यन्त । यादवदनन्तसख्यानम् । कस्मात् ? पुद्गल-द्रव्यस्य परिणामित्वात् परिणामस्य वस्तुस्वभावादेव निषेधितुमशक्यत्वादिति ॥१६४॥

उत्थानिका—आगे वे स्निग्ध रूक्ष गुण किस तरह है ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(अणुस्स) **परमाणु का (णिद्धत्तणं च लुक्खत्त) चिकना-पना या रूखापना (एगादी) एक अंश को आदि लेकर (एगुत्तरम्) एक-एक बढ़ता हुआ (परिणामादो) परिणमन शक्ति के विशेष से (जाव अणतत्त) अनतपने तक (अणुहवदि) अनुभव करता है । ऐसा (भणिद) कहा गया है जैसे जल, बकरी का दूध, गाय का दूध, भैंस का दूध एक दूसरे से अधिक-अधिक चिकनाई को रखता है, इसी तरह यह ससारी जीव चिकनाई के स्थान मे रागपने को, रूखेपने के स्थान मे द्वेषपने को बन्ध के कारणभूत जघन्य विशुद्ध या संक्लेश भाव को आदि लेकर परमागम मे कहे प्रमाण उत्कृष्ट विशुद्ध या संक्लेश भाव पर्यंत क्रम से बढ़ता हुआ रखता है । इसी तरह पुद्गल परमाणु द्रव्य भी पूर्व में कहे हुए जल दूध आदि की बढ़ती हुई शक्ति के दृष्टान्त से एक गुण नाम की जघन्य शक्ति को आदि लेकर क्रम से गुण नाम से प्रसिद्ध अविभाग परिणामो का होना वस्तु का स्वभाव है सो कोई मेटने को समर्थ नहीं है ।**

भावार्थ—**यद्यपि प्रत्येक द्रव्य का स्वभाव परिणमनशील है, तथापि उस परिणमन में कालद्रव्य सहकारी कारण है ॥१६३॥**

अथात्र कीदृशात्स्निग्धरूक्षत्वात्पिण्डत्वमित्यावेदयति—

णिद्धा वा लुक्खा वा अणुपरिणामा समा वा[1] विसमा वा ।
समदो दुराधिगा जदि बज्झंति हि आदिपरिहीणा ॥१६५॥

---

१ व (ज० वृ०) ।

स्निग्धा वा रूक्षा वा अणुपरिणामा समा वा।
समतो द्वयधिका यदि बध्यन्ते हि आदिपरिहीना ॥१६५॥

समतो द्वयधिकगुणादि स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध इत्युत्सर्ग, स्निग्धरूक्षद्वयधिकगुणत्वस्य हि परिणामकत्वेन बन्धसाधनत्वात्। न खल्वेकगुणात् स्निग्धरूक्षत्वाद्बन्ध इत्यपवादः। एकगुणस्निग्धरूक्षत्वस्य हि परिणम्यपरिणामकत्वाभावेन बन्धस्यासाधनत्वात् ॥१६५॥

भूमिका—**अब यह बतलाते हैं कि कैसे स्निग्धत्व-रूक्षत्व से पिण्डता होती है—**

अन्वयार्थ—[अणु परिणामा·] परमाणु-परिणाम [स्निग्धाः वा रूक्षा· वा.] स्निग्ध हो या रूक्ष हो [समाः वा विषमाः वा] सम (अश वाले, २, ४, ६ आदि हो, या विषम (अश वाले, ३, ५, ७ आदि) हो [आदि परिहीना·] जघन्य अर्थात् एक अश वाले को छोडकर, [यदि समत द्वयधिकाः] यदि समान से दो अधिक अश वाले हो तो [बध्यन्ते हि] बधते ही है।

टीका—**समान से दो गुण (अश) अधिक स्निग्धत्व या रूक्षत्व हो तो बंध होता है, यह उत्सर्ग (सामान्य नियम) है, क्योंकि स्निग्धत्व या रूक्षत्व की द्विगुणाधिकता के, निश्चय से परिणामकपना होने से (परिणमन कराने वाला होने से), बंध का कारणपन है। यदि एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्व हो तो बध नही होता, यह अपवाद है, क्योंकि एक गुण स्निग्धत्व या रूक्षत्व के परिणम्य-परिणामकता का (परिणम्य-जो परिणमित होता है, परिणामक-जो परिणमन कराता है, दोनो का) अभाव होने से, बंध के कारणत्व का अभाव है ॥१६५॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथात्र कीदृशात्स्निग्धरूक्षत्वगुणात् पिण्डो भवतीति प्रश्ने समाधान ददाति—

बज्झंति हि बध्यन्ते हि स्फुट। के ? कर्मतापन्ना **अणुपरिणामा** अणुपरिणामा अणुपरिणामशब्देनात्र परिणामपरिणता अणवो गृह्यन्ते। कथभूता ? **णिद्धा वा लुक्खा वा** स्निग्धपरिणामपरिणता वा रूक्षपरिणामपरिणता वा। पुनरपि कि विशिष्टा ? **समा व विसमा वा** द्विशक्तिचतु शक्तिषट्शक्त्यादिपरिणताना सम इति सज्ञा। त्रिशक्तिपञ्चशक्तिसप्तशक्त्यादिपरिणताना विषम इति सज्ञा। पुनश्च कि रूपा। **समदो दुराधिगा जदि** समत समसख्यानात्सकाशाद् द्वाभ्या गुणाभ्यामधिका यदि चेत्। कथ द्विगुणाधिकत्वमिति चेत् ? एको द्विगुणस्तिष्ठति द्वितीयोऽपि द्विगुण इति **द्वौ समसख्यानौ** तिष्ठतस्तावत् एकस्य विवक्षितद्विगुणस्य द्विगुणाधिकत्वे कृते सति स चतुर्गुणो भवति शक्तिचतुष्टयपरिणतो भवति। तस्य चतुर्गुणस्य पूर्वोक्तद्विगुणेन सह बन्धो भवतीति। **तथैव द्वौ त्रिशक्तियुक्तौ** तिष्ठतस्तावत्, तत्राप्येकस्य त्रिगुणशब्दाभिधेयस्य त्रिशक्तियुक्तस्य परमाणो शक्तिद्वयमेलापके कृते सति पञ्चगुणत्व भवति। तेन पञ्चगुणेन सह पूर्वोक्तत्रिगुणस्य बन्धो भवति। एव द्वयोर्द्वयो. **स्निग्धयोर्द्वयोर्द्वयो** रूक्षयोर्द्वयोर्द्वयो स्निग्धरूक्षयोर्वा समयो विषमयोश्च द्विगुणाधिकत्वे सति बन्धो भवतीत्यर्थ·, किन्तु **विशेषो-**

ऽस्ति। **आविपरिहीणा** आदिशब्देन जलस्थानीय जघन्यस्निग्धत्व वालुकास्थानीय जघन्यरूक्षत्व भण्यते ताभ्या विहीना, आदि परिहीना बध्यन्ते।

किञ्च-परमचैतन्यपरिणतिलक्षणपरमात्मतत्त्वभावनारूपधर्म्यध्यानशुक्लध्यानबलेन यथा जघन्यस्निग्धशक्तिस्थानीये क्षीणरागत्वे सति जघन्यरूक्षशक्तिस्थानीये क्षीणद्वेषत्वे च सति जल-बालुकयोरिव जीवस्य बन्धो न भवति, तथा पुद्गलपरमाणोरपि जघन्यस्निग्धरूक्षशक्तिप्रस्तावे बन्धो न भवतीत्यभिप्राय. ॥१६५॥

उत्थानिका—अब यहा प्रश्न करते है कि किस प्रकार के चिकने रूखे गुण से पुद्गल का पिंड बनता है ? इसी का समाधान करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अणुपरिणामा) परमाणु के पर्याय भेद (णिद्धा वा लुक्खा वा) स्निग्ध हों या रूक्ष हों (समा वा) दो, चार, छ आदि की गणना से समान हों (विसमा वा) अथवा तीन, पांच, सात नव आदि की गणना से विषम हो (जदि) जो (हि) निश्चय से (आविपरिहोणा) जघन्य अंश से रहित हों (समदो) तथा गिनती की समानता से (दुराधिगा) दो अधिक अंश में हों तो (बज्झंति) परस्पर बंध जाते है। पुद्गल के परमाणु रूक्ष हों या स्निग्ध गुण मे परिणत हों तथा सम हो या विषम हो, दो गुणांश अधिक होने पर परस्पर बध जाते हैं। दो गुण अधिकपने का भाव यह है कि मानलो एक, दो अंशवाला है इतने ही में परिणमन करते हुए एक किसी दो अंश वाले परमाणु मे दो अंश अधिक हो गए तब वह परमाणु चार अंश रूप शक्ति मे परिणमन करने वाला हो जाता है। इस चार गुण वाले परमाणु का पूर्व मे कहे हुए किसी दो अशधारी परमाणु के साथ बंध हो जायगा तैसे ही दो परमाणु तीन-तीन अश शक्तिधारी है उनमे से एक तीन अंश शक्ति रखने वाले परमाणु में मान लो परिणमन होने से दो शक्ति के अश अधिक होने से वह परमाणु पाँच अंश वाला हो गया। इस पंच अंश वाले का पहले कहे हुए किसी तीन अंश वाले परमाणु से बंध हो जावेगा। इस तरह दो अंशधारी चिकने परमाणु का दूसरे दो अधिक अंश वाले चिकने परमाणु के साथ या दो अंश वाले रूखे का दो अधिक अंश वाले रूखे के साथ, वा दो अंश वाले चिकने का दो अश अधिक वाले रूखे परमाणु के साथ बंध हो जायेगा। इसी तरह सम का या विषम का बंध दो अश की अधिकता होने पर ही होगा। जो परमाणु जघन्य चिकनाई को जैसे जल मे मान ली जावे या जघन्य रूखेपने को जैसे बालू कण में मान लिया जावे, रखता होगा उनका बंध उस दशा में किसी भी पर-माणु से नहीं होगा।**

यहाँ यह भाव है कि जैसे परमचैतन्यभाव मे परिणति को रखने वाले परमात्मा के स्वरूप की भावनामयी धर्मध्यान या शुक्लध्यान के बल से जब जघन्य चिकनाई की शक्ति के समान सब राग क्षय हो जाता है या जघन्य रूखेपने की शक्ति के समान सब द्वेष क्षय हो जाता है तब जैसे जल का और बालू का बंध नहीं होता वैसे जीव का कर्मों से बंध नहीं होता। तथा वैसे ही जघन्य, स्निग्ध या रूक्ष शक्तिधारी परमाणु का भी किसी से बंध नहीं होगा, यह अभिप्राय है ॥१६५॥

अथ परमाणूनां पिण्डत्वस्य यथोदितहेतुत्वमवधारयति—

णिद्धत्तणेण दुगुणो चदुगुणणिद्धेण बंधमणुभवदि ।
लुक्खेण वा तिगुणिदो अणुबज्झदि पंचगुणजुत्तो ॥१६६॥

स्निग्धत्वेन द्विगुणश्चतुर्गुणस्निग्धेन बन्धमनुभवति ।
रूक्षेण वा त्रिगुणितोऽणुर्बध्यते पञ्चगुणयुक्त ॥१६६॥

यथोदितहेतुकमेव परमाणूना पिण्डत्वमवधार्यं द्विचतुर्गुणयोस्त्रिपञ्चगुणयोश्च द्वयोः स्निग्धयोः द्वयो रूक्षयोर्द्वयोः स्निग्धरूक्षयोर्वा परमाण्वाबन्धस्य प्रसिद्धेः। उक्त च 'णिद्धा णिद्धेण बज्झति लुक्खा-लुक्खा य पोग्गला। णिद्धलुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला' "णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण। णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा।" ॥१६६॥

भूमिका—अब यह निश्चित करते हैं कि परमाणुओ के पिण्डत्व मे यथोक्त (उपरोक्त) हेतु है—

अन्वयार्थ—[स्निग्धत्वेन द्विगुणः] स्निग्धरूप से दो अशवाला परमाणु [चतुर्गुण-स्निग्धेन] चार अंश वाले स्निग्ध परमाणु के साथ [बध अनुभवति] बध को अनुभव करता (प्राप्त होता) है। [वा] अथवा [रूक्षेण त्रिगुणितः अणुः] रूक्ष रूप से तीन अश वाला परमाणु [पचगुणयुक्तः] पाच अश वाले के साथ युक्त होता हुआ [वध्यते] बधता है।

टीका—यथोक्त हेतु से ही परमाणुओ के पिंडत्व होता है—यह निश्चित करना चाहिये, क्योंकि दो और चार गुण वाले तथा तीन और पांच गुण वाले दो स्निग्ध परमाणुओं के अथवा दो रूक्ष परमाणुओं के अथवा दो स्निग्ध-रूक्ष परमाणुओं के (एक स्निग्ध और एक रूक्ष परमाणु के) बंध की प्रसिद्धि है। कहा भी है कि—

"णिद्धा णिद्धेण बज्झंति लुक्खा लुक्खा य पोग्गला। णिद्धलुक्खा य बज्झंति रूवारूवी य पोग्गला ॥"
"णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण। णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बंधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा ॥"

अर्थ—पुद्गल 'रूपी' और 'अरूपी'[1] होते हैं। उनमे से स्निग्ध पुद्गल स्निग्ध के साथ बंधते हैं, रूक्ष पुद्गल रूक्ष के साथ बंधते हैं। स्निग्ध और रूक्ष भी बंधते हैं।

जघन्य के अतिरिक्त सम अंश वाला हो या विषम अंश वाला हो, स्निग्ध का दो अधिक अंश वाले स्निग्ध परमाणु के साथ, रूक्ष का दो अधिक अंश वाले रूक्ष परमाणु के साथ और स्निग्ध का रूक्ष परमाणु के साथ बंध होता है ॥१६६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ तमेवार्थं विशेषेण समर्थयति —

गुणशब्दवाच्यशक्तिद्वययुक्तस्य स्निग्धपरमाणोश्चतुर्गुण स्निग्धेन रूक्षेण वा समशब्दसज्ञेन तथैव त्रिशक्तियुक्तरूक्षस्य पञ्चगुणरूक्षेण स्निग्धेन वा विषमसज्ञेन द्विगुणाधिकत्वेन सति बन्धो भवतीति ज्ञातव्यम्। अय तु विशेष —परमानन्दैकलक्षणस्वसवेदनज्ञानबलेन हीयमानरागद्वेषत्वे सति पूर्वोक्तजल-वालकादृष्टान्तेन यथा जीवाना बन्धो न भवति तथा जघन्यस्निग्धरूक्षत्वगुणे सति परमाणूना चेति। तथा चोक्तम्—

"णिद्धस्स णिद्धेण दुराधिगेण लुक्खस्स लुक्खेण दुराधिगेण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा" ॥१६६॥

एव पूर्वोक्तप्रकारेण स्निग्धरूक्षपरिणतपरमाणुस्वरूपकथनेन प्रथमगाथा। स्निग्धरूक्षगुण-विवरणेन द्वितीया। स्निग्धरूक्षगुणाभ्या व्यधिकत्वे सति बन्धकथनेन तृतीया। तस्यैव दृढीकरणेन चतुर्थी चेति परमाणूना परस्परबन्दव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टय गतम्।

उत्थानिका—आगे इसी ही पूर्व कहे हुए भाव को विशेष समर्थन करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(णिद्धत्तणेण) चिकनेपने की अपेक्षा (दुगुणो) दो अंश-धारी परमाणु (चदुगुणणिद्धेण वा लुक्खेण) चार अंशधारी चिकने या रूखे परमाणु के साथ (बंधं अणुभवदि) बन्ध को प्राप्त हो जाता है। (तिगुणिदो अणु) तीन अशधारी या रूखा परमाणु (पंचगुणजुत्तो) पांच अशधारी चिकने या रूखे परमाणु के साथ (बज्झदि) बन्ध जाता है।**

---

१ किसी एक परमाणु की अपेक्षा से विसदृशजाति का समान अशो वाला दूसरा परमाणु 'रूपी' कहलाता है, और शेष सब परमाणु उसकी अपेक्षा से 'अरूपी' कहलाते है। जैसे—पाच अश स्निग्धतावाले परमाणु को पाच अश रूक्षतावाला दूसरा परमाणु 'रूपी' है और शेष सब परमाणु उसके लिए 'अरूपी' है। इसका अर्थ यह हुआ कि—विसदृशजाति के समान अश वाले परमाणु परस्पर 'रूपी' है और सदृशजाति के अथवा विसदृश जाति के असमान अश वाले परमाणु परस्पर 'अरूपी' है।

गाथा में गुण शब्द से शक्ति के अंशों को अर्थात् अविभाग प्रतिच्छेदों को ग्रहण करना चाहिये। जैसे पहले कहे हुए जलबिंदु तथा बालू के दृष्टांत से जिन जीवों का राग-द्वेष परमानन्दमयी स्वसंवेदन ज्ञानगुण के बल से नष्ट हो गया है उनका कर्म के साथ बन्ध नहीं होता। इसी तरह जिन परमाणुओं मे जघन्य चिकनाई या रूखापन है, उनका भी किसी से बंध नहीं होता। बन्ध दो अंश की अधिकता से दो अंश या तीन अंश आदि धारी परमाणुओं का परस्पर होगा जैसा इस गाथा में कहा है—

"णिद्धस्स णिद्धेण दुराहिएण लुक्खस्स लुक्खेण दुराहिएण।
णिद्धस्स लुक्खेण हवेदि बधो जहण्णवज्जे विसमे समे वा॥

(धवल पु० १४ पृ० ३३ गा० ३६)

भाव यह है कि—स्निग्ध पुद्गल का दो गुण अधिक स्निग्ध पुद्गल के साथ और रूक्ष पुद्गल का दो गुण अधिक रूक्ष पुद्गल के साथ बन्ध होता है तथा स्निग्ध पुद्गल का रूक्ष पुद्गल के साथ जघन्य गुण के अतिरिक्त विषम अथवा सम गुण के रहने पर बन्ध होता है ॥१६६॥

भावार्थ—पुद्गल परमाणुओं के बन्ध के विषय में दो परम्परायें उपलब्ध होती हैं। धवल परम्परा के अनुसार निम्न व्यवस्था फलित होती है—

क्रमाङ्क	गुणाश	सदृशबध	विसदृशबध
१	जघन्य + जघन्य	नही	नही
२	जघन्य + अजघन्य	नही	नही
३	अजघन्य + सम-अजघन्य	नही	है
४	अजघन्य + एकाधिक-अजघन्य	नही	है
५	अजघन्य + द्वचधिक-अजघन्य	है	है
६	अजघन्य + त्रयादिक अधिक-अजघन्य	नही	है

श्री सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक में "णिद्धस्स णिद्धेण" उपर्युक्त षट्खंडागम की गाथा उद्धृत की गई है किन्तु इस गाथा के उत्तरार्द्ध के अर्थ में धवलाकार से मतभेद है।

श्री सर्वार्थसिद्धि और तत्त्वार्थवार्तिक के अनुसार निम्न व्यवस्था फलित होती है—

क्रमाङ्क	गुणांश	सदृशबंध	विसदृशबंध
१	जघन्य + जघन्य	नही	
२	अजघन्य + अजघन्य	नही	नही
३	अजघन्य + सम + अजघन्य	नही	नही
४	अजघन्य + एकाधिक–अजघन्य	नहीं	नही
५	अजघन्य + द्वयधिक–अजघन्य	है	है
६	अजघन्य + त्रयादि अधिक–अजघन्य	नही	नही

इस तरह पूर्व में कहे प्रमाण स्निग्ध रूक्ष अवस्था में परिणत परमाणु का स्वरूप कहते हुए पहली गाथा, स्निग्ध रूक्ष गुण का वर्णन करते हुए दूसरी, स्निग्ध या रूक्ष गुण में दो अंश अधिक से बन्ध होगा ऐसा कहते हुए तीसरी तथा उसके ही दृढ करने के लिये चौथी इस तरह परमाणुओं के परस्पर बंध के व्याख्या की मुख्यता से पहले स्थल मे चार गाथाएं पूर्ण हुईं ।

अथात्मनः पुद्गलपिण्डकर्तृत्वाभावमवधारयति—

दुपदेसादी खंधा सुहुमा वा बादरा ससंठाणा ।
पुढविजलतेउवाऊ सगपरिणामेहिं जायंते ।।१६७।।

द्विप्रदेशादय स्कन्धा सूक्ष्मा वा बादरा ससस्थाना ।
पृथिवीजलतेजोवायव स्वकपरिणामैर्जायन्ते ।।१६७।।

एवममी समुपजायमाना द्विप्रदेशादयः स्कन्धा विशिष्टावगाहनशक्तिवशादुपात्तसौक्ष्म्य-स्थौल्यविशेषा विशिष्टाकारधारणशक्तिवशाद्गृहीतविचित्रसंस्थानाः सन्तो यथास्वं स्पर्शादि-चतुष्कस्याविर्भावतिरोभावस्वशक्तिवशमासाद्य पृथिव्यप्तेजोवायवः स्वपरिणामैरेव जायन्ते । अतोऽवधार्यते द्व्यणुकाद्यनन्तानन्तपुद्गलानां न पिण्डकर्ता पुरुषोऽस्ति ।।१६७।।

भूमिका—**अब, आत्मा के, पुद्गलों के पिण्ड के कर्तृत्व का अभाव निश्चित करते हैं—**

अन्वयार्थ—[द्विप्रदेशादय. स्कधा] द्विप्रदेशादिक (दो से लेकर अनन्तप्रदेश वाले) स्कंध [स्वकपरिणामै:] अपने परिणामो से [सूक्ष्मा वा बादरा] सूक्ष्म अथवा बादर,

[ससस्थाना.] सस्थानो (आकारो) सहित और [पृथिवीजलतेजोवायव] पृथ्वी, जल, तेज, और वायुरूप [जायन्ते] होते है।

टीका—**इस (पूर्वोक्त) प्रकार से यह उत्पन्न होने वाले द्विप्रदेशादिक स्कंध, विशिष्ट अवगाहन की शक्ति के वश सूक्ष्मता और स्थूलतारूप भेद वाले होते हैं, विशिष्ट आकार धारण करने की शक्ति के वश होकर विचित्र संस्थान वाले होते हैं और अपनी योग्यतानुसार स्पर्शादिचतुष्क के आविर्भाव और तिरोभाव की स्वशक्ति के वश होकर पृथ्वी, जल, अग्नि और वायुरूप अपने परिणामों से ही होते हैं। इससे निश्चित होता है कि द्वि-अणुकादि अनन्तानन्त पुद्गलों का पिण्डकर्ता आत्मा नहीं है ॥१६७॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मा द्वयणुकादिपुद्गलस्कन्धाना कर्त्ता न भवतीत्युपदिशति—

जायते उत्पद्यन्ते। के कर्त्तार ? **दुपवेसादी खधा** द्विप्रदेशाद्यनन्ताणुपर्यन्ता स्कन्धा जायन्ते। **पुढविजलतेउवाऊ** पृथ्वीजलतेजोवायव। कथभूता सन्त ? **सुहुमा वा बादरा** सूक्ष्मा बादरा. वा। पुनरपि किविशिष्टा सन्त ? **ससठाणा** यथासम्भव वृत्तचतुरस्रादिस्वकीयस्वकीयसस्थानाकारयुक्ता। कै कृत्वा जायन्ते ? **सगपरिणामेहिं** स्वकीयस्वकीयस्निग्धरूक्षपरिणामैरिति।

अथ विस्तर —जीवा हि तावद्वस्तुतष्टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकरूपेण शुद्धबुद्धैकस्वभावा एव पश्चाद्व्यवहारेणानादिकर्मबन्धोपाधिवशेन शुद्धात्मस्वभावमलभमाना सन्त पृथिव्यप्तेजोवातकायिकेषु समुत्पद्यन्ते, तथापि स्वकीयाभ्यन्तरसुख दुखादिरूपपरिणतेरेवाशुद्धोपादानकारण भवन्ति। न च पृथिव्यादिकायाकारपरिणते। कस्मादिति चेत् ? तत्र स्कन्धानामेवोपादानकारणत्वादिति। ततो ज्ञायते पुद्गलपिण्डाना जीव कर्त्ता न भवतीति ॥१६७॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि आत्मा दो परमाणु आदि धारी परमाणुओ के स्कधो को आदि लेकर अनेक प्रकार के स्कधो का कर्ता नही है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(**दुपदेसादी खंधा**) **दो परमाणु के स्कंध से आदि लेकर अनन्त परमाणु के स्कध तक तथा (सुहुमा वा बादरा) सूक्ष्म या बादर (ससठाणा) यथासभव गोल, चौखूटे आदि अपने अपने आकार को लिये हुए (पुढविजलतेउवाऊ) पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु (सगपरिणामेहिं) अपने ही चिकने रूखे परिणामों की विचित्रता से परस्पर मिलते हुए (जायंते) पैदा होते रहते हैं।**

जीव यद्यपि निश्चय से टांकी से उकेरी मूर्ति के समान ज्ञायक मात्र एक स्वरूप की अपेक्षा से शुद्धबुद्धमयी एक स्वभाव के धारी हैं तथापि व्यवहारनय से अनादि कर्मबंध की उपाधि के वश से अपने शुद्ध आत्मस्वभाव को न पाते हुए पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायुकायिक होकर पैदा होते हैं। यद्यपि वे इन पृथ्वी आदि कायों में आकर जन्मते हैं

तथापि वे जीव अपनी ही भीतरी सुख दु:ख आदि रूप परिणति के ही अशुद्ध उपादान कारण हैं, पृथ्वी आदि कायों में परिणमन किये हुए पुद्गलों के नहीं। कारण यह है कि उनका उपादानकारण पुद्गल के स्कंध स्वयं ही हैं। इसलिये यह जाना जाता है कि पुद्गल के पिंडों का कर्ता जीव नहीं है ।।१६७।।

अथात्मनः पुद्गलपिण्डानेतृत्वाभावमवधारयति—

ओगाढगाढणिचिदो पुग्गलकायेहिं सव्वदो लोगो ।
सुहुमेहिं बादरेहिं य अप्पाओग्गेहिं जोग्गेहिं ।।१६८।।

अवगाढगाढनिचित पुद्गलकायै सर्वतो लोक ।
सूक्ष्मैर्बादरैश्चाप्रायोग्यैर्योग्यै ।।१६८।।

यतो हि सूक्ष्मत्वपरिणतैर्बादरपरिणतैश्चानतिसूक्ष्मत्वस्थूलत्वात् कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिभिरतिसूक्ष्मस्थूलतया। तदयोगिभिश्चावगाहविशिष्टत्वेन परस्परमबाधमानैः स्वयमेव सर्वत एव पुद्गलकायैर्गाढं निचितो लोकः। ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानामानेता पुरुषोऽस्ति ।।१६८।।

भूमिका—**अब यह निश्चित करते हैं** कि आत्मा पुद्गल पिण्डों का लाने वाला **नहीं है—**

अन्वयार्थ—[लोक] यह लोक [सर्वतः] सर्वत्र [सूक्ष्मै वादरै] सूक्ष्म तथा बादर [च] और [अप्रायोग्यै योग्यै] कर्मत्व के अयोग्य तथा योग्य [पुद्गलकायै] पुद्गल स्कधो के द्वारा [अवगाढगाढनिचित] (विशिष्ट प्रकार से) अवगाहित होकर अत्यन्त गाढ भरा हुआ है।

टीका—**चूंकि, सूक्ष्मरूप परिणत तथा बादररूप परिणत—अतिसूक्ष्म अथवा अतिस्थूल न होने से—कर्मरूप परिणत होने की शक्ति वाले, तथा अतिसूक्ष्म अथवा अतिस्थूल होने से कर्मरूप परिणत होने की शक्ति से रहित ऐसे पुद्गल स्कंधो के द्वारा, अवगाह की विशिष्टता के कारण परस्पर बाधक हुये बिना स्वयमेव सर्वत्र ही लोक गाढ़ भरा हुआ है, इसलिये निश्चित होता है कि पुद्गल पिण्डों का लाने वाला आत्मा नहीं है ।।१६८।।**

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मा बन्धकाले बन्धयोग्यपुद्गलान् बहिर्भागान्नैवानयतीत्यावेदयति—

ओगाढगाढणिचिदो अवगाह्यावगाह्यनैरन्तर्येण निचितो भृत। स क? **लोगो** लोक। कथभूत? **सव्वदो** सर्वत सर्वप्रदेशेषु कै कर्तृभूतै? **पुग्गलकायेहिं** पुद्गलकायै। किविशिष्टै? **सुहुमेहिं बादरेहिं य** इन्द्रियाग्रहणयोग्यै सूक्ष्मैस्तद्ग्रहणयोग्यैर्बादरैश्च। पुनश्च कथभूतै? **अप्पाओग्गेहिं**

अतिसूक्ष्मस्थूलत्वेन कर्मवर्गणायोग्यतारहितै.। पुनश्च किंविशिष्टै ? जोग्गेहिं अतिसूक्ष्मस्थूलत्वाभावात्कर्मवर्गणायोग्यैरिति ।

अयमत्रार्थ —निश्चयेन शुद्धस्वरूपैरपि व्यवहारेण कर्मोदयाधीनता पृथिव्यादिपञ्चसूक्ष्मस्थावरत्व प्राप्तैर्जीवैर्यथा लोको निरन्तर भृतस्तिष्ठति तथा पुद्गलैरपि । ततो ज्ञायते यत्रैव शरीरावगाढक्षेत्रे जीवस्तिष्ठति बन्धयोग्यपुद्गला अपि तत्रैव तिष्ठन्ति न च बहिर्भागाज्जीव आनयतीति ॥१६८॥

उत्थानिका—आगे यह आत्मा बन्ध काल मे बन्ध-योग्य पुद्गलो को कही बाहर से नही लाता है, ऐसा प्रगट करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(लोगो) यह लोक (सव्वदो) अपने सर्व प्रदेशों में (सुहमेहिं) सूक्ष्म अर्थात् इन्द्रियो से ग्रहण के अयोग्य (बादरेहिं) बादर अर्थात् इन्द्रियों के ग्रहण योग्य (य) और (अप्पाओग्गेहिं) कर्मवर्गणारूप होने के अयोग्य (जोग्गेहिं) तथा कर्मवर्गणा के योग्य (पुग्गलकायेहिं) पुद्गल स्कन्धों से (ओग्गाढगाढणिचिदो) खूब अच्छी तरह बहुत गाढ़ा भरा हुआ है। यह लोक अपने सर्व प्रदेशो मे पुद्गलस्कन्धों से गाढ़ा भरा हुआ है। वे स्कन्ध कोई इन्द्रियगोचर हैं, कोई इन्द्रियगोचर नहीं है, उनमें से जो अत्यन्त सूक्ष्म या स्थूल हैं वे कर्मवर्गणारूप नहीं हैं किन्तु जो अतिसूक्ष्म व स्थूल नहीं हैं वे कर्मवर्गणा के योग्य हैं। यद्यपि इन्द्रियों से ग्रहण न होने के कारण ये भी सूक्ष्म हैं।**

यहाँ यह भाव है कि जैसे यह लोक निश्चयनय से शुद्ध-स्वरूप के धारी किन्तु व्यवहारनय से कर्मों के अधीन होने से, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति के पांच भेदरूप सूक्ष्मस्थावर शरीरो को प्राप्त जीवों से निरन्तर सर्व जगह भरा हुआ है तैसे यह पुद्गलों से भी भरा है इससे जाना जाता है कि जितने शरीर को रोककर एक जीव ठहरता है उसी ही क्षेत्र में कर्मयोग्य पुद्गल भी तिष्ठ रहे हैं—जीव उनको कहीं बाहर से नहीं लाता है ॥१६८॥

अथात्मनः पुद्गलपिण्डानां कर्मत्वकर्तृत्वाभावमवधारयति—

कम्मत्तणपाओग्गा खंधा जीवस्स परिणइं पप्पा ।
गच्छंति कम्मभावं ण हि ते जीवेण परिणमिदा ॥१६९॥

कर्मत्वप्रायोग्या. स्कन्धा जीवस्य परिणति प्राप्य ।
गच्छन्ति कर्मभाव न हि ते जीवेन परिणमिता ॥१६९॥

यतो हि तुल्यक्षेत्रावगाढजीवपरिणाममात्रं बहिरङ्गसाधनमाश्रित्य जीव परिणमयितारमन्तरेणापि कर्मत्वपरिणमनशक्तियोगिनः पुद्गलस्कन्धाः स्वयमेव कर्मभावेन परिणमन्ति । ततोऽवधार्यते न पुद्गलपिण्डानां कर्मत्वकर्ता पुरुषोऽस्ति ॥१६९॥

भूमिका—अब, यह निश्चित करते हैं कि आत्मा पुद्गलपिण्डों को कर्मरूप नहीं करता—

अन्वयार्थ—[कर्मत्वप्रायोग्या. स्कधा] कर्मत्व के योग्य स्कध [जीवस्य परिणति-प्राप्य] जीव की परिणति को प्राप्त करके (जीव के विभाव भावो के निमित्त से) [कर्मभाव गच्छन्ति] कर्मभाव को प्राप्त होते है, [न हि ते जीवेन परिणमिता] वे जीव के द्वारा परिणमाये नही जाते है ।

टीका—**चूंकि तुल्य (समान) क्षेत्रावगाह वाले तथा कर्मरूप परिणमित होने की शक्ति वाले पुद्गलस्कंध, बहिरंगसाधनभूत जीव के परिणाममात्र का आश्रय लेकर, जीव परिणमाने वाला नहीं होने पर भी स्वयमेव कर्मभाव से परिणमित होते हैं, इसलिये निश्चित होता है कि पुद्गलपिण्डो को कर्मरूप करने वाला आत्मा नहीं है ।।१६६।।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ कर्मस्कन्धानां जीव उपादानकर्त्ता न भवतीति प्रज्ञापयति—

कम्मत्तणपाओग्गा खधा कर्मत्वप्रायोग्या स्कन्धा कर्त्तार **जीवस्स परिणइ पप्पा** जीवस्य परिणर्ति प्राप्य निर्दोषिपरमात्मभावनोत्पन्नसहजानन्दैकलक्षणसुखामृतपरिणते प्रतिपक्षभूता जीव-सम्बन्धिनी मिथ्यात्वरागादिपरिणर्ति प्राप्य **गच्छति कम्मभाव** गच्छन्ति परिणमन्ति । क ? कर्मभाव ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्याय **णं हि ते जीवेण परिणमिदा** न हि नैव ते कर्मस्कन्धा जीवेनोपादानकर्तृ-भूतेन परिणमिता परिणति नीता इत्यर्थ । अनेन व्याख्यानेनैतदुक्त भवति कर्मस्कन्धाना निश्चयेन जीव कर्त्ता न भवतीति ।।१६६।।

उत्थानिका—आगे फिर भी कहते है कि यह जीव कर्म स्कधो का उपादानकर्ता नही होता है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(कम्मत्तणपाओग्गा) कर्मरूप होने को योग्य (खंधा) पुद्गल के स्कंध (जीवस्स परिणइ) जीव की परिणति को (पप्पा) पाकर (कम्मभावं) कर्मपने को (गच्छंति) प्राप्त हो जाते हैं (दु) परन्तु (जीवेण) जीव के द्वारा (ते ण परिणमिदा) वे कर्म नहीं परिणमाए गए हैं । निर्दोष परमात्मा की भावना से उत्पन्न स्वाभाविक आनन्दमयी एक लक्षणस्वरूप सुखामृत की परिणति से विरोधी मिथ्यादर्शन, राग द्वेष आदि भावों की परिणति को जब यह जीव प्राप्त होता है तब इसके भावों का निमित्त पाकर वे कर्म योग्य पुद्गल स्कंध आप ही जीव के उपादानकारण के बिना ज्ञानावरणादि आठ या सात द्रव्य कर्मरूप हो जाते हैं । उन कर्म स्कंधों को जीव अपने उपादानपने से**

नहीं परिणमाता है। इस कथन से यह दिखलाया गया है कि यह जीव कर्म स्कंधों का कर्ता नहीं है ॥१६९॥

अथात्मनः कर्मत्वपरिणतपुद्‌गलद्रव्यात्मकशरीरकर्तृत्वाभावमवधारयति—

ते ते कम्मत्तगदा पोग्गलकाया[1] पुणो वि जीवस्स।
संजायंते देहा देहंतरसंकमं पप्पा ॥१७०॥

ते ते कर्मत्वगता पुद्‌गलकाया पुनरपि जीवस्य।
सजायन्ते देहा देहान्तरसक्रम प्राप्य ॥१७०॥

ये ये नामामी यस्य जीवस्य परिणाम निमित्तमात्रीकृत्य पुद्‌गलकायाः स्वयमेव कर्मत्वेन परिणमन्ति, अथ ते ते तस्य जीवस्यानादिसंतानप्रवृत्तिशरीरान्तरसंक्रान्तिमाश्रित्य स्वयमेव च शरीराणि जायन्ते। अतोऽवधार्यते न कर्मत्वपरिणतपुद्‌गलद्रव्यात्मकशरीरकर्ता पुरुषोऽस्ति ॥१७०॥

भूमिका—अब, आत्मा के कर्मरूप-परिणत-पुद्‌गलद्रव्यात्मक-शरीर के कर्तृत्व का अभाव निश्चित करते हैं (अर्थात् यह निश्चित करते हैं कि कर्मरूप परिणत पुद्‌गलद्रव्यस्वरूप शरीर का कर्ता आत्मा नहीं है)—

अन्वयार्थ—[कर्मत्वगता] कर्मरूप परिणत [ते ते] वे वे [पुद्‌गलकाया.] पुद्‌गल पिंड [देहान्तरसक्रम प्राप्य] देहान्तररूप परिवर्तन को प्राप्त करके [पुन. अपि] पुनः पुन [जीवस्य] जीव के [देह.] शरीर [सजायन्ते] होते हैं।

टीका—जिस जीव के परिणाम को निमित्तमात्र करके जो-जो यह पुद्‌गल पिण्ड स्वयमेव कर्मरूप परिणत होते हैं, वे जीव के अनादिसंततिरूप प्रवर्तमान देहान्तर (भवांतर) रूप परिवर्तन का आश्रय लेकर (वे वे पुद्‌गलपिण्ड) स्वयमेव शरीररूप, शरीर के होने में निमित्तरूप बनते हैं। इससे निश्चित होता है कि कर्मरूप परिणत पुद्‌गलद्रव्यात्मक शरीर का कर्ता आत्मा नहीं है।

भावार्थ—जीव के परिणाम को निमित्तमात्र करके जो पुद्‌गल स्वयमेव कर्मरूप परिणत होते हैं वे पुद्‌गल ही अन्य भव में शरीर के बनने में निमित्तभूत होते हैं और नोकर्मपुद्‌गल स्वयमेव शरीररूप परिणमित होते हैं इसलिये शरीर का कर्ता आत्मा नहीं है ॥१७०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ शरीराकारपरिणतपुद्‌गलपिण्डाना जीव. कर्ता न भवतीत्युपदिशति—

ते ते कम्मत्तगदा ते ते पूर्वसूत्रोदिता कर्मत्व गता द्रव्यकर्मपर्यायपरिणता पुग्गलकाया पुद्‌गल-

1 पुग्गलकाया (ज० वृ०)।

स्कन्धा पुणो वि जीवस्स पुनरपि भवान्तरेऽपि जीवस्य संजायंते देहा सजायन्ते सम्यग्जायन्ते देहा शरीराणीति। किं कृत्वा? देहंतरसंकमं पप्पा देहान्तरसक्रम भवान्तर प्राप्य लब्ध्वेति। अनेन किमुक्त भवति—औदारिकादिशरीरनामकर्मरहितपरमात्मानमलभमानेन जीवेन यान्युपार्जितान्यौदारिकादिशरीरनामकर्माणि तानि भवान्तरे प्राप्ते सत्युदयमागच्छन्ति तदुदयेन नोकर्मपुद्गला औदारिकादिशरीराकारेण स्वयमव परिणमान्त। तत कारणादौदारिकादिकायाना जीव कर्त्ता न भवतीति ॥१७०॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि शरीर के आकार परिणत होने वाले पुद्गल के पिंडो का भी जीव उपादान कर्ता नहीं है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(ते ते) वे वे पूर्व बांधे हुए (कम्मत्तगदा) द्रव्यकर्म पर्याय में परिणमन किये हुए (पुग्गलकाया) पुद्गल कर्मवर्गणास्कंध (पुणो वि) फिर भी (जीवस्स) जीव के (देहंतरसंकम) अन्य भव को (पप्पा) प्राप्त होने पर (देहा) शरीर (संजायंते) उत्पन्न होते हैं। औदारिक आदि शरीर नामा नामकर्म से रहित परमात्मस्वभाव को न प्राप्त किये हुए जीव ने जो औदारिक शरीर आदि नामकर्म बांधे हैं उस जीव के अन्य भव में जाने पर वे ही कर्म उदय आते हैं। उनके उदय के निमित्त से नोकर्म वर्गणाएं औदारिक आदि शरीर के आकार स्वयमेव परिणमन करती हैं इससे यह सिद्ध है कि औदारिक आदि शरीरों का भी जीव कर्ता नहीं है ॥१७०॥

अथात्मनः शरीरत्वाभावमवधारयति—

ओरालियो य देहो वेउव्विओ[1] य तेजइओ।
आहारय कम्मइओ[2] पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे ॥१७१॥

औदारिकश्च देहो देहो वैक्रियिकश्च तैजसिक।
आहारक कार्मण पुद्गलद्रव्यात्मका सर्वे ॥१७१॥

यतो ह्यौदारिकवैक्रियिकाहारकतैजसकार्मणानि शरीराणि सर्वाण्यपि पुद्गलद्रव्यात्मकानि। ततोऽवधार्यते न शरीरं पुरुषोऽस्ति ॥१७१॥

भूमिका—अब आत्मा के शरीरत्व का अभाव निश्चित करते हैं—

अन्वयार्थ—[औदारिकः च देहः] औदारिक शरीर, और [वैक्रियिक देह] वैक्रियिकशरीर [तैजसिकः] तैजसशरीर, [आहारक] आहारकशरीर [च] और [कार्मणः] कार्मणशरीर [सर्वे] सब [पुद्गलद्रव्यात्मका.] पुद्गलद्रव्यात्मक है।

टीका—औदारिक, वैक्रियिक, आहारक, तैजस और कार्मण—सभी शरीर पुद्गलद्रव्यात्मक हैं। इससे निश्चित होता है कि आत्मा शरीर नहीं है ॥ १७१॥

---

१. वेउव्वियो (ज० वृ०)। २ कम्मइयो (ज० वृ०)।

तात्पर्यवृत्ति

अथ शरीराणि जीवस्वरूप न भवन्तीति निश्चिनोति—

ओरालियो य देहो औदारिकश्च देह **देहो वेउव्वियो य** देहो वैक्रियिकश्च **तेजइओ** तैजसिक. **आहारय कम्मइयो** आहारक कार्मणश्च **पुग्गलदव्वप्पगा सव्वे** एते पञ्च देहा पुद्गलद्रव्यात्मका सर्वेऽपि मम स्वरूप न भवन्ति। कस्मादिति चेत् ? ममाशरीरचैतन्यचमत्कारपरिणतत्वेन सर्वदैवाचेतनशरीरत्व-विरोधादिति ।।१७१।।

एव पुद्गलस्कन्धाना बन्धव्याख्यानमुख्यतया द्वितीयस्थले गाथापञ्चक गतम् इति ।

"अपदेसो परमाणू" इत्यादि गाथानवकेन परमाणुस्कन्धभेदभिन्नपुद्गलाना पिण्डनिष्पत्ति-व्याख्यानमुख्यतया 'द्वितीयविशेषान्तराधिकार' समाप्त ।

अथैकोनविशतिगाथापर्यन्त जीवस्य पुद्गलेन सह बन्धमुख्यतया व्याख्यान करोति, तत्र षट्स्थलानि भवन्ति। तेष्वादौ **"अरसमरूवं"** इत्यादि शुद्धजीवव्याख्यानगाथैका **"मुत्तो रूवादि"** इत्यादिपूर्वपक्षपरिहारमुख्यतया गाथाद्वयमिति प्रथमस्थले गाथात्रयम्। तदनन्तर भावबन्धमुख्यत्वेन **"उवओगमओ"** इत्यादि गाथाद्वयम्। अथ परस्पर द्वयो पुद्गलयो बन्धो जीवस्य रागादिपरिणामेन सह बन्धो जीवपुद्गलयोर्बन्धश्चेति त्रिविधबन्धमुख्यत्वेन **"फासेहि पुग्गलाण"** इत्यादि सूत्रद्वयम्। तत पर निश्चयेन द्रव्यबन्धकारणत्वाद्रागादिपरिणाम एव बन्ध इति कथनमुख्यतया **"रत्तो बधदि"** इत्यादि गाथात्रयम्। अथ भेदभावनामुख्यत्वेन **"भणिदा पुढवी"** इत्यादि सूत्रद्वयम्। तदनन्तर जीवो रागादि-परिणामानामेव कर्त्ता न च द्रव्यकर्मणामिति कथनमुख्यत्वेन **"कुव्व सहावमादा"** इत्यादि षष्ठस्थले गाथासप्तकम्। यत्र मुख्यत्वमिति वदति तत्र यथासम्भवमन्योऽप्यर्थो लभ्यत इति सर्वत्र ज्ञातव्य । एवमेकोनविशतिगाथाभिस्तृतीयविशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका ।

उत्थानिका—आगे कहते है कि पाचो ही शरीर जीव स्वरूप नही हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(ओरालिओ देहो) औदारिक शरीर (य) और (वेउव्विओ) वैक्रियिक देह (य तेजइओ) और तैजसशरीर (आहारय, कम्मइयो) आहारकशरीर और कार्मणशरीर ये (सव्वे) सब पाँचों शरीर (पुग्गलदव्वप्पगा) पुद्गल द्रव्यमयी हैं। ये शरीर पुद्गल द्रव्य के बने हुए हैं इसलिये मेरे आत्मस्वरूप से भिन्न हैं, क्योंकि मै शरीर-रहित चैतन्य चमत्कार की परिणति मे परिणमन करने वाला हूँ, मेरा सदा ही अचेतन शरीरपने से विरोध है ।।१७१ ।।**

इस तरह पुद्गल स्कधो के बन्ध के व्याख्यान की मुख्यता से दूसरे स्थल मे पाँच गाथाए पूर्ण हुई। इस तरह "अपदेसो परमाणू" इत्यादि ९ गाथाओ से परमाणू और स्कध भेद को रखने वाले पुद्गलो के पिड बनने के व्याख्यान की मुख्यता से दूसरा विशेष अन्तर-अधिकार पूर्ण हुआ।

आगे उन्नीस गाथा पर्यंत 'जीव का पुद्गल के साथ बध है,' इस मुख्यता से व्याख्यान करते है। इसमे छ. स्थल है। इनमे से आदि के स्थल मे "अरसमरूवं" इत्यादि

शुद्ध जीव के व्याख्यान की गाथा एक है, "मुत्तो रूवादि" इत्यादि पूर्वपक्ष व उसके परिहार की मुख्यता से दो गाथाएं है, ऐसे पहले स्थल मे तीन गाथाए है। फिर भावबध की मुख्यता से "उवओगमओ" इत्यादि दो गाथाए हैं। आगे परस्पर दोनो पुद्गलो का बन्ध होता है, जीव का रागादि परिणाम के साथ बन्ध है और जीव पुद्गलो का बन्ध है ऐसे तीन प्रकार बध की मुख्यता से "फासेहि पुग्गलाण" इत्यादि सूत्र दो है। फिर निश्चय से द्रव्यबन्ध का कारण होने से रागादि परिणाम ही बध है ऐसा कहते हुए "रत्तो बन्धदि" इत्यादि तीन गाथाए है। आगे भेदभावना की मुख्यता से "भणिदा पुढवी" इत्यादि दो सूत्र है। फिर यह जीव रागादि भावो का ही कर्ता है, द्रव्यकर्मों का कर्ता नही है ऐसा कहते हुए "कुव्व सहावमादा" ऐसे छठे स्थल मे गाथाए सात है। जहा मुख्यपना शब्द कहा है वहा यथासंभव और भी अर्थ मिलता है ऐसा भाव सर्व ठिकाने जानना योग्य है। इस तरह उन्नीस गाथाओ से तीसरे विशेष अतर अधिकार मे समुदायपातनिका है।

अथ किं तर्हि जीवस्य शरीरादिसर्वपरद्रव्यविभागसाधनमसाधारणं स्वलक्षणमित्यावेदयति—

अरसमरूवमगंधं अव्वत्तं चेदणागुणमसद्दं ।
जाण अलिंगग्गहणं जीवमणिद्दिट्ठसंठाणं ॥१७२॥

अरसमरूपमगन्धमव्यक्त चेतनागुणमशब्दम् ।
जानीह्यलिङ्गग्रहण जीवमनिर्दिष्टसस्थानम् ॥१७२॥

आत्मनो हि रसरूपगन्धगुणाभावस्वभावत्वात्स्पर्शगुणव्यक्त्यभावस्वभावत्वात् शब्दपर्यायाभावस्वभावत्वात्तथा तन्मूलादलिङ्गग्राह्यत्वात्सर्वसंस्थानाभावस्वभात्वाच्च पुद्गलद्रव्यविभागसाधनमरसत्वमरूपत्वमगन्धत्वमव्यक्तत्वमशब्दत्वमलिङ्गग्राह्यत्वमसंस्थानत्वं चास्ति। सकलपुद्गलापुद्गलाजीवद्रव्यविभागसाधनं तु चेतनागुणत्वमस्ति। तदेव च तस्य स्वजीवद्रव्यमात्राश्रितत्वेन स्वलक्षणतां बिभ्राणं शेषद्रव्यान्तरविभागं साधयति अलिङ्गग्राह्य इति वक्तव्ये यदलिङ्गग्रहणमित्युक्तं तद्बहुतरार्थप्रतिपत्तये तथाहि—न लिंगैरिन्द्रियैर्ग्राहकतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येत्यतीन्द्रियज्ञानमयत्वस्य प्रतिपत्तिः। न लिंगैरिन्द्रियैर्ग्राह्यतामापन्नस्य ग्रहणं यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्षाविषयत्वस्य। न लिंगादिन्द्रियगम्याद्धूमादग्नेरिव ग्रहण यस्येतीन्द्रियप्रत्यक्षपूर्वकानुमानाविषयत्वस्य। न लिंगादेव परैः ग्रहणं यस्येत्यनुमेयमात्रत्वाभावस्य। न लिंगादेव परेषां ग्रहणं यस्येत्यनुमातृमात्रत्वाभावस्य। न लिंगात्स्वभावेन ग्रहणं यस्येति प्रत्यक्षज्ञातृत्वस्य। न लिंगेनोपयोगाख्यलक्षणेन ग्रहणं ज्ञेयार्थालम्बनं यस्येति बहिरर्थालम्बनज्ञानाभावस्य। न लिंगस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं स्वयमाहरण यस्येत्य-

नाहार्यज्ञानत्वस्य । न लिंगस्योपयोगाख्यलक्षणस्य ग्रहणं परेण हरणं यस्येत्याहार्यज्ञानत्वस्य । न लिंगे उपयोगाख्यलक्षणे ग्रहणं सूर्य इवोपरागो यस्येति शुद्धोपयोगस्वभावस्य । न लिंगादुपयोगाख्यलक्षणाद्ग्रहणं पौद्गलिककर्मादानं यस्येति द्रव्यकर्मासम्पृक्तत्वस्य न लिंगेभ्य इन्द्रियेभ्यो ग्रहणं विषयाणामुपभोगो यस्येति विषयोपभोक्तृत्वाभावस्य । न लिंगात्मनो वेन्द्रियादिलक्षणाद्ग्रहणं जीवस्य धारणं यस्येति शुक्रार्तवानुविधायित्वाभावस्य । न लिंगस्य मेहनाकारस्य ग्रहण यस्येति लौकिकसाधनमात्रत्वाभावस्य । न लिंगेनामेहनाकारेण ग्रहणं लोकव्याप्तिर्यस्येति कुहुकप्रसिद्धसाधनाकारलोकव्याप्तित्वाभावस्य । न लिंगानां स्त्रीपुन्नपुंसकवेदानां ग्रहणं यस्येति स्त्रीपुन्नपुंसकद्रव्यभावाभावस्य । न लिंगानां धर्मध्वजानां ग्रहणं यस्येति बहिरङ्गयतिलिंगाभावस्य । न लिंग गुणो ग्रहणमर्थावबोधो यस्येति गुणविशेषानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य । न लिंग पर्यायो ग्रहणमर्थावबोधविशेषो यस्येति पर्यायविशेषानालीढशुद्धद्रव्यत्वस्य । न लिंगं प्रत्यभिज्ञानहेतुर्ग्रहणमर्थावबोधसामान्यं यस्येति द्रव्यानालीढशुद्धपर्यायत्वस्य ॥१७२॥

भूमिका—अब फिर जीव का, शरीरादि सर्वपरद्रव्यों से विभाग का साधनभूत, असाधारण स्वलक्षण क्या है, सो कहते हैं—

अन्वयार्थ—[जीवम्] जीव को [अरसम्] रसरहित, [अरूपम्] रूप रहित, [अगधम्] [गन्धरहित, [अव्यक्तम्] अव्यक्त, [चेतनागुणम्] चेतनागुणयुक्त, [अशब्दम्] शब्दरहित, [अलिंगग्रहणम्] लिंग द्वारा ग्रहण न होने योग्य, और [अनिर्दिष्टसस्थानम्] जिसका कोई सस्थान नही कहा गया है, ऐसा [जानीहि] जानो।

टीका—आत्मा (१) रसगुण के अभावरूप स्वभाव वाला होने से, (२) रूपगुण के अभावरूप स्वभाव वाला होने से, (३) गधगुण के अभावरूप स्वभाव वाला होने से, (४) स्पर्शगुणरूप व्यक्तता के अभावरूप स्वभाव वाला होने से, (५) शब्दपर्याय के अभावरूप स्वभाव वाला होने से तथा (६) इन सबके कारण (अर्थात् रस-रूप-गध इत्यादि के अभाव रूप स्वभाव के कारण) लिंग के द्वारा अग्राह्य होने से, और (७) सर्व संस्थानों के अभावरूप स्वभाववाला होने से, आत्मा के, पुद्गलद्रव्य से विभाग के साधनभूत (१) अरसत्व, (२) अरूपत्व, (३) अगंधत्व, (४) अव्यक्तता, (५) अशब्दत्व, (६) अलिंगग्राह्यत्व, और (७) असंस्थानत्व है। पुद्गल तथा अपुद्गलरूप समस्त अजीव द्रव्यों से विभाग का साधन तो चेतनागुणमयत्व है। वही, मात्र स्वजीवद्रव्याश्रित होने से स्वलक्षणत्व को धारण करता हुआ, आत्मा का शेष द्रव्यो से विभाग (भेद) सिद्ध करता है।

जहां 'अलिंगग्राह्य' कहना है वहां जो 'अलिंगग्रहण' कहा है, वह बहुत से अर्थों की प्रतिपत्ति (प्राप्ति, प्रतिपादन) करने के लिये है। वह इस प्रकार है—(१) ग्राहक (ज्ञायक) जिसका लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता वह अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा अतीन्द्रियज्ञानमय है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है। (२) ग्राह्य (ज्ञेय), जिसका लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण (जानना) नहीं होता वह अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा इन्द्रियप्रत्यक्ष का विषय नहीं है, इस अर्थ की प्राप्ति होती है। (३) जैसे–धुयें से अग्नि का ग्रहण (ज्ञान) होता है, उसी प्रकार लिंग द्वारा, अर्थात् इन्द्रियगम्य (इन्द्रियों से जानने योग्य) चिह्न द्वारा जिसका ग्रहण नहीं होता वह अलिंग-ग्रहण है। इस प्रकार 'आत्मा इन्द्रिय प्रत्यक्षपूर्वक अनुमान का विषय नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (४) दूसरों के द्वारा—मात्र लिंग से ही जिसका ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है इस प्रकार 'आत्मा अनुमेय मात्र (केवल अनुमान से ही ज्ञात होने योग्य) नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (५) जिसके लिंग से ही परका ग्रहण नहीं होता वह अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा अनुमाता मात्र (केवल अनुमान करने वाला ही) नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (६) जिसका लिंग के द्वारा नहीं किन्तु स्वभाव के द्वारा ग्रहण होता है वह अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा प्रत्यक्ष ज्ञाता है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (७) जिसका लिंग द्वारा अर्थात् उपयोग नामक लक्षण द्वारा ग्रहण नहीं है अर्थात् ज्ञेय पदार्थों का आलम्बन नहीं है वह अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा के बाह्य पदार्थों का आलम्बन वाला ज्ञान नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (८) जो लिंग को अर्थात् उपयोग नामक लक्षण को ग्रहण नहीं करता, अर्थात् स्वयं (कहीं बाहर से) नहीं लाता, सो अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा जो कहीं से नहीं लाया जाता ऐसे ज्ञान वाला है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (९) लिंग का अर्थात् उपयोग नामक लक्षण का ग्रहण अर्थात् पर से हरण नहीं हो सकता, सो अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा का ज्ञान हरण नहीं किया जा सकता' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१०) जिस लिंग में अर्थात् उपयोग नामक लक्षण में ग्रहण अर्थात् सूर्य की भांति उपराग (मलिनता, विकार) नहीं है वह अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा शुद्धोपयोग स्वभावी है, ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (११) लिंग द्वारा अर्थात् उपयोग नामक लक्षण द्वारा अर्थात् पौद्गलिक कर्मका ग्रहण जिसके नहीं है, वह अलिंगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा द्रव्यकर्म से असंयुक्त (असंबद्ध) है, ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१२) जिसे लिंगों के द्वारा अर्थात् इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण

अर्थात् विषयों का उपभोग नहीं है सो अलिगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा विषयों का उपभोक्ता नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१३) लिंग द्वारा अर्थात् मन अथवा इन्द्रियादि लक्षण के द्वारा ग्रहण अर्थात् जीवत्व को धारण कर रखना जिसके नहीं है वह अलिगग्रहण है, इसप्रकार 'आत्मा शुक्र और रज के अनुसार होने वाला नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१४) लिंग का अर्थात् मेहनाकार (पुरुषादिकी इन्द्रिय का आकार) का ग्रहण जिसके नहीं है सो अलिगग्रहण है, इस प्रकार आत्मा लौकिक साधन मात्र नहीं है, ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१५) लिंग के द्वारा अर्थात् अमेहनाकार के द्वारा जिसका ग्रहण अर्थात् लोक मे व्यापकत्व नहीं है सो अलिगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा पाखण्डियों के प्रसिद्ध साधन रूप आकार वाला—लोक व्याप्तिवाला नहीं है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१६) जिसके लिंगो का, अर्थात् स्त्री, पुरुष और नपुंसक वेदों का ग्रहण नहीं है वह अलिगग्रहण है, इसप्रकार 'आत्मा द्रव्य से तथा भाव से स्त्री, पुरुष तथा नपुंसक नहीं है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है। (१७) लिंगों का अर्थात् धर्मचिह्नो का ग्रहण जिसके नहीं है वह अलिगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा के बहिरंग यतिलिंगो का अभाव है' इस अर्थ की प्राप्ति होती है। (१८) लिंग अर्थात् गुणरूप ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध (पदार्थज्ञान) जिसके नहीं है सो अलिगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा गुणविशेष से आलिंगित न होने वाला शुद्ध द्रव्य है', ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (१९) लिंग अर्थात् पर्यायरूप ग्रहण, अर्थात् अर्थावबोध विशेष जिसके नहीं है सो अलिगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा पर्याय-विशेष से अलिंगित न होने वाला शुद्ध द्रव्य है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है। (२०) लिंग अर्थात् प्रत्यभिज्ञान का कारणरूप ग्रहण अर्थात् अर्थावबोध सामान्य जिसके नहीं है वह अलिगग्रहण है, इस प्रकार 'आत्मा द्रव्य से नहीं अलिंगित ऐसी शुद्ध पर्याय है' ऐसे अर्थ की प्राप्ति होती है ॥१७२॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ कि तर्हि जीवस्य शरीरादिपरद्रव्येभ्यो भिन्नमन्यद्रव्यासाधारण स्वस्वरूपमिति ? प्रश्ने प्रत्युत्तर ददाति—

अरसमरूवमगंधं रसरूपगन्धरहितत्वात्तथा चाव्याहार्यमाणास्पर्शरूपगन्धत्वाच्च **अव्वत्त** अव्यक्तत्वात् **असद्द** अशब्दत्वात् **अलिंगग्गहण** अलिङ्गग्रहणत्वात् **अणिद्दिट्ठसठाणं** अनिर्दिष्टसस्थानत्वाच्च **जाण जीव** जानीहि जीवम्। अरसमरूपमगन्धमस्पर्शमव्यक्तमशब्दमलिङ्गग्रहणमनिर्दिष्टसस्थानलक्षण च हे शिष्य ! जीव जीवद्रव्य जानीहि। पुनरपि कथभूत ? **चेदणागुणं** समस्तपुद्गलादिभ्योऽचेतनेभ्यो भिन्न समस्तान्यद्रव्यासाधारण स्वकीयानन्तजीवजातिसाधारणश्च चेतना गुणो यस्य त चेतनागुण

चालिङ्गग्राह्यमिति वक्तव्ये यदलिङ्गग्रहणमित्युक्त तत्किमर्थमिति चेत् ? बहुतरार्थप्रतिपत्त्यर्थम् । तथाहि लिङ्गमिन्द्रिय तेनार्थाना ग्रहण परिच्छेदन न करोति तेनालिङ्गग्रहणो भवति । तदपि कस्मात्स्वयमेवातीन्द्रियाखण्डज्ञानसहितत्वात् । तेनैव लिङ्गशब्दवाच्येन चक्षुरादीन्द्रियेणान्यजीवाना यस्य ग्रहण परिच्छेदन कर्तु नायाति तेनालिङ्गग्रहण उच्यते । तदपि कस्मात् ? निर्विकारातीन्द्रियस्वसवेदनप्रत्यक्षज्ञानगम्यत्वात् । लिङ्ग धूमादि तेन धूमलिङ्गोद्भवानुमानेनाग्निवदनुमेयभूतपरपदार्थाना ग्रहण न करोति तेनालिङ्गग्रहण इति । तदपि कस्मात् ? स्वयमेवालिङ्गोद्भवातीन्द्रियज्ञानसहितत्वात् । तेनैव लिङ्गोद्भवानुमानेनाग्निग्रहणवत् परपुरुषाणा यस्यात्मनो ग्रहण परिज्ञान कर्तु नायाति तेनालिङ्गग्रहण इति । तदपि कस्मात् ? अलिङ्गोद्भवातीन्द्रियज्ञानगम्यत्वात् । अथवा लिङ्ग चिह्न लाञ्छन शिखाजटाधारणादि तेनार्थाना ग्रहण परिच्छेदन न करोति, तेनालिङ्गग्रहण इति । तदपि कस्मात् ? स्वाभाविकाचिह्नोद्भवातीन्द्रियज्ञानसहितत्वात् । तेनैव चिह्नोद्भवज्ञानेन परपुरुषाणा यस्यात्मनो ग्रहण परिज्ञान कर्तृ नायाति तेनालिङ्गग्रहण इति । तदपि कस्मान्निरुपरागस्वसवेदनज्ञानगम्यत्वादिति । एवमलिङ्गग्रहणशब्दस्य व्याख्यानक्रमेण शुद्धजीवस्वरूप ज्ञातव्यमित्यभिप्राय ॥१७२॥

उत्थानिका—ऐसा प्रश्न होने पर कि इस जीव का शरीरादि पर द्रव्यो से भिन्न, अन्य द्रव्यो से असाधारण अपना स्वरूप क्या है ? आचार्य उत्तर देते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जीव) इस जीव को (अरस) पांच रस से रहित (अरूवम्) पांच वर्ण से रहित (अगंधं) दो गध से रहित तथा इन्हो के साथ आठ प्रकार स्पर्श से रहित, (अव्वत्तं) अव्यक्त (असद्दं) शब्द रहित, (अलिंगग्गहणं) किसी चिन्ह से न पकड़ने योग्य (अणिद्दिट्ठसंठाणं) नियमित आकार रहित (चेदणागुणं) सर्व पुद्गलादि अचेतन द्रव्यों से भिन्न और समस्त अन्य द्रव्यों से विशेष तथा अपने ही अनन्त जीव जाति में साधारण ऐसे चैतन्य गुण को रखने वाला (जाण) जानो ।**

अलिंगग्रहण जो विशेषण दिया है उसके बहुत से अर्थ होते हैं वे यहां समझाए जाते हैं । (१) लिंग इन्द्रियों को कहते है । उनके द्वारा यह आत्मा पदार्थों को निश्चय से नहीं जानता है क्योंकि आत्मा स्वभाव से अपने अतीन्द्रिय अखण्डज्ञान सहित है इसलिये अलिंगग्रहण है । (२) लिंग शब्द से चक्षु आदि इन्द्रिय लेना, इन चक्षु आदि से अन्य जीव भी इस आत्मा का ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि यह आत्मा विकार रहित अतीन्द्रिय स्वसंवेदन प्रत्यक्षज्ञान के द्वारा ही अनुभव में आता है इसलिये भी अलिंगग्रहण है । (३) धूम आदि को चिन्ह कहते हैं जैसे धुएं के चिन्ह रूप अनुमान से अग्नि का ज्ञान करते हैं ऐसे यह आत्मा जानने योग्य पर पदार्थों को नहीं जानता क्योंकि स्वयं ही चिन्ह या अनुमान रहित प्रत्यक्ष अतीन्द्रियज्ञान को रखने वाला है उसे ही जानता है, इसलिये भी अलिंगग्रहण है । (४) कोई भी अन्य पुरुष जैसे धूम के चिन्ह से अग्नि का ग्रहण

कर लेते हैं वैसे अनुमान रूप चिह्न से आत्मा का ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि वह चिह्न रहित स्वाभाविक अतीन्द्रियज्ञान के द्वारा जानने योग्य है इसलिये भी अलिंगग्रहण है। (५) अथवा लिंग नाम शिखा, जटा-धारण आदि भेष का है इससे भी आत्मा पदार्थों का ग्रहण नहीं कर सकता क्योंकि स्वाभाविक, विना किसी चिह्न के उत्पन्न अतीन्द्रियज्ञान को यह आत्मा रखने वाला है इसलिये भी अलिंगग्रहण है। (६) अथवा किसी भी भेष के ज्ञान से पर पुरुष भी इस आत्मा का ग्रहण नहीं कर सकते क्योंकि यह आत्मा अपने ही वीतराग स्वसंवेदनज्ञान से ही जाना जाता है इसलिये भी अलिंगग्रहण है। इस तरह अलिंगग्रहण शब्द की व्याख्या से शुद्ध जीव का स्वरूप जानने योग्य है, यह अभिप्राय है ॥१७२॥

अथ कथममूर्तस्यात्मनः स्निग्धरूक्षत्वाभावाद्बन्धो भवतीति पूर्वपक्षयति—

मुत्तो रूवादिगुणो बज्झदि फासेहिं अण्णमण्णेहिं।
तव्विवरीदो अप्पा बज्झदि किध[1] पोग्गलं कम्मं ॥१७३॥

मूर्तो रूपादिगुणो बध्यते स्पर्शैरन्योन्यैः।
तद्विपरीत आत्मा बध्नाति कथं पौद्गलं कर्म ॥१७३॥

मूर्तयोर्हि तावत्पुद्गलयो रूपादिगुणयुक्तत्वेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषादन्योन्यबन्धोऽवधार्यते एव। आत्मकर्मपुद्गलयोस्तु स कथमवधार्यते। मूर्तस्य कर्मपुद्गलस्य रूपादिगुणयुक्तत्वेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषासंभवेऽप्यमूर्तस्यात्मनो रूपादिगुणयुक्तत्वाभावेन यथोदितस्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषासंभावनया चैकाङ्गविकलत्वात् ॥१७३॥

भूमिका—अब, अमूर्त आत्मा के, स्निग्धरूक्षत्व का अभाव होने से बंध कैसे हो सकता है? ऐसा पूर्वपक्ष उपस्थित करते हैं—

अन्वयार्थ—[रूपादिगुण] रूपादिगुणयुक्त [मूर्त] मूर्त (पुद्गल) [अन्योन्यैः स्पर्शैः] परस्पर (स्निग्ध-रूक्षरूप) स्पर्शों से [बध्यते] बंधता है, (परन्तु) [तद्विपरीत आत्मा] उससे विपरीत (स्निग्ध-रूक्ष रहित, अमूर्त) आत्मा [पौद्गलिक कर्म] पौद्गलिककर्म को [कथं] कैसे [बध्नाति] बांध सकती है।

टीका—मूर्त दो पुद्गलों का, रूपादि गुण युक्त होने से यथोक्त स्निग्धरूक्षत्व रूप स्पर्श विशेष (बंधयोग्य स्पर्श) के कारण, पारस्परिक बंध अवश्य ही निश्चय होता है किन्तु आत्मा और कर्म पुद्गल का बंध कैसे समझा जा सकता है? क्योंकि मूर्त कर्म पुद्गल के, रूपादि गुण युक्त होने से, यथोक्त स्निग्ध-रूक्षत्व रूप स्पर्श विशेष सम्भव होने पर भी,

१ किह (ज० वृ०)।

अमूर्त आत्मा के रूपादि गुण युक्तता नहीं होने से, यथोक्त स्निग्ध रूक्षत्व रूप स्पर्श विशेष असम्भव होने से, एक अंग विकल है। (अर्थात् बध योग्य दो अंगों मे से एक अंग अयोग्य है—स्पर्श गुण रहित होने से बंध की योग्यता वाला नहीं है।) ॥१७३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथामूर्त्तशुद्धात्मनो व्याख्याने कृते सत्यमूर्त्तजीवस्य मूर्त्तपुद्गलकर्मणा सह कथं बन्धो भवतीति पूर्वपक्ष करोति—

मुत्तो रूवादिगुणो मूर्त्तो रूपरसगन्धस्पर्शत्वात् पुद्गलद्रव्यगुण **बज्झदि** अन्योन्यसश्लेषेण बध्यते बन्धमनुभवति, तत्र दोषो नास्ति। कं कृत्वा ? **फासेहि अण्णमण्णेहि** स्निग्धरूक्षगुणलक्षणस्पर्शसयोगे। किंविशिष्टै ? अन्योन्यै परस्परनिमित्तै। **त विवरीदो अप्पा बज्झदि किह पोग्गलं कम्म** तद्विपरीतात्मा बध्नाति कथ पौद्गल कर्मेति। अय परमात्मा निर्विकारपरमचैतन्यचमत्कारपरिणतत्वेन बन्धकारणभूतस्निग्धरूक्षगुणस्थानीयरागद्वेषादिविभावपरिणामरहितत्वादमूर्त्तत्वाच्च पौद्गलकर्म कथ बध्नाति न कथमपीति पूर्वपक्ष ॥१७३॥

उत्थानिका—आगे जब आत्मा अमूर्तिक शुद्ध स्वरूप है तब इस अमूर्तिक जीव का मूर्तिक पुद्गल कर्मों के साथ किस तरह बध हो सकना है ऐसा पूर्वपक्ष करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(रूवादिगुणो) स्पर्श रस गध वर्ण गुणधारी (मुत्तो) मूर्तिक पुद्गल द्रव्य (फासेहिं) स्निग्ध, रूक्ष स्पर्श गुणो के निमित्त से (अण्णम् अण्णेहि) एक दूसरे से परस्पर (बज्झदि) बध जाते हैं। (तव्विरीदो) इससे विरुद्ध अमूर्तिक (अप्पा) आत्मा (किह) किस तरह (पोग्गलकम्मं) पौद्गलिक कर्मवर्गणा को (बधदि) बाधता है। निश्चयनय से यह आत्मा परमात्मा स्वरूप है, निर्विकार चैतन्य चमत्कारी परिणति मे वर्तने वाला है, बंध के कारण स्निग्ध रूक्ष के स्थानापन्न रागद्वेषादि विभाव परिणामों से रहित है और अमूर्तिक है सो किस तरह पुद्गल मूर्तिक कर्मों को बाध सकता है ? किसी भी तरह नहीं बांध सकता है, ऐसा पूर्वपक्ष शकाकार ने किया है ॥१७३॥**

अथैवममूर्तस्याप्यात्मनो बन्धो भवतीति सिद्धान्तयति—

रूवादिएहिं रहिदो पेच्छदि जाणादि रूवमादीणि।
दव्वाणि गुणे य जधा तह बंधो तेण जाणीहि ॥१७४॥

रूपादिकै रहित पश्यति जानाति रूपादीनि।
द्रव्याणि गुणाश्च यथा तथा बन्धस्तेन जानीहि ॥१७४॥

येन प्रकारेण रूपादिरहितो रूपीणि द्रव्याणि तद्गुणांश्च पश्यति जानाति च, तेनैव प्रकारेण रूपादिरहितो रूपिभिः कर्मपुद्गलैः किल बध्यते। अन्यथा कथममूर्तो मूर्तं

पश्यति जानाति चेत्यत्रापि पर्यनुयोगस्यानिवार्यत्वात् । न चैतदत्यन्तदुर्घटत्वाद्दार्ष्टान्तिकीकृतं, किंतु दृष्टान्तद्वारेणाबालगोपालप्रकटितम् । तथाहि—यथा बालकस्य गोपालकस्य वा पृथगवस्थितं मृद्बलीवर्दं बलीवर्दं वा पश्यतोजानतश्च न बलीवर्देन सहास्ति सम्बन्धः, विषयभावावस्थितबलीवर्दनिमित्तोपयोगाधिरूढबलीवर्दाकारदर्शनज्ञानसम्बन्धो बलीवर्दसम्बंधव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव, तथा किलात्मनो नीरूपत्वेन स्पर्शशून्यत्वान्न कर्मपुद्गलैः सहास्ति सम्बन्धः, एकावगाहभावावस्थितकर्मपुद्गलनिमित्तोपयोगाधिरूढरागद्वेषादिभावसम्बन्धः कर्मपुद्गलबन्धव्यवहारसाधकस्त्वस्त्येव ॥१७४॥

भूमिका—अब, यह सिद्धान्त निश्चित करते हैं कि आत्मा के अमूर्त होने पर भी इस प्रकार बंध होता है—

अन्वयार्थ—[यथा] जैसे [रूपादिकैः रहितः] रूपादिरहित (जीव) [रूपादीनि द्रव्याणि गुणान् च] रूपादि गुण वाले द्रव्यो को (तथा उनके) रूपादि गुणो को [पश्यति जानाति] देखता है और जानता है, [तथा] उसी प्रकार (जीव का) [तेन] उसके साथ (मूर्तिक पुद्गल के साथ) [बध जानीहि] बध जानो ।

टीका—जिस प्रकार रूपादिरहित (जीव) रूपी द्रव्यों को तथा उनके गुणों को देखता है तथा जानता है, उसी प्रकार रूपादि रहित (जीव) रूपी कर्मपुद्गलों के साथ बंधता है, क्योंकि, यदि ऐसा न हो तो, यहा भी (देखने-जानने के संबंध मे भी) यह प्रश्न अनिवार्य है कि अमूर्त मूर्त को कैसे देखता-जानता है ?

ऐसा भी नहीं है कि यह (अरूपी का रूपी के साथ बंध होने की) बात अत्यन्त दुर्घट है इसलिये उसे दार्ष्टान्तिरूप बनाया है, परन्तु आबालगोपाल सभी को प्रगट (ज्ञात) हो जाय इसलिये दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। यथा—जिस प्रकार, पृथक् रहने वाले मिट्टी के बैल को देखने-जानने वाले बालक का अथवा (सच्चे) बैल को देखने-जानने वाले गोपाल का बैल के साथ संबंध नहीं है, तथापि विषयरूप से रहने वाला बैल जिनका निमित्त है ऐसे उपयोगारूढ वृषभाकार दर्शन-ज्ञान के साथ संबंध जो कि बैल के साथ के संबंधरूप व्यवहार का साधक है, अवश्य ही है। उसी प्रकार, आत्मा का, अरूपित्व के कारण स्पर्शशून्य होने से, कर्मपुद्गलों के साथ संबंध नहीं है, तथापि एकावगाहरूप से रहने वाले कर्म पुद्गल जिनके निमित्त हैं ऐसे उपयोगारूढ़ रागद्वेषादिभावों के संबंध, (जो कि) कर्मपुद्गलों के साथ के बंधरूप व्यवहार का साधक है, अवश्य ही है ॥१७४॥

तात्पर्यवृत्ति

अथैवममूर्त्तस्याप्यात्मनो नयविभागेन बन्धो भवतीति प्रत्युत्तर ददाति—

रूवादिएहिं रहिदो अमूर्त्तपरमचिज्ज्योति परिणतत्वेन तावदयमात्मा रूपादिरहित । तथाविध सन् कि करोति ? **पेच्छदि जाणादि** मुक्तावस्थाया युगपत्परिच्छित्तिरूपसामान्यविशेषग्राहककेवलदर्शनज्ञानोपयोगेन यद्यपि तादात्म्यसम्बन्धो नास्ति तथापि ग्राह्यग्राहकलक्षणसम्बन्धेन पश्यति जानाति । कानि कर्मतापन्नानि ? **रूवमादीणि दव्वाणि** रूपरसगन्धस्पर्शसहितानि मूर्त्तद्रव्याणि । न केवल द्रव्याणि **गुणे य जधा** तद्गुणाश्च यथा । अथवा य कश्चित्ससारी जीवो विशेषभेदज्ञानरहित सन् काष्ठपाषाणाद्यचेतनजिनप्रतिमा दृष्टवा मदीयाराध्योऽयमिति मन्यते । यद्यपि तत्र सत्तावलोकदर्शनेन सह प्रतिमायास्तादात्म्यसम्बन्धो नास्ति तथापि परिच्छेद्यपरिच्छेदकलक्षणसम्बन्धोऽस्ति । यथा वा समवसरणे प्रत्यक्षजिनेश्वर दृष्ट्वा विशेषभेदज्ञानी मन्यते मदीयाराध्योऽयमिति । तत्रापि यद्यप्यवलोकनज्ञानस्य जिनेश्वरेण सह तादात्म्यसम्बन्धो नास्ति तथाप्याराध्याराधकसम्बन्धोऽस्ति । **तह बधो तेण जाणीहि** तथा बन्ध तेनैव दृष्टान्तेन जानीहि ।

अयमत्रार्थ —यद्यप्ययमात्मा निश्चयेनामूर्त्तस्तथाप्यनादिकर्मबन्धवशाद्व्यवहारेण मूर्त्त सन् द्रव्यबन्धनिमित्तभूत रागादिविकल्परूप भावबन्धोपयोग करोति । तस्मिन्सति मूर्त्तद्रव्यकर्मणा सह यद्यपि तादात्म्यसम्बन्धो नास्ति तथापि पूर्वोक्त दृष्टान्तेन सश्लेषसम्बधोऽस्तीति नास्ति दोष ॥१७४॥

एव शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवकथनमुख्यत्वेन प्रथमगाथा । मूर्त्तिरहितजीवस्य मूर्त्तकर्मणा सह कथ बन्धो भवतीति पूर्वपक्षरूपेण द्वितीया तत्परिहाररूपेण तृतीया चेति गाथात्रयेण प्रथमस्थल गतम् ।

उत्थानिका—आगे आचार्य समाधान करते हैं कि किसी अपेक्षा व नय के द्वारा अमूर्तिक आत्मा का पुद्गल से बध हो जाता है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जधा) जैसे (रूवादिएहिं रहिदो) रूपादि से रहित आत्मा (रूवमादीणि दव्वाणि गुणे य) रूपादि गुणधारी द्रव्यों को और उनके गुणों को (पेच्छदि जाणादि) देखता जानता है (तह) तैसे (तेण) उस पुद्गल के साथ (बधो) बंध (जाणीहि) जानो । जैसे अमूर्तिक व परम चैतन्य ज्योति में परिणमन रखने के कारण यह परमात्मा वर्ण आदि से रहित है, ऐसा होता हुआ भी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श सहित मूर्तिक द्रव्यों को और उनके गुणों को मुक्तावस्था मे एक समय मे वर्तने वाले सामान्य और विशेष को ग्रहण करने वाले केवलदर्शन और केवलज्ञान उपयोग के द्वारा ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध से देखता जानता है यद्यपि उन ज्ञेयों के साथ इसका तादात्म्य सम्बन्ध नही है अर्थात् वे मूर्तिक द्रव्य और गुण भिन्न हैं और यह ज्ञाता द्रष्टा उनसे भिन्न है । अथवा जैसे कोई भी संसारी जीव विशेष भेदज्ञान को न पाता हुआ काष्ठ व पाषाण आदि की अचेतन जिन–प्रतिमा को देखकर यह मेरे द्वारा पूजने योग्य है, ऐसा मानता है । यद्यपि यहां सत्ता को देखने मात्र दर्शन के साथ उस प्रतिमा का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि

दृश्य-दर्शक सम्बन्ध है अथवा समवशरण में प्रत्यक्ष जिनेश्वर को देखकर यह मानता है कि यह मेरे द्वारा आराधने योग्य हैं, यहां भी यद्यपि देखने व जानने का जिनेश्वर के साथ तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि आराध्य-आराधक सम्बन्ध है। तैसे ही मूर्तिक द्रव्य के साथ बध होना समझो।

यहां यह भाव है कि यद्यपि यह आत्मा निश्चयनय से अमूर्तिक है तथापि अनादि कर्म बन्ध के वश से व्यवहार से मूर्तिक होता हुआ द्रव्यबंध के निमित्तकारण रागादि विकल्प भावबंध के रूप उपयोग को करता है। ऐसी अवस्था होने पर यद्यपि मूर्तिक द्रव्यकर्म के साथ आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध नहीं है तथापि पूर्व में कहे हुए दृष्टान्त से संश्लेष सम्बन्ध है इसमे कोई दोष नहीं है ॥१७४॥

भावार्थ—श्री तत्त्वार्थसार मे अमृतचन्द्रस्वामी ने इसी प्रश्न को उठाकर कि अमूर्तिक का बन्ध मूर्तिक के साथ कैसे होता है ? इस तरह समाधान किया है—

न च बन्धाप्रसिद्धि स्यान्मूर्त्तैं कर्मभिरात्मन । अमूर्त रित्यनेकान्तात्तस्य मूर्तित्वसिद्धितः ॥१६॥
अनादिनित्यसम्बन्धात्सह कर्मभिरात्मन'। अमूर्तस्यापि सत्यैक्ये मूर्तत्वमवसीयते ॥१७॥
बन्ध प्रति भवत्येकमन्योन्यानुप्रवेशः। युगपद्द्रावितः स्वर्णरौप्यवज्जीवकर्मणोः ॥१८॥
तथा च मूर्तिमानात्मा सुराभिभवदर्शनात्। न ह्यमूर्त्तस्य नभसो मदिरा मदकारिणी ॥१९॥

अमूर्तिक आत्मा के साथ मूर्तिककर्मों का बंध अनेकान्त से असिद्ध नहीं है क्योंकि किसी अपेक्षा से आत्मा के मूर्तिपना सिद्ध है। इस अमूर्तिक आत्मा का भी द्रव्यकर्मों के साथ प्रवाह रूप से अनादिकाल से धारावाही सदा का सम्बन्ध चला आ रहा है, इसी से उस मूर्तिक द्रव्य कर्मों के साथ एकता होते हुए आत्मा मूर्तिक भी है। बन्ध होने पर जिसके साथ बन्ध होता है उसके साथ एक दूसरे में प्रवेश हो जाने पर परस्पर एकता हो जाती है, जैसे सुवर्ण और चांदी को एक साथ गलाने से दोनों एक रूप हो जाते हैं उसी तरह जीव और कर्मों का बन्ध होने से परस्पर एक रूप बन्ध हो जाता है। तथा यह कर्मबद्ध संसारी आत्मा मूर्तिमान है क्योंकि मदिरा आदि से इसका ज्ञान बिगड़ जाता है। यदि अमूर्तिक होता तो जैसे अमूर्तिक आकाश में मदिरा रहते हुए आकाश को मदवान नहीं कर सकती वैसे आत्मा के कभी ज्ञान में विकार नहीं होता। ससारी आत्मा मूर्तिक है इसी से उसके कर्मबन्ध होता है जैसे आत्मा निश्चय से अमूर्तिक है वैसे उसके निश्चय से बन्ध भी नहीं है। जैसे आत्मा व्यवहार से मूर्तिक है वैसे उसके व्यवहार से बन्ध भी होता है। इस तरह अनेकान्त से समझ लेने में कोई प्रकार की शंका नहीं रहती है।

सर्वथा शुद्ध अमूर्तिक यदि आत्मा होता तो इसके बन्ध मूर्तिक से कभी प्रारम्भ नहीं हो सकता था। अनादि संसार में कर्म-सहित ही आत्मा जैसा अब प्रगट है वैसा अनादि से ही चला आ रहा है इससे कर्मबन्ध की व्यवस्था सिद्ध होती है ।।१७४।।

इस तरह शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप जीव के कथन की मुख्यता से एक गाथा, फिर अमूर्तिक जीव का मूर्तिक कर्म के साथ कैसे बन्ध होता है इस पूर्व पक्ष रूप से दूसरी, फिर उसका समाधान करते हुए तीसरी, इस तरह तीन गाथाओ से प्रथम स्थल समाप्त हुआ।

अथ भावबन्धस्वरूपं ज्ञापयति—

उवओगमओ जीवो मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि ।
पप्पा विविधे विसये जो हि पुणो तेहिं सो बंधो[1] ।।१७५।।

उपयोगमयो जीवो मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि ।
प्राप्य विविधान् विषयान् यो हि पुनस्तै स बन्ध ।।१७५।।

अयमात्मा सर्व एव तावत्सविकल्पनिर्विकल्पपरिच्छेदात्मकत्वादुपयोगमयः। तत्र यो हि नाम नानाकारान् परिच्छेद्यानर्थानासाद्य मोहं वा रागं वा द्वेषं वा समुपैति स नाम तैः परप्रत्ययैरपि मोहरागद्वेषैरुपरक्तात्मस्वभावत्वान्नीलपीतरक्तोपाश्रयप्रत्ययनीलपीतरक्तत्वैरुपरक्तस्वभावः स्फटिकमणिरिव स्वयमेक एव तद्भावद्वितीयत्वाद्बन्धो भवति ।।१७५।।

भूमिका—अब भावबन्ध का स्वरूप बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—[यः हि पुन.] जो [उपयोगमय जीव] उपयोगमय जीव [विविधान् विषयान्] विविध विषयो को [प्राप्य] प्राप्त करके [मुह्यति] मोह करता है, [रज्यति] राग करता है, [वा] अथवा [प्रद्वेष्टि] द्वेष करता है, स वह जीव [तै] उनके द्वारा (मोह-राग-द्वेष के द्वारा) [बन्ध·] बध रूप है।

टीका—प्रथम तो यह आत्मा सर्व ही उपयोगमय है, क्योंकि वह सविकल्प और निर्विकल्प प्रतिभास स्वरूप है (अर्थात् ज्ञान-दर्शन स्वरूप है।) उसमें जो आत्मा विविधाकार प्रतिभासित होने वाले पदार्थों को प्राप्त करके मोह, राग अथवा द्वेष करता है वह काला, पीला और लाल आश्रय जिनका निमित्त है ऐसे कालेपन, पीलेपन और ललाई के द्वारा उपरक्त स्वभाव वाले स्फटिकमणि की भाति, पर जिनका निमित्त है ऐसे मोह, राग और द्वेष के द्वारा उपरक्त (विकारी) आत्म स्वभाव वाला होने से, स्वय अकेला ही बन्धरूप है, क्योंकि मोह-राग द्वेषादि भाव उसका द्वितीय है। बन्ध तो दो के बीच

१ सबधो (ज० वृ०)।

होता है, अकेला आत्मा बन्ध स्वरूप कैसे हो सकता है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि—एक तो आत्मा और दूसरा मोह-रागद्वेषादिभाव होने से, मोहरागद्वेषादि भाव के द्वारा मलिन स्वभाव वाला आत्मा स्वयं ही भावबन्ध है ॥१७५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ रागद्वेषमोहलक्षण भावबन्धस्वरूपमाख्याति—

उवओगमओ जीवो उपयोगमयो जीव, अयं जीवो निश्चयनयेन विशुद्धज्ञानदर्शनोपयोगमयस्तावत्तथाभूतोऽप्यनादिबन्धवशात्सोपाधिस्फटिकवत् परोपाधिभावेन परिणत सन्। किं करोति ? **मुज्झदि रज्जेदि वा पदुस्सेदि** मुह्यति रज्यति वा प्रद्वेष्टि द्वेष करोति। किं कृत्वा ? पूर्वं **पप्पा** प्राप्य। कान् ? **विविधे विसये** निर्विषयपरमात्मस्वरूपभावनाविपक्षभूतान्विविधपञ्चेन्द्रियविषयान्। **जो हि पुणो** य पुनरित्थभूतोऽस्ति जीवो हि स्फुट **तेहिं संबधो** तै सम्बद्धो भवति तै पूर्वोक्तरागद्वेषमोहै कर्तृभूतैर्मोहरागद्वेषरहित-जीवस्य शुद्धपरिणामलक्षण परमधर्ममलभमान सन् स जीवो **बद्धो** भवतीति। अत्र योसौ रागद्वेषमोहपरिणाम स एव भावबन्ध इत्यर्थ ॥१७५॥

उत्थानिका—राग द्वेष मोह लक्षण के धारी भावबन्ध का स्वरूप कहते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(उवओगमओ जीवो) उपयोगमयी जीव (विविधे विसये) नाना प्रकार इन्द्रियों के पदार्थों को (पप्पा) पाकर (मुज्झदि) मोह कर लेता है (रज्जेदि) राग कर लेता है (वा) अथवा (पदुस्सेदि) द्वेष कर लेता है। (पुणो) तथा (हि) निश्चय से (जो) वही जीव (तेहिं संबधो) उन भावो से बन्धा है, यही भावबंध है। यह जीव निश्चयनय से विशुद्ध ज्ञान दर्शन उपयोग का धारी है तो भी अनादिकाल से कर्मबंध की उपाधि के वश से जैसे स्फटिकमणि उपाधि के निमित्त से अन्य भावरूप परिणमती है इसी तरह कर्मकृत औपाधिक भावों से परिणमता हुआ इन्द्रियों के विषयों से रहित परमात्म-स्वरूप की भावना से विपरीत नाना प्रकार पचेन्द्रियों के विषयरूप पदार्थों को पाकर उनमें राग द्वेष मोह कर लेता है। ऐसा होता हुआ यह जीव राग द्वेष मोह रहित अपने शुद्ध वीतरागमयी परमधर्म को न अनुभवता हुआ इन रागद्वेष मोह भावों के निमित्त से बद्ध होता है। यहां पर जो इस जीव के यह राग द्वेष मोह रूप परिणाम हैं सो ही भावबन्ध है ॥१७५॥**

अथ भावबन्धयुक्ति द्रव्यबन्धस्वरूपं प्रज्ञापयति—

भावेण जेण जीवो पेच्छदि जाणादि आगदं विसये।
रज्जदि तेणेव पुणो बज्झदि कम्म त्ति उवदेसो[1] ॥१७६॥

भावेन येन जीव. पश्यति जानात्यागत विषये।
रज्यति तेनैव पुनर्बध्यते कर्मेत्युपदेश ॥१७६॥

अयमात्मा साकारनिराकारपरिच्छेदात्मकत्वात्परिच्छेद्यतामापद्यमानमर्थजातं येनैव

---

१. उवएसो (ज० वृ०)।

मोहरूपेण रागरूपेण द्वेषरूपेण वा भावेन पश्यति जानाति च तेनैवोपरज्यत एव। योऽयमुपरागः स खलु स्निग्धरूक्षत्वस्थानीयो भावबन्धः। अथ पुनस्तेनैव पौद्गलिकं कर्म बध्यत एव, इत्येष भावबन्धप्रत्ययो द्रव्यबन्धः ॥१७६॥

भूमिका—**अब, भावबध की युक्ति और द्रव्यबंध का स्वरूप कहते हैं—**

अन्वयार्थ—[जीवः] जीव [येन भावेन] जिस (राग, द्वेष, मोह) भाव से [विषये आगत] विषयागत पदार्थ को [पश्यति जानाति] देखता है और जानता है, [तेन एव] उसी से [रज्यति] उपरक्त होता है, [पुन] और (उसी से—उपरक्त भाव से) [कर्म बध्यते] कर्म बधता है, [इति] ऐसा [उपदेश] उपदेश है।

टीका—**यह आत्मा साकार और निराकार प्रतिभासस्वरूप (ज्ञान और दर्शन-स्वरूप) होने से प्रतिभास्य (प्रतिभासित होने योग्य) पदार्थ समूह को जिस मोहरूप, राग-रूप या द्वेषरूप भाव से देखता है और जानता है, उसी से उपरक्त होता है। जो यह उपराग (विकार) है वह वास्तव मे स्निग्धरूक्षत्वस्थानीय भावबध है और उसी से अवश्य पौद्गलिक कर्म बंधता है। इस प्रकार यह द्रव्यबध का निमित्त भावबध है ॥१७६॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ भावबन्धयुक्ति द्रव्यबन्धस्वरूप च प्रतिपादयति—

भावेण जेण भावेन परिणामेन येन **जीवो** जीव कर्ता **पेच्छदि जाणादि** निर्विकल्पदर्शनपरिणामेन पश्यति सविकल्पज्ञानपरिणामेन जानाति। कि कर्मतापन्नम्? **आगद विसये** आगत प्राप्त किमपीष्टानिष्ट वस्तु पञ्चेन्द्रियविषये **रज्जदि तेणेव पुणो** रज्यते तेनैव पुन आदिमध्यान्तवर्जित रागादिदोषरहित चिज्ज्योति स्वरूप निजात्मद्रव्यमरोचमानस्तथैवाजानन्सन् समस्तरागादिविकल्प-परिहारेण भावयश्च तेनैव पूर्वोक्तज्ञानदर्शनोपयोगेन रज्यते राग करोति इति भावबन्धयुक्ति। **बज्झदि कम्म त्ति उवएसो** तेन भावबन्धेन नवतरद्रव्यकर्म बध्नातीति द्रव्यबन्धस्वरूप चेत्युपदेश ॥ १७६॥

एव भावबन्धकथनमुख्यतया गाथाद्वयेन द्वितीयस्थल गतम्।

उत्थानिका—आग भावबध के कारण होने वाला द्रव्यबन्ध और उसका स्वरूप बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जीवो) जीव (जेण भावेण) जिस रागद्वेष मोहभाव से (विसये आगद) इन्द्रियों के विषय मे आए हुए इष्ट अनिष्ट पदार्थों को (पेच्छदि) देखता है (जाणादि) जानता है (तेणेव रज्जदि) उस ही भाव से रंग जाता है (पुणो) तब (कम्म) द्रव्यकर्म (बज्झदि) बन्ध जाता है (इति उवएसो) ऐसा श्री जिनेन्द्र का उपदेश है। यह जीव पाचों इन्द्रियों के जानने मे जो इष्ट व अनिष्ट पदार्थ आते है उनको जिस परिणाम से निर्विकल्परूप से देखता है व सविकल्परूप से जानता है उसी ही दर्शनज्ञानमयी उपयोग**

से राग करता है क्योंकि वह आदि मध्य अन्त रहित व रागद्वेषादि रहित चैतन्य ज्योति-स्वरूप निज आत्म-द्रव्य को न श्रद्धान करता हुआ, न जानता हुआ और समस्त रागादि विकल्पो को छोड़कर नहीं अनुभव करता हुआ वर्तन कर रहा है इससे ही रागी द्वेषी मोही होकर राग द्वेष मोह कर लेता है। यही भावबन्ध है। इसी भावबन्ध के कारण नवीन द्रव्यकर्मों को बांधता है, ऐसा उपदेश है ॥१७६॥

इस तरह भावबध के कथन की मुख्यता से दो गाथाओ में दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ पुद्गलजीवतदुभयबन्धस्वरूप ज्ञापयति—

फासेहिं पोग्गलाणं[1] बंधो जीवस्स रागमादीहिं।
अण्णोण्णमवगाहो पोग्गलजीवप्पगो[2] भणिदो ॥१७७॥

स्पर्शै पुद्गलाना बन्धो जीवस्य रागादिभि ।
अन्योन्यमवगाह पुद्गलजीवात्मको भणित ॥१७७॥

यस्तावदत्र कर्मणां स्निग्धरूक्षत्वस्पर्शविशेषैरेकत्वपरिणामः स केवलपुद्गलबन्धः। यस्तु जीवस्योपाधिकमोहरागद्वेषपर्यायैरेकत्वपरिणामः स केवलजीवबन्धः। यः पुनः जीव-कर्मपुद्गलयोः परस्परपरिणामनिमित्तमात्रत्वेन विशिष्टतरः परस्परमवगाहः स तदुभय-बन्धः ॥१७७॥

भूमिका—अब पुद्गलबन्ध, जीवबन्ध और उन दोनों के बंध का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—[स्पर्शै] स्पर्शो के साथ [पुद्गलाना बध.] पुद्गलो का बध, [रागादिभि जीवस्य] रागादि के साथ जीव का बध, और [अन्योन्यम् अवगाह] अन्योन्य अवगाह [पुद्गलजीवात्मक भणित] पुद्गलजीवात्मक बध कहा गया है।

टीका—प्रथम तो यहां, कर्मों का जो स्निग्धता रूक्षतारूप स्पर्शविशेषों के साथ एकत्वपरिणाम है सो केवल पुद्गलबन्ध है, और जीवका औपाधिक मोह-राग-द्वेष रूप पर्यायों के साथ जो एकत्व परिणाम है सो केवल जीवबन्ध है, और जीव तथा कर्मपुद्गल के, परस्पर परिणाम के निमित्तमात्र से, जो विशिष्टतर परस्पर अवगाह है सो उभयबंध है। [अर्थात् जीव और कर्मपुद्गल एक दूसरे के परिणाम मे निमित्तमात्र होवें, ऐसा जो (विशिष्ट प्रकार का) उनका एक क्षेत्रावगाह सम्बन्ध है, सो वह पुद्गलजीवात्मक बंध है ॥१७७॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वनवतरपुद्गलद्रव्यकर्मणो परस्परबन्धो जीवस्य तु रागादिभावेन सह बन्धो जीवस्यैव नवतरद्रव्यकर्मणा सह चेति त्रिविधबन्धस्वरूप प्रज्ञापयति—

---

१ पुग्गलाण (ज० वृ०)।   २ पुग्गलजीवप्पगो (ज० वृ०)।

फासेहिं पुग्गलाणं बंधो स्पर्शै पुद्गलाना बन्ध पूर्वनवतरपुद्गलद्रव्यकर्मणोर्जीवगतरागादि-भावनिमित्तेन स्वकीयस्निग्धरूक्षोपादानकारणेन च परस्परस्पर्शसंयोगेन योसौ बन्ध स पुद्गलबन्ध.। **जीवस्स रागमादीहिं** जीवस्य रागादिभिर्निरुपरागपरमचैतन्यरूपनिजात्मतत्वभावनाच्युतस्य जीवस्य यद्रागादिभि सह परिणमन स जीवबन्ध इति। **अण्णोण्णस्सवगाहो पुग्गलजीवप्पगो भणिदो** अन्योन्य-स्यावगाह पुद्गलजीवात्मको भणित। निर्विकारस्वसंवेदनज्ञानरहितत्वेन स्निग्धरूक्षस्थानीयरागद्वेष-परिणतजीवस्य बन्धयोग्यस्निग्धरूक्षपरिणामपरिणतपुद्गलस्य च योऽसौ परस्परावगाहलक्षण स इत्थभूतबन्धो जीवपुद्गलबन्ध इति त्रिविधबन्धलक्षण ज्ञातव्यम्॥१७७॥

उत्थानिका—आगे बध तीन प्रकार है। एक तो पूर्व बद्ध कर्म पुद्गलो का नवीन पुद्गल कर्मों के साथ बंध होता है। दूसरा जीव का रागादि भाव के साथ बध होता है। तीसरा उसी जीव का ही नवीन द्रव्य कर्मों से बन्ध होता है, इस तरह तीन प्रकार बन्ध के स्वरूप को कहते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(पुग्गलाणं) पुद्गलों का (बन्धो) बन्ध (फासेहिं) स्निग्ध रूक्ष स्पर्श से, (जीवस्स) जीव का बन्ध (रागमादीहिं) रागादि परिणामों से तथा (पुग्गल-जीवप्पगो) पुद्गल और जीव का बन्ध (अण्णोण्ण अवगाहो) परस्पर अवगाहरूप (भणिदो) कहा गया है। जीव के रागादि भावों के निमित्त से नवीन पौद्गलिक द्रव्यकर्मों का पूर्व में जीव के साथ बधे हुए पौद्गलिक द्रव्यकर्मों के साथ अपने यथायोग्य चिकने रूखे गुण रूप उपादानकारण से जो बध होता है उसको पुद्गल बध कहते हैं। वीतराग परम चैतन्यरूप निज आत्मतत्व की भावना से शून्य जीव का जो रागादि भावों मे परिणमन करना सो जीवबन्ध है। निर्विकार स्वसंवेदन ज्ञान रहित होने के कारण, स्निग्ध रूक्ष की जगह रागद्वेष में परिणमन होते हुए जीव का बध योग्य स्निग्ध रूक्ष परिणामो मे परिणमन होने वाले पुद्गल के साथ जो परस्पर अवगाहरूप बन्ध है वह जीव पुद्गल बन्ध है। इस तरह तीन प्रकार बन्ध का लक्षण जानने योग्य है॥१७७॥

अथ द्रव्यबन्धस्य भावबन्धहेतुकत्वमुज्जीवयति—

सपदेसो सो अप्पा तेसु पदेसेसु पोग्गला[1] काया।
पविसंति जहाजोग्गं चिट्ठंति हि जंति बज्झंति॥१७८॥

सप्रदेश स आत्मा तेषु प्रदेशेषु पुद्गला काया।
प्रविशन्ति यथायोग्य तिष्ठन्ति च यान्ति बध्यन्ते॥१७८॥

अयमात्मा लोकाकाशतुल्यासंख्येयप्रदेशत्वात्सप्रदेश:। अथ तेषु तस्य प्रदेशेषु कायवा-ङ्मनोवर्गणालम्बन: परिस्पन्दो यथा भवति तथा कर्मपुद्गलकाया: स्वयमेव परिस्पन्द-

१. पुग्गला (ज० वृ०।

वन्तः प्रविशन्त्यपि तिष्ठन्त्यपि गच्छन्त्यपि च । अस्ति चेज्जीवस्य मोहरागद्वेषरूपो भावो बध्यंतेऽपि च । ततोऽवधार्यंते द्रव्यबन्धस्य भावबन्धो हेतुः ॥१७८॥

भूमिका—अब, यह बतलाते हैं कि द्रव्यबंध का हेतु भावबंध है—

अन्वयार्थ—[स आत्मा] वह आत्मा [सप्रदेशः] सप्रदेशी है, [तेषु प्रदेशेषु] उन प्रदेशो मे [पुद्गला· काया] पुद्गल समूह [प्रविशन्ति] प्रवेश करते है, [यथायोग्य तिष्ठन्ति] यथा योग्य रहते है, [यान्ति] निकलते है [च] और [बध्यन्ते] बधते हैं ।

टीका—यह आत्मा लोकाकाशतुल्य असख्यप्रदेशी होने से सप्रदेशी है । उसके इन प्रदेशों में कायवर्गणा, वचनवर्गणा और मनोवर्गणा का आलम्बन वाला परिस्पन्द (कम्पन) जैसा होता है वैसे परिस्पन्द वाले कर्मपुद्गल के समूह स्वयमेव प्रवेश भी करते हैं, (रहते हैं) और निकलते भी हैं, यदि जीव के मोह-राग-द्वेषरूप भाव हों तो बंधते भी हैं । इसलिये निश्चित होता है कि द्रव्यबन्ध का हेतु भावबन्ध है ॥१७८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ बन्धो "जीवस्स रागमादीहिं" पूर्वसूत्रे यदुक्त तदेव रागत्व द्रव्यबन्धस्य कारणमिति विशेषेण समर्थयति—

सपदेसो सो अप्पा स प्रसिद्धात्मा लोकाकाशप्रमितासख्येयप्रदेशत्वात्तावत्सप्रदेश **तेसु पदेसेसु पुग्गला काया** तेषु प्रदेशेषु कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलकाया कर्तार **पविसंति** प्रविशन्ति । कथम् ? **जहा-जोग्ग** मनोवचनकायवर्गणालम्बनवीर्यान्तरायक्षयोपशमजनितात्मप्रदेशपरिस्पन्दलक्षणयोगानुसारेण यथा-योग्यम् । न केवल प्रविशन्ति **चिट्ठंति हि** प्रवेशानन्तर स्वकीयस्थितिकालपर्यन्त तिष्ठन्ति हि स्फुटम् । न केवल तिष्ठन्ति **जंति** स्वकीयोदयकाल प्राप्य फल दत्वा गच्छन्ति । **बज्झंति** केवलज्ञानाद्यनन्त-चतुष्टयव्यक्तिरूपमोक्षप्रतिपक्षभूतबन्धस्य कारण रागादिक लब्ध्वा पुनरपि द्रव्यबन्धरूपेण बध्यन्ते च । अत एतदायात रागादिपरिणाम एव द्रव्यबन्धकारणमिति । अथवा द्वितीयव्याख्यानम्-प्रविशन्ति प्रदेशबन्धास्तिष्ठन्ति स्थितिबन्धा फल दत्त्वा गच्छन्त्यनुभागबन्धा बध्यन्ते प्रकृतिबन्धा इति ॥१७८॥

एव त्रिविधबन्धमुख्यतया सूत्रद्वयेन तृतीयस्थल गतम् ।

उत्थानिका—आगे पूर्व सूत्र मे "जीवस्स रागमादीहिं" इस वचन से जो रागपने को भावबध कहा था वही द्रव्यबध का कारण है, ऐसा विशेष करके समर्थन करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(**सपदेसो**) लोकाकाश के समान असंख्यात प्रदेशी होने से प्रदेशवान (**सो**) वह (**अप्पा**) आत्मा है (**तेसु पदेसेसु**) उन प्रदेशों में (**पुग्गला काया**) कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल पिंड (जहाजोग्ग) योगों के अनुसार (**पविसंति**) प्रवेश करते हैं, (**तिट्ठंति**) ठहरते हैं, (**य जंति**) तथा उदय होकर जाते हैं (**बज्झंति**) तथा फिर भी बंधते हैं । मन, वचन, कायवर्गणा के आलम्बन से और वीर्यान्तराय के क्षयोपशम से जो आत्मा

के प्रदेशों में सकम्पपना होता है उसको योग कहते हैं। उस योग के अनुसार कर्मवर्गणा योग्य पुद्गलकाय आस्रवरूप होकर अपनी स्थिति पर्यंत ठहरते है तथा अपने उदयकाल को पाकर फल देकर उड़ जाते हैं तथा केवल ज्ञानादि अनन्त चतुष्टय की प्रगटतारूप मोक्ष से प्रतिकूल बन्ध के कारण रागादिकों का निमित्त पाकर फिर भी द्रव्यबन्धरूप से बंध जाते हैं। इससे यह बताया गया कि रागादि परिणाम ही द्रव्यबंध का कारण है अथवा इस गाथा से दूसरा अर्थ यह कर सकते हैं कि 'प्रविशन्ति' शब्द से प्रदेशबध, 'तिष्ठन्ति' से स्थितिबध, यान्ति से फल देकर जाते हुए अनुभागबध और 'बध्यन्ते' से प्रकृतिबन्ध ऐसे चार प्रकार बंध को समझना।

इस तरह तीन तरह बंध के कथन की मुख्यता से दो सूत्रो से तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ द्रव्यबन्धहेतुत्वेन रागपरिणाममात्रस्य भावबन्धस्य निश्चयबन्धत्व साधयति—

रत्तो बंधदि कम्मं [1]मुच्चदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा।
एसो बंधसमासो जीवाणं जाण णिच्छयदो ॥१७९॥

रक्तो बध्नाति कर्म मुच्यते कर्मभि रागरहितात्मा।
एष बन्धसमासो जीवाना जानीहि निश्चयत ॥१७९॥

यतो रागपरिणत एवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा बध्यते न वैराग्यपरिणतः, अभिनवेन द्रव्यकर्मणा रागपरिणतो न मुच्यते वैराग्यपरिणत एव, बध्यत एव संस्पृशतैवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा चिरसंचितेन पुराणेन च न मुच्यते रागपरिणत, मुच्यत एव सस्पृशतैवाभिनवेन द्रव्यकर्मणा चिरसचितेन पुराणेन च वैराग्यपरिणतो न बध्यते। ततोऽवधार्यते द्रव्यबन्धस्य साधकतमत्वाद्रागपरिणाम एव निश्चयेन बन्धः ॥१७९॥

भूमिका—अब, यह सिद्ध करते है कि—राग परिणाममात्र जो भावबन्ध है, द्रव्यबन्ध का हेतु होने से वही निश्चय से बंध है—

अन्वयार्थ—[रक्तः] रागी आत्मा [कर्म बध्नाति] कर्म बाधता है, [रागरहितात्मा] राग रहित आत्मा [कर्मभि मुच्यते] कर्मों से मुक्त होता है—[एष] यह [जीवाना] जीवो के [बध समास] बध का सक्षेप (कथन) [निश्चयत] निश्चय से [जानीहि] जानो।

टीका—रागपरिणत जीव ही नवीन द्रव्यकर्म से बंधता है, वैराग्यपरिणत नहीं। रागपरिणत जीव नवीन द्रव्यकर्म से मुक्त नहीं होता, वैराग्यपरिणत ही मुक्त होता है।

१. मुचदि (ज० वृ०)।

रागपरिणत जीव संस्पर्श करने (संबंध में आने) वाले नवीन द्रव्यकर्म से बंधता ही है और चिरसंचित पुराने द्रव्यकर्म से मुक्त नहीं होता। वैराग्यपरिणत जीव संस्पर्श करने (संबंध मे आने) वाले नवीन द्रव्यकर्म से बंधता नहीं है और चिरसंचित पुराने द्रव्यकर्म से मुक्त ही होता है। इससे निश्चित होता है कि—द्रव्यबंध का साधकतम (उत्कृष्ट हेतु) होने से रागपरिणाम ही निश्चय से बंध है ॥१७९॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्यबन्धकारणत्वान्निश्चयेन रागादिविकल्परूपो भावबन्ध एव बन्ध इति प्रज्ञापयति—

रत्तो बंधदि कम्मं रक्तो बध्नाति कर्म। रक्त एव कर्म बध्नाति न च वैराग्यपरिणत **मुंचदि कम्मेहिं रागरहिदप्पा** मुच्यते कर्मभ्यां रागरहितात्मा मुच्यत एव शुभाशुभकर्मभ्यां रागरहितात्मा न च बध्यते **एसो बंधसमासो** एष प्रत्यक्षीभूतो बन्धसंक्षेप। **जीवाणं** जीवानां सम्बन्धी **जाण णिच्छयदो** जानीहि त्वं हे शिष्य ! निश्चयतो निश्चयनयाभिप्रायेणेति। एवं रागपरिणाम एव बन्धकारणं ज्ञात्वा समस्तरागादिविकल्पजालत्यागेन विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजात्मतत्त्वे निरन्तरं भावना कर्त्तव्येति ॥१७९॥

उत्थानिका—आगे फिर भी प्रगट करते है कि निश्चय से रागादि विकल्प ही द्रव्यबन्ध का कारण रूप होने मे भावबंध ही बंध है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(**रत्तो**) **रागी जीव ही (कम्मं बंधदि) कर्मों को बांधता है न कि वैराग्यवान तथा (रागरहिदप्पा) रागरहित अर्थात् वैराग्य-सहित आत्मा (कम्मेहिं मुंचदि) कर्मों से छूटता ही है, वह रागरहित अर्थात् वैरागी शुभ अशुभ कर्मों से बंधता नही है (जीवाणं एसो बंधसमासो) यह जीव संबंधी प्रगट बंध तत्त्व का संक्षेप है (णिच्छयदो जाण) हे शिष्य ! निश्चयनय के अभिप्राय से ऐसा जान। इस तरह राग परिणाम को ही बंध का कारण जान करके सर्व रागादि विकल्प जालों का त्याग करके विशुद्धज्ञान दर्शन स्वभावधारी निज आत्मतत्व मे निरन्तर भावना करनी योग्य है ॥१७९॥**

अथ परिणामस्य द्रव्यबन्धसाधकतमरागविशिष्टत्वं सविशेषं प्रकटयति—

परिणामादो बंधो परिणामो रागदोसमोहजुदो।
असुहो मोहपदोसो सुहो व असुहो हवदि रागो ॥१८०॥

परिणामाद्बन्ध परिणामो रागद्वेषमोहयुत।
अशुभौ मोहप्रद्वेषौ शुभो वाशुभो भवति राग ॥१८०॥

द्रव्यबन्धोऽस्ति तावद्विशिष्टपरिणामात्। विशिष्टत्वं तु परिणामस्य रागद्वेषमोहमयत्वेन। तच्च शुभाशुभत्वेन द्वैतानुवर्ति। तत्र मोहद्वेषमयत्वेनाशुभत्वं, रागमयत्वेन तु शुभत्वं चाशुभत्वं च। विशुद्धिसंक्लेशाङ्गत्वेन रागस्य द्वैविध्यात् भवति ॥१८०॥

भूमिका—**अब परिणाम का द्रव्यबंध के साधकतम राग से विशिष्टत्व सविशेष प्रगट करते हैं अर्थात् यह भेद सहित प्रकट करते हैं कि परिणाम द्रव्यबंध के उत्कृष्ट हेतु भूत राग से विशेषता वाला होता है।**

अन्वयार्थ—[परिणामात् बधः] परिणाम से बध है, [परिणाम. रागद्वेषमोहयुतः] वह परिणाम राग द्वेष-मोहयुक्त है। [मोहप्रद्वेषौ अशुभौ] (उनमे से) मोह और द्वेष अशुभ है, [राग.] राग [शुभः वा अशुभ] शुभ अथवा अशुभ [भवति] होता है।

टीका—**प्रथम तो द्रव्यबध विशिष्ट परिणाम से होता है। परिणाम की विशिष्टता राग द्वेष-मोह-मयता के कारण है। वह शुभत्व और अशुभत्व के कारण द्वैत का अनुसरण करता है। (अर्थात् दो प्रकार का है), उसमें से मोह-द्वेषमयता से अशुभत्व होता है, और रागमयता से शुभत्व तथा अशुभत्व होता है, क्योंकि राग विशुद्धि तथा संक्लेशयुक्त होने से दो प्रकार का होता है।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ जीवपरिणामस्य द्रव्यबन्धसाधक रागाद्युपाधिजनितभेद दर्शयति—

परिणामादो बंधो परिणामात्सकाशाद्बन्धो भवति। स च परिणाम किंविशिष्ट ? **परिणामो रागदोसमोहजुदो** वीतरागपरमात्मनो विलक्षणत्वेन परिणामो रागद्वेषमोहोपाधित्रयेण सयुक्तः **असुहो मोहपदोसो** अशुभौ मोहप्रद्वेषौ परोपाधिजनितपरिणामत्रयमध्ये मोहप्रद्वेषद्वयमशुभम्। **सुहो व असुहो हवदि रागो** शुभोशुभो वा भवति राग। पञ्चपरमेष्ठ्यादिभक्तिरूप शुभराग उच्यते, विषयकषायरूपश्चाशुभ इति। अय परिणाम सर्वोऽपि सोपाधित्वात् बन्धहेतुरिति ज्ञात्वा बन्धे शुभाशुभसमस्तराग-द्वेषविनाशार्थं समस्तरागाद्युपाधिरहिते सहजानन्दैकलक्षणसुखामृतस्वभावे निजात्मद्रव्ये भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम्॥१८०॥

उत्थानिका—आगे द्रव्यबध का साधक जो जीव का रागादि रूप औपाधिक परिणाम है उसके भेद को दिखाते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(परिणामादो) परिणामो से (बधो) बंध होता है। (परिणामो) परिणाम (रागदोसमोहजुदो) रागद्वेष मोह युक्त होता है (मोहपदोसो) मोह और द्वेष (असुहो) अशुभ हैं। (रागो) राग (सुहो) शुभ (व असुहो) व अशुभ रूप (हवदि) होता है। वीतराग परमात्मा के परिणाम से विलक्षण परिणाम रागद्वेष मोह की उपाधि से तीन प्रकार का होता है। इनमे से मोह और द्वेष दोनों तो अशुभ ही हैं। राग शुभ तथा अशुभ के भेद से दो प्रकार का होता है। पंचपरमेष्ठी आदि की भक्ति में राग शुभ (प्रशस्त) राग कहा जाता है। जबकि विषय कषायों मे राग अशुभ (अप्रशस्त) राग होता है। यह**

तीन ही प्रकार का परिणाम सर्व प्रकार से ही उपाधि सहित है इसलिये बंध का कारण है। ऐसा जानकर प्रशस्त तथा अप्रशस्त समस्त राग द्वेष के नाश करने के लिये सर्व रागादि की उपाधि से रहित सहजानन्दमयी एक लक्षणधारी सुखामृतस्वभावमयी निज आत्म-द्रव्य में ही भावना करनी योग्य है, यह तात्पर्य है ॥१८०॥

भावार्थ—पंचपरमेष्ठी की भक्ति अर्थात् पंचपरमेष्ठी के जो रत्नत्रय रूप गुण व वीतरागता मे जो रुचि, प्रतीति तथा गुणानुवाद है वह संवर व निर्जरा के कारण हैं तथा इससे सम्यग्दर्शन निर्मल होता है। भक्ति के समय कर्मोदय से जो मंद कषाय रूप राग होता है वह शुभ राग यद्यपि अल्प बंध का कारण है तथापि परम्परा से मोक्ष का कारण है। भक्ति शुभ राग नहीं है, किन्तु मोक्ष सुख का कारण है। स्वयं श्री १०८ कुन्दकुन्द आचार्य ने इसी प्रवचनसार में गाथा ७६ के पश्चात् गाथा ७६/१ मे कहा है—

तं देवदेवदेवं जदिवरवसहं गुरुं तिलोयस्स। पणमंति जे मणुस्सा ते सोक्खं अक्खयं जंति ॥७६/१॥

अर्थात्—जो भगवान को प्रणाम करते हैं अथवा आराधना करते हैं वे मनुष्य अक्षय सुख (मोक्ष) को पाते हैं।

भावपाहुड में भी श्री १०८ कुन्दकुन्द आचार्य ने कहा है—

जिणवर चरणंबुरुहं णमंति जे परमभत्तिराएण। ते जम्मवेलिमूलं खणंति वरभावसत्थेण ॥१५३॥

अर्थात्—जे पुरुष परम भक्ति अनुराग करि जिनवर के चरण कमलनि कूं नमैं हैं ते श्रेष्ठ भाव रूप शस्त्र करि जन्म (संसार) रूपी बेलि ताका मूल जो रागद्वेष मोह आदि कर्म को हणे (नाश करे) हैं।

श्री १०८ कुन्दकुन्द आचार्य ने मूलाचार में भी कहा है—

"भत्तीए जिणवराणं खीयदि जं पुव्वसंचियं कम्मं।"

अर्थ—जिनवर की भक्ति से पूर्व संचित कर्म का नाश होता।

"चैत्यगुरुप्रवचनपूजादिलक्षणा सम्यक्त्ववर्धिनी क्रिया [स० सि०]

अर्थ—चैत्य (जिन–बिम्ब), गुरु और शास्त्र की पूजा आदि क्रिया सम्यक्त्व को बढ़ाने वाली (निर्मल करने वाली) है।

इस प्रकार जिनेन्द्र-भक्ति शुभ राग या मात्र बंध की कारण नहीं है अपितु मोक्ष की भी कारण है ॥१८०॥

अथ विशिष्टपरिणामविशेषमविशिष्टपरिणामं च कारणे कार्यमुपचर्य कार्यत्वेन निर्दिशति—

सुहपरिणामो पुण्णं असुहो पाव त्ति भणिद मण्णेसु[1] ।
परिणामो णण्णगदो दुक्खक्खयकारणं समये ॥१८१॥

शुभपरिणाम पुण्यमशुभ पापमिति भणितमन्येषु ।
परिणामोऽनन्यगतो दु खक्षयकारण समये ॥१८१॥

द्विविधस्तावत्परिणामः परद्रव्यप्रवृत्तः स्वद्रव्यप्रवृत्तश्च । तत्र परद्रव्यप्रवृत्तः परोपरक्तत्वाद्विशिष्टपरिणामः, स्वद्रव्यप्रवृत्तस्तु परानुपरक्तत्वादविशिष्टपरिणाम । तत्रोक्तौ द्वौ विशिष्टपरिणामस्य विशेषौ, शुभपरिणामोऽशुभपरिणामश्च । तत्र पुण्यपुद्गलबन्धकारणत्वात् शुभपरिणामः पुण्यं, पापपुद्गलबन्धकारणत्वादशुभपरिणामः पापम् । अविशिष्टपरिणामस्य तु शुद्धत्वेनैकत्वान्नास्ति विशेषः । स काले ससारदुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयकारणत्वात्संसारदुःखहेतुकर्मपुद्गलक्षयात्मको मोक्ष एव ॥१८१॥

भूमिका—**अब विशिष्ट परिणाम के भेद को तथा अविशिष्ट परिणाम को, कारण में कार्य का उपचार करके कार्यरूप से बतलाते हैं—**

अन्वयार्थ—[अन्येषु] पर के प्रति [शुभ परिणाम] शुभ परिणाम [पुण्यम्] पुण्य है, और [अशुभ.] अशुभ परिणाम [पापम्] पाप है, [इति भणितम्] ऐसा कहा है, [अनन्यगतः परिणामः] जो दूसरो के प्रति प्रवर्तमान नही है ऐसा परिणाम [समये] समय पर [दु खक्षयकारणम्] दु ख क्षय का कारण है ।

टीका—**प्रथम तो परिणाम दो प्रकार का है-परद्रव्यप्रवृत्त और स्वद्रव्यप्रवृत्त । इनमे से परद्रव्यप्रवृत्त परिणाम परके उपरक्त (परके निमित्त से विकारी) होने से विशिष्ट परिणाम है, और स्वद्रव्यप्रवृत्त परिणाम परके द्वारा उपरक्त न होने से अविशिष्ट परिणाम है; उसमे विशिष्ट परिणाम के पूर्वोक्त दो भेद हैं-शुभ परिणाम और अशुभ परिणाम । उनमें पुण्यरूप पुद्गल के बंध का कारण होने से शुभ-परिणाम पुण्य है, और पापरूप पुद्गल के बंध का कारण होने से अशुभ परिणाम पाप है । अविशिष्ट परिणाम तो शुद्ध होने से एक है, इसलिये उसके भेद नहीं हैं । वह (अविशिष्ट परिणाम) यथाकाल ससार दुःख के हेतुभूत कर्मपुद्गल के क्षय का कारण होने से संसार दुःख के हेतुभूत कर्मपुद्गल का क्षयस्वरूप मोक्ष ही है ॥१८१॥**

---

१ भणिय (ज० वृ०) ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ द्रव्यरूपपुण्यपापबन्धकारणत्वाच्छुभाशुभपरिणामयो पुण्यपापसज्ञा शुभाशुभरहितशुद्धोपयोगपरिणामस्य मोक्षकारणत्व च कथयति—

सुहपरिणामो पुण्ण द्रव्यपुण्यबण्धकारणत्वाच्छुभपरिणाम पुण्य भण्यते **असुहो पावत्ति भणियं** द्रव्यपापबन्धकारणत्वादशुभपरिणाम पाप भण्यते। केषु विषयेषु योऽसौ शुभाशुभपरिणाम ? **अण्णेसु** निजशुद्धात्मन सकाशादन्येषु शुभाशुभबहिर्द्रव्येषु **परिणामो णण्णगदो** परिणामो नान्यगतोऽनन्यगत स्वस्वरूपस्थ इत्यर्थं। स इत्थभूत शुद्धोपयोगलक्षण परिणाम **दुक्खक्खयकारण** दु खक्षयकारण दु खक्षयाभिधानमोक्षस्य कारण भणित। क्व भणित ? **समये** परमागमे लब्धिकाले वा।

किच। मिथ्यादृष्टिसासादनमिश्रगुणस्थानत्रये तारतम्येनाशुभपरिणामो भवतीति पूर्वं भणितमस्ति, अविरतदेशविरतप्रमत्तसयतसज्ञगुणस्थानत्रये तारतम्येन शुभपरिणामश्च भणित, अप्रमत्तादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानेषु तारतम्येन शुद्धोपयोगोऽपि भणित। नयविवक्षाया मिथ्यादृष्ट्यादिक्षीणकषायान्तगुणस्थानेषु पुनरशुद्धनिश्चयनयो भवत्येव। तत्राशुद्धनिश्चयमध्ये शुद्धोपयोग कथ लभ्यत इति शिष्येण पूर्वपक्षे कृते सति प्रत्युत्तर ददाति–वस्त्वेकदेशपरीक्षा तावन्नयलक्षण शुभाशुभशुद्धद्रव्यालम्बनमुपयोगलक्षण। चेति तेन कारणेनाशुद्धनिश्चयमध्येऽपि शुद्धात्मावलम्बनत्वात् शुद्धध्येयत्वात् शुद्धसाधकत्वाच्च शुद्धोपयोगपरिणामो लभ्यत इति नयलक्षणमुपयोगलक्षण च यथासम्भवं सर्वत्र ज्ञातव्यम्। अत्र योसौ रागादिविकल्पोपाधिरहितसमाधिलक्षणशुद्धोपयोगो मुक्तिकारण भणित स शुद्धात्मद्रव्यलक्षणाद्ध्येयभूताच्छुद्धपारिणामिकभावादभेदप्रधानद्रव्यार्थिकनयेनाभिन्नोऽपि भेदप्रधानपर्यायार्थिकनयेन भिन्न कस्मादिति चेत् ? अयमेकदेशनिरावरणत्वेन क्षायोपशमिकखण्डज्ञानव्यक्तिरूप स च पारिणामिक सकलावरणरहितत्वेनाखण्डज्ञानव्यक्तिरूप। अय तु सादिसान्तत्वेन विनश्वर, स च अनाद्यनन्तत्वेनाविनश्वर। यदि पुनरेकान्तेनाभेदो भवति तर्हि घटोत्पत्तौ मृत्पिण्डविनाशवद् ध्यानपर्यायविनाशे मोक्षे जाते सति ध्येयरूपपारिणामिकस्यापि विनाशो भवतीत्यर्थ। तत एव ज्ञायते शुद्धपारिणामिकभावो ध्येयरूपो भवति ध्यानभावनारूपो न भवति। कस्मात् ? ध्यानस्य विनश्वरत्वादिति ॥१८१॥

एव द्रव्यबन्धकारणत्वात् मिथ्यात्वरागादिविकल्परूपो भावबन्ध एव निश्चयेन बन्ध इति कथनमुख्यतया गाथात्रयेण चतुर्थस्थल गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते है कि द्रव्य रूप पुण्य पाप बन्ध का कारण होने से शुभ अशुभ परिणामो को पुण्य पाप की सज्ञा है तथा शुभ अशुभ से रहित शुद्धोपयोगमय परिणाम मोक्ष का कारण है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अण्णेसु) अपने आत्मा से अन्य द्रव्यों में (सुहपरिणामो) शुभ रागरूप भाव (पुण्णं) द्रव्य पुण्यबन्ध का कारण होने से भाव पुण्य है (असुहो) व अशुभ रागरूप भाव (पावत्ति भणियं) द्रव्य पाप बन्ध का कारण होने से भाव पाप कहा है तथा (अणण्णगदो परिणामो) अन्य द्रव्य में नहीं रमता हुआ स्वस्वरूपस्थ शुद्धभाव**

(दुक्खक्खयकारणं) संसार के दुःखों के क्षय का कारण भाव है ऐसा (समये) परमागम में कहा है। अपने शुद्धात्मा से भिन्न सर्व शुभ व अशुभ द्रव्य हैं। इन द्रव्यों के सम्बन्ध मे रहता हुआ जो शुभभाव है वह पुण्य है और जो अशुभभाव है वह पाप है तथा शुद्धोपयोग-रूप भाव मोक्ष का कारण होने से शुद्धभाव है ऐसा परमागम मे कहा है अथवा ये भाव यथासंभव लब्धिकाल मे होते हैं।

विस्तार यह है कि मिथ्यादृष्टि, सासादन और मिश्र इन तीन गुणस्थानों मे अर्थात् तारतम्य से कमती-कमती अशुभ परिणाम होता है ऐसा पहले कहा जा चुका है। अविरत सम्यक्त्व, देशविरत तथा प्रमत्तसंयत इन तीन गुणस्थानों मे तारतम्य से शुभ परिणाम कहा गया है तथा अप्रमत्त गुणस्थान से क्षीणकषाय नामक बारहवें गुणस्थान तक तारतम्य से शुद्धोपयोग ही कहा गया है। नय की अपेक्षा से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान से क्षीणकषाय तक के गुणस्थानों में अशुद्ध निश्चयनय ही होता है। इस अशुद्ध निश्चय नय के विषय मे शुद्धोपयोग कैसे प्राप्त होता है ऐसा पूर्वपक्ष शिष्य ने किया। उसका उत्तर देते हैं—वस्तु के एक देश की परीक्षा यह नय का लक्षण है। शुभ, अशुभ व शुद्ध द्रव्य के आलम्बनरूप भाव को शुभ, अशुभ व शुद्ध उपयोग कहते हैं। यह उपयोग का लक्षण है। इस कारण से अशुद्ध निश्चयनय के मध्य मे भी शुद्धात्मा का आलम्बन होने से व शुद्ध ध्येय होने से वह शुद्ध का साधक होने से उपचार से शुद्धोपयोग परिणाम प्राप्त होता है। इस तरह नय का लक्षण और उपयोग का लक्षण यथासंभव सर्व जगह जानने योग्य है। यहां जो कोई रागादि विकल्प की उपाधि से रहित समाधि लक्षणमयी शुद्धोपयोग को मुक्ति का कारण कहा गया है सो शुद्धात्मा द्रव्य लक्षण जो ध्येयरूप शुद्ध पारिणामिक भाव है उससे अभेद प्रधान द्रव्यार्थिकनय से अभिन्न होने पर भी भेदप्रधान पर्यायार्थिक नय से भिन्न है। इसका कारण यह है कि यह जो समाधिलक्षण शुद्धोपयोग है वह एकदेश आवरण रहित होने से क्षायोपशमिक खडज्ञान का व्यक्तिरूप है तथा वह शुद्धात्मारूप शुद्ध पारिणामिकभाव सर्व आवरण से रहित होने के कारण से अखंड ज्ञान का व्यक्तिरूप है। यह समाधिरूप भाव आदि व अन्त सहित होने से नाशवान है, वह शुद्ध पारिणामिकभाव अनादि व अनंत होने से अविनाशी है। यदि एकांत से अभेद हो तो जैसे घट की उत्पत्ति में मिट्टी के पिंड के नाश की तरह ध्यान पर्याय के नाश होने पर व मोक्ष अवस्था के उत्पन्न होने पर ध्येयरूप पारिणामिक का भी विनाश हो जायगा, सो ऐसा है नहीं। मिट्टी के पिंड से जैसे घट अवस्था की अपेक्षा भेद है मिट्टी की अपेक्षा अभेद है वैसे ध्यान पर्याय

ध्येय भाव का अवस्था की अपेक्षा भेद है जब कि आत्म-द्रव्य की अपेक्षा अभेद है। इसी से जाना जाता है कि शुद्ध पारिणामिकभाव ध्येयरूप है, ध्यान-भावनारूप नहीं है क्योंकि ध्यान नाशवंत है ।।१८१।।

भावार्थ—शुभ राग यद्यपि पुण्य बन्ध का कारण है तथापि वह शुभ राग व पुण्य मोक्ष का कारण है।

विधूततमसो रागस्तपः श्रुतनिबन्धनः । सन्ध्याराग इवार्कस्य जन्तोरभ्युदयाय सः ।।१२२।।
[आत्मानुशासन]

अर्थ—जिसने अज्ञान अन्धकार दूर कर दिया है ऐसे जीव के तप शास्त्रादिक-सम्बन्धी रागभाव है सो कल्याण के उदय के लिये ही है। जैसे सूर्य की प्रभातकाल-सम्बन्धी रक्तता रात्रि सम्बन्धी अन्धकार का नाश कर प्रकाश के लिये कारण है।

"लोहो सया पेज्जं, तिरयणसाहणविसयलोहादो सग्गापवग्गाणमुप्पत्ति दंसणादो।"
[जयधवल पु० १ पृ० ३६९]

अर्थ—लोभ कथंचित् पेज्ज (राग) है, क्योंकि रत्नत्रय के साधन विषयक लोभ से स्वर्ग और मोक्ष की प्राप्ति देखी जाती है ।।१८१।।

इस तरह द्रव्यबंध का कारण होने से मिथ्यात्व रागादि विकल्परूप भावबन्ध ही निश्चय से बन्ध है ऐसे कथन की मुख्यता से तीन गाथाओं के द्वारा चौथा स्थल समाप्त हुआ।

अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिनिवृत्तिसिद्धये स्वपरविभागं दर्शयति—

भणिदा पुढविप्पमुहा जीवणिकायाध थावरा य तसा।
अण्णा ते जीवादो जीवो वि य तेहिंदो अण्णो ।।१८२।।

भणिता पृथिवीप्रमुखा जीवनिकाया अथ स्थावराश्च त्रसा ।
अन्ये ते जीवाज्जीवोऽपि च तेभ्योऽन्यः ।।१८२।।

य एते पृथिवीप्रभृतयः षड्जीवनिकायास्त्रसस्थावरभेदेनाभ्युपगम्यन्ते ते खल्वचेतनत्वादन्ये जीवात्, जीवोऽपि च चेतनत्वादन्यस्तेभ्यः। अत्र षड्जीवनिकायात्मनः परद्रव्यमेक एवात्मा स्वद्रव्यम् ।।१८२।।

भूमिका—अब, जीव की स्वद्रव्य में प्रवृत्ति और परद्रव्य से निवृत्ति की सिद्धि के लिये स्वपर का विभाग बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—[अथ] अब जो [पृथिवीप्रमुखाः] पृथ्वी आदि प्रमुख [जीवनिकायाः] जीवनिकाय [स्थावराः च त्रसाः] स्थावर और त्रस [भणिताः] कहे गये हैं, [ते] वे

[जीवात्] जीव से [अन्ये] अन्य है, [च] और [जीव अपि] जीव भी [तेभ्यः अन्य] उनसे अन्य है।

टीका—**जो यह पृथ्वी इत्यादि षट् जीवनिकाय त्रसस्थावर के भेदपूर्वक माने जाते हैं, वे वास्तव में अचेतनत्व के कारण जीव से अन्य है, और जीव भी चेतनत्व के कारण उनसे अन्य है। यहाँ (यह कहा है कि) आत्मा के षट् जीवनिकाय परद्रव्य है, एक आत्मा ही स्वद्रव्य है ॥१८२॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ जीवस्य स्वद्रव्यप्रवृत्तिपरद्रव्यनिवृत्तिनिमित्त षड्जीवनिकायै सह भेदविज्ञान दर्शयति,—

भणिदा पुढविप्पमुहा भणिता परमागमे कथिता पृथिवीप्रमुखा । ते के ? **जीवणिकाया** जीव-समूहा **अध** अथ। कथभूता ? **थावरा य तसा** स्थावराश्च त्रसा । ते च किंविशिष्टा ? **अण्णा** ते अन्ये भिन्नास्ते। कस्मात् ? **जीवादो** शुद्धबुद्धैकजीवस्वभावात्। **जीवोवि य तेहिंदो अण्णो** जीवोऽपि च तेभ्योऽन्य इति । तथाहि टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावपरमात्मतत्त्वभावनारहितेन जीवेन यदुपार्जित त्रसास्थावरनामकर्म तदुदयजनितत्वादचेतनत्वाच्च त्रसस्थावरजीवनिकाया शुद्धचैतन्यस्वभाव-जीवाद्भिन्ना । जीवोऽपि च तेभ्यो विलक्षणत्वाद्भिन्न इति। अत्रैव भेदविज्ञाने जाते सति मोक्षार्थी जीव स्वद्रव्ये प्रवृत्ति परद्रव्ये निवृत्ति च करोतीति भावार्थ ॥१८२॥

उत्थानिका—आगे इस जीव की अपने आत्मद्रव्य मे प्रवृत्ति और पर द्रव्यो से निवृत्ति के कारण छ प्रकार जीवकायो से भेदविज्ञान दिखलाते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(पुढविप्पमुहा) पृथ्वी को आदि लेकर (जीवणिकाया) जीवो के समूह (अध थावरा य तसा) अर्थात् पृथ्वीकायिक आदि पांच स्थावर और द्वीन्द्रियादि त्रस (भणिदा) जो परमागम मे कहे गए हैं (ते जीवादो अण्णा) वे सब शुद्ध-बुद्ध एक जीव के स्वभाव से भिन्न हैं (जीवो वि य तेहिंदो अण्णो) तथा यह जीव भी उनसे भिन्न है। टकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभावरूप परमात्मतत्त्व की भावना को न पाकर इस जीव ने जो त्रस या स्थावर नाम कर्म बांधा है उसके उदय से उत्पन्न होने के कारण अचेतन होने से ये त्रस स्थावर जीवो के समूह शुद्ध चैतन्य स्वभावधारी जीव से भिन्न हैं। जीव भी उनसे विलक्षण होने से उनसे भिन्न है। यहां यह प्रयोजन है कि इस तरह के भेदविज्ञान हो जाने पर मोक्षार्थी जीव अपने निज आत्मद्रव्य में प्रवृत्ति करता है और परद्रव्य से अपने को हटाता है ॥१८२॥**

अथ जीवस्य स्वपरद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तत्वेन स्वपरविभागज्ञानाज्ञाने अवधारयति—

जो णवि जाणदि एवं परमप्पाणं सहावमासेज्ज।
कीरदि अज्झवसाणं अहं ममेदं ति मोहादो ॥१८३॥

यो नैव जानात्येव परमात्मान स्वभावमासाद्य ।
कुरुतेऽध्यवसानमह ममेदमिति मोहात् ॥१८३॥

यो हि नाम नैवं प्रतिनियतचेतनाचेतनत्वस्वभावेन जीवपुद्गलयो स्वपरविभागं पश्यति स एवाहमिद ममेदमित्यात्मात्मीयत्वेन परद्रव्यमध्यवस्यति मोहान्नान्यः। अतो जीवस्य परद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्त स्वपरपरिच्छेदाभावमात्रमेव सामर्थ्यात्स्वद्रव्यप्रवृत्तिनिमित्तं तदभाव ॥१८३॥

भूमिका—**अब, यह** निश्चित **करते हैं कि—जीव को स्वद्रव्य मे प्रवृत्ति का निमित्त स्वपर के विभाग का ज्ञान है, और परद्रव्य मे प्रवृत्ति का निमित्त स्व-पर के विभाग का अज्ञान है—**

अन्वयार्थ—[य] जो [एव] इस प्रकार [स्वभावम् आसाद्य] स्वभाव को प्राप्त करके (जीव-पुद्गल के स्वभाव को निश्चित करके) [परम् आत्मान] परको और स्वको [न एव जानाति] जानता ही नही, [मोहात्] वह मोह से '[अहम्] यह मै हू, [इद मम] यह मेरा है' [इति] इस प्रकार [अध्यवसान] अध्यवसान [कुरुते] करता है ।

टीका—**जो आत्मा इस प्रकार (अपने-अपने) निश्चित चेतनत्व और अचेतनत्वरूप स्वभाव के द्वारा जीव और पुद्गल के स्वपर के विभाग को नहीं देखता, वही आत्मा 'यह मै हूं, यह मेरा है,' इस प्रकार मोह से परद्रव्य मे अपनेपन का अध्यवसान करता है, दूसरा नही । इससे (यह निश्चित हुआ कि) जीव को परद्रव्य मे प्रवृत्ति का निमित्त स्वपर के ज्ञान का अभावमात्र ही है, और (कहे बिना भी) सामर्थ्य से (यह निश्चित हुआ कि) स्वद्रव्य मे प्रवृत्ति का निमित्त उसका अभाव (स्वपर के ज्ञान के अभाव का अभाव–स्वपर के ज्ञान का सद्भाव है) ॥१८३॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथैतदेव भेदविज्ञान प्रकारान्तरेण दृढयति,—

जो णवि जाणदि एव य कर्त्ता नैव जानात्येवपूर्वोक्तप्रकारेण । क ? **पर** षड्जीवनिकायादिपरद्रव्यम् **अप्पाण** निर्दोषिपरमात्मद्रव्यरूप निजात्मानम् । किकृत्वा ? **सहावमासेज्ज** शुद्धोपयोगलक्षण-निजशुद्धस्वभावमाश्रित्य **कीरदि अज्झवसाण** स पुरुष करोत्यध्यवसान परिणाम । केन रूपेण ? **अह ममेदंत्ति** ममकाराहकारादिरहितपरमात्मभावनाच्युतो भूत्वा परद्रव्य रागादिकमहमिति देहादिक ममेतिरूपेण । कस्मात् ? **मोहादो** मोहाधीनत्वादिति । तत स्थितमेतत्स्वपरभेदविज्ञानबलेन स्वसवेदन-ज्ञानी जीव स्वद्रव्ये रति परद्रव्ये निवृति करोतीति ॥१८३॥

एव भेदभावनाकथनमुख्यतया सूत्रद्वयेन पञ्चमस्थल गतम् ।

उत्थानिका—आगे इसी ही भेदविज्ञान को अन्य तरह से दृढ करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जो) जो कोई (सहावं) निज स्वभाव को (आसेज्ज) आश्रय करके (पर अप्पाणं एव) पर को और आत्मा को इस तरह भिन्न-भिन्न (णवि जाणदि) नहीं जानता है वही (मोहादो) मोह के निमित्त से (अहं ममेदंत्ति) 'मै इस पर रूप हूँ या यह पर मेरा है' ऐसा (अज्झवसाणं कीरदि) अध्यवसान करता है। जो कोई शुद्धोपयोग लक्षण निज स्वभाव को आश्रय करके पूर्व में कहे प्रमाण छः काय के जीव समूहादि परद्रव्यों को और निर्दोष परमात्मद्रव्य स्वरूप निज आत्मा को भिन्न-भिन्न नहीं जानता है वह ममकार व अहंकार आदि से रहित परमात्मा की भावना से रहित मोह के अधीन होकर यह परिणाम किया करता है कि मैं रागादि परद्रव्यरूप हूँ या यह शरीरादि मेरा है। इससे यह सिद्ध हुआ कि इस तरह के स्वपर के भेदविज्ञान के बल से स्वसवेदन ज्ञानी जीव अपने आत्म-द्रव्य में प्रीति करता है और परद्रव्य से निवृत्ति करता है ।।१८३।।

इस तरह भेद भावना के कथन की मुख्यता करके दो सूत्रों मे पांचमा स्थल पूर्ण हुआ।

अथात्मनः किं कर्मेति निरूपयति—

कुव्वं [1]सभावमादा हवदि हि कत्ता सगस्स भावस्स ।
[2]पोग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं ।।१८४।।

कुर्वन् स्वभावमात्मा भवति हि कर्ता स्वकस्य भावस्य ।
पुद्गलद्रव्यमयाना न तु कर्ता सर्वभावानाम् ।।१८४।।

आत्मा हि तावत्स्वं भावं करोति तस्य स्वधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्तिसंभवेनावश्यमेव कार्यत्वात् । स तं च स्वतन्त्रः कुर्वाणस्तस्य कर्तावश्यं स्यात्, क्रियमाणश्चात्मना स्वो भावस्तेनाप्यत्वात्तस्य कर्मावश्यं स्यात् । एवमात्मनः स्वपरिणामः कर्म न त्वात्मा पुद्गलस्य भावान् करोति तेषां परधर्मत्वादात्मनस्तथाभवनशक्यसंभवेनाकार्यत्वात् स तानकुर्वाणो न तेषां कर्ता स्यात् अक्रियमाणाश्चात्मना ते न तस्य कर्म स्यु । एवमात्मन. पुद्गलपरिणामो न कर्म ।।१८४।।

भूमिका—अब, यह निरूपण करते हैं कि आत्मा का कर्म क्या है—

अन्वयार्थ—[स्वभाव कुर्वन्] अपने भाव को करता हुआ [आत्मा] आत्मा [हि] वास्तव मे [स्वकस्य भावस्य] अपने भाव का [कर्ता भवति] कर्ता है, [तु] परन्तु [पुद्गलद्रव्यमयाना सर्व-भावाना] पुद्गल द्रव्यमय सर्व भावो का [कर्ता न] कर्ता नही है।

---

१ सहावमादा (ज० वृ०)। २ पुग्गलदव्वमयाण (ज० वृ०)।

टीका—प्रथम तो आत्मा वास्तव में स्व (अपने) भाव को करता है क्योंकि वह (भाव) उस आत्मा का स्व धर्म है। आत्मा के उस रूप होने की (परिणमित होने की) शक्ति होने से वह (भाव) अवश्यमेव आत्मा का कार्य है (इस प्रकार) वह (आत्मा) उसे (स्वभाव को) स्वतन्त्रतया करता हुआ उसका कर्ता अवश्य है, और स्वभाव आत्मा के द्वारा किया जाता हुआ आत्मा के द्वारा प्राप्य होने से अवश्य ही आत्मा का कर्म है। इस प्रकार स्व परिणाम आत्मा का कर्म है। परन्तु, आत्मा पुद्‌गल के भावों को नहीं करता, क्योंकि वे पर के धर्म हैं। आत्मा के उस रूप (परिणत) होने की शक्ति न होने से, वे आत्मा के कार्य नहीं हैं। (इस प्रकार) वह (आत्मा) उन्हें न करता हुआ उनका कर्ता नहीं होता, और वे आत्मा के द्वारा न किये जाते हुये उसके कर्म नहीं हैं। इस प्रकार पुद्‌गल परिणाम आत्मा का कर्म नहीं है ॥१८४॥

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मनो निश्चयेन रागादिस्वपरिणाम एव कर्म न च द्रव्यकर्मेति प्ररूपयति—

कुव्वं सहावं कुर्वन्स्वभावम्, अत्र स्वभावशब्देन यद्यपि शुद्धनिश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावो भण्यते तथापि कर्मबन्धप्रस्तावे रागादिपरिणामोऽप्यशुद्धनिश्चयेन स्वभावो भण्यते। तं स्वभावं कुर्वन्। स कः ? **आदा** आत्मा **हवदि हि कत्ता** कर्त्ता भवति हि स्फुटम्। कस्य ? **सगस्स भावस्स** स्वकीयचिद्रूपस्वभावस्य रागादिपरिणामस्य तदेव तस्य रागादिपरिणामरूपं निश्चयेन भावकर्म भण्यते। कस्मात् ? तप्तायःपिण्डवत्तेनात्मना प्राप्यत्वाद्व्याप्यत्वादिति। **पुग्गलदव्वमयाणं ण दु कत्ता सव्वभावाणं** चिद्रूपात्मनो विलक्षणानां पुद्‌गलद्रव्यमयानां न तु कर्त्ता सर्वभावानां ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मपर्यायाणामिति। ततो ज्ञायते जीवस्य रागादिस्वपरिणाम एव कर्म तस्यैव स कर्त्तेति ॥१८४॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि आत्मा अपने ही परिणामो का कर्ता है, द्रव्यकर्मों का कर्ता नही है—अशुद्धनिश्चय से रागादि भावो का व शुद्धनिश्चय से शुद्ध वीतराग भाव का कर्ता है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(आदा) आत्मा (सहावं कुव्वं) अपने भाव को करता हुआ (सगस्स भावस्स) अपने भाव का (हि) ही (कत्ता हवदि) कर्त्ता होता है। (पुग्गल-दव्वमयाणं सव्वभावाणं) पुद्‌गल द्रव्य से बनी हुई सर्व अवस्थाओं का (ण दु कत्ता) तो कर्त्ता नहीं है। स्वभाव शब्द से यद्यपि शुद्ध निश्चयनय से शुद्धबुद्ध एक स्वभाव ही कहा जाता है तथापि यहां स्वभाव शब्द से कर्मबन्ध के प्रस्ताव मे अशुद्ध निश्चयनय से रागादि परिणाम को भी स्वभाव कहते हैं। यह आत्मा इस तरह अपने भाव को करता हुआ अपने ही चिद्रूप स्वभाव रूप रागादि परिणाम का ही प्रगटपने कर्ता है और वह रागादि परिणाम निश्चय से उसका भावकर्म कहा जाता है। जैसे गर्म लोहे मे उष्णता व्याप्त है वैसे आत्मा उन

रागादि भावों में व्याप्त हो जाता है। तथा चैतन्य रूप से विलक्षण पुद्गल द्रव्यमयी सर्व भावों का–ज्ञानावरणीय आदि कर्म की पर्यायों का तो यह आत्मा कभी भी कर्ता होता नहीं। इससे जाना जाता है कि रागादि अपना परिणाम ही कर्म है जिसका ही यह जीव कर्ता है ॥१८४॥

भावार्थ—**श्री नेमिचन्द्रसिद्धांतचक्रवर्ती ने भी द्रव्यसग्रह मे जीव का कर्तापना इस तरह बताया है—**

पुग्गलकम्मादीणं कत्ता ववहारदो दु णिच्चयदो। चेदणकम्माणादा सुद्धणया सुद्धभावाण ॥

यह आत्मा व्यवहार नय से ज्ञानावरणीय आदि पौद्गलिक कर्मों का कर्ता है परन्तु अशुद्ध निश्चय से रागादि भावों का कर्ता है और शुद्ध निश्चयनय से यह शुद्ध चेतन भावो का कर्ता है ॥१८४॥

अथ कथमात्मनः पुद्गल परिणामो न कर्म स्यादिति संदेहमपनुदति—

गेण्हदि णेव ण मुंचदि करेदि ण हि पोग्गलाणि[1] कम्माणि।
जीवो [2]पोग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु ॥१८५॥

गृह्णाति नैव न मुञ्चति करोति न हि पुद्गलानि कर्माणि।
जीव पुद्गलमध्ये वर्तमानोऽपि सर्वकालेषु ॥१८५॥

न खल्वात्मनः पुद्गलपरिणामः कर्म परद्रव्योपादानहानशून्यत्वात् यो हि यस्य परिणमयिता दृष्टः स न तदुपादानहानशून्यो दृष्टः, यथाग्निरयःपिण्डस्य। आत्मा तु तुल्य-क्षेत्रवर्तित्वेऽपि परद्रव्योपादानहानशून्य एव। ततो न स पुद्गलानां कर्मभावेन परिणम-यिता स्यात् ॥१८५॥

भूमिका—**अब, इस सन्देह को दूर करते हैं कि पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म क्यों नहीं है ? :—**

अन्वयार्थ—[जीव] जीव [सर्वकालेषु] सर्व कालो मे (सदा) [पुद्गलमध्ये वर्त-मान· अपि] पुद्गल के मध्य मे रहता हुआ भी [पुद्गलानि कर्माणि] पौद्गलिक कर्मों को [हि] वास्तव मे [गृह्णाति न एव] न तो ग्रहण करता है, [न मुंचति] न छोडता है और [न करोति] न करता है।

टीका—**वास्तव मे पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म नहीं है, क्योंकि वह परद्रव्य के ग्रहण त्याग से रहित है। जो जिसका परिणमन कराने वाला देखा जाता है वह उसके ग्रहण त्याग से रहित नहीं देखा जाता, जैसे—अग्नि लोहे के गोले के ग्रहण त्याग से रहित**

---

१ पुग्गलाणि (ज० वृ)। २ पुग्गलमज्झे (ज० वृ०)।

होती है। आत्मा तो तुल्य क्षेत्र मे वर्तता हुआ भी (परद्रव्य के साथ एक क्षेत्रावगाही होने पर भी) परद्रव्य के ग्रहण त्याग से रहित ही है इसलिये वह पुद्गलों को कर्मभावरूप परिणमित कराने वाला नहीं है ॥१८५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मन कथ द्रव्यकर्मरूपपरिणाम कर्म न स्यादिति प्रश्नसमाधान ददाति—

गेण्हदि णेव ण मु चदि करेदि ण हि पुग्गलाणि कम्माणि जीवो यथा निर्विकल्पसमाधिरतः परममुनि परभाव न गृह्णाति न मुञ्चति न च करोत्युपादानरूपेण लोहपिण्डो वाग्नि तथायमात्मा न च गृह्णाति न च मुञ्चति न च करोत्युपादानरूपेण पुद्गलकर्माणीति। किं कुर्वन्नपि ? **पुग्गलमज्झे वट्टण्णवि सव्वकालेसु** क्षीरनीरन्यायेन पुद्गलमध्ये वर्तमानोऽपि सर्वकालेषु। अनेन किमुक्त भवति—यथा सिद्धो भगवान् पुद्गलमध्ये वर्त्तमानोऽपि परद्रव्यग्रहणमोचनकरणरहितस्तथा शुद्धनिश्चयेन शक्तिरूपेण ससारी जीवोऽपीति भावार्थ ॥१८५॥

उत्थानिका—आगे इस प्रश्न के होने पर कि आत्मा के किस तरह द्रव्यकर्म का परिणमन रूपी कर्म नही होता है, आचार्य समाधान करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जीवो) यह जीव (पुग्गलमज्झे) पुद्गलों के मध्य में (सव्वकालेसु) सर्व कालो मे (वट्टण्णवि) रहता हुआ भी (पुग्गलाणि कम्माणि) पुद्गलमयी कर्मों को (णेव गेण्हदि) न तो ग्रहण करता है (ण मुंचदि) न छोड़ता है (ण हि करेदि) और न करता है। यह जीव सर्व कालो मे दूध पानी की तरह पुद्गल के बीच वर्तमान है तो भी जैसे निर्विकल्पसमाधि मे रत परममुनि परभाव को न ग्रहण करते, न छोड़ते, न करते अथवा जैसे लोहे का गोला उपादान रूप से अग्नि को ग्रहण करता, छोड़ता व करता नही है तैसे यह आत्मा उपादान रूप से पुद्गलमयी कर्मों को न तो ग्रहण करता है, न छोड़ता है न करता है। इससे यह कहा गया कि जैसे सिद्ध भगवान् पुद्गल के मध्य में रहते हुए भी परद्रव्य के ग्रहण, त्यजन व करने के व्यापार से रहित हैं तैसे ही शुद्ध निश्चयनय से स्वभाव की अपेक्षा ससारी जीव भी ग्रहण त्यागादि नहीं करते हैं ॥१८५॥**

अथात्मन कुतस्तर्हि पुद्गलकर्मभिरुपादानं हानं चेति निरूपयति—

स इदाणिं कत्ता सं सगपरिणामस्स दव्वजादस्स।
आदीयदे कदाई विमुच्चदे कम्मधूलीहिं ॥१८६॥

स इदानी कर्ता सन् स्वकपरिणामस्य द्रव्यजातस्य।
आदीयते कदाचिद्विमुच्यते कर्मधूलिभि ॥१८६॥

सोऽयमात्मा परद्रव्योपादानहानशून्योऽपि सांप्रतं संसारावस्थायां निमित्तमात्रीकृतपरद्रव्यपरिणामस्य स्वपरिणाममात्रस्य द्रव्यत्वभूतत्वात्केवलस्य कलयन् कर्तृत्वं तदेव

तस्य स्वपरिणामं निमित्तमात्रीकृत्योपात्तकर्मपरिणामाभिः पुद्‌गलधूलिभिर्विशिष्टावगाह-रूपेणोपादीयते कदाचिन्मुच्यते च ॥१८६॥

भूमिका—**तब फिर (यदि आत्मा पुद्‌गलों को कर्मरूप परिणमित नहीं करता) तो आत्मा किस प्रकार पुद्‌गलकर्मों के द्वारा ग्रहण किया जाता है और छोड़ा जाता है ? इसका निरुपण करते हैं:—**

अन्वयार्थ—[स] वह (आत्मा) [इदानी] अभी (ससारावस्था मे) [द्रव्यजातस्य] द्रव्य से (आत्मद्रव्य से) उत्पन्न होने वाले [स्वकपरिणामस्य] (अशुद्ध) स्वपरिणाम का [कर्ता सन्] कर्ता होता हुआ [कर्मधूलिभि] कर्मरज से [आदीयते] ग्रहण किया जाता है, और [कदाचित् विमुच्यते] कदाचित् छोडा जाता है ।

टीका—**वह यह आत्मा परद्रव्य के ग्रहण-त्याग से रहित होता हुआ भी, अभी संसारावस्था में, परद्रव्य परिणाम को निमित्तमात्र करते हुए, द्रव्यत्वभूत (द्रव्य रूप, द्रव्य से उत्पन्न) होने से केवल अपने परिणाममात्र के कर्तृत्व का अनुभव करता हुआ, उसके इसी स्वपरिणाम को निमित्तमात्र करके कर्मपरिणाम को प्राप्त होती हुई पुद्‌गलरज के द्वारा विशिष्ट अवगाह रूप से ग्रहण किया जाता है और कदाचित् छोड़ा जाता है ॥१८६॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ यद्ययमात्मा पुद्गलकर्म न करोति न च मुञ्चति तर्हि बन्ध कथ तर्हि मोक्षोऽपि कथमितिप्रश्ने प्रत्युत्तर ददाति—

स इदाणिं कत्ता स स इदानी कर्ता सन् स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा इदानी कोऽर्थ एव पूर्वोक्तनय-विभागेन कर्त्ता सन् । कस्य ? **सगपरिणामस्स** निर्विकारनित्यानन्दैकलक्षणपरमसुखामृतव्यक्तिरूपकार्य समयसारसाधकनिश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसारविलक्षणस्य मिथ्यात्वरागादिविभावरूपस्य स्वकीय-परिणामस्य । पुनरपि कि विशिष्टस्य ? **दव्वजादस्स** स्वकीयात्मद्रव्योपादानकारणजातस्य । **आदीयदे कदाई कम्मधूलीहिं** आदीयते बध्यते । काभि ? कर्मधूलिभि कर्तृभूताभि कदाचित्पूर्वोक्तविभाव-परिणामकाले । न केवलमादीयते **विमुच्चदे** विशेषेण मुच्यते त्यज्यते ताभि कर्मधूलिभि कदाचित्पूर्वोक्त-कारणसमयसारपरिणतिकाले । एतावता किमुक्त भवति–अशुद्धपरिणामेन बध्यते शुद्धपरिणामेन मुच्यते इति ॥१८६॥

उत्थानिका—आगे शिष्य ने प्रश्न किया कि जब यह आत्मा पौद्गलिककर्म को नही करता है, न छोडता है तब इसके बन्ध कैसे होना है तथा मोक्ष भी कैसे होता है ? इसके समाधान मे आचार्य उत्तर देते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(इदाणिं) अब इस संसार अवस्था मे अशुद्धनय से (स) वह आत्मा (दव्वजादस्स सगपरिणामस्स) अपने ही आत्मद्रव्य से उत्पन्न अपने ही**

परिणाम का (कत्ता सं) कर्त्ता होता हुआ (कदाई) कभी तो (कम्मधूलीहिं) कर्मरूपी धूल से (आदीयदे) बंध जाता है व कभी (विमुच्चदे) छूट जाता है। वह पूर्वोक्त संसारी आत्मा अब वर्तमान मे इस तरह पूर्वोक्त नय विभाग से अर्थात् अशुद्धनय से निर्विकार नित्यानन्दमयी एक लक्षणरूप परमसुखामृत की प्रगटतामयी कार्य समयसार को साधने वाले निश्चयरत्नत्रयमय कारण समयसार से विलक्षण मिथ्यात्व व रागादि विभावरूप अपने ही आत्मद्रव्यरूप उपादानकारण से उत्पन्न अपने परिणाम का कर्त्ता होता हुआ पूर्वोक्त विभाव परिणाम के समय मे कर्मरूपी धूल से बंध जाता है। और जब कभी पूर्वोक्त कारण समयसार की परिणति मे परिणमन करता है तब उन्हीं कर्म की रजों से विशेष करके छूटता है। इससे यह कहा गया कि यह जीव अशुद्ध परिणामों से बंधता है तथा शुद्ध परिणामों से मुक्त होता है ।।१८६।।

अथ किंकृतं पुद्गलकर्मणां वैचित्र्यमिति निरुपयति—

परिणमदि जदा अप्पा सुहम्हि असुहम्हि रागदोसजुदो।
तं पविसदि कम्मरयं णाणावरणादिभावेहिं।।१८७।।

परिणमति यदात्मा शुभेऽशुभे रागद्वेषयुत ।
त प्रविशति कर्मरजो ज्ञानावरणादिभावै ।।१८७।।

अस्ति खल्वात्मनः शुभाशुभपरिणामकाले स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यकर्मपुद्गलपरिणाम नवघनाम्बुनो भूमिसंयोगपरिणामकाले समुपात्तवैचित्र्यान्यपुद्गलपरिणामवत्। तथाहि—यदा नवघनाम्बुभूमिसंयोगेन परिणमति तदान्ये पुद्गला. स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यः शाद्वलशिलीन्ध्रशक्रगोपादिभावैः परिणमन्ते, तथा यदायमात्मा रागद्वेषवशीकृतः शुभाशुभभावेन परिणमति तदा अन्ये योगद्वारेण प्रविशन्त' कर्मपुद्गलाः स्वयमेव समुपात्तवैचित्र्यैर्ज्ञानावरणादिभावैः परिणमन्ते। अत स्वभावकृत कर्मणां वैचित्र्यं न पुनरात्मकृतम् ।।१८७।।

भूमिका—अब पुद्गल कर्मों की विचित्रता (ज्ञानावरण, दर्शनावरणादिरूप अनेकप्रकारता) है, इसका निरुपण करते हैं—

अन्वयार्थ—[यदा] जब [रागद्वेषयुत] रागद्वेषयुक्त [आत्मा] आत्मा [शुभे अशुभे] शुभ और अशुभ भावो मे [परिणमति] परिणमित होता है, तब [कर्मरज.] कर्मरज [ज्ञानावरणादिभावै.] ज्ञानावरणादिरूप से [त] उसमे [प्रविशति] प्रवेश करती है।

टीका—**जैसे नवमेघजल के भूमिसंयोगरूप परिणाम के समय अन्य पुद्गलपरिणाम स्वयमेव वैचित्र्य को प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार आत्मा के शुभाशुभ परिणाम के समय कर्मपुद्गलपरिणाम वास्तव में स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त होते हैं। वह इस प्रकार है कि—जैसे, जब नया मेघजल भूमिसंयोगरूप परिणमित होता है तब अन्य पुद्गल स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त हरियाली कुकुरमुत्ता (छत्ता), और इन्द्रगोप (चातुर्मास मे उत्पन्न लाल कीड़ा) आदि रूप परिणमित होता है, इसी प्रकार जब यह आत्मा राग द्वेष के वशीभूत होता हुआ शुभाशुभभावरूप परिणमित होता है तब अन्य योगद्वारों से प्रविष्ट होते हुये, कर्मपुद्गल स्वयमेव विचित्रता को प्राप्त ज्ञानावरणादि भावरूप परिणमित होते हैं।**

इससे (यह निश्चित हुआ कि) कर्मों की विचित्रता (विविधता) का होना पुद्गल-स्वभावकृत है, किन्तु आत्मकृत नहीं ॥१८७॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ यथा द्रव्यकर्माणि निश्चयेन स्वयमेवोत्पद्यन्ते तथा ज्ञानावरणादिविचित्रभेदरूपेणापि स्वयमेव परिणमन्तीति कथयति—

परिणमदि जदा अप्पा परिणमति यदात्मा समस्तशुभाशुभपरद्रव्यविषये परमोपेक्षालक्षण शुद्धोपयोगपरिणाम मुक्त्वा यदायमात्मा परिणमति। क्व ? **सुहम्हि असुहम्हि** शुभेऽशुभे वा परिणामे। कथभूत सन् ? **रागदोसजुदो** रागद्वेषयुक्त परिणत इत्यर्थ। **त पविसदि कम्मरय** तदाकाले तत्प्रसिद्ध कर्मरज प्रविशति। कै कृत्वा ? **णाणावरणादिभावेहि** भूमेर्मेघजलसयोगे सति यथाऽन्ये पुद्गला स्वयमेव हरितपल्लवादिभावै परिणमन्ति तथा स्वयमेव नानाभेदपरिणतैर्मूलोत्तरप्रकृतिरूपज्ञानावरणादिभावै पर्यायैरिति। ततो ज्ञायते यथा ज्ञानावरणादिकर्मणामुत्पत्ति स्वयकृता तथा मूलोत्तरप्रकृति-रूपवैचित्र्यमपि, न च जीवकृतमिति ॥१८७॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जैसे द्रव्यकर्म निश्चयनय से स्वय ही उत्पन्न होते है वैसे वे स्वय ही ज्ञानावरणादि विचित्र रूप से परिणमन करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदा) जब (रागदोसजुदो) रागद्वेष सहित (अप्पा) आत्मा (सुहम्मि असुहम्मि) शुभ या अशुभ भाव मे (परिणमदि) परिणमन करता है तब (कम्मरय) कर्मरूपी रज स्वयं (णाणावरणादिभावेहिं) ज्ञानावरणादि की पर्यायो से (पविसदि) जीव मे प्रवेश कर जाती है। जब यह रागद्वेष मे परिणमता हुआ आत्मा सर्व शुभ तथा अशुभ द्रव्य में परम उपेक्षा के लक्षण रूप शुद्धोपयोग परिणाम को छोडकर शुभ परिणाम मे या अशुभ परिणाम में परिणमन करता है उसी समय मे, जैसे भूमि के पुद्गल मेघ जल के सयोग को पाकर आप ही हरी घास आदि अवस्था मे परिणमन करते हैं, इसी तरह**

कर्म पुद्गल कर्मरूपी रज नानाभेद को धरने वाले ज्ञानावरणादि मूल तथा उत्तर प्रकृतियों की पर्यायों मे स्वयं परिणमन करती है। इससे जाना जाता है कि (उपादान की अपेक्षा) ज्ञानावरणादि कर्मों की उत्पत्ति उन्हीं के द्वारा होती है तथा उनमे मूल व उत्तर प्रकृतियों की विचित्रता भी उन्हीं कृत है, जीवकृत नहीं है।।१८७।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वोक्तज्ञानावरणादिप्रकृतीना जघन्योत्कृष्टानुभागस्वरूप प्रतिपादयति—

सुहपयडीण विसोही तिव्वो असुहाणसकिलेसम्मि ।
विवरीदो दु जहण्णो अणुभागो सव्वपयडीण ।।१८७-१।।

अणुभागो अनुभाग फलदानशक्तिविशेष भवतीति क्रियाध्याहार । कथभूतो भवति ? **तिव्वो** तीव्र प्रकृष्ट परमामृतसमान । कासा सम्बन्धी । **सुहपयडीण** सद्वेद्यादिशुभप्रकृतीनाम् । कया कारणभूतया ? **विसोही** तीव्रधर्मानुरागरूपविशुद्धचा **असुहाण सकिलेसम्मि** असद्वेद्याद्यशुभप्रकृतीना तु मिथ्यात्वादिरूपतीव्रसक्लेशे सति तीव्रो हालाहलविषसदृशो भवति । **विवरीदो दु जहण्णो** विपरीतस्तु जघन्यो गुडनिम्बरूपो भवति । जघन्यविशुद्धचा जघन्यसक्लेशेन च मध्यमविशुद्धचा मध्यमसक्लेशेन तु शुभाशुभप्रकृतीना खण्डशर्करारूप काञ्जीरविषरूपश्चेति । एवविधो जघन्यमध्यमोत्कृष्टरूपोऽनुभाग. कासा सम्बन्धी भवति ? **सव्वपयडीण** मूलोत्तरप्रकृतिरहितनिजपरमानन्दैकस्वभावलक्षणसर्वप्रकारोपादेयभूतपरमात्मद्रव्याद्भिन्नाना हेयभूताना सर्वमूलोत्तरकर्मप्रकृतीनामिति कर्मशक्तिस्वरूप ज्ञातव्यम् ।।१८७-१।।

उत्थानिका—आगे पूर्व मे कही हुई ज्ञानावरणादि प्रकृतियो का जघन्य उत्कृष्ट अनुभाग का स्वरूप बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(सुहपयडीणं) **शुभ प्रकृतियों का (अणुभागो) अनुभाग (विसोही) विशुद्धभाव से (असुहाण) अशुभप्रकृतियों का (संकिलेसम्मि) संक्लेशभाव से (तिव्वो) तीव्र होता है, (विवरीदो दु) परन्तु इसके विपरीत होने पर (सव्वपयडीणं) सर्व प्रकृतियों का (जहण्णो) जघन्य होता है। फल देने की शक्ति विशेष को अनुभाग कहते हैं। तीव्र धर्मानुरागरूप विशुद्धभाव से सातावेदनीय आदि शुभकर्म प्रकृतियों का अनुभाग परम अमृत के समान उत्कृष्ट पड़ता है तथा मिथ्यात्व आदि रूप संक्लेशभाव से असातावेदनीय आदि अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग हालाहल विष के समान तीव्र पड़ता है। तथा जघन्य विशुद्धि से व मध्यम विशुद्धि से शुभप्रकृतियों का अनुभाग जघन्य या मध्यम पड़ता है अर्थात् गुड, खांड, शर्करारूप पड़ता है। वैसे ही जघन्य या मध्यम संक्लेश से अशुभ प्रकृतियों का अनुभाग नीम, कांजीर विषरूप जघन्य या मध्यम पड़ता है। इस तरह मूल**

उत्तर प्रकृतियों से रहित निज परमानन्दमयी एक स्वभावरूप तथा सर्व प्रकार उपादेयभूत परमात्मा द्रव्य से भिन्न और त्यागने योग्य सर्व मूल और उत्तर प्रकृतियो से जघन्य मध्यम उत्कृष्ट अनुभाग को अर्थात् कर्म को शक्ति के विशेष को जानना चाहिये ॥१८७।१॥

अथैक एव आत्मा बन्ध इति विभावयति—

सपदेसो सो अप्पा कसायिदो मोहरागदोसेहिं ।
[1]कम्मरजेहिं सिलिट्ठो बंधो त्ति परूविदो समये ॥१८८॥

सप्रदेश स आत्मा कषायितो मोहरागद्वेषै ।
कर्मरजोभि श्लिष्टो बन्ध इति प्ररूपित समये ॥१८८॥

यथात्र सप्रदेशत्वे सति लोध्रादिभिः कषायितत्वात् मञ्जीष्ठरङ्गादिभिरुपश्लिष्टमेकं रक्तं दृष्टं वासः, तथात्मापि सप्रदेशत्वे सति काले मोहरागद्वेषैः कषायितत्वात् कर्मरजोभिरुपश्लिष्ट एको बन्धो द्रष्टव्यः शुद्धद्रव्यविषयत्वान्निश्चयस्य ॥१८८॥

भूमिका—अब, यह समझाते हैं कि अकेला आत्मा ही बन्ध है—

अन्वयार्थ—[सप्रदेश] प्रदेशयुक्त [स. आत्मा] वह आत्मा] [समये] यथाकाल [मोहरागद्वेषै.] मोह-राग-द्वेष के द्वारा [कषायित:] कषायित होने से [कर्मरजोभि श्लिष्ट:] कर्मरज से लिप्त या बद्ध होता हुआ [बध इति प्ररूपित] 'बध' कहा गया है ।

टीका—जैसे जगत् में सप्रदेशत्व होते हुये वस्त्र लोध-फिटकरी आदि से कषायित (कसैला) होने से मंजीठादि के रंग से संबद्ध होता हुआ अकेला ही रंगा हुआ देखा जाता है, इसी प्रकार सप्रदेशत्व होते हुये आत्मा भी यथाकाल मोह राग द्वेष के द्वारा कषायित (मलिन-रंगा हुआ) होने से कर्मरज के द्वारा श्लिष्ट होता हुआ अकेला ही बन्ध है, ऐसा देखना (मानना) चाहिये, क्योंकि निश्चय का विषय शुद्ध द्रव्य है ॥१८८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथाभेदनयेन बन्धकारणभूतरागादिपरिणतात्मैव बन्धो भण्यते इत्यावेदयति,—

सपदेसो लोकाकाशप्रमितासख्येयप्रदेशत्वात्सप्रदेशस्तावद्भवति **सो अप्पा** स पूर्वोक्तलक्षण आत्मा। पुनरपि किं विशिष्ट ? **कसायिदो** कषायित· परिणतो रञ्जित । कै ? **मोहरागदोसेहिं** निर्मोहस्वशुद्धात्मतत्त्वभावनाप्रतिबन्धिभिर्मोहरागद्वेषै । पुनश्च किंरूप ? **कम्मरएहिं सिलिट्ठो** कर्मरजोभि श्लिष्ट कर्मवर्गणायोग्यपुद्गलरजोभि सश्लिष्टो बद्ध । **बधोत्ति परूविदो** अभेदेनात्मैव बन्ध इति प्ररूपित । क्व ? **समये** परमागमे । अत्रेद भणित भवति—यथा वस्त्र लोध्रादिद्रव्यै कषायित रञ्जित सन्मञ्जीष्ठादिरङ्गद्रव्येण रञ्जित सदभेदेन रक्तमित्युच्यते तथा वस्त्रस्थानीय आत्मा

---

१ कम्मरएहिं (ज० वृ०) ।

लोध्रादिद्रव्यस्थानीयमोहरागद्वेषै कषायितो रञ्जित परिणतो मञ्जीष्ठस्थानीयकर्मपुद्गलै सश्लिष्ट सम्बद्ध सन् भेदेऽप्यभेदोपचारलक्षणेनासद्भूतव्यवहारेण बन्ध इत्यभिधीयते। कस्मात् ? अशुद्धद्रव्य-निरूपणार्थविषयत्वादसद्भूतव्यवहारनयस्येति ॥१८८॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि अभेदनय से बध के कारणभूत रागादिभावो में परिणमन करने वाला आत्मा ही बध के नाम से कहा जाता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(सपदेसो सो अप्पा) प्रदेशवान वह आत्मा (मोह राग-दोसेहिं कसायिदो) मोह राग द्वेषो से कषायला होता हुआ (कम्मरएहिं) कर्मरूपी धूल से (सिलिट्ठो) लिपटा हुआ (बंधोत्ति) बधरूप है, ऐसा (समये परूविदो) आगम में कहा है। लोकाकाश प्रमाण असख्यात प्रदेशों को अखड रूप से रखने वाला यह आत्मा मोह भाव रहित अपने शुद्ध आत्मतत्व की भावना को रोकने वाले मोह राग द्वेष भावों से रंगा हुआ और कर्मवर्गणा योग्य पुद्गल रूपी धूल से बधा हुआ, अभेदनय से आगम में बंधरूप कहा गया है। यहाँ यह अभिप्राय है कि जैसे वस्त्र लोध, फिटकरी आदि द्रव्यों से कषा-यला होकर मंजीठ आदि रंग से रंगा हुआ अभेदनय से लाल वस्त्र कहलाता है वैसे वस्त्र के स्थान मे यह आत्मा लोधादि द्रव्य के स्थान में मोह राग द्वेषों से परिणमन करके मजीठ के स्थान मे कर्मपुद्गलों से बंधा हुआ वास्तव मे कर्म से भिन्न है तो भी अभेदो-पचार लक्षण असद्भूत व्यवहार से बंधरूप कहा जाता है, क्योकि असद्भूत व्यवहारनय का विषय अशुद्ध द्रव्य है।**

अथ निश्चयव्यवहाराविरोधं दर्शयति——

एसो बंधसमासो जीवाणं णिच्छयेण णिद्दिट्ठो।
अरहंतेहिं जदीणं ववहारो अण्णहा भणिदो ॥१८९॥

एष बन्धसमासो जीवाना निश्चयेन निर्दिष्ट ।
अर्हद्भिर्यतीना व्यवहारोऽन्यथा भणित ॥१८९॥

रागपरिणाम एवात्मन कर्म, स एव पुण्यपापद्वैतम्। रागपरिणामस्यैवात्मा कर्ता तस्यैवोपादाता हाता चेत्येष शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको निश्चयनयः यस्तु पुद्गलपरिणाम आत्मनः कर्म स एव पुण्यपापद्वैतं पुद्गलपरिणामस्यात्मा कर्ता तस्योपादाता हाता चेति सोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको व्यवहारनयः। उभावप्येतौ स्तः, शुद्धाशुद्धत्वेनोभयथा द्रव्यस्य प्रतीयमानत्वात्। किन्त्वत्र निश्चयनयः साधकतमत्वादुपात्तः, साध्यस्य हि शुद्धत्वेन द्रव्यस्य शुद्धत्वद्योतकत्वान्निश्चयनय एव साधकतमो न पुनरशुद्धत्वद्योतको व्यवहारनयः ॥१८९॥

भूमिका–**अब निश्चय और व्यवहार का अविरोध बतलाते है––**

अन्वयार्थ—[एष] यह (पूर्वोक्त प्रकार से), [जीवाना] जीवो के [बधसमासः] बध का सक्षेप कथन [निश्चयेन] निश्चय से [अर्हद्भि] अर्हन्त भगवान ने [यतीना] यतियो को [निर्दिष्टः] कहा है, [अन्यथा] अन्य प्रकार से (जो कथन है, वह) [व्यवहारः] व्यवहार है, (ऐसा जिनेन्द्र ने) [भणित] कहा है ।

टीका—**रागपरिणाम ही आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पाप रूप द्वैत है, आत्मा रागपरिणाम का ही कर्ता है, उसी का ग्रहण करने वाला है और उसी का त्याग करने वाला है–यह, शुद्ध द्रव्य के निरुपण स्वरूप निश्चयनय है । पुद्गल परिणाम आत्मा का कर्म है, वही पुण्य-पाप रूप द्वैत है, आत्मा पुद्गल परिणाम का कर्ता है, उसका ग्रहण करने वाला और छोड़ने वाला है, जो (यह कथन है) वह अशुद्ध द्रव्य के निरुपण स्वरूप व्यवहारनय है । यह दोनों ही (नय) है, क्योकि शुद्धतया और अशुद्धतया दोनों प्रकार से द्रव्य की प्रतीति की जाती है किन्तु यहाँ निश्चयनय साधकतम (उत्कृष्टसाधक) होने से ग्रहण किया गया है, (क्योकि) साध्य के शुद्ध होने से द्रव्य के शुद्धत्व का द्योतक (प्रकाशक) होने से निश्चयनय ही साधकतम है, किन्तु अशुद्धत्व का द्योतक व्यवहारनय (साधकतम) नहीं है ।।१८६।।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ निश्चय व्यवहारयोरविरोध दर्शयति—

एसो बधसमासो एष बन्धसमास एष बहुधा पूर्वोक्तप्रकारो रागादिपरिणतिरूपो बन्धसक्षेप केषा सम्बन्धी ? **जीवाण** जीवानाम् ? **णिच्छयेण णिद्दिठ्ठो** निश्चयेन निर्दिष्ट कथित ? कै कर्तृभूतै ? **अरहतेहिं** अर्हद्भि निर्दोषपरमात्मभि केषाम् ? **जद ण** जितेन्द्रियत्वेन शुद्धात्मस्वरूपे यत्नपराणा गणधरदेवादियतीनाम् । **ववहारो** द्रव्यकर्मरूपव्यवहारबन्ध **अण्णहा भणिदो** निश्चयनयापेक्षयान्यथा व्यवहारनयेनेति भणित । किच रागादीनेवात्मा करोति तानेव भुक्ते चेति निश्चयनयलक्षणमिदम् । अय तु निश्चयनयो द्रव्यकर्म्मबन्धप्रतिपादकासद्भूतव्यवहारनयापेक्षया शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मको विवक्षितनिश्चयनयस्तथैवाशुद्धनिश्चयश्च भण्यते । द्रव्यकर्माण्यात्मा करोति भुक्ते चेत्यशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकासद्भूतव्यवहारनयो भण्यते । इद नयद्वय तावदस्ति । किन्त्वत्र निश्चयनय उपादेय न चासद्भूतव्यवहार ।

ननु रागादीनात्मा करोति भुक्ते चेत्येव लक्षणो निश्चयनयो व्याख्यात स कथमुपादेयो भवति ? परिहारमाह–रागादीनेवात्मा करोति न च द्रव्यकर्मरागादय एव बन्धकारणमिति यदा जानाति जीवस्तदा रागद्वेषादिविकल्पजालत्यागेन रागादिविनाशार्थं निजशुद्धात्मान भावयति । ततश्च रागादिविनाशो भवति । रागादिविनाशे चात्मा शुद्धो भवति । तत परपरया शुद्धात्मसाधकत्वादयमशुद्धनयोऽप्युपचारेण शुद्धनयो भण्यते निश्चयनयो न भण्यते तथैवोपादेयो भण्यते इत्यभिप्राय ।।१८६।।

एवमात्मा स्वपरिणामानामेव कर्त्ता न च द्रव्यकर्मणामिति कथनमुख्यतया गाथासप्तकेन षष्ठस्थल गतम् । इति **'अरसमरूव'** इत्यादिगाथासूत्रेण पूर्वं शुद्धात्मव्याख्याने कृते सति शिष्येण यदुक्तममूर्त्तस्यात्मनो मूर्त्तकर्मणा सह कथ बन्धो भवतीति तत्परिहारार्थं नयविभागेन बन्धसमर्थन-मुख्यतयैकोनविंशतिगाथाभि स्थलषट्केन तृतीयविशेषान्तराधिकार समाप्त ।

अत पर द्वादश गाथापर्यन्त चतुर्भि स्थलै शुद्धात्मानुभूतिलक्षणविशेषभेदभावनारूपचूलिका-व्याख्यान करोति। तत्र शुद्धात्मनो भावना प्रधानत्वेन **'ण चयदि जो दु ममत्ति'** इत्यादिपाठक्रमेण प्रथमस्थले गाथा-चतुष्टयम् । तदनन्तर शुद्धात्मोपलम्भभावनाफलेन दर्शनमोहग्रन्थिविनाशस्तथैव चारित्रमोहग्रन्थिविनाश क्रमेण तदुभयविनाशो भवतीति कथनमुख्यत्वेन **'जो एव जाणित्ता'** इत्यादि द्वितीयस्थले गाथात्रयम् । तत पर केवलिध्यानोपचारकथनरूपेण **'णिहदघणघाइकम्मो'** इत्यादि तृतीयस्थले गाथाद्वयम् । तदनन्तर दर्शनाधिकारोपसहारप्रधानत्वेन **'एव जिणा जिणिंदा'** इत्यादि चतुर्थस्थले गाथाद्वयम् । तत पर **'दंसणससुद्धाणं'** इत्यादि नमस्कारगाथा चेति द्वादशगाथाभिश्-चतुर्थस्थले विशेषान्तराधिकारे समुदायपातनिका ।

उत्थानिका—आगे निश्चय और व्यवहार का अविरोध दिखाते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अरहंतेहिं) अरहंतों के द्वारा (जदीण) यतियों को (जीवाण) जीवों का (एसो बन्धसमासो) यह पूर्वोक्त प्रकार रागादि परिणतिरूप बन्ध का संक्षेप (णिच्छयेण णिद्दिट्ठो) निश्चयनय से कहा गया है। (ववहारो) व्यवहारनय से (अण्णहा) इससे अन्य जीव पुद्गल का बन्ध (भणिदो) कहा गया है। निर्दोष परमात्मा अरहंत हैं, उन्होंने जितेन्द्रिय तथा आत्मस्वरूप मे यत्न करने वाले गणधरदेव आदि यतियो को निश्चयनय से जीवों के रागादि परिणाम को ही संक्षेप मे बन्ध कहा है। व्यवहारनय से द्रव्य कर्म के बंध को बंध कहा है जो निश्चयनय की अपेक्षा अन्यथा है। यहाँ पर निश्चयनय का यही मत है कि यह आत्मा रागादिभावों का ही कर्ता और उन्हीं का भोक्ता है। द्रव्यकर्म-बंध को कहने वाले असद्भूत व्यवहारनय की अपेक्षा निश्चयनय के दो भेद है। जो शुद्ध द्रव्य का निरूपण करे वह शुद्ध निश्चयनय है तथा जो अशुद्ध द्रव्य का निरूपण करे वह अशुद्ध निश्चयनय है। आत्मा द्रव्यकर्मों को करता है तथा भोगता है यह अशुद्ध द्रव्य को कहने व ला असद्भूत व्यवहारनय कहा जाता है। इस तरह दोनो नयों से बध का स्वरूप है। यहां निश्चयनय उपादेय है और असद्भूत व्यवहार हेय है।**

प्रश्न—**आपने निश्चयनय से कहा है कि यह आत्मा रागादि भावों का कर्ता व भोक्ता है सो यह किस तरह उपादेय हो सकता है ?**

समाधान—**जीव इस बात को जानेगा कि रागादि भावों को ही आत्मा करता है द्रव्यकर्मों को नहीं करता है तथा ये रागादिभाव ही बंध के कारण हैं, तब यह रागादि**

विकल्पजाल को त्याग कर रागादि के विनाश के लिये अपने शुद्ध आत्मा की भावना करेगा। इस भावना से ही रागादि भावों का नाश होगा, रागादि के विनाश होने पर आत्मा शुद्ध होगा। इसलिये परम्परा से शुद्धात्मा का साधक होने से इस अशुद्धनय को भी उपचार से शुद्धनय कहते हैं, यह वास्तव मे निश्चयनय नहीं कहा गया है तैसे ही उपचार से इस अशुद्धनय को उपादेय कहा है, यह अभिप्राय है ॥१८९॥

इस तरह आत्मा अपने परिणामो का ही कर्ता है, द्रव्य कर्मों का कर्ता नही है इस कथन की मुख्यता से सात गाथाओ मे छठा स्थल पूर्ण हुआ। इस तरह **"अरसमरूव"** इत्यादि तीन गाथाओ से पूर्व मे शुद्धात्मा का व्याख्यान करके शिष्य के प्रश्न के होने पर कि 'अमूर्त आत्मा का मूर्तिक कर्म के साथ किस तरह बध हो सकता है,' इसके समाधान को करते हुए नय बिभाग से बध समर्थन की मुख्यता से उन्नीस गाथाओ के द्वारा छः स्थलो से तीसरा विशेष अन्तर अधिकार समाप्त हुआ।

इसके आगे बारह गाथा तक चार स्थलो से शुद्धात्मानुभूति लक्षण विशेष भेद भावना रूप चूलिका का व्याख्यान करते हैं। वहा शुद्धात्मा की भावना की प्रधानता करके "ण चयदि जो दु ममत्ति" इत्यादि पाठक्रम से पहले स्थल मे गाथाए चार है। फिर शुद्धात्मा की प्राप्ति की भावना के फल से दर्शनमोह की गाठ नष्ट हो जाती है तैसे ही चारित्रमोह की गाठ नष्ट होती है व क्रम से दोनो का नाश होता है, ऐसे कथन को मुख्यता से "जो एव जाणित्ता" इत्यादि दूसरे स्थल मे गाथाए तीन है फिर केवली के ध्यान का उपचार है ऐसा कहते हुए "णिहदघणघाइकम्मो" इत्यादि तीसरे स्थल में गाथाए दो हैं। फिर दर्शनाधिकार के सकोच की प्रधानता से "एव जिणा जिणिंदा" इत्यादि चौथे स्थल में गाथा दो हैं। पश्चात् "दसणसमुद्धाण" इत्यादि नमस्कार गाथा है। इस तरह बारह गाथाओ से चार स्थलो मे विशेष अन्तराधिकार मे समुदायपातनिका है।

अथाशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एवेत्यावेदयति—

ण चयदि जो दु ममत्ति अहं ममेदं ति देहदविणेसु।
सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्गं ॥१९०॥

न त्यजति यस्तु ममतामह ममेदमिति देहद्रविणेषु।
स श्रामण्य त्यक्त्वा प्रतिपन्नो भवत्युन्मार्गम् ॥१९०॥

यो हि नाम शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयनिरपेक्षोऽशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्य-वहारनयोपजनितमोहः सन् अहमिदं ममेदमित्यात्मात्मीयत्वेन देहद्रविणादौ परद्रव्ये ममत्वं

न जहाति स खलु शुद्धात्मपरिणतिरूपं श्रामण्याख्यं मार्गं दूरादपहायाशुद्धात्मपरिणतिरूप-मुन्मार्गमेव प्रतिपद्यते । अतोऽवधार्यते अशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव ॥१९०॥

भूमिका—**अब, यह कहते हैं कि अशुद्धनय से अशुद्ध आत्मा की ही प्राप्ति होती है—**

अन्वयार्थ—[य तु] जो [देहद्रविणेषु] देह-धनादिक मे [अह मम इदम्] 'मैं यह हू और यह मेरा है' [इति ममता] ऐसी ममता को [न त्यजति] नही छोड़ता, [सः] वह [श्रामण्य त्यक्त्वा] श्रमणता को छोडकर [उन्मार्गं प्रतिपन्नः भवति] उन्मार्ग को प्राप्त होता है ।

टीका—**जो आत्मा, शुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप निश्चयनय से निरपेक्ष अशुद्धद्रव्य के निरूपण स्वरूप व्यवहारनय से उत्पन्न हुआ है, ऐसा वर्तता हुआ, 'मै यह हूँ और यह मेरा है' इस प्रकार आत्मीयता से देह धनादिक परद्रव्य में ममत्व नहीं छोड़ता, वह आत्मा वास्तव मे शुद्धात्मपरिणतिरूप श्रामण्य नामक मार्ग को दूर से छोड़कर अशुद्धात्म-परिणति-रूप उन्मार्ग को ही प्राप्त होता है । इससे निश्चित होता है कि अशुद्धनय से अशुद्धात्मा की ही प्राप्ति होती है ॥१९०॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथाशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव भवतीत्युपदिशति—

ण चयदि जो दु ममत्ति न त्यजति यस्तु ममता ममकाराहकारादिसमस्तविभावरहितसकल-विमलकेवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वरूपनिजात्मपदार्थनिश्चलानुभूतिलक्षणनिश्चयनयरहितत्वेन व्यवहार-मोहितहृदय सन् ममता ममत्वभाव न त्यजति य । केन रूपेण ? **अह ममेदत्ति** अह ममेदमिति । केषु विषयेषु ? **देहदविणेसु** देहद्रव्येषु देहे देहोऽहमिति परद्रव्येषु ममेदमिति **सो सामण्णं चत्ता पडिवण्णो होदि उम्मग्ग** स श्रामण्यं त्यक्त्वा प्रतिपन्नो भवत्युन्मार्गं स पुरुषो जीवितमरणलाभालाभसुखदु खशत्रु-मित्रनिन्दाप्रशसादिपरममाध्यस्थ्यलक्षण श्रामण्य यतित्व चारित्र दूरादपहाय तत्प्रतिपक्षभूतमुन्मार्गं मिथ्यामार्गं प्रतिपन्नो भवति । उन्मार्गाच्च ससार परिभ्रमति । तत स्थित अशुद्धनयादशुद्धात्मलाभ एव ॥१९०॥

उत्थानिका—आगे अशुद्धनय से अशुद्ध आत्मा का लाभ ही होता है, ऐसा उपदेश करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो दु) जो कोई (देहदविणेसु) शरीर तथा धनादि में (अहं ममेदंत्ति) 'मैं उन रूप हूँ' व वे मेरे हैं ऐसे (ममत्ति) ममत्व को (ण चयदि) नहीं छोड़ता है । (सो) वह (सामण्णं) मुनिपना (चत्ता) छोड़कर (उम्मग्गं पडिवण्णो होइ) उन्मार्ग को प्राप्त हो जाता है । जो कोई ममकार अहंकार आदि सर्व विभावों से रहित सर्व प्रकार**

निर्मल केवलज्ञानादि अनन्तगुणस्वरूप निज आत्मपदार्थ की निश्चल अनुभूतिरूप निश्चय-नय के विषय से रहित होता हुआ व्यवहार के विषय में मोहितचित्त होकर शरीर तथा परद्रव्यों में "मैं शरीररूप हूँ तथा यह धन आदि परद्रव्य मेरा है" ऐसे ममत्वभाव को नहीं छोड़ता है वह पुरुष जीवन-मरण, लाभ-अलाभ, सुख-दु ख, शत्रु-मित्र, निन्दा-प्रशंसा आदि मे परम समताभावरूप यतिपने के चारित्र को दूर से ही छोड़कर उस चारित्र से उल्टे मिथ्यामार्ग में लग जाता है। मिथ्याचारित्र से संसार मे भ्रमण करता है। इससे सिद्ध हुआ कि अशुद्धनय के विषय मे मोहित होने से अशुद्धात्मा का लाभ होता है ॥१६०॥

अथ शुद्धनयात् शुद्धात्मलाभ एवेत्यवधारयति—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे संति णाणमहमेक्को ।
इदि जो झायदि झाणे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥१६१॥

नाह भवामि परेषा न मे परे सन्ति ज्ञानमहमेक ।
इति यो ध्यायति ध्याने स आत्मा भवति ध्याता ॥१६१॥

यो हि नाम स्वविषयमात्रप्रवृत्ताशुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकव्यवहारनयाविरोधमध्यस्थः शुद्धद्रव्यनिरूपणात्मकनिश्चयनयापहस्तितमोहः सन् नाहं परेषामस्मि न परे मे सन्तीति स्वपरयोः परस्परस्वस्वामिसम्बन्धमुद्धूय शुद्धज्ञानमेवैकमहमित्यनात्मानमुत्सृज्यात्मानमेवा-त्मत्वेनोपादाय परद्रव्यव्यावृत्तत्वादात्मन्येवैकस्मिन्नग्रे चिन्ता निरुणद्धि स खल्वेकाग्रचिन्ता-निरोधकस्तस्मिन्नेकाग्रचिन्तानिरोधसमये शुद्धात्मा स्यात् । अतोऽवधार्यते शुद्धनयादेव शुद्धात्मलाभः ॥१६१॥

भूमिका—अब, यह निश्चित करते हैं कि शुद्धनय से शुद्धात्मा की ही प्राप्ति होती है—

अन्वयार्थ—[अह परेषा न भवामि] 'मै परका नही हू, [परे मे न सन्ति] पर मेरे नही है, [ज्ञानम् अहम् एकः] मैं एक ज्ञान स्वरूप हूँ,' [इति य ध्यायति] इस प्रकार जो ध्यान करता है, [स आत्मा] वह आत्मा [ध्याने] (ध्यान के काल मे) [ध्याता भवति] ध्याता होता है।

टीका—जो आत्मा, मात्र अपने विषय में प्रवर्तमान अशुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप व्यवहारनय से अविरोधरूप मध्यस्थ होता हुआ तथा शुद्धद्रव्य के निरूपणस्वरूप निश्चयनय के द्वारा जिसने मोह को दूर किया है, ऐसा होता हुआ, 'मै परका नहीं हूँ, पर मेरे नहीं हैं' इस प्रकार स्व-पर के परस्पर स्वस्वामिसबंध को छोडकर, 'शुद्धज्ञान ही एक मै हूँ' इस

प्रकार अनात्म को छोड़कर, आत्मा को ही आत्म रूप से ग्रहण करके, परद्रव्य से भिन्नत्व के कारण आत्मारूप ही एक अग्र मे (ध्येय मे) चिन्ता को रोकता है, वह एकाग्रचिन्ता-निरोधक (एक विषय मे विचार को रोकने वाला आत्मा) उस एकाग्रचिन्तानिरोध के काल में वास्तव मे शुद्धात्मा होता है। इससे निश्चित होता है कि शुद्धनय से ही शुद्धात्मा की प्राप्ति होती है ॥१६१॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभो भवतीति निश्चिनोति—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे सति नाहं भवामि परेषाम्। न मे परे सन्तीति समस्तचेतनाचेतनपरद्रव्येषु स्वस्वामिसम्बन्धं मनोवचनकायैः कृतकारितानुमतैश्च स्वात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयनय-बलेन पूर्वमपहाय निराकृत्य। पश्चात् किंकरोति ? **णाणमहमेक्को** ज्ञानमहमेकं सकलविमलकेवल-ज्ञानमेवाहं भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मरहितत्वेनैकश्च। **इदि जो झायदि** इत्यनेन प्रकारेण योऽसौ ध्यायति चिन्तयति भावयति। क्व ? **झाणे** निजशुद्धात्मध्याने स्थितः **सो अप्पाणं हवदि झादा** स आत्मानं भवति ध्याता। स चिदानन्दैकस्वभावपरमात्मानं ध्याता भवतीति। ततश्च परमात्मध्यानात्तादृशमेव परमात्मानं लभते। तदपि कस्मात् ? उपादानकारणसदृशं कार्यमिति वचनात्। ततो ज्ञायते शुद्ध-नयाच्छुद्धात्मलाभ इति ॥१६१॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि शुद्ध नय से शुद्धात्मा का लाभ होता है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अहं परेसिं न होमि) मै दूसरों का नहीं हूं (परे मे ण सन्ति) दूसरे पदार्थ मेरे नहीं हैं (अहं एक्को णाणं) मैं अकेला ज्ञानमयी हूं (इदि) ऐसा (जो झाणे झायदि) जो ध्यान मे ध्याता है (सो अप्पाणं झादा हवदि) वह आत्मा को ध्याने वाला होता है। सर्व ही चेतन अचेतन परद्रव्यों में अपने स्वामीपने के सम्बन्ध को मन वचन काय व कृत कारित अनुमोदना से अपने स्वात्मानुभव लक्षण निश्चयनय के बल के द्वारा पहले ही दूर करके मै सर्व प्रकार निर्मल केवल ज्ञानमयी हू तथा सब भावकर्म, द्रव्यकर्म, नोकर्म से रहित एक हूं इस तरह जो कोई निज शुद्ध आत्मा के ध्यान में तिष्ठकर चिन्तवन करता है वह चिदानंदमयी एक स्वभावरूप परमात्मा का ध्याने वाला होता है। इस तरह के परमात्म ध्यान से वह ज्ञानी वैसी ही परमात्मा अवस्था को पाता है, क्योंकि यह नियम है कि जैसा उपादानकारण होता है वैसा कार्य होता है। इसलिये यह बात जानी जाती है कि शुद्ध निश्चयनय के विषय का ध्यान करने से शुद्ध आत्मा का लाभ होता है ॥१६१॥**

अथ ध्रुवत्वात् शुद्ध आत्मैवोपलम्भनीय इत्युपदिशति—

एवं णाणप्पाणं दंसणभूदं [1]अदिंदियमहत्थं ।
धुवमचलमणालंबं मण्णेऽहं अप्पगं सुद्धं ॥१६२॥

एव ज्ञानात्मान दर्शनभूतमतीन्द्रियमहार्थम् ।
ध्रुवमचलमनालम्ब मन्येऽहमात्मक शुद्धम् ॥१६२॥

आत्मनो हि शुद्ध आत्मैव सदहेतुकत्वेनानाद्यनन्तत्वात् स्वत सिद्धत्वाच्च ध्रुवो न किंचनाप्यन्यत् । शुद्धत्वं चात्मनः परद्रव्यविभागेन स्वधर्माविभागेन चैकत्वात् । तच्च ज्ञानात्मकत्वाद्दर्शनभूतत्वादतीन्द्रियमहार्थत्वादचलत्वादनालम्बत्वाच्च । तत्र ज्ञानमेवात्मनि बिभ्रतः स्वयं दर्शनभूतस्य चातन्मयपरद्रव्यविभागेन स्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । तथा प्रतिनियतस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहीण्यनेकानीन्द्रियाण्यतिक्रम्य सर्वस्पर्शरसगन्धवर्णगुणशब्दपर्यायग्राहकस्यैकस्य सतो महतोऽर्थस्येन्द्रियात्मकपरद्रव्यविभागेन स्पर्शादिग्रहणात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । तथा क्षणक्षयप्रवृत्तपरिच्छेद्यपर्यायग्रहणमोक्षणाभावेनाचलस्य परिच्छेद्यपर्यायात्मकपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । तथा नित्यप्रवृत्तपरिच्छेद्यद्रव्यालम्बनाभावेनानालम्बस्य परिच्छेद्यपरद्रव्यविभागेन तत्प्रत्ययपरिच्छेदात्मकस्वधर्माविभागेन चास्त्येकत्वम् । एवं शुद्ध आत्मा चिन्मात्रशुद्धनयस्य तावन्मात्रनिरुपणात्मकत्वात् अयमेक एव च ध्रुवत्वादुपलब्धव्यः किमन्यैरध्वनीनाङ्गसंगच्छमानानेकमार्गपादपच्छायास्थानीयै रध्रुवैः ॥१६२॥

भूमिका—**अब यह उपदेश देते है कि ध्रुवत्व के कारण शुद्धात्मा ही उपलब्ध करने योग्य है—**

अन्वयार्थ—[अहम्] मैं [आत्मक] आत्मा को [एव] इस प्रकार [ज्ञानात्मान] ज्ञानात्मक, [दर्शन-भूतम्] दर्शनभूत, [अतीन्द्रियमहार्थं] अतीन्द्रिय महा पदार्थ, [ध्रुवम्] ध्रुव, [अचलम्] अचल, [अनालम्ब] निरालम्ब और [शुद्धम्] शुद्ध [मन्ये] मानता हू ।

टीका—**शुद्धात्मा सत् और अहेतुक (अकारण) होने से अनादि-अनन्त और स्वतः सिद्ध है, इसलिये आत्मा के शुद्धात्मा ही ध्रुव है, (उसके) दूसरा कुछ भी ध्रुव नहीं है। आत्मा के शुद्धत्व, पर-द्रव्य से भिन्नता और स्वधर्म से अभिन्नता के द्वारा एकत्व होने के कारण से है। वह एकत्व आत्मा के (१) ज्ञानात्मकत्व के कारण, (२) दर्शनभूतत्व के**

---

१ अइदिय (ज० वृ०) ।

कारण, (३) अतीन्द्रिय महापदार्थत्व के कारण, (४) अचलता के कारण, और (५) निराल-म्बत्व के कारण है।

इनमे से (१-२) जो ज्ञान को ही अपने में धारण करे रखता है और जो स्वयं दर्शनभूत है ऐसे आत्मा के, अतन्मय (ज्ञान-दर्शन रहित) परद्रव्य से भिन्नत्व और स्वधर्म से अभिन्नत्व होने से, एकत्व है, (३) प्रतिनिश्चित स्पर्श-रस-गन्ध-वर्णरूप गुण तथा शब्द-रूप पर्याय को ग्रहण करने वाली अनेक इन्द्रियों का अतिक्रम (उल्लंघन) करके समस्त स्पर्श-रस-गध वर्णरूप गुणो और शब्द रूप पर्याय को ग्रहण करने वाले एक सत् महापदार्थ के (आत्मा के), इन्द्रियात्मक परद्रव्य से भिन्नत्व और स्पर्शादिक के ग्रहण स्वरूप (ज्ञान-स्वरूप) स्वधर्म से अभिन्नत्व होने के कारण, एकत्व है, (४) क्षण-विनाश रूप से प्रवर्तमान ज्ञेय पर्यायो को (प्रतिक्षण नष्ट होने वाली ज्ञातव्य पर्यायों को) ग्रहण करने और छोड़ने का अभाव होने से जो अचल है ऐसे आत्मा के ज्ञेयपर्याय स्वरूप परद्रव्य से भिन्नत्व और तन्निमित्तक (ज्ञेयों के निमित्त से होने वाले) ज्ञान स्वरूप स्वधर्म से अभिन्नत्व होने के कारण, एकत्व है, (५) और नित्यरूप से प्रवर्तमान (शाश्वत) ज्ञेयद्रव्यों के आलम्बन का अभाव होने से जो निरालम्ब है ऐसे आत्मा के ज्ञेय रूप परद्रव्यों से भिन्नत्व और तन्निमित्तक ज्ञान स्वरूप स्वधर्म से अभिन्नत्व होने के कारण, एकत्व है। इस प्रकार आत्मा शुद्ध है, क्योंकि चिन्मात्र शुद्धनय उतना ही मात्र निरूपण स्वरूप है (अर्थात् चैतन्य-मात्र को ग्रहण करने वाला शुद्धनय आत्मा को मात्र शुद्ध ही निरूपित करती है।) और यही (एक शुद्धात्मा ही) ध्रुवत्व के कारण उपलब्ध करने योग्य है। किसी पथिक के शरीर के अगो के साथ ससर्ग मे आने वाली मार्ग के वृक्षो की अनेक छाया के समान अन्य अध्रुव (पदार्थों) से क्या प्रयोजन है? (अर्थात् कुछ नहीं) ॥१६२॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ ध्रुवत्वाच्छुद्धात्मानमेव भावयेऽहमिति विचारयति—

"मण्णे" इत्यादिपदखण्डनारूपेण व्याख्यान क्रियते मण्णे–मन्ये ध्यायामि सर्वप्रकारोपादेय-त्वेन भावये। स क? अह कर्त्ता। क कर्मतापन्न? अप्पगं सहजपरमाह्लादैकलक्षणनिजात्मानम्। किं विशिष्टम्? सुद्ध रागादिसमस्तविभावरहितम्। पुनरपि कि विशिष्टम्? धुव टङ्कोत्कीर्णज्ञायकै-कस्वभावत्वेन ध्रुवमविनश्वरम्। पुनरपि कथभूतम्? एव णाणप्पाण दसणभूद एव बहुविधपूर्वोक्त-प्रकारेणाखण्डैकज्ञानदर्शनात्मकम्। पुनश्च किं रूपम्? अइदिय अतीन्द्रिय मूर्त्तविनश्वरानेकेन्द्रियरहित-त्वेनामूर्त्ताविनश्वरैकातीन्द्रियस्वभावम्। पुनश्च कीदृशम्? महत्थ मोक्षलक्षणमहापुरुषार्थसाधकत्वा-न्महार्थम्। पुनरपि किंस्वभावम्? अचल अतिचपलचञ्चलमनोवाक्कायव्यापाररहितत्वेन स्वस्वरूपे

निश्चल स्थिरम् । पुनरपि किंविशिष्टम् ? **अणालंबं** स्वाधीनस्वद्रव्यत्वेन सालम्बन भरितावस्थमपि समस्तपराधीनपरद्रव्यालम्बनरहितत्वेन निरालम्बनमित्यर्थ ॥१९२॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि शुद्ध आत्मा ध्रुव है इसलिये मैं शुद्ध आत्मा की भावना करता हू ऐसा ज्ञानी विचारता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(एवं) इस तरह (णाणप्पाण) ज्ञान स्वरूप (दंसणभूदं) दर्शन स्वरूप (अइंदियम्) इन्द्रियों के अगोचर अतीन्द्रिय स्वरूप (धुवम्) अविनाशी (अचलं) अपने स्वरूप मे निश्चल (अणालबं) परालम्बन रहित (सुद्ध) शुद्ध (महत्थ) महान् पदार्थ ऐसे (अप्पगं) अपने आत्मा को (अहं मण्णे) मै अनुभव करता हूं। ध्यानी विचारता है कि मैं अपने आत्मा को सर्व तरह उपादेय समझकर इस तरह अनुभव करता हूं कि वह सहज परमानन्दमयी एक लक्षण को रखने वाला आत्मा रागादि सर्व विभावो से रहित शुद्ध है, टंकोत्कीर्ण ज्ञायक एक स्वभाव रूप रहने से अविनाशी है, अखण्ड एक ज्ञान दर्शन स्वरूप है; मूर्तिक, विनाशीक, अनेक इन्द्रियो से रहित होने के कारण अमूर्त, अविनाशी एक ही अतीन्द्रिय स्वभाव है। मोक्ष रूप महापुरुषार्थ का साधक होने से महान् पदार्थ है, अतिचचल मन वचन काय के व्यापारों से रहित होने से अपने स्वरूप मे निश्चल है तथा स्वाधीनपने से स्वालम्बन रूप भरा हुआ होने पर भी सर्व पराधीन परद्रव्य के आलम्बन से रहित होने के कारण निरालम्ब है ॥१९२॥**

अथाध्रुवत्वादात्मनोऽन्यन्नोपलभनीयमित्युपदिशति—

देहा वा दविणा वा सुहदुक्खा वाध सत्तुमित्तजणा ।
जीवस्स ण संति धुवा धुवोवओगप्पगो अप्पा ॥१९३॥

देहा वा द्रविणानि वा सुखदु खे वाथ शत्रुमित्रजना ।
जीवस्य न सन्ति ध्रुवा ध्रुव उपयोगात्मक आत्मा ॥१९३॥

आत्मनो हि परद्रव्याविभागेन परद्रव्योपरज्यमानस्वधर्मविभागेन वाशुद्धत्वनिबन्धनं न किंचनाप्यन्यदसद्धेतुमत्त्वेनाद्यन्तवत्त्वात्परतः सिद्धत्वाच्च ध्रुवमस्ति । ध्रुव उपयोगात्मा शुद्ध आत्मैव । अतोऽध्रुवं शरीरादिकमुपलभ्यमानमपि नोपलभे शुद्धात्मानमुपलभे ध्रुवम् ॥१९३॥

भूमिका—**अब, यह उपदेश देते हैं कि अध्रुवत्व के कारण आत्मा के अतिरिक्त दूसरा कुछ भी उपलब्ध करने योग्य नहीं है—**

अन्वयार्थ—[देहा. वा] शरीर, [द्रविणानि वा] धन, [सुखदु खे] सुख दु ख

(इष्ट-अनिष्ट सामग्री) [वा अथ] अथवा [शत्रुमित्रजना] शत्रुमित्रजन (यह कुछ) [जीवस्य] जीव के [ध्रुवा न सन्ति] ध्रुव नही हैं, [ध्रुव] ध्रुव तो [उपयोगात्मक आत्मा] उपयोगात्मक आत्मा है।

टीका—जो परद्रव्य से अभिन्न होने के कारण और परद्रव्य के द्वारा उपरक्त[1] होने वाले स्वधर्म से भिन्न होने के कारण आत्मा की अशुद्धि का कारण है ऐसा-आत्मा से अन्य (भिन्न)—कोई भी ध्रुव नहीं है, क्योंकि वह असत्[2] और हेतुमान्[3] होने से आदि अन्त वाला और परतः सिद्ध है ध्रुव तो उपयोगात्मक शुद्ध आत्मा ही है। ऐसा होने से मैं उपलभ्यमान अध्रुव शरीरादि को प्राप्त नहीं करता, और ध्रुव शुद्धात्मा को प्राप्त करता हूं।।१६३।।

तात्पर्यवृत्ति

अथात्मन पृथग्भूत देहादिकमध्रुवत्वान्न भावनीयमित्याख्याति—

ण सति धुवा ध्रुवा अविनश्वरा नित्या न सन्ति। कस्य ? **जीवस्स** जीवस्य। के ते ? **देहा वा दविणा वा** देहा वा द्रव्याणि वा सर्वप्रकारशुचीभूताद्देहरहितात्परमात्मनो विलक्षणा औदारिकादि-पञ्चदेहास्तथैव च पञ्चेन्द्रियभोगोपभोगसाधकानि परद्रव्याणि च। न केवल देहादयो ध्रुवा न भवन्ति **सुहदुक्खा वा** निर्विकारपरमानन्दैकलक्षणस्वात्मोत्थसुखामृतविलक्षणानि सासारिकसुखदुखानि वा। अध अहो भव्या **सत्तुमित्तजणा** शत्रुमित्रादिभावरहितादात्मनो भिन्ना शत्रुमित्रादिजनाश्च। यद्येतत्सर्व-मध्रुव तर्हि कि ध्रुवमिति चेत् ? **धुवो** ध्रुव शाश्वत। स क ? **अप्पा** निजात्मा। किंविशिष्ट ? **उवओगप्पगो** त्रैलोक्योदरविवरवर्तित्रिकालविषयसमस्तद्रव्यगुणपर्यायियुगपत्परिच्छित्तिसमर्थकेवलज्ञान-दर्शनोपयोगात्मक इति। एवमध्रुवत्व ज्ञात्वा ध्रुवस्वभावे स्वात्मनि भावना कर्त्तव्येति तात्पर्यम्।।१६३।।

एवमशुद्धनयादशुद्धात्मलाभो भवतीति कथनेन प्रथमगाथा। शुद्धनयाच्छुद्धात्मलाभो भवतीति कथनेन द्वितीया। ध्रुवत्वादात्मैव भावनीय इति प्रतिपादनेन तृतीया। आत्मनोऽन्यद्ध्रुव न भावनीय-मिति कथनेन चतुर्थी चेति शुद्धात्मव्याख्यानमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथाचतुष्टय गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते है कि ये शरीरादि आत्मा से भिन्न विनाशीक है इसलिये इनकी चिन्ता न करनी चाहिये।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जीवस्स) जीव के (देहा) शरीर (वा दविणा) या द्रव्य (वा सुहदुक्खा) या सासारिक सुखदु.ख (वाऽध सत्तुमित्तजणा) तथा शत्रु मित्र आदि मनुष्य (धुवा ण संति) ध्रुव नहीं हैं। (उवओगप्पगो अप्पा) केवल उपयोगमयी आत्मा (धुवो)**

---

१ उपरक्त-मलिन, विकारी [परद्रव्य के निमित्त से आत्मा का स्वधर्म उपरक्त होता है।] २—असत्-अस्तित्वरहित (अनित्य) [धन देहादिक पुद्गल पर्याये है, इसलिये असत् है, इसीलिये आदि-अन्त वाली हैं।] ३—हेतुमान्-सहेतुक, जिसकी उत्पत्ति मे कोई भी निमित्त हो ऐसा। [देह धनादि की उत्पत्ति मे कोई भी निमित्त होता है, इसलिये वे परत सिद्ध हैं, स्वत सिद्ध नही।]

ध्रुव है। सर्व प्रकार से पवित्र शरीर रहित परमात्मा से विलक्षण औदारिक आदि पांच प्रकार के शरीर तथा पंचेन्द्रियो के भोग के उपयोग साधक धन आदिक परद्रव्य इस जीव के लिये ध्रुव नहीं है किन्तु ये अनित्य हैं, छूट जाने वाले है। केवल शरीरादि ही अनित्य नही है किन्तु विकाररहित परमानन्दमयी एक लक्षणधारी अपने ही आत्मा से उत्पन्न सुखामृत से विलक्षण सांसारिक सुख तथा दुःख तथा शत्रु मित्र आदि जनसमुदाय ये सब भी अनित्य हैं। जब ये सब अध्रुव है तब ध्रुव क्या है? इसके उत्तर मे कहते हैं कि तीन लोक के उदर मे विद्यमान भूत भविष्य वर्तमान तीन काल के सर्व द्रव्य गुण पर्यायों को एक साथ जानने में समर्थ केवलज्ञान तथा केवलदर्शनमयी अपना आत्मा ही शाश्वत अविनाशी है। ऐसे अपने से भिन्न सर्व सम्बन्ध को अध्रुव जान करके ध्रुव-स्वभावधारी अपने ही आत्मा मे निरन्तर भावना करनी योग्य है, यह तात्पर्य है ॥१९३॥

इस तरह अशुद्ध नय के आलम्बन से अशुद्ध आत्मा का लाभ होता है ऐसा कहते हुए पहली गाथा, शुद्ध नय से शुद्ध आत्मा का लाभ होता है ऐसा कहते हुए दूसरी, ध्रुव होने से आत्मा ही भावने योग्य है ऐसा कहते हुए तीसरी, तथा आत्मा से अन्य सब अध्रुव है उनकी भावना न करनी चाहिये ऐसा कहते हुए चौथी, इस तरह शुद्धात्मा के व्याख्यान की मुख्यता करके पहले स्थल मे चार गाथाए पूर्ण हुईं।

अथैवं शुद्धात्मोपलम्भात्किं स्यादिति निरूपयति—

जो एवं जाणित्ता झादि परं अप्पगं विसुद्धप्पा।
सागारोऽणागारो खवेदि सो मोहदुग्गंठिं ॥१९४॥

य एवं ज्ञात्वा ध्यायति परमात्मानं विशुद्धात्मा।
साकारोऽनाकारः क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम् ॥१९४॥

अमुना यथोदितेन शुद्धात्मानं ध्रुवमधिगच्छतस्तस्मिन्नेव प्रवृत्तेः शुद्धात्मत्वं स्यात्। ततोऽनन्तशक्तिचिन्मात्रस्य परमस्यात्मन एकाग्रसंचेतनलक्षणं ध्यानं स्यात्, ततः साकारोपयुक्तस्यानाकारोपयुक्तस्य वाविशेषेणैकाग्रचेतनप्रसिद्धेरासंसारबद्धदृढतरमोहदुर्ग्रन्थेरुद्ग्रथनं स्यात्। अतः शुद्धात्मोपलम्भस्य मोहग्रन्थिभेदः फलम् ॥१९४॥

भूमिका—**इस प्रकार शुद्धात्मा की उपलब्धि से क्या होता है, यह अब निरूपण करते हैं—**

अन्वयार्थ—[य] जो एव [ज्ञात्वा] ऐसा जानकर [विशुद्धात्मा] विशुद्धात्मा

होता हुआ [परमात्मानं] परम आत्मा को [ध्यायति] ध्याता है, [स] वह [साकारः अनाकार] साकार हो या अनाकार, [मोहदुर्ग्रंथि] मोह दुर्ग्रन्थि का [क्षपयति] क्षय करता है।

टीका—**इस यथोक्त विधि के द्वारा शुद्धात्मा को ध्रुव जानने वाले के, उसी में प्रवृत्त होने के कारण से, शुद्धात्मत्व होता है इसलिये अनन्तशक्ति वाले चिन्मात्र परम आत्मा का एकाग्रसंचेतनलक्षण ध्यान होता है और इसलिये (उस ध्यान के कारण) साकार (सविकल्प) उपयोग वाले को या अनाकार (निर्विकल्प) उपयोग वाले को—दोनों को अविशेष रूप से एकाग्रसचेतन की प्रसिद्धि होने से—अनादि संसार से बंधी हुई अतिदृढ़ मोहदुर्ग्रंथि छूट जाती है।**

इससे (यह कहा गया है कि) मोहग्रंथि भेद (दर्शन मोहरूपी गांठ का टूटना) शुद्धात्मा की उपलब्धि का फल है ॥१९४॥

तात्पर्यवृत्ति

अथैव पूर्वोक्तप्रकारेण शुद्धात्मोपलम्भे मति कि फल भवतीति प्रश्ने प्रत्युत्तरमाह—

झादि ध्यायति **जो** य कर्त्ता। कम् ? **अप्पग** निजात्मानम्। कथभूतम् ? **पर** परमानन्तज्ञानादिगुणाधारत्वात्परमुत्कृष्टम्। कि कृत्वा पूर्वम् ? **एव जाणित्ता** एव पूर्वोक्तप्रकारेण स्वात्मोपलम्भलक्षणस्वसवेदनज्ञानेन ज्ञात्वा। कथभूत सन् ध्यायति ? **विसुद्धप्पा** ख्यातिपूजालाभादिसमस्तमनोरथजालरहितत्वेन विशुद्धात्मा सन्। पुनरपि कथभूत ? **सागारोऽणागारो** सागारोऽनागार। अथवा साकारानाकार। सहाकारेण विकल्पेन वर्त्तते साकारो ज्ञानोपयोग, अनाकारो निर्विकल्पो दर्शनोपयोगस्ताभ्या युक्त साकारानाकार। अथवा साकार सविकल्पो गृहस्थ अनाकारो निर्विकल्पस्तपोधन अथवा सहाकारेण लिङ्गेन चिह्नेन वर्त्तते साकारो यति अनाकारश्चिन्हरहितो गृहस्थ। **खवेदि सो मोहदुग्गंठि** य एव गुणविशिष्ट क्षपयति स मोहदुर्ग्रन्थिम्। मोह एव दुर्ग्रन्थि शुद्धात्मरुचिप्रतिबन्धको दर्शनमोहस्तम्। तत स्थितमेतत्—आत्मोपलम्भस्य मोहग्रन्थिविनाश एव फलम् ॥१९४॥

उत्थानिका—आगे इस तरह शुद्धात्मा का लाभ होने पर क्या फल होता है ? इस प्रश्न का उत्तर देते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो सागारोऽणागारो) जो कोई श्रावक या मुनि (एवं जाणित्ता) ऐसा जानकर (परं अप्पगं) परम आत्मा को (विसुद्धप्पा) विशुद्धभाव रखता हुआ (झादि) ध्याता है (सो) वह (मोहदुग्गंठि) मोह की गांठ को (खवेदि) नाश कर देता है। जो कोई गृहस्थ या मुनि अथवा साकार से ज्ञानोपयोगरूप, अनाकार से दर्शनोपयोग रूप होकर अथवा साकार से चिन्ह सहित मुनि या अनाकार से चिन्ह रहित गृहस्थ होकर इस तरह पूर्व में कहे प्रमाण अपने आतमा का लाभरूप स्वसंवेदनज्ञान से जान करके परम अनन्त ज्ञानादि गुणों के आधार रूप होने से उत्कृष्ट रूप अपने ही आत्मा**

को अपनी प्रसिद्धि, पूजा, लाभादि सर्व मनोरथ जाल से रहित विशुद्ध आत्मा होता हुआ ध्याता है सो ऐसा गुणी जीव शुद्धात्मा की रुचि को रोकने वाली दर्शनमोह की खोटी गांठ को क्षय कर डालता है। इससे सिद्ध हुआ कि जिनको निज आत्मा का लाभ होता है उन्हीं की मोह की गाँठ नाश हो जाती है। यही फल है ।।१९४।।

अथ मोहग्रन्थिभेदात्किं स्यादिति निरूपयति—

जो णिहदमोहगंठी रागपदोसे खवीय सामण्णे ।
होज्जं समसुहदुक्खो सो सोक्खं अक्खयं लहदि ।।१९५।।

यो निहतमोहग्रन्थि रागप्रद्वेषौ क्षपयित्वा श्रामण्ये ।
भवेत् समसुखदु ख स सौख्यमक्षय लभते ।।१९५।।

मोहग्रन्थिक्षपणाद्धि तन्मूलरागद्वेषक्षपणं ततः समसुखदुःखस्य परममाध्यस्थलक्षणे श्रामण्ये भवन ततोऽनाकुलत्वलक्षणाक्षयसौख्यलाभः। अतो मोहग्रन्थिभेदादक्षयसौख्यं फलम् ।।१९५।।

भूमिका—अब, यह कहते हैं कि मोहग्रन्थि के टूटने से क्या होता है—

अन्वयार्थ—[य] जो [निहतमोहग्रथि] मोहग्रथि को नष्ट करके, [रागप्रद्वेषौ क्षपयित्वा] रागद्वेष का क्षय करके, [समसुख-दु ख] सुख-दुख मे समान होता हुआ [श्रामण्ये भवेत्] श्रमणता (मुनित्व) मे परिणमित होता है, [स] वह [अक्षय सौख्य] अक्षय सौख्य को [लभते] प्राप्त करता है।

टीका—मोहग्रन्थि का क्षय करने से, मोहग्रन्थि जिसका मूल है ऐसे राग द्वेष का, क्षय होता है, उससे, जिसे सुख–दुःख समान हैं ऐसे जीव का परम मध्यस्थता जिसका लक्षण है ऐसी श्रमणता में परिणमन होता है, और उससे अनाकुलता जिसका लक्षण है ऐसे अक्षय सुख की प्राप्ति होती है।

इससे (यह कहा है कि मोहरूपीग्रन्थि के छेदने से अक्षय सौख्यरूप फल होता है ।।१९५।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ दर्शनमोहग्रन्थिभेदात्किं भवतीति प्रश्ने समाधान ददाति—

जो णिहदमोहगंठी य पूर्वसूत्रोक्तप्रकारेण निहतदर्शनमोहग्रन्थिर्भूत्वा **रागपदोसे खवीय** निजशुद्धात्मनिश्चलानुभूतिलक्षणवीतरागचारित्रप्रतिबन्धकौ चारित्रमोहसज्ञौ रागद्वेषौ क्षपयित्वा। क्व ? **सामण्णे** स्वस्वभावलक्षणे श्रामण्ये। पुनरपि किं कृत्वा ? **होज्जं** भूत्वा। किंविशिष्ट ? **समसुहदुक्खो** निजशुद्धात्मसवित्तिसमुत्पन्नरागादिविकल्पोपाधिरहितपरमसुखामृतानुभवेन सासारिकसुखदु खोत्पन्नहर्ष-

विषादरहितत्वात्समसुखदु ख । **सो सोक्खं अक्खय लहदि** स एव गुणविशिष्टो भेदज्ञानी सौख्यमक्षय लभते। ततो ज्ञायते दर्शनमोहक्षयाच्चारित्रमोहसज्ञरागद्वेषविनाशतश्च सुखदु खमाध्यस्थ्यलक्षणश्रामण्येऽवस्थान तेनाक्षयसुखलाभो भवतीति ॥१९५॥

उत्थानिका—आगे दर्शनमोह की गाठ टूटने से क्या होता है ? इस प्रश्न का समाधान करते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो) जो कोई (णिहदमोहगंठी) दर्शनमोह की गांठ को क्षय करके (सामण्णे) मुनि अवस्था मे रहकर (रागपदोसे) रागद्वेषों को (खवीय) नाश करके (समसुहदुक्खो होज्जं) सुख-दुःख में समताभाव रखने वाला हो जाता है (सो) वह ज्ञानी जीव (अक्खयं सोक्खं) अविनाशी आनन्द को (लहदि) प्राप्त करता है। जो कोई पूर्व सूत्र मे कहे प्रकार से दर्शनमोह की गांठ को क्षय करके निश्चय से अपने स्वभाव में ठहरकर अपने शुद्ध आत्मा के निश्चय अनुभव स्वरूप वीतरागचारित्र को रोकने वाले चारित्रमोहरूप रागद्वेषो को नाश करके अपने शुद्ध आत्मा के स्वानुभव से उत्पन्न रागादि विकल्पों से रहित जो परमसुख उसके अनुभव से तृप्त होकर सांसारिक सुख व दुःख से उत्पन्न हर्ष विषाद से रहित होने के कारण से सुख-दु.खों में समताभाव रखता है, वह ऐसा गुणवान भेदज्ञानी जीव अक्षय सुख का लाभ करता है। इससे जाना जाता है कि दर्शनमोह के नाश से फिर चारित्रमोहरूप रागद्वेषो को विनाश करके सुख-दुःख में माध्यस्थ लक्षणधारी मुनिपद में जो ठहरना है उसी से ही अक्षयसुख का लाभ होता है ॥१९५॥**

अथैकाग्र्यसचेतनलक्षणं ध्यानमशुद्धत्वमात्मनो नावहतीति निश्चिनोति—

जो खविदमोहकलुसो विसयविरत्तो मणो णिरुंभित्ता ।
समवट्ठिदो सहावे सो अप्पाणं हवदि झादा ॥१९६॥

य क्षपितमोहकलुषो विषयविरक्तो मनो निरुध्य ।
समवस्थित स्वभावे स आत्मान भवति ध्याता ॥१९६॥

आत्मनो हि परिक्षपितमोहकलुषस्य तन्मूलपरद्रव्यप्रवृत्त्यभावाद्विषयविरक्तत्वं स्यात्, ततोऽधिकरणभूतद्रव्यान्तराभावादुदधिमध्यप्रवृत्तैकपोतपतत्रिण एव अनन्यशरणस्य मनसो निरोधः स्यात् । ततस्तन्मूलचञ्चलत्वविलयादनन्तसहजचैतन्यात्मनि स्वभावे समवस्थानं स्यात् । तत्तु स्वरूपप्रवृत्तानाकुलैकाग्रसंचेतनत्वात् ध्यानमित्युपगीयते । अतः स्वभावावस्थान-रूपत्वेन ध्यानमात्मनोऽनन्यत्वात् नाशुद्धत्वायेति ॥१९६॥

भूमिका—**अब, एकाग्र (एक-विषयक) संचेतन जिसका लक्षण है, ऐसा ध्यान आत्मा में अशुद्धता नहीं लाता, यह निश्चित करते हैं—**

अन्वयार्थ—[य] जो [क्षपितमोहकलुष] मोह मैल का क्षय करके [विषयविरक्तः] विषय से विरक्त होकर, [मनः निरुध्य] मन का निरोध करके, [स्वभाव समवस्थित·] स्वभाव मे समवस्थित (निश्चल) है, [स] वह [आत्मान] आत्मा को [ध्याता भवति] ध्याने वाला होता है।

टीका—**जिसने मोह मंल का क्षय किया है ऐसे आत्मा के, मोह मैल जिसका मूल है ऐसी परद्रव्य प्रवृत्ति का अभाव होने से, विषयविरक्तता होती है उससे, समुद्र के मध्यगत जहाज के पक्षी की भांति, अधिकरण भूत द्रव्यान्तरों का अभाव होने से जिसे अन्य कोई शरण नहीं रही है ऐसे मन का निरोध होता है, इसलिये मन जिसका मूल है, ऐसी चचलता के विलय होने के कारण अनन्त सहज चैतन्यात्मक स्वभाव मे समवस्थान (दृढतया रहना) होता है। वह स्वभाव-समवस्थान तो, स्वरूप मे प्रवर्तमान, अनाकुल, एकाग्रसचेतन होने से, ध्यान कहा जाता है। इससे (यह निश्चित हुआ कि—) ध्यान स्वभाव-समवस्थान रूप होने के कारण आत्मा से अनन्य होने से अशुद्धता का कारण नही होता ॥१९६॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ निजशुद्धात्मैकाग्र्यलक्षणध्यानमात्मनोऽत्यन्तविशुद्धि करोतोत्यावेदयति,—

जो खविदमोहकलुसो य क्षपितमोहकलुष मोहो दर्शनमोह कलुषश्चारित्रमोह पूर्वसूत्रद्वयकथितक्रमेण क्षपितमोहकलुषौ येन स भवति क्षपितमोहकलुष। पुनरपि किंविशिष्ट ? **विसयविरत्तो** मोहकलुषरहितस्वात्मसवित्तिसमुत्पन्नसुखसुधारसास्वादबलेन कलुषमोहोदयजनितविषयसुखाकाक्षारहितत्वाद्विषयविरक्त। पुनरपि कथभूत ? **समवट्ठिदो** सम्यगवस्थित। क्व ? **सहावे** निजपरमात्मद्रव्ये स्वभावे। किंकृत्वा पूर्वं ? **मणो णिरु भित्ता** विषयकषायोत्पन्नविकल्पजालरूप मनो निरुध्य निश्चल कृत्वा **सो अप्पाणं हवदि झादा** स एवगुणयुक्त पुरुष स्वात्मान भवति ध्याता। तेनैव शुद्धात्मध्यानेनात्यन्तिकी मुक्तिलक्षणा शुद्धि लभत इति। तत स्थित शुद्धात्मध्यानाज्जीवो विशुद्धो भवतीति। किंच ध्यानेन किलात्मा शुद्धो जात।

तत्र विषये चतुर्विधव्याख्यान क्रियते। तथाहि—ध्यान ध्यानसन्तानस्तथैवध्यानचिन्ता ध्यानान्वयसूचनमिति। तत्रैकाग्र्यचिन्तानिरोधो **ध्यानम्** तच्च शुद्धाशुद्धरूपेण द्विधा। अथ ध्यानसन्तान कथ्यते—यत्रान्तर्मुहूर्त्तपर्यन्त ध्यान तदनन्तरमन्तर्मुहूर्त्तपर्यन्त तत्त्वचिन्ता पुनरप्यन्तर्मुहूर्त्तपर्यन्त ध्यानम् पुनरपि तत्त्वचिन्तेति प्रमत्ताप्रमत्तगुणस्थानवदन्तर्मुहूर्ते गते सति परावर्त्तनमस्ति स **ध्यानसन्तानो** भण्यते। स च धर्म्यध्यानसम्बन्धी। शुक्लध्यान पुनरुपशमश्रेणिक्षपकश्रेण्यारोहणे भवति। तत्र चाल्पकालत्वात्परावर्त्तनरूपध्यानसन्तानो न घटते। इदानी ध्यानचिन्ता कथ्यते—यत्र ध्यानसन्तानवद्ध्यानपरावर्त्तो नास्ति ध्यानसम्बधिनी चिन्तास्ति तत्र यद्यपि क्वापि काले ध्यान

करोति तथापि सा **ध्यानचिन्ता** भण्यते। अथ ध्यानान्वयसूचन कथ्यते–यत्र ध्यानसामग्रीभूता द्वादशानुप्रेक्षा अन्यद्वा ध्यानसम्बन्धि सवेगवैराग्यवचन व्याख्यान वा तत् **ध्यानान्वयसूचनमिति**। अन्यथा वा चतुर्विध ध्यानव्याख्यान ध्याता ध्यान फल ध्येयमिति। अथवार्त्तरौद्रधर्म्यशुक्लविभेदेन चतुर्विध ध्यानव्याख्यान तदन्यत्र कथितमास्ते ।।१६५।।

एवमात्मपरिज्ञानाद्दर्शनमोहक्षपण भवतीति कथनरूपेण प्रथमगाथा दर्शनमोहक्षयाच्चारित्रमोहक्षपण भवतीति कथनेन द्वितीया तदुभयक्षयेण मोक्षो भवतीति प्रतिपादनेन तृतीया चेत्यात्मोपलम्भफलकथनरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रय गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते है कि निज शुद्धात्मा मे एकाग्रता रूप ध्यान ही आत्मा की अत्यन्त विशुद्धि कर देता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो) जो कोई (खविदमोहकलुसो) मोह की कालिमा को क्षय करके (विसयविरत्तो) इन्द्रियों के विषयो से विरक्त होता हुआ (मणोणिंरुभित्ता) मन को सब तरह से रोककर (सहावे समवट्ठिदो) अपने आत्मस्वभाव मे भले प्रकार स्थिर हो जाता है (सो) वही महात्मा (अप्पाणं झादा हवदि) आत्मा को ध्याने वाला होता है। जो कोई पूर्व के दो सूत्रो मे कहे प्रमाण दर्शनमोह और चरित्रमोह को क्षय करता हुआ, मोह और रागद्वेष की कलुषता से रहित निजात्मानुभव से उत्पन्न सुखामृतरस के स्वाद बल से कलुषता और मोह के उदय से उत्पन्न विषय सुखों की इच्छा से रहित होता हुआ तथा विषयकषायो से उत्पन्न विकल्प जालों मे वर्तने वाले मन को रोककर निज परमात्म स्वभाव मे भले प्रकार स्थित होता है वही गुणी पुरुष अपने आत्मा का ध्याता होता है। इसी ही शुद्धात्मध्यान से अत्यन्त शुद्धि अर्थात् मुक्ति को प्राप्त करता है इससे सिद्ध हुआ कि शुद्धात्मध्यान से जीव विशुद्ध होता है, क्योंकि ध्यान से वास्तव मे आत्मा शुद्ध होता है।**

ध्यान के सम्बन्ध मे चार प्रकार का व्याख्यान करते हैं। वह चार प्रकार ध्यान है। ध्यान, ध्यानसंतान, ध्यानचिंता तथा ध्यानान्वयसूचना। इनमे से एक किसी विशेष भाव में चित्त को रोकने को ध्यान कहते हैं। यह ध्यान शुद्ध और अशुद्ध के भेद से दो प्रकार है। अब ध्यान-सतान को कहते हैं–जहाँ अंतर्मुहूर्त्त पर्यंत ध्यान होता है फिर अन्तर्मुहूर्त पर्यंत तत्त्वचिंता होती है फिर भी अंतर्मुहुर्त पर्यंत ध्यान होता है पीछे फिर तत्वचिंता होती है इस तरह प्रमत्त अप्रमत्त गुणस्थान की तरह अंतर्मुहूर्त २ बीतते हुए पलटन हो जाये उसको ध्यानसंतान कहते हैं। यह धर्मध्यान सम्बन्धी जानना चाहिये। शुक्लध्यान उपशम तथा क्षपकश्रेणी के चढ़ने पर होता है वहाँ बहुत ही अल्पकाल है

इससे (बुद्धिपूर्वक) पलटने रूप ध्यान-संतान नहीं सिद्ध होती है। अब ध्यानचिंता को कहते हैं—जहां ध्यान की संतान की तरह ध्यान की पलटन नहीं है किन्तु ध्यान सम्बन्धी चिन्ता है। इस चिन्ता के बीच में ही किसी भी काल में ध्यान करने लगता है तो भी उसको ध्यानचिन्ता कहते हैं। अब ध्यानान्वयसूचना को कहते हैं कि जहां ध्यान की सामग्री रूप बारह भावना का चिन्तवन है व ध्यान सम्बन्धी संवेग वैराग्य वचनों का व्याख्यान है वह ध्यानान्वयसूचना है। ध्यान का चार प्रकार कथन ध्याता, ध्यान, ध्येय तथा फलरूप है, अथवा आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल रूप है जिनका कथन अन्य ग्रन्थों मे वर्णन किया गया है ॥१९६॥

इस तरह आत्म-ध्यान से दर्शनमोह का क्षय होता है, ऐसा कहते हुए पहली गाथा, दर्शनमोह के क्षय से चारित्रमोह का क्षय होता है, ऐसा कहते हुए दूसरी, इन दोनों के क्षय से मोक्ष होता है ऐसा कहते हुए तीसरी, इस तरह आत्मा का लाभ होना फल होता है, ऐसा कहते हुए दूसरे स्थल मे तीन गाथाएं पूर्ण हुई।

अथोपलब्धशुद्धात्मा सकलज्ञानी किं ध्यायतीति प्रश्नमासूत्रयति—

णिहदघणघादिकम्मो[1] पच्चक्खं सव्वभावतच्चण्हू।
णेयंतगदो समणो झादि कमट्ठं असंदेहो ॥१९७॥

निहतघनघातिकर्मा प्रत्यक्ष सर्वभावतत्त्वज्ञ ।
ज्ञेयान्तगत श्रमणो ध्यायति कमर्थमसदेह ॥१९७॥

लोको हि मोहसद्भावे ज्ञानशक्तिप्रतिबन्धकसद्भावे च सतृष्णत्वादप्रत्यक्षार्थत्वादनवच्छिन्नविषयत्वाभ्यां चाभिलषित जिज्ञासित संदिग्ध चार्थं ध्यायन् दृष्टः, भगवान् सर्वज्ञस्तु निहतघनघातिकर्मतया मोहाभावे ज्ञानशक्तिप्रतिबन्धकाभावे च निरस्ततृष्णात्वात्प्रत्यक्षसर्वभावतत्त्वज्ञेयान्तगतत्वाभ्या च नाभिलषति न जिज्ञासति न सदिह्यति च कुतोऽभिलषितो जिज्ञासितः सदिग्धश्चार्थः। एव सति किं ध्यायति ॥१९७॥

भूमिका—अब, सूत्र द्वारा यह प्रश्न करते हैं कि जिन्होने शुद्धात्मा को प्राप्त किया है, ऐसे सकलज्ञानी (सर्वज्ञ) क्या ध्याते हैं—

अन्वयार्थ—[निहतघनघातिकर्मा] जिन्होने घनघातिकर्म का नाश किया है, [प्रत्यक्ष सर्वभावतत्वज्ञ] जो सर्व पदार्थों के स्वरूप को प्रत्यक्ष जानते है, और [ज्ञेयान्तगत] जो ज्ञेयो के पार को प्राप्त है, [असदेहः] जो सन्देहरहित है, ऐसे [श्रमण.] महामुनि (केवली) [कम् अर्थं] किस पदार्थ को [ध्यायति] ध्याते हैं ?

---

१ णिहदघणघाइकम्मो (ज० वृ०)।

टीका—(१) मोह का सद्‌भाव होने से तथा (२) ज्ञानशक्ति के प्रतिबंधक का (ज्ञानावरणीयकर्म का) सद्‌भाव होने से, (१) लौकिक जीव (छद्मस्थ) तृष्णा-सहित है तथा (२) उसे पदार्थ प्रत्यक्ष नहीं हैं और (३) वह विषय को अवच्छेदपूर्वक (स्पष्टता से) नहीं जानता, इसलिये वह (लोक) अभिलषित, जिज्ञासित और सदिग्ध पदार्थ का ध्यान करता हुआ दिखाई देता है परन्तु घनघातिकर्म के नाश हो जाने के कारण (१) मोह का अभाव हो जाने पर तथा (२) ज्ञानशक्ति के प्रतिबधक का अभाव हो जाने पर, (१) जिनकी तृष्णा नष्ट हो गई है तथा (२) (जिनको) समस्त पदार्थों का स्वरूप प्रत्यक्ष है तथा (जिन्होंने) ज्ञेयों का पार पा लिया है, इसलिये भगवान सर्वज्ञदेव अभिलाषा नहीं करते, जिज्ञासा नहीं करते, और संदेह नहीं करते, तब फिर (उनके) अभिलषित, जिज्ञासित और संदिग्ध पदार्थ कहां से हो सकता है ? जबकि ऐसा है तब फिर वे क्या ध्याते हैं ? ।।१९७।।

तात्पर्यवृत्ति

अथोपलब्धशुद्धात्मतत्त्वसकलज्ञानी किं ध्यायतीति प्रश्नमाक्षेपद्वारेण पूर्वपक्ष वा करोति,—

णिहदघणघाइकम्मो पूर्वसूत्रोदितनिश्चलनिजपरमात्मतत्त्वपरिणतिरूपशुद्धध्यानेन निहतघन-घातिकर्मा । **पच्चक्ख सव्वभावतच्चण्हू** प्रत्यक्ष यथा भवति तथा सर्वभावतत्त्वज्ञ सर्वपदार्थपरिज्ञात-स्वरूप **णेयतगदो** ज्ञेयान्तगत ज्ञेयभूतपदार्थाना परिच्छित्तिरूपेण पारगत । एव विशेषणत्रयविशिष्ट **समणो** जीवितमरणादिसम भावपरिणतात्मस्वरूप श्रमणो महाश्रमण सर्वज्ञ **झादि कमट्ठ** ध्यायति कमर्थमिति प्रश्न ? अथवा कमर्थं ध्यायति ? न कमपीत्याक्षेप । कथभूत सन् ? **असंदेहो** असन्देह सशयादिरहित इति ।

अयमत्रार्थ –यथा कोऽपि देवदत्तो विषयसुखनिमित्त विद्याराधनाध्यान करोति यदा विद्या सिद्धा भवति तत्फलभूत विषयसुख च सिद्ध भवति तदाराधनाध्यान न करोति, तथाय भगवानपि केवलज्ञानविद्यानिमित्त तत्फलभूतानन्तसुखनिमित्त च पूर्वं छद्मस्थावस्थाया शुद्धात्मभावनारूप ध्यान कृतवान् इदानी तद्ध्यानेन केवलज्ञानविद्या सिद्धा तत्फलभूतमनन्तसुख च सिद्धम् किमर्थं ? ध्यान करोतीति प्रश्न आक्षेपो वा, द्वितीय च कारण परोक्षेऽर्थे ध्यान भवति भगवत सर्वप्रत्यक्ष कथ ध्यानमिति पूर्वपक्षद्वारेण गाथा गता ।।१९७।।

उत्थानिका—आगे शिष्य पूर्वपक्ष करके यह आक्षेप करता है कि शुद्धात्मतत्त्व को प्राप्त करके सकलज्ञानी परमात्मा किस वस्तु को ध्याते है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(णिहदघणघाइकम्मो) सर्व घातियाकर्मों को नाश करने वाले (पच्चक्ख) प्रत्यक्ष रूप से (सव्वभावतच्चण्हू) सब पदार्थों के जानने वाले (णेयतगदो) सब ज्ञेय पदार्थों के पार पहुंचने वाले (असंदेहो) तथा संशयरहित (समणो)**

केवलज्ञानी महामुनि (कम्मट्ठं) किस पदार्थ को (झादि) ध्याते हैं। पूर्व सूत्र में कहे प्रमाण निश्चल अपने परमात्म–तत्त्व मे परिणमनरूप शुद्ध ध्यान के बल से घातियाकर्मों के क्षयकर्ता, प्रत्यक्षज्ञानी, सब ज्ञेयों को जानने की अपेक्षा उनके पार होने वाले ऐसे तीन विशेषण सहित जीवन मरण आदि मे समताभाव रखने वाले महाश्रमण श्री सर्वज्ञ भगवान जो संशयादि से रहित हैं वह किस पदार्थ को ध्याते हैं ? यह प्रश्न है अथवा किसी पदार्थ को भी नहीं ध्याते हैं यह आक्षेप है।

यहां यह अर्थ है कि जैसे कोई भी देवदत्त विषयों के सुख के निमित्त किसी विद्या की आराधना रूप ध्यान को करता है जब वह सिद्ध हो जाती है तब उस विद्या के फलरूप विषय सुख को सिद्ध कर लेता है फिर उस विद्या की आराधना रूप ध्यान को नहीं करता है। तैसे ही भगवान् भी केवलज्ञान रूपी विद्या के निमित्त तथा उसके फलरूप अनन्त सुख के निमित्त पहले छद्मस्थ अर्थात् अल्पज्ञ की अवस्था मे शुद्ध आत्मा की भावना रूप ध्यान को करते थे अब उस ध्यान से केवलज्ञानरूपी विद्या सिद्ध हो गई तथा उसका फलरूप अनन्त सुख भी सिद्ध हो गया तब किस लिये ध्यान करते है, ऐसा प्रश्न है या आक्षेप है ? दूसरा कारण यह है कि पदार्थ परोक्ष होने पर उसका ध्यान किया जाता है, भगवान् के सर्व प्रत्यक्ष है, तब उनके ध्यान किस तरह हो सकता है, ऐसा पूर्वपक्ष करते हुए गाथा पूर्ण हुई ॥१९७॥

अथैतदुपलब्धशुद्धात्मा सकलज्ञानी ध्यायतीत्युत्तरमासूत्रयति—

सव्वाबाधविजुत्तो समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो ।
भूदो अक्खातीदो झादि अणक्खो परं सोक्खं ॥१९८॥

सर्वाबाधवियुक्त समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्य ।
भूतोऽक्षातीतो ध्यायत्यनक्ष पर सौख्यम् ॥१९८॥

अयमात्मा यदैव सहजसौख्यज्ञानबाधायतनानामसार्वदिक्कासकलपुरुषसौख्यज्ञानायतनानां चाक्षाणामभावात्स्वयमनक्षत्वेन वर्तते तदैव परेषामक्षातीतो भवन् निराबाधसहजसौख्यज्ञानत्वात् सर्वाबाधवियुक्तः, सार्वदिक्कसकलपुरुषसौख्यज्ञानपूर्णत्वात्समन्तसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यश्च भवति। एवंभूतश्च सर्वाभिलाषजिज्ञासासन्देहासंभवेऽप्यपूर्वमनाकुलत्वलक्षणं परमसौख्यं ध्यायति। अनाकुलत्वसंगतैकाग्रसंचेतनमात्रेणावतिष्ठत इति यावत्। ईदृशमवस्थानं च सहजज्ञानानन्दस्वभावस्य सिद्धत्वस्य सिद्धिरेव ॥१९८॥

भूमिका—अब, सूत्र द्वारा (उपरोक्त गाथा के प्रश्न का) उत्तर देते हैं कि-जिसने शुद्धात्मा को उपलब्ध किया है वह सकलज्ञानी इस (परमसौख्य) को ध्याता है।

अन्वयार्थ—[अनक्ष] अनिन्द्रिय (दूसरे को इन्द्रिय-ज्ञानगम्य न होने वाले) और [अक्षातीत भूत·] इन्द्रियो से रहित हुए (तथा) [सर्वाबाधवियुक्तः] सर्व बाधा रहित और [समतसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्यः] सम्पूर्ण आत्मा मे समत (सर्व प्रकार के, परिपूर्ण) सौख्य तथा ज्ञान से समृद्ध (केवली भगवान्) [पर सौख्य] परम सौख्य को [ध्यायति] ध्याते हैं।

टीका—जब यह आत्मा, जो सहजसुख और ज्ञान की बाधा का आयतन (स्थान) है (ऐसी) तथा जो असकल आत्मा में असर्व प्रकार के सुख और ज्ञान का आयतन है, ऐसी इन्द्रियों के अभाव के कारण स्वयं अतीन्द्रिय रूप से वर्तता है, उसी समय वह दूसरों को 'इन्द्रियातीत' (इन्द्रिय अगोचर) वर्तता हुआ (१) निराबाध सहज सुख और ज्ञान वाला होने से 'सर्वबाधा' रहित होता है, तथा (२) सकल आत्मा में सर्व प्रकार के (परिपूर्ण) सुख और ज्ञान से परिपूर्ण होने से 'समस्त आत्मा में समंत सौख्य और ज्ञान से समृद्ध' होता है। इस प्रकार का वह आत्मा सर्व अभिलाषा, जिज्ञासा और सन्देह का असम्भव होने पर भी, अपूर्व और अनाकुलत्व लक्षण वाले परमसौख्य को ध्याता है, अर्थात् अनाकुलत्व सगत एक 'अग्र' के सचेतन मात्ररूप से अवस्थित रहता है, (अर्थात् अनाकुलता के साथ रहने वाले एक आत्मा रूपी विषय के अनुभवन रूप ही मात्र स्थित रहता है) और ऐसा अवस्थान सहज ज्ञानानन्द स्वभावरूप सिद्धत्व की सिद्धि ही है। (अर्थात् इस प्रकार स्थित रहना, सहजज्ञान और आनन्द जिसका स्वभाव है ऐसे सिद्धत्व की प्राप्ति ही है।) ॥१९८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथात्र पूर्वपक्षे परिहार ददाति—

झादि ध्यायति एकाकारसमरसीभावेन परिणमत्यनुभवति। स क कर्त्ता ? भगवान्। किं ध्यायति ? **सोक्ख** सौख्यम्। किंविशिष्टम् ? **पर** उत्कृष्ट सर्वात्मप्रदेशाह्लादकपरमानन्तसुखम्। कस्मिन्प्रस्तावे ? यस्मिन्नेव क्षणे **भूदो** भूत सजात। किंविशिष्ट ? **अक्खातीदो** अक्षातीत. इन्द्रियरहित न केवल स्वयमतीन्द्रियो जात परेषा च **अणक्खो** अनक्ष. इन्द्रियविषयो न भवतीत्यर्थ। पुनरपि किंविशिष्ट ? **सव्वाबाधविजुत्तो** "प्राकृतलक्षणबलेन बाधाशब्दस्य ह्रस्वत्व" सर्वाबाधवियुक्त·। आसमन्ताद् बाधा पीडा आबाधा. सर्वाश्च ता आबाधाश्च सर्वाबाधास्ताभिर्वियुक्तो रहितः सर्वाबाधवियुक्त। पुनश्च किंरूप ? **समंतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो** समन्तत सामस्त्येन स्पर्शनादिसर्वाक्षसौख्यज्ञानाढ्य। समन्तत सर्वात्मप्रदेशैर्वा स्पर्शनादिसर्वेन्द्रियाणा सम्बन्धित्वेन ये ज्ञानसौख्ये द्वे ताभ्यामाढ्य. परिपूर्ण इत्यर्थ। तद्यथा—अय भगवानेकदेशोद्भवसांसारिकज्ञानसुखकारणभूतानि

सर्वात्मप्रदेशोद्भवस्वाभाविकातीन्द्रियज्ञानसुखविनाशकानि च यानीन्द्रियाणि निश्चयरत्नत्रयात्मककारणसमयसारबलेनातिक्रामति विनाशयति यदा तस्मिन्नेव क्षणे समस्तबाधारहित सन्नतीन्द्रियमनन्तमात्मोत्थसुख ध्यायत्यनुभवति परिणमति। ततो ज्ञायते केवलिनामन्यच्चिन्तानिरोधलक्षण ध्यान नास्ति किंत्विदमेव परमसुखानुभवन वा ध्यानकार्यभूता कर्मनिर्जरा दृष्ट्वा ध्यानशब्देनोपचर्यते। यत्पुन सयोगिकेवलिनस्तृतीयशुक्लध्यानमयोगिकेवलिनश्चतुर्थशुक्लध्यान भवतीत्युक्त तदुपचारेण ज्ञातव्यमिति सूत्राभिप्राय ॥१६८॥

एव केवली कि ध्यायतीति प्रश्नमुख्यत्वेन प्रथमगाथा। परमसुख ध्यायत्यनुभवतीति परिहारमुख्यत्वेन द्वितीया चेति ध्यानविषयपूर्वपक्षपरिहारद्वारेण तृतीयस्थले गाथाद्वय गतम्।

उत्थानिका—आगे इस पूर्वपक्ष का समाधान करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(सव्वाबाधविजुत्तो) सर्व प्रकार की बाधा से रहित व (समतसव्वक्खसोक्खणाणड्ढो) सब तरह से सर्व आत्मीक सुख और ज्ञान से पूर्ण (अक्खातीदो) तथा अतीन्द्रिय (भूदो) होकर (अणक्खो) दूसरो के भी इन्द्रियो के जो विषय नहीं है, ऐसे केवली भगवान् (पर सोक्खं) परमानन्द को (झादि) ध्याते है। जिस समय से केवली भगवान् इन्द्रियज्ञान से रहित अतीन्द्रिय हुए, व सर्व प्रकार की पीडा से रहित हुए तथा सर्व आत्मा के प्रदेशों मे आत्मीक शुद्ध ज्ञान तथा शुद्धसुख से परिपूर्ण हुए उसी समय से वे भगवान् जिनकी आत्मा दूसरो के इन्द्रियो का विषय नहीं है किसी परम उत्कृष्ट सम्पूर्णआत्मा के प्रदेशो मे आल्हाद देने वाले अनन्त सुखरूप एकाकार समता रस के भाव से परिणमन करते रहते है अर्थात् निरन्तर अनन्तसुख का स्वाद लेते रहते हैं। जिस समय यह भगवान् एक देश होने वाले सासारिक ज्ञान और सुख की कारण तथा सब आत्मा के प्रदेशों मे पैदा होने वाले स्वाभाविक अतीन्द्रियज्ञान और सुख को नाश करने वाली इन्द्रियो का निश्चयरत्नत्रयमयी कारण समयसार के बल से उल्लघन कर जाते है अर्थात् उन इन्द्रियो के द्वारा प्रवृत्ति को नाश कर देते हैं उसी ही क्षण से वे सर्व बाधा से रहित हो जाते हैं, तथा अतीन्द्रिय और अनंत आत्मा से उत्पन्न आनन्द का अनुभव करते रहते हैं अर्थात् आत्म सुख को ध्याते हैं व आत्मसुख में परिणमन करते हैं। इससे जाना जाता है कि केवलियों को दूसरा कोई चिन्तानिरोध लक्षण ध्यान नहीं है, किन्तु इसी परम सुख का अनुभव है अथवा उनके ध्यान के फलरूप कर्म की निर्जरा को देखकर ध्यान है ऐसा उपचार किया जाता है तथा जो आगम में कहा है कि सयोगकेवली के तीसरा शुक्लध्यान व अयोगकेवली के चौथा शुक्लध्यान होता है वह उपचार से जानना चाहिये, ऐसा सूत्र का अभिप्राय है ॥१६८॥**

इस तरह केवली भगवान क्या ध्याते हैं व क्यों ध्याते हैं ? इस प्रश्न की मुख्यता से पहली गाथा, तथा वे भगवान परमसुख को ध्याते या अनुभवते हैं इस तरह उस प्रश्न का समाधान करते हुए दूसरी, इस तरह ध्यान-सम्बन्धी पूर्वपक्ष के परिहार रूप से तीसरे स्थल मे दो गाथाए पूर्ण हुई ।

अथायमेव शुद्धात्मोपलम्भलक्षणो मोक्षस्य मार्ग इत्यवधारयति—

एवं जिणा जिणिंदा सिद्धा मग्गं समुट्ठिदा समणा ।
जादा णमोत्थु तेसिं तस्स य णिव्वाणमग्गस्स ।।१९९।।

एव जिना जिनेन्द्रा सिद्धा मार्गं समुत्थिता श्रमणा ।
जाता नमोऽस्तु तेभ्यस्तस्मै च निर्वाणमार्गाय ।।१९९।।

यतः सर्व एव सामान्यचरमशरीरास्तीर्थंकराः अचरमशरीरा मुमुक्षवश्चामुनैव यथोदितेन शुद्धात्मतत्वप्रवृत्तिलक्षणेन विधिना प्रवृत्तमोक्षस्य मार्गमधिगम्य सिद्धा बभूवुः, न पुनरन्यथापि । ततोऽवधार्यते केवलमयमेक एव मोक्षस्य मार्गो न द्वितीय इति । अलं च प्रपञ्चेन । तेषां शुद्धात्मतत्वप्रवृत्तानां सिद्धानां तस्य शुद्धात्मतत्वप्रवृत्ति रूपस्य मोक्षमार्गस्य च प्रत्यस्तमितभाव्यभावकविभागत्वेन नोआगमभावनमस्कारोऽस्तु । अवधारितो मोक्षमार्गः कृत्यमनुष्ठीयते ।।१९९।।

भूमिका—अब यह निश्चय करते है कि—'यही (पूर्वोक्त ही) शुद्ध आत्मा की उपलब्धि जिसका लक्षण है, ऐसा मोक्ष का मार्ग है'—

अन्वयार्थ—[जिनाः जिनेन्द्राः श्रमणाः] जिन, जिनेन्द्र और श्रमण (अर्थात् सामान्यकेवली, तीर्थंकर और मुनि) [एव] इस (पूर्वोक्त ही) प्रकार [मार्गं समुत्थिता] मार्ग पर आरूढ होते हुए [सिद्धा. जाताः] सिद्ध हुए है । [तेभ्य] उन सबको [च] और [तस्मै निर्वाणमार्गा] उसनिर्वाण मार्ग को [नमोऽस्तु] नमस्कार होवे ।

टीका—क्योंकि, सभी सामान्य चरमशरीरी, तीर्थंकर और अचरमशरीरी मुमुक्षु इसी यथोक्त शुद्धात्मतत्वप्रवृत्तिलक्षण विधि से प्रवर्तमान मोक्षमार्ग को प्राप्त करके सिद्ध हुये, किसी दूसरी विधि से नहीं, इसलिये निश्चित होता है कि केवल यह एक ही मोक्ष का मार्ग है, दूसरा नहीं । अधिक विस्तार से पूरा पड़े। उस शुद्धात्मतत्व मे प्रवर्ते हुये सिद्धों को तथा उस शुद्धात्मतत्व प्रवृत्ति रूप मोक्षमार्ग को, जिसमे से भाव्य-भावक का (ध्येय-ध्याता का) विभाग अस्त हो गया है, ऐसा नोआगम भाव नमस्कार हो (इस प्रकार) मोक्षमार्ग निश्चित किया है, (और उसमे) प्रवृत्ति करते हैं ।।१९९।।

तात्पर्यवृत्ति

अथायमेव निजशुद्धात्मोपलब्धिलक्षणमोक्षमार्गो नान्य इति विशेषेण समर्थयति—

जादा जाता उत्पन्न । कथभूता ? **सिद्धा** सिद्धा सिद्धपरमेष्ठिनो मुक्तात्मान इत्यर्थ । के कर्त्तार ? **जिणा** जिना अनागारकेवलिन । **जिणिंदा** जिना न केवल जिना जिनेन्द्राश्च तीर्थकर परमदेवा । कथभूता सन्त एते सिद्धा जाता ? **मग्ग समुट्ठिदा** निजपरमात्मतत्त्वानुभूतिलक्षणमार्गं मोक्षमार्गं समुत्थिता आश्रिता । केन ? एव पूर्वं बहुधा व्याख्यातक्रमेण । न केवल जिना जिनेन्द्रा अनेन मार्गेण सिद्धा जाता **समणा** सुखदु खादिसमता भावनापरिणतात्मतत्त्वलक्षणा शेषा अचरमदेहश्रमणाश्च । अचरमदेहानां कथ सिद्धत्वमिति चेत् ?

"तवसिद्धे णयसिद्धे सजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य । णाणमि दसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमस्सामि ॥"

इति गाथाकथितक्रमेणैकदेशेन **णमोत्थु तेसिं** नमोऽस्तु तेभ्य । अनन्तज्ञानादिसिद्धगुणस्मरणरूपो भावनमस्कारोऽस्तु **तस्स य णिव्वाणमग्गस्स** तस्मै निर्विकारस्वसवित्तिलक्षणनिश्चयरत्नत्रयात्मकनिर्वाणमार्गाय च । ततोऽवधार्यते अयमेव मोक्षमार्गो नान्य इति ॥१९९॥

उत्थानिका—आगे विशेष करके समर्थन करते हैं कि यह अपने शुद्धात्मा की प्राप्ति लक्षण ही मोक्षमार्ग है, अन्य कोई मार्ग नही हैं ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(एवं) इस तरह पूर्व कहे प्रमाण (मग्गं समुट्ठिदा) मोक्षमार्ग को प्राप्त होकर (समणा) मुनि, (जिणा) सामान्यकेवली जिन, (जिणिंदा) तथा तीर्थंकरकेवली जिन, (सिद्धा) सिद्ध परमात्मा (जादा) हुए (तेसिं) उन सबको (य) और तस्स णिव्वाणमग्गस्स) उस मोक्षमार्ग को (णमोत्थु) नमस्कार हो । इस तरह बहुत प्रकार से पहले कहे हुए निज परमात्मतत्व के अनुभवमयी मोक्षमार्ग को आश्रय करने वाले जीव सुख दुःख आदि में समताभाव से परिणमन करने वाले तथा आत्मतत्व मे लीन अनेक मुनि हुए जो तद्भव मोक्षगामी न थे तथा सामान्यकेवली जिन हुए व तीर्थंकर परमदेव हुए, ये सब सिद्ध परमात्मा हुए हैं । उन सबको तथा उस विकार रहित स्वसवेदन लक्षण निश्चयरत्नत्रयमयी मोक्ष के मार्ग का हमारा अनन्तज्ञानादि सिद्ध गुणों का स्मरणरूप भाव नमस्कार हो । यहां अचरमशरीरी मुनियों को सिद्ध मानकर इसलिये नमस्कार किया है कि उन्होंने भी रत्नत्रय की सिद्धि की है । जैसा कहा है—**

"तवसिद्धे णयसिद्धे सजमसिद्धे चरित्तसिद्धे य । णाणम्मि दंसणम्मि य सिद्धे सिरसा णमस्सामि"

अर्थात् जिन्होने तप मे सिद्धि पाई है, नयों के स्वरूपज्ञान मे सिद्धि पाई है, संयम में सिद्धि की है, चारित्र मे सिद्धि पाई है तथा सम्यग्दर्शन व सम्यग्ज्ञान में सिद्धि पाई है उन सबको मैं सिर झुकाकर नमस्कार करता हूं । इससे निश्चय किया जाता है कि यही मोक्ष का मार्ग है, अन्य कोई नहीं है ॥१९९॥

अथोपसंपद्ये साम्यमिति पूर्वप्रतिज्ञां निर्वहन् मोक्षमार्गभूतां स्वयमपि शुद्धात्मप्रवृत्तिमासूत्रयति—

तम्हा तह जाणित्ता अप्पाणं जाणगं सभावेण[1] ।
परिवज्जामि ममत्तिं उवट्ठिदो णिम्ममत्तम्मि[2] ॥२००॥

तस्मात्तथा ज्ञात्वात्मान ज्ञायक स्वभावेन।
परिवर्जयामि ममतामुपस्थितो निर्ममत्वे ॥२००॥

अहमेष मोक्षाधिकारी ज्ञायकस्वभावात्मतत्वपरिज्ञानपुरस्सरममत्वनिर्ममत्वहानोपादानविधानेन कृत्यान्तरस्याभावात्सर्वारम्भेण शुद्धात्मनि प्रवर्ते। तथाहि—अहं हि तावत् ज्ञायक एव स्वभावेन, केवलज्ञायकस्य च सतो मम विश्वेनापि सहजज्ञेयज्ञायकलक्षण एव सम्बन्ध न पुनरन्ये, स्वस्वामिलक्षणादयः सम्बन्धाः। ततो मम न क्वचनापि ममत्वं सर्वत्र निर्ममत्वमेव। अथैकस्य ज्ञायकभावस्य समस्तज्ञेय- भावस्वभावत्वात् प्रोत्कीर्णलिखितनिखातकीलितमज्जितसमावर्तितप्रतिबिम्बितवत्तत्र क्रमप्रवृत्तानन्तभूतभवद्भाविविचित्रपर्यायप्राग्भारमगाधस्वभावं गम्भीरं समस्तमपि द्रव्यजातमेकक्षणे एवं प्रत्यक्षयन्तं ज्ञेयज्ञायकलक्षणसंबन्धस्यानिवार्यत्वेनाशक्यविवेचनत्वादुपात्तवैश्वरूप्यमपि सहजानन्तशक्तिज्ञायकस्वभावेनैक्यरूप्यमनुज्झन्तमासंसारमनयैव स्थित्या स्थितं मोहेनान्यथाध्यवस्यमानं शुद्धात्मानमेष मोहमुत्खाय यथास्थितमेवातिनिःप्रकम्पः संप्रतिपद्ये। स्वयमेव भवतु चास्यैव दर्शनविशुद्धिमूलया सम्यग्ज्ञानोपयुक्ततयात्यन्तमव्याबाधरतत्वात्साधोरपि साक्षात्सिद्धभूतस्य स्वात्मनस्तथाभूतानां परमात्मनां च नित्यमेव तदेकपरायणत्वलक्षणो भावनमस्कार ॥२००॥

*** शालिनी छन्द ***

जैनं ज्ञानं ज्ञेयतत्त्वप्रणेतृ स्फीतं शब्दब्रह्म सम्यग्विगाह्य ॥
संशुद्धात्मद्रव्यमात्रैकवृत्त्या नित्यं युक्तैः स्थीयतेऽस्माभिरेवम् ॥१०॥
ज्ञेयीकुर्वन्नञ्जसासीमविश्वं ज्ञानीकुर्वन् ज्ञेयमाक्रान्तभेदम् ।
आत्मीकुर्वन् ज्ञानमात्मान्यभासि स्फूर्जत्यात्मा ब्रह्म संपद्य सद्यः ॥११॥

वसन्ततिलका छन्द

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि द्रव्य मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षम् ।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं द्रव्य प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य ॥१२॥

इति तत्त्वदीपिकायां प्रवचनसारवृत्तौ श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां ज्ञेयतत्त्वप्रज्ञापनो नाम द्वितीयः श्रुतस्कन्धः समाप्तः ॥२॥

१—सहावेण (ज० वृ०)। २—णिम्ममत्तम्हि (ज० वृ०)।

भूमिका—अब, 'साम्य को प्राप्त करता हूँ' ऐसी (पांचवीं गाथा में की गई) पूर्व प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए (आचार्यदेव) स्वयं भी मोक्षमार्गभूत शुद्धात्म प्रवृत्ति करते हैं—

अन्वयार्थ—[तस्मात्] इस कारण (अर्थात् शुद्धात्मा मे प्रवृत्ति के द्वारा ही मोक्ष होता है, इस कारण) से [तथा] उसी प्रकार [आत्मान] आत्मा को [स्वभावेन ज्ञायक] स्वभाव से ज्ञायक [ज्ञात्वा] जानकर [निर्ममत्वे उपस्थित] मैं निर्ममत्व मे स्थित रहता हुआ [ममता परिवर्जयामि] ममता का परित्याग करता हू ।

टीका—मैं यह मोक्षाधिकारी, ज्ञायकस्वभावी आत्मतत्व के परिज्ञानपूर्वक ममत्व की त्यागरूप और निर्ममत्व की ग्रहणरूपी विधि के द्वारा सर्व आरम्भ (उद्यम) से शुद्धात्मा में प्रवृत्त होता हूँ, क्योंकि अन्य कृत्य का अभाव है । (अर्थात् दूसरा कुछ भी करने योग्य नहीं है) । वह इस प्रकार है (अर्थात् मै इस प्रकार शुद्धात्मा मे प्रवृत्त होता हूँ)—प्रथम तो मैं स्वभाव से ज्ञायक ही हूँ, केवल ज्ञायक होने से मेरा विश्व (समस्त पदार्थों) के साथ भी सहज ज्ञेयज्ञायक लक्षण सम्बन्ध ही है, किन्तु अन्य स्वस्वामिलक्षणादि सम्बन्ध नहीं है । इसलिये मेरा किसी के प्रति ममत्व नहीं हैं, सर्वत्र निर्ममत्व ही है ।

अब, (१) एक ज्ञायकभाव का समस्त ज्ञेयो को जानने का स्वभाव होने से, क्रमश प्रवर्तमान, अनन्त भूत, वर्तमान, भावी विचित्र पर्याय समूह वाले, अगाध स्वभाव और गम्भीर समस्त द्रव्यमात्र को–मानों वे द्रव्य ज्ञायक मे उत्कीर्ण हो गये हों, चित्रित हो गये हों, भीतर घुस गये हों कीलित हो गये हों, डूब गये हो, समा गये हों, प्रतिबिम्बित हो गये हों,–एक क्षण मे ही जो (शुद्धात्मा) प्रत्यक्ष करता है, (२) ज्ञेय ज्ञायक लक्षणरूप सबन्ध की अनिवार्यता के कारण ज्ञेय–ज्ञायक को भिन्न करना अशक्य होने से, विश्वरूपता को प्राप्त होता हुआ भी जो (शुद्धात्मा) सहज अनन्तशक्ति वाले ज्ञायक स्वभाव के द्वारा एकरूपता को नहीं छोड़ता, (३) जो अनादि संसार मे इसी स्थिति मे (ज्ञायकभावरूप ही) रहा हैं, और (४) जो मोह के द्वारा दूसरे रूप मे जाना माना जाता हैं, उस शुद्धात्मा को यह मैं, मोह को उखाड़ फेंककर, अतिनिष्कम्प रहता हुआ, यथास्थित (जैसा का तैसा) ही प्राप्त करता हूँ ।

इस प्रकार दर्शनविशुद्धि जिसका मूल है ऐसी, सम्यग्ज्ञान मे उपयुक्तता के कारण अत्यन्त अव्याबाध (निर्विघ्न) लीनता होने से, साधु होने पर भी साक्षात् सिद्धभूत निज आत्मा को तथा सिद्धभूत परमात्माओ का, उसी मे परायणता जिसका एक लक्षण है ऐसा भाव नमस्कार सदा ही स्वयमेव हो ॥२००॥

अब श्लोक द्वारा जिनेन्द्रोक्त शब्दब्रह्म के सम्यक् अभ्यास का फल कहा जाता है—

अर्थ—**इस प्रकार ज्ञेयतत्व को समझाने वाले जैन ज्ञान मे—विशाल शब्दब्रह्म मे सम्यक्तया अवगाहन करके (डुबकी लगाकर, गहराई मे उतरकर निमग्न होकर) हम मात्र शुद्ध आत्मद्रव्यरूप एक वृत्ति से (परिणति से) सदा युक्त रहते है ।।१०।।**

अब श्लोक के द्वारा मुक्तात्मा के ज्ञान की महिमा गाकर ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापनाधिकार की पूर्णाहुति की जा रही है—

अर्थ—**आत्मा ब्रह्म को (परमात्मत्व को, सिद्धत्व को) शीघ्र प्राप्त करके, असीम (अनन्त) विश्व को शीघ्रता से (एक समय मे) ज्ञेयरूप करता हुआ, भेदों को प्राप्त ज्ञेयों को ज्ञानरूप करता हुआ (अनेक प्रकार के ज्ञेयो को जानता हुआ) और स्वपर प्रकाशक ज्ञान को आत्मारूप करता हुआ, प्रगट—दैदीप्यमान होता है ।।११।।**

अब श्लोक द्वारा, द्रव्य और चरण का सम्बन्ध बतलाकर, ज्ञेयतत्व प्रज्ञापन नामक द्वितीयाधिकार की और चरणानुयोग सूचक चूलिका नामक तृतीयाधिकार की संधि बतलाई जाती है—

अर्थ—**चरण द्रव्यानुसार होता है और द्रव्य चरणानुसार होता है। इस प्रकार वे दोनो परस्पर सापेक्ष है, इसलिये या तो द्रव्य का आश्रय लेकर अथवा चरण का आश्रय लेकर मुमुक्षु (ज्ञानीमुनि) मोक्षमार्ग मे आरोहण करो।**

इस प्रकार (श्री भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत) श्री प्रवचनसार शास्त्र की श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव विरचित तत्त्वदीपिका नामक टीका का यह 'ज्ञेयतत्त्व-प्रज्ञापन' नामक द्वितीयस्कंध (का भाषानुवाद) समाप्त हुआ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ 'उवसपयामि सम्म जत्तो णिव्वाणसपत्ती' इत्यादि पूर्वप्रतिज्ञा निर्वाहयन् स्वयमपि मोक्षमार्गपरिणतिं स्वीकरोतीति प्रतिपादयति,

तम्हा यस्मात्पूर्वोक्तशुद्धात्मोपलम्भलक्षणमोक्षमार्गेण जिना जिनेन्द्रा श्रमणाश्च सिद्धा जातास्तस्मादहमपि **तह** तथैव तेनैव प्रकारेण **जाणित्ता** ज्ञात्वा। कम् ? **अप्पाण** निजपरमात्मानम्। किं विशिष्ट ? **जाणग** ज्ञायक केवलज्ञानाद्यनन्तगुणस्वभाव। केन कृत्वा ? ज्ञात्वा। **सहावेण** समस्तरागादिविभावरहितशुद्धबुद्धैकस्वभावेन। पश्चात् किं करोमि ? **परिवज्जामि** परि समन्ताद्वर्जयामि। का ? **ममत्तिं** समस्तचेतनाचेतनमिश्रपरद्रव्यसम्बन्धिनी ममताम्। कथभूत सन् ? **उवट्ठिदो** उपस्थित परिणत। क्व? **णिम्ममत्तम्हि** समस्तपरद्रव्यममकाराहकाररहितत्वेन निर्ममत्वलक्षणे परमसाम्याभिधाने वीतरागचारित्रे तत्परिणतनिजशुद्धात्मस्वभावे वा। तथाहि—अह तावत्केवलज्ञानदर्शनस्वभावत्वेन ज्ञायकैकटङ्कोत्कीर्णस्वभाव। तथाभूतस्य सतो मम नु केवल स्वस्वाम्यादय परद्रव्यसम्बन्धा न सन्ति। निश्चयेन ज्ञेयज्ञा-

यकसम्बन्धो नास्ति । तत कारणात्समस्तपरद्रव्यममत्वरहितो भूत्वा परमशाम्यलक्षणे निजशुद्धात्मनि तिष्ठामीति । किंच 'उवसपयामि सम्म' इत्यादि स्वकीयप्रतिज्ञा निर्वाहयन्स्वयमपि मोक्षमार्गपरिणतिं स्वीकरोत्येव यदुक्तं गाथापातनिका प्रारम्भे तेन किमुक्त भवति–ये ता प्रतिज्ञा गृहीत्वा सिद्धिगतास्तैरेव सा प्रतिज्ञा वस्तुवृत्त्या समाप्ति नीता । कुन्दकुन्दाचार्यदेवै पुनर्ज्ञानदर्शनाधिकारद्वयरूपग्रन्थसमाप्तिरूपेण समाप्ति नीता । शिवकुमारमहाराजेन तु तद्ग्रन्थश्रवणेन च । कस्मादिति चेत् ? ये मोक्ष गतास्तेषा सा प्रतिज्ञा परिपूर्णा जाता । न चैतेषा, कस्मात् ? चरमदेहत्वाभावादिति ॥२००॥

एव ज्ञानदर्शनाधिकारसमाप्तिरूपेण चतुर्थस्थले गाथाद्वय गतम् ।

उत्थानिका—आगे प्रथम ज्ञानाधिकार की पाचवी गाथा मे आचार्य ने कहा था कि "उवसंपयामि सम्म जुत्तो णिव्वाणसपत्ती" मै साम्यभाव को धारण करता हू जिससे निर्वाण की प्राप्ति होती है, उसी अपनी पूर्व प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुए स्वय ही मोक्षमार्ग की परिणति को स्वीकार करते हुए कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(तम्हा) इसलिये (तह) तिसही प्रकार (सहावेण) अपने स्वभाव से (जाणग) ज्ञायक मात्र (अप्पाण) आत्मा को (जाणित्ता) जानकर (णिम्मत्तम्हि) ममतारहित भाव मे (उवट्ठिदो) ठहरा हुआ (ममत्ति) ममता भाव को (परिवज्जामि) मै दूर करता हूँ । क्योंकि पहले कहे हुए प्रमाण शुद्धात्मा के लाभ रूप मोक्षमार्ग के द्वारा जिन, जिनेन्द्र तथा महामुनि सिद्ध हुए है इसलिये मै भी उसी ही प्रकार से सर्व रागादि विभाव से रहित शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव के द्वारा उस केवलज्ञानादि अनंतगुण स्वभाव के धारी अपने ही परमात्मा को जान करके सर्व पर द्रव्य सम्बन्धी ममकार अहकार से रहित होकर निर्ममता लक्षण परम साम्यभाव नाम के वीतरागचारित्र मे अथवा उस चारित्र मे परिणमन करने वाले अपने शुद्ध आत्म स्वभाव मे ठहरा हुआ सर्व चेतन अचेतन व मिश्र रूप परद्रव्य सम्बन्धी ममता को सब तरह से छोड़ता हूँ । भाव यह है कि मै केवलज्ञान तथा केवलदर्शन स्वभाव रूप से ज्ञायक एक टंकोत्कीर्ण स्वभाव हूँ ऐसा होता हुआ मेरा परद्रव्यों के साथ अपने स्वामीपने आदि का कोई सम्बन्ध नहीं है मात्र ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध है, सो भी व्यवहारनय से है निश्चय से यह ज्ञेय ज्ञायक सम्बन्ध भी नहीं है । इस कारण से मैं सर्व परद्रव्यों के ममत्व से रहित होकर परम समता लक्षण अपने शुद्धात्मा मे ठहरता हूँ । श्री कुन्दकुन्द महाराज ने "उवसंपयामि सम्म" मैं समताभाव को आश्रय करता हूँ इत्यादि अपनी की हुई प्रतिज्ञा का निर्वाह करते हुये स्वयं ही मोक्षमार्ग की परिणति को स्वीकार किया है ऐसा जो गाथा की पातनिका के प्रारम्भ मे कहा गया है उससे यह भाव प्रगट होता है कि जिन महात्माओं ने उस प्रतिज्ञा को लेकर सिद्धि पाई है उन्हीं के द्वारा

वास्तव में वह प्रतिज्ञा पूरी की गई है। श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने तो मात्र ज्ञान दर्शन ऐसे दो अधिकारों को ग्रंथ मे समाप्त करते हुए उस प्रतिज्ञा को पूरा किया है। शिवकुमार महाराज ने तो मात्र ग्रन्थ के श्रवण से ही साम्यभाव का आलम्बन किया है। क्योंकि वास्तव मे जो मोक्ष को प्राप्त हुए हैं उन्हीं की यह प्रतिज्ञा पूर्ण हुई है न कि श्रीकुन्दकुन्दाचार्य महाराज की और न शिवकुमार राजा की क्यों दोनो के चरमदेह का अभाव है ॥२००॥

तात्पर्यवृत्ति

एव निजशुद्धात्मभावनारूपमोक्षमार्गेण ये सिद्धि गता ये च तदाराधकास्तेषा दर्शनाधिकारापेक्षयावसानमङ्गलार्थं ग्रन्थापेक्षया मध्यमङ्गलार्थं च तत्पदाभिलाषी भूत्वा नमस्कार करोति—

प्राकृत गाथा .--- **दंसणसंसुद्धाण सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताण ।**
अव्वाबाधरदाण णमो णमो सिद्धसाहूण ॥२००-१॥

णमो णमो नमो नम पुन पुनर्नमस्करोमीति भक्तिप्रकर्ष दर्शयति। केभ्य ? **सिद्धसाहूण** सिद्धसाधुभ्य । सिद्धशब्दवाच्यस्वात्मोपलब्धिलक्षणार्हत्सिद्धेभ्य साधुशब्दवाच्यमोक्षसाधकाचार्योपाध्यायसाधुभ्य । पुनरपि कथभूतेभ्य ? **दंसणससुद्धाण** मूढत्रयादिपञ्चविंशतिमलरहितसम्यग्दर्शनसशुद्धेभ्य । पुनरपि कथभूतेभ्य ? **सम्मण्णाणोवजोगजुत्ताण** सशयादिरहित सम्यग्ज्ञान तस्योपयोग सम्यग्ज्ञानोपयोग, योगो निर्विकल्पसमाधिर्वीतरागचारित्रमित्यर्थ ताभ्या युक्ता सम्यग्ज्ञानोपयोगयुक्तास्तेभ्य । पुनश्च किरूपेभ्य **अव्वाबाधरदाण** सम्यग्ज्ञानादिभावनोत्पन्नाव्याबाधानन्तसुखरतेभ्यश्च ॥२००-१॥

इति नमस्कारगाथासहितस्थलचतुष्टयेन चतुर्थविशेषान्तराधिकार समाप्त । एव 'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि' इत्याद्येकादशगाथापर्यन्त शुभाशुभशुद्धोपयोगत्रयमुख्यत्वेन प्रथमो विशेषान्तराधिकारस्तदनन्तर 'अपदेसो परमाणू पदेसमेत्तो य' इत्यादिगाथानवकपर्यन्त पुद्गलाना परस्परबन्धमुख्यत्वेन तृतीयो विशेषान्तराधिकारस्तत पर 'अरसमरुव' इत्यादि एकोनविशतिगाथापर्यन्त जीवस्य पुद्गलकर्मणा सह बन्धमुख्यत्वेन तृतीयो विशेषान्तराधिकारस्ततश्च 'ण चयदि जो दु ममत्ति इत्यादि द्वादशगाथापर्यन्त विशेषभेदभावनाचूलिकाव्याख्यानरूपश्चतुर्थ चारित्रविशेषान्तराधिकार इत्येकाधिकपञ्चाशद्गाथाभिर्विशान्तराधिकारचतुष्टयेन विशेषभेदभावनाभिधानाश्चतुर्थोन्तराधिकार समाप्त ।

इति **श्री जयसेनाचार्य**कृताया तात्पर्यवृत्तौ '**तम्हा तस्सणमाइ** इत्यादि पञ्चत्रिंशद्गाथापर्यन्त ततश्च व्याख्यान तदनन्तर 'दव्व जीव' इत्याद्येकोनविंशतिगाथापर्यन्त जीवपुद्गलधर्मादिभेदेन **विशेषज्ञे**यव्याख्यान ततश्च 'सपदेसेहि समग्गो' इत्यादि गाथाष्टकपर्यन्त सामान्यभेदभावना तत पर 'अत्थित्तणिच्छिदस्स हि' इत्याद्येकाधिकपञ्चाशद्गाथापर्यन्त विशेषभेदभावना चेत्यन्तराधिकारचतुष्टयेन त्रयोदशाधिकशतगाथाभि **सम्यग्दर्शनाधिकार** नामा **ज्ञेया**-धिकारापरसज्ञो द्वितीयो **महाधिकार** समाप्त ॥२॥

उत्थानिका—इस तरह निज शुद्धात्मा की भावनारूप मोक्षमार्ग के द्वारा जिन्होंने सिद्धि पाई है और जो उस मोक्षमार्ग के आराधना वाले है उन सबको इस दर्शन अधिकार की समाप्ति मे मगल के लिये अथवा ग्रथ की अपेक्षा मध्य मे मगल के लिये उस ही पद की इच्छा करते हुए आचार्य नमस्कार करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(दसणसंसुद्धाणं) **सम्यग्दर्शन से शुद्ध (सम्मण्णाणोवजोग-जुत्ताणं) व सम्यग्ज्ञानमयी उपयोग से युक्त तथा (अव्वाबाधरदाणं) अव्याबाध सुख मे लीन (सिद्धसाहूणं) सिद्धों को और साधुओं को (णमो णमो) बार बार नमस्कार हो। जो तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोषों से रहित शुद्ध सम्यग्दृष्टी हैं, व सशयादि दोषों से रहित सम्यग्ज्ञानमयी उपयोगधारी हैं अथवा सम्यग्ज्ञान और निर्विकल्पसमाधि मे वर्तने वाले वीतरागचारित्र सहित हैं तथा सम्यग्ज्ञान आदि की भावना से उत्पन्न अव्याबाध तथा अनन्तसुख में लीन हैं ऐसे जो सिद्ध हैं अर्थात् अपने आत्मा की प्राप्ति करने वाले अर्हंत और सिद्ध हैं तथा जो साधु हैं अर्थात् मोक्ष के साधक आचार्य, उपाध्याय तथा साधु है उन सबको मेरा बार बार नमस्कार हो ऐसा कहकर श्रीकुन्दकुन्द आचार्य ने अपनी उत्कृष्ट भक्ति दिखाई है ॥२००॥१॥**

इस तरह नमस्कार गाथा सहित चार स्थलो मे चौथा विशेष अन्तर अधिकार समाप्त हुआ। इस "अत्थित्त णिच्छिदस्स हि" इत्यादि ग्यारह गाथा तक शुभ, अशुभ, शुद्ध उपयोग इन तीन उपयोग की मुख्यता से पहला विशेष अन्तर अधिकार है फिर 'अपदेसो परमाणू पदेसमत्तीय' इत्यादि नौ गाथाओ तक पुद्गलो के परस्पर बध की मुख्यता से दूसरा विशेष अन्तर अधिकार है। फिर "अरसमरूव" इत्यादि उन्नीस गाथा तक जीव का पुद्गलकर्मों के साथ बध कथन की मुख्यता से तीसरा विशेष अन्तर अधिकार है फिर "ण चयदि जो दु मर्मात्ति" इत्यादि बारह गाथाओ तक विशेष भेदभावना की चूलिका रूप व्याख्यान है ऐसा चौथा चारित्र विशेष का अन्तर अधिकार है, इस तरह इक्यावन गाथाओ से चार विशेष अन्तर अधिकारो से विशेष भेदभावना नामक चौथा अन्तर अधिकार पूर्ण हुआ।

इस तरह श्री जयसेनाचार्य कृत तात्पर्यवृत्ति मे "तम्हा दसण माइ" इत्यादि पैतीस गाथाओ तक सामान्य ज्ञेय का व्याख्यान है फिर "दव्व जीव" इत्यादि उन्नीस गाथाओ तक जीव पुद्गलधर्मादि भेद से विशेष ज्ञेय का व्याख्यान है फिर "सपदेसेहि समग्गो" इत्यादि

आठ गाथाओ तक सामान्य भेदभावना है पश्चात् "अत्थित्तणिच्छिदस्सहिं" इत्यादि इक्यावन गाथाओ तक विशेष भेदभावना है, इस तरह चार अन्तर अधिकारो मे एक सौ तेरह गाथाओ से सम्यग्दर्शन नाम का अधिकार अथवा ज्ञेयाधिकार नाम का दूसरा महा-अधिकार समाप्त हुआ।

इस तरह ज्ञानदर्शन अधिकार की समाप्ति करते हुए चौथे स्थल में दो गाथाएं पूर्ण हुईं।

इस प्रकार प्रवचनसार का दूसरा खण्ड ज्ञेयाधिकार
श्रीमदामृत चन्द्राचार्यकृत तत्त्व प्रदीपिका
तथा जयसेनाचार्य कृत तात्पर्य
वृत्ति तथा इन्हीं की भाषा
टीकाओं सहित समाप्त
हुआ।
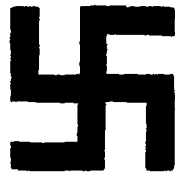
* चरणानुयोगसूचक चूलिका *

३

अथ परेषां चरणानुयोगसूचिका चूलिका ।

तत्र—

* इन्द्रवज्रा छन्द *

द्रव्यस्य सिद्धौ चरणस्य सिद्धिः द्रव्यस्य सिद्धिश्चरणस्य सिद्धौ ।
बुद्ध्वेति कर्माविरताः परेऽपि द्रव्याविरुद्धं चरणं चरतु ॥१३॥

इति चरणाचरणे परान् प्रयोजयति—

"एस सुरासुरमणुसिंदवंदिदंधोदघाइकम्ममलं । पणमामि वड्ढमाणं तित्थं धम्मस्स कत्तारं ॥
सेसे पुण तित्थयरे ससव्वसिद्धे विसुद्धसब्भावे । समणे य णाणदंसणचरित्ततववीरियायारे ॥
ते ते सव्वे समगं समगं पत्तेगमेव पत्तेगं । वंदामि य वट्टंते अरहंते माणुसे खेत्ते ॥"

एवं पणमिय सिद्धे जिणवरवसहे पुणो पुणो समणे ।
पडिवज्जदु सामण्णं जदि इच्छदि दुक्खपरिमोक्खं ॥२०१॥

एवं प्रणम्य सिद्धान् जिनवरवृषभान् पुनः पुनः श्रमणान् ।
प्रतिपद्यतां श्रामण्यं यदीच्छति दुःखपरिमोक्षम् ॥२०१॥

यथा ममात्मना दुःखमोक्षार्थिना, 'किच्चा अरहंताणं सिद्धाणं तह णमो गणहराणं । अज्झावयवग्गाणं साहूणं चेदि सव्वेसिं ॥ तेसिं विसुद्धदंसणणाणपहाणासमं समासेज्ज । उवसंपयामि सम्मं जत्तो णिव्वाणसंपत्ती ॥' इति अर्हत्सिद्धाचार्योपाध्यायसाधूनां प्रणतिवन्दनात्मकनमस्कारपुरःसरं विशुद्धदर्शनज्ञानप्रधानं साम्यनाम श्रामण्यमवान्तरग्रन्थसन्दर्भोभयसंभावितसौस्थित्यं स्वयं प्रतिपन्नं परेषामात्मापि यदि दुःखमोक्षार्थी तथा तत्प्रतिपद्यतां यथानुभूतस्य तत्प्रतिपत्तिवर्त्मनः प्रणेतारो वयमिमे तिष्ठाम इति ॥२०१॥

अब दूसरों को चरणानुयोग की सूचक चूलिका है ।

[उसमें, प्रथम श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव श्लोक के द्वारा अब इस आगामी गाथा की उत्थानिका करते हैं]

अर्थ—द्रव्य की सिद्धि में चरण की सिद्धि है, और चरण की सिद्धि मे द्रव्य की

सिद्धि है,–यह जानकर कर्मों से (पापों से) अविरत तथा अन्य भी, द्रव्य से अविरुद्ध चरण का आचरण करो अर्थात् चारित्र का पालन करो।

इस प्रकार (श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव इस आगामी गाथा के द्वारा) दूसरों को चरण (चारित्र) के आचरण करने में योजित करते (जोड़ते) हैं।

[अब गाथा के प्रारम्भ करने से पूर्व उसकी संधि के लिये श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव ने पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करने के लिये ज्ञानतत्व-प्रज्ञापन अधिकार की प्रथम तीन गाथायें लिखी हैं।

भूमिका—**अब, इस अधिकार की गाथा प्रारम्भ करते हैं—**

अन्वयार्थ—[यदि दु खपरिमोक्षम् इच्छति] यदि दु खो से मुक्त होने की इच्छा है तो, [एव] पूर्वोक्त प्रकार से (ज्ञानतत्व-प्रज्ञापन की प्रथम तीन गाथाओ के अनुसार) [पुनः पुन] बारम्बार [सिद्धान्] सिद्धो को, [जिनवरवृषभान्] अर्हन्तो को तथा [श्रमणान्] मुनियो को [प्रणम्य] नमस्कार करके [श्रामण्य प्रतिपद्यताम्] यतिधर्म को अंगीकार करो।

टीका—**जैसे दुःखों से मुक्त होने के लिये मेरी आत्मा ने अर्हन्तों, सिद्धों, आचार्यों, उपाध्यायों तथा साधुओं को वंदनात्मक नमस्कार करके विशुद्ध दर्शन ज्ञान प्रधान साम्यनामक जिस यति–मार्ग को, जिसको इस ग्रन्थ मे कथित दो अधिकारों की रचना द्वारा कथन किया गया है, स्वयं अंगीकार किया है उसी प्रकार दूसरों का आत्मा भी, यदि दुःखों से मुक्त होने का इच्छुक है तो, उसे अंगीकार करो। उस यतिधर्म को अंगीकार करने का जो यथानुभूत मार्ग है उसकी प्रेरणा करने के लिये हम खड़े हुये हैं ।।२०१।।**

तात्पर्यवृत्ति

कार्यं प्रत्यत्रैव ग्रन्थ समाप्त इति ज्ञातव्यम्। कस्मादिति चेत् ? 'उवसपयामि सम्म' इति प्रतिज्ञासमाप्ते। अत पर यथाक्रमेण सप्ताधिकनवतिगाथापर्यन्त चूलिकारूपेण चारित्राधिकारव्याख्यान प्रारभ्यते। तावदुत्सर्गरूपेण चारित्रस्य सक्षेपव्याख्यानम्। तदनन्तरमपवादरूपेण तस्यैव चारित्रस्य विस्तरव्याख्यानम्। ततश्च श्रामण्यापरनाममोक्षमार्गव्याख्यानम्। तदनन्तर शुभोपयोगव्याख्यानमित्यन्त-राधिकारचतुष्टय भवति। तत्रापि प्रथमान्तराधिकारे पञ्चस्थलानि 'एव पणमिय सिद्धे' इत्यादि गाथा-सप्तकेन दीक्षाभिमुखपुरुषस्य दीक्षाविधानकथनमुख्यतया प्रथमस्थलम्। अत पर वदसमिदिंदिय' इत्यादि-मूलगुणकथनरूपेण द्वितीये स्थले गाथाद्वयम्। तदनन्तर गुरुव्यवस्थाज्ञापनार्थं 'लिंगग्गहणे' इत्यादि एका गाथा। तथैव प्रायश्चित्तकथनमुख्यतया 'पयदम्हि' इत्यादि गाथाद्वयमिति समुदायेन तृतीय स्थले गाथात्र-यम्। अथाचारादिशास्त्रकथितक्रमेण तपोधनस्य सक्षेपसमाचारकथनार्थं अधिवासे व' इत्यादि चतुर्थ-

स्थले गाथात्रयम् । तदनन्तर भावहिंसाद्रव्यहिंसापरिहारार्थं 'अपयत्ता वा चरिया' इत्यादि पञ्चमस्थले सूत्रषटकमित्येकविंशतिगाथाभि स्थलपञ्चकेन प्रथमान्तराधिकारे समुदायपातनिका । तद्यथा-अथासन्न-भव्यजीवाश्चारित्रे प्रेरयति,—**पडिवज्जदु** प्रतिपद्यता स्वीकरोतु किम् ? **सामण्ण** श्रामण्य चारित्रम् । यदि किम् ? **इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्ख** यदि चेत् दु खपरिमोक्षमिच्छति । स क कर्त्ता ? परेषा-मात्मा । कथ प्रतिपद्यताम् ? **एव** पूर्वोक्तप्रकारेण **एस सुरासुरमणुसिद** इत्यादि गाथापञ्चकेनपञ्चपरमेष्ठि-नमस्कार कृत्वा ममात्मना दु खमोक्षार्थिनान्यै पूर्वोक्तभव्यैर्वा यथा तच्चारित्र प्रतिपन्न तथा प्रतिपद्यताम् । किं कृत्वा पूर्वं ? **पणमिय** प्रणम्य । कान् ? **सिद्धे** अञ्जनापादुकादिसिद्धिविलक्षणस्वात्मोपलब्धिसिद्धि-समेतसिद्धान् । **जिणवरवसहे** सासादनादिक्षीणकषायान्ता एकदेशजिना उच्यन्ते शेषाश्चानागारकेवलिनो जिनवरा भण्यन्ते । तीर्थंकरपरमदेवाश्च जिनवरवृषभा इति तान् जिनवरवृषभान् । न केवल तान् प्रणम्य **पुणो पुणो समणे** चिच्चमत्कारमात्रनिजात्मसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिश्चयरत्नत्रयाचरणप्रतिपादन-साधकत्वोद्यतान् श्रमणशब्दवाच्यानाचार्योपाध्यायसाधूश्च पुन पुन प्रणम्येति । किच पूर्व ग्रन्थप्रारम्भ-काले शाम्यमाश्रयामीति शिवकुमारमहाराजनामा प्रतिज्ञा करोतीति भणितम् । इदानी तु महात्मना चारित्र प्रतिपन्नमिति पूर्वापरविरोध । परिहारमाह—ग्रन्थप्रारम्भात्पूर्वमेव दीक्षा गृहीता तिष्ठति पर किन्तु ग्रन्थकरणव्याजेन क्वाप्यात्मान भावनापरिणत दर्शयति । क्वापि शिवकुमारमहाराज क्वाप्यन्य भव्यजीव वा । तेन कारणेनात्र ग्रन्थे पुरुषनियमो नास्ति कालनियमो नास्तीत्यभिप्राय ॥२००-॥

अब चारित्रतत्वदीपिका का व्याख्यान किया जाता है ।

उत्थानिका—इस ग्रन्थ का जो कार्य था उसकी अपेक्षा विचार किया जाय तो ग्रथ की समाप्ति दो खडो मे हो चुकी है, क्योकि "उपसपयामि सम्म" मैं साम्यभाव मे प्राप्त होता हूँ इस प्रतिज्ञा की समाप्ति हो चुकी है ।

तो भी यहा क्रम से सत्तानवे गाथाओ तक चूलिका रूप से चारित्र के अधिकार का व्याख्यान प्रारम्भ करते है । इसमे पहले उत्सर्ग रूप से चारित्र का सक्षेप कथन है उसके पीछे अपवाद रूप से उसी ही चारित्र का विस्तार से व्याख्यान है । इसके पीछे श्रमणपना अर्थात् मोक्षमार्ग का व्याख्यान है, फिर शुभोपयोग का व्याख्यान है इस तरह चार अन्तर अधिकार है । इनमे से भी पहले अन्तर अधिकार मे पाच स्थल हैं । "एव पणमिय सिद्धे" इत्यादि सात गाथाओ तक दीक्षा के सम्मुख पुरुष का दीक्षा लेने के विधान को कहने की मुख्यता से प्रथम स्थल है । फिर "वद-समिदिदिय" इत्यादि मूलगुण को कहते हुए दूसरे स्थल मे गाथाए दो है । फिर गुरु की व्यवस्था बताने के लिये "लिगग्गहणे" इत्यादि एक गाथा है । तैसे ही प्रायश्चित के कथन की मुख्यता से "पयदम्हि" इत्यादि गाथाए दो है इस तरह समुदाय से तीसरे स्थल मे गाथाए तीन है । आगे आधार आदि शास्त्र के कहे हुए क्रम से साधु का संक्षेप समाचार कहने के लिये "अधिवासे व वि" इत्यादि चौथे स्थल मे गाथाए तीन है । उसके पीछे भावहिंसा, द्रव्यहिसा के त्याग के

लिये 'अपयत्तादो चरिया' इत्यादि पाचवे स्थल मे सूत्र छः है। इस तरह इक्कीस गाथाओ मे पाच स्थलो से पहले अन्तर अधिकार मे समुदाय-पातनिका है।

उत्थानिका—आगे आचार्य निकट भव्य जीवो को चारित्र मे प्रेरित करते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**यह आत्मा (जदि) यदि (दुक्खपरिमोक्ख) दुःखों से छुटकारा (इच्छदि) चाहता है तो (एव) प्रथम पांच गाथा मे कहे अनुसार (सिद्धे) सिद्धों को (जिणवरवसहे) जिनेन्द्रों को, (समणे) और साधुओं को (पुणो पुणो) बारम्बार (पणमिय) नमस्कार करके (सामण्णं) मुनिपने को (पडिवज्जदु) स्वीकार करे। यदि कोई आत्मा ससार के दु खों से मुक्ति चाहता है तो उसको उचित है कि दुःख से मुक्ति के इच्छुक मुझने पंचपरमेष्ठी को नमस्कार करके चारित्र को धारण किया है अथवा दूसरे पूर्व मे कहे हुए भव्यों ने चारित्र स्वीकार किया है, इसी तरह वह भी पहले अंजन पादुका आदि लौकिक सिद्धियो से विलक्षण अपने आत्मा की प्राप्तिरूप सिद्धि के धारी सिद्धों को जिनेन्द्रों मे श्रेष्ठ ऐसे तीर्थंकर परमदेवों को तथा चैतन्य चमत्कार मात्र अपने आत्मा के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान तथा चारित्र रूप निश्चय रत्नत्रय के आचरण करने वाले, उपदेश देने वाले तथा साधन मे उद्यमी ऐसे श्रमण शब्द से कहने योग्य आचार्य, उपाध्याय तथा साधुओं को बार-बार नमस्कार करके साधु के चारित्र को स्वीकार करे। सासादन गुणस्थान से लेकर क्षीणकषाय नाम के बारहवें गुणस्थान तक एकदेश जिन कहे जाते तथा शेष दो गुणस्थान वाले केवलीमुनि जिनवर कहे जाते हैं, उनमें मुख्य जो हैं उनको जिनवरवृषभ या तीर्थंकरपरमदेव कहते हैं।**

यहाँ कोई शका करता है कि पहले इस प्रवचनसार ग्रन्थ के प्रारम्भ में यह कहा गया है कि शिवकुमार नाम के महाराजा यह प्रतिज्ञा करते है कि मै शांत भावको या समता भावको आश्रय करता हूं अब यहाँ कहा है कि महात्मा ने चारित्र स्वीकार किया था। इस कथन में पूर्वापर विरोध आता है। इसका समाधान यह है कि आचार्य प्रन्थ प्रारम्भ से ही पूर्व दीक्षित हैं किन्तु ग्रन्थ करने के बहाने से किसी भी आत्मा को अर्थात् शिवकुमार महाराज को व कही अन्य भव्य जीव को उस भावनामय परिणमन होते हुए आचार्य दिखाते है। इस कारण से इस ग्रन्थ मे किसी पुरुष का नियम नहीं है और न काल का नियम है ऐसा अभिप्राय है ॥२०१॥

अथ श्रमणो भवितुमिच्छन् पूर्वं किं किं करोतीत्युपदिशति—

आपिच्छ बंधुवग्गं विमोचिदो गुरुकलत्तपुत्तेहिं ।
आसिज्ज णाणदंसणचरित्ततववीरियायारं ॥२०१॥

आपृच्छ्य बन्धुवर्गं विमोचितो गुरुकलत्रपुत्रैः ।
आसाद्य ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारम् ॥२०१॥

यो हि नाम श्रमणो भवितुमिच्छति स पूर्वमेव बन्धुवर्गमापृच्छते, गुरुकलत्रपुत्रेभ्य आत्मानं विमोचयति, ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमासीदति । तथाहि—एवं बन्धुवर्गमापृच्छते, अहो इदं जनशरीरबन्धुवर्गवर्तिन आत्मानः, अस्य जनस्य आत्मा न किंचनापि युष्माकं भवतीति निश्चयेन यूयं जानीतः तत आपृष्टा यूयं, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिबन्धुमुपसर्पति । अहो इदंजनशरीरजनकस्यात्मन्, अहो इदंजनशरीरजनन्या आत्मन्, अस्या जनस्यात्मा न युवाभ्यां जनितो भवतीति निश्चयेन युवां जानीतं तत इममात्मानं युवां विमुञ्चतं, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिजनकमुपसर्पति । अहो इदंजनशरीररमण्या आत्मन्, अस्य जनस्यात्मानं न त्वं रमयसीति निश्चयेन त्वं जानीहि, तत इममात्मानं विमुञ्च, अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः स्वानुभूतिमेवात्मनोऽनादिरमणीमुपसर्पति । अहो इदंजनशरीरपुत्रस्यात्मन् अस्य जनस्यात्मनो न त्वं जन्यो भवसीति निश्चयेन त्वं जानीहि तत इममात्मानं विमुञ्च अयमात्मा अद्योद्भिन्नज्ञानज्योतिः आत्मानमेवात्मनोऽनादिजन्यमुपसर्पति । एवं गुरुकलत्रपुत्रेभ्य आत्मानं विमोचयति । तथा अहो कालविनयोपधानबहुमानानिह्नवार्थव्यञ्जनतदुभयसंपन्नत्वलक्षणज्ञानाचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो निःशङ्कितत्वनिःकाङ्क्षितत्वनिर्विचिकित्सत्वनिर्मूढदृष्टित्वोपबृंहणस्थितिकरणवात्सल्यप्रभावनालक्षणदर्शनाचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत् त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो मोक्षमार्गप्रवृत्तिकारणपञ्चमहाव्रतोपेतकायवाङ्मनोगुप्तीर्याभाषैषणादाननिक्षेपणप्रतिष्ठापनसमितिलक्षणचारित्राचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो अनशनावमौदर्यवृत्तिपरिसंख्यानरसपरित्यागविविक्तशय्यासनकायक्लेशप्रायश्चित्तविनयवैयावृत्त्यस्वाध्यायध्यानव्युत्सर्गलक्षणतपआचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे । अहो समस्ते-

तराचारप्रवर्तकस्वशक्त्यनिगूहनलक्षणवीर्याचार, न शुद्धस्यात्मनस्त्वमसीति निश्चयेन जानामि तथापि त्वां तावदासीदामि यावत्त्वत्प्रसादात् शुद्धमात्मानमुपलभे। एवं ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमासीदति च ॥२०२॥

भूमिका—**अब, श्रमण होने का इच्छुक पहले क्या-क्या करता है, उसका उपदेश करते हैं—**

अन्वयार्थ—श्रामण्यार्थी [बन्धुवर्गम् आपृच्छ्य] बंधुवर्ग से पूछकर [गुरुकलत्रपुत्रैः विमोचितः] बड़ो से तथा स्त्री और पुत्र से मुक्त होता हुआ [ज्ञानदर्शन चारित्रतपोवीर्याचारम् आसाद्य] ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपआचार और वीर्याचार को अंगीकार करके विरक्त होता है।

टीका—**जो मुनि होना चाहता है पहले ही बंधुवर्ग से (सगे-सम्बन्धियों से) पूछता है, गुरुजनों (बड़ों) से तथा स्त्री और पुत्रों से अपने को छुड़ाता है, ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपआचार तथा वीर्याचार को अंगीकार करता है। वह इस प्रकार है—**

बंधुवर्ग से इस प्रकार कहता है—अहो ! इस पुरुष के शरीर के बंधुवर्ग में प्रवर्तमान आत्माओ ! इस पुरुष का मेरा आत्मा किंचित्मात्र भी तुम्हारा नहीं है—इस प्रकार तुम निश्चय से जानो। इसलिये मै तुमसे विदा लेता हूँ। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह मेरा आत्मा आज अपने आत्मारूपी अपने अनादिबंधु के पास जा रहा है।

अहो ! इस पुरुष के शरीर के जनक (पिता) के आत्मा ! अहो इस पुरुष के शरीर की जननी माता के आत्मा ! इस पुरुष का मेरा आत्मा तुम्हारे द्वारा जनित (उत्पन्न) नहीं है, ऐसा तुम निश्चय से जानो। इसलिये तुम इस आत्मा को छोड़ो। जिसे ज्ञान ज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह मेरा आत्मा आज आत्मारूपी अपने अनादिजनक के पास जा रहा है।

अहो ! इस पुरुष के शरीर की रमणी (स्त्री) के आत्मा ! तू इस पुरुष के मेरे आत्मा को रमण नहीं कराता, ऐसा तू निश्चय से जान। इसलिये तू इस आत्मा को छोड़। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह मेरा आत्मा आज अपनी स्वानुभूति रूपी अनादिरमणी के पास जा रहा है।

अहो ! इस पुरुष के मेरे शरीर के पुत्र के आत्मा ! तू इस पुरुष के मेरे आत्मा का जन्य (उत्पन्न किया गया पुत्र) नहीं है, ऐसा तू निश्चय से जान। इसलिये तू इस आत्मा को छोड़। जिसे ज्ञानज्योति प्रगट हुई है ऐसा यह मेरा आत्मा आज आत्मारूपी अपने

अनादि जन्य के पास जा रहा है। इस प्रकार बड़ो से, स्त्री से और पुत्र से अपने को छुड़ाता है।

उसी प्रकार—अहो, काल, विनय, उपधान, बहुमान, अनिन्हव, अर्थ, व्यजन, और तदुभयसंपन्न ज्ञानाचार ! मै यह जानता हूँ कि तू निश्चय से शुद्धात्मा का नहीं है, तथापि मै तुझे तभी तक अगीकार करता हूँ जब तक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध करलूं। अहो निःशकितत्व, नि.कांक्षित्व, निर्विचिकित्सत्व, निर्मूढदृष्टित्व, उपवृंहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, और प्रभावनास्वरूप दर्शनाचार ! मै यह जानता हूं कि निश्चय से तू शुद्धात्मा का नहीं है, तथापि तुझे तब तक अंगीकार करता हूँ जब तक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध करलूं अहो ! मोक्षमार्ग मे प्रवृत्ति के कारणभूत, पंचमहाव्रत सहित काय, वचन, मनगुप्ति और ईर्याभाषा एषण-आदाननिक्षेपण-प्रतिष्ठापन समितिस्वरूप चारित्राचार ! मैं यह जानता हूँ कि तू निश्चय से शुद्धात्मा का नहीं है, तथापि तुझे तब तक अगीकार करता हूँ जब तक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूं। अहो ! अनशन, अवमौदर्य, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्तशय्यासन, कायक्लेश, प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, ध्यान और व्युत्सर्गस्वरूप तपआचार ! मै यह जानता हूँ कि निश्चय से तू शुद्धात्मा का नहीं है तथापि तुझे तब तक अगीकार करता हूँ जब तक तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूं। अहो ! समस्त इतर आचारों मे प्रवृत्ति कराने वाली स्वशक्ति को नहीं छिपाने स्वरूप वीर्याचार ! मै यह जानता हूँ कि तू निश्चय से शुद्धात्मा का नहीं हैं, तथापि तुझे तब तक अंगीकार करता हूँ जब तक कि तेरे प्रसाद से शुद्धात्मा को उपलब्ध कर लूं। इस प्रकार ज्ञानाचार, दर्शनाचार, चारित्राचार, तपआचार तथा वीर्याचार को अंगीकोर करता है ॥२०२॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ श्रमणो भवितुमिच्छन्पूर्वं क्षमितव्य करोति,—'उवट्ठिदो होदि सो समणो' इत्यग्रे षष्ठगाथाया यद्व्याख्यान तिष्ठति तन्मनसि धृत्वा पूर्वं कि कृत्वा श्रमणो भविष्यतीति व्याख्याति,—

आपिच्छ आपृच्छय पृष्ट्वा। कम् ? **बधुवग्ग** बन्धुवर्ग गोत्रम्। तत कथभूतो भवति ? **विमोचिदो** विमोचितस्त्यक्तो भवति। कै कर्तृभूतै ? **गुरुकलत्तपुत्तेहि** पितृमातृकलत्रपुत्रै। पुनरपि किं कृत्वा श्रमणो भविष्यति ? **आसिज्ज** आसाद्य आश्रित्य। कम् ? **णाणदसणचरित्ततववीरियायार** ज्ञानदर्शनचारित्रतपोवीर्याचारमिति। अथ विस्तर—अहो बन्धुवर्गपितृमातृकलत्रपुत्रा ! अय मदीयात्मा साम्प्रतमुद्भिन्नपरमविवेकज्योतिस्सन् स्वकीयचिदानन्दैकस्वभाव परमात्मानमेव निश्चयनयेनानादिबन्धुवर्गं पितर मातर कलत्र पुत्र चाश्रयति तेन कारणेन मा मुञ्चत यूयमिति क्षमितव्य करोति।

ततश्च किं करोति ? परमचैतन्यमात्रनिजात्मतत्त्वसर्वप्रकारोपादेयरुचिपरिच्छित्तिनिश्चलानुभूतिसमस्तपरद्रव्येच्छानिवृत्तिलक्षणतपश्चरणस्वशक्त्यनवगूहनवीर्याचाररूप निश्चयपञ्चाचारमाचारादिचरणग्रथकथिततत्साधकव्यवहारपञ्चाचार चाश्रयतीत्यर्थ । अत्र यद्गोत्रादिभि सह क्षमितव्यव्याख्यान कृत तदत्रातिप्रसङ्गनिषेधार्थम् । तत्र नियमो नास्ति । कथमिति चेत् ? पूर्वकाले प्रचुरेण भरतसगररामपाण्डवादयो राजान एव जिनदीक्षा गृह्णन्ति, तत्परिवारमध्ये यदा कोऽपि मिथ्यादृष्टिर्भवति तदा धर्मस्योपसर्गं करोतीति । यदि पुन कोऽपि मन्यते गोत्रसम्मत कृत्वा पश्चात्तपश्चरण करोमि तस्य प्रचुरेण तपश्चरणमेव नास्ति कथमपि तपश्चरणे गृहीतेऽपि यदि गोत्रादिममत्व करोति तदा तपोधन एव न भवति । तथाचोक्त—**जो सकलणयररज्ज पुव्व, चइऊण कुणइ य ममत्ति । सो णवरि लिंगधारी सजमसारेण णिस्सारो**" ॥२०२॥

उत्थानिका—आगे जो श्रमण होने की इच्छा करता है उसको पहले क्षमाभाव करना चाहिये । "उवट्ठिदो होदि सो समणो" इस छठी गाथा मे जो व्याख्यान है, उसी को मन मे धारण करके पहले क्या क्या काम करके साधु होवेगा उसी का व्याख्यान करते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(बन्धुवग्ग) बन्धुओं के समूह को (आपिच्छ) पूछकर (गुरुकलत्तपुत्तेहि) माता पिता स्त्री पुत्रो से (विमोचिदो) छूटता हुआ (णाणदसणचरित्ततववीरियायार) ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप, वीर्य ऐसे पाच आचारों को (आसिज्ज) आश्रय करके मुनि होता है ।**

वह साधु होने का इच्छुक इस तरह बंधुवर्गों को समझाकर क्षमाभाव करता व कराता है कि अहो बन्धु जनो ! मेरे पिता माता स्त्री पुत्रो ! मेरी आत्मा में परम भेद ज्ञानरूपी ज्योति उत्पन्न हो गई है इससे यह मेरा आत्मा अपने ही चिदानन्दमयी एक स्वभावरूप परमात्मा को ही निश्चयनय से अनादिकाल के बन्धुवर्ग, पिता, माता, स्त्री, पुत्ररूप मानकर उन्ही का आश्रय करता है इसलिये आप सब मुझे छोड दो—मेरा मोह त्याग दो व मेरे दोषो पर क्षमा करो, इस तरह क्षमाभाव कराता है । उसके पीछे निश्चय पंचाचार को और उसके साधक आचारादि ग्रंथों मे कहे हुए व्यवहार पंचाचार को आश्रय करता है । परम चैतन्यमात्र निज आत्मतत्व ही सब तरह से ग्रहण करने योग्य है ऐसी रुचि सो निश्चयसम्यग्दर्शन है ऐसा ही ज्ञान सो निश्चय से सम्यग्ज्ञान है, उसी निज स्वभाव में निश्चलता से अनुभव करना सो निश्चयसम्यक्चारित्र है, सर्व परद्रव्यों की इच्छा से रहित होना सो निश्चयतपश्चरण है तथा अपनी आत्मशक्ति को न छिपाना सो निश्चयवीर्याचार है । इस तरह निश्चयपंचाचार का स्वरूप जानना चाहिये ।

यहां जो यह व्याख्यान किया गया कि अपने बन्धु आदि के साथ क्षमा करावे सो यह कथन अतिप्रसङ्ग अर्थात् अमर्यादा के निषेध के लिये है । दीक्षा लेते हुए इस बात का

नियम नहीं है कि क्षमा कराए बिना दीक्षा न लेवे। क्यों नियम नहीं है? उसके लिये कहते हैं कि पहले काल में भरत, सगर, राम, पांडवादि बहुत से राजाओं ने जिनदीक्षा धारण की थी। उनके परिवार के मध्य में जब कोई भी मिथ्यादृष्टि होता था तब धर्म में उपसर्ग भी करता था तथा यदि कोई ऐसा माने कि बन्धुजनों की सम्मति करके पीछे तप करूंगा तो उसके मत मे अधिकतर तपश्चरण ही न हो सकेगा, क्योकि जब किसी तरह से तप ग्रहण करते हुए यदि अपने सम्बन्धी आदि से ममताभाव करे तब कोई तपस्वी ही नहीं हो सकता। जैसा कहा है—

जो पहले सर्व नगर व राज्य छोड़ करके फिर ममता करे वह मात्र भेषधारी है, संयम की अपेक्षा से रहित है अर्थात् संयमी नहो है ॥२०२॥

अथातः कीदृशो भवतीत्युपदिशति—

समणं गणिं गुणड्ढं कुलरूववयोविसिट्ठमिट्ठदरं।
समणेहिं तं पि पणदो पडिच्छ मं चेदि अणुगहिदो ॥२०३॥

श्रमणं गणिनं गुणाढ्यं कुलरूपवयोविशिष्टमिष्टतरम्।
श्रमणैस्तमपि प्रणतः प्रतीच्छ मां चेत्यनुगृहीतः ॥२०३॥

ततो हि श्रामण्यार्थी प्रणतोऽनुगृहीतश्च भवति। तथाहि—आचरिताचारितसमस्तविरतिप्रवृत्तिसमानात्मरूपश्रामण्यत्वात् श्रमणं, एवंविधश्रामण्याचरणाचारणप्रवीणत्वात् गुणाढ्यं, सकललौकिकजननिःशङ्कसेवनीयत्वात् कुलक्रमागतक्रौर्यादिदोषवर्जितत्वाच्च कुलविशिष्टं, अन्तरङ्गशुद्धरूपानुमापकबहिरङ्गशुद्धरूपत्वात् रूपविशिष्टं, शैशववार्धक्यकृतबुद्धिविक्लवत्वाभावाद्यौवनोद्रेकविक्रियाविविक्तबुद्धित्वाच्च वयोविशिष्टं, निःशेषितयथोक्तश्रामण्याचरणाचारणविषयपौरुषेयदोषत्वेन मुमुक्षुभिरभ्युपगततरत्वात् श्रमणैरिष्टतरं च गणिनं शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसाधकमाचार्यं शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसिद्धया मामनुगृहाणेत्युपसर्पन् प्रणतो भवति। एवमियं ते शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसिद्धिरिति तेन प्रार्थितार्थेन संयुज्यमानोऽनुगृहीतो भवति ॥२०३॥

भूमिका—इसके बाद वह मुनि होने का इच्छुक क्या करता है, इसका उपदेश करते हैं—

अन्वयार्थ—[श्रमण] जो श्रमण है, [गुणाढ्य] गुणाढ्य है, [कुलरूपवयो विशिष्ट] कुल, रूप तथा वय से विशिष्ट है, और [श्रमणं इष्टतर] श्रमणो को अति इष्ट है [तम् अपि गणिनं] ऐसे गणी को [माम् प्रतीच्छ इति] 'मुझे स्वीकार करो' ऐसा कहकर [प्रणत.] प्रणाम करता है [च] और [अनुगृहीत.] आचार्य द्वारा ग्रहण किया जाता है।

---

१ समणेहिं (ज० वृ०)।

टीका—पश्चात् मुनि दीक्षा लेने वाला प्रणाम करता है और आचार्य द्वारा ग्रहण किया जाता है। वह इस प्रकार है कि आचरण करने मे और आचरण कराने में आने वाली समस्त विरति की प्रवृत्ति के समान आत्मरूप ऐसे यतिधर्म का कारण जो 'श्रमण' है, ऐसे यतिधर्म आचरण करने में और आचरण कराने मे प्रवीण होने से जो 'गुणाढ्य' है, सर्व-लौकिकजनों के द्वारा नि शंकतया सेवा करने योग्य होने से और कुलक्रमागत क्रूरतादि दोषों से रहित होने से जो 'कुलविशिष्ट' है, अंतरंग-शुद्धरूप का अनुमान कराने वाला ऐसा बहिरग-शुद्धरूप होने से जो 'रूपविशिष्ट' है, बालकत्व और वृद्धत्व से होने वाली बुद्धिविक्लवता का अभाव होने से तथा यौवनोद्रेक के विकार रहित बुद्धि होने से जो 'वय विशिष्ट' है, पूर्ण यथोक्त यतिधर्म के चारित्र को आचरण करने सम्बन्धी पौरुषेय दोषो को (जिन दोषों का पुरुष के द्वारा लगना सम्भव है) के कारण नष्ट (प्रायश्चित्तादि के लिये) जिनका बहुआश्रय लेते हैं इसलिये जो 'श्रमणों को अति इष्ट' है; ऐसे गणी के निकट—शुद्धात्मतत्व की उपलब्धि के साधक आचार्य के निकट—'शुद्धात्म तत्व की उपलब्धि सिद्धि के लिये मुझे ग्रहण करो' ऐसा कहकर (श्रामण्यार्थी) नमस्कार करता है। 'इसप्रकार यह तुझे शुद्धात्मतत्व की उपलब्धिरूप सिद्धि' हो ऐसा (कहकर) वह गणी उस मुनिदीक्षा लेने वाले को प्रार्थित अर्थ से संयुक्त करते हैं, अनुगृहीत करते हैं अर्थात् यतिधर्म की दीक्षा देते हैं ॥२०३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ जिनदीक्षार्थी भव्यो जैनाचार्यमाश्रयति,—

समण निन्दाप्रशसादिसमचित्तत्वेन पूर्वसूत्रोदितनिश्चयव्यवहारपञ्चाचारस्य चरणाचारण-प्रवीणत्वात् श्रमणम्। **गुणड्ढ** चतुरशीतिलक्षगुणाष्टादशसहस्रशीलसहकारिकारणोत्तमनिजशुद्धात्मानु-भूतिगुणेनाढ्य भूतम् परिपूर्णत्वाद्गुणाढ्यम्। **कुलरूववयोविसिट्ठ** लोकदुगुच्छारहितत्वेन जिनदीक्षा-योग्य कुल भण्यते। अन्तरङ्गशुद्धात्मानुभूतिरूपक निर्ग्रन्थनिर्विकार रूपमुच्यते। शुद्धात्मसवित्ति-विनाशकारिवृद्धबालयौवनोद्रेकजनितबुद्धिवैकल्यरहित वयश्चेति तै कुलरूपवयोभिर्विशिष्टत्वात्कुल-रूपवयोविशिष्टम्। **इट्ठदर** इष्टतर सम्मतम् कै ? **समणेहिं** निजपरमात्मतत्त्वभावनासहितसमचित्त-श्रमणैरन्याचार्ये **गणिं** एवविधगुणविशिष्ट, परमात्मभावनासाधकदीक्षादायकमाचार्यम्। **तं पि पणदो** न केवलतमाचार्यमाश्रितो भवति प्रणतोऽपि भवति। केन रूपेण ? **पडिच्छ म** हे भगवन् अनन्तज्ञानादिनिज-गुणसम्पत्तिकारणभूताया अनादिकालेऽत्यन्तदुर्लभाया भावसहितजिनदीक्षाया प्रदानेन प्रसादेन मा प्रतीच्छ स्वीकुरु **चेवि अणुगहिदो** न केवल प्रणतो भवति, तेनाचार्येणानुगृहीत स्वीकृतश्च भवति। हे भव्य ! निस्सारससारे दुर्लभबोधि प्राप्य निजशुद्धात्मभावनारूपया निश्चयचतुर्विधाराधनया मनुष्यजन्म सफल कुर्वित्यनेन प्रकारेणानुगृहीतो भवतीत्यर्थ ॥२०३॥

उत्थानिका—आगे जिनदीक्षा को लेने वाला भव्य जीव जैनाचार्य की शरण ग्रहण करता है, ऐसा कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(**समणं**) समताभाव मे लीन, (**गुणड्ढं**) गुणों से परिपूर्ण, (**कुलरूववयोविसिट्ठम्**) कुल, रूप तथा अवस्था से उत्कृष्ट, (**समणेहि इट्ठतरं**) महामुनियो से अत्यन्त मान्य (**तं गणि**) ऐसे उस आचार्य के पास प्राप्त होकर (**पणदो**) उनको नमस्कार करता हुआ (**च अपि**) और (**मं पडिच्छ**) 'मेरे को अगीकार कीजिये' (**इदि**) ऐसी प्रार्थना करता हुआ (**अणुगहिदो**) आचार्य द्वारा अगीकार किया जाता है। जिनदीक्षा का अर्थी जिस आचार्य के पास जाकर दीक्षा की प्रार्थना करता है उसका स्वरूप बताते हैं। वह निन्दा व प्रशंसादि मे समताभाव को रखकर पूर्व सूत्र मे कहे गये निश्चय और व्यवहार पञ्च-प्रकार आचार के पालने मे प्रवीण होते हैं, चौरासी लाख गुण और अठारह हजार शील के सहकारी कारणरूप जो अपने शुद्धात्मा का अनुभवरूप उत्तमगुण उससे परिपूर्ण होते हैं। लोगों की घृणा से रहित जिनदीक्षा के योग्य कुल वाले होते हैं। अन्तरंग शुद्धात्मा का अनुभव रूप निर्ग्रंथ निर्विकार रूप वाले होते हैं। शुद्धात्मानुभव को विनाश करने वाले वृद्धपने, बालपने व यौवनपने के उद्धतपने से पैदा होने वाली बुद्धि की चंचलता से रहित होने से वय वाले होते है। इन कुल, रूप तथा वय से श्रेष्ठ तथा अपने परमात्मा तत्त्व की भावना सहित समचित्तधारी अन्य आचार्यों के द्वारा सम्मत होवे हैं। ऐसे गुणो से परिपूर्ण परमभाव के साधक दीक्षा के दाता आचार्य का आश्रय करके उनको नमस्कार करता हुआ यह प्रार्थना करता है—

हे भगवन् ! अनन्तज्ञान आदि अरहंत के गुणों की सम्पदा को पैदा करने वाली व जिसका लाभ अनादिकाल में भी अत्यन्त दुर्लभ रहा है ऐसी भाव सहित जिनदीक्षा का प्रसाद देकर मेरे को अवश्य स्वीकार कीजिये। तब वह उन आचार्य के द्वारा इस तरह स्वीकार किया जाता है 'हे भव्य ! इस असार ससार मे दुर्लभ रत्नत्रय के लाभ को प्राप्त करके अपने शुद्धात्मा की भावना रूप निश्चय चार प्रकार आराधना के द्वारा तू अपना जन्म सफल कर ॥२०३॥

अथातोऽपि कीदृशो भवतीत्युपदिशति—

णाहं होमि परेसिं ण मे परे णत्थि मज्झमिह किंचि।
इदि णिच्छिदो जिदिंदो जादो जधजादरूवधरो ॥२०४॥

नाह भवामि परेषा न मे परे नास्ति ममेह किंचित् ।
इति निश्चितो जितेन्द्रिय जातो यथाजातरूपधर ॥२०४॥

ततोऽपि श्रामण्यार्थी यथाजातरूपधरो भवति । तथाहि—अहं तावन्न किंचिदपि परेषां भवामि परेऽपि न किंचिदपि मम भवन्ति, सर्वद्रव्याणां परैः सह तत्त्वतः समस्त संबन्धशून्यत्वात् । तदिह षड्द्रव्यात्मके लोके न मम किंचिदप्यात्मनोऽन्यदस्तीति निश्चित मतिः परद्रव्यस्वस्वामिसबन्धनिबधनानामिन्द्रियनोइन्द्रियाणां जयेन जितेन्द्रियश्च सन् धृतयथा निष्पन्नात्मद्रव्यशुद्धरूपत्वेन यथाजातरूपधरो भवति ॥२०४॥

भूमिका—**और फिर वह क्या करता है, सो उपदेश करते हैं—**

अन्वयार्थ—[अह] मै [परेषा] दूसरो का [न भवामि] नही हूँ [परे मे न] पर मेरे नही है, [इह] इस लोक मे [मम] मेरा [किंचित्] कुछ भी [न अस्ति] नही है,—[इति निश्चित] ऐसा निश्चय करके और [जितेन्द्रियः] जितेन्द्रिय होता हुआ [यथाजातरूपधर] यथाजातरूपधारी [जात] होता है।

टीका—**तत्पश्चात् श्रामण्यार्थी यथाजातरूपधारी होता है इस प्रकार कि—'प्रथम तो मैं किंचित्मात्र भी परका नहीं हूँ, पर भी किंचित्मात्र मेरे नहीं हैं, क्योंकि समस्त द्रव्य निश्चयनय से परके साथ समस्त सबंध रहित हैं, इसलिये इस षड्द्रव्यात्मक लोक में आत्मा से अन्य कुछ भी मेरा नहीं है,'—इस प्रकार निश्चित मतिवाला, परद्रव्यों के साथ स्व-स्वामि सम्बन्ध जिनका आधार है, ऐसी इन्द्रियो और नोइन्द्रिय के जय से जितेन्द्रिय होता हुआ आत्मद्रव्य के (यतिधर्म के) यथानिष्पन्न शुद्धरूप धारण करने से यथाजात-रूपधारी होता है ॥२०४॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ गुरुणा स्वीकृत सन् कीदृशो भवतीत्युपदिशति,—

णाहं होमि परेसि नाह भवामि परेषाम् । निजशुद्धात्मन. सकाशात्परेषा भिन्नद्रव्याणा सम्बन्धी न भवाम्यहम् । **ण मे परे** न मे सम्बन्धीनि परद्रव्याणि **णत्थि मज्झमिह किंचि** नास्ति ममेह किञ्चित् । इह जगति निजशुद्धात्मनो भिन्न किंचिदपि परद्रव्य मम नास्ति **इदि णिच्छिदो** इति निश्चितमतिर्जात **जिदिंदो जादो** इन्द्रियमनोजनितविकल्पजालरहितानन्तज्ञानादिगुणस्वरूपनिजपरमात्मद्रव्याद्विपरीतेन्द्रियनोइन्द्रियाणा जयेन जितेन्द्रियश्च सजात सन् **जधजादरूवधरो** यथाजातरूपधर व्यवहारेण नग्नत्व यथाजातरूप निश्चयेन तु स्वात्मरूप तदित्थभूत यथाजातरूप धरतीति यथाजात-रूपधर निर्ग्रन्थो जात इत्यर्थ ॥२०४॥

उत्थानिका—आगे गुरू द्वारा स्वीकार किये जाने पर वह जिस प्रकार के स्वरूप का धारी होता है उसका उपदेश करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(अहं) मैं (परेसिं) दूसरों का (ण होमि) नहीं हूं (ण मे परे) न दूसरे द्रव्य मेरे हैं। इस तरह (इह) इस लोक मे (किंचि) कोई भी पदार्थ (मज्झम्) मेरा (णत्थि) नहीं है। (इदि णिच्छिदो) ऐसा निश्चय करता हुआ (जिदिंदो) जितेन्द्रिय (अधजादरूवधरो) और जैसा मुनि का स्वरूप होना चाहिये वैसा निर्ग्रन्थ रूप धारी (जादो) हो जाता है। दीक्षा लेने वाला साधु अपने मन वचन काय से सर्व परिग्रह से ममता त्याग देता है। इसीलिये वह मन मे ऐसा निश्चय कर लेता है कि मेरे अपने शुद्ध आत्मा के सिवाय और जितने परद्रव्य हैं उनसे मेरा सम्बन्ध नहीं है और न परद्रव्य मेरे सम्बन्धी हैं। इस जगत् में मेरे सिवाय मेरा कोई भी परद्रव्य नहीं है। तथा वह अपनी पांच इंद्रिय और मन से उत्पन्न होने वाले विकल्पजालो से रहित व अनन्तज्ञान आदि गुण स्वरूप अपने परमात्म-द्रव्य से विपरीत इन्द्रियो और नोइंद्रिय को जीत लेने से जितेन्द्रिय हो जाता है और यथाजात रूपधारी हो जाता है। अर्थात व्यवहारनय से नग्न-पना यथाजात रूप है और निश्चय से अपने आत्मा का जो यथार्थ स्वरूप है वह यथाजात रूप है। साधु इन दोनों को धारण करके निर्ग्रन्थ हो जाता है ॥२०४॥

अथैतस्य यथाजातरूपधरत्वस्यासंसारानभ्यस्तत्वेनात्यन्तमप्रसिद्धस्याभिनवाभ्यास कौशलोपलभ्यमानायाः सिद्धेर्गमकं बहिरङ्गान्तरङ्गद्वैतमुपदिशति—

जधजादरूवजादं उप्पाडिदकेसमंसुगं[1] सुद्धं।
रहिदं हिंसादीदो अप्पडिकम्मं हवदि लिंगं ॥२०५॥
[2]मुच्छारंभविजुत्तं जुत्तं उवओगजोगसुद्धीहिं[3]।
लिंगं ण परावेक्खं अपुणब्भवकारणं जेण्हं[4] ॥२०६॥ [जुगलं]

यथाजातरूपजातमुत्पाटितकेशश्मश्रुक शुद्धम्।
रहित हिंसादितोऽप्रतिकर्म भवति लिङ्गम् ॥२०५॥
मूर्च्छारम्भवियुक्त युक्तमुपयोगयोगशुद्धिभ्याम्।
लिङ्ग न परापेक्षमपुनर्भवकारण जैनम् ॥२०६॥ [युगलम्]

आत्मनो हि तावदात्मना यथोदितक्रमेण यथाजातरूपधरस्य जातस्यायथाजातरूपधर-त्वप्रत्यायानां मोहरागद्वेषादि भावानां भवत्येवाभावः तदभावात्तु तद्भावभाविनो निर्वसनभूषण-धारणस्य मूर्धजव्यञ्जनपालनस्य सकिंचनत्वस्य सावद्ययोगयुक्तत्वस्य शरीरसंस्कारकरणत्वस्य चाभावाद्यथाजातरूपत्वमुत्पाटितकेशश्मश्रुत्वं शुद्धत्वं हिंसादिरहितत्वमप्रतिकर्मत्व च भवत्येव,

१. उप्पाडियकेसमसुग (ज० वृ०)। २ मुच्छारम्भविमुक्क (ज० वृ०)। ३ उवजोगजोगसुद्धीहि (ज० वृ०)। ४ जोण्ह (ज० वृ०)।

तदेतद्बहिरंगं लिंगम् । तथात्मनो यथाजातरूपधरत्वापसारितायथाजातरूपधरत्वप्रत्ययमोहराग-द्वेषादिभावानामभावादेव तद्भावभाविनोममत्वकर्मप्रक्रमपरिणामस्य शुभाशुभोपरक्तोपयो-गतत्पूर्वकतथाविधयोगाशुद्धियुक्तत्वस्य परद्रव्यासापेक्षत्वस्यचाभावान्मूर्छारम्भवियुक्तत्वमुपयो-गयोगशुद्धियुक्तत्वमपरापेक्षत्वं च भवत्येव, तदेतदन्तरंग लिंगम् ।।२०५–२०६।।

भूमिका—**अब, अनादि संसार से अनभ्यस्त होने से जो अत्यन्त अप्रसिद्ध है ऐसे इस यथाजातरूपधरत्व के बहिरंग और अंतरंग दो लिंगो का–जो कि अभिनव अभ्यास में कुशलता से उपलब्धि की सिद्धि के सूचक हैं, उनका उपदेश करते हैं—**

अन्वयार्थ—[यथाजातरूपजातम्] जन्म समय के रूप जैसा रूप वाला, [उत्पाटि-तकेशश्मश्रुक] सिर और दाढी मूछ के बालो का लोच किया हुआ [शुद्ध] शुद्ध (परिग्रह-रहित) [हिंसादित. रहितम्] हिंसादि से रहित और [अप्रतिकर्म] प्रतिकर्म (शारीरिक शृगार) से रहित [लिग भवति] लिंग (यतिधर्म का बहिरग चिन्ह) होता है ।

[मूर्च्छारम्भवियुक्तम्] मूर्च्छा (ममत्व) और आरम्भ रहित, [उपयोगयोगशुद्धिभ्या युक्त] उपयोग और योग की शुद्धि से युक्त तथा [न परापेक्ष] पर की अपेक्षा से रहित ऐसा [जैनं] जिनेन्द्रदेव कथित [लिंगम्] (श्रामण्यका अतरग) लिग है [अपुनर्भवकारणम्] जो कि मोक्ष का कारण है ।

टीका—**प्रथम तो अपनी इच्छा से, यथोक्त (गाथा २०३-२०४) क्रम से यथाजात-रूपधारी[1] होने से आत्मा के अयथाजातरूप[2] के कारणभूत मोहरागद्वेषादिभावों का अभाव होता ही है, और उनके अभाव के कारण, जो कि उनके सद्भाव में होते हैं ऐसे (१) वस्त्राभूषण का धारण, (२) सिर और डाढ़ी मूछों के बालो का रक्षण, (३) सकिंचनत्व[3] परिग्रह (४) सावद्ययोग से युक्तता तथा (५) शारीरिक सस्कार का करना, इन (पाँचों) का अभाव होता है, जिससे (उस आत्मा के) (१) जन्म समय के रूप जैसा रूप, (२) सिर और डाढ़ी मूछ के बालों का लोच, (३) शुद्धत्व (परिग्रह रहितता) (४) हिंसादि-रहितता, तथा (५) अप्रतिकर्मत्व[4] (शारीरिक शृंगार-सस्कार का अभाव) होता ही है । इसलिये यह बहिरंग लिंग है । और फिर, आत्मा के यथाजातरूपधरत्व से दूर किया गया जो अयथाजातरूपधरत्व, उसके कारणभूत मोहरागद्वेषादि भावो का अभाव होने से ही, जो**

---

१ यथाजातरूपधर (आत्मा का)—सहजरूप धारण करने वाला । २ अयथाजातरूपधर—(आत्मा का) असहजरूप धारण करने वाला । ३ सकिंचन—जिसके पास कुछ भी (परिग्रह) हो ऐसा । ४ कर्मप्रक्रम—काम को अपने ऊपर लेना, काम मे युक्त होना, काम की व्यवस्था । तत्पूर्वक—उपरक्त (मलिन) उपयोगपूर्वक ।

उनके सद्भाव में होते हैं ऐसे जो (१) ममत्व और कार्य व्यवस्था (कर्मप्रक्रम) के परिणाम, (२) शुभाशुभ उपरक्त उपयोग और तत्पूर्वक तथाविध योग की अशुद्धि से युक्तता तथा (३) परद्रव्य से सापेक्षत्व, इन तीनों का अभाव होता है, इसलिये उस मुनि के (१) मूर्छा और आरम्भ से रहितता, (२) उपयोग और योग की शुद्धि से युक्तता, (३) तथा पर की अपेक्षा से रहितता होती है। इसलिये यह अतरग लिग है ।।२०५-२०६।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ तस्य पूर्वसूत्रोदितयथाजातरूपधरस्य निर्ग्रन्थस्यानादिकालदुर्लभाया स्वात्मोपलब्धि-लक्षणसिद्धेर्गमक चिन्ह बाह्याभ्यन्तरलिङ्गद्वयमादिशति—

जधजादरूवजाद पूर्वसूत्रोक्तलक्षणयथाजातरूपेण निर्ग्रन्थत्वेन जातमुत्पन्न यथाजातरूपजातम् **उप्पाडियकेसमसुग** केशश्मश्रुसस्कारोत्पन्नरागादिदोषवर्जनार्थमुत्पाटितकेशश्मश्रुकम् । **सुद्ध** निरवद्य-चैतन्यचमत्कारविसदृशेन सार्वसावद्ययोगेन रहितत्वाच्छुद्धम् । **रहिद हिंसादीदो** शुद्धचैतन्यरूपनिश्चय-प्राणहिंसाकारणभूताया रागादिपरिणतिलक्षणनिश्चयहिसाया अभावात् हिसादिरहितम् **अप्पडिकम्म हवदि** परमोपेक्षासयमबलेन देहप्रतिकाररहितत्वादप्रतिकर्म भवति । कि ? **लिंग** एव पञ्चविशेषण-विशिष्ट लिङ्ग द्रव्यलिङ्ग ज्ञातव्यमिति प्रथमगाथा गता । **मुच्छारभविमुक्क** परद्रव्यकाक्षारहित-निर्मोहपरमात्मज्योतिर्विलक्षणा बाह्यद्रव्ये ममत्वबुद्धिर्मूर्च्छा भण्यते, मनोवाक्कायव्यापाररहितचिच्च-मत्कारप्रतिपक्षभूत आरम्भो व्यापारस्ताभ्या मूर्च्छारम्भाभ्या विमुक्त मूर्च्छारम्भविमुक्तम् **जुत्त-उवजोगजोगसुद्धीहि** निर्विकारस्वसवेदनलक्षण उपयोग निर्विकल्पसमाधिर्योग तयोरुपयोगयोगयो शुद्धिस्तया युक्त **ण परावेक्ख** निर्मलानुभूतिपरिणते परस्य परद्रव्यस्यापेक्षया रहितम् न परोपक्षम् **अपुणब्भवकारण** पुनर्भवविनाशकशुद्धात्मपरिणामाविपरीतापुनर्भवस्य मोक्षस्य कारणमपुनर्भवकारणम् । **जोण्ह** जिनस्य सम्बन्धीद जिनेन प्रोक्त वा जैनम् । एव पचविशेषणविशिष्ट भवति । कि ? **लिंग** भावलिङ्गमिति । इति द्रव्यलिङ्गभावलिङ्गस्वरूप ज्ञातव्यम् ।।२०५-२०६।।

उत्थानिका—आग यह उपदेश करते है कि पूर्व सूत्र मे कहे **प्रमाण** यथाजातरूप-धारी निर्ग्रंथ को, अनादि काल मे भी दुर्लभ, ऐसी निज आत्मा की प्राप्ति होती हैं। इसी स्वात्मोपलब्धि लक्षण को बताने वाले चिन्ह उनके बाहरी और भीतरी दोनो लिग होते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(**लिंगं**) **मुनि का द्रव्य या बाहरी चिन्ह (जधजादरूवजाद) जैसा परिग्रह रहित नग्नस्वरूप होता है वैसा होता है (उप्पाडियकेसमंसुग) जिसमे सिर और डाढ़ी के बालों का लोच किया जाता है (सुद्ध) जो निर्मल परिग्रह से रहित और (हिंसा-दीदो रहिदं) हिंसादि पापों से रहित तथा (अप्पडिकम्म) शृंगार रहित (हवदि) होता है। तथा (मुच्छारम्भविमुक्कं) ममता आरम्भ करने के भाव से रहित तथा (उवजोगजोगसुद्धीहिं-जुत्तं) उपयोग और ध्यान की शुद्धि सहित (परावेक्ख ण) परद्रव्य की अपेक्षा रहित**

(अपुणब्भवकारणं) मोक्ष का कारण ऐसा (लिंगं) मुनि का भाव लिंग (जोण्हं) जिनेन्द्र ने कहा है। जैन साधु का द्रव्यलिग या शरीर का चिन्ह पांच विशेषण सहित जानना चाहिये (१) पूर्व गाथा मे कहे प्रमाण निर्ग्रन्थ परिग्रह रहित नग्न होता है (२) मस्तक के और डाढी मूछों के शृंगार सम्बन्धी रागादि दोषो के हटाने के लिये सिर व डाढ़ी मूछों के केशों को उपाडने से होता है (३) पाप रहित अर्थात् चैतन्य चमत्कार के विरोधी सर्व पाप योगो से रहित शुद्ध होता है (४) शुद्ध चैतन्यमयी निश्चय प्राण की हिंसा के कारण-भूत रागादि परिणतिरूप निश्चय हिंसा के अभाव से हिंसादि रहित होता है (५) परम उपेक्षा संयम के बल से देह के संस्कार रहित होने से शृंगार रहित होता है। इसी तरह जैन साधु के भावलिंग के भी पाँच विशेषण हैं। (१) परद्रव्य की इच्छा व मोह से रहित परमात्मा की ज्ञान ज्योति से विरुद्ध बाहरी द्रव्यों मे ममता बुद्धि को मूर्छा कहते हैं तथा मन वचन काय के व्यापार से रहित चैतन्य चमत्कार के प्रतिपक्षी व्यापार को आरम्भ कहते हैं। मूर्छा और आरम्भ इन दोनों से रहित होता है (२) विकार रहित स्वसंवेदन लक्षण-धारी उपयोग और निर्विकल्प समाधिमयी योग इन दोनो की शुद्धि सहित होता है (३) निर्मल आत्मानुभव की परिणति होने से परद्रव्य की सहायता रहित होता है (४) बार-बार जन्म धारण को नाश करने वाले शुद्ध आत्मा के परिणामो के अनुकूल पुनर्भव-रहित मोक्ष का कारण होता है (५) जिन भगवान् सम्बन्धी अथवा जैसा जिनेन्द्र ने कहा है वैसा होता है। इस तरह जैन साधु के द्रव्य और भाव लिंग का स्वरूप जानना चाहिये ॥२०५-२०६॥

अथैतदुभयलिंगमादायैतदेतत्कृत्वा च श्रमणो भवतीति भवतिक्रियायां बन्धुवर्गप्रच्छनक्रियादिशेषसकलक्रियाणां चैककर्तृकत्वमुद्योतयन्नियता श्रामण्यप्रतिपत्तिर्भवतीत्युपदिशति

आदाय तं पि लिंगं गुरुणा परमेण तं णमंसित्ता ।
सोच्चा सवदं किरयं उवट्ठिदो होदि सो समणो ॥२०७॥

आदाय तदपि लिंग गुरुणा परमेण त नमस्कृत्य ।
श्रुत्वा सव्रता क्रियामुपस्थितो भवति स श्रमण ॥२०७॥

ततोऽपि श्रमणो भवितुमिच्छन् लिंगद्वैतमादत्ते गुरुं नमस्यति व्रतक्रिये शृणोति अथोपतिष्ठते; उपस्थितश्च पर्याप्तश्रामण्यसामग्रीकः श्रमणो भवति। तथाहि—तत इदं यथाजातरूपधरत्वस्य गमकं बहिरङ्गमन्तरंगमपि लिंग प्रथममेव गुरुणा परमेणार्हद्भट्टारकेण तदात्वे च दीक्षाचार्येण तदादानविधानप्रतिपादकत्वेन व्यवहारतो दीयमानत्वाद्दत्तमादान-

क्रियया संभाव्य तन्मयो भवति । ततो भाव्यभावकभावप्रवृत्तेतरेतरसंवलनप्रत्यस्तमितस्वपरविभागत्वेन दत्तसर्वस्वमूलोत्तरपरमगुरुनमस्क्रियया सभाव्य भावस्तववन्दनामयो भवति ततः सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन समये भवन्तमात्मानं जानन् सामायिकमधिरोहति । ततः प्रतिक्रमणालोचनप्रत्याख्यानलक्षणक्रियाश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन त्रैकालिककर्मभ्यो विविच्यमानमात्मानं जानन्नतीतप्रत्युपन्नानुपस्थितकायवाङ्मनःकर्मविविक्तत्वमधिरोहति । ततः समस्तावद्यकर्मायतन कायमुत्सृज्य यथाजातरूप स्वरूपमेकमेकाग्रेणालम्ब्य व्यवतिष्ठमान उपस्थितो भवति, उपस्थितस्तु सर्वत्र समदृष्टित्वात्साक्षाच्छ्रमणो भवति ॥२०७॥

भूमिका—अब (श्रामण्यार्थी) इन दोनो लिंगों को ग्रहण करके, और इतना-इतना करके श्रमण होता है, इस प्रकार योग्य क्रिया मे बन्धुवर्ग से विदा लेने रूप क्रिया से लेकर शेष सभी क्रियाओं का एक कर्ता दिखलाते हुए, इतना करने से श्रामण्य की प्राप्ति होती है, यह उपदेश करते हैं—

अन्वयार्थ—[परमेण गुरुणा] परम गुरु के द्वारा प्रदत्त [तदपि लिगम्] उन दोनो लिंगो को [आदाय] ग्रहण करके, [त नमस्कृत्य] उन्हे नमस्कार करके, [सव्रता क्रिया श्रुत्वा] व्रत सहित क्रिया को सुनकर [उपस्थित] उपस्थित (प्रतिक्रमण आदि द्वारा उपस्थित होता हुआ) [स] वह [श्रमण. भवति] श्रमण होता है ।

टीका—तत्पश्चात् श्रमण होने का इच्छुक दोनों लिंगों को ग्रहण करता है, गुरु को नमस्कार करता है, व्रत तथा क्रिया को सुनता है और उपस्थित होता है तथा उपस्थित होता हुआ यतिधर्म की पर्याप्त सामग्री पर्याप्त परिपूर्ण (होने) से श्रमण होता है। वह इस प्रकार से कि—

प्रथम ही परमगुरु अरहत भट्टारक और तत्कालीन दीक्षाचार्य के द्वारा लिंग के ग्रहण की विधि के प्रतिपादक-पने से व्यवहार अपेक्षा दिये जाने से दिये हुए इस यथाजातरूपधरत्व के सूचक बहिरङ्ग तथा अन्तरङ्गलिंग को (वह श्रमणार्थी) ग्रहण करने के द्वारा आदर करके उस लिंग से तन्मय होता है। तत्पश्चात् जिन्होंने सर्वस्व दिया (मुनिदीक्षा सम्बन्धी सब कुछ दिया है) ऐसे मूलगुरु (अरहंत) और उत्तरगुरु (दीक्षाचार्य) को भाव्यभावक भाव से प्रवर्तित इतरेतर (परस्पर मिलने के कारण) जिसमें स्व-परका भेद अस्त हो गया है, ऐसी नमस्कार क्रिया के द्वारा सभावित (सम्मानित) करके भाव स्तुतिमय तथा भाव वन्दनामय होता है। [श्री अरहत देव ने मुनिदीक्षा की विधि का प्रतिपादन

किया है उसी के अनुसार दीक्षाचार्य श्रमणार्थी को मुनिदीक्षा की विधि बतलाकर दीक्षा देते हैं और श्रमणार्थी मुनि अंतरंग व बहिरंग लिंग को ग्रहण करके मुनि हो जाता है। अरहंत भगवान् व आचार्य की भावना भावता हुआ इतना तन्मय हो जाता है कि भाव्य-भावक (जिसकी भावना की जाय वह भाव्य और भावना करने वाला भावक) भाव मे भेद नहीं रहता। यही भाव-नमस्कार भाव-स्तुति और भाव-वन्दना है।]

पश्चात् सर्वसावद्ययोग के प्रत्याख्यानस्वरूप एक महाव्रत को सुनने रूप श्रुतज्ञान के द्वारा समय मे परिणमित होते हुये आत्मा को जानता हुआ सामायिक में आरूढ होता है। पश्चात् प्रतिक्रमण-आलोचना-प्रत्याख्यानस्वरूप क्रिया को सुनने रूप श्रुतज्ञान के द्वारा त्रैकालिक कर्मों से भिन्न किये जाने वाले आत्मा को जानता हुआ, अतीत अनागत वर्तमान मन-वचन-काय सम्बन्धी कर्मों से विविक्तता (भिन्नता) मे आरूढ़ होता है। पश्चात् समस्त सावद्य कर्मों के आयतनभूत काय का उत्सर्ग (उपेक्षा) करके यथाजात रूप वाले एक स्वरूप को, एकाग्रता से अवलम्बित करके रहता हुआ उपस्थित होता है और उपस्थित होता हुआ सर्वत्र समदृष्टित्व के कारण साक्षात् श्रमण होता है ॥२०७॥

तात्पर्यवृत्ति

अथैतल्लिङ्गद्वैतमादाय पूर्वं भाविनैगमनयेन यदुक्त पचाचारस्वरूप तदिदानी स्वीकृत्य तदाधारेणोपस्थित स्वस्थो भूत्वा श्रमणो भवतीत्याख्याति,—

आदाय त पि लिङ्ग आदाय गृहीत्वा तत्पूर्वोक्त लिङ्गद्वयमपि। कथभूत ? दत्तमिति क्रियाध्याहार। केन दत्तम् ? **गुरुणा परमेण** दिव्यध्वनिकाले परमागमोपदेशरूपेणार्हद्भट्टारकेण। दीक्षाकाले तु दीक्षागुरुणा, लिङ्गग्रहणानन्तर **त णमसित्ता** त गुरु नमस्कृत्य **सोच्चा** तदनन्तर श्रुत्वा। काम् ? **किरिय** क्रिया बृहत्प्रतिक्रमणाम्। कि विशिष्टाम् ? **सवद** सव्रता व्रतारोपणसहिताम्। **उवट्ठिदो** ततश्चोपस्थित स्वस्थ सन् **होदि सो समणो** स पूर्वोक्तस्तपोधन इदानी श्रमणो भवतीति। इतो विस्तर—पूर्वोक्तलिङ्गद्वयग्रहणानन्तर पूर्वसूत्रोक्तपचाचारमाश्रयति ततश्चानन्तज्ञानादिगुणस्मरणरूपेण भावनमस्कारेण तथैव तद्गुणप्रतिपादकवचनरूपेण द्रव्यनमस्कारेण च गुरु नमस्करोति। तत पर समस्तशुभाशुभपरिणामनिवृत्तिरूप स्वरूपे निश्चलावस्थान परमसामायिकव्रतमारोहति स्वीकरोति। मनोवचनकायै कृतकारितानुमतैश्च जगत्त्रये कालत्रयेऽपि समस्तशुभाशुभकर्मभ्यो भिन्ना निजशुद्धात्मपरिणतिलक्षणा या तु क्रिया सा निश्चयेन बृहत्प्रतिक्रमणा भण्यते व्रतारोपणानन्तर ता च शृणोति। ततो निर्विकल्प समाधिबलेन कायमुत्सृज्योपस्थितो भवति, ततश्चैव परिपूर्णश्रमणसामग्र्या सत्या परिपूर्णश्रमणो भवतीत्यर्थ ॥२०७॥

एव दीक्षाभिमुखपुरुषस्य दीक्षाविधानकथनमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथासप्तक गतम्।

उत्थानिका—आगे यह कहते हैं कि मोक्षार्थी इन दोनो द्रव्य और भावलिगो को ग्रहणकर तथा पहले भाविनैगमनय से जो पच आचार का स्वरूप कहा गया है उसको इस समय स्वीकार करके उस चारित्र के आधार से अपने स्वभाव मे तिष्ठता है, वही श्रमण होता है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(परमेण गुरुणा) उत्कृष्ट गुरु से (तं पि लिंगं) उस उभयलिंग को ही (आदाय) ग्रहण करके फिर (तं णमसित्ता) उस गुरु को नमस्कार करके तथा (सवद किरियं) व्रत सहित क्रियाओं को (सोच्चा) सुन करके (उवट्ठिदो) मुनिमार्ग मे तिष्ठता हुआ (सो) वह मुमुक्षु (समणो) मुनि (हवदि) हो जाता है। दिव्य-ध्वनि होने के काल की अपेक्षा परमागम का उपदेश करने रूप से अरहत भट्टारक परम-गुरु हैं, दीक्षा लेने के काल मे दीक्षादाता साधु परमगुरु हैं। ऐसे परमगुरु द्वारा दी हुई द्रव्य और भावलिग रूप मुनि की दीक्षा को ग्रहण करके पश्चात् उसी गुरु को नमन करके उसके पीछे व्रतों के ग्रहण सहित बृहत् प्रतिक्रमण क्रिया का वर्णन सुनकर भले प्रकार स्वस्थ होता हुआ वह पूर्व मे कहा हुआ तपोधन श्रमण हो जाता है। विस्तार यह है कि पूर्व में कहे हुए द्रव्य और भावलिंग को धारण करने के पीछे पूर्व सूत्रों मे कहे हुए सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप, वीर्यरूप पाँच आचारों का आश्रय करता है। फिर अनन्त-ज्ञानादि गुणों के स्मरण रूप भाव नमस्कार से तैसे ही उन गुणो को कहने वाले वचन रूप द्रव्य नमस्कार से गुरु महाराज को नमस्कार करता है। उसके पीछे सर्व शुभ व अशुभ परिणामों से निवृत्ति रूप अपने स्वरूप मे निश्चलता से तिष्ठनेरूप परमसामायिक व्रत को स्वीकार करता है। मन, वचन, काय, कृत, कारित अनुमोदना से तीन जगत् तीन काल में भी सर्व शुभ अशुभ कर्मों से भिन्न जो निज शुद्ध आत्मा की परिणति रूप लक्षण को रखने वाली क्रिया उसको निश्चय से बृहत् प्रतिक्रमण क्रिया कहते हैं। व्रतों को धारण करने के पीछे इस क्रिया को सुनता है, फिर विकल्प रहित होकर काय का मोह त्यागकर समाधि के बल से कायोत्सर्ग में तिष्ठता है। इस तरह पूर्ण मुनि की सामग्री प्राप्त होने पर वह पूर्ण श्रमण या साधु हो जाता है, यह अर्थ है ॥२०७॥

इस तरह दीक्षा के सम्मुख पुरुष की दीक्षा लेने के विधान के कथन की मुख्यता से पहले स्थल में सात गाथायें पूर्ण हुई।

अथाविच्छिन्नसामायिकाधिरूढोऽपि श्रमणः कदाचिच्छेदोपस्थापनमर्हतीत्युपदिशति—

वदसमिदिंदियरोधो लोचावस्सयमचेलमण्हाणं ।
खिदिसयणमदंतवणं ठिदिभोयणमेगभत्तं[1] च ॥२०८॥
एदे खलु मूलगुणा समणाणं जिणवरेहिं पण्णत्ता ।
तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि ॥२०९॥ [जुम्मं]

व्रतसमितीन्द्रियरोधो लोचावश्यकमचेलमस्नानम् ।
क्षितिशयनमदन्तधावन स्थितिभोजनमेकभक्त च ॥२०८॥
एते खलु मूलगुणा श्रमणाना जिनवरै प्रज्ञप्ता ।
तेषु प्रमत्त श्रमण छेदोपस्थापको भवति ॥२०९॥ [युग्मम्]

सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैकमहाव्रतव्यक्तिवशेन हिंसानृतस्तेयाब्रह्मपरिग्रहविरत्यात्मकं पञ्चतयं व्रतं तत्परिकरश्च पञ्चतयी समितिः पञ्चतय इन्द्रियरोधो लोचः षट्तयमावश्यकमचेलक्यमस्नानं क्षितिशयनमदन्तधावनं स्थिति भोजनमेकभक्तश्चैवं एते निर्विकल्पसामायिकसंयमविकल्पत्वात् श्रमणानां मूलगुणा एव। तेषु यदा निर्विकल्पसामायिकसंयमाधिरुढत्वेनानभ्यस्तविकल्पत्वात्प्रमाद्यति तदा केवलकल्याणमात्रार्थिन. कुण्डलवलयांगुलीयादिपरिग्रहः किल श्रेयान्, न पुनः सर्वथा कल्याणलाभ एवेति संप्रधार्य विकल्पेनात्मानमुपस्थापयन् छेदोपस्थापको भवति ॥२०८–२०९॥

भूमिका—**अविच्छिन्न सामायिक मे आरूढ होने पर भी श्रमण कदाचित् छेदोपस्थापना के योग्य है, सो कहते हैं—**

अन्वयार्थ—[व्रतसमितीन्द्रियरोध] व्रत, समिति, इन्द्रियरोध, [लोचावश्यकम्] लोच, आवश्यक, [अचेलम्] अचेलत्व, [अस्नान] अस्नान, [क्षितिशयनम्] भूमिशयन, [अदतधावन] अदतधावन, [स्थितिभोजनम्] खडे खडे भोजन, [च] और [एकभक्त] एक बार आहार [एते] यह [खलु] वास्तव मे [श्रमणाना मूलगुणा.] श्रमणो के मूलगुण [जिनवरै. प्रज्ञप्ता] जिनवरो ने कहे है, [तेषु] उनमे [प्रमत्तः] प्रमत्त होता हुआ [श्रमण] श्रमण [छेदोपस्थापक भवति] छेदोपस्थापक होता है।

टीका—**सर्व सावद्ययोग के प्रत्याख्यानस्वरूप एक महाव्रत है उसके विशेष अथवा भेद हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्म और परिग्रह की विरतिस्वरूप पांच महाव्रत तथा उसी का परिकरभूत पाँच प्रकार की समिति, पांच प्रकार का इन्द्रियरोध, लोच, छह प्रकार के**

---

१ ठिदिभोयणमेयभत्त (ज० वृ०)।

आवश्यक, अचेलकत्व (नग्नता), अस्नान, भूमिशयन, अदंतधावन (दांतुन न करना), खड़े खड़े भोजन, और एकबार आहार लेना, इस प्रकार यह (अट्ठाईस) एक अभेद सामायिक संयम के विकल्प (भेद) होने से श्रमणों के मूलगुण ही है। जब श्रमण एक सामायिक सयम मे आरूढता के कारण जिसमे भेदरूप आचरण सेवन नहीं है, ऐसी दशा से च्युत होता है, तब 'केवल सुवर्ण मात्र के अर्थी को कुण्डल, कंकण, अगूठी आदि को ग्रहण करना (भी) श्रेय है, किन्तु ऐसा नहीं है कि (कुण्डल इत्यादि का ग्रहण कभी न करके) सर्वथा स्वर्ण की ही प्राप्ति करना ही श्रेय है' ऐसा विचार करके वह मूलगुणों मे भेदरूप से अपने को स्थापित करता हुआ अर्थात् मूलगुणो मे भेद रूप से आचरण करता हुआ छेदोपस्थापक होता है ॥२०८-२०९॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ निर्विकल्पसामायिकसयमे यदा च्युतो भवति तदा सविकल्प छेदोपस्थापनचारित्रमारोहतीति प्रतिपादयति—

वदसमिदिंदियरोधो व्रतानि च समितयश्चेन्द्रियरोधश्च व्रतसमितीन्द्रियरोध । **लोचावस्सय** लोचश्चावश्यकानि च लोचावश्यकम् । "समाहारस्यैकवचन" **अचेलमण्हाण खिदिसयणमदंतवण ठिदिभोयणमेयभत्त च** अचेलकास्नानक्षितिशयनादन्तधावनस्थितिभोजनैकभक्तानि । **एदे खलु मूलगुणा समणाण जिणवरेहिं पण्णत्ता** एते खलु स्फुट अष्टाविशतिमूलगुणा श्रमणाना जिनवरै प्रज्ञप्ता **तेसु पमत्तो समणो छेदोवट्ठावगो होदि** तेषु मूलगुणेषु यदा प्रमत्त च्युतो भवति । स क ? श्रमणस्तपोधनस्तदाकाले छेदोपस्थापको भवति । छेदे व्रतखण्डने सति पुनरप्युपस्थापकश्छेदोपस्थापक इति । तथाहि—निश्चयेन मूलमात्मा तस्य केवलज्ञानाद्यनन्तगुणा मूलगुणास्ते च निर्विकल्प-समाधिरूपेण परमसामायिकाभिधानेन निश्चयैकव्रतेन मोक्षबीजभूतेन मोक्षे जाते सति सर्वे प्रकटा भवन्ति । तेन कारणेन तदेव सामायिक मूलगुणव्यक्तिकारणत्वात् निश्चयमूलगुणो भवति । यदा पुनर्निर्विकल्पसमाधौ समर्थो न भवत्यय जीवस्तदा यथा कोऽपि सुवर्णार्थी पुरुष सुवर्णमलभमानस्तत्पर्यायानपि कुण्डलादीन् गृह्णाति न च सर्वथा त्याग करोति, तथाय जीवोऽपि निश्चयमूलगुणाभिधानपरमसमाध्यभावे छेदोपस्थापन चारित्र गृह्णाति । छेदे सत्युपस्थापन छेदोपस्थापनम् । अथवा छेदेन व्रतभेदेनोपस्थापन छेदोपस्थापनम् । तच्च सक्षेपेण पचमहाव्रतरूप भवति । तेषा व्रताना च रक्षणार्थं पचसमित्यादिभेदेन पुनरष्टाविंशतिमूलगुणभेदा भवन्ति । तेषा च मूलगुणाना रक्षणार्थ द्वाविशतिपरीषहजयद्वादशविधतपश्चरणभेदेन चतुस्त्रिंशदुत्तरगुणा भवन्ति तेषा च रक्षणार्थं देवमनुष्यतिर्यगचेतनकृतचतुर्विधोपसर्गजयद्वादशानुप्रेक्षाभावनादयश्चेत्यभिप्राय ॥२०८-२०९॥

एव मूलोत्तरगुणकथनरूपेण द्वितीयस्थले सूत्रद्वय गतम् ।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि जब अभेदरूप सामायिकसयम मे ठहरने को असमर्थ होकर साधु उससे गिरता है तब भेदरूप छेदोपस्थापनाचारित्र मे जाता है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(वदसमिदिंदियरोधो) पांच महाव्रत, पांच इन्द्रियों का निरोध (लोचावस्सय) केशलोंच, छः आवश्यक कर्म (अचेलमण्हाणं) नग्नपना, स्नान न करना, (खिदिसयणमदंतवणं) पृथ्वी पर सोना, दन्तवन (दांतुन) न करना (ठिदिभोयणमेयभत्तं च) खड़े हो भोजन करना, और एक बार भोजन करना (एदे) ये (समणाणं मूलगुणा) साधुओं के अट्ठाईस मूलगुण (खलु) वास्तव मे (जिणवरेहिं पण्णत्ता) जिनेन्द्रों ने कहे हैं (तेसु पमत्तो) इन मूलगुणों मे प्रमाद करने वाला (समणो) साधु (छेदोवट्ठावगो) छेदोपस्थापक (होदि) होता है। निश्चयनय से मूल नाम आत्मा का है उस आत्मा का है उस आत्मा के केवलज्ञानादि अनंतगुण मूलगुण हैं। ये सब मूलगुण उस समय प्रकट होते हैं जब भेद-रहित समाधिरूप परमसामायिक निश्चय एक व्रत के द्वारा (जो मोक्ष का बीज है) मोक्ष प्राप्त हो जाता है। इसी कारण से वही सामायिक आत्मा के केवलज्ञानादि मूलगुणों को प्रगट करने के कारण होने से निश्चय मूलगुण है। जब यह जीव अभेदरूप समाधि में (सामायिक-चारित्र मे) ठहरने को समर्थ नहीं होता है तब भेदरूप चारित्र को ग्रहण करता है, चारित्र का सर्वथा त्याग नहीं करता, जैसे कोई भी सुवर्ण का चाहने वाला पुरुष स्वर्ण को न पाता हुआ उसकी कुण्डल आदि अवस्था विशेषों को ही ग्रहण कर लेता है, सर्वथा स्वर्ण का त्याग नहीं करता है। तैसे यह जीव भी निश्चय मूलगुण नामकी परमसमाधि अर्थात् अभेद सामायिकचारित्र का लाभ न होने पर छेदोपस्थापना नाम अर्थात् भेदरूप चारित्र को ग्रहण करता है। छेद होने पर फिर स्थापन करना छेदोपस्थापना है। अथवा छेद से अर्थात् व्रतों के भेद से चारित्र को स्थापन करना सो छेदोपस्थापना है। वह छेदोपस्थापना सक्षेप में पांच महाव्रत रूप है। उन्हीं व्रतों की रक्षा के लिये पांच समिति आदि के भेद से उसके अट्ठाईस मूलगुण भेद होते हैं। उन ही मूलगुणों की रक्षा के लिये २२ परिषहों का जीतना व १२ प्रकार तपश्चरण करना ऐसे चौंतीस उत्तरगुण होते हैं। इन उत्तर गुणों के लिये देव, मनुष्य, तिर्यञ्च व अचेतन कृत चार प्रकार के उपसर्ग का जीतना व बारह भावनाओं का भावन करना आदि कार्य किये जाते हैं ॥२०८-२०९॥

इस तरह मूल और उत्तरगुणों को कहते हुए दूसरे स्थल में दो सूत्र पूर्ण हुए।

अथास्य प्रव्रज्यादायक इव छेदोपस्थापक. परोऽप्यस्तीत्याचार्यविकल्पप्रज्ञापनद्वारेणोपदिशति—

लिंगग्गहणे तेसिं गुरु त्ति पव्वज्जदायगो होदि ।
छेदेसुवट्ठवगा[1] सेसा णिज्जावगा समणा ॥२१०॥

लिङ्गग्रहणे तेषा गुरुरिति प्रव्रज्यादायको भवति ।
छेदयोरुपस्थापका शेषा निर्यापका श्रमणा ॥२१०॥

यतो लिङ्गग्रहणकाले निर्विकल्पसामायिकसयमप्रतिपादकत्वेन य किलाचार्यः प्रव्रज्यादायकः सः गुरुः, यः पुनरनन्तरं सविकल्पच्छेदोपस्थापनसयमप्रतिपादकत्वेन छेद प्रत्युपस्थापकः स निर्यापकः, योऽपि छिन्नसंयमप्रतिविधानसधानप्रतिपादकत्वेन छेदे सत्युपस्थापकः सोऽपि निर्यापक एव, ततश्छेदोपस्थापकः परोऽप्यस्ति ॥२१०॥

भूमिका—**अब इनके (श्रमण के) प्रव्रज्यादायक की भाति छेदोपस्थापक पर (दूसरा) भी होता है यह, आचार्य के भेदों के प्रज्ञापन द्वारा उपदेश करते है—**

अन्वयार्थ—[लिंगग्रहणे] लिगग्रहण के समय [प्रव्रज्यादायक भवति] जो प्रव्रज्या (दीक्षा) दायक है वह [तेषा गुरु इति] उनके गुरु है और [छेदयो उपस्थापका] जो छेदद्वय मे उपस्थापक है (अर्थात् १–जो भेदो मे स्थापित करते है तथा २–जो सयम मे छेद होने पर पुन स्थापित करते है) [शेषाः श्रमणा] वे श्रमण [निर्यापका] निर्यापक है ।

टीका—**लिग ग्रहण के समय जो आचार्य अभेद-सामायिकसयम के प्रतिपादन के द्वारा प्रव्रज्यादायक हैं वे गुरु हैं, और तत्पश्चात् तत्काल ही जो (आचार्य) भेदरूप छेदोपस्थापना संयम के प्रतिपादक होने से छेद के प्रति उपस्थापक (भेद मे स्थापित करने वाले) हैं वे निर्यापक हैं, उसी प्रकार जो आचार्य सयम के छेद होने पर पुन निर्दोष संयम को प्राप्त करने की विधि के प्रतिपादक होने से छेद होने पर उपस्थापक (सयम मे छेद होने पर उसमे पुनः स्थापित करने वाले) हैं, वे भी निर्यापक ही हैं । इसलिये छेदोपस्थापक अन्य आचार्य भी होते हैं ॥२१०॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथास्य तपोधनस्य प्रव्रज्यादायक इवान्योऽपि निर्यापकसज्ञो गुरुरस्ति इति गुरुव्यवस्था निरूपयति—

लिंगग्गहणे तेसिं लिङ्गग्रहणे तेषा तपोधनाना **गुरुत्ति होदि** गुरुर्भवतीति । स क ? **पव्वज्जदायगो** निर्विकल्पसमाधिरूपपरमसामायिकप्रतिपादको योऽसौ प्रव्रज्यादायक स एव दीक्षागुरु **छेदेसु अवट्ठवगा** देश सकल रुपयोर्द्विधा छेदयोश्च वर्तका ये **सेसा णिज्जावगा समणा** ते शेषा श्रमणा निर्यापका भवन्ति शिक्षागुरवश्च भवन्तीति । अयमत्रार्थ -निर्विकल्पकसमाधिरूपसामायिकस्यैकदेशेन

---

१. छेदेसु अवट्ठवगा (ज० वृ०) ।

च्युतिरेकदेशछेद, सर्वथा च्युति सकलदेशछेद इति देशसकलभेदेन द्विधा छेद । तयोश्छेदयोर्ये प्रायश्चित्त दत्वा सवेगवैराग्यजनकपरमागमवचनै सवरण कुर्वन्ति ते निर्यापका शिक्षागुरव श्रुतगुरवश्चेति भण्यन्ते । दीक्षादायकस्तु दीक्षागुरुरित्यभिप्राय ॥२१०॥

उत्थानिका—अब यह दिखलाते है कि इस तप ग्रहण करने वाले साधु के लिये जैसे दीक्षादायक आचार्य या साधु होते हैं वैसे अन्य निर्यापक नाम के गुरु भी होते है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(लिंगग्गहण) मुनि भेष के ग्रहण करते समय (तेंसि गुरू:) उन साधुओ का जो गुरु होता है (इति) वह (पव्वज्जदायगो) दीक्षागुरु (होदि) होता है । (छेदेमुअवट्ठवगा) एकदेश या सर्वदेश व्रतभग होने पर जो फिर व्रत में स्थापित करानें वाले होते है (सेसा) वे सब शेष (णिज्जावगा समणा) निर्यापक श्रमण या शिक्षागुरु होते है । अभेद-समाधि-परमसामायिकरूप दीक्षा के जो दाता है उनको दीक्षा-गुरु कहते हैं तथा छेद दो प्रकार का है, जहाँ अभेद समाधिरूप सामायिक का एकदेश भङ्ग होता है उसको एक-देश छेद व जहाँ सर्वथा भङ्ग होता है उसको सर्वदेश छेद कहते हैं । इन दोनो प्रकार छेदो के होने पर जो साधु प्रायश्चित्त देकर संवेग वैराग्य को पैदा करने वाले परमागम के वचनो से उन छेदों का निवारण करते हैं वे निर्यापक या शिक्षागुरु या श्रुतगुरु कहे जाते है । दीक्षा देने वाले को दीक्षागुरु कहते हैं, यह अभिप्राय है ॥२१०॥**

अथ छिन्नसयमप्रतिसधानविधानमुपदिशति—

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि ।
जायदि जदि तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया ॥२११॥
छेदुवजुत्तो[1] समणो समणं ववहारिणं जिणमदम्हि ।
आसेज्जालोचित्ता उवदिट्ठं तेण कादव्वं[2] ॥११२॥ [जुगलं]

प्रयताया समारब्धाया छेद श्रमणस्य कायचेष्टायाम् ।
जायते यदि तस्य पुनरालोचनपूर्विका क्रिया ॥२११॥
छेदोपयुक्त श्रमण श्रमण व्यवहारिण जिनमते ।
आसाद्यालोच्योपदिष्ट तेन कर्तव्यम् ॥२१२॥ [युगलम्]

द्विविध: किल संयमस्य छेद:, बहिरङ्गोऽन्तरङ्गश्च । तत्रकायचेष्टामात्राधिकृतो बहिरङ्ग, उपयोगाधिकृत: पुनरन्तरंग । तत्र यदि सम्यगुपयुक्तस्य श्रमणस्य प्रयत्नसमारब्धाया: कायचेष्टाया: कथंचिद्बहिरङ्गच्छेदो जायते तदा तस्य सर्वथान्तरंगच्छेदवर्जित-

---

१ छेदपउत्तो (ज० वृ०) । २ कायव्व (ज० वृ०) ।

त्वादालोचनपूर्विकया क्रिययैव प्रतीकारः। यदा तु स एवोपयोगाधिकृतच्छेदत्वेन साक्षाच्छेद एवोपयुक्तो भवति तदा जिनोदितव्यवहारविधिविदग्धश्रमणाश्रयालोचनपूर्वकतदुपदिष्टानुष्ठानेन प्रतिसंधानम् ॥२११-२१२॥

भूमिका—**संयम के छेद हो जाने पर पुनः निर्दोषसंयम को प्राप्त करने की विधि का उपदेश करते हैं—**

अन्वयार्थ—[श्रमणस्य] श्रमण के [प्रयतायां] सावधानी पूर्वक [समारब्धायां] की जाने वाली [कायचेष्टायां] कायचेष्टा के द्वारा [यदि छेद जायते] यदि छेद होता है तो [तस्य पुन] उसे तो [आलोचनापूर्विका क्रिया] आलोचनापूर्वक क्रिया करना चाहिये।

]श्रमण. छेदोपयुक्त] (किन्तु) यदि श्रमण छेद मे उपयुक्त हुआ हो अर्थात् सयम का बुद्धि-पूर्वक छेद हुआ हो तो उसे [जिनमते] जैनमत मे [व्यवहारिण] व्यवहार कुशल [श्रमण आसाद्य] श्रमण के पास जाकर [आलोच्य] आलोचना करके (अपने दोष का निवेदन करके), [तेन उपदिष्ट] उनके उपदेश अनुसार [कर्तव्यम्] करना चाहिये अर्थात् प्रायश्चित ग्रहण करना चाहिये।

टीका—**संयम का छेद दो प्रकार का है, बहिरंग और अन्तरंग। उसमे मात्रकायचेष्टा संबंधी बहिरंग छेद है और उपयोग-सम्बन्धी अन्तरग छेद है। उसमे भली-भाति उपयुक्त श्रमण के प्रयत्नकृत कायचेष्टा मे कथंचित् संयम का बहिरंग छेद होता है, तो वह सर्वथा अन्तरंग छेद से रहित है इसलिए आलोचनापूर्वक क्रिया से ही उसका प्रतीकार होता है। किन्तु यदि वही श्रमण उपयोग सम्बन्धी छेद होने से साक्षात् छेद मे ही उपयुक्त होता है तो जिनोक्त व्यवहारविधि मे कुशल श्रमण के आश्रय से, आलोचनापूर्वक, उनसे उपदिष्ट अनुष्ठान द्वारा सयम का प्रतिसधान होता है अर्थात् संयम को पुनः प्राप्त करता है। २११-२१२॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वसूत्रोक्तछेदद्वयस्य प्रायश्चित्तविधान कथयति—

पयदम्हि समारद्धे छेदो समणस्स कायचेट्ठम्हि जायदि जदि प्रयताया समारब्धाया छिद श्रमणस्य कायचेष्टाया जायते यदि चेत्। अथ विस्तर—छेदो जायते यदि चेत्। स्वस्थभावच्युतिलक्षण छेदो भवति। कस्याम्? कायचेष्टायाम्। कथभूताया? प्रयताया स्वस्थभावलक्षणप्रयत्नपराया समारब्धाया अशनशयनयानस्थानादिप्रारब्धायाम्। **तस्स पुणो आलोयणपुव्विया किरिया** तस्य पुनरालोचनपूर्विका क्रिया। तदा काले तस्य तपोधनस्य स्वस्थभावस्य बहिरङ्गसहकारिकारण-

भूता प्रतिक्रमणलक्षणालोचनपूर्विका पुन क्रियैव प्रायश्चित्त प्रतिकारो भवति न चाधिकम्। कस्मादिति चेत् ? अभ्यन्तरे स्वस्थभावचलनाभावादिति प्रथमगाथा गता **छेदपउत्तो समणो** छेदे प्रयुक्त श्रमणो निर्विकारस्वसंवित्तिभावनाच्युतिलक्षणच्छेदेन यदि चेत् प्रयुक्त सहित श्रमणो भवति **समण ववहारिणं जिणमदम्हि** श्रमण व्यवहारिण जिनमते तदा जिनमते व्यवहारज्ञ प्रायश्चित्तकुशल श्रमण **आसेज्ज** आसाद्य प्राप्य न केवलमासाद्य **आलोचित्ता** नि प्रपञ्चभावेनालोच्य दोषनिवेदन कृत्वा **उवदिट्ठ तेण कायव्व** उपदिष्ट तेन कर्तव्यम् । तेन प्रायश्चित्तपरिज्ञानसहिताचार्येण निर्विकारस्वसवेदनभावनानुकूल यदुपदिष्ट प्रायश्चित्त तत्कर्त्तव्यमिति सूत्रतात्पर्यम् ।।२११-२१२।।

एव गुरुव्यवस्थाकथनरूपेण प्रथमगाथा तथैव प्रायश्चित्तकथनार्थं गाथाद्वयमिति समुदायेन तृतीयस्थले गाथात्रय गतम् ।

उत्थानिका—आगे पूर्व सूत्र मे कहे हुए दो प्रकार छेद के लिये प्रायश्चित्त का विधान क्या है सो कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(पयदम्हि समारद्धे) चारित्र का प्रयत्न प्रारम्भ किये जाने पर (जदि) यदि (समणस्स) साधु की (कायचेट्ठम्हि) कायकी चेष्टा में (छेदो) संयम का छेद या भग (जायदि) हो जावे (पुणो तस्स) तो फिर उस साधु को (आलोयणपुव्विया किरिया) आलोचनपूर्वक क्रिया ही प्रायश्चित्त है । यदि साधु (छेदु-पउत्तो समणो) भंग या छेद से उपयुक्त है तो वह साधु (जिणमदम्हि) जिनमत में (ववहारिण) प्रायश्चित व्यवहार के ज्ञाता (समणं) आचार्य को (आसेज्ज) प्राप्त होकर (आलोचना करने पर (तेण उवदिट्ठ) उस आचार्य के द्वारा जो शिक्षा मिले उसे (कायव्व) करना चाहिये । यदि साधु के आत्मा में स्थितिरूप सामायिक के प्रयत्न को करते हुए भोजन, शयन, चलने, खडे होने, बैठने आदि शरीर की क्रियाओं मे कोई दोष हो जावे, उस समय उस साधु के साम्यभाव के बाहरी सहकारी कारणरूप प्रतिक्रमण है लक्षण जिसका ऐसी आलोचना पूर्वक क्रिया ही प्रायश्चित अर्थात् दोष की शुद्धि का उपाय है, अधिक नहीं क्योंकि वह साधु भीतर मे स्वस्थ आत्मीकभाव से चलायमान नहीं हुआ है । पहली गाथा का भाव यह है । तथा यदि साधु निर्विकार स्वसवेदन की भावना से च्युत हो जावे अर्थात् उसके सर्वथा स्वस्थभाव न रहे । ऐसे भङ्ग के होने पर वह साधु उस आचार्य या निर्यापक के पास जावे जो जिनमत मे वर्णित व्यवहार क्रियाओं के ज्ञाता प्रायश्चित्तादि शास्त्रों में कुशल हों और उनके सामने कपट-रहित होकर अपना दोष निवेदन करे । तब वह प्रायश्चित्त का ज्ञाता आचार्य उस साधु के भीतर जिस तरह निर्विकार स्वसंवेदन की भावना पुनः हो जावे उसके अनुकूल प्रायश्चित या दण्ड बतावेगा । जो कुछ उपदेश मिले उसके अनुकूल साधु को करना योग्य है ।।२११-२१२।।**

इस तरह गुरु की अवस्था को कहते हुए प्रथम गाथा तथा प्रायश्चित को कहते हुए दो गाथाएं इस तरह समुदाय से तीसरे स्थल मे तीन गाथाएं पूर्ण हुई ।

अथ श्रामण्यस्य छेदायतनत्वात् परद्रव्यप्रतिबन्धाः प्रतिषेध्या इत्युपदिशति—

अधिवासे व विवासे छेदविहूणो[1] भवीय सामण्णे ।
समणो विहरदु णिच्चं परिहरमाणो णिबंधाणि ॥२१३॥

अधिवासे वा विवासे छेदविहीनो भूत्वा श्रामण्ये ।
श्रमणो विहरतु नित्य परिहरमाणो निबन्धान् ॥२१३॥

सर्व एव हि परद्रव्यप्रतिबन्धा उपयोगोपरञ्जकत्वेन निरुपरागोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदायतनानि तदभावादेवाछिन्नश्रामण्यम् । अतः आत्मन्येवात्मनो नित्याधिकृत्य वासे वा गुरुत्वेन गुरूनधिकृत्य वासे वा गुरुभ्यो विशिष्टे वासे वा नित्यमेव प्रतिषेधयन् परद्रव्यप्रतिबन्धान् श्रामण्ये छेदविहीनो भूत्वा श्रमणो वर्तताम् ॥२१३॥

भूमिका—**अब, श्रामण्य छेद के आयतन होने के कारण परद्रव्य से सबध निषेध करने योग्य हैं, ऐसा उपदेश करते हैं—**

अन्वयार्थ—[अधिवासे] अधिवास मे (गुरुओ के सहवास मे) वसते हुये [वा] या [विवासे] विवास मे (गुरुओ से भिन्न स्थान मे) वसते हुये, [नित्य] सदा [निबन्धान्] पर द्रव्य के सम्बन्धो को [परिहरमाण] परिहरण करता हुआ [श्रामण्ये] यतिधर्म मे [छेदविहीनः भूत्वा] छेदविहीन होकर [श्रमण विहरतु] श्रमण विहार करो ।

टीका—**वास्तव मे सभी परद्रव्य का संबंध उपयोग को विकारी करने वाला होने से निर्विकारी उपयोगरूप यति-धर्म छेद का आयतन है, उसके अभाव से ही अछिन्न श्रामण्य होता है । इसलिये आत्मा मे ही आत्मा को सदा स्थापित करके (आत्मा मे) वसते हुये अथवा गुरुरूप से गुरुओं को स्थापित करके (गुरुओ के सहवास मे) निवास करते हुये या गुरुओं से विशिष्ट-भिन्नवास मे वसते हुये, सदा ही परद्रव्य सबधो को निषेधता (परिहरण करता) हुआ यतिधर्म छेदविहीन होकर श्रमण वर्तन करे ॥२१३॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ निर्विकारश्रामण्यछेदजनकान्परद्रव्यानुबन्धान्निषेधयति,—

विहरदु विहरतु विहार करोतु । स क ? **समणो** शत्रुमित्रादिसमचित्तश्रमण **णिच्च** नित्य सर्वकाल । किं कुर्वन्सन् ? **परिहरमाणो** परिहरन्सन् । कान् ? **णिबधाणि** चेतनाचेतनमिश्रपरद्रव्येष्वनुबन्धान् । क्व विहरतु ? **अधिवासे व** अधिकृतगुरुकुलवासे निश्चयेन स्वकीयशुद्धात्मवासे वा **विवासे**

---

[1] छेदविहीणो (ज० वृ०) ।

गुरुविरहितवासे वा । किं कृत्वा ? **सामण्णे** निजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयचारित्रे **छेदविहीणो भवीय** छेदविहीणो भूत्वा रागादिरहितनिजशुद्धात्मानुभूतिलक्षणनिश्चयचारित्रच्युतिरूपछेदरहितो भूत्वा । तथाहि—गुरुपार्श्वे यावन्ति शास्त्राणि तावन्ति पठित्वा तदनन्तर गुरु पृष्टवा च समशीलतपोधनै सह भेदाभेदरत्नत्रयभावनया भव्यानामानन्द जनयन् तप श्रुतसत्वैकत्वसन्तोषभावनापञ्चक भावयन् तीर्थंकरपरमदेवगणधरदेवादिमहापुरुषाणा चरितानि स्वय भावयन् परेषा प्रकाशयश्च विहरतीति भाव ॥२१३॥

उत्थानिका—आगे निर्विकार मुनिपने के भङ्ग के उत्पन्न करने वाले निमित्त कारणरूप परद्रव्य के सम्बन्धो का निषेध करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(समणो) शत्रु मित्र में समान भावधारी साधु (णिबंधाणि परिहरमाणो) चेतन अचेतन मिश्र पदार्थों मे अपने रागद्वेष रूप सबधों को छोड़ता हुआ (सामण्णे छेदविहीणो भवीय) अपने शुद्धात्मानुभव रूपी मुनिपद मे छेद रहित होकर अर्थात् निज शुद्धात्मा का अनुभवनरूप निश्चयचारित्र मे भङ्ग न करते हुए (अधिवासे) व्यवहार से अपने अधिकृत आचार्य के सघ मे तथा निश्चय से अपने ही शुद्धात्मारूपी घर में (व विवासे) अथवा गुरु-रहित स्थान मे (णिच्चं विहरतु) नित्य विहार करे । साधु अपने गुरु के पास जितने शास्त्रो को पढ़ना हो उतने शास्त्रों को पढकर पश्चात् गुरू की आज्ञा लेकर अपने समान शील और तप के धारी साधुओं के साथ निश्चय और व्यवहार रत्नत्रय की भावना से भव्य जीवो को आनन्द पैदा करता हुआ तथा तप, शास्त्र, वीर्य, एकत्व और संतोष इन पाच प्रकार की भावनाओं को भाता हुआ तीर्थंकरपरमदेव, गणधरदेव आदि महान् पुरुषों के चारित्र को स्वय विचारता हुआ और दूसरों को प्रकाश करता हुआ विहार करता है, यह भाव है ॥२१३॥**

अथ श्रामण्यस्य परिपूर्णतायतनत्वात् स्वद्रव्य एव प्रतिबन्धो विधेय इत्युपदिशति—

चरदि णिबद्धो णिच्चं समणो णाणम्मि दंसणमुहम्मि ।
पयदो मूलगुणेसु य जो सो पडिपुण्णसामण्णो ॥२१४॥

चरति निबद्धो नित्य श्रमणो ज्ञाने दर्शनमुखे ।
प्रयतो मूलगुणेषु च य स परिपूर्णश्रामण्य ॥२१४॥

एक एव हि स्वद्रव्यप्रतिबन्ध उपयोगमार्जकत्वेन मार्जितोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य परिपूर्णतायतनं, तत्सद्भावादेव परिपूर्णं श्रामण्यम् । अतो नित्यमेव ज्ञाने दर्शनादौ च प्रतिबद्धेन मूलगुणप्रयततया चरितव्यं ज्ञानदर्शनस्वभावशुद्धात्मद्रव्यप्रतिबद्धशुद्धास्तित्वमात्रेण वर्तितव्यमिति तात्पर्यम् ॥२१४॥

भूमिका—**अब, श्रामण्य की परिपूर्णता का आयतन होने से स्वद्रव्य में ही संबंध करना योग्य है, ऐसा उपदेश करते हैं—**

अन्वयार्थ—[य श्रमणः] जो श्रमण [नित्य] सदा [ज्ञाने दर्शनमुखे] ज्ञान मे और दर्शनादि मे [निबद्धः] प्रतिबद्ध [च] तथा [मूलगुणेषु प्रयत] मूलगुणो मे प्रयत्नशील [चरति] विचरण करता है, [सः] वह [परिपूर्णश्रामण्यः] परिपूर्ण श्रामण्यवान् है।

टीका—**एक स्वद्रव्य से संबध ही, उपयोग का मार्जन करने वाला है, अतः मार्जित उपयोगरूप श्रामण्य की परिपूर्णता का आयतन है, उसके सद्भाव से ही यतिधर्म परिपूर्ण होता है।**

इसलिये सदा ज्ञान में और दर्शनादिक से सबध रखकर मूलगुणों मे प्रयत्नशीलता से विचरना, ज्ञानदर्शन स्वभाव में शुद्धात्मद्रव्य प्रतिबद्ध-शुद्ध अस्तित्वमात्ररूप से अर्थात् रागादि रहित उपयोग बर्तना, यह तात्पर्य है ॥२१४॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ श्रामण्यपरिपूर्णकारणत्वात्स्वशुद्धात्मद्रव्ये निरन्तरमवस्थान कर्त्तव्यमित्याख्याति—

चरदि चरति वर्तते। कथभूत ? **णिबद्धो** अधीन **णिच्च** नित्य सर्वकाल। स क कर्त्ता ? **समणो** लाभालाभादिसमचित्तश्रमण। क्व निबद्ध ? **णाणम्मि** वीतरागसर्वज्ञप्रणीतपरमागमज्ञाने तत्फलभूतस्वसवेदनज्ञाने वा **दंसणमुहम्मि** दर्शन तत्त्वार्थश्रद्धान तत्फलभूतनिजशुद्धोत्मोपादेयरुचिरूप-निश्चयसम्यक्त्व वा तत्प्रमुखेष्वनन्तसुखादिगुणेषु **पयदो मूलगुणेसु य** प्रणत प्रयत्नपरश्च। केषु ? मूलगुणेषु निश्चयमूलगुणाधारपरमात्मद्रव्ये वा **जो सो पडिपुण्णसामण्णो** य एव गुणविशिष्टश्रमण स परिपूर्णश्रामण्यो भवतीति। अयमत्रार्थ—निजशुद्धात्मभावनारतानामेव परिपूर्णश्रामण्य भवतीति ॥२१४॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि मुनिपद की पूर्णता के हेतु से साधु को अपने शुद्ध आत्मद्रव्य मे सदा लीन होना योग्य है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो समणो) जो मुनि (दंसणमुहम्मि णाणम्मि) सम्यग्-दर्शन को मुख्य लेकर सम्यग्ज्ञान मे (णिच्च णिबद्धो) नित्य उनके अधीन होता हुआ (य मूलगुणेसु पयदो) और मूलगुणों मे प्रयत्न करता हुआ (चरदि) आचरण करता है (सो पडिपुण्णसामण्णो) वह पूर्ण यति हो जाता है। जो लाभ अलाभ आदि मे समान चित्त को रखने वाला श्रमण तत्त्वार्थ श्रद्धान और उसके फलस्वरूप निश्चयसम्यग्दर्शन मे जहाँ एक निज शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है ऐसी रुचि होती है तथा वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कहे हुए परमागम के ज्ञान मे और उसके फलरूप स्वसवेदन ज्ञान मे तथा अट्ठाईस मूलगुणों मे**

अथवा निश्चय मूलगुण के आधार रूप परमात्म द्रव्य में उद्यत होता हुआ सर्वकाल आचरण करता है वह पूर्ण मुनि होता है। यहाँ यह भाव है कि जो निज शुद्धात्मा की भावना में रत होते हैं उन्हीं के पूर्ण मुनिपना हो सकता है ॥२१४॥

अथ श्रामण्यस्य छेदायतनत्वात् यतिजनासन्नः सूक्ष्मपरद्रव्यप्रतिबन्धोऽपि प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—

भत्ते वा खवणे वा आवसधे वा पुणो विहारे वा।
उवधिम्हि वा णिबद्धं णेच्छदि समणम्हि विकधम्हि ॥२१५॥

भक्ते वा क्षपणे वा आवसथे वा पुनर्विहारे वा।
उपधौ वा निबद्ध नेच्छति श्रमणे विकथायाम् ॥२१५॥

श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरवृत्तिहेतुमात्रत्वेनादीयमाने भक्ते तथाविधशरीरवृत्त्यविरोधेन शुद्धात्मद्रव्यनीरंगनिस्तरङ्गविश्रान्तिसूत्रणानुसारेण प्रवर्तमाने क्षपणे नीरंगनिस्तरंगान्तरंगद्रव्यप्रसिद्ध्यर्थमध्यास्यमाने गिरीन्द्रकन्दरप्रभृतावावसथे यथोक्तशरीरवृत्तिहेतुमार्गणार्थमारभ्यमाणे विहारकर्मणि श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनाप्रतिषिध्यमाने केवलदेहमात्रे उपधौ अन्योन्यबोध्यबोधकभावमात्रेण कथंचित्परिचिते श्रमणे शब्दपुद्गलोल्लाससवलनकश्मलितचिद्भित्तिभागायां शुद्धात्मद्रव्यविरुद्धायां कथायां चैतेष्वपि तद्विकल्पाचित्रितचित्तभित्तितया प्रतिषेध्यः प्रतिबन्धः ॥२१५॥

भूमिका—अब, मुनिजन को निकट का सूक्ष्म परद्रव्य संबंध भी, श्रामण्य के छेद का आयतन होने से निषेध्य है, ऐसा उपदेश करते है—

अन्वयार्थ—[भक्ते वा] मुनि आहार मे, [क्षपणे वा] उपवास मे [आवसथे वा] निवास स्थान मे [पुन विहारे वा] और विहार मे, [उपधौ] परिग्रह मे, [श्रमणे] अन्य मुनि मे [वा] अथवा [विकथायाम्] विकथा मे [निबद्ध] जडना, लगना, सलग्न होना [न इच्छति] नही चाहता।

टीका—(१) श्रामण्य पर्याय के सहकारी कारणभूत शरीर की स्थिति के हेतुमात्र से ग्रहण किये जाने वाले आहार में (२) अर्थात् शरीर के टिकने के साथ विरोध न आये इस प्रकार, शुद्धात्मद्रव्य में विकाररहित और तरंगरहित स्थिरता की रचना की जाय, तदनुसार प्रवर्तमान अनशन मे (३) नीरग और निस्तरग अन्तरंग द्रव्य की प्राप्ति के लिये सेव्यमान गिरीन्द्रकन्दरादिक आवास मे अर्थात् पर्वत की गुफा इत्यादि निवास स्थान मे (४) यथोक्त शरीर स्थिति की कारणभूत भिक्षा के लिये विहारकार्य मे (५) श्रामण्यपर्याय

का सहकारी कारण होने से जिसका निषेध नहीं है ऐसे केवल देहमात्र परिग्रह मे, (६) मात्र अन्योन्य बोध्य-बोधक रूप से जिनका कथचित् परिचय पाया जाता है ऐसे अन्य मुनि में, और (७) शब्द रूप पुद्गलपर्याय के साथ वाच्य-वाचक सबध से जिसमे चैतन्य रूपी भित्ति का भाग मलिन होता है, ऐसी शुद्धात्मद्रव्य से विरुद्ध कथा में इन सब मे लीन होना निषेध्य-त्यागने योग्य है अर्थात् उनके विकल्पो से भी चित्त भूमिको चित्रित होने देना योग्य नहीं है ॥२१५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ श्रामण्यछेदकारणत्वात्प्रासुकाहारादिष्वपि ममत्व निषेधयति, —

णेच्छदि नेच्छति । कम् ? **णिबद्ध** निबद्धमाबद्धम् । क्व ? **भत्ते वा** शुद्धात्मभावनासहकारिभूतदेहस्थितिहेतुत्वेन गृह्यमाणे भक्ते वा प्रासुकाहारे **खवणे वा** इन्द्रियदर्पविनाशकारणभूतत्वेन निर्विकल्पसमाधिहेतुभूते क्षपणे वानशने **आवसधे वा** परमात्मतत्त्वोपलब्धिसहकारिभूते गिरिगुहाद्यावसथे वा **पुणो विहारे वा** शुद्धात्मभावनासहकारिभूताहारनीहारार्थव्यवहारार्थव्यवहारे वा । पुनर्देशान्तर विहारे वा **उवधिम्हि** शुद्धोपयोगभावनासहकारिभूतशरीरपरिग्रहे ज्ञानोपयोगकरणादौ वा **समणम्हि** परमात्मपदार्थविचारसहकारिकारणभूते श्रमणे समशीलसघातकतपोधने वा **विकधम्हि** परमसमाधिविघातश्रृङ्गारवीररागादिकथाया चेति । अयमत्रार्थ -आगमविरुद्धाहारविहारादिषु तावत्पूर्वमेव निषिद्ध । योग्याहारविहारादिष्वपि ममत्व न कर्त्तव्यमिति ॥२१५॥

एव सक्षेपेणाचाराधनादिकथिततपोधनविहारव्याख्यानमुख्यत्वेन चतुर्थस्थले गाथात्रय गतम् ।

उत्थानिका—आगे कहते है कि प्रासुक आहार आदि मे भी जो ममत्व है वह मुनिपद के भग का कारण है इसलिये आहारादि मे भी ममत्व न करना चाहिये—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**साधु (भत्ते) भोजन मे (वा) अथवा (खवणे) उपवास करने में (वा आवसधे) अथवा वस्तिका मे (वा विहारे) विहार करने में, (वा उवधम्हि) अथवा शरीर मात्र परिग्रह मे (वा समणम्हि) अथवा मुनियो मे (पुणो विकधम्हि) या विकथाओ मे (णिबद्धं) ममतारूप सम्बन्ध को (णेच्छदि) नहीं चाहता है । साधु महाराज शुद्धात्मा की भावना के सहकारी शरीर की स्थिति के हेतु से प्रासुक आहार लेते हैं सो भक्त हैं, इन्द्रियो के अभिमान को विनाश करने के प्रयोजन से तथा निर्विकल्पसमाधि में प्राप्त होने के लिये उपवास करते हैं सो क्षपण है, परमात्मतत्व की प्राप्ति के लिये सहकारी कारण पर्वत की गुफा आदि वसने का स्थान सो आवसथ है, शुद्धात्मा की भावना के सहकारी कारण आहार नीहार आदिक व्यवहार के लिये व देशान्तर के लिये विहार करना सो विहार है, शुद्धात्मा की भावना के सहकारी कारण रूप शरीर को धारण करना व ज्ञान का उपकरण शास्त्र, शौचोपकरण कमंडलु, दया का उपकरण पिच्छिका इनमे ममताभाव सो उपधि है, परमा-**

त्म पदार्थ के विचार में सहकारी कारण समता और शील के समूह तपोधन सो श्रमण हैं, परमसमाधि के घातक शृंगार वीर व रागद्वेषादि कथा करना सो विकथा है। इन भक्त, क्षपण, आवसथ, विहार, उपधि, श्रमण तथा विकथाओं मे साधु महाराज अपना ममताभाव नहीं रखते हैं। भाव यह है कि आगम से विरुद्ध आहार विहार आदि मे वर्तने का तो पहले ही निषेध है अतः अब साधु की अवस्था मे योग्य आहार विहार आदि में भी साधु को ममता न करनी चाहिये ॥२१५॥

इस तरह संक्षेप से आचरण की आराधना आदि को कहते हुए साधु महाराज के विहार के व्याख्यान की मुख्यता से चौथे स्थल मे तीन गाथाएँ पूर्ण हुई।

अथ को नाम छेद इत्युपदिशति—

अपयत्ता वा चरिया सयणासणठाणचंकमादीसु।
समणस्स सव्वकाले हिंसा सा संतय त्ति[1] मदा ॥२१६॥

अप्रयता वा चर्या शयनासनस्थानचङ्क्रमणादिषु।
श्रमणस्य सर्वकाले हिंसा सा सततेति मता ॥२१६॥

अशुद्धोपयोगो हि छेदः शुद्धोपयोगरूपस्य श्रामण्यस्य छेदनात्, तस्य हिंसनात् स एव च हिंसा। अतः श्रमणस्याशुद्धोपयोगाविनाभाविनी शयनासनस्थानचंक्रमणादिष्वप्रयता या चर्या सा खलु तस्य सर्वकालमेव संतानवाहिनी छेदानर्थान्तरभूता हिंसैव ॥२१६॥

भूमिका—अब छेद क्या है, उसका उपदेश करते हैं—

अन्वयार्थ—[श्रमणस्य] श्रमण के [शयनासनस्थानचक्रमणादिषु] शयन, बैठना, खडे रहना, गमन इत्यादि मे [अप्रयता वा चर्या] जो अयत्नाचार चर्या है [सा] वह [सर्वकाले] सदा [सतता हिसा इति मता] सतत हिसा मानी गई है।

टीका—अशुद्धोपयोग से ही छेद है, क्योकि (उससे) शुद्धोपयोग रूप श्रामण्यका छेदन होता है, और वही (अशुद्धोपयोग ही) हिंसा है, क्योकि (उससे) शुद्धोपयोगरूप श्रामण्य का हिंसन (हनन) होता है। इसलिये श्रमण के, जो अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होती ऐसी शयन-आसन स्थान गमन-इत्यादि मे अयत्नाचार चर्या (आचरण) वास्तव मे उसके लिये सर्वकाल में (सदा) ही धारावाही हिंसा ही है—जो कि छेद से कोई भिन्न वस्तु नहीं है ॥२१६॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुद्धोपयोगभावनाप्रतिबन्धकछेदं कथयति—

मदा मता सम्मता। का? हिसा शुद्धोपयोगलक्षणश्रामण्यछेदकारणभूता हिंसा। कथंभूता?

---

१. सततिय त्ति (ज० वृ०)।

सततत्तियत्ति सन्तता निरन्तरेति । का हिंसा मता ? **चरिया** चर्या चेष्टा यदि चेत् । कथभूता । **अपयत्ता वा** अप्रयत्ना वा नि कषायस्वसवित्तिरूपप्रयत्नरहिता सक्लेशसहितेत्यर्थ । केषु विषयेषु ? **सयणासण-ठाणचकमादीसु** शयनासनस्थानचक्रमणस्वाध्यायतपश्चरणादिषु । कस्य ? **समणस्स** श्रमणस्य तपोधनस्य । क्व ? **सव्वकाले** सर्वकाले । अयमत्रार्थ —बाह्यव्यापाररूपा शत्रवस्तावत्पूर्वमेव त्यक्त्वा तपोधनै अशनशयनादिव्यापारै पुनस्त्यक्तो नायाति । तत कारणादन्तरङ्गक्रोधादिशत्रुनिग्रहार्थं तत्रापि सक्लेशो न कर्त्तव्य इति ॥२१६॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि छेद या भग शुद्धात्मा की भावना का विरोध करने वाला है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(वा) अथवा (समणस्स) साधु की (सयणासणठाणचंकमादीसु) शयन, आसन, खड़ा होना, चलना, स्वाध्याय, तपश्चरण आदि कार्यों मे (अपयत्ता चरिया) प्रयत्न रहित चेष्टा अर्थात् कषायरहित-स्वसवेदन-ज्ञान से छूटकर जीव दया की रक्षा से रहित संक्लेश-भाव-सहित जो व्यवहार का वर्तना है (सा) वह (सव्वकालं) सर्वकाल मे (सतत्तिय हिंसा) निरन्तर होने वाली हिंसा अर्थात् शुद्धोपयोग लक्षणमयी मुनिपद को छेद करने वाली हिंसा (मदा) मानी गई है । यहां यह अर्थ है कि बाहरी व्यापार रूप शत्रुओ को तो पहले ही मुनियो ने त्याग दिया था परन्तु बैठना, चलना, सोना, आदि व्यापार का त्याग हो नहीं सकता । इसलिये इनके निमित्त से अन्तरङ्ग मे क्रोध आदि शत्रुओ की उत्पत्ति न हो-साधु को उन कार्यों मे सावधानी रखनी चाहिये । ॥२१६॥**

अथान्तरंगबहिरंगत्वेन छेदस्य द्वैविध्यमुपदिशति—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा ।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसामेत्तेण समिदस्स ॥२१७॥

म्रियता वा जीवतु वा जीवोऽयताचारस्य निश्चिता हिंसा ।
प्रयतस्य नास्ति बन्धो हिसामात्रेण समितस्य ॥२१७॥

अशुद्धोपयोगोऽन्तरङ्गच्छेदः, परप्राणव्यपरोपो बहिरङ्ग । तत्र परप्राणव्यपरोपसद्भावे तदसद्भावे वा तदविनाभाविनाप्रयताचारेण प्रसिद्धयदशुद्धोपयोगसद्भावस्य सुनिश्चितहिंसाभावप्रसिद्धेस्तथा तद्विनाभाविना प्रयताचारेण प्रसिद्धयदशुद्धोपयोगासद्भावपरस्य परप्राणव्यपरोपसद्भावेऽपि बन्धाप्रसिद्धया सुनिश्चितहिंसाऽभावप्रसिद्धेश्चान्तरङ्ग एव छेदो बलीयान् पुनर्बहिरङ्गः । एवमप्यन्तरङ्गच्छेदायतनमात्रत्वाद्बहिरङ्गच्छेदोऽभ्युपगम्येतैव ।

भूमिका—**अब, छेद के अन्तरंग और बहिरग, ऐसे दो प्रकार बतलाते हैं—**

अन्वयार्थ—[जीवः] जीव [म्रियतां वा जीवतु वा] मरे या जिये, [अयताचारस्य] अयत्नाचार वाले के [हिंसा] हिंसा [निश्चिता] निश्चित है, [प्रयतस्य समितस्य] यत्नाचारी के समितिवान् के [हिंसामात्रेण] हिंसामात्र से [बन्धः] बंध [नास्ति] नही है।

टीका—**अशुद्धोपयोग अंतरंग छेद है, परप्राणों का विच्छेद बहिरंग छेद है। इनमें से अंतरंगछेद ही विशेष बलवान है, बहिरंगछेद नहीं, क्योंकि—परप्राणों के विच्छेद का सद्भाव हो या असद्भाव, जो अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता ऐसे अयत्नाचार आचरण से प्रसिद्ध होने वाला अशुद्धोपयोग का सद्भाव जिसके पाया जाता है उसके हिंसा के सद्भाव की प्रसिद्धि सुनिश्चित है और इस प्रकार जो अशुद्धोपयोग के बिना होता है ऐसे यत्नाचार से प्रसिद्ध होने वाला अशुद्धोपयोग का असद्भाव जिसके पाया जाता है, उसके परप्राणों के विच्छेद के सद्भाव में भी बंध की अप्रसिद्धि है, अतः हिंसा के अभाव की प्रसिद्धि सुनिश्चित है। अंतरंग छेद ही विशेष बलवान है, बहिरंगछेद नहीं, ऐसा होने पर भी बहिरंग छेद अंतरंग छेद का आयतनमात्र है इसलिये उस बहिरंग छेद को स्वीकार तो करना ही चाहिये अर्थात् उसे मानना ही चाहिये ॥२१७॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथान्तरङ्गबहिरङ्गहिंसारूपेण द्विविधछेदमाख्याति—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा म्रियतां वा जीवतु वा जीव प्रयत्नरहितस्य निश्चिता हिंसा भवति बहिरङ्गान्यजीवस्य मरणेऽमरणे वा निर्विकारस्वसंवित्तिलक्षणप्रयत्नरहितस्य निश्चयशुद्धचैतन्यप्राणव्यपरोपणरूपा निश्चयहिंसा भवति। **पयदस्स णत्थि बंधो** बाह्याभ्यन्तरप्रयत्नपरस्य नास्ति बन्धः। केन? **हिंसामेत्तेण** द्रव्यहिंसामात्रेण। कथंभूतस्य पुरुषस्य? **समिदस्स** समितस्य शुद्धात्मस्वरूपे सम्यगितो गतः परिणतः समितस्तस्य समितस्य। व्यवहारेणेर्यादिपंचसमितियुक्तस्य च। अयमत्रार्थः—स्वस्थभावनारूपनिश्चयप्राणस्य विनाशकारणभूता रागादिपरिणतिर्निश्चयहिंसा हिंसा भण्यते रागाद्युत्पत्तेर्बहिरंगनिमित्तभूतः परजीवघातो व्यवहारहिंसेति द्विधा हिंसा ज्ञातव्या। किन्तु विशेषः बहिरंगहिंसा भवतु मा भवतु स्वस्थभावनारूपनिश्चयप्राणघाते सति निश्चयहिंसा नियमेन भवतीति। ततः कारणात्सैव मुख्येति ॥२१७॥

उत्थानिका—आगे हिंसा के दो भेद है अन्तरङ्गहिंसा और बहिरङ्गहिंसा। इसलिये छेद या भङ्ग भी दो प्रकार के है ऐसा व्याख्यान करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जीवो मरदु व जिददु) जीव मरो या जीता रहो (अयदाचारस्स) जो यत्न पूर्वक आचरण से रहित है उसके (णिच्छिदा हिंसा) निश्चय हिंसा है (समिदस्स) समितियों मे (पयदस्स) जो प्रयत्नवान है उसके (हिंसामेत्तेण) द्रव्य प्राणों की हिंसामात्र से (बन्धो णत्थि) बन्ध नहीं होता है। बाह्य में दूसरे जीव का मरण**

हो या मरण न हो जब कोई निर्विकार स्वसंवेदन रूप प्रयत्न से रहित है तब उसके निश्चय शुद्धचैतन्य प्राण का घात होने से निश्चयहिंसा होती है। जो कोई भले प्रकार अपने शुद्धात्मस्वभाव में लीन है, अर्थात् निश्चयसमिति को पाल रहा है तथा व्यवहार में ईर्या, भाषा, एषणा, आदाननिक्षेपण, प्रतिष्ठापना इन पाच समितियों में सावधान है, अंतरंग बहिरग प्रयत्नवान है, प्रमादी नहीं है उसके बन्ध नहीं होता है। यहाँ यह भाव है कि अपने आत्मस्वभावरूप निश्चयप्राण का विनाश करने वाली रागादि परिणति निश्चय-हिंसा कही जाती है। रागादिक उत्पन्न करने के लिये बाहरी निमित्तरूप जो परजीव का घात है सो व्यवहारहिंसा है, ऐसे दो प्रकार हिंसा जाननी चाहिये। किन्तु विशेष यह है कि बाहरी हिंसा हो, वा न हो जब आत्मस्वभावरूप निश्चयप्राण का घात होगा तब निश्चयहिंसा ही मुख्य है ॥२१७॥

अथ तमेवार्थं दृष्टान्तदार्ष्टान्ताभ्या दृढयति—

उच्चालियम्हि पाए इरियासमिदस्स णिग्गमत्थाए।
आबाधेज्ज कुलिग मरिज्ज त जोगमासेज्ज ॥२१७-१॥
ण हि तस्स तण्णिमित्तो बधो सुहुमो य देसिदो समये।
मुच्छापरिग्गहोच्चिय अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो ॥२१७-॥जुम्म॥

उच्चालियम्हि पाए उत्क्षिप्ते चालिते सति पादे। कस्य ? **इरियासमिदस्स** ईर्यासमिततपोधनस्य। क्व ? **णिग्गमत्थाए** विवक्षितस्थानान्निर्गमस्थाने **आबाधेज्ज** आबाध्येन पीडयेत। स क ? **कुलिग** सूक्ष्मजन्तु न केवलमाबाध्येत **मरिज्ज** म्रियता वा किं कृत्वा। **त जोगमासेज्ज** त पूर्वोक्त पादयोग पाद-सघट्टनमाश्रित्य प्राप्येति। **ण हि तस्य तण्णिमित्तो बधो सुहमो य देसिदो समये** न हि तस्य तन्निमित्तो बन्ध सूक्ष्मोऽपि देशित समये तस्य तपोधनस्य तन्निमित्त सूक्ष्मजन्तुघातनिमित्तो बन्ध सूक्ष्मोऽपि स्तोकोऽपि नैव दृष्ट समये परमागमे। दृष्टान्तमाह—**मुच्छापरिग्गहोच्चिय** मूर्च्छापरिग्रहश्चैव **अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो** अध्यात्म प्रमाणतो दृष्टमिति। अयमत्रार्थ —"मूर्च्छा परिग्रह" इति सूत्रे यथाध्यात्मानुसारेण मूर्च्छारूपरागादिपरिणामानुसारेण परिग्रहो भवति न च बहिरगपरिग्रहानुसारेण तथात्र सूक्ष्म-जन्तुघातेपि यावताशेन स्वस्थभावचलनरूपा रागादिपरिणतिलक्षणभावहिसा तावताशेन बन्धो भवति, न च पादसघट्टनमात्रेण तस्य तपोधनस्य रागादिपरिणतिलक्षणभावहिसा नास्ति। तत कारणाद्बन्धोऽपि नास्तीति ॥२१७-१-२॥

उत्थानिका—आगे इसी ही अर्थ को दृष्टात दार्ष्टान्ति से दृढ करते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(इरियासमिदस्स) ईर्या समिति से चलने वाले मुनि के णिग्गमत्थाए (किसी) स्थान से जाते हुए (उच्चालियम्हि पाए) अपने पग को उठाते हुए (तं जोगमासेज्ज) उस पग के सघट्टन के निमित्त से (कुलिंगं) कोई छोटा जतु (आबाधेज्ज) बाधा को पावे (मरिज्ज) वा मर जावे (तस्स) उस साधु के (तण्णिमित्तो सुहमो य बंधो) इस क्रिया के निमित्त से जरा सी भी कर्मबन्ध (समये) आगम मे (णहि देसिदो) नहीं कहा**

गया है। जैसे (मुच्छापरिग्गहोच्चिय) मूर्छा को परिग्रह कहते हैं सो (अज्झप्पपमाणदो दिट्ठो) अंतरगभाव के अनुसार मूर्छा देखी गई है। मूर्छारूप रागादि परिणामों के अनुसार परिग्रह होता है बाहरी परिग्रह के अनुसार परिग्रह नहीं होता है तैसे यहां सूक्ष्म जन्तु के घात होने पर जितने अंश मे अपने स्वभाव से चलनरूप रागादि परिणति रूप भावहिंसा है उतने ही अशमें बन्ध होगा, केवल पग के सघट्टन से मरते हुए जीव के उस तपोधन के रागादि परिणतिरूप भावहिंसा नहीं होती है, इसलिये बंध भी नहीं होता है ॥२१७-२॥

अथ सर्वथान्तरङ्गच्छेदः प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—

अयदाचारो समणो छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो ॥२१८॥

अयताचार श्रमण षट्स्वपि कायेषु वधकर इति मत ।
चरित यत यदि नित्य कमलमिव जले निरुपलेप ॥२१८॥

यतस्तदविनाभाविना अप्रत्यताचारत्वेन प्रसिद्धयदशुद्धोपयोगसद्भावः षट्कायप्राण-व्यपरोपप्रत्ययबन्धप्रसिद्धया हिंसक एव स्यात्। यतश्च तद्विनाभाविना प्रयताचारत्वेन प्रसिद्धयदशुद्धोपयोगासद्भाव. परप्रत्ययबन्धलेशस्याप्यभावाज्जलदुर्ललित कमलमिव निरुपलेप-त्वप्रसिद्धेरहिंसक एव स्यात्। ततस्तैस्तैः सर्वै प्रकारैरशुद्धोपयोगरूपोऽन्तरङ्गच्छेदः प्रतिषेध्यो यैर्यैस्तदायतनमात्रभूतः परप्राणव्यपरोपरूपो बहिरङ्गच्छेदो दूरादेव प्रतिषिद्धः स्यात् ॥२१८॥

भूमिका—अब, सर्वथा अन्तरग छेद निषेध्य-त्याज्य है, ऐसा उपदेश करते हैं—

अन्वयार्थ—[अयताचार श्रमण] अयत्नाचार वाला श्रमण [षट्सु अपि कायेषु] छहो काय [वधकरः] वध करने वाला [इति मत] माना गया है, [यदि] यदि [नित्य] सदा [यत चरति] यत्नरूप से आचरण करे तो [जले कमलम् इव] जल मे कमल की तरह [निरुपलेप] निर्लेप कहा गया है।

टीका—जो अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता ऐसे अयत्नाचार के द्वारा प्रसिद्ध (ज्ञात) होने वाले अशुद्धोपयोग का सद्भाव हिंसा ही है, क्योंकि छहकाय के प्राणों के व्यवच्छेद के आश्रय से होने वाले बंध की प्रसिद्धि है। और जो अशुद्धोपयोग के बिना होता है ऐसे यत्नाचार से प्रसिद्ध होने वाला अशुद्धोपयोग का असद्भाव अहिंसा ही है, क्योंकि परके आश्रय से होने वाले लेशमात्र भी बध का अभाव होने से निर्लेपत्व की प्रसिद्धि है जैसे जल मे झूलता हुआ कमल। इसलिये उन सर्व प्रकार से अशुद्धोपयोग रूप अन्तरंग छेद निषेध्य है—त्यागने योग्य है, और उसका आयतनमात्रभूत परप्राणव्य-परोपरूप बहिरंग छेद अत्यन्त निषिद्ध है ॥२१८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ निश्चयहिंसारूपोन्तरगछेद सर्वथा प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—

अयदाचारो निर्मलात्मानुभूतिभावनालक्षणप्रयत्नरहितत्वेन अयताचार प्रयत्नरहित । स क ? **समणो** श्रमणस्तपोधन **छस्सु वि कायेसु वधकरो त्ति मदो** षट्स्वपि कायेषु वधकरो हिंसाकर इति मत सम्मत कथित । **चरदि** आचरति वर्त्तते। कथ यथा भवति ? **जदं** यत यत्नपर **जदि** यदि चेत् **णिच्च** नित्य सर्वकाल तदा **कमल व जले णिरुवलेवो** कमलमिव जले निरुपलेप इति । एतावता किमुक्त भवति—शुद्धात्मसवित्तिलक्षणशुद्धोपयोगपरिणतपुरुष षड्जीवकुले लोके विचरन्नपि यद्यपि बहिरग-द्रव्यहिंसामात्रमस्ति तथापि निश्चयहिंसा नास्ति । तत कारणाच्छुद्धपरमात्मभावनाबलेन निश्चय-हिंसैव सर्वतात्पर्येण परिहर्त्तव्येति ॥२१८॥

उत्थानिका—आगे आचार्य निश्चयहिसारूप जो अन्तरगछेद है उसका सर्वथा निषेध करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अयदाचारो समणो) निर्मल आत्मा के अनुभव करने की भावना रूप चेष्टा के बिना साधु (छस्सुवि कायेसु)** पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा **त्रस इन छहों ही कायों की (वधकरोत्ति मदो) हिंसा करने वाला माना गया है । (जदि) यदि (णिच्चं) सदा (जदं) यत्न पूर्वक (चरदि) आचरण करता है तो (जले कमल व णिरुवलेवो) जल में कमल के समान कर्म-बन्ध के लेप से रहित होता है । यदि गाथा मे (बंधगोत्ति) पाठ लेवें तो यह अर्थ होगा कि अयत्न-शील कर्मबन्ध करने वाला है । यहां यह भाव बताया गया है कि जो साधु शुद्धात्मा के अनुभव रूप शुद्धोपयोग में परिणमन कर रहा है वह पृथ्वी आदि छह कायरूप जन्तुओं से भरे हुए इस लोक में विचरता हुआ भी यद्यपि बाहर मे कुछ द्रव्यहिंसा है तो भी उसके निश्चयहिंसा नहीं है । इस कारण सब तरह से प्रयत्न करके शुद्ध परमात्मा की भावना के बल से निश्चयहिंसा ही छोड़ने योग्य है ॥२१८॥**

अथैकान्तिकान्तरंगछेदत्वादुपधिस्तद्वत्प्रतिषेध्य इत्युपदिशति—

हवदि व ण हवदि बंधो मदम्हि जीवेऽध[1]कायचेट्ठम्हि ।
बंधो धुवमुवधीदो इदि समणा छड्डिया सव्वं ॥२१९॥

भवति वा न भवति बन्धो मृते जीवेऽथ कायचेष्टायाम् ।
बन्धो ध्रुवमुपधेरिति श्रमणास्त्यक्तवन्त सर्वम् ॥२१९॥

यथा हि कायव्यापारपूर्वकस्य परप्राणव्यपरोपस्याशुद्धोपयोगसद्भावासद्भावाभ्या-मनेकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमनैकान्तिकमिष्टं, न खलु तथोपधेः, तस्य सर्वथा तदविनाभा-

1 अथ (ज० वृ०) ।

वित्वप्रसिद्धयदैकान्तिकाशुद्धोपयोगसद्भावस्यैकान्तिकबन्धत्वेन छेदत्वमैकान्तिकमेव । अत एव भगवन्तोऽर्हन्त परमाः श्रमणाः स्वयमेव प्रागेव सर्वमेवोपधिं प्रतिषिद्धवन्तः । अत एव चापरैरप्यन्तरङ्गच्छेदवत्तदनान्तरीयकत्वात्प्रागेव सर्व एवोपधिः प्रतिषेध्यः ॥२१६॥

वक्तव्यमेव किल यत्तदशेषमुक्तमेतावतैव यदि चेतयतेऽत्र कोऽपि ।
व्यामोहजालमतिदुस्तरमेव नून निश्चेतनस्य वचसा मति विस्तरेऽपि ॥१४॥ [वसन्ततिलका]

भूमिका—परिग्रह ऐकान्तिक अन्तरंग-छेद होने से वह परिग्रह अन्तरंगछेद के समान त्याज्य है, यह उपदेश करते है—

अन्वयार्थ—[कायचेष्टायाम्] कायचेष्टापूर्वक [जीवे मृते] जीव के मरने पर [बन्ध] बध [भवति] होता है, [वा] अथवा [न भवति] नही भी होता, किन्तु [उपधेः] उपधिसे-परिग्रह से [ध्रुवम् बधः] निश्चय ही बध होता है, [इति] इसलिये [श्रमणाः] श्रमणो [अर्हन्तदेवो] ने [सर्वं] सर्वपरिग्रह [त्यक्तवन्तः] छोडा है ।

टीका—जैसे कायव्यापारपूर्वक परप्राणव्यपरोप को अशुद्धोपयोग के सद्भाव और असद्भाव के द्वारा अनैकांतिक बंध का अनियम होने से छेद का अनियम माना गया है, वैसा परिग्रह के द्वारा बध का अनियम नहीं है । परिग्रह सर्वथा अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होता, ऐसा जो परिग्रह का सर्वथा अशुद्धोपयोग के साथ अविनाभाविपना है उससे प्रसिद्ध होने वाले निश्चित अशुद्धोपयोग के सद्भाव के कारण परिग्रह से तो बंध निश्चित है, इसलिये उस परिग्रह को छेद का नियम ही है, इसीलिये भगवन्त अर्हन्तों ने, परम श्रमणों ने स्वय ही पहले ही सभी परिग्रह को छोड़ा है, और इसीलिये दूसरो के द्वारा भी, अन्तरङ्ग छेद की भांति प्रथम ही सभी परिग्रह छोड़ने का उपदेश दिया, सो योग्य है, क्योंकि वह परिग्रह अन्तरङ्गछेद के बिना नहीं होता ॥२१६॥

[अब, 'कहने योग्य सब कहा गया है' इत्यादि कथन श्लोक द्वारा किया जाता है ।]

[अर्थ—] जो कहने योग्य था वह सम्पूर्णतया कह दिया गया है, इतने मात्र से ही यदि यहां कोई चेत जाय तो समझ ले (अन्यथा) वाणी का अतिविस्तार किया जाय तो भी निश्चेतन अर्थात् नासमझ को व्यामोह का जाल वास्तव में अति दुस्तर है ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ बहिरङ्गजीवघाते बन्धो भवति न भवति वा परिग्रहे सति नियमेव भवतीति प्रतिपादयति—

हवदि व ण हवदि बंधो भवति वा न भवति बन्ध कस्मिन्सति **मदम्हि** जीवे मृते सत्यन्यजीवे । अथ अहो । कस्या सत्याम् ? **कायचेट्ठम्हि** कायचेष्टायाम् । तर्हि कथ बन्धो भवति । **बंधो धुवमुवधीदो** बन्धो भवति ध्रुव निश्चित । कस्माद् ? उपधेः परिग्रहात्सकाशादिति हेतो **समणा छंडिया सव्वं** श्रमणा

महाश्रमणा सर्वज्ञा पूर्वं दीक्षाकाले शुद्धबुद्धैकस्वभाव निजात्मानमेव परिग्रह कृत्वा शेष समस्त बाह्याभ्य न्तरपरिग्रह छर्दितवन्तस्त्यक्तवन्त:। एव ज्ञात्वा शेषतपोधनैरपि निजपरमात्मपरिग्रह स्वीकार कृत्वा शेष सर्वोऽपि परिग्रहो मनोवचनकायै कृतकारितानुमतैश्च त्यजनीय इति। अत्रेदमुक्त भवति शुद्धचैतन्य-रूपनिश्चयप्राणे रागादिपरिणामरूपनिश्चयहिंसया पातिते सति नियमेन बन्धो भवति। परजीवघाते पुनर्भवति न भवति नियमो नास्ति, परद्रव्ये ममत्वरूपमूर्च्छापरिग्रहेण तु नियमेन भवत्येवेति ।।२१९।।

एव भावहिंसाव्याख्यानमुख्यत्वेन पञ्चमस्थले गाथाषट्क गतम्। इति पूर्वोक्तक्रमेण 'एव पणमिय सिद्धे' इत्याद्येकविंशतिगाथाभि स्थलपचकेनोत्सर्गचारित्रव्याख्याननामा "प्रथमोऽन्तराधिकार" समाप्त।

उत्थानिका—आगे आचार्य कहते है कि बाहरी जीव का घात होने पर बन्ध होता है तथा नही भी होता है, किन्तु परिग्रह के होते हुए तो नियम से बन्ध होता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(कायचेट्ठम्हि) शरीर से हलन चलन आदि क्रिया के होते हुए (जीवे मदम्हि) किसी जंतु के मर जाने पर (हि) निश्चय से (बधो हवदि) कर्मबंध होता है (वा ण हवदि) अथवा नहीं होता है (अथ) परन्तु (उवधीदो) परिग्रह के निमित्त से (बंधो धुव) बंध निश्चय से होता ही है (इदि) इसीलिये (समणा) साधुओं ने (सव्व) सर्व परिग्रह को (छंड़िया) छोड़ दिया। साधुओ ने व महाश्रमण सर्वज्ञो ने पहले दीक्षा-काल मे शुद्ध बुद्ध एक स्वभावमयी अपने आत्मा को ही परिग्रह मानकर शेष सर्व बाह्य अभ्यंतर परिग्रह को छोड़ दिया ऐसा जानकर के अन्य साधुओं को भी अपने परमात्मस्व-भाव को ही अपना परिग्रह स्वीकार करके शेष सर्व ही परिग्रह को मन वचन काय और कृत कारित अनुमोदना से त्याग देना चाहिये। यहा यह कहा गया है कि शुद्ध चैतन्यरूप निश्चयप्राण का घात जब राग द्वेष आदि परिणामरूप निश्चयहिंसा से किया जाता है तब नियम से बन्ध होता है। पर जीव के घात हो जाने पर बध हो वा न भी हो, किन्तु परद्रव्य मे ममतारूप मूर्छा-परिग्रह से तो नियम से बध होता ही है ।।२१९।।**

इस तरह भाव हिसा के व्याख्यान की मुख्यता से पाचवे स्थल मे छ गाथाए पूर्ण हुई। इस तरह पहले कहे हुए क्रम से "एव पणमिय सिद्धे" इत्यादि २१ इक्कीस गाथाओ से ५ स्थलो के द्वारा उत्सर्ग चारित्र का व्याख्याननामक प्रथम अन्तराधिकार पूर्ण हुआ।

अथान्तरङ्गच्छेदप्रतिषेध एवायमुपधिप्रतिषेध इत्युपदिशति—

ण हि णिरवेक्खो चागो ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसुद्धी[1]।
अविसुद्धस्स य चित्ते कहं णु कम्मक्खओ विहिदो[2] ।।२२०।।

१–आसयविसोही (ज० वृ०)। २–विहियो (ज० वृ०)।

ण हि निरपेक्षस्त्यागो न भवति भिक्षोराशयविशुद्धि ।
अविशुद्धस्य च चित्ते कथ नु कर्मक्षयो विहित ॥२२०॥

न खलु बहिरङ्गसंगसद्भावे तुषसद्भावे तण्डुलगताशुद्धत्वस्येवाशुद्धोपयोगरूपस्यान्तरङ्गच्छेदस्य प्रतिषेधस्तद्भावे च न शुद्धोपयोगमूलस्य कैवल्यस्योपलम्भः अतोऽशुद्धोपयोगरूपस्यान्तरगच्छेदस्य प्रतिषेधं प्रयोजनमपेक्ष्योपधेर्विधीयमानः प्रतिषेधोऽन्तरंगच्छेदप्रतिषेध एव स्यात् ॥२२०॥

भूमिका—**अब, इस परिग्रह का निषेध अंतरंगछेद का ही निषेध है, यह उपदेश करते हैं—**

अन्वयार्थ—[निरपेक्ष त्याग न हि] यदि निरपेक्ष (सर्व अपेक्षाओ से रहित) त्याग न हो तो [भिक्षोः] भिक्षुके [आशयविशुद्धि] भाव की विशुद्धि [न भवति] नही होती, [च] और [चित्ते अविशुद्धस्य] जो भाव मे अविशुद्ध है उसके [कर्मक्षय] कर्मक्षय [कथ नु] कैसे [विहित] हो सकता है ॥२२०॥

टीका—**जैसे छिलके के सद्भाव मे चावलों मे पाई जाने वाली ललाईरूप अशुद्धता का त्याग (नाश-अभाव) नहीं होता, उसी प्रकार बहिरंग संग के सद्भाव में अशुद्धोपयोगरूप अंतरंगछेद का त्याग नहीं होता और उस अतरंगछेद के सद्भाव में शुद्धोपयोगमूलक कैवल्य (मोक्ष) की उपलब्धि नहीं होती ; इसलिये अशुद्धोपयोगरूप अंतरगछेद का निषेध है । प्रयोजन की अपेक्षा रखने वाली जो उपधि उसका निषेध वास्तव में अंतरंगछेद का ही निषेध है ॥२२०॥**

तात्पर्यवृत्ति

अत पर चारित्रस्य देशकालापेक्षयापहृतसयमरूपेणापवादव्याख्यानार्थं पाठक्रमेण त्रिंशद् गाथाभिर्द्वितीयोन्तराधिकार प्रारभ्यते । तत्र चत्वारि स्थलानि भवन्ति, तस्मिन्प्रथमस्थले निर्ग्रन्थमोक्षमार्गस्थापनामुख्यत्वेन 'ण हि णिरवेक्खो चागो' इत्यादि गाथापचकम् । अत्र टीकाया गाथात्रय नास्ति । तदनन्तर सर्वसावद्यप्रत्याख्यानलक्षणसामायिकसयमासमर्थाना यतीना सयमशौचज्ञानोपकरणनिमित्तमपवादव्याख्यानमुख्यत्वेन 'छेदो जेण ण विज्जदि' इत्यादि सूत्रत्रयम् । तदनन्तर स्त्रीनिर्वाणनिराकरणप्रधानत्वेन 'पेच्छदि ण हि इह लोग' इत्याद्येकादश गाथा भवन्ति । ताश्चामृतचद्रटीकाया न सन्ति । तत पर सर्वोपेक्षासयमसमर्थस्य तपोधनस्य देशकालापेक्षया किंचित्सयमसाधकशरीरस्य निरवद्याहारादिसहकारिकारण ग्राह्यमिति पुनरप्यपवादविशेषव्याख्यानमुख्यत्वेन ' उवयरण जिणमग्ग" इत्याद्येकादशगाथा भवन्ति । अत्र टीकाया गाथाचतुष्टय नास्ति । एव मूलसूत्राभिप्रायेण त्रिंशद्गाथाभि· टीकापेक्षया पुनर्द्वादशगाथाभि द्वितीयान्तराधिकारे समुदायपातनिका । तथाहि—

अथ भावशुद्धिपूर्वकबहिरङ्गपरिग्रहपरित्यागे कृते सति अभ्यन्तरपरिग्रहपरित्याग कृत एव

भवतीति निर्दिशति—**ण हि णिरवेक्खो चागो** न हि निरपेक्षस्त्याग यदि चेत् परिग्रहत्याग सर्वथा निरपेक्षो न भवति किन्तु किमपि वस्त्रपात्रादिक ग्राह्यमिति[1] भवता भण्यते तर्हि हे शिष्य ! **ण हवदि भिक्खुस्स आसयविसोही** न भवति भिक्षोराशयविशुद्धि तदा सापेक्षपरिणामे सति भिक्षोस्तपोधनस्य चित्तशुद्धिर्न भवति। **अविसुद्धस्स हि चित्ते** शुद्धात्मभावनारूपशुद्धिरहितस्य तपोधनस्य चित्ते मनसि हि स्फुट **कहं णु कम्मक्खओ विहियो** कथ तु कर्मक्षयो विहित उचितो न कथमपि। अनेनैतदुक्त भवति—यथा बहिरङ्गतुषसद्भावे सति तण्डुलस्याभ्यन्तरशुद्धि कर्त्तुं नायाति तथा विद्यमानेऽविद्यमाने वा बहिरङ्गपरिग्रहेऽभिलाषे सति निर्मलशुद्धात्मानुभूतिरूपा चित्तशुद्धि कर्त्तुं नायाति। यदि पुनर्विशिष्ट-वैराग्यपूर्वकपरिग्रहत्यागो भवति तदा चित्तशुद्धिर्भवत्येव ख्यातिपूजालाभनिमित्तत्यागे तु न भवति ॥२२०॥

उत्थानिका—अब आगे चारित्र का देशकाल की अपेक्षा से अपहृत सयमरूप अपवादपना समझाने के लिये पाठ के क्रम से तीस गाथाओ से दूसरा अन्तराधिकार प्रारम्भ करते हैं। इसमे चार स्थल है।

पहले स्थल मे निर्ग्रन्थ मोक्षमार्ग की स्थापना की मुख्यता से "ण हि णिरवेक्खो चागो" इत्यादि गाथाए पाच है। इनमे से तीन गाथाए श्री अमृतचन्द्रकृत टीका मे नही है। फिर सर्व पाप के त्यागरूप सामायिक नाम के सयम के पालने मे असमर्थ यतियो के लिये सयम, शौच व ज्ञान का उपकरण होता है। उसके निमित्त अपवाद व्याख्यान की मुख्यता से "छेदो जेण ण विज्जदि" इत्यादि सूत्र तीन है। फिर स्त्री को तद्भव मोक्ष होती है इसके निराकरण की प्रधानता से 'पेच्छदि णहि इह लोग' इत्यादि ग्यारह गाथाए है। ये गाथाए श्री अमृतचन्द्राचार्य की टीका मे नही है। इसके पीछे सर्व उपेक्षा सयम के लिये जो साधु असमर्थ है उसके लिये देश व काल की अपेक्षा से इस सयम के साधक शरीर के लिये कुछ दोष-रहित आहार आदि सहकारी कारण ग्रहण करने योग्य है। इससे फिर भी अपवाद के विशेष व्याख्यान की मुख्यता से "उवयरणं जिणमग्ग" इत्यादि ग्यारह गाथाए हैं, इनमे से भी उस टीका मे ४ गाथाए नही है। इस तरह मूलसूत्रो के अभिप्राय से तीस गाथाओ से तथा अमृतचन्द्रकृत टीका की अपेक्षा से बारह गाथाओ से दूसरे अन्तर अधिकार में समुदायपातनिका है।

गाथा की उत्थानिका अब कहते हैं कि जो भावो की शुद्धिपूर्वक बाहरी परिग्रह का त्याग किया जावे तो अभ्यंतर परिग्रह का ही त्याग किया गया।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(णिरवेक्खो) अपेक्षा रहित (चागो) त्याग (ण हि) यदि न होवे तो (भिक्खुस्स) साधु के (आसयविसोही ण हवदि) आशय या चित्त की विशुद्धि नहीं होवे। (य) तथा (अविसुद्धस्स चित्ते) अशुद्ध मन के होने पर (कहं णु) किस तरह (कम्म-**

1—श्वेताम्बरेण।

क्खओ) कर्मों का क्षय (विहियो) उचित हो अर्थात् न हो। यदि साधु सर्वथा ममता या इच्छा त्यागकर सर्व परिग्रह त्याग न करे किन्तु यह इच्छा रक्खे कि कुछ भी वस्त्र या पात्र आदि रख लेने चाहिये, तो अपेक्षा सहित परिणामों के होने पर उस साधु के चित्त की शुद्धि नहीं हो सकती है। तब जिस साधु का चित्त शुद्धात्मा की भावना रूप शुद्धि से रहित होगा उस साधु के कर्मों का क्षय होना किस तरह उचित होगा अर्थात् उसके कर्मों का नाश नहीं हो सकता है।

इस कथन से यह भाव प्रगट किया गया है कि जैसे बाहर का तुष रहते हुए चावल के भीतर की शुद्धि नहीं की जा सकती। इसी तरह विद्यमान परिग्रह मे या अविद्यमान परिग्रह में जो अभिलाषा है उसके होते हुए निर्मल शुद्धात्मा के अनुभव को करने वाली चित्त की शुद्धि नहीं की जा सकती है। जब विशेष वैराग्य के होने पर सब परिग्रह का त्याग होगा तब भावो की शुद्धि अवश्य होगी हो, परन्तु यदि प्रसिद्धि पूजा या लाभ के निमित्त त्याग किया जायेगा तो चित्त की शुद्धि नही होगी ॥२२०॥

अथ तमेव परिग्रहत्याग दृढयति—

गेह्लदि व चेलखड भायणमत्थित्तिभणिदमिह सुत्ते।
जदि सो चत्तालबो हवदि कह वा अणारभो ॥२२०-१॥

वत्थक्खंड दुद्दियभायणमण्ण च गेह्लदि णियदं।
विज्जदि पाणारभो विक्खेवो तस्स चित्तम्मि ॥२२०-२॥

गेह्लइ विधुणइ धोवइ सोसेइ जद तु आदवे खित्ता।
पत्तं व चेलखड विभेदि परदो य पालयदि ॥२२०-३॥

गेण्हदि व चेलखड गृह्णाति वा चेलखण्ड वस्त्रखण्ड **भायणं** भिक्षाभाजन वा **अत्थित्ति भणिदं** अस्तीति भणितमास्ते ? क्व। **इह सुत्ते** इह विवक्षितागमसूत्रे **जदि** यदि चेत् ? **सो चत्तालबो हवदि कह** निरालम्बनपरमात्मतत्त्वभावनाशून्य सन् स पुरुषो बहिर्द्रव्यालम्बनरहित कथ भवति, न कथमपि **वा अणारभो** नि क्रियनिरारम्भनिजात्मतत्त्वभावनारहितत्वेन निरारम्भो वा कथ भवति किन्तु सारम्भ एव, इति प्रथमगाथा। **वत्थक्खड दुद्दियभायण** वस्त्रखण्ड दुग्धिकाभाजन **अण्णं च गेण्हदि** अन्यच्च गृह्णाति कम्बलमृदुशयनादिक यदि चेत्। तदा किं भवति ? **णियद विज्जदि पाणारभो** निजशुद्धचैतन्य-लक्षणप्राणविनाशरूपो परजीवप्राणविनाशरूपो वा नियत निश्चित प्राणारम्भ प्राणवधो विद्यते न केवल प्राणारम्भ **विक्खेवो तस्स चित्तम्मि** अविक्षिप्तचित्तपरमयोगरहितस्य परिग्रहपुरुषस्य विक्षेपस्तस्य विद्यते चित्ते मनसीति। इति द्वितीयगाथा। **गेण्हइ** स्वशुद्धात्मग्रहणशून्य सन् गृह्णाति किमपि बहिर्द्रव्य **विधुणइ**

कर्मधूलि विहाय बहिरङ्गधूलि विधुनोति विनाशयति । **धोवइ** निर्मलपरमात्मतत्त्वमलजनकरागादिमल विहाय बहिरङ्गमल धौति प्रक्षालयति **सोसेइ जव तु आदवे खित्ता** निर्विकल्पध्यानातपेन ससारनदीशोषणम-कुर्वन् शोषयति शुष्क करोति यद तु यत्नपर तु यथा भवति । कि कृत्वा ? आतपे निक्षिप्य । किं तत् ? **पत्तं व चेलखंडं** पात्र वस्त्रखण्ड वा **बिभेदि** निर्भयशुद्धात्मतत्त्वभावनाशून्य सन् बिभेति भय करोति । कस्मा-त्सकाशात् ? **परदो य** परतश्चौरादे **पालयदि** परमात्मभावना न पालयन्न रक्षयन्परद्रव्य किमपि पालयतीति तृतीया गाथा ।।२२०-१-२-३।।

उत्थानिका—आगे इस ही परिग्रह के त्याग को दृढ करते है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि) यदि (इह सुत्ते) किसी विशेष सूत्र में (चेलखडं गेण्हदि) साधु वस्त्र के खड को स्वीकार करता है (व भायण अत्थिति भणिदम्) या उसके भिक्षा का पात्र होता है ऐसा कहा गया है तो (सो) वह पुरुष निरालम्ब परमात्मा के तत्व की भावना से शून्य होता हुआ (कहं) किस तरह (चत्तालंबो) बाहरी द्रव्य के आलम्बन रहित (हवदि) हो सकता है ? अर्थात् नहीं हो सकता (वा अणारम्भो) अथवा किस तरह क्रिया रहित व आरम्भ रहित निज आत्मतत्त्व की भावना से रहित होकर आरम्भ से शून्य हो सकता है ? अर्थात् आरम्भ रहित न होकर आरम्भ सहित ही होता है । यदि वह (वत्थक्खण्डं) वस्त्र के टुकड़े को, (दुद्दियभायणं) दूध के लिये पात्र को (अण्णं च गेण्हदि) तथा अन्य किसी कम्बल या मुलायम शय्या आदि को ग्रहण करता है तो उसके (णियद) निश्चय से (पाणारम्भो विज्जदि) अपने शुद्धचैतन्य लक्षण प्राणों का विनाश रूप अथवा प्राणियों का वध रूप प्राणारम्भ होता है तथा (तस्स चित्तम्मि विक्खेवो) उस क्षोभ रहित चित्तरूप परम योग से रहित परिग्रहवान पुरुष के चित्त मे विक्षेप होता है या आकु-लता होती है । वह यति (पत्तं च चेलखडं) भाजन को या वस्त्र खण्ड को (गेण्हइ) अपने शुद्धात्मा के ग्रहण से शून्य होकर ग्रहण करता है, (विधुणइ) कर्म धूल को झाड़ना छोड़कर उसकी बाहरी धूल को झाड़ता है, (धोवइ) निज परमात्मतत्व मे मल उत्पन्न करने वाले रागादि मल को छोड़कर उनके बाहरी मंल को धोता है (जदं तु आदवे खित्ता सोसेइ) और निर्विकल्प ध्यानरूपी धूप से संसार नदी को नहीं सुखाता हुआ यत्नवान् होकर उसे धूप में डालकर सुखाता है (परदो य बिभेदि) और निर्भय शुद्ध आत्मतत्व की भावना से शून्य होकर दूसरे चौर आदिकों से भय करता है (पालयदि) तथा परमात्मभावना की रक्षा छोड़कर उनकी रक्षा करता है ।।२२०-१, २२०-२, २२०-३।।**

अथैकान्तिकान्तरङ्गच्छेदत्वमुपधेर्विस्तरेणोपदिशति—

[1]किध तम्हि णत्थि मुच्छा आरम्भो वा असंजमो तस्स ।
[2]तध परदव्वम्मि रदो कधमप्पाणं पसाधयदि[3] ॥२२१॥

कथ तस्मिन्नास्ति मूर्च्छा आरम्भो वा असयमस्तस्य ।
तथा परद्रव्ये रत कथमात्मान प्रसाधयति ॥२२१॥

उपधिसद्भावे हि मम त्वपरिणामलक्षणाया मूर्च्छायास्तद्विषयकर्मप्रक्रमपरिणामलक्षणस्यारम्भस्य शुद्धात्मरूपहिंसनपरिणामलक्षणस्यासयमस्य वावश्यंभावित्वात्तथोपधिद्वितीयस्य परद्रव्यरतत्वेन शुद्धात्मद्रव्यप्रसाधकत्वाभावाच्च ऐकान्तिकान्तरंगच्छेदत्वमुपधेरवधार्यत एव । इदमत्र तात्पर्यमेवंविधत्वमुपधेरवधार्य स सर्वथा सन्यस्तव्य. ॥२२१॥

भूमिका—**'परिग्रह नियम से अन्तरंग छेद है' यह विस्तार से उपदेश करते हैं—**

अन्वयार्थ—[तस्मिन्] उस परिग्रह सद्भाव मे [तस्य] उस भिक्षु के [मूर्च्छा] मूर्छा, [आरम्भः] आरम्भ] [वा] या [असयम] असयम [नास्ति] न हो [कथ] यह कैसे हो सकता है ? (कदापि नही हो सकता), [तथा] तथा [परद्रव्ये रतः] जो पर द्रव्य मे रत हो वह [आत्मान] आत्मा को [कथ] कैसे [प्रसाधयति] साध सकता है ? (नही साध सकता)

टीका—**उपधि के सद्भाव मे (१) ममत्वपरिणाम जिसका लक्षण है ऐसी मूर्छा, (२) परिग्रह सम्बन्धी कार्य व्यवस्था के परिणाम रूप लक्षण वाला आरम्भ, अथवा (३) शुद्धात्मस्वरूप की हिसारूप परिणाम जिसका लक्षण है ऐसा असंयम ये अवश्य होता ही है तथा उपधि जिसका द्वितीय है (अर्थात् परिग्रह आत्मा से अन्य है, वह परिग्रह जिसने किया है) उसके परद्रव्य मे लीनता होने के कारण शुद्धात्मद्रव्य की साधकता का अभाव होता है, इससे उपधि के नियम से अन्तरङ्गछेद का निश्चय होता ही है । यहां यह तात्पर्य है कि—'उपधि अन्तरंग छेद ही है' यह निश्चित करके उस परिग्रह को सर्वथा छोड़ना चाहिए ॥२२१॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ सपरिग्रहस्य नियमेन चित्तशुद्धिर्नश्यतीति विस्तरेणाख्याति—

किह तम्हि णत्थि मुच्छा परद्रव्यममत्वरहितचिच्चमत्कारपरिणतेर्विसदृशामूर्च्छा कथ नास्ति अपि त्वस्त्येव । क्व ? तस्मिन् परिग्रहाकाक्षितपुरुषे **आरभो वा** मनोवचनकायक्रियारहितपरमचैतन्य-

१ किह (ज० वृ०) । २ तह (ज० वृ०) । ३ पसाहयदि (ज० वृ०) ।

प्रतिबन्धक आरम्भो वा कथ नास्ति किन्त्वस्त्येव **असजमो तस्स** शुद्धात्मानुभूतिविलक्षणासयमो वा कथ नास्ति किन्त्वस्त्येव तस्य सपरिग्रहस्य **तह परदव्वम्मि रदो** तथैव निजात्मद्रव्यात्परद्रव्ये रत **कधमप्पाणं पसाहयदि** स तु सपरिग्रहपुरुष कथमात्मान प्रसाधयति ? न कथमपीति ॥२२१॥

एव श्वेताम्बरमतानुसारिशिष्यसम्बोधनार्थं निर्ग्रन्थमोक्षमार्गस्थापनमुख्यत्वेन प्रथमस्थले गाथा-पचक गतम् ।

उत्थानिका—आगे आचार्य कहते है कि जो परिग्रहवान् है उसके नियम से चित्त की शुद्धि नष्ट हो जाती है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(तम्हि) उस परिग्रह सहित साधु मे (किह) किस तरह (मुच्छा) परद्रव्य की ममता से रहित चैतन्य के चमत्कार की परिणति से भिन्न मूर्छा (वा आरंभो) अथवा मन वचन काय की क्रिया रहित परम चैतन्य के भाव मे विघ्न-कारक आरम्भ (णत्थि) नहीं है किन्तु है ही (तस्स असंजमो) और उस परिग्रहवान् के शुद्धात्मा के अनुभव से विलक्षण असयम भी किस तरह नहीं है किन्तु अवश्य है (तध) तथा (परदव्वम्मि रदा) अपने आत्मद्रव्य से भिन्न परद्रव्य मे लीन होता हुआ (कधमप्पाण पसाहयदि) किस तरह अपने आत्मा की साधना परिग्रहवान् पुरुष कर सकता है अर्थात् किसी भी तरह नहीं कर सकता है ॥२२१॥**

इस तरह श्वेताम्बर मत के अनुसार मानने वाले शिष्य के सम्बोधन के लिये निर्ग्रंथ मोक्षमार्ग के स्थापन की मुख्यता से पहले स्थल मे पाँच गाथायें पूर्ण हुईं ।

अथ कस्यचित्क्वचित्कदाचित्कथंचित्कश्चिदुपधिरप्रतिषिद्धोऽप्यस्तीत्यपवादमुपदिशति-

छेदो जेण ण विज्जदि गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स ।
समणो तेणिह वट्टदु कालं खेत्तं वियाणित्ता ॥२२२॥

छेदो येन न विद्यते ग्रहणविसर्गेषु सेवमानस्य ।
श्रमणस्तेनेह वर्तता काल क्षेत्र विज्ञाय ॥२२२॥

आत्मद्रव्यस्य द्वितीयपुद्गलद्रव्याभावात्सर्व एवोपधिः प्रतिषिद्ध इत्युत्सर्गः । अयं तु विशिष्टकालक्षेत्रवशात्कश्चिदप्रतिषिद्ध इत्यपवादः । यदा हि श्रमण. सर्वोपधिप्रतिषेधमास्थाय परममुपेक्षासयमं प्रतिपत्तुकामोऽपि विशिष्टकालक्षेत्रवशावसन्नशक्तिर्न प्रतिपत्तुं क्षमते तदापकृष्य संयमं प्रतिपद्यमानस्तद्बहिरङ्गसाधनमात्रमुपधिमातिष्ठते । स तु तथा स्थीयमानो न खलूपधित्वाच्छेदः, प्रत्युत छेदप्रतिषेध एव । यः किलाशुद्धोपयोगाविनाभावी स छेदः अयं तु श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरवृत्तिहेतुभूताहारनिर्हारादिग्रहणविसर्जनविषयच्छेदप्रति-षेधार्थमुपादीयमानः सर्वथा शुद्धोपयोगाविनाभूतत्वाच्छेद एव प्रतिषेध एव स्यात् ॥२२२॥

भूमिका—**अब, 'किसी के कहीं किसी प्रकार कोई परिग्रह अनिषिद्ध भी है,' ऐसा अपवाद कहते हैं।**

अन्वयार्थ—[येन ग्रहणविसर्गेषु] जिस उपकरण के ग्रहण विसर्जन से [सेवमानस्य] सेवन करने वाले के [छेदः] छेद [न विद्यते] नही होता [इह] इस लोक मे [श्रमण.] श्रमण [काल क्षेत्र विज्ञाय] काल क्षेत्र को जानकर, [तेन वर्तताम्] उस उपकरण का सेवन करे।

टीका—**आत्मद्रव्य के द्वितीय पुद्गल द्रव्य का अभाव होने से समस्त ही उपधि निषिद्ध है—ऐसा उत्सर्ग है, और विशिष्ट काल क्षेत्र के वश कोई उपधि अनिषिद्ध है-ऐसा अपवाद है। जब श्रमण सर्व उपधि के निषेध का आश्रय लेकर परमोपेक्षा संयम को प्राप्त करने का इच्छुक होने पर भी विशिष्ट काल क्षेत्र के वश हीन-शक्तिवाला होने से उसे प्राप्त करने में असमर्थ होता है, तब उसमे हीनता करके अनुत्कृष्ट सयम प्राप्त करता हुआ उस संयम की बहिरंग साधन मात्र उपधि का आश्रय लेता है। इस प्रकार जिस उपधि का आश्रय लिया जाता है ऐसी वह उपधि उपधिपन के कारण भी वास्तव मे छेदरूप नहीं है, प्रत्युत छेद की निषेधरूप ही है। जो उपधि अशुद्धोपयोग के बिना नहीं होती, वह छेद है। किन्तु यह उपधि तो श्रामण्यपर्याय की सहकारी कारणभूत शरीर की स्थिति के हेतुभूत आहार नीहारादि के ग्रहण-विसर्जन सम्बन्धी छेद के निषेधार्थ ग्रहण की जाने से सर्वथा शुद्धोपयोग सहित है, इसलिये छेद के निषेधरूप ही है ॥२२२॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ कालापेक्षया परमोपेक्षासयमशक्त्यभावे सत्याहारसयमशौचज्ञानोपकरणादिक किमपि ग्राह्यमित्यपवादमुपदिशति—

छेदो जेण ण विज्जदि छेदो येन न विद्यते। येनोपकरणेन शुद्धोपयोगलक्षणसयमस्य छेदो विनाशो न विद्यते। कयो ? **गहणविसग्गेसु** ग्रहणविसर्गयो यस्योपकरणस्यान्यवस्तुनो वा ग्रहणे स्वीकारे विसर्जने। कि कुर्वत तपोधनस्य ? **सेवमाणस्स** तदुपकरण सेवमानस्य **समणो तेणिह वट्टदु काल खेत्तं वियाणित्ता** श्रमणस्तेनोपकरणेनेह लोके वर्त्तता। कि कृत्वा ? काल क्षेत्र च विज्ञायेति। अयमत्र भावार्थ —काल पञ्चमकाल शीतोष्णादिकाल वा क्षेत्र भरतक्षेत्र मानुषजाङ्गलादिक्षेत्र वा विज्ञाय येनोपकरणेन स्वसवित्तिलक्षणभावसयमस्य बहिरङ्गद्रव्यसयमस्य वा छेदो न भवति तेन वर्तत इति ॥२२२॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि काल की अपेक्षा से साधु की शक्ति परम उपेक्षा सयम के पालने की न हो तो वह आहार करता है, सयम के उपकरण पीछी व शौच के

उपकरण कमण्डलु व ज्ञान के उपकरण शास्त्रादि को ग्रहण करता है, ऐसे अपवाद मार्ग का उपदेश देते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जेण गहणविसग्गेसु सेवमाणस्स) जिस उपकरण के ग्रहण करने व रखने मे उस उपकरण के सेवने वाले साधु के (छेदो ण विज्जदि) शुद्धोपयोगमयी संयम का घात न होवे (तेणिह समणो कालं खेत्त वियाणित्ता वट्टदु) उसी प्रकरण के साथ इस लोक मे साधु क्षेत्र और काल को जानकर वर्तन करे। यहाँ यह भाव है कि काल की अपेक्षा पञ्चमकाल या शीत उष्ण आदि ऋतु, क्षेत्र की अपेक्षा भरतक्षेत्र, मनुष्यक्षेत्र या नगर जंगल आदि इन दोनों को जानकर जिस उपकरण से स्वसवेदन लक्षण भावसंयम का अथवा बाहरी द्रव्य सयम का घात न होवे, उस तरह से बर्तना चाहिये ॥२२२॥

अथाप्रतिषिद्धोपधिस्वरूपमुपदिशति—

अप्पडिकुट्ठं उवधिं अपत्थणिज्जं असंजदजणेहिं ।
मुच्छादिजणणरहिदं[1] गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं ॥२२३॥

अप्रतिक्रुष्टमुपधिमप्रार्थनीयमसयतजनै ।
मूर्च्छादिजननरहित गृह्लातु श्रमणो यद्यप्यल्पम् ॥२२३॥

यः किलोपधिः सर्वथा बन्धासाधकत्वादप्रतिक्रुष्टः सयमादन्यत्रानुचितत्वादसंयतजनाप्रार्थनीयो रागादिपरिणाममन्तरेण धार्यमाणत्वान्मूर्च्छादिजननरहितश्च भवति स खल्वप्रतिषिद्धः। अतो यथोदितस्वरूपएवोपधिरुपादेयो न पुनरल्पोऽपि यथोदितविपर्यस्तस्वरूपः।

भूमिका—अब, अनिषिद्ध उपधि का स्वरूप कहते हैं—

अन्वयार्थ—[यद्यपि अल्पम्] भले ही अल्प हो तथापि [अप्रतिक्रुष्टम्] जो निषेधने योग्य न हो, [असयतजनै अप्रार्थनीय] असयतजनो से अप्रार्थनीय हो, और [मूर्च्छादिजननरहित] जो मूर्च्छा आदि को उत्पन्न न करे [उपधि] ऐसी उपधि को [श्रमण] श्रमण [गृह्लातु] ग्रहण करो।

टीका—जो उपधि सर्वथा बंध की असाधक होने से अनिषिद्ध है, सयत के अतिरिक्त अन्यत्र अनुचित होने से असंयतजनों के द्वारा अप्रार्थनीय (अवाञ्छनीय) है और रागादिपरिणाम के बिना धारण की जाने से मूर्च्छादि के उत्पादन से रहित है, वह वास्तव में अनिषिद्ध है। इससे यथोक्त स्वरूप वाली उपधि ही उपादेय है, किन्तु यथोक्त स्वरूप से विपरीत स्वरूप वाली अल्प भी उपधि-उपादेय नहीं है ॥२२३॥

---

१ मुच्छादिजणणरहिय (ज० वृ०)।

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वसूत्रोदितोपकरणस्वरूप दर्शयति—

अप्पडिकुट्ठ उवधिं निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गसहकारिकारणत्वेनाप्रतिषिद्धमुपधिमुपकरणरूपोपधिं **अपत्थणिज्ज असंजदजणेहिं** अप्रार्थनीय निर्विकारात्मोपलब्धिलक्षणभावसयमरहितस्यासयतजनस्यानभिलषणीयम्। **मुच्छादिजणणरहिय** परमात्मद्रव्यविलक्षणबहिर्द्रव्यममत्वरूपमूर्च्छारक्षणार्जनसस्कारादिदोषजननरहितम्। **गेण्हदु समणो जदि वि अप्पं** गृह्णातु श्रमणो यमप्यल्प पूर्वोक्तमुपकरणोपधिं यद्यप्यल्प तथापि पूर्वोक्तोचितलक्षणमेव ग्राह्य न च तद्विपरीतमधिक वेत्यभिप्राय ॥२२३॥

उत्थानिका—आगे पूर्व गाथा मे जिन उपकरणो को साधु अपवाद मार्ग में काम मे ले सकता है उनका स्वरूप दिखलाते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(समणो) साधु (उवधिं) परिग्रह को (अप्पडिकुट्ठं) जो निषेधने योग्य न हो, (असंजदजणेहिं अपत्थणिज्जं) असयमी लोगों के द्वारा चाहने योग्य न हो (मुच्छादिजणणरहियं) मूर्छा आदि भावों को न उत्पन्न करे (जदि वि अप्प) यद्यपि अल्प हो (गेण्हदु) तो भी ग्रहण करें। साधु महाराज ऐसे उपकरणरूपी परिग्रह को ही ग्रहण करें जो निश्चयव्यवहार मोक्षमार्ग मे सहकारी कारण होने से निषिद्ध न हो, जिसको वे असंयमी जन जो निर्विकार आत्मानुभवरूप भावसयम से रहित हैं, कभी मांगें नहीं, न उसकी इच्छा करें तथा जिसके रखने से परमात्म-द्रव्य से विलक्षण बाहरी द्रव्यों में ममतारूप मूर्छा न पैदा हो जावे, न उसके उत्पन्न करने का दोष हो, न उसके संस्कार से दोष उत्पन्न हो। ऐसे परिग्रह को यदि रक्खें तो भी बहुत थोडा रक्खें। इन लक्षणों से विपरीत परिग्रह न लेवें।**

अथोत्सर्ग एव वस्तुधर्मो न पुनरपवाद इत्युपदिशति—

किं किंचण त्ति तक्कं अपुणब्भवकामिणोध[1] देहे वि।
संग त्ति जिणवरिंदा णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा ॥२२४॥

किं किंचनमिति तर्क अपुनर्भवकामिनोऽथ देहेऽपि।
सग इति जिनवरेन्द्रा नि प्रतिकर्मत्वमुद्दिष्टवन्त ॥२२४॥

अत्र श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनाप्रतिषिध्यमानेऽत्यन्तमुपात्तदेहेऽपि परद्रव्यत्वात्परिग्रहोऽयं न नामानुग्रहार्हः किंतूपेक्ष्य एवेत्यप्रतिकर्मत्वमुपदिष्टवन्तो भगवन्तोऽर्हद्देवाः। अथ तत्र शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसंभावनरसिकस्य पुंसः शेषोऽन्योऽनुपात्तः परिग्रहो वराकः किं नाम स्यादिति व्यक्त एव हि तेषामाकूतः। अतोऽवधार्यते उत्सर्ग एव वस्तुधर्मो न पुनरपवादः। इदमत्र तात्पर्यं वस्तुधर्मत्वात्परमनैर्ग्रन्थ्यमेवालम्ब्यम् ॥२२४॥

भूमिका—**अब, 'उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नही' ऐसा उपदेश करते हैं—**

---

१ अथ (ज० वृ०)।

अन्वयार्थ—[अथ] जबकि [जिनवरेन्द्राः] जिनवरेन्द्रो ने [अपुनर्भवकामिन.] मोक्षाभिलाषी के, [सग इति] देह परिग्रह है' यह कहकर [देहे अपि] देह मे भी [निःप्रतिकर्मत्वम्] अप्रतिकर्मत्व (सस्काररहितत्व) का [उद्दिष्टवन्त] उपदेश दिया है, तब [कि किंचनम् इति तर्क] अन्य परिग्रह का विधान तो कैसे हो सकता है ?

टीका—**यहां श्रामण्यपर्याय का सहकारी कारण होने से जिसका निषेध नहीं किया गया ऐसे अत्यन्त मिले हुए शरीर मे भी, 'यह शरीर परद्रव्य होने से परिग्रह है, वास्तव मे यह अनुग्रह योग्य नहीं, किन्तु उपेक्षा योग्य ही है', ऐसा कहकर, भगवन्त अर्हंतदेवों ने निर्ममत्व का उपदेश दिया है, तब फिर वहा शुद्धात्मतत्वोपलब्धि की सभावना के रसिक पुरुषों के शेष बेचारा अनुपात्त (शरीर से पृथक्) परिग्रह कैसे ग्राह्य हो सकता है ? ऐसा उनका (अर्हंत देवो का) आशय व्यक्त ही है । इससे निश्चित होता है कि—उत्सर्ग ही वस्तुधर्म है, अपवाद नहीं । तात्पर्य यह कि वस्तुधर्म होने से परम निर्ग्रंथत्व ही अवलम्बन योग्य है ॥२२४॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ सर्वसङ्गपरित्याग एव श्रेष्ठ शेषमशक्यानुष्ठानमिति प्ररूपयति—

किं किंचण त्ति तक्कं कि किचनमिति तर्क कि किचन परिग्रह इति तर्को विचार क्रियते तावत् । कस्य ? **अपुणब्भवकामिणो** अपुनर्भवकामिन अनन्तज्ञानादिचतुष्टयात्ममोक्षाभिलाषिण **अथ** अहो **देहोवि** देहोऽपि **संगोत्ति** सङ्ग परिग्रह इति हेतो **जिणवरिंदा** जिनवरेन्द्रा कर्त्तार **णिप्पडिकम्मत्तमुद्दिट्ठा** नि प्रतिकर्मत्वमुपदिष्टवन्त । शुद्धोपयोगलक्षणपरमोपेक्षासयमबलेन देहेऽपि नि प्रतिकारित्व कथितवन्त इति । ततो ज्ञायते मोक्षसुखाभिलाषिणा निश्चयेन देहादिसर्वसङ्गपरित्याग एवोचितोऽन्यस्तूपचार एवेति ॥२२४॥

एवमपवादव्याख्यानरूपेण द्वितीयस्थले गाथात्रय गतम् ।

उत्थानिका—आगे फिर आचार्य यही कहते है कि सर्व परिग्रह का त्याग ही श्रेष्ठ है । जो कुछ उपकरण रखना है वह अशक्यानुष्ठान है—अपवाद है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अथ) अहो (अपुणब्भवकामिणो) पुन. भवरहित ऐसे मोक्ष के इच्छुक साधु के (देहोवि) शरीरमात्र भी (संगोत्ति) परिग्रह है ऐसा जानकर (जिणवरिंदा) जिनवरेंद्रों ने (णिप्पडिकम्मत्त) ममता रहित भाव को ही उत्तम (उद्दिट्ठा) कहा है (किं किंचनत्ति तक्कं) ऐसी दशा मे साधु के क्या परिग्रह है यह मात्र एक तर्क ही है अर्थात् अन्य उपकरणादि परिग्रहका विचार भी नहीं हो सकता । अनन्तज्ञानादि चतुष्टय रूप जो मोक्ष है उसकी प्राप्ति के अभिलाषी साधु के शरीर मात्र भी जब परिग्रह है तब**

और परिग्रह का विचार क्या किया जा सकता है। शुद्धोपयोग लक्षणमयी परम उपेक्षा सयम के बल से देह मे भी कुछ प्रतिकर्म अर्थात् ममत्व नहीं करना चाहिये तब ही वीतराग सयम होगा, ऐसा जिनेद्रो का उपदेश है। इससे यह स्पष्ट जाना जाता है कि मोक्ष सुख के चाहने वालो को निश्चय से शरीर आदि सब परिग्रह का त्याग ही उचित है अन्य कुछ भी कहना सो उपचार है ॥२२४॥

इस तरह अपवाद व्याख्यान के रूप मे दूसरे स्थल मे तीन गाथाएँ पूर्ण हुईं।

तात्पर्यवृत्ति

अथैकादशगाथापर्यन्त स्त्रीनिर्वाणनिराकरणमुख्यत्वेन व्याख्यान करोति । तद्यथा—श्वेताम्बरमतानुसारी शिष्य पूर्वपक्ष करोति—

पेच्छदि ण हि इह लोग पर च समणिदेसिदो धम्मो ।
धम्मम्हि तम्हि कम्हा वियप्पिय लिंगमित्थीण ॥२२४-१॥

पेच्छदि ण हि इह लोग निरुपरागनिजचैतन्यनित्योपलब्धिभावनाविनाशक ख्यातिपूजालाभरूप प्रेक्षते न च हि स्फुट इह लोक। न च केवलमिह लोक **पर च** स्वात्मप्राप्तिरूप मोक्ष विहाय स्वर्गभोगप्राप्तिरूप पर च परलोक च नेच्छति। स क ? **समणिंददेसिदो धम्मो** श्रमणेन्द्रदेशितो धर्म जिनेन्द्रोपदिष्ट इत्यर्थ । **धम्मम्हि तम्हि कम्हा** धर्मे तस्मिन् कस्मात् **वियप्पियं** विकल्पित निर्ग्रन्थलिङ्गाद्वस्त्रप्रावरणेन पृथक्कृत। कि ? **लिंग** सावरणचिन्ह। कासा सम्बन्धि ? **इत्थीणं** स्त्रीणामिति पूर्वपक्षगाथा ॥१॥

उत्थानिका—आगे ग्यारह गाथाओ तक स्त्री को उसी भव से मोक्ष हो सकता है इसका निराकरण करते हुए व्याख्यान करते है। प्रथम ही श्वेताम्बर मत के अनुसार बुद्धि रखने वाला शिष्य पूर्वपक्ष करता है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(समिणिंददेसिदो धम्मो) श्रमणों के इन्द्र जिनेन्द्रों से उपदेश किया हुआ धर्म (इह लोग परं च) इस लोकको तथा परलोकको (ण हि पेच्छदि) नहीं चाहता है। (तम्हि धम्मम्हि) उस धर्म मे (कम्हा) किसलिये (इत्थीण लिंगं) स्त्रियों का वस्त्र-सहित लिंग (वियप्पिय) भिन्न कहा है? यह शंका रूप गाथा है। जैनधर्म वीतराग निज चैतन्यभाव की नित्य प्राप्ति की भावना के विनाशक अपनी पूजा व लाभ रूप इस लौकिक विषय को नहीं चाहता है और न अपने आत्मा की प्राप्तिरूप मोक्ष को छोडकर स्वर्गों के भोगों की प्राप्ति की कामना करता है। यहां यह शका की गई है कि ऐसे धर्म मे स्त्रियों का वस्त्र सहित लिंग किसलिये निर्ग्रन्थ लिंग से भिन्न कहा गया है? ॥२२४-१॥**

अथ परिहारमाह—

णिच्छयदो इत्थीण सिद्धी ण हितेण जम्मणा दिट्ठा ।
तम्हा तप्पडिरूवं वियप्पियं लिंगमित्थीणं ॥२२४-२॥

णिच्छयदो इत्थीण सिद्धी ण हि तेण जम्मणा दिट्ठा निश्चयत स्त्रीणा नरकादिगतिविलक्षणानन्तसुखादिगुणस्वभावा तेनैव जन्मना सिद्धिर्न दृष्टा न कथिता । **तम्हा तप्पडिरूवं** तस्मात्कारणात्प्रतियोग्य सावरणरूप **वियप्पियं लिंगमित्थीणं** निर्ग्रन्थलिङ्गात्पृथक्त्वेन विकल्पित कथित लिङ्ग प्रावरणसहित चिन्ह । कासा ? स्त्रीणामिति ॥२२४-२॥

उत्थानिका—इसी प्रश्न का आगे समाधान करते है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(**णिच्छयदो**) **वास्तव मे (तेण जम्मणा) उसी जन्म से (इत्थीणं सिद्धी) स्त्रियों को मोक्ष (ण हि दिट्ठा) नहीं देखा गया है (तम्हा) इसलिये (इत्थीणं लिंगं) स्त्रियों का भेष (तप्पडिरूव) आवरण सहित (वियप्पियं) पृथक् कहा गया है । नरक आदि गतियों से विलक्षण अनतसुख आदि गुणों के धारी सिद्ध की अवस्था की प्राप्ति निश्चय से स्त्रियों को उसी जन्म मे नहीं कही गई है । इस कारण से उसके योग्य वस्त्र सहित भेष मुनि के निग्रंथ भेष से अलग कहा गया है ॥२२४-२॥**

अथ स्त्रीणा मोक्षप्रतिबन्धक प्रमादबाहुल्य दर्शयति—

पइडीपमादमइया एदासिं वित्ति भासिया पमदा ।
तम्हा ताओ पमदा पमादबहुलोत्ति णिद्दिट्ठा ॥२२४-३॥

पइडीपमादमइया प्रकृत्या स्वभावेन प्रमादेन निर्वृत्ता प्रमादमयी । का कर्त्री भवति ? **एदासिं वित्ति** एतासा स्त्रीणा वृत्ति परिणति **भासिया पमदा** तत एव नाममालाया प्रमदा प्रमदासज्ञा भणिता भासिता स्त्रिय । **तम्हा ताओ पमदा** तत एव प्रमदा सज्ञास्ता स्त्रिय तस्मात्तत एव **पमादबहुलोत्ति णिद्दिट्ठा** नि प्रमादपरमात्मतत्त्वभावनाविनाशकप्रमादबहुला इति निर्दिष्टा ॥३॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि स्त्रियो के मोक्षमार्ग को रोकने वाले प्रमाद को बहुत प्रबलता है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(**पइडी**) **स्वभाव से (एतासिं वित्ति) इन स्त्रियों की परिणति (पमादमइया) प्रमादमयी है (पमदा भासिया) इसलिये उनको प्रमदा कहा गया है (तम्हा) अतः (ताओ पमदा) वे स्त्रियां (पमादबहुलोत्ति णिदिट्ठा) प्रमाद से भरी हुई हैं ऐसा कहा गया है । क्योंकि स्वभाव से उनका वर्तन प्रमादमयी होता है इसलिये नाममाला में उनको प्रमदा संज्ञा कही गई है । प्रमदा होने से ही उनमें प्रमाद रहित परमात्मतत्त्व की भावना के नाश करने वाले प्रमाद की बहुलता कही गई है ॥२२४-३॥**

अथ तासां मोहादिबाहुल्य दर्शयति—

संति धुव पमदाण मोहपदोसा भय दुगुंछा य ।
चित्ते चित्ता माया तम्हा तासि ण णिव्वाण ॥२२४-४॥

सति धुवं पमदाण सन्ति विद्यन्ते ध्रुव निश्चित प्रमदाना स्त्रीणा । के ते ? **मोहपदोसा भयं दुगुंछा य** मोहादिरहितानन्तसुखादिगुणस्वरूपमोक्षकारणप्रतिबन्धका मोहप्रद्वेषभयदुगुच्छापरिणामा. **चित्ते चित्ता माया** कौटिल्यादिरहितपरमबोधादिपरिणते प्रतिपक्षभूता चित्ते मनसि चित्रा विचित्रा माया **तम्हा तासि ण णिव्वाण** तत एव तासामव्यावाधसुखाद्यनन्तगुणाधारभूत निर्वाण नास्तीत्य-भिप्राय ॥४॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि स्त्रियो के मोह आदि भावो की अधिकता है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(पमदाणं चित्ते) स्त्रियों के चित्त मे (धुवं) निश्चय से (मोहपदोसा भयं दुगंछा य) मोह, द्वेष, भय, ग्लानि तथा (चित्ता माया) चित्त में माया (संति) होती है (तम्हा) इसलिये (तासि ण णिव्वाणं) उनके निर्वाण नहीं होता है। निश्चय से स्त्रियो के मन मे मोहादि रहित व अनन्तसुख आदि गुण स्वरूप मोक्ष के कारण को रोकने वाले मोह, द्वेष, भय, ग्लानि के परिणाम पाए जाते हैं तथा उनमें कुटिलता आदि से रहित उत्कृष्ट ज्ञान की परिणति की विरोधी नाना प्रकार की माया होती है। इसीलिये ही उनको बाधारहित अनन्तसुख आदि अनन्तगुणों का आधारभूत मोक्ष नहीं हो सकता है, यह अभिप्राय है ॥२२४-४॥**

अथैतदेव दृढयति—

ण विणा वट्टदि णारी एक्क वा तेसु जीवलोयम्हि ।
ण हि संउड च गत्त तम्हा तासि च सवरण ॥२२४-५॥

ण विणा वट्टदि णारी न विना वर्त्तते नारी **एक्क वा तेसु जीवलोयम्हि** तेषु निर्दोषिपरमात्मध्यानविघातकेषु पूर्वोक्तदोषेषु मध्ये जीवलोके त्वेकमपि दोष विहाय **ण हि सउडं च गत्तं** न हि स्फुट सवृत गात्र च शरीर **तम्हा तासि च सवरण** तत एव च तासा सवरण वस्त्रावरण क्रियत इति ॥५॥

उत्थानिका—और भी उसी को दृढ करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जीवलोयम्हि) इस जीव लोक में (तेसु एक्कं विणा वा) इन दोषों में से एक भी दोष के बिना (णारी ण वट्टदि) स्त्री नहीं पाई जाती हैं (ण हि संउडं च गत्तं) न उनका शरीर ही संकोचरूप या दृढ़तारूप होता है (तम्हा) इसलिये (तासि च संवरणं) उनको वस्त्र का आवरण उचित है इस जीव लोक में ऐसी कोई भी स्त्री नहीं है जिसके ऊपर कहे हुए निर्दोष परमात्म ध्यान के घात करने वाले दोषों के**

मध्य में एक भी दोष न पाया जाता हो तथा निश्चय से उनका शरीर भी संवृतरूप नहीं है इसलिये उनका शरीर वस्त्र से आच्छादन किया जाता है ।।२२४-५।।

अथ पुनरपि निर्वाणप्रतिबन्धकदोषान्दर्शयति—

चित्तस्सावो तासिं सित्थिल्लं अत्तवं च पक्खलणं ।
विज्जदि सहसा तासु अ उप्पादो सुहममणुआणं ।।२२४-६।।

विज्जदि विद्यते **तासुअ** तासु च स्त्रीषु । किं ? **चित्तस्सावो** चित्तस्रवः निःकामात्मतत्त्वसंवित्ति-विनाशकचित्तस्य कामोद्रेकेण स्रवो रागसार्द्रभावः **तासिं** तासां स्त्रीणां **सित्थिल्लं** शिथिलस्य भावः शैथिल्यं तद्भवमुक्तियोग्यपरिणामविषये चित्तदाढर्याभावः सत्त्वहीनपरिणाम इत्यर्थः । **अत्तवं च पक्खलणं** ऋतौ भवमार्तवं प्रस्खलनं रक्तस्रवणं सहसा झटिति मासे मासे दिनत्रयपर्यन्तं चित्तशुद्धि-विनाशको रक्तस्रवो भवतीत्यर्थः **उप्पादो सुहममणुआणं** उत्पादः उत्पत्तिः सूक्ष्मलब्ध्यपर्याप्तमनुष्या-णामिति ।।६।।

उत्थानिका—और भी स्त्रियो मे ऐसे दोष दिखलाते है जो उनके निर्वाण होने मे बाधक हैं ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(तासिं) उन स्त्रियों के (चित्तस्सावो) चित्त मे काम का उद्रेक (सित्थिल्लं) शिथिलपना (सहसा अत्तवं च पक्खलणं) तथा एकाएक ऋतु धर्म मे रक्त का बहना (विज्जदि) मौजूद है (तासु अ सुहममणुआणं उप्पादो) तथा उनके शरीर मे सूक्ष्म मनुष्यों की उत्पत्ति होती है । उन स्त्रियो के चित्त में कामवासना रहित आत्मतत्व के अनुभव को विनाश करने वाले काम की तीव्रता से राग से गीले परिणाम होते हैं तथा उसी भव से मुक्ति के योग्य परिणामों मे चित्त की दृढता नहीं होती है । वीर्य-हीन शिथिल-पना होता है । इसके सिवाय उनके एकाएक प्रत्येक मास मे तीन-तीन दिन पर्यंत ऐसा रक्त बहता है जो उनके मन की शुद्धि का नाश करने वाला है तथा उनके शरीर मे सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों की उत्पत्ति हुआ करती है ।।२२४-६।।**

अथोत्पत्तिस्थानानि कथयति—

लिंगं हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु ।
भणिदो सुहुमुप्पादो तासिं कह संजमो होदि ।।२२४-७।।

लिंगं हि य इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु स्त्रीणां लिङ्गे योनिप्रदेशे स्तनान्तरे नाभिप्रदेशे कक्षप्रदेशे च **भणिदो सुहुमुप्पादो** एतेषु स्थानेषु सूक्ष्ममनुष्यादिजीवोत्पादो भणितः । एते पूर्वोक्तदोषाः पुरुषाणां किं न भवन्तीति चेत् ? एवं न वक्तव्यं स्त्रीषु बाहुल्येन भवन्ति । नचास्तित्वमात्रेण समानत्वं । एकस्य विषकणिकास्ति द्वितीयस्य च विषं सर्वतोऽस्ति किं समानत्वं भवति ? किन्तु पुरुषाणां प्रथमसंहनननबलेन दोषविनाशको मुक्तियोग्यविशेषसंयमोऽस्ति । **तासिं कह संजमो होदि** तत कारणात्तासां कथं संयमो भवतीति ।।७।।

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि उनके शरीर मे किस तरह लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य पैदा होते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(इत्थीणं) स्त्रियों के (लिंगं हि य थणंतरे णाहिकक्खपदेसेसु) योनि स्थान में, स्तनों के भीतर, नाभि में व बगलों के स्थानों मे (सुहुमुप्पादो) सूक्ष्म मनुष्यों की उत्पत्ति (भणिदो) कही गई है (तासिं सजमो कह होदि) इसलिये उनके सयम किस तरह हो सकता है ? यहाँ कोई यह शंका करे कि क्या ये पूर्व में कहे हुए दोष पुरुषों में नहीं होते ? उसका उत्तर यह है कि ऐसा तो नहीं कहा जा सकता कि बिलकुल नहीं होते किन्तु स्त्रियों के भीतर वे दोष अधिकता से होते हैं ? दोषों के अस्तित्व मात्र से ही स्त्री और पुरुष मे समानता नहीं है । पुरुष यदि दोष रूपी विष की एक कणिका मात्र है तब स्त्री के दोषरूपी विष सर्वथा मौजूद है । इसके सिवाय पुरुषों के पहला वज्रवृषभनाराचसंहनन भी होता है जिसके बल से सर्व दोषों का नाश करने वाला मुक्ति के योग्य विशेष संयम हो सकता है ॥२२४-७॥**

अथ स्त्रीणा तद्भवमुक्तियोग्या सकलकर्मनिर्जरा निषेधयति—

जदि दंसणेण सुद्धा सुत्तज्झयणेण चावि सजुत्ता ।
घोरं चरदि व चरियं इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा ॥२२४-८॥

जदि दसणेण सुद्धा यद्यपि दर्शनेन सम्यक्त्वेन शुद्धा **सुत्तज्झयणेण चावि सजुत्ता** एकादशाङ्गसूत्राध्ययनेनापि सयुक्ता **घोर चरदि व चरिय** घोर पक्षोपवासमासोपवासादि चरति वा चारित्र **इत्थिस्स ण णिज्जरा भणिदा** तथापि स्त्रीजनस्य तद्भवकर्मक्षययोग्या सकलनिर्जरा न भणितेति भाव । किंच यथा प्रथमसहनन नाभावात्स्त्री सप्तमनरक न गच्छति तथा निर्वाणमपि । "**पुवेद वेदता पुरिसा जे खवगसेडिमारूढा । सेसोदयेणवि तहा झाणुवजुत्ता य ते दु सिज्झति**" इति गाथाकथितार्थाभिप्रायेण भावस्त्रीणा कथ निर्वाणमिति चेत् ? तासा भावस्त्रीणा प्रथमसहननमस्ति द्रव्यस्त्रीवेदाभावात्तद्भवमोक्षपरिणामप्रतिबन्धकतीव्रकामोद्रेकोऽपि नास्ति । द्रव्यस्त्रीणा प्रथमसहनन नास्तीति कस्मिन्नागमे कथितमास्त इति चेत् ? तत्रोदाहरणगाथा—"**अतिमतिगसघडण णियमेण य कम्मभूमिमहिलाणं । आदिमतिगसंघडण णत्थि त्ति जिणेहिं णिद्दिठ्ठ ॥१॥**"

अथ मत—यदि मोक्षो नास्ति तर्हि भवदीयमते किमर्थमर्जिकाना महाव्रतारोपणम् ? परिहारमाह-तदुपचारेण कुलव्यवस्थानिमित्तम । नचोपचार साक्षाद्भवितुमर्हति अग्निवत् क्रूरोऽय देवदत्त इत्यादिवत् । तथाचोक्तम्–मुख्याभावे सति प्रयोजने निमित्ते चोपचार प्रवर्तते । किम्तु यदि तद्भवे मोक्षो भवति स्त्रीणा तर्हि शतवर्षदीक्षिताया अर्जिकाया अद्यदिने दीक्षित साधु कथ वन्द्यो भवति ? सैव प्रथमत किं न वन्द्या भवति साधो ? किन्तु भवन्ते मल्लितीर्थंकर स्त्रीति कथ्यते तदप्ययुक्तम् । तीर्थंकरा हि सम्यग्दर्शनविशुद्धादिषोडशभावना पूर्वभवे भावयित्वा पश्चाद्भवन्ति । सम्यग्दृष्टे स्त्रीवेदकर्मणो बन्ध एव नास्ति कथ स्त्री भविष्यतीति । कि च यदि मल्लितीर्थंकरो वान्य कोऽपि वा

स्त्री भूत्वा निर्वाण गत तर्हि स्त्रीरूपप्रतिमाराधना किं न क्रियते भवद्भि ? यदि पूर्वोक्तदोषा सन्ति स्त्रीणा तर्हि सीतारुक्मिणीकुन्तीद्रौपदीसुभद्राप्रभृतयो जिनदीक्षा गृहीत्वा विशिष्टतपश्चरणेन कथ षोडशस्वर्गे गता इति चेत् ? परिहारमाह–तत्र दोषो नास्ति तस्मात्स्वर्गादागत्य पुरुषवेदेन मोक्ष यास्यन्त्यग्रे । तद्भवमोक्षो नास्ति भवान्तरे भवतु को दोष इति । इदमत्र तात्पर्यं–स्वय दस्तुस्वरूपमेव ज्ञातव्य पर प्रति विवादो न कर्त्तव्य । कस्मात् ? विवादे रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति ततश्च शुद्धात्मभावना नश्यतीति ॥८॥

उत्थानिका—आगे और भी निषेध करते है कि स्त्रियो के उसी भव से मुक्ति मे जाने योग्य सर्व कर्मों की निर्जरा नही हो सकती है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि दसणेण सुद्धा) यद्यपि कोई स्त्री सम्यग्दर्शनसे शुद्ध हो (सुत्तज्झयणेण चावि संजुत्ता)** तथा शास्त्र के ज्ञान से भी संयुक्त हो **(घोरं चरियं चरदि) और घोर चारित्रको भी आचरण करे** (इत्थिस्स णिज्जरा ण भणिदा) **तो भी स्त्री के सर्व कर्म की निर्जरा नहीं कही गई है । यदि कोई स्त्री शुद्ध सम्यक्त्व की** धारी हो व ग्यारह **अंग सूत्रों का अध्ययन करने वाली हो, पक्ष का** या मास का उपवास आदि **घोर चारित्र को आचरण करने वाली हो,** तथापि **उसकी** ऐसी निर्जरा **नहीं हो सकती, जिससे स्त्री उसी भव में सर्व कर्म को क्षयकर मोक्ष प्राप्त कर सके । इस कहने का प्रयोजन यह है कि जैसे प्रथम संहनन वज्रवृषभनाराच के न होने के कारण सातवे नरक नहीं जा सकती तैसे ही वह निर्वाण को भी नहीं प्राप्त कर सकती है ।**

शका—**जैसे पुरुष वेद के उदय वाले पुरुष क्षपकश्रेणी पर आरूढ़ हो जाते हैं वैसे ही स्त्री व नपुसक वेद के** उदय वाले पुरुष भी ध्यान में लीन हो क्षपकश्रेणी पर **आरूढ़ होकर सिद्ध हो जाते हैं—इस गाथा में भाव स्त्रियों को निर्वाण होना क्यों कहा है ?**

समाधान—**भाव स्त्रियों के प्रथम सहनन होता है, द्रव्य-स्त्री वेद नहीं होने से उनके उसी भव में मोक्ष के भावों को रोकने वाला तीव्र काम का वेग भी नहीं** होता है । **द्रव्य स्त्रियों को प्रथम संहनन नहीं होता है क्योंकि आगम मे ऐसा ही कहा है—**

कर्म भूमि की स्त्रियो के अन्त के तीन संहनन नियम से होते हैं तथा आदि के तीन नहीं होते हैं ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है ।

शका—**यदि स्त्रियों को मोक्ष नहीं होता है तो आपके मत में किसलिये आर्यिकाओं को महाव्रतों का आरोपण किया गया है ?**

समाधान—**यह उपचार कथन कुल की व्यवस्था के निमित्त कहा है । जो उपचार कथन है वह साक्षात् नहीं होता । जैसे यह कहना कि यह देवदत्त अग्नि के समान क्रूर**

है इत्यादि। इस दृष्टान्त में अग्नि का मात्र दृष्टान्त है, देवदत्त साक्षात् अग्नि नहीं। इसी तरह स्त्रियों के महाव्रत जैसा आचरण है, महाव्रत नहीं, क्योंकि मुख्य का अभाव होने पर भी प्रयोजन तथा निमित्त के वश उपचार प्रवर्तता है, ऐसा आर्ष वाक्य है।

यदि स्त्रियों को तद्भव मोक्ष हो सकता हो तो सौ वर्ष की दीक्षित आर्यिका आज ही दीक्षा लेने वाले साधु को क्यों वंदना करती है? चाहिये तो यह था कि पहले यह नया दीक्षित साधु ही उसको वन्दना करता, सो ऐसा नहीं है। तथा आपके मत में मल्लि तीर्थंकर को स्त्री कहा है सो ठीक नहीं है। तीर्थंकर वे ही होते हैं जो पूर्व भव में दर्शन-विशुद्धि आदि सोलह कारण भावनाओं को भा करके तीर्थंकर नामकर्म बांधते हैं। सम्यग्दृष्टि जीव के स्त्रीवेद कर्म का बन्ध ही नहीं होता है फिर सम्यग्दृष्टि किस तरह स्त्री पर्याय में पैदा होगा। तथा यदि ऐसा माना जायेगा कि मल्लि तीर्थंकर व अन्य कोई भी स्त्री होकर फिर निर्वाण को गए तो स्त्री रूप की प्रतिमा की आराधना क्यों नहीं आप लोग करते हैं।

शंका—यदि स्त्रियों में पूर्व लिखित दोष होते हैं तो सीता, रुक्मिणी, कुन्ती, द्रौपदी, सुभद्रा आदि जिनदीक्षा लेकर विशेष तपश्चरण करके किस तरह सोलहवें स्वर्ग में गई हैं।

समाधान—उनके स्वर्ग जाने में कोई दोष नहीं है। वे उस स्वर्ग से आकर पुरुष होकर मोक्ष जावेंगी, स्त्रियों को तद्भव मोक्ष नहीं है किन्तु अन्य भव में उस आत्मा को मोक्ष हो, इसमे कोई दोष नहीं है।

यहां यह तात्पर्य है कि स्वयं वस्तु स्वरूप को ही समझना चाहिये केवल विवाद करना उचित नहीं है, क्योंकि विवाद में राग द्वेष की उत्पत्ति होती है जिस कारण से शुद्ध आत्मा की भावना नष्ट हो जाती है ॥२२४-८॥

अथोपसंहाररूपेण स्थितपक्षं दर्शयति,—

तम्हा तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं।
कुलरूववओजुत्ता समणीओ तस्समाचारा ॥२२४-९॥

तम्हा यस्मात्तद्भवे मोक्षो नास्ति तस्मात्कारणात् **तं पडिरूवं लिंगं तासिं जिणेहिं णिद्दिट्ठं** तत्प्रतिरूपं वस्त्रप्रावरणसहितं लिङ्गं चिन्हं लाञ्छनं तासां स्त्रीणां जिनवरैः सर्वज्ञैर्निर्दिष्टं कथितम्। **कुलरूववओजुत्ता समणीओ** लोकदुगुञ्छारहितत्वेन जिनदीक्षायोग्यं कुलं भण्यते। अन्तरङ्गनिर्विकार-चित्तशुद्धिज्ञापकं बहिरङ्गनिर्विकारं रूपं भण्यते। शरीरभङ्गरहितं वा अतिबालवृद्धबुद्धिवैकल्यरहितं वयो भण्यते। तैः कुलरूपवयोभिर्युक्ताः कुलरूपवयोयुक्ता भवन्ति? काः श्रमण्यार्जिकाः। पुनरपि

किंविशिष्टा· ? **तस्समाचारा** तासा स्त्रीणां योग्यस्तद्योग्य आचारशास्त्रविहि तसमाचार आचार आचरण यासा तास्तत्समाचारा इति ॥२२४-६॥

उत्थानिका—आगे इस विषय को सकोचते हुए स्त्रियों की व्रतो मे क्या स्थिति है उसे समझाते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(तम्हा) इसलिये (तासि लिंगं) उन स्त्रियों का चिन्ह या भेष (तं पडिरूवं) वस्त्र सहित (जिणेहिं णिद्दिट्ठं) जिनेंद्रों ने कहा है। (कुलरूववओजुत्ता) कुल, रूप, वय सहित (तस्समाचारा) जो उनके योग्य आचरण हैं उनको पालने वाली (समणीओ) अर्जिकाएँ होती हैं। क्योंकि स्त्रियों को उसी भव से मोक्ष नहीं होता है, इसलिये सर्वज्ञ जिनेन्द्र भगवान् ने उन आर्यिकाओं का लक्षण या चिह्न वस्त्र आच्छादन सहित कहा है। उनका कुल लौकिक में घृणा के योग्य नहीं, ऐसा जिनदीक्षा योग्य कुल हो। उनका स्वरूप ऐसा हो कि जो बाहर मे भी विकार से रहित हो तथा अन्तरंग मे भी उनका चित्त निर्विकार व शुद्ध हो तथा उनकी वय या अवस्था ऐसी हो कि शरीर मे जीर्णपना या भग न हुआ हो, न अति बाल हो, न वृद्ध हों, न बुद्धि-रहित मूर्ख हो, आचार शास्त्र में उनके योग्य जो आचरण कहा गया है उसको पालने वाली हो, ऐसी आर्यिकाए होनी चाहिये ॥२२४-६॥**

अथेदानी पुरुषाणा दीक्षाग्रहणे वर्णव्यवस्था कथयति—

वण्णेसु तीसु एक्को कल्लाणगो तवोसहो वयसा।
सुमुहो कुच्छारहिदो लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो ॥२२४-१०॥

वण्णेसु तीसु एक्को वर्णेषु त्रिष्वेक ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यवर्णेष्वेक **कल्लाणगो** कल्याणाङ्ग आरोग्य **तवोसहो वयसा** तप·सह तप क्षम । केन ? अतिवृद्धबालत्वरहितवयसा **सुमुहो** निर्विकाराभ्यन्तरपरमचैतन्यपरिणतिविशुद्धिज्ञापक गमक बहिरङ्गनिर्विकार मुख यस्य मुखावयवभङ्गरहित वा स भवति सुमुख **कुच्छारहिदो** लोकमध्ये दुराचाराद्यपवादरहित **लिंगग्गहणे हवदि जोग्गो** एव गुणविशिष्टपुरुषो जिनदीक्षाग्रहणे योग्यो भवति । यथायोग्य सच्छूद्राद्यपि ॥२२४-१०॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो पुरुष दीक्षा लेते है उनकी वर्ण व्यवस्था क्या होती है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(तीसु वण्णेसु एक्को) तीन वर्णों में से एक वर्ण वाला (कल्लाणगो) आरोग्य शरीर धारी, (तवोसहो) तपस्या को सहन करने वाला, (वयसा सुमुहो) अवस्था से सुन्दर मुख वाला तथा (कुच्छारहिदो) अपवाद रहित (लिंगग्गहणे जोग्गो हवदि) पुरुष साधु भेष के लेने योग्य होता है। जो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीन वर्णों**

में से कोई एक वर्ण धारी हो, जिसका शरीर नीरोग हो, जो तप करने को समर्थ हो, अतिवृद्ध व अतिबाल न होकर योग्य वय सहित हो, जिसका मुख का भाग भग दोष रहित निर्विकार हो तथा वह इस बात का बतलाने वाला हो कि इस साधु के भीतर निर्विकार परमचैतन्य परिणति शुद्ध है तथा जिसका लोक में बुराचारादि के कारण से कोई अपवाद न हो ऐसा गुणधारी पुरुष ही जिनदीक्षा ग्रहण के योग्य होता है तथा सत् शूद्र आदि भी यथायोग्य व्रतों की दीक्षा ले सकते हैं ॥२२४–१०॥

अथ निश्चयनयाभिप्राय कथयति—

जो रयणत्तयणासो सो भगो जिणवरेंहि णिद्दिट्ठो ।
सेस भगेण पुणो ण होदि सल्लेहणाअरिहो ॥२२४–११

जो रयणत्तयणासो सो भगो जिणवरेंहि णिद्दिट्ठो यो रत्नत्रयनाश स भङ्गो जिनवरैर्निर्दिष्ट । विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपो योऽसौ निश्चयरत्नत्रयस्वभावस्तस्य विनाश स एव निश्चयेन नाशो भङ्गो जिनवरैर्निर्दिष्ट **सेस भगेण पुणो** शेषभगेन पुन शेषखण्डमुण्डवातवृषणादिभगेन **ण होदि सल्लेहणाअरिहो** न भवति सल्लेखनार्हं लोकदुगुञ्छाभयेन निर्ग्रन्थरूपयोग्यो न भवति । कौपीनग्रहणेन तु भावनायोग्यो भवतीत्यभिप्राय ॥११॥

एव स्त्रीनिर्वाणनिराकरणव्याख्यानमुख्यत्वेनैकादशगाथाभिस्तृतीय स्थल गतम् ।

उत्थानिका—आगे निश्चय नय का अभिप्राय कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(**जो रयणत्तयणासो**) जो रत्नत्रय का नाश है (**सो भंगो जिणवरेंहिं णिद्दिट्ठो**) उसको जिनेन्द्रो ने व्रतभंग कहा है (**पुणो सेस भगेण**) तथा शरीर के भग होने पर पुरुष (**सल्लेहणा अरिहो ण होदि**) साधु के समाधिमरण के योग्य नहीं होता है । विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभाव निज परमात्मतत्व का सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व चारित्ररूप जो आत्मा का निश्चल स्वभाव है उसका नाश सो ही निश्चय से भग है, ऐसा जिनेन्द्रों ने कहा है । तथा शरीर के भग होने पर अर्थात् मस्तक भग, अण्डकोष या लिंग भंग (वृषण भंग) वात-पीड़ित आदि शरीर की अवस्था होने पर कोई समाधिमरण के योग्य नहीं होता है अर्थात् लौकिक मे निरादर के भय से निर्ग्रंथ भेष के योग्य नहीं होता है । यदि कौपीन मात्र भी ग्रहण करे तो साधु पद की भावना करने के योग्य होता है ।

भावार्थ—स्त्रियों के तीन अन्त के ही सहनन होते हैं जिससे वह मुक्ति नहीं प्राप्त कर सकती । १६ स्वर्ग से ऊपर तथा छठे नरक के नीचे स्त्री का गमन नहीं हो सकता है, न वह सातवें नरक जा सकती, न ग्रैवेयक आदि में जा सकती है । श्वेताम्बर लोग स्त्रियों के मोक्ष की कल्पना करते हैं सो बात उन्हीं के शास्त्रों से विरोध रूप भासती है । कुछ श्वेताम्बरी शास्त्रों की बातें—

श्वेताम्बर सप्ततिका नामा छठा कर्म ग्रन्थ गाथा ४७ की टीका में निम्न गाथा आयी है, जिसमे कि स्त्री को चौदहवां पूर्व पढ़ने का निषेध है, सूत्र मे कहा है—

तुच्छागारवबहुला चलिंदिआ दुब्बला अधीइए ।
इय अवतेसज्झयणा भू अऊडा अनोच्छीण ।।१।।

अर्थ—भूतवाद अर्थात् दृष्टिवाद नाम का बारहवां अंग स्त्री को नहीं पढ़ना चाहिये क्योंकि स्त्री जाति स्वभाव से तुच्छ (हल्की) होती है, गर्व अधिक करती है, विद्या झेल नहीं सकती, इन्द्रियों की चंचलता स्त्रियों मे विशेष होती है, स्त्री की बुद्धि दुर्बल होती है।

श्वेताम्बर प्रवचनसारोद्धार-प्रकरण रत्नाकर भाग तीसरा (स० १९६४ भीम सेन माणक जी बम्बई) पृष्ठ ५४४-४५ मे है कि स्त्रियों को नीचे लिखी बातें नहीं हो सकती हैं—

अरहंत चक्कि केसव बल संभिन्नेय चारणे पुव्वा ।
गणहर पुलाय आहारग च न हु भवियमहिलाण ।।५४०।।

अर्थ—अरहंत, चक्री, नारायण, बलदेव, संभिन्नश्रोता, विद्याचारणादि, पूर्व का ज्ञान, गणधर, पुलाकपना, आहारक शरीर ये दश लब्धियां भव्य स्त्री के नहीं होती हैं।

श्वेताम्बर प्रवचनसारोद्धार प्रकरण रत्नाकर चौथे भाग का षडशीति नामक चतुर्थ कर्म ग्रन्थ पृष्ठ ३९८

चौथे गुणस्थान मे स्त्रीवेद के उदय होते हुए औदारिकमिश्र, वैक्रियिकमिश्र, कार्मण ये तीन योग प्रायः नहीं होते हैं। अर्थात् सम्यग्दृष्टि स्त्री पर्याय मे नहीं उपजता है।

इस प्रकार स्त्री-निर्वाण निराकरण के व्याख्यान की मुख्यता से ग्यारह गाथाओं के द्वारा तीसरा स्थल पूर्ण हुआ।

अथ केऽपवादविशेषा इत्युपदिशति—

उवयरणं जिणमग्गे लिंग जहजादरूवमिदि भणिदं ।
गुरुवयणं पि य विणओ सुत्तज्झयणं च णिद्दिट्ठं ।।२२५।।

उपकरणं जिनमार्गे लिङ्ग यथाजातरूपमिति भणितम् ।
गुरुवचनमपि च विनय सूत्राध्ययन च निर्दिष्टम् ।।२२५।।

यो हि नामाप्रतिषिद्धोऽस्मिन्नुपधिरपवादः स खलु निखिलोऽपि श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेनोपकारकारकत्वादुपकरणभूत एव न पुनरन्यः। तस्य तु विशेषाः सर्वाहार्यव-

जितसहजरूपापेक्षितयथाजातरूपत्वेन बहिरंगलिंगभूताः कायपुद्गलाः श्रूयमाणतत्कालबोधकगुरुगीर्यमाणात्मतत्त्वद्योतकसिद्धोपदेशवचनपुद्गलास्तथाधीयमाननित्यबोधकानादिनिधन - शुद्धात्मतत्त्वद्योतनसमर्थश्रुतज्ञानसाधनीभूतशब्दात्मकसूत्रपुद्गलाश्च शुद्धात्मतत्त्वव्यञ्जकदर्शनादिपर्यायतत्परिणतपुरुषविनीतताभिप्रायप्रवर्तकचित्तपुद्गलाश्च भवन्ति । इदमत्र तात्पर्यं, कायवद्वचनमनसी अपि न वस्तुधर्मः ॥२२५॥

भूमिका—अब, अपवाद के भेद कौन से हैं ? सो कहते हैं—

अन्वयार्थ—[यथाजातरूप लिंग] यथाजातरूप (जन्मजात-नग्न) लिंग [जिनमार्गे] जिनमार्ग मे [उपकरण इति भणितम्] उपकरण कहा गया है, [गुरुवचन] गुरु के वचन, [सूत्राध्ययन ज] सूत्रो का अध्ययन [च] और [विनय अपि] विनय भी [निर्दिष्टम्] उपकरण कहे गये है ।

टीका—इसमे जो अनिषिद्ध उपधिरूप अपवाद है, वह सभी वास्तव में ऐसा ही है कि जो श्रामण्य पर्याय के सहकारी कारण के रूप में उपकार करने वाला होने से उपकरणभूत है, दूसरा नहीं । उसके विशेष (भेद) इस प्रकार हैं—(१) सर्व औपाधिक भावों से रहित स्वाभाविक यथाजातरूपत्व के कारण जो बहिरंग लिंगभूत हैं, ऐसी पुद्गलकाय (२) जिनका श्रवण किया जाता है ऐसे तत्कालबोधक, गुरुद्वारा कहे जाने पर आत्मतत्व-द्योतक, अमोघ उपदेश रूप पौद्गलिकवचन तथा (३) जिनका अध्ययन किया जाता है ऐसे, नित्यबोधक, अनादिनिधन शुद्ध आत्मतत्व को प्रकाशित करने मे समर्थ श्रुतज्ञान के साधनभूत शब्दात्मक सूत्रपौद्गलिक और (४) शुद्ध आत्मतत्व को व्यक्त करने वाली जो दर्शनादिक पर्यायें और उन रूप से परिणत पुरुष के प्रति विनय का अभिप्राय प्रवर्तित करने वाला पौद्गलिकमन, ये पौद्गलिक काय वचन मन उपकरण है ।

यहां यह तात्पर्य है कि काय की भांति वचन और मन भी वस्तु धर्म नहीं है किन्तु उपकारक होने से उपकरण है ॥२२५॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ पूर्वोक्तस्योपकरणरूपापवादव्याख्यानस्य विशेषविवरण करोति,—

इदि भणिद कथितम् । किम् ? **उवयरण** उपकरण । क्व ? **जिणमग्गे** जिनोक्तमोक्षमार्गे । किमुपकरणम् ? **लिंग** शरीराकारपुद्गलपिण्डरूप द्रव्यलिङ्गम् । किं विशिष्टम् ? **जहजादरूव** यथाजातरूप यथाजातशब्देनात्र व्यवहारेण सङ्गपरित्यागयुक्त नग्न रूप निश्चयेनाभ्यन्तरेण शुद्धबुद्धैकस्वभाव परमात्मस्वरूप **गुरुवयण पि य** गुरुवचनमपि निर्विकारपरमचिज्ज्योति स्वरूपपरमात्मतत्त्वप्रतिबोधक सारभूत सिद्धोपदेशरूप गुरूपदेशवचन । न केवल गुरूपदेशवचन **सुत्तज्झयण च** आदिमध्यान्तवर्जितजातिजरामरणरहितनिजात्मद्रव्यप्रकाशसूत्राध्ययन च परमागमवाचनमित्यर्थः । **णिद्दिट्ठ** उपकरणरूपेण निर्दिष्ट

कथितम् । विणओ स्वकीयनिश्चयरत्नत्रयशुद्धिर्निश्चयविनय तदाधारपुरुषेषु भक्तिपरिणामो व्यवहार-विनय । उभयोऽपि विनयपरिणाम उपकरण भवतीति निर्दिष्ट । अनेन किमुक्त भवति-निश्चयेन चतुर्विधमेवोपकरणम् । अन्यदुपकरण व्यवहार इति ॥२२५॥

उत्थानिका—आगे पूर्व मे कहे हुए उपकरणरूप अपवाद व्याख्यान का विशेष वर्णन करते है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जिणमग्गे) जिनधर्म मे, मोक्षमार्ग मे (उवयरणं) उपकरण (जहजादरूवं लिंगं इदि भणिदं) यथाजातरूप नग्न भेष कहा है (गुरुवयण पि य) तथा गुरु से धर्मोपदेश सुनना (विणओ) गुरुओं आदि की विनय करना (सुत्तज्झयण च पण्णत्त) तथा शास्त्रों का पढ़ना भी उपकरण कहा गया है। जिनेन्द्र भगवान् के कहे हुए मोक्षमार्ग मे उपकरण इस भांति कहे गए हैं (१) व्यवहारनय से सर्व परिग्रह से रहित शरीर के आकार पुद्गल पिंडरूप द्रव्यलिंग तथा निश्चय से भीतर मन के शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप परमात्मा का स्वरूप (२) विकार रहित परमचैतन्यज्योति स्वरूप परमात्मतत्व के बताने वाले सार भूत और सिद्ध अवस्था के उपदेशक गुरु के वचन (३) आदि मध्य अन्त से रहित व जन्म जरा मरण से रहित निज आत्मद्रव्य के प्रकाश करने वाले सूत्रों का पढ़ना—परमागम का वचना (४) अपने ही निश्चय रत्नत्रय की शुद्धि से निश्चयविनय और उसके आधार रूप पुरुषों मे भक्ति का परिणाम सो व्यवहारविनय दोनों ही प्रकार के विनय परिणाम ऐसे चार उपकरण कहे गए हैं, यही वास्तव मे उपकारी हैं । अन्य कोई कमंडलादि व्यवहार मे उपकरण हैं ॥२२५॥

अथप्रतिषिद्धशरीरमात्रोपधिपालनविधानमुपदिशति—

इहलोगणिरावेक्खो अप्पडिबद्धो परम्हि लोयम्हि ।
जुत्ताहारविहारो रहिदकसाओ हवे समणो ॥२२६॥

इहलोकनिरापेक्ष अप्रतिबद्ध परस्मिन् लोके ।
युक्ताहारविहारो रहितकषायो भवेत् श्रमण. ॥२२६॥

अनादिनिधनैकरूपशुद्धात्मतत्वपरिणतत्वादखिलकर्मपुद्गलविपाकात्यन्तविविक्त-स्वभावत्वेन रहितकषायत्वात्तदात्वमनुष्यत्वेऽपि समस्तमनुष्यव्यवहारबहिर्भूतत्वेनेहलोक-निरपेक्षत्वात्तथाभविष्यदमर्त्यादिभावानुभूतितृष्णाशून्यत्वेन परलोकाप्रतिबद्धत्वाच्च परि-च्छेद्यार्थोपलम्भप्रसिद्ध्यर्थंप्रदीपपूरणोत्सर्पणस्थानीयाभ्यां शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भप्रसिद्ध्यर्थंत-च्छरीरसंभोजनसंचलनाभ्यां युक्ताहारविहारो हि स्यात् श्रमणः । इदमत्र तात्पर्यम्—यतो

हि रहितकषायः ततो न तच्छरीरानुरागेण दिव्यशरीरानुरागेण वाहारविहारयोरयुक्त्या प्रवर्तेत । शुद्धात्मतत्त्वोपलम्भसाधकश्रामण्यपर्यायपालनायैव केवल युक्ताहारविहारः स्यात् । २२६।।

भूमिका—**अब, अनिषिद्ध शरीर मात्र उपधि के पालन की विधि का उपदेश करते हैं—**

अन्वयार्थ—]श्रमणः] मुनि [रहितकषाय.] कषाय रहित होता हुआ [इहलोक निरपेक्ष] इस लोक मे विषयाभिलाषा रहित होता हुआ और [परस्मिन् लोके] परलोक मे [अप्रतिबद्धः] देवादि पर्याय की इच्छा नही करता हुआ [युक्ताहारविहारः भवेत्] योग्य आहार विहार मे प्रवृत्ति करता है ।

टीका—**अनादिनिधन एकरूप शुद्ध आत्मतत्व मे परिणत होने से श्रमण समस्त कर्म-पुद्‌गल के विपाक से अत्यन्त विविक्त (भिन्न) स्वभाव के द्वारा कषायरहित होने से, वर्तमान काल मे मनुष्यत्व के होते हुये भी स्वयं समस्त मनुष्य व्यवहार से उदासीन होने के कारण इस लोक के प्रति निरपेक्ष (निस्पृह) है, तथा भविष्य मे होने वाले देवादि के भोगो की तृष्णा से रहित होने के कारण परलोक के प्रति अप्रतिबद्ध (वांछा से रहित) है, इसलिये, जैसे घटपटादि पदार्थों को देखने के लिये ही दीपक में तेल डाला जाता है और बत्ती आदि ठीक करते है; उसी प्रकार श्रमण शुद्धात्मा को प्राप्त करने के लिये ही उस शरीर को खिलाता और चलाता है, इसलिये युक्ताहार विहारी होता है ।**

यहा तात्पर्य यह है कि—श्रमण कषाय रहित है, इसलिये वह वर्तमान मनुष्य शरीर के अनुराग से या दिव्यशरीर के अर्थात् भावी देवशरीर के अनुराग से आहार विहार में अयुक्तरूप से प्रवृत्ति नहीं करता किन्तु शुद्धात्मतत्व की प्राप्ति के साधनभूत श्रामण्यपर्याय के पालन के लिये ही मात्र योग्य आहार विहार में प्रवृत्ति करता है ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ युक्ताहारविहारलक्षणतपोधनस्य स्वरूपमाख्याति,—

इहलोगणिरावेक्खो इहलोकनिरापेक्ष टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावनिजात्मसवित्तिविनाशकख्यातिपूजालाभरूपेहलोककाक्षारहित **अप्पडिबद्धो परम्हि लोयम्हि** अप्रतिबद्ध परस्मिन् लोके तपश्चरणे कृते दिव्यदेवस्त्रीपरिवारादिभोगा भवन्तीति, एवविधपरलोके प्रतिबद्धो न भवति **जुत्ताहारविहारो हवे** युक्ताहारविहारो भवेत् । स क ? **समणो** श्रमण । पुनरपि कथभूत ? **रहिदकसाओ** नि कषायस्वरूपसवित्त्यवष्टभबलेन रहितकषायश्चेति । अयमत्र भावार्थ —योऽसौ इहलोकपरलोकनिरपेक्षत्वेन नि कषायत्वेन च प्रदीपस्थानीयशरीरे तैलस्थानीय ग्रासमात्र दत्वा घटपटादिप्रकाश्यपदार्थस्थानीय निजपरमात्मपदार्थमेव निरीक्षते स एव युक्ताहारविहारो भवति न पुनरन्य शरीरपोषणनिरत इति ।।२२६।।

उत्थानिका—आगे योग्य आहार विहार को करते हुए तपोधन का स्वरूप कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(इहलोगणिरावेक्खो) जो इस लोक की इच्छा से रहित है, (परम्हि लोयम्हि अप्पडिबद्धो) परलोक सम्बन्धी अभिलाषा से रहित है, (रहिदकसाओ) व क्रोधादि कषायों से रहित है ऐसा (समणो) साधु (जुत्ताहारविहारो) योग्य आहार विहार करने वाला होता है। जो साधु टाकी से उकेरे के समान अमिट ज्ञाता दृष्टा एक स्वभाव रूप निज आत्मा के अनुभव के नाश करने वाली इस लोक में प्रसिद्धि, पूजा व लाभ रूप अभिलाषाओं से शून्य है, परलोक में तपश्चरण करने से देवपद व उसके साथ स्त्री, देव परिवार व भोग प्राप्त होते हैं ऐसी इच्छा से रहित है, तथा कषाय रहित आत्म-स्वरूप के अनुभव की स्थिरता के बल से कषाय रहित वीतरागी है वही योग्य आहार व विहार को करता है। यहाँ यह भाव है कि जो साधु इस लोक व परलोक की इच्छा छोडकर व क्रोध लोभादि के वश न होकर इस शरीर को प्रदीप समान जानता है तथा इस शरीर रूपी-दीपक के लिये आवश्यक तैल रूप ग्रास मात्र को देता है, जिससे शरीररूपी दीपक बुझ न जावे। तथा जैसे दीपक से घट पट आदि पदार्थों को देखते हैं वैसे इस शरीर-रूपी दीपक की सहायता से वह साधु अपने परमात्म-पदार्थ को ही देखता या अनुभव करता है वही साधु योग्य आहार विहार करने वाला होता है। परन्तु जो शरीर को पुष्ट करने के निमित्त भोजन करता है वह युक्ताहार-विहारी नहीं है ॥२२६॥**

अथ पञ्चदशप्रमादैस्तपोधन प्रमत्तो भवतीति प्रतिपादयति,—

कोहादिएहिं चउविहि विकहाहिं तहिंदियाणमत्थेहिं।
समणो हवदि पमत्तो उवजुत्तो णेहणिद्दाहिं ॥२२६-१॥

हवदि क्रोधादिपचदशप्रमादरहितचिच्चमत्कारमात्रात्मतत्त्वभावनाच्युत सन् भवति। स कः कर्त्ता **समणो** सुखदु खादिसमचित्त श्रमण। किंविशिष्टो भवति ? **पमत्तो** प्रमत्त प्रमादी। कैः कृत्वा ? **कोहादिएहिं चउविहि** चतुर्भिरपि क्रोधादिभि **विकहाहिं** स्त्रीभक्तचौरराजकथाभि **तहिंदियाणमत्थेहिं** तथैव पञ्चेन्द्रियाणामर्थे स्पर्शादिविषयै। पुनरपि किरूप ? **उवजुत्तो** उपयुक्त परिणत। काभ्याम् ? **णेहणिद्दाहिं** स्नेहनिद्राभ्यामिति ॥२२६-१॥

उत्थानिका—आगे कहते हैं कि पन्द्रह प्रमाद है इनसे साधु प्रमादी होता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(चउविहि कोहादिएहिं विकहाहिं) चार प्रकार क्रोध आदि कषाय से व चार प्रकार विकथा-स्त्री, भोजन, चोर, राजा कथा से (तहिंदियाणमत्थेहिं) तथा पांच इंद्रियों के विषयों से (णेहणिद्दाहिं उवजुत्तो) स्नेह व निद्रा से उपयुक्त होकर (समणो) साधु (पमत्तो हवदि) प्रमादी होता है। सुख-दुःख आदि में समान चित्त रखने**

वाला साधु उपर्युक्त क्रोधादि पंद्रह प्रमाद से रहित चैतन्य चमत्कार मात्र आत्मतत्व की भावना से गिरा हुआ पन्द्रह प्रकार के प्रमादों के कारण प्रमादी हो जाता है ॥२२६–१॥

अथ युक्ताहारविहार साक्षादनाहारविहार एवेत्युपदिशति—

जस्स अणेसणमप्पा तं पि, तवो तप्पडिच्छगा समणा ।
अण्णं भिक्खमणेसणमध ते समणा अणाहारा ॥२२७॥

यस्यानेषण आत्मा तदपि तप तत्प्रत्येषका श्रमणा ।
अन्यद्भैक्षमनेषणमथ ते श्रमणा अनाहारा ॥२२७॥

स्वयमनशनस्वभावत्वादेषणादोषशून्यभैक्ष्यत्वाच्च युक्ताहारः साक्षादनाहार एव स्यात् । तथाहि—यस्य सकलकालमेव सकलपुद्गलाहरणशून्यमात्मानमवबुद्ध्यमानस्य सकलाशनतृष्णाशून्यत्वात्स्वयमनशन एव स्वभावः तदेव तस्यानशनं नाम तपोऽन्तरङ्गस्य बलीयस्त्वात् । इति कृत्वा ये त स्वयमनशनस्वभाव भावयन्ति श्रमणाः, तत्प्रतिसिद्धये चैषणादोषशून्यमन्यद्भैक्ष चरन्ति, ते किलाहरन्तोऽप्यनाहरन्त इव युक्ताहारत्वेन स्वभावपरभावप्रत्ययबन्धाभावात्साक्षादनाहारा एव भवन्ति । एवं स्वयमविहारस्वभावत्वात्समितिशुद्धविहारत्वाच्च युक्तविहारः साक्षादविहार एव स्यात् इत्यनुक्तमपि गम्येतेति ॥२२७॥

भूमिका—अब, युक्ताहारविहारी साक्षात् अनाहारविहारी ही है, ऐसा उपदेश करते हैं—

अन्वयार्थ—[यस्य आत्मा अनेषणः] जिसका आत्मा भोजन की इच्छा से रहित है [तत् अपि तपः] वही तप है, (और) [तत्प्रत्येषका] उसे प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करने वाले [श्रमणा] श्रमणो के [अन्यत् भैक्षम्] (अन्य स्वरूप से रहित) भिक्षा [अनेषणम्] एषणा दोष से रहित होती है, [अथ] इसलिये [ते श्रमणा] वे श्रमण [अनाहाराः] अनाहारी हैं।

टीका—स्वयं अनशन स्वभाव वाला होने से और एषणादोष शून्य भिक्षा वाला होने से, युक्ताहारी मुनि साक्षात् अनाहारी ही है । यथा–सदा ही समस्त पुद्गलाहार से शून्य आत्मा को जानने वाले के समस्त अशन तृष्णा रहित होने से जिसका स्वयं अनशन ही स्वभाव है, वही अनशन नामक अतरंग तप है, क्योंकि वह बलवान है । यह समझकर जो श्रमण आत्मा को स्वयं अनशन स्वभाव भाते हैं और उसकी सिद्धि के लिये एषणादोष शून्य (स्वरूप से पृथक्) अन्न आदि की भिक्षा आचरते हैं, वे आहार करते हुए भी अनाहारी हैं क्योंकि युक्ताहारित्व के कारण उनके स्वभाव तथा परभाव के निमित्त से बन्ध नहीं होता, इसलिये साक्षात् अनाहारी ही हैं ।

इसी प्रकार स्वय अविहार स्वभाव वाला होने से और ईर्या समिति से शुद्ध विहार वाला होने से युक्तविहारी मुनि साक्षात् अविहारी ही है । इस प्रकार गाथा में नहीं कहने पर भी समझना चाहिये ॥२२७॥

तात्पयवृत्ति

अथ युक्ताहारविहारतपोधनस्वरूपमुपदिशति—

जस्स यस्य मुने सम्बन्धी **अप्पा** आत्मा । किंविशिष्ट ? **अणेसण** स्वकीयशुद्धात्मतत्त्वभावनोत्पन्नसुखामृताहारेण तृप्तत्वान्न विद्यते एषणमाहाराकाक्षा यस्य स भवत्यनेषण । **तपि तवो** तस्य तदेव निश्चयेन निराहारात्मभावनारूपमुपवासलक्षण तप **त पडिच्छगा समणा** तत्प्रत्येषका श्रमणा तन्निश्चयोपवासलक्षण तप प्रतीच्छन्ति तत्प्रत्येषका श्रमणा । पुनरपि किं येषा ? **अण्ण** निजपरमात्मतत्त्वादन्यद्भिन्न हेय । किं ? **अणेसणं** अन्नस्याहारस्यैषण वाञ्छानेषणम् । कथभूत ? **भिक्ख** भिक्षाया भव भैक्ष्य **अह** अथ अहो **ते समणा अणाहारा** ते अनशनादिगुणविशिष्टा श्रमणा आहारग्रहणेऽप्यनाहारा भवन्ति । तथैव च नि.क्रियपरमात्मान ये भावयन्ति पञ्चसमितिसहिता विहरन्ति च ते विहारेऽप्य विहारा विहारा भवन्ती- त्यर्थं ॥२२७॥

उत्थानिका—आगे योग्य आहार विहारी साधु का स्वरूप कहते है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जस्स) जिस साधु का (अप्पा) आत्मा (अणेसणं) भोजन की इच्छा से रहित है (तपि तवो) सो ही तप है (त पडिच्छगा) उस तप को चाहने वाले (समणा) मुनि (अणेसणं अण्णं भिक्ख) एषणा दोष रहित निर्दोष अन्न की भिक्षा को लेते हैं (अध ते समणा अणाहारा) तो भी वे साधु आहार लेने वाले नहीं हैं । जिस मुनि की आत्मा मे अपने ही शुद्ध आत्मीक तत्व की भावना से उत्पन्न सुखरूपी अमृत के भोजन से तृप्ति हो रही है वह मुनि लौकिक भोजन की इच्छा नहीं करता है । यही उस साधु का निश्चय से आहार रहित आत्मा की भावना रूप उपवास नाम का तप है । इसी निश्चय उपवास रूपी तप की इच्छा करने वाले साधु अपने परमात्मतत्व से भिन्न त्यागने योग्य अन्न की निर्दोष भिक्षा को लेते हैं तो भी वे अनशन आदि गुणो से भूषित साधुगण आहार को ग्रहण करते हुए भी अनाहारी होते हैं । तैसे ही जो साधु क्रिया रहित परमात्मा की भावना करते हैं वे पांच समितियो को पालते हुए विहार करते हैं तो भी वे विहार नहीं करते हैं अर्थात् अविहारी हैं ॥२२७॥**

अथ कुतो युक्ताहारत्वं सिद्धयतीत्युपदिशति—

केवलदेहो समणो देहे ण ममत्ति[1] रहिदपरिकम्मो ।
आजुत्तो तं तवसा अणिगूहिय अप्पणो सत्तिं ॥२२८॥

केवलदेहः श्रमणो देहे न ममेति रहितपरिकर्मा ।
आयुक्तवांस्तं तपसा अनिगूह्यात्मनः शक्तिम् ॥२२८॥

यतो हि श्रमणः श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणत्वेन केवलदेहमात्रस्योपधेः प्रसह्याप्रतिषेधकत्वात्केवलदेहत्वे सत्यपि देहे 'किं किंचण' इत्यादिप्राक्तनसूत्रद्योतितपरमेश्वराभिप्रायपरिग्रहेण न नाम ममायं ततो नानुग्रहार्हः किंतूपेक्ष्य एवेति परित्यक्तसमस्तसंस्कारत्वाद्रहितपरिकर्मा स्यात् । ततस्तन्ममत्वपूर्वकानुचिताहारग्रहणाभावाद्युक्ताहारत्वं सिद्धयेत् । यतश्च समस्तामप्यात्मशक्तिं प्रकटयन्ननन्तरसूत्रोदितेनानशनस्वभावलक्षणेन तपसा तं देहं सर्वारम्भेणाभियुक्तवान् स्यात् । तत आहारग्रहणपरिणामात्मकयोगध्वंसाभावाद्युक्तस्यैवाहारेण च युक्ताहारत्वं सिद्धयेत् ॥२२८॥

भूमिका—अब, (श्रमण) के युक्ताहारित्व कैसे सिद्ध होता है, सो उपदेश करते हैं—

अन्वयार्थ—[केवलदेहः श्रमणः] केवलदेहो–जिसके देहमात्र परिग्रह विद्यमान है, ऐसे श्रमण [देहे] शरीर को भी [न मम इति] 'मेरा नहीं है' यह समझकर [रहितपरिकर्मा] शरीर संस्कार नहीं करते हुये, [आत्मनः] अपने आत्मा की [शक्तिं] शक्ति को [अनिगूह्य] नहीं छिपाते हुए [तपसा] तप में [तं] उस शरीर को [आयुक्तवान्] लगा देते हैं ।

टीका—श्रामण्यपर्याय के सहकारी कारण के रूप में केवल देहमात्र उपधि को श्रमण जबरदस्ती निषेध नहीं करता इसलिये वह केवल देहवान् है, ऐसा देहवान् होने पर भी, 'किं किंचण' इत्यादि पूर्वसूत्र (गाथा २२४) द्वारा प्रकाशित किये गये परमेश्वर के अभिप्राय को ग्रहण करके 'यह (शरीर) वास्तव में मेरा नहीं है इसलिये यह अनुग्रह योग्य नहीं है किन्तु वह उपेक्षा योग्य ही है,' इस प्रकार समस्त शारीरिक संस्कार को छोड़ने से परिकर्म रहित है । इसलिये उसके देह के ममत्वपूर्वक अनुचित आहारग्रहण का अभाव होने से युक्ताहारित्व सिद्ध होता है । और प्रकारान्तर से उसने समस्त ही आत्मशक्ति को प्रगट करके, अन्तिम (गाथा २२७) सूत्र द्वारा कथित अनशनस्वभावलक्षण तप में उस शरीर को

---

१. ममत्तिरहियपरिकम्मो (ज० वृ०)

उद्यम से लगाया है इसलिये मुनिपने के नाशक आहारग्रहण के परिणाम का अभाव होने से उसका आहार योगी का आहार है, इसलिये उसके युक्ताहारित्व सिद्ध होता है ॥२२८॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ तदेवानाहारकत्व प्रकारान्तरेण प्राह,—

केवलदेहो केवलदेहोऽन्यपरिग्रहरहितो भवति । स क कर्त्ता ? **समणो** निन्दाप्रशसादिसमचित्त श्रमण । तर्हि कि देहे ममत्व भविष्यति ? नैव **देहेवि ममत्तरहियपरिकम्मो** देहेऽपि ममत्वरहितपरिकर्मा ।

"ममत्ति परिवज्जामि णिम्ममत्ति उवट्ठिदो । आलबण च मे आदा अवसेसाइ वोसरे ॥"

इति श्लोककथितक्रमेण देहेऽपि ममत्वरहित **आजुत्तो त तवसा** आयुक्तवान् आयोजितवास्त देह तपसा । कि कृत्वा ? **अणिगूहिय** अनिगूह्य प्रच्छादनमकृत्वा । काम् ? **अप्पणो सत्ति** आत्मन शक्तिमिति । अनेन किमुक्त भवति-य कोऽपि देहाच्छेषपरिग्रह त्यक्त्वा देहेऽपि ममत्वरहितस्तथैव त देह तपसा योजयति स नियमेन युक्ताहारविहारो भवतीति ॥२२८॥

उत्थानिका—आगे इसी अनाहारकपने को दूसरी रीति से कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(समणो) साधु (केवलदेहो) केवल-मात्र शरीरधारी हैं-(देहे वि ममेत्ति रहिदपरिकम्मो) देह मे भी ममता रहित क्रिया करने वाले हैं। इससे उन्होंने (अप्पणो सत्ति) अपनी शक्ति को (अणिगूहिय) न छिपाकर (तवसा) तप से (तं) उस शरीर को (आउत्तो) योजित किया है अर्थात् तप मे अपने तन को लगा दिया है। निन्दा, प्रशंसा आदि मे समान चित्त के धारी साधु अन्य परिग्रह को त्यागकर केवल-मात्र शरीर के धारी हैं तो भी क्या वे देह मे ममता करेंगे, कभी नही। वे देह में भी ममता रहित होकर देह की क्रिया करते है। साधुओं की यह भावना रहती है, जैसा इस गाथा मे है—"मैं ममता को त्यागता हूँ निर्ममत्व भाव मे ठहरता हूँ, मेरे को अपना आत्मा ही आलम्बन है और सर्व को मै त्यागता हूँ।" शरीर से ममता न रखते हुए वे साधु अपने आत्मवीर्य को न छिपाकर इस नाशवत शरीर को तप साधन मे लगा देते हैं। यहाँ यह कहा गया है कि जो कोई देह के सिवाय सर्व वस्त्रादि परिग्रह का त्याग कर शरीर मे भी ममत्व नहीं रखता है तथा देह को तप मे लगाता है वही नियम से युक्ताहार विहार करने वाला है ॥२२८॥**

अथ युक्ताहारस्वरूपं विस्तरेणोपदिशति—

एक्कं खलु तं भत्तं अप्पडिपुण्णोदरं जहालद्धं ।
चरणं भिक्खेण दिवा ण रसावेक्खं ण मधुमंसं ॥२२९॥

एक खलु स भक्त अप्रतिपूर्णोदरो यथालब्ध ।
भैक्षाचरणेन दिवा न रसापेक्षो न मधुमास ॥२२६॥

एककाल एवाहारो युक्ताहारः, तावतैव श्रामण्यपर्यायसहकारिकारणशरीरस्य धारणत्वात् । अनेकालस्तु शरीरानुरागसेव्यमानत्वेन प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः । शरीरानुरागसेवकत्वेन न च युक्तस्य । अप्रतिपूर्णोदर एवाहारो युक्ताहारः तस्यैवाप्रतिहतयोगत्वात् प्रतिपूर्णोदरस्तु प्रतिहतयोगत्वेन कथचित् हिसायतनीभवन् न युक्तः । प्रतिहतयोगत्वेन न च युक्तस्य । यथालब्ध एवाहारो युक्ताहारः तस्यैव विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागशून्यत्वात् । अयथालब्धस्तु विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागसेव्यमानत्वेन प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः । विशेषप्रियत्वलक्षणानुरागसेवकत्वेन न च युक्तस्य । भिक्षाचरणेनैवाहारो युक्ताहारः तस्यैवारम्भशून्यत्वात् । अभैक्षाचरणेन त्वारम्भसंभवात्प्रसिद्धहिंसायतनत्वेन न युक्तः । एवविधाहारसेवनव्यक्तान्तरशुद्धित्वान्न च युक्तस्य । दिवस एवाहारो युक्ताहारः तदेव सम्यगवलोकनात् । अदिवसे तु सम्यगवलोकनाभावादनिवार्यहिंसायतनत्वेन न युक्तः । एवंविधाहारसेवनव्यक्तान्तरशुद्धित्वान्न च युक्तस्य । अरसापेक्ष एवाहारो युक्ताहारस्तस्यैवान्तःशुद्धिसुन्दरत्वात् । रसापेक्षस्तु अन्तरशुद्धया प्रसह्य हिंसायतनीक्रियमाणो न युक्तः । अन्तरशुद्धिसेवकत्वेन न च युक्तस्य । अमधुमांस एवाहारो युक्ताहारः तस्यैवाहिंसायतनत्वान् । समधुमासस्तु हिंसायतनत्वान्न युक्तः । एवंविधाहारसेवनव्यक्तान्तरशुद्धित्वान्न च युक्तस्य । मधुमांसमत्र हिंसायतनोपलक्षणं तेन समस्तहिंसायतनशून्य एवाहारो युक्ताहार ॥२२६॥

भूमिका—**अब, युक्ताहार का स्वरूप विस्तार से उपदेश करते हैं—**

अन्वयार्थ—[एकः] चौबीस घटे मे एक बार [अप्रतिपूर्णोदर] ऊनोदर [यथालब्धः] यथालब्ध (जैसा प्राप्त हो वैसा), [भैक्षाचरणेन] भिक्षाचरण से, [दिवा] दिन मे [न रसापेक्ष] रस की अपेक्षा से रहित, और [न मधुमास] मधु मास रहित [सः] वह आहार [खलु] वास्तव मे [भक्त.] युक्त आहार होता है ।

टीका—**एक बार आहार ही युक्ताहार है, क्योकि उतने से ही मुनि पर्याय का सहकारी कारणभूत शरीर टिका रहता है । शरीर मे अनुराग के कारण अनेकबार आहार का सेवन किया जाता है और उससे अत्यन्त हिंसा होती है इसलिये युक्त (योग्य) नहीं है, और शरीर को पोषण करने के लिये आहार भी अयोग्य है । अपूर्णोदर[1] आहार ही युक्ता-**

---

१ अपूर्णोदर–पूरा पेट न भरकर, ऊनोदर ।

हार है, क्योंकि वह मुनित्व का नाश नहीं करता। पूर्णोदर आहार मुनिपने का नाश करने से कथंचित् हिंसायतन होता हुआ योग्य नहीं है, पूर्णोदर आहार करने वाला मुनिपने का नाश करता है, इसलिये वह आहार योगी का आहार नहीं है। यथालब्ध आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही (आहार) विशेष रुचिरूप अनुराग से शून्य है। अयथालब्ध[1] आहार विशेष रुचिरूप अनुराग से सेवन किया जाता है, इसलिये आत्यंतिक हिंसायतन होने से योग्य नहीं है, और अयथालब्ध आहार का सेवन करने वाला विशेष रुचिरूप अनुराग के द्वारा सेवन करने वाला होने से, उसका वह आहार योगी का आहार नहीं है।

भिक्षाचरण से आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही आरम्भशून्य है। अभिक्षाचरण से (भिक्षाचरण रहित) आहार मे आरम्भ सम्भव होने से हिंसायतनत्व प्रसिद्ध है, अतः वह आहार युक्त नहीं है, और ऐसे आहार के सेवन मे अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त (प्रगट) होने से वह आहार युक्त नहीं है।

दिन का आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि वही भली-भांति देखा जा सकता है। अदिवस (रात्रि मे) आहार भली-भाति नहीं देखा जा सकता इसलिये उसके हिंसायतनत्व अनिवार्य होने से वह आहार योग्य नहीं है, और ऐसे आहार के सेवन में अन्तरग अशुद्धि व्यक्त होने से वह आहारयुक्त नहीं है।

रस की अपेक्षा से रहित आहार ही युक्ताहार है क्योंकि वही अन्तरंगशुद्धि से सुन्दर है। रस की अपेक्षा वाला आहार अन्तरंग अशुद्धि के द्वारा आत्यतिक हिंसायतन होता हुआ युक्त (योग्य) नहीं है, और उसका सेवन करने वाला अन्तरंग अशुद्धिपूर्वक सेवन करता है इसलिये वह आहार योगी का नहीं है।

मधु मांस रहित आहार ही युक्ताहार है, क्योंकि उसके ही हिंसायतनत्व का अभाव है।

मधु-मांस सहित आहार हिंसायतन होने से योग्य नहीं है, और ऐसे आहार के सेवन में अन्तरंग अशुद्धि व्यक्त होने से वह आहार योगी का नहीं है। यहां मधु-मांस हिंसायतन का उपलक्षण है इसलिये समस्त हिंसायतन शून्य आहार ही युक्ताहार है ॥२२९॥

---

१ अयथालब्ध—जैसा मिल जाय वैसा नही, किन्तु अपनी पसदगी का स्वेच्छालब्ध।

तात्पर्यवृत्ति

अथ युक्ताहारत्व विस्तरेणाख्याति,—

एक्क खलु त भत्त एककाल एव खलु हि स्फुट स भक्त आहारो युक्ताहार कस्मादेकभक्तेनैव निर्विकल्पसमाधिसहकारिकारणभूतशरीरस्थितिसम्भवात्। स च कथभूत ? **अप्पडिपुण्णोदर** यथाशक्त्या न्यूनोदर **जहालद्ध** यथालब्धो न च स्वेच्छालब्ध **चरण भिक्खेण** भिक्षाचरणेनैव लब्धो न च स्वपाकेन **दिवा** दिवैव न च रात्रौ। **ण रसावेक्खं** रसापेक्षो न भवति किन्तु सरसविरसादौ समचित्त **ण मधुमसं** अमधुमास अमधुमास इत्युपलक्षणेन आचारशास्त्रकथितपिण्डशुद्धिक्रमेण समस्तायोग्याहार-रहित इति। एतावता किमुक्त भवति ? एवविशिष्टविशेषणयुक्त एवाहारस्तपोधनाना युक्ताहार। कस्मादिति चेत् ? चिदानन्दैकलक्षणनिश्चयप्राणरक्षणभूता रागादिविकल्पोपाधिरहिता या तु निश्चय-नयेनाहिंसा तत्साधकरूपा बहिरङ्गपरजीवप्राणव्यपरोपणनिवृत्तिरूपा द्रव्याहिंसा च सा द्विविधापि तत्र युक्ताहारे सम्भवति। यस्तु तद्विपरीत स युक्ताहारो न भवति। कस्मादिति चेत् ? तद्विलक्षणभूताया द्रव्यरूपाया हिंसाया सद्भावादिति ॥२२६॥

उत्थानिका—आगे योग्य आहार का स्वरूप और भी विस्तार से कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(खलु) वास्तव मे (तं भत्त एक्कं) उस भोजन को एक ही बार (अप्पडिपुण्णोदरं) पूर्ण पेट न भरकर ऊनोदर (जहालद्ध) जैसा मिल गया वैसा (भिक्खेण चरणं) भिक्षा के द्वारा लेना सो योग्य आहार होता है (रसावेक्ख ण) उसमें से रसों की इच्छा नहीं होना चाहिये (मधुमंस ण) तथा मधु व मांस से रहित होना चाहिये। साधु महाराज दिन मे एक बार ही भोजन लेते हैं वही उनका योग्य आहार है, इससे ही विकल्प-रहित समाधि मे सहकारी कारणरूप शरीर की स्थिति रहनी सम्भव है। एक बार भी वे शक्ति अनुसार भूख से कम लेते हैं, जैसा मिल गया वैसा लेते है उसके लिये चाह नहीं करते। भिक्षाद्वारा ही लेते हैं, अपने आप नही बनाते। दिन मे लेते हैं, रात्रि मे कभी नहीं लेते। भोजन सरस है या रस-रहित है, ऐसा विकल्प न करके समभाव रखते हैं। मधु-मांस रहित व उपलक्षण से आचार शास्त्र मे कही हुई पिण्डशुद्धि के क्रम से समस्त अयोग्य आहार को वर्जन करते हुए लेते है।**

इससे यह बात कही गई है कि इन गुणों सहित जो आहार है वही तपस्वियों का योग्य आहार है, क्योंकि योग्य आहार लेने से ही दो प्रकार की हिंसा का त्याग हो सकता है। चिदानन्द एक लक्षणरूप निश्चयप्राण की रक्षाभूत, रागादि विकल्पों की उपाधि न होने देना सो निश्चय अहिंसा है तथा इसकी साधनरूप बाहर में परजीवों के प्राणों को कष्ट देने से निवृत्तिरूप रहना सो द्रव्य अहिंसा है, दोनों ही अहिंसा की प्रति-

पालना योग्य आहार मे होती है और जो इसके विरुद्ध आहार हो तो वह योग्य आहार न होगा, क्योंकि उसमे द्रव्य-अहिंसा से विलक्षण द्रव्यहिंसा का सद्भाव हो जायेगा ॥२२९॥

अथ विशेषेण मासदूषण कथयति,—

पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु मसपेसीसु ।
संत्तत्तियमुववादो तज्जादीण णिगोदाणं ॥२२९-१॥

जो पक्कमपक्कं वा पेसीं मसस्स खादि फासदि वा।
सो किल णिहणदि पिंड जीवाणमणेगकोडीणं ॥२२९-२॥ [जुम्मं]

भणित इत्यध्याहार । स क ? **उववादो** व्यवहारनयेनोत्पाद । किंविशिष्ट ? **सत्तत्तियं** सान्ततिको निरन्तर । केषा सम्बन्धी ? **णिगोदाण** निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावानामनादिनिधनत्वेनोत्पादव्ययरहितानामपि निगोदजीवानाम् । पुनरपि कथभूतानाम् ? **तज्जादीण** तद्वर्णतद्गन्धतद्रसतत्स्पर्शत्वेन तज्जातीना मासजातीनाम् । कास्वधिकरणभूतासु ? **मसपेसीसु** मासपेशीषु मासखण्डेषु । कथभूतासु ? **पक्केसु अ आमेसु अ विपच्चमाणासु** पक्वासु चामासु च विपच्यमानास्विति प्रथमगाथा । **जो पक्कमपक्क वा** य कर्त्ता पक्वामपक्वा वा **पेसीं** पेशी खण्डम् । कस्य ? **मसस्स** मासस्य **खादि** निजशुद्धात्मभावनोत्पन्नसुखसुधाहारमलभमान सन् खादति भक्षति **फासदि वा** स्पर्शति वा **सो किल णिहणदि पिंड** स कर्त्ता किल लोकोक्त्या परमागमोक्त्या वा निहन्ति पिण्डम् । केषाम् ? **जीवाण** जीवानाम् । कतिसख्योपेतानाम् ? **अणेगकोडीण** अनेककोटीनामिति । अत्रेदमुक्त भवतिशेषकन्दमूलाद्याहारा केचनानन्तकाया अप्यग्निपक्वा सन्त प्रासुका भवन्ति मास पुनरनन्तकाय भवति तथैव चाग्निपक्वमपक्व पच्यमान वा प्रासुक न भवति । तेन कारणेनाभोज्यमभक्षणीयमिति ॥२२९-१, २२९-२॥

उत्थानिका—प्रकरण पाकर आचार्य मास के दूषण बताते है—

अन्वय सहित विशेपार्थ—**(पक्केसु अ) पके हुए व (आमेसु अ) कच्चे तथा (विपच्चमाणासु) पकते हुए (मसपेसीसु) मांस के खण्डो मे (तज्जादीणं) उस मास की जाति वाले (णिगोदाणं) निगोद अर्थात् लब्ध्यपर्याप्तक जीवो का (सत्तत्तियमुववादो) निरन्तर जन्म होता है (जो) जो कोई (पक्क व अपक्क मंसस्स पेसीं) पक्की, या कच्ची मांस की डली को (खादि) खाता है (वा फासदि) अथवा स्पर्श करता है (सो) वह (अणेगकोडीणं) अनेक करोड़ (जीवाण) जीवो के (पिंड) समूह को (किल) निश्चय से (णिहणदि) नाश करता है । मांसपेशी मे जो कच्ची, पक्की व पकती हुई हो हर समय उस मांस की रंगत, गंध, रस, स्पर्श के धारी अनेक निगोद जीव—जो निश्चय से अपने शुद्ध-बुद्ध एक स्वभाव के धारी हैं—अनादि व अनंत काल मे भी अपने स्वभाव से न उपजते न विनशते हैं, ऐसे जन्तु व्यवहारनय से उत्पन्न होते रहते हैं । जो कोई ऐसे कच्चे या पक्के मांस खण्ड को अपने शुद्धात्मा की भावना से उत्पन्न सुखरूपी अमृत को न भोगता हुआ**

खा लेता है अथवा स्पर्श भी करता है वह निश्चय से लोगों के कथन से व परमागम मे कहे प्रमाण करोडों जीवों के समूह को नाश करता है ॥२२६–१, २२६–२॥

अथ पाणिगताहार प्रासुकोप्यन्यस्मै न दातव्य इत्युपदिशति,—

अप्पडिकुट्ठं [1]पिंड पाणिगय णेव देयमण्णस्स ।
दत्ता भोत्तुमजोग्गं भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो ॥२२६-१॥

अप्पडिकुट्ठ पिंडं पाणिगय णेव देयमण्णस्स अप्रतिकृष्ट आगमाविरुद्ध आहार पाणिगतो हस्तगतो नैव देयो न दातव्योऽन्यस्मै **दत्ता भोत्तुमजोग्ग** दत्वा पश्चाद्भोक्तुमयोग्य **भुत्तो वा होदि पडिकुट्ठो** कथचित् भुक्तो वा भोजन कृतवान् तर्हि प्रतिकृष्टो भवति प्रायश्चित्तयोग्यो भवतीति । अयमत्र भाव —हस्तगताहार योऽसावन्यस्मै न ददाति तस्य निर्मोहात्मतत्त्वभावनारूप निर्मोहत्व ज्ञायत इति ॥२२६–३॥

उत्थानिका—आगे इस बात को कहते है कि हाथ पर आया हुआ आहार जो प्रासुक हो उसे दूसरो को न देना चाहिये ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अप्पडिकुट्ठ पिंड) आगम से जो आहार विरुद्ध न हो (पाणिगयं) सो हाथ पर आ जावे उसे (अण्णस्स णेव देयं) दूसरे को नहीं देना चाहिये । (दत्ता भोत्तुमजोग्गं) दे करके फिर भोजन करने के योग्य नहीं होता है (भुत्तो वा पडिकुट्ठो होदि) यदि कदाचित् उसको भोग ले तो प्रायश्चित्त के योग्य होता है । यहां यह भाव है– कि जो हाथ में आया हुआ शुद्ध आहार दूसरे को नहीं देता है किन्तु खा लेता है उसके मोह-रहित आत्मतत्व की भावनारूप मोहरहितपना जाना जाता है ॥२२६–३॥**

अथोत्सर्गापवादमैत्रीसौस्थित्यमाचरणस्योपदिशति—

बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा ।
चरियं चरदु[2] सजोग्गं मूलच्छेदो जधा ण हवदि ॥२३०॥

बालो वा वृद्धो वा श्रमाभिहतो वा पुनर्ग्लानो वा ।
चर्या चरतु स्वयोग्या मूलच्छेदो यथा न भवति ॥२३०॥

बालवृद्धश्रान्तग्लानेनापि संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमेवाचरणमाचरणीयमित्युत्सर्गः । बालवृद्धश्रान्तग्लानेन शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वेवाचरणमाचरणीयमित्यपवादः । बालवृद्धश्रान्त-

१ 'अप्पडिकुट्ठाहार' इत्यपि पाठ । २ चरदि (ज० वृ०) ।

ग्लानेन सयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा संयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमाचरणमाचरता शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात् तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्य मृद्वप्याचरणमाचरणीयमित्यापवादसापेक्ष उत्सर्गः। बालवृद्धश्रान्तग्लानेन शरीरस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनभूतसंयमसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा बालवृद्धश्रान्तग्लानस्य स्वस्य योग्यं मृद्वाचरणमाचरता संयमस्य शुद्धात्मतत्त्वसाधनत्वेन मूलभूतस्य छेदो न यथा स्यात्तथा सयतस्य स्वस्य योग्यमतिकर्कशमप्याचरणमाचरणीयमित्युत्सर्गसापेक्षोऽपवादः। अत सर्वथोत्सर्गापवादमैत्र्या सौस्थित्यमाचरणस्य विधेयम् ॥२३०॥

भूमिका—अब उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री द्वारा आचरण की सुस्थितता का उपदेश करते हैं—

अन्वयार्थ—[बाल वा] बाल [वृद्ध वा] वृद्ध [श्रमाभिहतः वा] श्रात[1] [पुन ग्लान. वा) या ग्लान[2] श्रमण [मूलच्छेद·] मूल का छेद [यथा न भवति] जैसे न हो उस प्रकार से [स्वयोग्या] अपने योग्य [चर्या चरतु] आचरण करे।

टीका—बाल, वृद्ध, श्रमित (थका हुआ) या ग्लान रोगी मुनि को भी सयम का जो कि शुद्धात्मतत्व का साधन होने से मूलभूत है, छेद जैसे न हो उस प्रकार संयत अपने योग्य अति कर्कश (कठोर) आचरण ही आचरना, इस प्रकार उत्सर्ग है।

बाल, वृद्ध, श्रमित या ग्लान मुनि को शरीर का—जो कि शुद्धात्मतत्व के साधनभूत संयम का साधन होने से मूलभूत है उसका—छेद जैसे न हो उस प्रकार से बालवृद्धश्रातग्लान के द्वारा अपने योग्य मृदु आचरण ही आचरना, इस प्रकार अपवाद है। बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लान के, संयम का जो कि शुद्धात्मतत्व का साधन होने से मूलभूत है, छेद जैसे न हो उस प्रकार का सयत ऐसा अपने योग्य अति कठोर आचरण आचरते हुये, शरीर का जो शुद्धात्मतत्व के साधनभूत संयम का साधन होने से भी मूलभूत है, छेद जैसे न हो उस प्रकार बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लान को अपने योग्य मृदु आचरण भी आचरना चाहिए। इस प्रकार अपवादसापेक्ष उत्सर्ग है। बाल-वृद्ध-श्रांत-ग्लान को शरीर का, जो कि शुद्धात्मतत्व के साधनभूत संयम का साधन होने से मूलभूत है, छेद जैसे न हो उस प्रकार से बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लान ऐसे अपने योग्य मृदु आचरण आचरते हुये, सयम का, जो कि शुद्धात्मतत्व का साधन होने से मूलभूत है,

---

१ श्रान्त—श्रमित, थका हुआ। २ ग्लान—व्याधिग्रस्त, रोगी, दुर्बल।

छेद जैसे न हो, उस प्रकार से संयत को ऐसा अपने योग्य अतिकर्कश आचरण भी आचरना इस प्रकार उत्सर्ग सापेक्ष अपवाद है। इससे यह कहा है कि सर्वथा उत्सर्ग और अपवाद की मैत्री द्वारा आचरण की सुस्थितता करनी चाहिये ॥२३०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ निश्चयव्यवहारसज्ञयोरुत्सर्गापवादयो कथचित्परस्परसापेक्षभाव स्थापयन् चारित्रस्य रक्षा दर्शयति, —

चरदि चरत्याचरति। कि? **चरियं** चारित्रमनुष्ठानम्। कथभूत? **सजोग्ग** स्वयोग्यमवस्थायोग्यम्। कथ यथाभवति? **मूलच्छेदो जधा ण हवदि** मूलच्छेदो यथा न भवति। स कः कर्त्ता चरति? **बालो वा वुड्ढो वा समभिहदो वा पुणो गिलाणो वा** बालो वा वृद्धो वा श्रमाभिहत पीडित. श्रमाभिहतो वा ग्लानो व्याधिस्थो वेति। तद्यथा—उत्सर्गापवादलक्षण कथ्यते तावत्स शुद्धात्मन· सकाशादन्यद्बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरूप सर्व त्याज्यमित्युत्सर्गो निश्चयनय सर्वपरित्याग परमोपेक्षासयमो वीतरागचारित्र शुद्धोपयोग इति यावदेकार्थ तत्रासमर्थ पुरुष शुद्धात्मभावनासहकारिभूत किमपि प्रासुकाहारज्ञानोपकरणादिक गृह्णातीत्यपवादो व्यवहारनय एकदेशपरित्यागस्तथा चापहृतसयम सरागचारित्र शुभोपयोग इति यावदेकार्थ। तत्र शुद्धात्मभावनानिमित्त सर्वत्यागलक्षणोत्सर्गे दुर्द्धरानुष्ठाने प्रवर्त्तमानस्तपोधन शुद्धात्मतत्त्वसाधकत्वेन मूलभूतसयमस्य सयमसाधकत्वेन मूलभूतशरीरस्य वा यथा छेदो विनाशो न भवति तथा किमपि प्रासुकाहारादिक गृह्णातीत्यपवादसापेक्ष उत्सर्गो भण्यते। यदा पुनरपवादलक्षणेऽपहृतसयमे प्रवर्त्तते तथापि शुद्धात्मतत्त्वसाधकत्वेन मूलभूतसयमस्य सयमसाधकत्वेन मूलभूतशरीरस्य वा यथोच्छेदो विनाशो न भवति तथोत्सर्गसापेक्षत्वेन प्रवर्त्तते। तथा प्रवर्त्तत इति कोऽर्थ? यथा सयमविराधना न भवति तथेत्युत्सर्गसापेक्षोपवाद इत्यभिप्राय ॥२३०॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि उत्सर्ग निश्चय है तथा अपवाद व्यवहार है। इन दोनो मे किसी अपेक्षा से परस्पर सहकारीपना है, ऐसा स्थापित करते हुए चारित्र की रक्षा करनी चाहिये, ऐसा दिखाते है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(बालो वा) बालक मुनि हो अथवा (वुड्ढो वा) बुड्ढा हो या (समभिहदो) थक गया हो (पुणो गिलाणो वा) अथवा रोगी हो ऐसा मुनि (जधा) जिस तरह (मूलच्छेदं) मूल सयम का भंग (ण हवदि) न होवे (सजोग्गं) वैसे अपनी शक्ति के योग्य (चरियं) आचार को (चरदि) पालता है। प्रथम ही उत्सर्ग और अपवाद का लक्षण कहते हैं। अपने शुद्ध आत्मा से अन्य सर्व भीतरी व बाहरी परिग्रह का त्याग देना सो उत्सर्ग है, इसी को निश्चयनय से मुनिधर्म कहते है। इसी का नाम सर्व-परित्याग है, परमोपेक्षा सयम है, वीतरागचारित्र है, शुद्धोपयोग है—इन सबका एक ही भाव है। इस निश्चयमार्ग में जो ठहरने को समर्थ न हो वह शुद्ध आत्मा की भावना के सहकारी कुछ भी प्रासुक**

आहार, ज्ञान का उपकरण शास्त्र आदि को ग्रहण कर लेता है यह अपवाद मार्ग है। इसी को व्यवहारनय से मुनिधर्म कहते हैं। इसी का नाम एक देश परित्याग है, अपहृतसंयम है, सरागचारित्र है, शुभोपयोग है, इन सबका एक ही अर्थ है। जहा शुद्धात्मा की भावना के निमित्त सर्व त्याग स्वरूप उत्सर्गमार्ग के कठिन आचरण मे वर्तन करता हुआ साधु शुद्धात्मतत्व के साधक रूप से जो मूलसंयम के साधक मूलशरीर का जिस तरह नाश नहीं होवे उस तरह कुछ भी प्रासुक आहार आदि को ग्रहण कर लेता है सो अपवाद की अपेक्षा या सहायता सहित उत्सर्ग मार्ग कहा जाता है। और जब वह मुनि अपवाद रूप अपहृत सयम के मार्ग मे वर्तता है तब भी शुद्धात्मतत्व का साधक रूप से जो मूलसंयम है उसका तथा मूलसयम के साधक मूलशरीर का जिस तरह विनाश न हो उस तरह उत्सर्ग की अपेक्षा सहित वर्तता है—अर्थात् इस तरह वर्तन करता है जिस तरह सयम का नाश न हो। यह उत्सर्ग की अपेक्षा सहित अपवादमार्ग है ॥२३०॥

अथोत्सर्गापवादविरोधदौःस्थ्यमाचरणस्योपदिशति—

आहारे व विहारे देसं कालं समं खमं उवधिं ।
जाणित्ता ते समणो वट्टदि जदि अप्पलेवी सो ॥२३१॥

आहारे वा विहारे देश काल श्रम क्षमामुपधिम् ।
ज्ञात्वा ताम् श्रमणो वर्तते यद्यल्पलेपी स ॥२३१॥

अत्र क्षमाग्लानत्वहेतुरुपवासः बालवृद्धत्वाधिष्ठानं शरीरमुपधिः, ततो बालवृद्धश्रान्तग्लाना एव त्वाकृष्यन्ते। अथ देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोः प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणप्रवृत्तत्वादल्पो लेपो भवत्येव तद्वरमुत्सर्गः। देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोः प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरण—प्रवृत्तत्वादल्प एव लेपो भवति तद्वरमपवादः। देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपभयेनाप्रवर्तमानस्यातिकर्कशाचरणीभूयाक्रमेण शरीरं पातयित्वा सुरलोकं प्राप्योद्वान्तसमस्तसंयमामृतभारस्य तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति। तन्न श्रेयानपवादनिरपेक्ष उत्सर्गः। देशकालज्ञस्यापि बालवृद्धश्रान्तग्लानत्वानुरोधेनाहारविहारयोरल्पलेपत्वं विगणय्य यथेष्टं प्रवर्तमानस्य मृद्वाचरणीभूय संयमं विराध्यासंयतजनसमानीभूतस्य तदात्वे तपसोऽनवकाशतयाशक्यप्रतिकारो महान् लेपो भवति तन्न, श्रेयानुत्सर्गनिरपेक्षोऽपवादः। अतः सर्वथोत्सर्गापवादविरोधदौःस्थित्यमाचरणस्य प्रतिषेध्यं तदर्थमेव सर्वथानुगम्यश्च परस्परसापेक्षोत्सर्गापवादविजृम्भितवृत्तिः स्याद्वादः ॥२३१॥

इत्येवं चरण पुराणपुरुषैर्जुष्ट विशिष्टादरै-
रुत्सर्गादपवादतश्च विचरद्बह्वी: पृथग्भूमिकाः ।
आक्रम्य क्रमतो निवृत्तिमतुला कृत्वा यति:
सर्वतश्चित्सामान्यविशेषभासिनि निजद्रव्ये करोतु स्थितिं ॥१५॥

—इत्याचरणप्रज्ञापनं समाप्तम् ।

भूमिका—अब, उत्सर्ग और अपवाद के विरोध (अमैत्री) से आचरण की स्थिति नहीं होती है, वह उपदेश करते है—

अन्वयार्थ—[यदि] यदि [श्रमण] श्रमण [आहारे वा विहारे] आहार या विहार मे [देश] देश, [काल] काल, [श्रम] श्रम, [क्षमा] क्षमता तथा [उपधि] उपधि, [तान् ज्ञात्वा] इनको जानकर [वर्तते] प्रवर्ते [स अल्पलेप] तो वह थोड़े कर्मों से बधता है ।

टीका—क्षमता तथा ग्लानता का हेतु उपवास है और बाल तथा बुढ़ापा उपधिरूप शरीर के आश्रित हैं । इसलिये यहाँ बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लान ही लिये गये हैं ।

देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से (कारण से) आहार-विहार मे प्रवृत्ति करे तो मृदु आचरण मे प्रवृत्त होने से अल्प लेप होता ही है, अर्थात् लेप का सर्वथा अभाव नहीं होता, इसलिये उत्सर्ग अच्छा है ।

देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से आहार-विहार मे प्रवृत्ति करे तो मृदु आचरण में प्रवृत्त होने से अल्प ही लेप होता है । अर्थात् विशेष लेप नहीं होता, इसलिये अपवाद अच्छा है ।

देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल-वृद्ध-श्रान्त-ग्लानत्व के अनुरोध से (कारण) जो आहार विहार है, उससे होने वाले अल्पलेप के भय से उसमे प्रवृत्ति न करे तो अर्थात् अपवाद के आश्रय से होने वाले अल्पबंध के भय से उत्सर्ग का हठ करके अपवाद में प्रवृत्त न हो तो अतिकर्कश आचरणरूप होकर अक्रम से शरीरपात करके देवलोक प्राप्त करके जिसने समस्त सयमामृत का समूह बमन कर डाला है उसे तप का अवकाश न रहने से, जिसका प्रतिकार अशक्य है ऐसा महान् लेप होता है, इसलिये अपवाद निरपेक्ष उत्सर्ग श्रेयस्कर नहीं है ।

देशकालज्ञ को भी, यदि वह बाल वृद्ध-श्रांत-ग्लानत्व के अनुरोध से जो आहार-विहार है, उससे होने वाले अल्पलेपको न गिनकर उसमे यथेष्ट प्रवृत्ति करे तो अर्थात् अपवाद से होने वाले अल्पबन्ध के प्रति असावधान होकर उत्सर्ग रूप ध्येय को चूककर

अपवाद मे स्वच्छन्दतया प्रवृत्ति करे तो मृदु आचरण रूप होकर संयम विरोधी को—असंयतजन के समान हुए उसको—उस समय तप का अवकाश न रहने से, जिसका प्रतिकार अशक्य है ऐसा महान् लेप होता है। इसलिये उत्सर्ग-निरपेक्ष अपवाद श्रेयस्कर नहीं है।

इससे उत्सर्ग और अपवाद के विरोध से होने वाले आचरण की दुःस्थितता सर्वथा निषेध्य (त्याज्य) है, और इसीलिये परस्पर-सापेक्ष उत्सर्ग और अपवाद से जिसका कार्य प्रगट होता है, ऐसा स्याद्वाद सर्वथा अनुसरण करने योग्य है ॥२३१॥

अब श्लोक द्वारा आत्मद्रव्य मे स्थिर होने की बात कहकर 'आचरण प्रज्ञापन' पूर्ण किया जाता है।

अर्थ—**इस प्रकार विशेष आदर-पूर्वक पुराण पुरुषो के द्वारा सेवित, उत्सर्ग और अपवाद द्वारा अनेक पृथक्-पृथक् भूमिकाओं मे विचरण करने वाले यति चारित्र को प्राप्त करके, क्रमशः अतुल निवृत्ति करके सामान्य विशेष रूप चैतन्य जिसका प्रकाश है ऐसे निज द्रव्य में सर्वतः स्थिति करें। इस प्रकार 'आचरण प्रज्ञापन' समाप्त हुआ।**

तात्पर्यवृत्ति

अथापवादनिरपेक्षमुत्सर्गं तथैवोत्सर्गनिरपेक्षमपवाद च निषेधयश्चारित्ररक्षणाय व्यतिरेकद्वारेण तमेवार्थं दृढयति —

वट्टदि वर्त्तते। स क कर्त्ता ? **समणो** शत्रु मित्रादिसमचित्त श्रमण यदि। किम् ? **जदि अप्पलेवी सो** यदि चेदल्पलेपी स्तोकसावद्यो भवति। कयोर्विषययोवर्तते ? **आहारे या विहारे** तपोधना योग्याहारविहारयो। कि कृत्वा ? पूर्व ते **जाणित्ता** ते ज्ञात्वा। कान् कर्मतापन्नान् ? **देस काल सम खम उपधि** देश काल मार्गादिश्रम क्षम क्षमतामुपवासादिविषये शक्ति उपधि बालवृद्धश्रान्तग्लानसम्बन्धिन शरीरमात्रोपधि परिग्रहमिति पच देशादीन् तपोधनाचरणसहकारिभूतानिति। तथाहि—पूर्वकथितक्रमेण तावद्दुर्द्धरानुष्ठानरूपोत्सर्गे वर्त्तते। तत्र च प्रासुकाहारादिग्रहणनिमित्तमल्पलेप दृष्ट्वा यदि न प्रवर्त्तते तदा आर्त्तध्यानसक्लेशेन शरीरत्याग कृत्वा पूर्वकृतपुण्येन देवलोके समुत्पद्यते। तत्र सयमाभावान्महान् लेपो भवति। तत. कारणादपवादनिरपेक्षमुत्सर्गं त्यजति। शुद्धात्मभावनासाधकमल्पलेप बहुलाभमपवादसापेक्षमुत्सर्गं स्वीकरोति तथैव च पूर्वसूत्रोक्तक्रमेणापहृतसयमशब्दवाच्येऽपवादे प्रवर्त्तते तत्र च प्रवर्त्तमान सन् यदि कथचिदौषधपथ्यादिसावद्यभयेन व्याधिव्यथादिप्रतीकारमकृत्वा शुद्धात्मभावना न करोति तर्हि महान् लेपो भवति। अथवा प्रतीकारे प्रवर्त्तमानोऽपि हरीतकीव्याजेन गुडभक्षणवदिन्द्रियसुखलाम्पट्येन सयमविराधना करोति तदापि महान् लेपो भवति। तत कारणादुत्सर्गनिरपेक्षमपवाद त्यक्त्वा शुद्धात्मभावनारूप शुभोपयोगरूप वा सयममविराधयन्नौषधपथ्यादिनिमित्तोत्पन्नाल्पसावद्यमपि बहुगुणराशिमुत्सर्गसापेक्षमपवाद स्वीकरोतीत्यभिप्राय ॥२३१॥

एव 'उवयरण जिणमग्गे' इत्याद्येकादशगाथाभिरपवादस्य विशेषविवरणरूपेण चतुर्थस्थल

व्याख्यातम् । इति पूर्वोक्तक्रमेण हि 'णिरवेक्खो चागो' इत्यादि त्रिंशद्गाथाभि स्थलचतुष्ट-येनापवादनामा "द्वितीयान्तराधिकार" समाप्त ।

उत्थानिका—आगे आचार्य कहते है कि अपवाद की अपेक्षा बिना उत्सर्ग तथा उत्सर्ग की अपेक्षा बिना अपवाद निषेधने योग्य है । तथा इस बात को व्यतिरेक द्वार से दृढ करते है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि) यदि (समणो) साधु (आहारे व विहारे) आहार या विहार मे (देसं कालं समं खमं उवधिं ते जाणित्ता) देश को, समय को, मार्ग की थकान को, उपवास की क्षमता या सहनशीलता को तथा शरीर रूपी परिग्रह की दशा को इन पांचों को जानकर (वट्टदि) वर्तन करता है (सो अप्पलेवी) वह बहुत कम कर्मबन्ध से लिप्त होता है । जो शत्रु मित्रादि मे समान चित्त को रखने वाला साधु तपस्वी के योग्य आहार लेने में तथा विहार करने मे नीचे लिखी इन पाच बातो को पहले समझकर वर्तन करता है, वह बहुत कम कर्मबन्ध करने वाला होता है (१) देश या क्षेत्र कैसा है, (२) काल आदि किस तरह का है, (३) मार्ग मे कितना श्रम हुआ है व होगा, (४) उपवासादि तप करने की शक्ति है या नहीं, (५) शरीर बालक है, या वृद्ध है या थकित है या रोगी है । ये पांच बातें साधु के आचरण के सहकारी पदार्थ है । भाव यह है कि यदि कोई साधु पहले कहे प्रमाण कठोर आचरण रूप उत्सर्गमार्ग मे ही वर्तन करे और यह विचार करें कि यदि मैं प्रासुक आहार आदि ग्रहण के निमित्त जाऊँगा तो कुछ कर्मबन्ध होगा इसलिये अपवाद मार्ग मे न प्रवर्ते तो यह फल होगा कि शुद्धोपयोग मे निश्चलता न पाकर चित्त मे आर्त्त-ध्यान से सक्लेशभाव हो जायेगा तब शरीर त्याग कर पूर्वकृत पुण्य से यदि देवलोक में चला गया तो वहां दीर्घकाल तक सयम का अभाव होने से महान् कर्म का बन्ध होवेगा इसलिये अपवाद की अपेक्षा न करके उत्सर्गमार्ग को साधु त्याग देता है तथा शुद्धात्मा की भावना को साधन कराने वाला थोड़ा-सा कर्मबन्ध हो तो भी लाभ अधिक है ऐसा जानकर अपवाद की अपेक्षा सहित उत्सर्गमार्ग को स्वीकार करता है । तैसे ही पूर्व सूत्र में कहे क्रम से कोई अपहृतसंयम शब्द से कहने योग्य अपवादमार्ग में प्रवर्तता है वहां वर्तन करता हुआ यदि किसी कारण से औषधि, पथ्य आदि के लेने में कुछ कर्मबन्ध होगा ऐसा भय करके रोग का उपाय न करके शुद्ध आत्मा की भावना को नहीं करता है तो उसके महान् कर्म का बन्ध होता है अथवा व्याधि के उपाय में प्रवर्तता हुआ भी हरीतकी अर्थात् हरड़के बहाने गुड़ खाने के समान इन्द्रियों के सुख में लम्पटी होकर संयम की**

विराधना करता है तो भी महान् कर्मबन्ध होता है। इसलिये साधु उत्सर्ग की अपेक्षा न करके अपवाद मार्ग को त्याग करके शुद्धात्मा की भावना रूप व शुभोपयोग रूप सयम की विराधना न करता हुआ औषधि पथ्य आदि के निमित्त अल्प कर्मबन्ध होते हुए भी बहुत गुणों से पूर्ण उत्सर्ग की अपेक्षा सहित अपवाद को स्वीकार करता है, यह अभिप्राय है।

इस तरह 'उवयरण जिणमग्गे' इत्यादि ग्यारह गाथाओ से अपवाद मार्ग का विशेष वर्णन करते हुये चौथे स्थल का व्याख्यान किया गया। इस तरह पूर्व कहे हुए क्रमसे ही "णिरवेक्खोचागो" इत्यादि तीस गाथाओ से तथा चार स्थलों से अपवाद नाम का दूसरा अधिकार पूर्ण हुआ।

अत पर चतुर्दशगाथापर्यन्त श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गाधिकार कथ्यते। तत्र चत्वारि स्थलानि भवन्ति, तेषु प्रथमत आगमाभ्यासमुख्यत्वेन 'एयग्गगदो' इत्यादि यथाक्रमेण प्रथमस्थले गाथाचतुष्टयम्। तदनन्तर भेदाभेदरत्नत्रयस्वरूपमेव मोक्षमार्ग इति व्याख्यानरूपेण 'आगमपुव्वा दिट्ठी' इत्यादि द्वितीयस्थले सूत्रचतुष्टयम्। अत पर द्रव्यभावसयमकथनरूपेण 'चागो य अणारभो" इत्यादि तृतीयस्थले गाथाचतुष्टयम्। तदनन्तर निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गोपसहारमुख्यत्वेन 'मुज्झदि वा' इत्यादि चतुर्थस्थले गाथाद्वयम्। एव स्थलचतुष्टयेन तृतीयान्तराधिकारे समुदायपातनिका।

चौदह गाथाओ मे श्रामण्य अर्थात् मोक्षमार्ग नाम का तीसरा अतर अधिकार कहा जाता है। इसके चार स्थल है उनमे से पहले ही आगम के अभ्यास की मुख्यता से "एयग्गगदो" इत्यादि यथाक्रम से पहले स्थल मे २३२ से २३५ तक चार गाथाएँ है। इसके पीछे भेद व अभेद रत्नत्रय स्वरूप ही मोक्षमार्ग है, ऐसा व्याख्यान करते हुए "आगमपुव्वा दिट्ठी" इत्यादि दूसरे स्थल मे २३६ ने २३९ तक चार गाथाए है। इसके पीछे द्रव्य व भावसयम को कहते हुए "चागो य अणारभो" इत्यादि तीसरे स्थल मे २४२ तक चार गाथाएँ हैं। फिर निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग का सकोच करने की मुख्यता से "मुज्झदि वा" इत्यादि चौथे स्थल मे २४३ व २४४ गाथा दो है। इस तरह तीसरे अन्तर अधिकार मे चार स्थलो से समुदायपातनिका है सो ही कहते है।

अथ श्रामण्यापरनाम्नो मोक्षमार्गस्यैकाग्र्यलक्षणस्य प्रज्ञापनं तत्र तन्मूलसाधनभूते प्रथममागम एव व्यापारयति —

एयग्गगदो समणो एयग्गं णिच्छिदस्स अत्थेसु।
णिच्छित्ती आगमदो आगमचेट्ठा तदो जेट्ठा ॥२३२॥

ऐकाग्र्यगत श्रमण ऐकाग्र्य निश्चितस्य अर्थेषु।
निश्चितिरागमत आगमचेष्टा ततो ज्येष्ठा ॥२३२॥

श्रमणो हि तावदैकाग्र्यगत एव भवति। ऐकाग्र्यं तु निश्चितार्थस्यैव भवति। अर्थ-निश्चयस्त्वागमादेव भवति। तत आगम एव व्यापारः प्रधानतरः, न चान्या गतिरस्ति। यतो न खल्वागममन्तरेणार्था निश्चेतुं शक्यन्ते, तस्यैव हि त्रिसमयप्रवृत्तत्रिलक्षणसकलपदार्थसार्थयाथात्म्यावगमसुस्थितान्तरङ्गगम्भीरत्वात्। न चार्थनिश्चयमन्तरेणैकाग्र्यं सिद्ध्येत् यतोऽनिश्चितार्थस्य कदाचिन्निश्चिकीर्षाकुलितचेतसः समन्ततो दोलायमानस्यात्यन्ततरलतया कदाचिच्चिकीर्षाज्वरपरवशस्य विश्वं स्वयं सिसृक्षोर्विश्वव्यापारपरिणतस्य प्रतिक्षणविजृम्भमाणक्षोभतया कदाचिद्बुभुक्षाभावितस्य विश्वं स्वयं भोग्यतयोपादाय रागद्वेषदोषकल्माषितचित्तवृत्तेरिष्टानिष्टविभागेन प्रवर्तितद्वैतस्य प्रतिवस्तुपरिणममानस्यात्यन्तविसस्ठुलतया कृतनिश्चयनिःक्रियनिर्भोगं युगपदापीतविश्वमप्यविश्वतयैकं भगवन्तमात्मानमपश्यतः सततं वैयग्र्यमेव स्यात्। न चैकाग्र्यमन्तरेण श्रामण्यं सिद्ध्येत्, यतो नैकाग्र्यस्यानेकमेवेदमिति पश्यतस्तथाप्रत्ययाभिनिविष्टस्यानेकमेवेदमिति जानतस्तथानुभूतिभावितस्यानेकमेवेदमिति प्रत्यर्थविकल्पव्यावृत्तचेतसा सततं प्रवर्तमानस्य तथावृत्तिदुःस्थितस्य चैकात्मप्रतीत्यनुभूतिवृत्तिस्वरूपसम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रपरिणतिप्रवृत्तदृशिज्ञप्तिवृत्तिरूपात्मतत्त्वैकाग्र्याभावात् शुद्धात्मतत्त्वप्रवृत्तिरूपं श्रामण्यमेव न स्यात्। अतः सर्वथा मोक्षमार्गापरनाम्नः श्रामण्यस्य सिद्धये भगवदर्हत्सर्वज्ञोपज्ञे प्रकटानेकान्तकेतने शब्दब्रह्मणि निष्णातेन मुमुक्षुणा भवितव्यम् ॥२३२॥

भूमिका—**अब, श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है ऐसे एकाग्रता लक्षण वाले मोक्ष मार्ग का प्रज्ञापन है। उसमे प्रथम उस (मोक्षमार्ग) के मूल साधनभूत आगम मे व्यापार (प्रवृत्ति) कराते हैं—**

अन्वयार्थ—[श्रमणः] श्रमण [ऐकाग्र्यगत] एकाग्रता को प्राप्त होता है, [ऐकाग्र्य] एकाग्रता [अर्थेषु निश्चितस्य] पदार्थों के निश्चयवान् के होती है, [निश्चितिः] पदार्थों का निश्चय [आगमत] आगम द्वारा होता है, [तत.] इसलिये [आगम चेष्टा] आगमाभ्यास [ज्येष्ठा] मुख्य है।

टीका—**प्रथम तो श्रमण वास्तव मे एकाग्रता को प्राप्त ही होता है, एकाग्रता पदार्थों के निश्चय करने वाले के ही होती है, और पदार्थों का निश्चय आगम द्वारा ही होता है, इसलिये आगम-अभ्यास ही अधिक मुख्य है, पदार्थ निश्चय का अन्य मार्ग नहीं है। इसके कारण यह है कि—वास्तव में आगम के बिना पदार्थों का निश्चय नहीं किया जा सकता, क्योंकि आगम ही त्रिकाल (उत्पाद, व्यय, ध्रौव्यरूप) तीन लक्षण प्रवृत्ति करने**

वाले सकल पदार्थ समूह के यथार्थ ज्ञान द्वारा, सुस्थित है और अंतरंग से गंभीर है (अर्थात् आगम का ही अंतरंग, सर्व पदार्थों के समूह के यथार्थ ज्ञान द्वारा सुस्थित है इसलिये आगम ही समस्त पदार्थों के यथार्थ ज्ञान से गभीर है) पदार्थों के निश्चय के बिना एकाग्रता सिद्ध नहीं होती, क्योंकि, जिसे पदार्थों का निश्चय नहीं है वह (१) कदाचित् निश्चय करने की इच्छा से आकुलता प्राप्त चित्त के अर्थात् सर्वतः दोलायमान् के (डमाडोल चित्त वाले के) अत्यन्त चंचलता के कारण (२) कदाचित् करने की इच्छा के ज्वर-परवश होने वाले के—विश्व को (समस्त पदार्थों को) स्वयं उत्पन्न करने की इच्छा करने वाले के—विश्व व्यापार रूप (समस्त पदार्थों की प्रवृत्ति करने रूप) परिणमित होने वाले के, प्रतिक्षण क्षोभ की प्रगटता के कारण और (३) कदाचित् भोगने की इच्छा से भावित होता हुआ विश्व को स्वयं भोग्य रूप ग्रहण करके, राग द्वेष रूप दोष से कलुषित चित्त वृत्ति के कारण, वस्तुओं मे इष्ट अनिष्ट विभाग के द्वारा द्वैत को प्रवर्तित करते हुये के अर्थात् प्रत्येक वस्तु रूप परिणमित होने वाले के, अत्यन्त अस्थिरता के कारण, उपरोक्त तीन कारणो से उस अनिश्चयी जीव के (१) कृत निश्चय, (२) निष्क्रिय और (३) निर्भोग ऐसे भगवान् आत्मा को—जो कि युगपत् विश्व को पी जाने वाला होने पर भी विश्व रूप न होने से (निज स्वरूप का त्याग न करने से) एक है उसे—नहीं देखने वाले के सतत व्यग्रता ही होती है, (एकाग्रता नहीं होती)। और एकाग्रता के बिना श्रामण्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि जिसके एकाग्रता नहीं है वह जीव (१) 'यह अनेक ही है' ऐसा देखता (श्रद्धान करता) हुआ उस प्रकार की प्रतीति मे आग्रह करने वाले के (२) 'यह अनेक ही है' ऐसा जानता हुआ उस प्रकार की अनुभूति से भावित होने वाले के, और (३) यह अनेक ही है' इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ के विकल्प से खंडित (छिन्न-भिन्न) चित्त सहित सतत प्रवृत्त होता हुआ उस प्रकार की वृत्ति से दुःस्थित होने वाले के इन तीनों के, एक आत्मा की प्रतीति-अनुभूति-वृत्ति स्वरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र परिणतिरूप प्रवर्तमान् जो दृशि (दर्शन) ज्ञप्तिवृत्तिरूप आत्मतत्त्व मे एकाग्रता का अभाव होने से शुद्धात्मतत्त्व प्रवृत्ति रूप यतिधर्म (मुनित्व) ही नहीं होता। इससे (यह कहा गया है कि) मोक्षमार्ग जिसका दूसरा नाम है ऐसे श्रामण्य की सर्व प्रकार से सिद्धि करने के लिये मुमुक्षु को भगवान् अर्हन्त सर्वज्ञ से उपज्ञ (कथित) शब्द ब्रह्म मे—जिसका कि अनेकान्त रूपी चिन्ह प्रगट है उसमें—निष्णात होना चाहिये ॥२३२॥

तात्पर्यवृत्ति

तद्यथा—अथैकाग्र्यगत श्रमणो भवति । तच्चैकाग्र्यमागमपरिज्ञानादेव भवतीति प्रकाशयति—

एयग्गगदो समणो ऐकाग्र्यगत श्रमणो भवति । अत्रायमर्थ —जगत्त्रयकालत्रयवर्तिसमस्त-द्रव्यगुणपर्यायैकसमयपरिच्छित्तिसमर्थसकलविमलकेवलज्ञानलक्षणनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञाना-नुष्ठानरूपमैकाग्र्य भण्यते । तत्र गतस्तन्मयत्वेन परिणत श्रमणो भवति । **एयग्ग णिच्छिदस्स** ऐकाग्र्य पुनर्निश्चितस्य तपोधनस्य भवति । केषु ? **अत्थेसु** टङ्कोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावो योऽसौ परमात्मपदार्थ-स्तत्प्रभृतिष्वर्थेषु **णिच्छित्ती आगमदो** सा च पदार्थनिश्चितिरागमतो भवति । तथाहि—जीवभेदकर्म-भेदप्रतिपादकागमाभ्यासाद्भवति न केवलमागमाभ्यासात्तथैवागमपदे सारभूताच्चिदानन्दैकपरमात्म-तत्त्व प्रकाशकादध्यात्माभिधानात्परमागमाच्च पदार्थपरिच्छित्तिर्भवति **आगम चेट्ठा तदो जेट्ठा** तत कारणादेवमुक्तलक्षणागमपरमागमे च चेष्टा प्रवृत्ति ज्येष्ठा प्रशस्येत्यर्थ ॥२३२॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो अपने स्वरूप मे एकाग्र है वही श्रमण है तथा वह एकाग्रता आगम के ज्ञान से ही होती है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(एयग्गगदो) जो रत्नत्रय की तन्मयता को प्राप्त है वह (समणो) साधु है । (अत्थेसुणिच्छिदस्स) जिसके पदार्थों मे श्रद्धा है उसके (एयग्गं) एकाग्रता होती है । (आगमदो णिच्छित्ती) पदार्थों का निश्चय आगम से होता है (तदो) इसलिये (आगमचेट्ठा) शास्त्रज्ञान मे उद्यम करना (जेट्ठा) उत्तम है या प्रधान है । तीन जगत् व तीन कालवर्ती सब द्रव्यों के गुण और पर्यायो को एक काल जानने को समर्थ सर्व तरह से निर्मल केवलज्ञान लक्षण के धारी अपने परमात्मतत्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र से तन्मयता को एकाग्रता कहते हैं । उस तन्मयता को जो प्राप्त हुआ है, सो श्रमण है । वह एकाग्रता निश्चय से साधु के होती है । टाकी मे उकेरे के समान ज्ञाता दृष्टा एक स्वभाव का धारी जो परमात्मा पदार्थ है उसको आदि लेकर सर्व पदार्थों का निश्चय करने वाला जो साधु है उसी के एकाग्रता होती है । तथा इन जीवादि पदार्थों का निश्चय आगम के द्वारा होता है । अर्थात् जिस आगम मे जीवों के भेद तथा कर्मों के भेदादि का कथन हो उसी आगम के अभ्यास से पदार्थों का निश्चय होता है । केवल पढ़ने का ही अभ्यास न करे किन्तु आगमों मे सारभूत जो चिदानंदरूप एक परमात्व तत्व का प्रकाशक अध्यात्म ग्रन्थ है व जिसके अभ्यास से पदार्थ का यथार्थ ज्ञान होता है, उसका मनन करे । इस कारण से ही उस ऊपर कहे गए आगम तथा परमागम में जो उद्योग है वह श्रेष्ठ है । ऐसा अर्थ है ॥२३२॥**

अथागमहीनस्य मोक्षाख्यं कर्मक्षपणं न संभवतीति प्रतिपादयति—

आगमहीणो समणो णेवप्पाणं परं वियाणादि ।
अविजाणंतो अट्ठे खवेदि कम्माणि किध[1] भिक्खू ॥२३३॥

आगमहीनः श्रमणो नैवात्मानं परं विजानाति ।
अविजानन्नर्थान् क्षपयति कर्माणि कथं भिक्षुः ॥२३३॥

न खल्वागममन्तरेण परात्मज्ञानं परमात्मज्ञानं वा स्यात्, न च परात्मज्ञानशून्यस्य परमात्मज्ञानशून्यस्य वा मोहादिद्रव्यभावकर्मणां ज्ञप्तिपरिवर्तरूपकर्मणां वा क्षपणं स्यात् । तथाहि—न तावन्निरागमस्य निरवधिभवापगाप्रवाहवाहिमहामोहमलमलीमसस्यास्य जगतः पीतोन्मत्तकस्येवावकीर्णविवेकस्याविविक्तेन ज्ञानज्योतिषा निरूपयतोऽप्यात्मात्मप्रदेशनिश्चितशरीरादिद्रव्येषूपयोगमिश्रितमोहरागद्वेषादिभावेषु च स्वपरनिश्चायकागमोपदेशपूर्वकस्वानुभवाभावादयं परोऽयमात्मेति ज्ञानं सिद्ध्येत् । तथा च त्रिसमयपरिपाटीप्रकटितविचित्रपर्यायप्राग्भारागाधगम्भीरस्वभावं विश्वमेव ज्ञेयीकृत्य प्रतपतः परमात्मनिश्चायकागमोपदेशपूर्वकस्वानुभवाभावात् ज्ञानस्वभावस्यैकस्य परमात्मनो ज्ञानमपि न सिद्ध्येत् । परात्मपरमात्मज्ञानशून्यस्य तु द्रव्यकर्मारब्धैः शरीरादिभिस्तत्प्रत्ययैर्मोहरागद्वेषादिभावैश्च सहैक्यमाकलयतो वध्यघातकविभागाभावान्मोहादिद्रव्यभावकर्मणां क्षपणं न सिद्ध्येत् तथा च ज्ञेयनिष्ठतया प्रतिवस्तु पातोत्पातपरिणतत्वेन ज्ञप्तेरासंसारात्परिवर्तमानायाः परमात्मनिष्ठत्वमन्तरेणानिवार्यपरिवर्ततया ज्ञप्तिपरिवर्तरूपकर्मणां क्षपणमपि न सिद्ध्येत् । अतः कर्मक्षपणार्थिभिः सर्वथागमः पर्युपास्यः ॥२३३॥

भूमिका—अब, आगमहीन के मोक्ष नाम से कहा जाने वाला कर्मक्षय नहीं होता, यह प्रतिपादन करते हैं।

अन्वयार्थ—[आगमहीनः] आगमहीन [श्रमणः] श्रमण [आत्मानं] आत्मा को (निज को) और [परं] पर को [न एव विजानाति] नही जानता, [अर्थान् अविजानन्] पदार्थों को नही जानता हुआ [भिक्षुः] भिक्षु [कर्माणि] कर्मो को [कथं] किस प्रकार [क्षपयति] क्षय करे।

टीका—वास्तव में आगम के बिना परात्मज्ञान या परमात्मज्ञान नहीं होता, और परात्मज्ञानशून्य के या परमात्मज्ञानशून्य के मोहादि द्रव्यभाव कर्मों का या ज्ञप्ति परिवर्तन (जाननरूप) क्रिया का–परिवर्तनरूप कार्य का क्षय नहीं होता। वह इस प्रकार है कि—प्रथम तो, आगमहीन यह जगत् कि जो निरवधि (अनन्त) संसाररूप नदी के प्रवाह को

१ किह (ज० वृ०)।

बहाने वाले (पंच परिवर्तन करने वाले) महामोहमल से मलीन है वह, धतूरा पिये हुए मनुष्य की भांति विवेक के नाश को प्राप्त होने से अविविक्त ज्ञानज्योति से यद्यपि देखता है तथापि उसे स्व-पर-निश्चायक आगमोपदेश-पूर्वक स्वानुभव के अभाव के कारण, आत्मा मे और आत्मप्रदेश मे स्थित शरीरादि द्रव्यों मे तथा उपयोगमिश्रित मोहरागद्वेषादि भावों में 'यह पर है और यह आत्मा है' ऐसा ज्ञान सिद्ध नहीं होता तथा उसे, परमात्मनिश्चायक आगमोपदेश-पूर्वक स्वानुभव के अभाव के कारण, जिसके त्रिकाल परिपाटी में विचित्र पर्यायों का समूह प्रगट होता है ऐसे अगाध गम्भीर स्वभाव वाले विश्व को ज्ञेयरूप करके प्रतापवान् ज्ञानस्वभावी एक परमात्मा का ज्ञान भी सिद्ध नहीं होता। इस प्रकार जो (१) परात्मज्ञान से तथा (२) परमात्मज्ञान से शून्य है उसे, (१) द्रव्यकर्म से होने वाले शरीरादि के साथ तथा तत्संबधी मोहरागद्वेषादि भावों के साथ एकता का अनुभव करने के कारण वध्यघातक (द्रव्यकर्म) के विभाग का अभाव होने से मोहादि द्रव्य-भाव कर्मों का क्षय सिद्ध नहीं होता तथा (२) ज्ञेयनिष्ठता से प्रत्येक वस्तु के प्रति उत्पाद विनाश रूप परिणमित करने के कारण अनादि ससार से परिवर्तन को पाने वाली जो ज्ञप्ति, उसका परिवर्तन परमात्म-निष्ठता के अतिरिक्त अनिवार्य होने से, ज्ञप्ति परिवर्तनरूप कार्य का क्षय भी सिद्ध नहीं होता। इसलिये कर्मक्षयार्थियों को सर्वप्रकार से आगम की पर्युपासना करना योग्य है।

तात्पर्यवृत्ति

अथागमपरिज्ञानहीनस्य कर्मक्षपण न भवतीति प्ररूपयति —

आगमहीणो समणो णेवप्पाण पर वियाणादि आगमहीन श्रमणो नैवात्मान पर वा विजानाति **अविजाणतो अट्ठे** अविजानन्नर्थान्परमात्मादिपदार्थान् **खवेदि कम्माणि किह भिक्खू** क्षपयति कर्माणि कथ भिक्षुर्न कथमपि इति। इतो विस्तर —**गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य। उवओगोवि य कमसो वीस तु परूवणा भणिदा** इति गाथाकथिताद्यागममजानन् तथैव "**भिण्णउ जेण ण जाणियउ णियदेहहपरमत्थु। सो अधउ अवरह अधयह किम दरिसावइ पथु।**" इति दोहकसूत्रकथिताद्यागमपदसारभूतमध्यात्मशास्त्र चाजानन् पुरुषो रागादिदोषरहिताव्याबाधसुखादिगुणस्वरूपनिजात्मद्रव्यस्य भावकर्मशब्दाभिधेयै रागादिनानाविकल्पजालैर्निश्चयेन कर्मभि सह भेद न जानाति तथैव कर्मारिविध्वसकस्वकीयपरमात्मतत्त्वस्य ज्ञानावरणादिद्रव्यकर्मभिरपि सह पृथक्त्व न वेत्ति। तथा चाशरीरलक्षणशुद्धात्मपदार्थस्य शरीरादिनोकर्मकर्मभि सहान्यत्व न जानाति। इत्थभूतभेदज्ञानाभावाद्देहस्थमपि निजशुद्धात्मान न रोचते। समस्तरागादिपरिहारेण न च भावयति। ततश्च कथ कर्मक्षयो भवति ? न कथमपीति। तत कारणान्मोक्षार्थिना परमागमाभ्यास एव कर्त्तव्य इति तात्पर्यार्थ ॥२३३॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जिसको आगम ज्ञान नही है उसके कर्मों का क्षय नही हो सकता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(आगमहीणो)** शास्त्र के ज्ञान से रहित **(समणो)** साधु

(णेवप्पाणं परं) न तो आत्मा को न परको (वियाणादि) जानता है। (अट्ठे अविजाणंतो) परमात्मा आदि पदार्थों को नहीं जानता हुआ (भिक्खू) साधु (किह्) किस तरह (कम्माणि) कर्मों का (खवेदि) क्षय कर सकता है? "गुणजीवापज्जत्ती पाणा सण्णा य मग्गणाओ य, उवओगोवि य कमसो वीसं तु परूवणा भणिदा" श्री गोम्मटसार की इस गाथा का भाव यह है कि इस गोम्मटसार जीवकांड मे २० प्ररूपणा का कथन है, १. गुणस्थान, २. जीवसमास, ३. पर्याप्ति, ४. प्राण, ५. संज्ञा, ६. गतिमार्गणा, ७. इन्द्रिय मा०, ८. काय मा०, ९. योग मा०, १० वेद मा०, ११. कषाय मा०, १२. ज्ञान मा०, १३. सयम मा०, १४. दर्शन मा०, १५. लेश्या मा०, १६. भव्य मा०, १७. सम्यक्त्व मा०, १८. सज्ञी मा०, १९. आहार, २०. उपयोग। जिसने इन बीस प्ररूपणा के आगम को नहीं जाना तथा—

"भिण्णउ जेण ण जाणियउ णियदेहहपरमत्थु। सो अधउ अवरह किम दरिसावइ पथु।

इस दोहा सूत्र का भाव यह है कि जिसने अपनी देह से परमपदार्थ आत्मा को भिन्न नहीं जाना वह आर्तरौद्रध्यानी किस तरह अपने आत्मपदार्थ को देख सकता है। इस प्रकार के आगम मे सारभूत अध्यात्मशास्त्र को जिसने नहीं जाना अर्थात् बीस प्ररूपणाओं के शास्त्र को और अध्यात्मशास्त्र इन दोनों शास्त्रो को नहीं जाना, वह पुरुष रागादि दोषों से रहित तथा अव्याबाध सुख आदि गुणों के धारी अपने आत्मद्रव्य को भावकर्म के वाच्य राग द्वेषादि नाना प्रकार विकल्प जालों से वास्तव मे भिन्न नहीं जानता है और न कर्मरूपी शत्रु को विध्वंस करने वाले अपने ही परमात्म-तत्व को ज्ञानावरण आदि द्रव्य कर्मो से जुदा जानता है और न अशरीरी शुद्ध आत्म पदार्थ को शरीरादि नोकर्मों से जुदा समझता है। इस तरह भेद ज्ञान के न होने पर उसके शरीर मे विराजित अपने शुद्धात्मा की रुचि नहीं होती है और न उसकी भावना सर्व रागादि का त्याग करने की होती है, ऐसी दशा में उसके कर्मों का क्षय किस तरह हो सकता है? अर्थात् कदापि नहीं हो सकता है। इसी कारण से मोक्षार्थी पुरुष को परमागम का अभ्यास ही करना योग्य है, ऐसा तात्पर्य है ॥२३३॥

अथागम एवैकश्चक्षुर्मोक्षमार्गमुपसर्पतामित्यनुशास्ति—

आगमचक्खू साहू इंदियचक्खूणि सव्वभूदाणि।
देवा[2] य ओहिचक्खू सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू ॥२३४॥

आगमचक्षु साधुरिन्द्रियचक्षूषि सर्वभूतानि।
देवाश्चावधिचक्षुष सिद्धा पुन सर्वतश्चक्षुष ॥२३४॥

---

१ देवावि (ज० वृ०)।

इह तावद्भगवन्तः सिद्धा एवं शुद्धज्ञानमयत्वात्सर्वतश्चक्षुष शेषाणि तु सर्वाण्यपि भूतानि मूर्तद्रव्यावसक्तदृष्टित्वादिन्द्रियचक्षूंषि, देवास्तु सूक्ष्मत्वविशिष्टमूर्तद्रव्यग्राहित्वादवधिचक्षुषः। अथ च तेऽपि रूपिद्रव्यमात्रदृष्टत्वेनेन्द्रियचक्षुर्भ्योऽविशिष्यमाणा इन्द्रियचक्षुष एव। एवममीषु समस्तेष्वपि संसारिषु मोहोपहततया ज्ञेयनिष्ठेषु सत्सु ज्ञाननिष्ठत्वमूलशुद्धात्मतत्त्वसंवेदनसाध्यं सर्वतश्चक्षुस्त्वं न सिद्ध्येत्। अथ तत्सिद्धये भगवन्तः श्रमणा आगमचक्षुषो भवन्ति। तेन ज्ञेयज्ञानयोरन्योन्यसंवलनेनाशक्यविवेचनत्वे सत्यपि स्वपरविभागमारचय्य निर्भिन्नमहामोहाः सन्त· परमात्मानमवाप्य सततं ज्ञाननिष्ठा एवावतिष्ठन्ते। अतः सर्वमप्यागमचक्षुषैव मुमुक्षूणां द्रष्टव्यम् ॥२३४॥

भूमिका—अब, मोक्षमार्ग पर चलने वालो को आगम ही एक चक्षु है, ऐसा उपदेश करते हैं —

अन्वयार्थ—[साधु] साधु [आगमचक्षुः] आगमचक्षु (आगम रूप चक्षु वाले) हैं, [सर्वभूतानि] सर्व प्राणी [इन्द्रियचक्षूषि] इन्द्रिय चक्षु वाले है, [देवा च] देव [अवधिचक्षुः] अवधिचक्षु वाले है [पुन] और [सिद्धा] सिद्ध [सर्वत चक्षुष·] सर्वतः चक्षु (सर्व ओर से चक्षु वाले अर्थात् सर्वात्म प्रदेशो से चक्षुवान्) है।

टीका :—प्रथम तो, इस लोक मे भगवन्त सिद्ध ही शुद्ध ज्ञानमय होने से सर्वतः चक्षु है, और शेष 'सभी जीव इन्द्रिय चक्षु हैं, क्योकि उनकी दृष्टि मूर्त-द्रव्यों मे लगी होती है। देव सूक्ष्मतत्वविशिष्ट मूर्त द्रव्यों को ग्रहण करते हैं इसलिये वे अवधिचक्षु हैं, अथवा वे भी, मात्र रूपी द्रव्यों को देखते हैं इसलिये उन्हे इन्द्रिय चक्षु वालों से अलग न किया जाये तो, इन्द्रियचक्षु ही है। इस प्रकार इन सभी संसारी जीवों के मोह से मलिन होने के कारण ज्ञेयनिष्ठ होने से ज्ञाननिष्ठता का मूल जो शुद्धात्मतत्व का संवेदन उससे साध्य ऐसा सर्वतः चक्षुत्व सिद्ध नहीं होता।

अब, उस (सर्वतःचक्षुत्व) की सिद्धि के लिये भगवंत श्रमण आगमचक्षु होते हैं। यद्यपि ज्ञेय और ज्ञान का पारस्परिक मिलन हो जाने से उन्हें भिन्न करना अशक्य है अर्थात् ज्ञेय ज्ञान मे ज्ञात न हों ऐसा करना अशक्य है) तथापि वे उस आगम चक्षु से स्व-पर का विभाग करके, महामोह का भेद करने वाले वे परमात्मा को पाकर, सतत ज्ञाननिष्ठ ही रहते हैं। इससे (यह कहा है कि) मुमुक्षुओं को सब कुछ आगम रूप चक्षु द्वारा ही देखना चाहिये ॥२३४॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ मोक्षमार्गार्थिनामागम एव दृष्टिरित्याख्याति —

आगमचक्खू शुद्धात्मादिपदार्थ प्रतिपादकपरमागमचक्षुषो भवन्ति। के ते ? **साहू** निश्चयरत्नत्रयाधारेण निजशुद्धात्मसाधका साधव **इंदियचक्खूणि** निश्चयेनातीन्द्रियामूर्तकेवलज्ञानादिगुणस्वरूपाण्यपि व्यवहारेणानादिकर्मबन्धवशादिन्द्रियचक्षूषि भवन्ति। कानि कर्तृणि ? **सव्वभूदाणि** सर्वभूतानि सर्वससारिजीवा इत्यर्थ. **देवावि ओहिचक्खू** देवा अपि सूक्ष्ममूर्तपुद्गलद्रव्यविषयावधिचक्षुष **सिद्धा पुण सव्वदो चक्खू** सिद्धा पुन शुद्धबुद्धैकस्वभावजीवाजीवलोकाकाशप्रमितशुद्धासख्येयसर्वप्रदेशचक्षुष इति। अनेन किमुक्त भवति ? सर्वशुद्धात्मप्रदेशे लोचनोत्पत्तिनिमित्त परमागमोपदेशादुत्पन्न निर्विकार मोक्षार्थिभि स्वसवेदनज्ञानमेव भावनीयमिति ॥२३४॥

उत्थानिका—आगे कहते है, कि मोक्षमार्ग पर चलने वालो के लिए आगम ही चक्षु है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(साहू) साधु महाराज (आगम चक्खू) आगम के नेत्र से देखने वाले हैं (सव्वभूदाणि) सर्व ससारी जीव (इंदियचक्खूणि) इंद्रियों के द्वारा जानने वाले हैं (देवा य ओहिचक्खू) और देवगण अवधिज्ञान से जानने वाले हैं (पुण) परन्तु (सिद्धा सव्वदो चक्खू) सिद्ध भगवान् सब तरफ से सब देखने वाले हैं। निश्चय-रत्नत्रय के आधार से निज शुद्धात्मा के साधने वाले साधु गण की चक्षु शुद्धात्मा आदि पदार्थों का कथन करने वाला परमागम है। सर्व ससारी जीव निश्चयनय से अतीन्द्रिय और अमूर्त केवलज्ञानादि गुण स्वरूप हैं। व्यवहारनय से अनादि कर्मबध के वश से इन्द्रियाधीन हैं अत· वे संसारी जीव इन्द्रियों के द्वारा जानते हैं। चार प्रकार के देव भी सूक्ष्म मूर्तिक पुद्गल द्रव्य को जानने वाले अवधिज्ञान के द्वारा देखते हैं। सिद्ध भगवान् शुद्ध बुद्ध एक स्वभावमयी जीव-अजीव से भरे हुये लोकाकाश के प्रमाण, जो अपने शुद्ध असंख्यात प्रदेश-उन सर्व प्रदेशों से देखते हैं। इससे यह बात कही गई है कि सर्व शुद्धात्मा के प्रदेशों से देखने की योग्यता के लिये मोक्षार्थी पुरुषों को उस स्वसवेदन ज्ञान की ही भावना करनी चाहिये। वह स्वसंवेदन ज्ञान निर्विकार है और परमागम के उपदेश से उत्पन्न होता है ॥२३४॥**

अथागमचक्षुषा सर्वमेव दृश्यत एवेति समर्थयति—

सव्वे आगमसिद्धा अत्था गुणपज्जएहिं चित्तेहिं।
जाणंति आगमेण[1] हि पेच्छित्ता ते वि ते समणा ॥२३५॥

---

१ य (ज० वृ०)।

सर्वे आगमसिद्धा अर्था गुणपर्यायैश्चित्रैः।
जानन्त्यागमेन हि दृष्ट्वा तानपि ते श्रमणा ॥२३५॥

आगमेन तावत्सर्वाण्यपि द्रव्याणि प्रमीयन्ते, विस्पष्टतर्कणस्य सर्वद्रव्याणामविरुद्धत्वात्। विचित्रगुणपर्यायविशिष्टानि च प्रतीयन्ते, सहक्रमप्रवृत्तानेकधर्मव्यापकानेकान्तमयत्वेनैवागमस्य प्रमाणत्वोपपत्तेः। अतः सर्वेऽर्था आगमसिद्धा एव भवन्ति। अथ ते श्रमणानां ज्ञेयत्वमापद्यन्ते स्वयमेव, विचित्रगुणपर्यायविशिष्टसर्वद्रव्यव्यापकानेकान्तात्मकश्रुतज्ञानोपयोगीभूय विपरिणमनात्। अतो न किंचिदप्यागमचक्षुषामदृश्यं स्यात् ॥२३५॥

भूमिका—**अब, यह समर्थन करते हैं कि आगमरूप चक्षु से सब ही दिखाई देता है—**

अन्वयार्थ—[चित्रैः गुणपर्यायैः] विचित्र (अनेक प्रकार की) गुणपर्यायो सहित [सर्वे अर्था] समस्त पदार्थ [आगमसिद्धा] आगमसिद्ध है। [तान् अपि] उन्हे भी [ते श्रमणाः वे श्रमण [आगमेन हि दृष्ट्वा] आगम द्वारा वास्तव मे देखकर [जानन्ति] जानते है।

टीका—**प्रथम तो, आगम द्वारा सभी द्रव्य प्रमेय (ज्ञेय) होते हैं, क्योंकि सर्वद्रव्य विस्पष्ट तर्कणा से अविरुद्ध हैं, और फिर, आगम से वे द्रव्य विचित्र गुणपर्यायवाले प्रतीत होते हैं, क्योंकि आगम को सहप्रवृत्त और क्रमप्रवृत्त अनेक धर्मों में व्यापक अनेकान्तमय होने से प्रमाणता की उपपत्ति है (अर्थात् आगम प्रमाणभूत सिद्ध होता है)। इससे सभी पदार्थ आगम सिद्ध ही हैं और वे श्रमणों को स्वयमेव ज्ञेयभूत होते हैं, क्योंकि श्रमण विचित्र गुण पर्याय वाले सर्वद्रव्यों में व्यापक अनेकान्तात्मक श्रुतज्ञानोपयोग रूप होकर परिणमित होते हैं। इससे यह कहा है कि आगम रूप चक्षु वालों को कुछ भी अदृश्य नहीं है ॥२३५॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथागमलोचनेन सर्वं दृश्यत इति प्रज्ञापयति—

सव्वे आगमसिद्धा सर्वेऽप्यागमसिद्धा आगमेन ज्ञाता। के ते? अत्था विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावो योऽसौ परमात्मपदार्थस्तत्प्रभृतयोऽर्था। कथ सिद्धा? **गुणपज्जएहिं चित्तेहिं** विचित्रगुणपर्यायै सह। **जाणंति** जानन्ति। कान्? **तेवि** तान् पूर्वोक्तार्थगुणपर्यायान्। किंकृत्वा पूर्वं? **पेच्छित्ता** दृष्टा ज्ञात्वा। केन? **आगमेण य** आगमेनैव। अयमत्रार्थ—पूर्वमागम पठित्वा पश्चाज्जानन्ति **ते समणा** ते श्रमणा भवन्तीति। अत्रेदं भणित भवति—सर्वे द्रव्यगुणपर्याया परमागमेन ज्ञायन्ते। कस्मात्? आगमस्य परोक्षरूपेण केवलज्ञानसमानत्वात्, पश्चादागमाधारेण स्वसवेदनज्ञाने जाते स्वसवेदनज्ञानबलेन केवलज्ञाने च जाते प्रत्यक्षा अपि भवन्ति। तत कारणादागमचक्षुषा परपरया सर्वं दृश्यं भवतीति ॥२३५॥

एवमागमाभ्यासकथनरूपेण प्रथमस्थले सूत्रचतुष्टय गतम्।

उत्थानिका—आगे कहते है कि आगम के लोचन से सर्व दिखता है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(चित्तेहिं गुणपज्जएहिं) नाना प्रकार गुण पर्यायों के साथ (सव्वे अत्था) सर्व पदार्थ (आगम सिद्धा) आगम से सिद्ध हैं। (आगमेण) आगम के द्वारा (तेवि) उन सबको (हि पेच्छित्ता) यथार्थ देखकर (जाणंति) जो जानते हैं (ते समणा) वे ही साधु हैं। विशुद्ध ज्ञानदर्शन स्वभावधारी परमात्मपदार्थ को लेकर सर्व ही पदार्थ तथा उनके सर्व गुण और पर्याय परमागम के द्वारा जाने जाते हैं, क्योंकि परोक्ष रूप आगम केवलज्ञान के समान है। आगम द्वारा पदार्थों को जान लेने पर जब स्वसंवेदन ज्ञान पैदा हो जाता है तब उस स्वसंवेदन के बल से जब केवलज्ञान पैदा होता है तब वे ही सर्व पदार्थ प्रत्यक्ष हो जाते हैं। इसलिये आगम-चक्षु के द्वारा परम्परा से सर्व ही प्रत्यक्ष दीख जाता है ॥२३५॥

भावार्थ—श्री समंतभद्राचार्य आप्तमीमांसा मे स्याद्वाद को केवल ज्ञान के समान बताते हैं, जैसे—

स्याद्वादकेवलज्ञाने सर्वतत्त्वप्रकाशने। भेदः साक्षादसाक्षाच्च ह्यवस्त्वन्यतमं भवेत् ॥१५॥

अर्थात् स्याद्वाद और केवलज्ञान में सर्व तत्वो के प्रकाशने की अपेक्षा समानता है, केवल प्रत्यक्ष और परोक्ष का ही भेद है। यदि दोनों में से एक न होय तो वस्तु ही न रहे। जो पदार्थ केवलज्ञान से प्रगट होते हैं उन सबको परोक्ष रूप से शास्त्र बताता है। इसलिये सर्व द्रव्य गुण पर्यायों को दोनों बताते हैं—केवलज्ञान न हो तो स्याद्वादमय श्रुत ज्ञान न हो और यदि स्याद्वादमय श्रुतज्ञान न हो तो केवलज्ञान नहीं होता।

इस तरह आगम के अभ्यास को कहते हुए प्रथम स्थल में चार सूत्र पूर्ण हुए।

अथागमज्ञानतत्पूर्वतत्त्वार्थश्रद्धानतदुभयपूर्वसंयतत्वानां यौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं नियमयति—

आगमपुव्वा दिट्ठी ण हवदि जस्सेह संजमो तस्स।
णत्थीदि भणदि सुत्तं असंजदो होदि किध[1] समणो ॥२३६॥

आगमपूर्वा दृष्टिर्न भवति यस्येह संयमस्तस्य।
नास्तीति भणति सूत्रमसंयतो भवति कथं श्रमणः ॥२३६॥

इह हि सर्वस्यापि स्यात्कारकेतनागमपूर्विकया तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणया दृष्ट्या शून्यस्य स्वपरविभागाभावात् कायकषायैः सहैक्यमध्यवसतोऽनिरुद्धविषयाभिलाषतया षड्-

---

१ किह (ज० वृ०)।

जीवनिकायघातिनो भूत्वा सर्वतोऽपि कृतप्रवृत्तेः सर्वतो निवृत्त्यभावात्तथा परमात्मज्ञानाभावाद् ज्ञेयचक्रक्रमाक्रमणनिरर्गलज्ञप्तितया ज्ञानरूपात्मतत्त्वैकाग्र्यप्रवृत्त्यभावाच्च संयम एव न तावत् सिद्धयेत् । असिद्धसंयमस्य तु सुनिश्चितैकाग्र्यगततत्त्वरूप मोक्षमार्गापरनामश्रामण्यमेव न सिद्धयेत् । अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यस्यैव मोक्षमार्गत्वं नियम्येत ॥२३६॥

भूमिका—**अब, आगमज्ञान, तत्पूर्वक तत्वार्थश्रद्धान और तदुभयपूर्वक सयतत्व की युगपतता वाले के मोक्षमार्गत्व होने का नियम करते हैं।**

उत्थानिका—[इह] इस लोक मे [यस्य] जिसकी [आगमपूर्वा दृष्टिः] आगमपूर्वक दृष्टि (दर्शन) [न भवति] नही है [तस्य] उसके [सयम] सयम [नास्ति] नही है, [इति] इस प्रकार [सूत्र भणति] सूत्र कहता है, और [असयत] जो असयत है, वह [श्रमण] श्रमण [कथ भवति] कैसे हो सकता है ? अर्थात् नही हो सकता ।

टीका—**इस लोक मे प्रथम तो स्यात्कार चिन्ह वाले आगम पूर्वक तत्वार्थ श्रद्धान लक्षण वाली दृष्टि से जो शून्य हैं उन सभी को सयम वास्तव में ही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि (१) स्वपर के विभाग के अभाव के कारण काय और कषायों के साथ एकता का अध्यवसाय करने वाले वे जीव, विषयों की अभिलाषा का निरोध नहीं होने से छह जीवनिकाय के घाती होकर सर्वत्र प्रवृत्ति करते हैं, इसलिये उनके सर्वतः निवृत्ति का अभाव है, तथापि (२) उनके परमात्मज्ञान के (केवलज्ञान के) अभाव के कारण ज्ञेय समूह को क्रमशः जानने वाली निरर्गल ज्ञप्ति होने से ज्ञान रूप आत्मतत्व में एकाग्रता की प्रवृत्ति का अभाव है। जिनके सयम सिद्ध नहीं होता उनके सुनिश्चित ऐकाग्र्य परिणतता रूप श्रामण्य ही जिसका कि दूसरा नाम मोक्षमार्ग है, सिद्ध नहीं होता। (यहां पर मुनि की एकाग्रपरिणति अर्थात् शुक्लध्यान को मोक्षमार्ग कहा है) इससे आगम ज्ञान–तत्वार्थ श्रद्धान और सयतत्व की युगपतता वाले को ही मोक्षमार्गत्व होने का नियम सिद्ध होता है ॥२३६।**

तात्पर्यवृत्ति

अथागमपरिज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानतदुभयपूर्वकसयतत्वत्रयस्य मोक्षमार्गत्व नियमयति—

आगमपुव्वा दिट्ठी ण हवदि जस्सेह आगमपूर्विका दृष्टि सम्यक्त्व नास्ति यस्येह लोके **संजमो तस्स णत्थि** सयमस्तस्य नास्ति **इदि भणदि** इत्येव भणति कथयति । कि कर्तृ ? **सुत्तं** सूत्रमागम **असजदो होदि किह समणो** असयत सन् श्रमणस्तपोधन कथ भवति न कथमपीति । तथाहि–यदि निर्दोषिनिजपरमात्मैवोपादेय इति रुचिरूप सम्यक्त्व नास्ति तर्हि परमागमबलेन विशदैकज्ञानरूपमात्मान जानन्नपि सम्यग्दृष्टिर्न भवति ज्ञानी च न भवति तद्द्वयाभावे सति पञ्चेन्द्रियविषया-

भिलाषषड्जीववधव्यावर्त्तोपि सयतो न भवति । तत स्थितमेतत् परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसयत-त्वत्रयमेव मुक्तिकारणमिति ॥२३६॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि आगमज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धान तथा श्रद्धान-ज्ञानपूर्वक चारित्र ये तीन ही मोक्षमार्ग नियम से है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(इह) इस लोक में (जस्स) जिस जीव के (आगमपुव्वा) आगम ज्ञान-पूर्वक (दिट्ठी) सम्यक्दर्शन (ण हवदि) नहीं है (तस्स) उस जीव के (संजमो णत्थि त्ति सुत्तं भणदि) संयम नहीं है, ऐसा सूत्र कहता है । (असंजदो) जो असंयमी है वह (किह) किस तरह (समणो) श्रमण या साधु (होदि) हो सकता है ? नहीं हो सकता । दोष रहित अपना शुद्ध आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है । ऐसी रुचि सहित सम्यग्दर्शन जिसके नहीं है, वह परमागम के बल से निर्मल एक ज्ञान स्वरूप आत्मा को जानते हुए भी न सम्यग्दृष्टि है और न सम्यग्ज्ञानी है । इन दोनों के अभाव होते हुए पंचेन्द्रियो के विषयों की इच्छा तथा छः प्रकार के जीवों के वध से अलग रहने पर भी सयमी नहीं होता । इससे यह सिद्ध किया गया कि परमागमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान और सयमपना ये तीनों ही एक साथ मोक्ष के कारण होते हैं ॥२३६॥**

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानामयोगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटयति—

ण हि आगमेण सिज्झदि सद्दहणं जदि वि [1]णत्थि अत्थेसु ।
सद्दहमाणो अत्थे असंजदो वा ण णिव्वादि ॥२३७॥

न ह्यागमेन सिद्धयति श्रद्धान यद्यपि नास्त्यर्थेषु ।
श्रद्दधान अर्थानसयतो वा न निर्वाति ॥२३७॥

श्रद्धानशून्येनागमजनितेन ज्ञानेन तदविनाभाविना श्रद्धानेन च संयमशून्येन न तावत्सिद्धयति । तथाहि—आगमबलेन सकलपदार्थान् विस्पष्ट तर्कयन्नपि यदि सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं न तथा प्रत्येति तदा तथोदितात्मनः श्रद्धानशून्यतया यथोदितमात्मानमननुभवन् कथं नाम ज्ञेयनिमग्नो ज्ञानविमूढो ज्ञानी स्यात् । अज्ञानिनश्च ज्ञेयद्योतको भवन्नप्यागमः किं कुर्यात् । ततः श्रद्धानशून्यादागमान्नास्ति सिद्धिः । किंच—सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकारमात्मानं श्रद्दधानोऽप्यनुभवन्नपि यदि स्वस्मिन्नेव सयम्य न वर्तयति तदानादिमोहरागद्वेषवासनोपजनितपरद्रव्यचङ्क्रमणस्वैरिण्याश्चिद्वृत्तेः स्वस्मिन्नेव स्थानान्निर्वासननि.कम्पैकतत्त्वमूर्च्छितचिद्वृत्त्यभावात्कथं नाम

संयतः स्यात् । असंयतस्य च यथोदितात्मस्वप्रतीतिरूपं श्रद्धानं यथोदितात्मतत्त्वानुभूतिरूपं ज्ञानं वा किं कुर्यात् । ततः संयमशून्यात् श्रद्धानात् ज्ञानाद्वा नास्ति सिद्धिः । अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानामयौगपद्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटेतैव ॥२३७॥

भूमिका—अब, यह सिद्ध करते हैं कि–आगमज्ञान–तत्वार्थश्रद्धान और संयतत्व की अयुगपतता वाले के मोक्षमार्गत्व घटित नहीं होता—

अन्वयार्थ—[आगमेन] आगम से [यदि अपि] यदि [अर्थेषु श्रद्धान नास्ति] पदार्थों का श्रद्धान न हो तो, [न हि सिद्धयति] सिद्धि (मुक्ति) नही होती, [अर्थान् श्रद्धधान] पदार्थों का श्रद्धान करने वाला भी [असयत. वा] यदि असयत हो तो [न निर्वाति] निवाण को प्राप्त नही होता ।

टीका—आगमजनित ज्ञान से, यदि श्रद्धानशून्य (श्रद्धान उत्पन्न न हुआ) हो तो सिद्धि नहीं होती, और जो आगमज्ञान के अविनाभावी श्रद्धान से भी, यदि सयमशून्य हो तो सिद्धि नहीं होती । यथा—आगम बल से सकल पदार्थों की विस्पष्ट तर्कणा करता हुआ भी यदि जीव, सकल पदार्थों के ज्ञेयाकारों के साथ मिलित होने वाला विशद एक ज्ञान वह ज्ञान जिसका आकार है, ऐसे आत्मा को उस प्रकार से प्रतीत नहीं करता तो यथोक्त आत्मा के श्रद्धान से शून्य होने के कारण जो यथोक्त आत्मा का अनुभव नहीं करता (नहीं जानता) ऐसा वह ज्ञेयनिमग्न ज्ञान-विमूढ जीव कैसे ज्ञानी होगा ? (नहीं होगा, वह अज्ञानी ही होगा ।) और ज्ञेयद्योतक तक होने पर भी आगम अज्ञानी को क्या करेगा ? आगम ज्ञेयों का प्रकाशक होने पर भी वह अज्ञानी के लिये क्या कर सकता है ? इसलिये श्रद्धानशून्य वाले को आगम से सिद्धि नहीं होती । (जो श्रद्धापूर्वक आगम को नहीं पढ़ते उनको आगम से सिद्धि नहीं होती) और सकल पदार्थों के ज्ञेयाकारों के साथ मिलित होता हुआ एक ज्ञान जिसका आकार है, ऐसे आत्मा का श्रद्धान करता हुआ भी अनुभव करता (जानता) हुआ भी यदि जीव अपने मे ही संयमित होकर नहीं रहता, तो वह संयत कैसे होगा ? क्योंकि उसकी चिद्वृत्ति (चैतन्य की परिणति) अनादि मोह राग द्वेष की वासना से अनित पर-द्रव्य में भ्रमणता के कारण स्व-इच्छा-चारिणी हो रही है, और उस चिद्वृत्ति के ऐसी चिद्वृत्ति का अभाव है जो अपने में ही रहने से वासना (विषय कषाय) रहित निष्कंप और एक तत्त्व में लीन हो । (अर्थात् जिसकी चिद्वृत्ति स्व-इच्छा-चारणी हो और एकाग्रता रूप ध्यान से रहित हो वह असयत है) यथोक्त आत्मतत्व की प्रतीति रूप श्रद्धान या यथोक्त आत्मतत्त्व का अनुभूतिरूप ज्ञान असंयत को क्या करेगा ? इसलिये

संयमशून्य श्रद्धान व ज्ञान से सिद्धि नहीं होती। इससे आगमज्ञान तत्वार्थश्रद्धान संयतत्व के अयुगपतत्व वाले के मोक्षमार्गत्व घटित नहीं होता ।।२३७।।

तात्पर्यवृत्ति

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसयतत्वाना यौगपद्याभावे मोक्षो नास्तीति व्यवस्थापयति—

ण हि आगमेण सिज्झदि आगमजनितपरमात्मज्ञानेन न सिद्धयति **सद्दहण जदि वि णत्थि अत्थेसु** श्रद्धान यदि च नास्ति परमात्मादिपदार्थेषु। **सद्दहमाणो अत्थे** श्रद्धानो वा चिदानन्दैकस्वभाव-निजपरमात्मादिपदार्थान्। **असजदो वा ण णिव्वादि** विषयकषायाधीनत्वेनासयतो वा न निर्वाति निर्वाण न लभत इति। तथाहि—यथा प्रदीपसहितपुरुषस्य कूपपतनप्रस्तावे कूपपतनान्निवर्त्तन मम हितमिति निश्चयरूप श्रद्धान यदि नास्ति तदा तस्य प्रदीप कि करोति ?न किमपि। तथा जीवस्यापि परमागमाधारेण सकलपदार्थज्ञेयाकारकरावलम्बितविशदैकज्ञानरूप स्वात्मान जानतोऽपि ममात्मैवो-पादेय इति निश्चयरूप यदि श्रद्धान नास्ति तदा तस्य प्रदोपस्थापनीय आगम कि करोति ?न किमपि। यथा वा स एव प्रदीपसहितपुरुष स्वकीयपौरुषबलेन कूपपतनाद्यदि न निवर्त्तते तदा तस्य श्रद्धान प्रदीपो दृष्टिर्वा कि करोति ? न किमपि। तथाय जीव श्रद्धानज्ञानसहितोऽपि पौरुषस्थानीयचारित्र-बलेन रागादिविकल्परूपादसयमाद्यदि न निवर्त्तते तदा तस्य श्रद्धान ज्ञान वा किं कुर्यान्न ? किमपीति। अत एतदायादि परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसयतत्त्वान मध्ये द्वयेनैकेन वा निर्वाण नास्ति किन्तु त्रयेणेति एव भेदाभेदरत्नत्रयात्मकमोक्षमार्गस्थापनमुख्यत्वेन द्वितीयस्थले गाथाचतुष्टय गतम्।

किंच बहिरात्मावस्थान्तरात्मावस्थापरमात्मावस्था मोक्षावस्थात्रय तिष्ठति। अवस्थात्रयेऽनु-गताकारद्रव्य तिष्ठति। एव परस्परसापेक्षद्रव्यपर्यायात्मको जीवपदार्थ । तत्र मोक्षकारण चिन्त्यते। मिथ्यात्वरागादिरूपा बहिरात्मावस्था तावदशुद्धा मुक्तिकारण न भवति। मोक्षावस्था शुद्धात्मफलभूता साचाग्रे तिष्ठति। एताभ्या द्वाभ्या भिन्ना यान्तरात्मावस्था सा मिथ्यात्वरागादरहितत्वेन शुद्धा यथा सूक्ष्मनिगोतज्ञाने शेषावरणे सत्यपि क्षयोपशमज्ञानावरण नास्ति तथात्रापि केवलज्ञानावरणे सत्यप्येक-देशक्षयोपशमज्ञानापेक्षया नास्त्यावरणम्। यावताशेन निरावरणरागादिरहितत्वेन शुद्धा च तावताशेन मोक्षकारण भवति। तत्र शुद्धपारिणामिकभावरूप परमात्मद्रव्य ध्येय भवति। तच्च तस्मादन्तरात्म-ध्यानावस्थाविशेषात्कथचिद्भिन्नम्। यदैकान्तेनाभिन्न भवति तदा मोक्षेऽपि ध्यान प्राप्नोति, अथवास्य ध्यानपर्यायस्य विनाशे सति तस्य पारिणामिकभावस्यापि विनाश प्राप्नोति। एव बहिरात्मान्तरात्म-परमात्मकथनरूपेण मोक्षमार्गो ज्ञातव्य ।।२३७।।

उत्थानिका—आगे कहते है कि आगम का ज्ञान, तत्त्वार्थ का श्रद्धान तथा सयमपना ये तीनो यदि एक साथ नही होवे तो मोक्ष नही हो सकता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि) यदि (अत्थेसु सद्दहणं णत्थि) पदार्थों मे श्रद्धान नहीं होवे तो (ण हि आगमेन सिज्झदि) मात्र आगम के ज्ञान से सिद्ध नही हो सकता है। (अत्थे सद्दहमाणो) पदार्थों का श्रद्धान करता हुआ (असजदो वा ण णिव्वादि) यदि असंयम है तो भी निर्वाण को प्राप्त नहीं करता है। यदि कोई परमात्मा आदि पदार्थों मे श्रद्धान नहीं रखता है तो वह आगम से होने वाले मात्र परमात्मा के**

ज्ञान से सिद्धि नहीं पा सकता है, तथा चिदानन्दमय एक स्वभावरूप अपने परमात्मा आदि पदार्थों का श्रद्धान करता हुआ भी यदि विषयो और कषायो के अधीन रहकर असयमी रहता है तो भी निर्वाण को नहीं पा सकता है।

जैसे किसी पुरुष के हाथ मे दीपक है तथा उसको यह निश्चयरूप श्रद्धान नहीं है कि यदि दीपक से देखकर चलूंगा तो कुएं मे गिरने का अवसर प्राप्त होने पर कुएं मे मै न गिरूंगा, इसमे मेरा हित है, तो उसके पास दीपक होने से भी कोई लाभ नहीं है। तैसे ही किसी जीव का परमागम के आधार से अपने आत्मा का ऐसा एक ज्ञान है जो सर्व ज्ञेय पदार्थ के आकारों को हाथ पर रखे हुए आवले के समान, स्पष्ट जानने को समर्थ है। अपनी आत्मा को ऐसा जानता हुआ भी यदि यह निश्चयरूप श्रद्धान नहीं है कि मेरा आत्मा ही ग्रहण करने योग्य है तो उसके लिए दीपक के समान आगम क्या कर सकता है ? कुछ भी नहीं कर सकता है। अथवा जैसे वही दीपक को रखने वाला पुरुष अपने पुरुषार्थ के बल से कूप पतन से यदि नहीं बचता है तो उसका श्रद्धान दीपक व दृष्टि कुछ भी कार्यकारी नहीं हुई, तैसे ही यह जीव श्रद्धान और ज्ञान सहित भी है, परन्तु पुरुष के समान चारित्र के बल से रागद्वेषादि विकल्परूप असयमभाव से यदि अपने को नहीं हटाता है तो श्रद्धान तथा ज्ञान उसका क्या हित कर सकते है ? अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकते।

इससे यह बात सिद्ध हुई कि परमागमज्ञान, तत्वार्थ श्रद्धानतथा संयमपना इन तीनों मे से केवल दो से वा मात्र एक से निर्वाण नही हो सकता है, किन्तु तीनों से ही मोक्ष होता है।

इस तरह भेद और अभेद स्वरूप रत्नत्रयमय मोक्षमार्ग को स्थापन की मुख्यता से दूसरे स्थल मे चार गाथाए पूर्ण हुई।

यहां यह भाव है कि बहिरात्मा अवस्था, अन्तरात्मा अवस्था, परमात्मा अवस्था या मोक्ष अवस्था ऐसी तीन अवस्थायें जीव की होती है, इन तीनों अवस्थाओं के अनुरूप होकर द्रव्य रहता है। इस तरह परस्पर अपेक्षा सहित द्रव्यरूप व पर्यायरूप जीव पदार्थ को जानना चाहिये। अब यहां मोक्ष का कारण विचारा जाता है। मिथ्यात्व रागादि रूप जो बहिरात्मा अवस्था है वह तो अशुद्ध है इसलिये मोक्ष का कारण नहीं है। मोक्षावस्था तो शुद्धात्मा रूप अर्थात् फलरूप है जो आगामी काल मे होगी। इन दोनों बहिरात्मावस्था और मोक्षावस्था से भिन्न जो अन्तरात्मावस्था है वह मिथ्यात्व रागादि से रहित होने के

कारण से शुद्ध है। जैसे सूक्ष्म निगोदिया जीव के ज्ञान में अन्य ज्ञान का आवरण होने पर भी क्षयोपशमज्ञान का सर्वथा आवरण नहीं है तैसे इस अन्तरात्मा अवस्था में केवलज्ञानावरण के होते हुए भी एक देश क्षयोपशमज्ञानकी अपेक्षा आवरण नहीं है। जितने अंश में क्षयोपशमज्ञान रागादि भावों से रहित होकर शुद्ध है उतने अंश मे यह मोक्ष का कारण है। इस अवस्था में शुद्ध पारिणामिक-भाव स्वरूप परमात्मा द्रव्य तो ध्येय (ध्यान करने योग्य) है। सो परमात्मा द्रव्य उस अन्तरात्मापने की ध्यान की अवस्था विशेष से कथंचित् भिन्न है। यदि एकान्त से अन्तरात्मावस्था और परमात्मावस्था को अभिन्न या अभेद माना जाएगा तो मोक्ष में भी ध्यान प्राप्त हो जाएगा अथवा इस ध्यान पर्याय के विनाश होते हुए पारिणामिकभाव का भी विनाश हो जाएगा सो हो नहीं सकता। इस तरह बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा के कथन रूप से मोक्षमार्ग जानना चाहिये ॥२३७॥

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येऽप्यात्मज्ञानस्य मोक्षमार्गसाधकतमत्वं द्योतयति—

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि[1] भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी[2] तिहिं गुत्तो खवेदि[3] उस्सासमेत्तेण ॥२३८॥

यदज्ञानी कर्म क्षपयति भवशतसहस्रकोटिभि।
तज्ज्ञानी त्रिभिर्गुप्त क्षपयत्युच्छ्वासमात्रेण ॥२३८॥

यदज्ञानी कर्म क्रमपरिपाट्या बालतपोवैचित्र्योपक्रमेण च पच्यमानमुपात्तरागद्वेषतया सुखदुःखादिविकारभावपरिणतः पुनरारोपितसंतानं भवशतसहस्रकोटिभिः कथंचन निस्तरति, तदेव ज्ञानी स्यात्कारकेतनागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यातिशयप्रसादासादितशुद्धज्ञानमयात्मतत्त्वानुभूतिलक्षणज्ञानित्वसद्भावात्कायवाङ्मनःकर्मोपरमप्रवृत्त-त्रिगुप्तत्वात् प्रचण्डोपक्रमपच्यमानमपहस्तितरागद्वेषतया दूरनिरस्तसमस्तसुखदुःखादिविकारः पुनरनारोपितसंतानमुच्छ्वासमात्रेणैव लीलयैव पातयति। अत आगमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्येऽप्यात्मज्ञानमेव मोक्षमार्गसाधकतममनुमन्तव्यम् ॥२३८॥

भूमिका—अब, आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व का युगपतत्व होने पर भी, आत्मज्ञान मोक्षमार्ग का साधकतम (उत्कृष्ट साधक) है, यह बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—[यत् कर्म] जो कर्म [अज्ञानी] अज्ञानी [भवशतसहस्रकोटिभिः] लक्ष कोटि भवो मे [क्षपयति] खपाता है, [तत्] वह [ज्ञानी] ज्ञानी (क्षपकश्रेणीवाला)

---

१ खवेइ (ज० वृ०), २ तण्णाणी (ज० वृ०), ३ खवेइ (ज० वृ०)।

[त्रिभिः गुप्तः] तीन प्रकार (मन वचन काय) से गुप्त होने से [उच्छवासमात्रेण] उच्छ्-वासमात्र मे (क्षपयति) खपा देता है।

टीका—जो कर्म, (अज्ञानी को) क्रमपरिपाटी से तथा अनेक प्रकार के बालतपादि-रूप उद्यम से पककर उदय मे आते हुये रागद्वेष को ग्रहण किया होने से सुखदुःखादि-विकार भावरूप परिणमित होने से पुनः संतान को आरोपित करते हैं, उन कर्मों का अज्ञानी लक्षणकोटिभवों मे जिस तिस प्रकार निस्तारा करता है, वही कर्म, ज्ञानी को स्यात्कारकेतन रूप आगम का ज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान और सयतत्व इनकी युगपत्ता के अति-शय प्रसाद से प्राप्त शुद्ध ज्ञानमयी आत्मतत्व की अनुभूति जिसका लक्षण है ऐसे ज्ञानीपन के सद्भाव के कारण काय वचन मन को कर्मों के उपरम (रुकने) से त्रिगुप्ति में प्रवर्तमान होने के (कारण) प्रचण्ड उद्यम से पकते हुए रागद्वेष के अभाव में समस्त सुखदु.खादिविकार अत्यन्त निरस्त हो जाने से, पुनःसन्तान को आरोपित नहीं करते, उन कर्मों को ज्ञानी उच्छ्वासमात्र मे ही—लीलामात्र से नष्ट कर देता है।

इससे, आगमज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान और संयतत्व की युगपत्ता होने पर भी (क्षपक श्रेणी में होने वाले) आत्मज्ञान को ही मोक्षमार्ग का साधकतम संमत करना चाहिये ॥२३८॥

भावार्थ—गाथा २३६ की टीका मे एकाग्रच परिणतता रूप श्रामण्य के मोक्षमार्ग कहा गया था। 'एकाग्रता' वीतरागनिर्विकल्पसमाधि अर्थात् श्रेणी मे होती है। यहां पर आत्मज्ञान को मोक्षमार्ग का साधकतम कहा है। आगम ज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान व सयम की एकता होने पर वह आत्म-ज्ञान होता है। इससे स्पष्ट है कि इस गाथा तथा गाथा २३६ में 'आत्मज्ञान' से अभिप्राय उस आत्मज्ञान से है जो वीतरागनिर्विकल्पसमाधि अर्थात् श्रेणी मे होता है और वही आत्मज्ञान मोक्षमार्ग का साधकतम है और उसी आत्मज्ञान, के बिना साक्षात् मोक्षमार्ग नहीं होता, इसलिये उस आत्मज्ञान के बिना आगमज्ञान तत्त्वार्थश्रद्धान और सयतत्व को अकिंचित्कर कहते हैं।

तात्पर्यवृत्ति

अथ परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसयतत्वाना भेदरत्नत्रयरूपाणा मेलापकेऽपि यदभेदरत्नत्रया-त्मक निर्विकल्पसमाधिलक्षणमात्मज्ञान निश्चयेन तदेव मुक्तिकारणमिति प्रतिपादयति—

जं अण्णाणी कम्मं खवेइ निर्विकल्पसमाधिरूपनिश्चयरत्नत्रयात्मकविशिष्टभेदज्ञानाभावादज्ञानी जीवो यत्कर्म क्षपयति। काभि करणभूताभि ? **भवसयसहस्सकोडीहिं** भवशतसहस्रकोटिभि· **तण्णाणी तिहिं गुत्तो** तत्कर्म ज्ञानी जीवस्त्रिगुप्तिगुप्त सन् **खवेइ उस्सासमेत्तेण** क्षपयत्युच्छवासमात्रेणेति। तद्यथा—बहिर्विषये परमागमाभ्यासबलेन यत्सम्यक्परिज्ञान तथैव श्रद्धान व्रताद्यनुष्ठान चेति त्रयं

तत्त्रयाधारेणोत्पन्न सिद्धजीवविषये सम्यक्परिज्ञान श्रद्धान तद्गुणस्मरणानुकूलमनुष्ठान चेति त्रय तत्त्रयाधारेणोत्पन्न विषदाखण्डैकज्ञानाकारे स्वशुद्धात्मनि परिच्छित्तिरूप सविकल्पज्ञान स्वशुद्धात्मोपादेयभूतरुचिविकल्परूप सम्यग्दर्शनम् तत्रैवात्मनि रागादिविकल्पनिवृत्तिरूप सविकल्पचारित्रमिति त्रयम्। तत्त्रयप्रसादेनोत्पन्न यन्निर्विकल्पसमाधिरूप निश्चयरत्नत्रयलक्षण विशिष्टस्वसवेदनज्ञान तदभावादज्ञानी जीवो बहुभवकोटिभिर्यत्कर्म क्षपयति तत्कर्म ज्ञानी जीव पूर्वोक्तज्ञानगुणसद्भावात् त्रिगुप्तिगुप्त सन्नुच्छ्वासमात्रेण लीलयैव क्षपयतीति। ततो ज्ञायते परमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसयतत्वाना भेदरत्नत्रयरूपाणा सद्भावेऽप्यभेदरत्नत्रयरूपस्य स्वसवेदनज्ञानस्यैव प्रधानत्वमिति ।।२३८।।

उत्थानिका—आगे कहते है कि परमागमज्ञान, तत्त्वार्थश्रद्धान तथा सयमीपना इन भेदरूप रत्नत्रयो के मिलाप होने पर भी जो अभेदरत्नत्रय स्वरूप निर्विकल्पसमाधिमय आत्मज्ञान है वही निश्चय से मोक्ष का कारण है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अण्णाणी) अज्ञानी (ज कम्म) जिस कर्म को (भवसयसहस्सकोडीहि) एक लाख करोड भवो मे) (खवेइ) नाश करता है। (त) उस कर्म को (णाणी) आत्मज्ञानी (तिहिगुत्तो) मन वचनकाय तीनों की गुप्ति सहित होकर (उस्सासमेत्तेण) एक उच्छ्वास मात्र मे (खवेइ) क्षय कर देता है। निर्विकल्प समाधि रूप निश्चय रत्नत्रयमय विशेष भेदज्ञान को न पाकर अज्ञानी जीव करोड़ो जन्मों मे जिस कर्मबन्ध को क्षय करता है उस कर्म को ज्ञानी जीव तीन गुप्ति मे गुप्त होकर एक उच्छ्वास मे नाश कर डालता है। इसका भाव यह है कि बाहरी पदार्थो के सम्बन्ध मे जो सम्यग्ज्ञान परमागम के अभ्यास के बल से होता है तथा जो उनका श्रद्धान होता है और श्रद्धान ज्ञानपूर्वक व्रत आदि का चारित्र पाला जाता है, इन तीन रूप रत्नत्रय के आधार से सिद्ध परमात्मा के स्वरूप मे सम्यक् श्रद्धान तथा सम्यग्ज्ञान होकर उनके गुणो का स्मरण करना इसी के अनुकूल जो चारित्र होता है। फिर भी इसी प्रकार इन तीन के आधार से जो उत्पन्न होता है। निर्मल अखड एक ज्ञानाकार रूप अपने ही शुद्धात्मा मे जानने रूप सविकल्पज्ञान तथा "शुद्धात्मा ही ग्रहण करने योग्य है" ऐसी रुचि सो विकल्परूप सम्यग्दर्शन और इसी ही आत्मा के स्वरूप मे रागादि विकल्पो से रहित सो सविकल्प चारित्र उत्पन्न होता है फिर भी इन तीनों के प्रसाद से विकल्प–रहित समाधि रूप निश्चय रत्नत्रयमय विशेष स्वसंवेदन ज्ञान उत्पन्न होता है। उस ज्ञान को न पाकर अज्ञानी जीव करोड़ों जन्मों में जिस कर्म का क्षय करता है उस कर्म को ज्ञानी जीव पूर्वोक्त ज्ञान गुण के सद्भाव मे मन वचनकाय की गुप्ति में लवलीन होकर एक श्वास मात्र में लीला मात्र से ही नाश कर डालता है। इससे यह बात जानी जाती है कि परमागमज्ञान, तत्वार्थ-**

श्रद्धान तथा संयमीपना इस भेद रत्नत्रय के होने पर भी अभेद या निश्चयरत्नत्रय स्वरूप स्वसंवेदनज्ञान की मुख्यता है ।।२३८।।

भावार्थ—वृत्तिकार ने आत्मज्ञान पैदा होने की सीढ़ियां बताई हैं पहली (१) सीढी यह है कि जिनवाणी को अच्छी तरह पढ़कर हमे सात तत्वों को जानकर उनका श्रद्धान करना चाहिये तथा विषय कषायो के घटाने के लिये मुनि वा गृहस्थ के योग्य व्रतादि पालना चाहिये । (२) दूसरी सीढी यह है कि सिद्ध परमात्मा का ज्ञान, श्रद्धान करके उनके ध्यान का अभ्यास करना चाहिये । (३) तीसरी सीढ़ी यह है कि अपने ही आत्मा को निश्चय से शुद्ध परमात्मा जानना, श्रद्धान करना व रागादि छोड़ उसी की भावना भानी । (४) चौथी सीढ़ी यह है कि विकल्प रहित स्वानुभव प्राप्त करना । यहां यद्यपि श्रद्धान ज्ञान चारित्र है तथापि कोई विकल्प या विचार नहीं है मात्र अपने स्वरूपानन्द मे मग्नता है, यही आत्मज्ञान है । यह सीढी साक्षात् मुक्तिसुन्दरी के महल में पहुँचाने वाली है, अतएव जिनको यह चौथी सीढी प्राप्त है वे ही कर्मों को दग्धकर केवलज्ञानी हो जाते हैं ।

अथात्मज्ञानशून्यस्य सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्यमप्यकिंचित्करमित्यनुशास्ति—

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो ।
विज्जदि जदि सो सिद्धिं ण लहदि सव्वागमधरो वि ।।२३९।।

परमाणुप्रमाण वा मूर्च्छा देहादिकेषु यस्य पुन ।
विद्यते यदि स सिद्धि न लभते सर्वागमधरोऽपि ।।२३९।।

यदि करतलामलकीकृतसकलागमसारतया भूतभवद्भावि च स्वोचितपर्यायविशिष्टमशेषद्रव्यजातं जानन्तमात्मानं जानन् श्रद्दधानः संयमयश्चागम ज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वानां यौगपद्येऽपि मनाड्मोहमलोपलिप्तत्वात् यदा शरीरादिमूर्च्छोपरक्ततया निरुपरागोपयोगपरिणतं कृत्वा ज्ञानात्मानमात्मानं नानुभवति तदा तावन्मात्रमोहमलकलङ्ककीलिकाकीलितैः कर्मभिरविमुच्यमानो न सिद्धयति । अत आत्मज्ञानशून्यमागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यमप्यकिंचित्करमेव ।।२३९।।

भूमिका—अब यह उपदेश करते हैं कि—आत्मज्ञान शून्य के (वीतरागनिर्विकल्पसमाधि-रहित के) सर्व आगमज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान तथा संयतत्व की युगपत्ता भी अकिंचित्कर है, अर्थात् कुछ भी नहीं कर सकती—

अन्वयार्थ—[पुनः] और [यदि] यदि [यस्य] जिसके [देहादिकेषु] शरीरादि के प्रति [परमाणुप्रमाण वा] परमाणुमात्र स्तोक भी [मूर्च्छा] ममत्व [विद्यते] पाई जाए तो [स] वह [सर्वागमधर अपि] भले ही सर्वागम का धारी हो तो भी [सिद्धि न लभते] सिद्धि को प्राप्त नही होता।

टीका—**सकल आगम के सार को हस्तामलकवत् करने से (हथेली में रखे हुए आंवले के समान स्पष्ट ज्ञान होने से) जो पुरुष भूत-वर्तमान-भावी स्वोचित-पर्यायों के साथ समस्त द्रव्य समूह को जानने वाले आत्मा को जानता है, श्रद्धान करता है और सयमित रखता है, उस पुरुष के आगम ज्ञान-तत्त्वार्थ-श्रद्धान-सयतत्व की युगपत्ता होने पर भी, यदि वह किंचित्मात्र भी मोहमल से (राग द्वेष से) लिप्त होने के कारण शरीरादि के प्रति ममत्वभाव द्वारा मलिन होने से, निर्मल उपयोग मे परिणत करके ज्ञानात्मक आत्मा का अनुभव नहीं करता, तो वह पुरुष मात्र उतने स्तोक मोहमल कलक रूप कीले के साथ बधे हुये कर्मों से छुटकारा न पाता हुआ सिद्ध नही होता। इसलिये आत्मज्ञान शून्य (वीतराग-निर्विकल्पसमाधि रहित) आगमज्ञान-तत्त्वार्थ-श्रद्धान-संयतत्व की युगपत्ता भी अकिंचत्कर ही है ॥२३६॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ सूत्रोक्तात्मज्ञानरहितस्य सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसयतत्वाना यौगपद्यामप्यकिंचित्कर-मित्युपदिशति—

परमाणुपमाणं वा मुच्छा देहादिएसु जस्स पुणो विज्जदि जदि परमाणुमात्र वा मूर्च्छा देहादिषु विषयेषु यस्य पुरुषस्य पुनर्विद्यते यदि चेत् ? **सो सिद्धि ण लहदि** स सिद्धि मुक्ति न लभते। कथभूत ? **सव्वागमधरो** सर्वागमधरोपीति। अयमत्रार्थ—सर्वागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसयतत्वाना यौगपद्ये सति यस्य देहादिविषये स्तोकमपिममत्व विद्यते तस्य पूर्वसूत्रोक्त निर्विकल्पसमाधिलक्षण निश्चयरत्नत्रयात्मक स्वसवेदनज्ञान नास्तीति ॥२३६॥

उत्थानिका—आगे कहते है जो पूर्व सूत्र मे कहे हुए आत्मज्ञान से रहित है उसके एक साथ आगमज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान तथा सयमपना होना भी कुछ कार्यकारी नही है। मोक्ष प्राप्ति मे अकिंचित्कर है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(पुणो) **तथा (जस्स) जिसके (देहादिएसु) शरीर आदिकों से (परमाणुपमाणं वा) परमाणु मात्र अर्थात् अल्प भी (मुच्छा) ममत्वभाव (जदि विज्जदि) यदि है तो (सो) वह साधु (सव्वागमधरो वि) सर्व आगम को जानने वाला होते हुए भी (सिद्धि ण लहदि) मोक्ष को नहीं पा सकता है। सर्व आगमज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान**

तथा संयमीपना एक काल मे होते हुए जिसके शरीरादि पर–द्रव्यों में ममता है उसके पूर्व-सूत्र कथित निर्विकल्पसमाधि रूप निश्चयरत्नत्रयमय स्वसंवेदन का लाभ नहीं है ।।२३८।।

अथ द्रव्यभावसयमस्वरूप कथयति—

चागो य अणारंभो विसयविरागो खओ कसायाण ।
सो सजमोत्ति भणिदो पव्वज्जाए विसेसेण ।।२३९-१।।

चागो य निजशुद्धात्मपरिग्रह कृत्वा बाह्याभ्यन्तरपरिग्रहनिवृत्तिस्त्याग **अणारंभो** नि क्रिय-निजशुद्धात्मद्रव्ये स्थित्वा मनोवचनकायव्यापारनिवृत्तिरनारम्भ **विसयविरागो** निर्विषयस्वात्मभावनो-त्थसुखे तृप्ति कृत्वा पञ्चेन्द्रियसुखाभिलाषत्यागो विषयविराग । **खओ कसायाण** नि कषायशुद्धात्म-भावनाबलेन क्रोधादिकषायत्याग कषायक्षय । **सो सजमोत्ति भणिदो** स एव गुणविशिष्ट सयम इति भणित । **पव्वज्जाए विसेसेण** सामान्येनापि तावदिद सयमलक्षण प्रव्रज्याया तपश्चरणावस्थाया विशेषेणेति । अत्राभ्यन्तरशुद्धा मवित्तिर्भावसयमो बहिरङ्गनिवृतिश्च द्रव्यसयम इति ।।२३९।।

उत्थानिका—आगे द्रव्य तथा भाव सयम का स्वरूप वताते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(चागो य) त्याग और (अणारंभो) आरम्भ रहितपना (विसयविरागो) विषयो से वैराग्य (कसायाणं खओ) कषायों का क्षय (सो संजमोत्ति भणिदो) वह संयम है, ऐसा कहा गया है । (पव्वज्जाए) तप के समय (विसेसेण) यह सयम विशेषता से होता है । निज शुद्धात्मा को ग्रहण करके और बाहरी भीतरी २४ प्रकार के परिग्रह की निवृत्ति सो त्याग है । निःक्रिय निज शुद्ध-आत्म द्रव्य में ठहरकर मन वचन काय के व्यापारो से छूट जाना सो अनारम्भ है । इन्द्रिय विषय रहित अपने आत्मा की भावना से उत्पन्न सुख मे तृप्त होकर पंचेन्द्रियों के सुखों की इच्छा का त्याग सो विषय-विराग है । निःकषाय निज शुद्धात्मा की भावना के बल से क्रोधादि कषायों का त्याग-सो कषाय क्षय है । इन गुणों से संयुक्तपना सयम है, ऐसा कहा गया है । यह सामान्य सयम का लक्षण है । तपश्चरण की अवस्था मे विशेष संयम होता है । यहाँ अभ्यंतर परिणामो की शुद्धि को भावसंयम तथा बाह्य त्याग को द्रव्यसयम कहते हैं ।**

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यं साधयति—

पंचसमिदो तिगुत्तो पंचेंदियसंवुडो[1] [2]जिदकसाओ ।
दंसणणाणसमग्गो समणो सो सजदो भणिदो ।।२४०।।

पञ्चसमितस्त्रिगुप्त पचेन्द्रियसवृतो जितकषाय ।
दर्शनज्ञानसमग्र श्रमण स सयतो भणित ।।२४०।।

---

१. पचेदियसउडो (ज० वृ०), २ जियकसाओ (ज० वृ०) ।

यः खल्वनेकान्तकेतनागमज्ञानबलेन सकलपदार्थज्ञेयाकारकरम्बितविशदैकज्ञानाकार-मात्मानं श्रद्दधानोऽनुभवंश्चात्मन्येव नित्यनिश्चलां वृत्तिमिच्छन् समितिपञ्चकाङ्कुशितप्रवृत्तिप्रवर्तितसंयमसाधनीकृतशरीरपात्रः क्रमेण निश्चलनिरुद्धपञ्चेन्द्रियद्वारतया समुपरतकायवाङ्मनोव्यापारो भूत्वा चिद्वृत्तेः परद्रव्यचङ्क्रमणनिमित्तमत्यन्तमात्मना सममन्योन्यसंवलनादेकीभूतमपि स्वभावभेदात्परत्वेन निश्चित्यात्मनैव कुशलो मल्ल इव सुनिर्भरं निष्पीड्य निष्पीड्य कषायचक्रमक्रमेण जीवं त्याजयति, स खलु सकलपरद्रव्यशून्योऽपि विशुद्धदृशिज्ञप्तिमात्रस्वभावभूतावस्थापितात्मतत्त्वोपजातनित्यनिश्चलवृत्तितया साक्षात्संयत एव स्यात् । तस्यैव चागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यं सिद्ध्यति ।

भूमिका—अब आगमज्ञान-तत्वार्थश्रद्धान संयतत्व की युगपत्ता के साथ आत्मज्ञान की युगपत्ता को सिद्ध करते हैं, अर्थात् आगमज्ञान, तत्वार्थश्रद्धान, और संयतत्व इस त्रिक (तीनों) के साथ आत्मज्ञान के युगपतत्व को सिद्ध करते हैं—

अन्वयार्थ—[पचसमित] पाच समिति युक्त, [पचेन्द्रियसवृत] पाच इन्द्रियो का सवर वाला [त्रिगुप्त] तीन गुप्ति सहित, [जितकषाय] कषायो को जीतने वाला, [दर्शन ज्ञानसमग्र] दर्शनज्ञान से परिपूर्ण [श्रमण] जो श्रमण [स] वह [संयत] संयत [भणितः] कहा गया है ।

टीका—जो पुरुष अनेकान्त से चिह्नित आगमज्ञान के बल, से सकल पदार्थों के ज्ञेयाकारों के साथ मिलित तथा विशद एक ज्ञान जिसका आकार है ऐसे आत्मा का श्रद्धान और अनुभव करता हुआ आत्मा में ही नित्य निश्चलवृत्ति को इच्छता हुआ, सयम के सघन रूप बनाये हुये शरीरपात्र पांच समितियो से अकुशित प्रवृत्ति द्वारा प्रवर्तित शरीर को संयम का साधन बनाता हुआ, फिर निश्चल पचेन्द्रियों के द्वारा—रुक जाने से काय, वचन, मन का व्यापार विराम को प्राप्त हुआ है, ऐसा होकर, चिद्वृत्ति के लिये परद्रव्य मे भ्रमण का निमित्त जो कषाय समूह वह आत्मा के साथ अन्योन्य मिलन के कारण अत्यन्त एकरूप हो जाने पर भी स्वभाव भेद के कारण उसे पररूप से निश्चित करके कुशल मल्ल की भाति आत्मा से ही अत्यन्त मर्दन कर करके अक्रम से उसे मार डालता है, वह पुरुष वास्तव मे, सकल परद्रव्य से शून्य होने पर भी विशुद्ध दर्शन ज्ञानमात्र स्वभाव रूप से अवस्थित आत्मतत्व से उत्पन्न नित्य निश्चल परिणति उस परिणति के द्वारा साक्षात् संयत ही है । और उसे ही आगमज्ञान—तत्वार्थश्रद्धान संयतत्व की युगपत्ता के साथ आत्मज्ञान की युगपत्ता सिद्ध होती है ।।२४०।।

तात्पर्यवृत्ति

अथागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसयतत्वाना त्रयाणा यत्सविकल्प यौगपद्य तथा निर्विकल्पात्मज्ञान चेति द्वयो सम्भव दर्शयति—

पंचसमिदो व्यवहारेण पञ्चसमितिभि समित सवृत पचसमित निश्चयेन तु स्वस्वरूपे सम्यगितो गत परिणत· समित· **तिगुत्तो** व्यवहारेण मनोवचनकायनिरोधत्रयेण गुप्त· त्रिगुप्त निश्चयेन स्वरूपे गुप्त परिणत **पचेंदियसउडो** व्यवहारेण पचेन्द्रियविषयव्यावृत्त्या सवृत पंचेन्द्रिय-सवृत निश्चयेन वातीन्द्रियसुखस्वादरत **जियकसाओ** व्यवहारेण क्रोधादिकषायजयेन जितकषाय. निश्चयेन चाकषायात्मभावनारत· **दंसणणाणसमग्गो** अत्र दर्शनशब्देन निजशुद्धात्मश्रद्धानरूप सम्यग्-दर्शन ग्राह्यम् । ज्ञानशब्देन तु स्वसवेदनज्ञानमिति ताभ्या समग्रो दर्शनज्ञानसमग्र **समणो सो संजदो भणिदो** स एव गुणविशिष्ट श्रमण सयत इति भणित । अत एतदायात व्यवहारेण यद्बहिर्विषये व्याख्यान कृत तेन सविकल्प सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रय यौगपद्य ग्राह्यम् । अभ्यन्तरव्याख्यानेन तु निर्विकल्पात्मज्ञान ग्राह्यमिति सविकल्पयौगपद्य निर्विकल्पात्मज्ञान च घटत इति ॥२४०॥

उत्थानिका—आगे आगम का ज्ञान, तत्वार्थ–श्रद्धान, सयमपना इन तीनो की भेद रूप से एक काल मे प्राप्ति तथा निर्विकल्प आत्मज्ञान इन दोनो का सभवपना दिखलाते है अर्थात् इन सविकल्प और अविकल्प भाव के धारी का स्वरूप बताते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(पंचसमिदो) जो पांच समितियों का धारी है, (तिगुत्तो) तीन गुप्ति मे लीन है, (पंचेंदियसउडो) पांच इन्द्रियों का विजयी है, (जियकसाओ) कषायों को जीतने वाला है (दसणणाण समग्गो) सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से पूर्ण है (सो समणो) वह साधु (सजदो) सयमी (भणिदो) कहा गया है। जो व्यवहारनय से पांच समितियों से युक्त है, निश्चयनय से अपने आत्मा के स्वरूप में भले प्रकार परिणमन कर रहा है। जो व्यवहारनय से मन वचन काय को रोक करके त्रिगुप्त है, निश्चयनय से अपने स्वरूप में लीन है। जो व्यवहार करके स्पर्शनादि पाँचों इन्द्रियों के विषयों से हट करके संवृत्त है, निश्चय से अतींद्रियसुख के स्वाद मे रत है। जो व्यवहार करके क्रोधादि कषायों को जीत लेने से जितकषाय है। निश्चयनय से अकषाय आत्मा की भावना में रत है। जो अपने शुद्धात्मा का श्रद्धान सो सम्यग्दर्शन तथा स्वसंवेदनज्ञान इन दोनों से युक्त है गुणों का धारी वही साधु संयमी है, ऐसा कहा गया है। इससे यह सिद्ध किया गया है कि व्यवहार मे जो बाहरी पदार्थों के सम्बन्ध मे व्याख्यान किया गया उससे सविकल्प सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनों को एक साथ होना चाहिये, भीतरी आत्मा की अपेक्षा व्याख्यान से निर्विकल्प आत्मज्ञान लेना चाहिये। सविकल्प दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनों की युगपत्ता तथा निर्विकल्प आत्मज्ञान घटित होते हैं ॥२४०॥**

अथास्य सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यसंयतस्य कीदृग्लक्षणमित्यनुशास्ति—

समसत्तुबंधुवग्गो समसुहदुक्खो पसंसणिदसमो ।
समलोट्ठकचणो पुण जीविदमरणे समो समणो ॥२४१॥

समशत्रुबन्धुवर्ग समसुखदु ख प्रशसानिन्दासम ।
समलोष्ठकाञ्चन पुनर्जीवितमरणे सम श्रमण ॥२४१॥

सयमः सम्यग्दर्शनज्ञानपुरःसर चारित्रं, चारित्र धर्मः, धर्मः साम्य, साम्य मोहक्षोभविहीनः आत्मपरिणामः । ततः संयतस्य साम्य लक्षणम् । तत्र शत्रुबन्धुवर्गयो. सुखदु -खयोः प्रशसानिन्दयोः लोष्ठकाञ्चनयोर्जीवितमरणयोश्च सम अयं मम परोऽय स्वः, अयमाह्लादोऽयं परितापः, इदं ममोत्कर्षणमिदमपकर्षणमयं ममाकिञ्चित्कर इदमुपकारकमिद ममात्मधारणमयमत्यन्तविनाश इति मोहाभावात् सर्वत्राप्यनुदितरागद्वेषद्वतस्य सततमपि विशुद्धदृष्टिज्ञप्तिस्वभावमात्मानमनुभवतः शत्रुबन्धुसुखदुःखप्रशंसानिन्दालोष्ठकाञ्चनजीवितमरणानि निर्विशेषमेव ज्ञेयत्वेनाक्रम्य ज्ञानात्मन्यात्मन्यचलितवृत्तेर्यत्किल सर्वत साम्यं तत्सिद्धागमज्ञानतत्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यस्य सयतस्य लक्षणमालक्षणीयम् ॥२४१॥

भूमिका—अब, आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-सयतत्व की युगपत्ता के साथ आत्मज्ञान की युगपत्ता जिसे सिद्ध हुई है ऐसे इस संयत का क्या लक्षण है सो कहते है—

अन्वयार्थ—[समशत्रुबन्धुवग] जिसे शत्रु और बन्धु वर्ग समान है, [समसुखदु ख.] सुख दुख समान है, [प्रशसानिन्दासम] प्रशसा और निन्दा के प्रति जिसको समता है, [समलोष्ठकाञ्चन] जिसे लोष्ठ और सुवर्ण समान है, [पुन] तथा [जीवितमरणे सम] जीवन-मरण के प्रति जिसको समता है, वह [श्रमण] श्रमण है ।

टीका—**संयम सम्यग्दर्शनज्ञानपूर्वक चारित्र है, चारित्र धर्म है, धर्म साम्य है, साम्य मोहक्षोभ रहित आत्मपरिणाम है । इसलिये संयत का साम्य लक्षण है**[१] ।

वहां, (१) शत्रु बन्धु वर्ग मे, (२) सुख-दु.ख में, (३) प्रशंसा-निन्दा मे, (४) ककड़ और सोने में, (५) जीवन-मरण में, एक ही साथ, (१) 'यह मेरा पर (शत्रु) है, यह स्व (स्वजन) है', (२) 'यह आह्लाद है यह परिताप है', (३) 'यह मेरा उत्कर्षण—बढवारी यह अपकर्षण-घटती है', (४) 'यह मुझे अकिंचित्कर है, यह उपकारक है', (५) 'यह मेरा स्थायित्व है, यह अत्यन्त विनाश है', इस प्रकार मोह के अभाव के कारण सर्वत्र जिसके

१ दृष्टव्य—पवयणसारो गाथा ७ ।

रागद्वेष का द्वैत प्रगट नहीं होता, जो सतत विशुद्ध दर्शन ज्ञान स्वभाव आत्मा का अनुभव करता है और (इस प्रकार) शत्रु-बंधु, प्रशंसा-निन्दा, लोष्ठकांचन और जीवन-मरण को, निर्विशेषतया ही (बिना अन्तर के) ज्ञेयरूप से जानकर ज्ञानात्मक आत्मा में जिसकी परिणति अचलित हुई है, उस पुरुष को वास्तव में जो सर्वतः साम्य है सो साम्य संयत का लक्षण समझना चाहिये उस संयत के आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान-संयतत्व की युगपत्ता के साथ आत्मज्ञान की युगपत्ता है ।।२४१।।

तात्पर्यवृत्ति

अथागमज्ञानतत्वार्थश्रद्धानसयतत्वलक्षणेन विकल्पत्रययौगपद्येन तथा निर्विकल्पात्मज्ञानेन च युक्तो योऽसौ सयतस्तस्य किं लक्षणमित्युपदिशति । इत्युपदिशति कोऽर्थ इति पृष्टे प्रत्युत्तर ददाति । एव प्रश्नोत्तरपातनिकाप्रस्तावे क्वापि क्वापि यथासभवमिति शब्दस्यार्थो ज्ञातव्य —

स **समणो** श्रमण सयतस्तपोधनो भवति । य कि विशिष्ट ? **समसत्तुबधुवग्गोसमसुहदुक्खो-पससणिदसमो समलोट्ठकचणो पुण जीविदमरणे** शत्रुबन्धुसुखदु खनिन्दाप्रशसालोष्ठकाचनजीवितमरणेषु **समो** सम समचित्त इति । तत एतदायाति । शत्रुबन्धुसुखदु खनिन्दाप्रशसालोष्ठकाचनजीवितमरणसनताभावनापरिणतनिजशुद्धात्मतत्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपनिर्विकल्पसमाधिसमुत्पन्ननिर्वि-कारपरमाल्हादैकलक्षणसुखामृतपरिणतिस्वरूप यत्परमसाम्य तदेवपरमागमज्ञानतत्वार्थश्रद्धानसयतत्वाना यौगपद्येन तदा निर्विकल्पात्मज्ञानेन च परिणततपोधनस्य लक्षण ज्ञातव्यमिति ।।२४१।।

उत्थानिका—आगे आगम का ज्ञान, तत्त्वार्थ श्रद्धान, सयमोपना इन तोन विकल्परूप लक्षण से एक साथ युक्त तथा निर्विकल्प आत्मज्ञान से युक्त जो कोई सयमी होता है उसका क्या लक्षण है, ऐसा उपदेश करते है । यहाँ "इति उपदेश करते है" इसका यह भाव लेना कि शिष्य के प्रश्न का उत्तर देते है । इस तरह प्रश्नोत्तर को दिखाने के लिये कही कही यथासम्भव इति शब्द का अर्थ लेना योग्य है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(समसत्तुबंधुवग्गो) जो शत्रु व मित्र समुदाय मे समान बुद्धि का धारी है, (समसुहदुक्खो) जो सुख दुःख में समानभाव रखता है, (पसंसणिंदसमो) जो अपनी प्रशंसा व निन्दा मे समताभाव रखता है, (समलोट्ठकंचणो) जो कंकण और सुवर्ण को समान समझता है, (पुण) तथा (जोविदमरणे समो) जो जीवन तथा मरण को एकसा जानता है, वही (समणो) श्रमण या साधु है । शत्रु बंधु, सुख दुःख, निन्दा प्रशसा, लोष्ठ कंचन तथा जीवन मरण में समता की भावना में परिणमन करते हुए अपने ही शुद्धात्मा का सम्यक्श्रद्धान्, ज्ञान तथा आचरणरूप जो निर्विकल्पसमाधि उससे उत्पन्न निर्विकार परम आल्हादरूप एक लक्षणधारी सुखरूपी अमृत में परिणमण स्वरूप जो परम समताभाव है, सो ही उस तपस्वी का लक्षण है जो परमागम का ज्ञान, तत्त्वार्थ का श्रद्धान**

संयमपना इन तीनों को एक साथ रखता हुआ निर्विकल्प आत्मज्ञान में परिणमन कर रहा है ऐसा जानना चाहिये।

भावार्थ—वास्तव में सुख दुःख मानने, अच्छा बुरा समझने, मान अपमान गिनने के जितने भाव हैं वे सब रागद्वेष की पर्यायें हैं—कषाय के ही विकार हैं। परम तत्वज्ञानी साधु ने कषायों को त्याग करके वीतरागभाव पर चलना शुरु किया है इसलिये उनके कषायभाव नहीं होते। वे बाहरी अच्छी बुरी दशा मे समताभाव रखते हुए उसे पुण्य पाप का नाटक जानते हुए अपने निष्कषाय भाव से हटते नहीं। ऐसे साधु आत्मानुभवरूपी समताभाव में लवलीन पाप का नाटक जानते रहते हैं इसी से बाहरी चेष्टाओ से अपने परिणामों में कोई असर नहीं पैदा करते। साधुओं को मुक्ति द्वीप मे जन्मना ही सच्चा जन्म भासता है। शरीरों का बदलना वस्त्रों के बदलने के समान दिखता है, जो भावलिंगी साधु हैं, उनके ये ही लक्षण हैं।

सो ही मोक्षपाहुड में कहा है—

जो देहे णिरवेक्खो णिद्दंदो णिम्ममो णिरारंभो। आदसहावे सुरओ जोई सो लहइ णिव्वाण ॥१२॥

जो शरीर की ममता रहित है, रागद्वेष से शून्य है, यह मेरा है इस बुद्धि को जिसने त्याग दिया है व जो लौकिक व्यापार से रहित है तथा आत्मा के स्वभाव मे रत है वही योगी निर्वाण को पाता है।

अथैवमेव सिद्धागमज्ञानतत्त्वार्थश्रद्धानसंयतत्वयौगपद्यात्मज्ञानयौगपद्यसंयतत्वमैकाग्र्यलक्षणश्रामण्यापरनाम मोक्षमार्गत्वेन समर्थयति—

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु।
एयग्गगदो त्ति मदो सामण्णं तस्स पडिपुण्णं ॥२४२॥

दर्शनज्ञानचरित्रेषु त्रिषु युगपत्समुत्थितो यस्तु।
ऐकाग्रगत इति मत श्रामण्य तस्य परिपूर्णम् ॥२४२॥

ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथाप्रतीतिलक्षणेन सम्यग्दर्शनपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृतत्त्वतथानुभूतिलक्षणेन ज्ञानपर्यायेण ज्ञेयज्ञातृक्रियान्तरनिवृत्तिसूत्र्यमाणद्रष्टृज्ञातृतत्त्ववृत्तिलक्षणेन चारित्रपर्यायेण, च त्रिभिरपि यौगपद्येन भाव्यभावकभावविजृम्भितातिनिर्भरेतरेतरसंवलनबलादङ्गाङ्गिभावेन परिणतस्यात्मनो यदात्मनिष्ठत्वे सति संयतत्वं तत्पानकवदनेकात्मकस्यैकस्यानुभूयमानतायामपि समस्तपरद्रव्यपरावर्तत्वादभिव्यक्तैकाग्र्यलक्षणश्रामण्यापरनामा मोक्षमार्ग एवावगन्तव्यः। तस्य तु सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग इति भेदात्मकत्वात्पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेनैकाग्र्यं मोक्षमार्ग इत्यभेदात्मकत्वाद्द्रव्यप्रधानेन निश्चयनयेन विश्वस्यापि भेदाभेदात्मकत्वात्तदुभयमिति प्रमाणेन प्रज्ञप्तिः ॥२४२॥

इत्येवं प्रतिपत्तुराशयवशादेकोऽप्यनेकीभवं स्त्रैलक्षण्यमथैकतामुपगतो मार्गोऽपवर्गस्य य ।
द्रष्टृज्ञातृनिबद्धवृत्तिमचलं लोकस्तमास्कन्दता-मास्कन्दत्यचिराद्विकाशमतुलं येनोल्लसन्त्याश्चितेः ।।

भूमिका—अब, यह समर्थन करते हैं कि आगमज्ञान-तत्त्वार्थश्रद्धान की युगपत्ता के साथ आत्मज्ञान की युगपत्ता की सिद्धिरूप जो यह संयतता है वही मोक्षमार्ग है, जिसका अपर नाम एकाग्रतालक्षणवाला श्रामण्य है—

अन्वयार्थ—[यः तु] जो [दर्शनज्ञानचरित्रेषु] दर्शन, ज्ञान और चारित्र [त्रिषु] इन तीनो मे [युगपत्] एक ही साथ [समुत्थितः] ठहरा हुआ है, वह [एकाग्रगतः] एकाग्रता को प्राप्त है [इति] इस प्रकार [मत] (शास्त्र मे) कहा गया है। [तस्य] उसके [श्रामण्य] श्रामण्य [परिपूर्णम्] परिपूर्ण है।

टीका—ज्ञेयतत्त्व और ज्ञातृतत्त्व की (ज्ञान की) यथार्थ प्रतीति जिसका लक्षण है वह सम्यग्दर्शन पर्याय है, ज्ञेयतत्व और ज्ञातृतत्व की तथा प्रकार अनुभूति जिसका लक्षण है वह ज्ञानपर्याय है, ज्ञेय और ज्ञाता की अन्य क्रिया से निवृत्ति के द्वारा रचित दृष्टि ज्ञातृतत्व मे परिणति जिसका लक्षण है वह चारित्र पर्याय है। इन पर्यायों के और आत्मा के भाव्य-भावकर्त्ता के द्वारा उत्पन्न अति गाढ इतरेतर मिलन के बल के कारण इन तीनों पर्यायरूप युगपत् अंग अंगी भाव से परिणत आत्मा के, आत्मनिष्ठता होने पर जो संयतत्व होता है वह संयतता, एकाग्रतालक्षणवाला श्रामण्य जिसका दूसरा नाम है ऐसा मोक्षमार्ग ही है–ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि वहां सयतत्व में, पेय से समान अनेकात्मक एक का अनुभव होने पर भी, समस्त परद्रव्य से निवृत्ति होने से एकाग्रता प्रगट है। वह (संयतत्व-रूप अथवा श्रामण्यरूप मोक्षमार्ग) भेदात्मक है, इसलिये 'सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्र मोक्ष-मार्ग है, इस प्रकार पर्यायप्रधान व्यवहारनय से उसका प्रज्ञापन है, वह इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है, यह अभेदात्मक होने के कारण द्रव्यप्रधान निश्चयनय से प्रज्ञापन है, समस्त ही पदार्थ भेदाभेदात्मक है, इसलिये वे दोनों (सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तथा तीनों की एकता) मोक्षमार्ग है इस प्रकार प्रमाण से उसका प्रज्ञापन है ।।२४२।।

[अब काव्य द्वारा मोक्षप्राप्ति के लिये द्रष्टा-ज्ञाता में लीनता करने को कहा जाता है।]

अर्थ—इस प्रकार, प्रतिपादक के आशय के वश, एक होने पर भी अनेक होता हुआ तथा त्रिलक्षणता को प्राप्त जो अपवर्ग (मोक्ष) का मार्ग है उसको, लोक द्रष्टा ज्ञाता मे परिणति बाँधकर, अचलरूप से अवलम्बन करे जिससे वह लोक उल्लसित चेतना के अतुल विकास को अल्पकाल में प्राप्त करता है।

तात्पर्यवृत्ति

अथ यदेव संयततपोधनस्य साम्यलक्षणं भणितं तदेव श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गो भण्यत इति प्ररूपयति,—

दंसणणाणचरित्तेसु तीसु जुगवं समुट्ठिदो जो दु दर्शनज्ञानचारित्रेषु त्रिषु युगपत्सम्यगुपस्थित उद्यतो यस्तु कर्ता **एयग्गगदोत्ति मदो** स ऐकाग्र्यगत इति मतः सम्मतः **सामण्णं तस्स पडिपुण्णं** श्रामण्यं चारित्रं यतित्वं तस्य परिपूर्णमिति । तथाहि—भावकर्मद्रव्यकर्मनोकर्मभ्यः शेषपुद्गलादिपंचद्रव्येभ्योऽपि भिन्नं सहजशुद्धनित्यानन्दैकस्वभावं ममसम्बन्धि यदात्मद्रव्यं तदेव ममोपादेयमितिरुचिरूपं 'सम्यग्दर्शनम्' तत्रैव परिच्छित्तिरूपं सम्यग्ज्ञानं तस्मिन्नेव स्वरूपे निश्चलानुभूतिलक्षणं चारित्रं चेत्युक्तस्वरूपं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रत्रयं पानकवदनेकमप्यभेदनयेनैकं यत् तत्सविकल्पावस्थायां व्यवहारेणैकाग्र्यं भण्यते । निर्विकल्पसमाधिकाले तु निश्चयेनेति तदेव च नामान्तरेण परमसाम्यमिति तदेव परमसाम्यं पर्यायनामान्तरेण शुद्धोपयोगलक्षणं श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गो ज्ञातव्य इति । तस्य तु मोक्षमार्गस्य सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गं इति भेदात्मकत्वात्पर्यायप्रधानेन व्यवहारनयेन निर्णयो भवति । ऐकाग्र्यं मोक्षमार्गं इत्यभेदात्मकत्वात् द्रव्यप्रधानेन निश्चयनयेन निर्णयो भवति । समस्तवस्तुसमूहस्यापि भेदाभेदात्मकत्वान्निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गद्वयस्यापि प्रमाणेन निश्चयो भवतीत्यर्थः ॥२४२॥

एवं निश्चयव्यवहारसंयमप्रतिपादनमुख्यत्वेन तृतीयस्थले गाथाचतुष्टयं गतम् ।

उत्थानिका—आगे कहते हैं जो यहां संयमी तपस्वी का साम्यभाव लक्षण बताया है वही साधुपना है तथा वही मोक्षमार्ग कहा जाता है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो दु) जो कोई (दंसणणाणचरित्तेसु तीसु) इन सम्यग्दर्शन ज्ञान और चारित्र तीनों में (जुगवं समुट्ठिदो) एक साथ भले प्रकार तिष्ठता है (एयग्गगदोत्ति मदो) वही एकाग्रता को प्राप्त है अर्थात् ध्यान-मग्न है, ऐसा माना गया है (तस्स परिपुण्णं सामण्णं) उसी के यतिपना अथवा चारित्र परिपूर्ण है । जो भाव-कर्म रागादि, द्रव्यकर्म ज्ञानावरणादि, नोकर्म शरीरादि इनसे भिन्न है तथा अपने सिवाय शेष जीव तथा पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल इन सब द्रव्यों से भी भिन्न है, और जो स्वभाव ही से शुद्ध, नित्य, आनन्दमयी एक स्वभाव रूप है, 'वही मेरा आत्म द्रव्य है, वही मुझे ग्रहण करना चाहिये' ऐसी रुचि होना सो सम्यग्दर्शन है, उसी निज स्वरूप की यथार्थ पहचान होना सो सम्यग्ज्ञान है तथा उसी ही आत्मस्वरूप में निश्चल अनुभूति सो सम्यक्चारित्र है । जैसे शर्बत अनेक पदार्थों से बना है इसलिये अनेक रूप है, परन्तु अभेद करके एक शर्बत है । ऐसे ही विकल्प सहित अवस्था में व्यवहारनय से उक्त स्वरूप वाले सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र ये तीन हैं, परन्तु विकल्परहित समाधि के काल में निश्चयनय से इनको एकाग्र कहते हैं । यह जो स्वरूप में एकाग्रता है या तन्मयता है इसी को दूसरे नाम से परमसाम्य कहते हैं । इसी साम्य का अन्य पर्याय नाम शुद्धोपयोग**

लक्षण श्रमणपना है या दूसरा नाम मोक्षमार्ग है, ऐसा जानना चाहिये। इसी मोक्षमार्ग का जब भेदरूप पर्याय की प्रधानता से अर्थात् व्यवहारनय से निर्णय करते हैं तब यह कहते हैं कि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्ररूप मोक्षमार्ग है। जब अभेदपने से द्रव्य की मुख्यता से या निश्चयनय से निर्णय करते हैं तब कहते हैं कि एकाग्रता मोक्षमार्ग है। सब ही पदार्थ इस जगत मे भेद और अभेद स्वरूप हैं। इसी तरह मोक्षमार्ग भी निश्चय-व्यवहार रूप से दो प्रकार है, इन दोनों का एक साथ निर्णय प्रमाण ज्ञान से होता है, यह भाव है ॥२४२॥]

इस तरह निश्चय और व्यवहार संयम के कहने की मुख्यता से तीसरे स्थल में चार गाथाएँ पूर्ण हुई।

अथानैकाग्र्यस्य मोक्षमार्गत्वं विघटयति—

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज।
जदि समणो अण्णाणी बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं ॥२४३॥

मुह्यति वा रज्यति वा द्वेष्टि वा द्रव्यमन्यदासाद्य।
यदि श्रमणोऽज्ञानी बध्यते कर्मभिर्विविधैः ॥२४३॥

यो हि न खलु ज्ञानात्मानमात्मानमेकमग्रं भावयति सोऽवश्य ज्ञेयभूतं द्रव्यमन्यदासीदति। तदासाद्य च ज्ञानात्मात्मज्ञानाद्भ्रष्ट स्वयमज्ञानी भूतो मुह्यति वा रज्यति वा द्वेष्टि वा तथाभूतश्च बध्यते एव न तु विमुच्यते अत अनैकाग्र्यस्य न मोक्षमार्गत्व सिद्धयेत् ॥२४३॥

भूमिका—अब यह दिखाते है कि अनेकाग्रता के मोक्षमार्गत्व घटित नहीं होता (अर्थात् अनेकाग्रता मोक्षमार्ग नहीं है)—

अन्वयार्थ—[यदि] यदि [श्रमण] श्रमण, [अन्यत् द्रव्यम् आसाद्य] अन्यद्रव्य का आश्रय करके [अज्ञानी] अज्ञानी होता हुआ, [मुह्यति वा] मोह करता है, [रज्यति वा] राग करता है, [द्वेष्टि वा] अथवा द्वेष करता है, तो वह [विविधैः कर्मभि.] विविध कर्मों से [बध्यते] बधता है।

टीका—जो वास्तव मे ज्ञानात्मक आत्मारूप एक अग्र (विषय) को नहीं भाता (वीतरागनिर्विकल्पसमाधि में लीन नहीं होता) वह अवश्य ज्ञेयभूत अन्य द्रव्य का आश्रय करता है, और उसका आश्रय करके, ज्ञानात्मा उसी आत्मज्ञान से भ्रष्ट (वीतरागनिर्विकल्पसमाधि से रहित) स्वयं अज्ञानी होता हुआ मोह करता है, राग करता है, अथवा द्वेष करता है, और ऐसा (मोही रागी अथवा द्वेषी) होता हुआ बन्ध को ही प्राप्त होता है इससे अनेकाग्रता को मोक्षमार्गत्व सिद्ध नहीं होता ॥२४३॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ य स्वशुद्धात्मन्येकाग्रो न भवति तस्य मोक्षाभाव दर्शयति,—

मुज्झदि वा रज्जदि वा दुस्सदि वा दव्वमण्णमासेज्ज जदि मुह्यति वा रज्यति वा द्वेष्टि वा यदि चेत् ? किं कृत्वा ? द्रव्यमन्यदासाद्य प्राप्य। स क ? **समणो** श्रमणस्तपोधन । तदा काले **अण्णाणी** अज्ञानी भवति। अज्ञानी सन् **बज्झदि कम्मेहिं विविहेहिं** बध्यते कर्मभिर्विविधैरिति। तथाहि—यो निर्विकारस्वसवेदनज्ञानेनैकाग्रो भूत्वा स्वात्मान न जानाति तस्य चित्त बहिर्विषयेषु गच्छति। ततश्चिदानन्दैकनिजस्वभावाच्च्युतो भवति। ततश्च रागद्वेषमोहै परिणमति तत्परिणमन् बहुविधकर्मणा बध्यत इति। तत कारणान्मोक्षार्थिभिरेकाग्रत्वेन स्वस्वरूप भावनीयमित्यर्थ ॥२४३॥

उत्थानिका—आगे कहते है जो शुद्ध आत्मा मे एकाग्र नही होता है उसके मोक्ष नही हो सकता है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि) यदि (समणो) कोई साधु (अण्णं दव्वं आसेज्ज) अपने से अन्य किसी द्रव्य को ग्रहण कर (मुज्झदि वा) उसमे मोहित हो जाता है (रज्जदि वा) अथवा उसमें रागी होता है (दुस्सदि वा) अथवा उसमे द्वेष करता है (अण्णाणी) तो वह साधु अज्ञानी है, इसलिये (विविहेहिं कम्मेहिं) नाना प्रकार कर्मों से (बज्झदि) बधता है। जो निर्विकार स्वसवेदन ज्ञान से एकाग्र होकर अपने आत्मा को नहीं अनुभव करता है उसका चित्त बाहर के पदार्थों मे जाता है, तब चिदानन्दमयी एक अपने आत्मा के निज स्वभाव से च्युत हो जाता है फिर रागद्वेष मोह भावों से परिणमन करता हुआ नाना प्रकार कर्मों को बांधता है। इस कारण मोक्षार्थी पुरुषों को चाहिये कि एकाग्रता के द्वारा अपने आत्मस्वरूप की भावना करे। *यह तात्पर्य है* ॥२४३॥**

अथैकाग्र्यस्य मोक्ष मार्गत्वमवधारयन्नुपसहरति—

अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि।
समणो जदि सो णियदं खवेदि कम्माणि विविहाणि ॥२४४॥

अर्थेषु यो न मुह्यति न हि रज्यति नैव द्वेषमुपयाति।
श्रमणो यदि स नियत क्षपयति कर्माणि विविधानि ॥२४४॥

यस्तु ज्ञानात्मानमात्मानमेकमग्रं भावयति स न ज्ञेयभूतं द्रव्यमन्यदासीदति। तद-नासाद्य च ज्ञानात्मात्मज्ञानादभ्रष्टः स्वयमेव ज्ञानीभूतस्तिष्ठन्न मुह्यति, न रज्यति, न द्वेष्टि; तथाभूतः सन् मुच्यत एव, न तु बध्यते। अत ऐकाग्र्यस्यैव मोक्षमार्गत्व सिद्धयेत् ॥२४४॥

इति मोक्षमार्गप्रज्ञापनम् ॥

भूमिका—**अब, एकाग्रता मोक्षमार्ग है यह** (आचार्य महाराज) **निश्चित करते हुये (मोक्षमार्ग-प्रज्ञापनका) उपसंहार करते हैं—**

अन्वयार्थ—[यदि य. श्रमणः] यदि जो श्रमण [अर्थेषु] पदार्थों मे [न मुह्यति] मोह नही करता, [न हि रज्यति] राग नही करता, [न एव द्वेषम् उपयाति] और न द्वेष को प्राप्त होता है [स] तो वह [नियत] नियम से [विविधानि कर्माणि] विविध कर्मों को [क्षपयति] खपाता है ।

टीका—**जो ज्ञानात्मक आत्मारूप एक अग्र (विषय) को भाता है (वीतराग-निर्विकल्पसमाधि में स्थित है) वह ज्ञेयभूत अन्य द्रव्य का आश्रय नहीं करता, और उसका आश्रय नहीं करता वह ज्ञानात्मा (ज्ञानी) आत्मज्ञान से अभ्रष्ट स्वयमेव ज्ञानी रहता हुआ मोह नहीं करता, राग नहीं करता, द्वेष नहीं करता, और ऐसा वर्तता हुआ (वह) मुक्त ही होता है, परन्तु बधता नहीं है । इससे एकाग्रता को ही मोक्षमार्गत्व सिद्ध होता है ॥२४४॥**

इस प्रकार मोक्षमार्गप्रज्ञापन समाप्त हुआ ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ निजशुद्धात्मनि योऽसावेकाग्रस्तस्यैव मोक्षो भवतीत्युपदिशति,—

अट्ठेसु जो ण मुज्झदि ण हि रज्जदि णेव दोसमुवयादि अर्थेषु बहि पदार्थेषु यो न मुह्यति न रज्यति हि स्फुट नैव द्वेषमुपयाति **जदि** यदि चेत् **सो समणो** स श्रमण **णियद** निश्चित **खवेदि विविहाणि कम्माणि** क्षपयति कर्माणि विविधानि इति । अथ विशेष –योऽसौ दृष्टश्रुतानुभूतभोगाकाक्षा-रूपाद्यपध्यानत्यागेन निजस्वरूप भावयति तस्य चित्त बहि पदार्थेषु न गच्छति ततश्च बहि पदार्थे चिन्ताभावान्निर्विकारचिच्चमत्कारमात्राच्च्युतो न भवति । तदच्यवनेन च रागाद्यभावाद्विविधकर्माणि विनाशयतीति । ततो मोक्षार्थिना निश्चलचित्तेन निजात्मनि भावना कर्त्तव्येति । इत्थ वीतरागचारित्र-व्याख्यान श्रुत्वा केचन वदन्ति–सयोगिकेवलिनामप्येकदेशेन चारित्र, परिपूर्णचारित्र, पुनरयोगिचरम-समये भविष्यति तेन कारणेनेदानीमस्माक सम्यक्त्वभावनया भेदज्ञानभावनया च पूर्यते चारित्र पश्चाद्भविष्यतीति नैव वक्तव्यम् । अभेदनयेन ध्यानमेव चारित्र तच्च ध्यान केवलिनामुपचारेणोक्त चारित्रमप्युपचारेणेति । यत्पुन समस्तरागादिविकल्पजालरहित शुद्धात्मानुभूतिलक्षण सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक वीतरागछद्मस्थचारित्र तदेव कार्यकारीति । कस्मादिति चेत् ? तेनैव केवलज्ञान जात-स्तस्माच्चारित्रे तात्पर्य कर्त्तव्यमिति भावार्थ । किच उत्सर्गव्याख्यानकालेऽपि श्रामण्य व्याख्यातमत्र पुनरपि किमर्थमिति परिहारमाह—तत्र सर्वपरित्यागलक्षण उत्सर्ग एव मुख्यत्वेन च मोक्षमार्ग अत्र तु श्रामण्यव्याख्यानमस्ति पर किन्तु श्रामण्य मोक्षमार्गो भवतीति मुख्यत्वेन विशेषोऽस्ति ॥२४४॥

एव श्रामण्यापरनाममोक्षमार्गोपसहारमुख्यत्वेन चतुर्थस्थले गाथाद्वय गतम् ।

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो अपने शुद्धात्मा मे एकाग्र है उन्ही के मोक्ष होता है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि जो) तथा जो कोई (अट्ठेसु) अपने आत्मा को छोड़कर अन्य बाह्य पदार्थों मे (ण मुज्झदि) मोह नहीं करता है, (ण हि रज्जदि) राग नहीं करता है (णेव दोसमुवयादि) और न द्वेष को प्राप्त होता है (सो समणो) वह साधु (णियदं निश्चय से (विविहाणि कम्माणि खवेदि) नाना प्रकार कर्मों का का क्षय करता है । जो**

कोई देखे, सुने, अनुभवे भोगों की इच्छा आदि अपध्यान के त्याग के द्वारा अपने स्वरूप की भावना करता है उसका मन बाहरी पदार्थों मे नहीं जाता है। तब बाहरी पदार्थों की चिन्ता न होने से विकार रहित चैतन्य के चमत्कार मात्र भाव से च्युत नहीं होता। च्युत न होने से रागद्वेषादि भावों से रहित होता हुआ नाना प्रकार कर्मों का नाश करता है। इसलिये मोक्षार्थी को निश्चल चित्त करके अपने आत्मा की भावना करनी योग्य है।

इस तरह वीतरागचारित्र का व्याख्यान सुनकर कोई कहते है कि सयोगकेवलियों को भी एकदेशचारित्र है, पूर्ण-चारित्र तो अयोग-केवली के अन्तिम समय मे होगा, इस कारण से हमको तो सम्यग्दर्शन की भावना तथा भेदविज्ञान की भावना से ही पूर्ति है। चारित्र पीछे हो जायेगा ? उसका समाधन करते हैं कि ऐसा नहीं कहना चाहिये। अभेद-नय से ध्यान ही चारित्र है। वह ध्यान केवलियो के उपचार से है तथा चारित्र भी उपचार से है। वास्तव मे जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान पूर्वक सर्व रागादि विकल्पजालो से रहित शुद्धात्मानुभव रूपी छद्मस्थ अर्थात् अपूर्ण ज्ञानी को होने वाला वीतरागचारित्र है वही कार्यकारी है, क्योंकि इसी के प्रताप से केवल ज्ञान उत्पन्न होता है इसलिये चारित्र मे सदा यत्न करना चाहिये, यह तात्पर्य है।

यहाँ कोई शका करता है कि उत्सर्ग मार्ग के व्याख्यान के समय मे भी श्रमणपना कहा गया तथा यहाँ भी कहा गया यह क्यो ? इसका समाधान करते है कि वहाँ तो सर्व-पर का त्याग करना इस स्वरूप ही उत्सर्ग की मुख्यता से मोक्षमार्ग कहा गया। यहाँ साधुपने का व्याख्यान है कि साधुपना ही मोक्षमार्ग है इसकी मुख्यता है, ऐसा विशेष है ॥२४४॥

इस तरह श्रमणपना अर्थात् मोक्षमार्ग को सकोच करने की मुख्यता से चौथे स्थल मे दो गाथाएं पूर्ण हुई।

अथ शुभोपयोगप्रज्ञापनम्। तत्र शुभोपयोगिन· श्रमणत्वेनान्वाचिनोति—

समणा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता य होंति[1] समयम्हि।
तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा ॥२४५॥

श्रमणा शुद्धोपयुक्ता शुभोपयुक्ताश्च भवन्ति समये।
तेष्वपि शुद्धोपयुक्ता अनास्रवा सास्रवा शेषा ॥२४५॥

ये खलु श्रामण्यपरिणति प्रतिज्ञायापि जीवितकषायकणतया समस्तपरद्रव्यनिवृ-

(१) सति (ज० वृ०)

त्तिप्रवृत्तसुविशुद्धदृशिज्ञप्तिस्वभावात्मतत्त्ववृत्तिरूपां शुद्धोपयोगभूमिकामधिरोढुं न क्षमन्ते। ते तदुपकण्ठनिविष्टाः कषायकुण्ठीकृतशक्तयो नितान्तमुत्कण्ठुलमनसः श्रमणाः किं भवेयुर्न वेत्यत्राभिधीयते। "धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसंपओगजुदो। पावदि णिव्वाण-सुहं सुहोवजुत्तो व सग्गसुहं" इति स्वयमेव निरूपितत्वादस्ति तावच्छुभोपयोगस्य धर्मेण सहैकार्थसमवायः। ततः शुभोपयोगिनोऽपि धर्मसद्भावाद्भवेयुः श्रमणाः किंतु तेषां शुद्धोप-योगिभिः। समं समकाष्ठत्वं न भवेत् यतः शुद्धोपयोगिनो निरस्तसमस्तकषायत्वादनास्रवा एव। इमे पुनरनवकीर्णकषायकणत्वात्सास्रवा एव अतएव च शुद्धोपयोगिभिः सममभी न समुच्चीयन्ते केवलमन्वाचीयन्त एव ॥२४५॥

भूमिका—**अब, शुभोपयोग का प्रज्ञापन करते हैं। उसमें (प्रथम), शुभोपयोगियों को श्रमण रूप मे गौणतया बतलाते हैं—**

अन्वयार्थ—[समये] शास्त्र मे (ऐसा कहा है कि), [शुद्धोपयुक्ता. श्रमणाः] शुद्धोपयोगी श्रमण है [शुभोपयुक्ता च भवन्ति] शुभोपयोगी भी श्रमण होते है [तेषु अपि] उनमे भी [शुद्धोपयुक्ताः अनास्रवाः] शुद्धोपयोगी निरास्रव है, [शेषाः सास्रवा] शेष सास्रव है, (अर्थात्–शुभोपयोगी आस्रवसहित है)।

टीका—**जो वास्तव मे श्रामण्यपरिणति की प्रतिज्ञा करके भी कषाय-कण के जीवित होने से, समस्त परद्रव्य से निवृत्ति रूप से प्रवर्तमान जो सुविशुद्ध दर्शन-ज्ञान स्वभाव आत्मतत्व मे परिणति रूप शुद्धोपयोग भूमिका उसमे आरोहण करने को असमर्थ हैं, वे (शुभोपयोगी) जीव- जो कि शुद्धोपयोग की भूमिका के निकट निवास कर रहे हैं, और कषाय ने जिनकी शक्ति कुण्ठित की है, तथा जो अत्यन्त उत्कण्ठित मन वाले हैं, वे श्रमण हैं या नहीं, यह यहाँ कहा जा रहा है—**

धम्मेण परिणदप्पा अप्पा जदि सुद्धसपओगजुदो।
पावदि णिव्वाणसुह सुहोवजुत्तो व सग्गसुह ॥६६॥

इस प्रकार कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वय ही निरूपण किया है, इसलिये शुभोपयोग का धर्म के साथ एकार्थसमवाय (अभिन्नता) है। इसलिये शुभोपयोगी भी धर्म का सद्भाव होने से, श्रमण हैं। किन्तु वे शुद्धोपयोगियों के साथ समान कोटि के नहीं है, क्योंकि शुद्धोपयोगी समस्त कषायो को निरस्त करने वाले होने से निरास्रव ही हैं और ये शुभोपयोगी तो कषाय कण के विनष्ट न होने से सास्रव ही है। और ऐसा होने से ही शुद्धोपयोगियों के साथ इन्हे (शुभोपयोगियों को) एकत्रित नहीं किया (वर्णन किया) जाता, मात्र पीछे से (गौण रूप में ही) लिया जाता है।

भावार्थ—परमागम मे ऐसा कहा है कि शुद्धोपयोगी श्रमण हैं और शुभोपयोगी भी गौणतया श्रमण हैं जैसे निश्चय से शुद्ध बुद्ध-एक-स्वभाव वाले सिद्ध ही जीव कहलाते हैं और व्यवहार से चतुर्गति परिणत अशुद्ध जीव भी जीव कहे जाते हैं, उसी प्रकार श्रमणपने में शुद्धोपयोगी जीवों की मुख्यता है और शुभोपयोगी जीवों की गौणता है, क्योंकि शुद्धोपयोगी निज शुद्धात्म भावना के बल से समस्त शुभाशुभ सकल्प-विकल्पों से रहित होने से निरास्रव ही हैं, और शुभोपयोगियो के मिथ्यात्व विषय कषाय रूप अशुभास्रव का निरोध होने पर भी वे पुण्यास्रवयुक्त हैं।

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुभोपयोगिना सास्रवत्वाद्व्यवहारेण श्रमणत्व व्यवस्थापयति,—

सति विद्यन्ते। क्व ? **समयम्हि** समये परमागमे। के सन्ति ? **समणा** श्रमणास्तपोधना। किंविशिष्टा ? **सुद्धुवजुत्ता** शुद्धोपयोगयुक्ता शुद्धोपयोगिन इत्यर्थ **सुहोवजुत्ता य** न केवल शुद्धोपयोगयुक्ता शुभोपयोगयुक्ताश्च। चकारोत्र अन्वयार्थे गौणार्थे ग्राह्य। तत्र दृष्टान्त। यथा निश्चयेन शुद्धबुद्धैकस्वभावा सिद्धजीवा एव जीवा भण्यन्ते व्यवहारेण चतुर्गतिपरिणता अशुद्धजीवाश्च जीवा इति तथा शुद्धोपयोगिना मुख्यत्व शुभोपगोगिना तु चकारसमुच्चयव्याख्यानेन गौणत्वम्। कस्माद्गौणत्व जातमितिचेत् ? **तेसु वि सुद्धुवजुत्ता अणासवा सासवा सेसा** तेष्वपि मध्ये शुद्धोपयोगयुक्ता अनास्रवा शेषा सास्रवा इति यत कारणात्। तद्यथा–निजशुद्धात्मभावनाबलेन समस्तशुभाशुभसकल्पविकल्प रहितत्वाच्छुद्धोपयोगिनो निरास्रवा एव शेषा शुभोपयोगिनो मिथ्यात्वविषयकषायरूपाशुभास्रवनिरोधेऽपि पुण्यास्रवसहिता इति भाव ॥२४५॥

उत्थानिका—आगे शुभोपयोगधारियो को आस्रव होता है इससे उनके व्यवहारपने से मुनिपना स्थापित करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(समयम्हि) परमागम में (समणा) मुनि महाराज (सुद्धुवजुत्ता) शुद्धोपयोगी (य सुहोवजुत्ता) और शुभोपयोगी ऐसे दो तरह के (संति) होते हैं। (तेसु वि) इन दो तरह के मुनियों मे भी (सुद्धुवजुत्ता) शुद्धोपयोगी (अणासवा) आस्रव रहित होते हैं (सेसा) शेष शुभोपयोगी मुनि (सासवा) आस्रव सहित होते हैं। इस गाथा में 'च' शब्द का 'गौण' अर्थ है। जैसे निश्चय से शुद्ध बुद्ध एक स्वभाव रूप सिद्ध जीव ही जीव हैं, परन्तु व्यवहारनय से चारों गतियो मे भ्रमण करने वाले अशुद्ध जीव भी जीव हैं। तैसे ही शुद्धोपयोग में परिणमन करने वाले साधुओं की मुख्यता है और शुभोपयोग में परिणमन करने वालों की गौणता है, क्योकि इन दोनों के मध्य मे शुद्धोपयोगी साधु आस्रवरहित हैं व शेष शुभोपयोगी आस्रववान् हैं। अपने शुद्धात्मा की भावना के बल से जिनके सर्व शुभ अशुभ संकल्प विकल्पों की शून्यता है उन शुद्धोपयोगी साधुओं के कर्मों**

का आस्रव नहीं होता है, परन्तु शुभोपयोगी साधुओं के मिथ्यादर्शन व विषयकषायरूप अशुभ आस्रव के रुकने पर भी पुण्यास्रव होता है, यह भाव है ॥२४५॥

भावार्थ—तत्त्व दो प्रकार का है एक स्वतत्त्व दूसरा परतत्त्व, इनमें स्वतत्त्व अपना आत्मा है तथा पर तत्त्व अरहतादि पंचपरमेष्ठी हैं। इन पंचपरमेष्ठी के अक्षररूप मंत्रों के ध्यान से भव्य मनुष्यो को बहुत पुण्यबध होता है तथा परम्पराय से मोक्ष हो सकता है और जो स्वतत्त्व है वह भी दो प्रकार का है। एक सविकल्प स्वतत्त्व, दूसरा निर्विकल्प स्वतत्त्व। जहां यह विचार किया जावे कि आत्मा ज्ञाता, द्रष्टा आनंदमय है, वहां सविकल्प आत्मतत्व है, परन्तु जहां मन का विचार भी बंद हो जावे केवल आत्मा अपने आत्मा में तन्मय हो स्वानुभव रूप हो जावे वहा निर्विकल्प आत्मतत्त्व है। राग सहित सविकल्प तत्त्व कर्मों के आस्रव का कारण है जबकि वीतरागनिर्विकल्प तत्त्व कर्मों के आस्रव से रहित है। जब इन्द्रियों के विषयों से विरक्तता होती है तथा मन हलन चलन रहित अर्थात् सकल्प-विकल्प रहित होता है, तब यह निर्विकल्प तत्त्व अपने आत्मा के स्वरूप मे झलकता है जो वास्तव मे आत्मा का स्वभाव ही है।

अथ शुभोपयोगिश्रमणलक्षणमासूत्रयति—

अरहंतादिसु भत्ती वच्छलदा पवयणाभिजुत्तेसु[1]।
विज्जदि जदि सामण्णे सा सुहजुत्ता भवे[2] चरिया ॥२४६॥

अर्हदादिषु भक्तिर्वत्सलता प्रवचनाभियुक्तेषु।
विद्यते यदि श्रामण्ये सा शुभयुक्ता भवेच्चर्या ॥२४६॥

सकलसंगसन्यासात्मनि श्रामण्ये सत्यपि कषायलवावेशवशात् स्वयं शुद्धात्मवृत्तिमात्रेणावस्थातुमशक्तस्य परेषु शुद्धात्मवृत्तिमात्रेणावस्थितेष्वर्हदादिषु शुद्धात्मवृत्तिमात्रावस्थितिप्रतिपादकेषु प्रवचनाभियुक्तेषु च भक्त्या वत्सलतया च प्रचलितस्य तावन्मात्ररागप्रवर्तितपरद्रव्यप्रवृत्तिसवलितशुद्धात्मवृत्तेः शुभोपयोगिचारित्रं स्यात्। अतः शुभोपयोगिश्रमणानां शुद्धात्मानुरागयोगिचारित्रत्वलक्षणम् ॥२४६॥

भूमिका—अब, शुभोपयोगी श्रमण का लक्षण सूत्र द्वारा कहते हैं—

अन्वयार्थ—[श्रामण्ये] श्रामण्य मे [यदि] यदि [अर्हदादिषु भक्तिः] अर्हन्तादि के प्रति भक्ति तथा [प्रवचनाभियुक्तेषु वत्सलता] प्रवचनरत जीवो के प्रति वात्सल्य [विद्यते] पाया जाता है तो [सो] वह [शुभयुक्ता चर्या] शुभयुक्त चर्या शुभोपयोगी चारित्र [भवेत्] है।

---

१ पवयणाहिजुत्तेसु (ज० वृ०) २ हवे (ज० वृ०)

टीका—सकलपरिग्रह के त्याग स्वरूप श्रामण्य के होने पर भी जो कषायांश के आवेश के वश केवल शुद्धात्म-परिणतिरूप से रहने मे स्वयं अशक्त है, ऐसा श्रमण, पर जो (१) केवल शुद्धात्मपरिणतरूप से रहने वाले अर्हन्तादिक तथा (२) केवल शुद्धात्मपरिणत-रूप से रहने का प्रतिपादन करने वाले प्रवचनरत जीव हैं उनके प्रति (१) भक्ति तथा (२) वात्सल्य से चंचल है उस (श्रमण) के, मात्र उतने राग से प्रवर्तमान परद्रव्यप्रवृत्ति के साथ शुद्धात्मपरिणति-मिलित होने से, शुभोपयोगी श्रमण वाला चारित्र है।

इसलिये शुद्धात्मा का अनुरागयुक्त चारित्र शुभोपयोगी श्रमणों का लक्षण है ।।२४६।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुभोपयोगिश्रमणाना लक्षणमाख्याति—

सा सुहजुत्ता हवे चरिया सा चर्या शुभयुक्ता भवेत् । कस्य ? तपोधनस्य । कथभूतस्य ? समस्तरागादिविकल्परहितपरमसमाधौ स्थातुमशक्यस्य । यदि किम् ? **विज्जदि जदि** विद्यते यदि चेत् । क्व ? **सामण्णे** श्रामण्ये चारित्रे । किं विद्यते ? **अरहतादिसु भत्ती** अनन्तगुणयुक्तेष्वर्हत्सिद्धेषु गुणानुरागयुक्ता भक्ति **वच्छलदा** वत्सलस्य भावो वत्सलता वात्सल्य विनयोऽनुकूलवृत्ति । केषु विषयेषु ? **पवयणाहिजुत्तेसु** प्रवचनाभियुक्तेषु । प्रवचनशब्देनात्रागमो भण्यते सघो वा तेन प्रवचनेनाभियुक्ता प्रवचनाभियुक्ता आचार्योपाध्यायसाधवस्तेष्विति । एतदुक्त भवति—स्वय शुद्धोपयोगलक्षणे परमसामायिके स्थातुमसमर्थस्यान्येषु शुद्धोपयोगफलभूतकेवलज्ञानेन परिणतेषु तथैव शुद्धोपयोगाराधकेषु च याऽसौ भक्तिस्तच्छुभोपयोगिश्रमणाना लक्षणमिति ।।२४६।।

उत्थानिका—आगे शुभोपयोगी साधुओ का लक्षण कहते है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जदि) यदि (सामण्णे) मुनि के चारित्र मे (अरहंतादिसु भत्ती) अनन्त गुण सहित अरहंत तथा सिद्धो मे गुणानुराग रूप भक्ति है (पवयणाहिजुत्तेसु वच्छलदा) आगम या संघ के धारी आचार्य उपाध्याय व साधुओ मे विनय, प्रीति व अनुकूल वर्तन (विज्जदि) पाया जाता है तब (सा चरिया सुहजुत्ता हवे) वह आचरण शुभोपयोग सहित होता है । जो साधु सर्व रागादि विकल्पो से शून्य परमसमाधि अथवा शुद्धोपयोग रूप परमसामायिक में तिष्ठने को असमर्थ है उसके शुद्धोपयोग के फल को पाने वाले केवलज्ञानी अरहंत सिद्धो में जो भक्ति है तथा शुद्धोपयोग के आराधक आचार्य उपाध्याय साधु मे जो प्रीति है यही शुभोपयोगी साधुओ का लक्षण है ।।२४६।।

अथ शुभोपयोगिश्रमणानां प्रवृत्तिमुपदर्शयति—

वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती ।
समणेसु समावणओ ण णिंदिदा रायचरियम्हि ।।२४७।।

वन्दननमस्करणाभ्यामभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्ति ।
श्रमणेषु श्रमापनयो न निन्दिता रागचर्यायाम् ।।२४७।।

शुभोपयोगिनां हि शुद्धात्मानुरागयोगिचारित्रतया समधिगतशुद्धात्मवृत्तिषु श्रमणेषु वन्दननमस्करणाभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिप्रवृत्तिः शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ता श्रमापनयनप्रवृत्तिश्च न दुष्येत् ।।२४७।।

भूमिका—**अब, शुभोपयोगी श्रमणों की प्रवृत्ति बतलाते हैं—**

अन्वयार्थ—[श्रमणेषु] श्रमणो के प्रति [वन्दननमस्करणाभ्यां] वन्दन-नमस्कार पूर्वक [अभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्ति.] खडा हो जाने और पीछे चलने से विनय सहित प्रवृत्ति करना तथा [श्रमापनय] उनकी थकान दूर करना [रागचर्यायाम्] रागचर्या मे [न निन्दिता] निषिद्ध नही है ।

टीका—**जिनने शुद्धात्म परिणति प्राप्त की है ऐसे श्रमणों के प्रति शुभोपयोगियों के शुद्धात्मा के अनुरागयुक्त चारित्र के द्वारा जो वन्दन-नमस्कार-अभ्युत्थान-अनुगमन रूप विनययुक्त प्रवृत्ति तथा शुद्धात्मपरिणति की रक्षा की निमित्तभूत जो थकान दूर करने की (वैयावृत्यरूप) प्रवृत्ति है, वह शुभोपयोगियों के लिये दूषित नहीं है ।।२४७।।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुभोपयोगिना शुभप्रवृत्ति दर्शयति—

ण णिंदिदा नैव निषिद्धा । क्व ? **रायचरियम्हि** शुभरागचर्यायां सरागचारित्रावस्थायाम् । का न निन्दिता ? **वंदणणमंसणेहिं अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती** वन्दननमस्काराभ्यां सहाभ्युत्थानानुगमनप्रतिपत्तिप्रवृत्ति । **समणेसु समावणओ** श्रमणेषु श्रमापनय रत्नत्रयभावनाभिघातकश्रमस्य खेदस्य विनाश इति । अनेन किमुक्त भवति—शुद्धोपयोगसाधके शुभोपयोगे स्थितानां तपोधनानां इत्थंभूता शुभोपयोगप्रवृत्तयो रत्नत्रयाराधकस्वरूपेषु विषये युक्ता एव विहिता एवेति ।।२४७।।

उत्थानिका—आगे शुभोपयोगी मुनियो की शुभ प्रवृत्ति को और भी दर्शाते है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(**रायचरियम्हि**) **शुभ राग रूप आचरण मे अर्थात् सराग चारित्र की अवस्था मे (वंदणणमंसणेहि) वंदना और नमस्कार के साथ-साथ (अब्भुट्ठाणाणुगमणपडिवत्ती) आते हुए साधु को देखकर उठ खडा होना, उनके पीछे-पीछे चलना आदि प्रवृत्ति तथा (समणेसु) साधुओं के सम्बन्ध मे उनका (समावणओ) खेद दूर करना आदि क्रिया (ण णिंदिया) निषेध्य या वर्जित नहीं है । पच परमेष्ठियो का वंदना नमस्कार व उनको देखकर उठना, पीछे चलना आदि प्रवृत्ति व रत्नत्रय की भावना करने से प्राप्त जो परिश्रम का खेद उसको दूर करना आदि शुभोपयोग रूप प्रवृत्ति रत्नत्रय की आराधना करने वाले साधुओं के लिये मना नही है किन्तु करने योग्य है । जो साधु शुद्धोपयोग के साधक शुभोपयोग मे ठहरे हुए है उनके लिये रत्नत्रय के आराधकों के सम्बन्ध में इस प्रकार की शुभ प्रवृत्ति उचित ही है ।।२४७।।**

अथ शुभोपयोगिनामेवैवंविधाः प्रवृत्तयो भवन्तीति प्रतिपादयति—

दंसणणाणुवदेसो सिस्सग्गहणं च पोसणं तेसिं ।
चरिया हि सरागाणं जिणिंदपूजोवदेसो य ॥२४८॥

दर्शनज्ञानोपदेश शिष्यग्रहण च पोषण तेषाम् ।
चर्या हि सरागाणा जिनेन्द्रपूजोपदेशश्च ॥२४८॥

अनुजिघृक्षापूर्वकदर्शनज्ञानोपदेशप्रवृत्तिः शिष्यसग्रहणप्रवृत्तिस्तत्पोषणप्रवृत्तिर्जिनेन्द्र-पूजोपदेशप्रवृत्तिश्च शुभोपयोगिनामेव भवन्ति न शुद्धोपयोगिनाम् ॥२४८॥

भूमिका—**अब, यह प्रतिपादन करते हैं कि शुभोपयोगियों के ही ऐसी प्रवृत्तियां होती हैं—**

अन्वयार्थ—[दर्शनज्ञानोपदेश]सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का उपदेश, [शिष्यग्रहण] शिष्यो का ग्रहण, [च] तथा [तेषाम् पोषण] उनका पोषण [च] और [जिनेन्द्रपूजोप-देश] जिनेन्द्र की पूजा का उपदेश [हि] वास्तव मे [सरागाणा चर्या] सरागियो की चर्या है ।

टीका—**अनुग्रह करने की इच्छापूर्वक दर्शनज्ञान के उपदेश की प्रवृत्ति, शिष्यग्रहण की प्रवृत्ति, उनके पोषण की प्रवृत्ति और जिनेन्द्रपूजन के उपदेश की प्रवृत्ति, शुभोपयोगियों के ही होती हैं, शुद्धोपयोगियों के नहीं ॥२४८॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुभोपयोगिनामेवेत्थभूता प्रवृत्तयो भवन्ति न च शुद्धोपयोगिनामिति प्ररूपयति,—

दसणणाणुवदेसो दर्शन मूढत्रयादिरहित सम्यक्त्व ज्ञान परमागमोपदेश तयोरुपदेशो दर्शन-ज्ञानोपदेश **सिस्सग्गहण च पोसण तेसिं** रत्नत्रयाराधनाशिक्षाशीलाना शिष्याणा ग्रहण स्वीकारस्तेषा-मेव पोषणमशनशयनादिचिन्ता **चरिया हि सरागाण** इत्थभूता चर्या चारित्र भवति हि स्फुट । केषा ? सरागाणा धर्मानुरागचारित्रसहितानाम् । न केवलमित्थभूता चर्या **जिणिंदपूजोवदेसो य** यथासम्भव जिनेन्द्रपूजादिधर्मोपदेशश्चेति । ननु शुभोपयोगिनामपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना दृश्यते शुद्धोप-योगिनामपि क्वापि काले शुभोपयोगभावना दृश्यते । श्रावकाणामपि सामायिकादिकाले शुद्धभावना दृश्यते तेषा कथ विशेषो भेदो ज्ञायत इति । परिहारमाह—युक्तमुक्त भवता पर किन्तु ये प्रचुरेण शुभोपयोगेन वर्त्तन्ते । ते यद्यपि क्वापि काले शुद्धोपयोगभावना कुर्वन्ति तथापि शुभोपयोगिन एव भण्यन्ते । येऽपि शुद्धोपयोगिनस्ते यद्यपि क्वापि काले शुभोपयोगेन वर्त्तन्ते तथापि शुद्धोपयोगिन एव । कस्मात् ? बहुपदस्य प्रधानत्वादाम्रवननिम्बवनवदिति ॥२४८॥

उत्थानिका—आग फिर भी कहत हैं कि शुभोपयोगी साधुओ को ऐसी प्रवृत्तिया होती है न कि शुद्धोपयोगी साधुओं की—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(दंसणणाणुवदेसो) तीन मूढ़ता आदि पच्चीस दोष रहित सम्यक्त्व तथा परमागम का उपदेश सो ज्ञान, इन दोनों का उपदेश सो दर्शन-ज्ञान का उपदेश है (सिस्सग्गहण) रत्नत्रय के आराधक शिष्यों को दीक्षित करना (च तेसिं पोषणं) और उन शिष्यों के शयन भोजनादि पोषण की चिन्ता (जिणिंदपूजोवदेसो य) तथा यथा-संभव जिनेन्द्र की पूजा आदि का धर्मोपदेश ये सब (सरागाण चरिया) अर्थात् धर्मानुराग सहित सरागचारित्र पालने वालो का ही चारित्र है। कोई शिष्य प्रश्न करता है कि साधुओं के चारित्र के कथन मे आपने बताया कि शुभोपयोगी साधुओं के भी कभी-कभी शुद्धोपयोग की भावना देखी जाती है तथा शुद्धोपयोगी साधुओं के कभी-कभी शुभोपयोगी भावना होती जाती है। वैसे ही श्रावकों के भी सामायिक आदि उदासीन धर्मक्रिया के काल मे शुद्धोपयोग की भावना देखी जाती है तब साधु और श्रावकों में क्या अंतर रहा ? इसका समाधान आचार्य करते हैं कि आपने जो कहा वह सब युक्ति संगत है—ठीक है। परन्तु जो अधिकतर शुभोपयोग के द्वारा ही वर्तन करते हैं यद्यपि वे कभी-कभी शुद्धोप-योग की भावना कर लेते हैं ऐसे अधिकतर शुभोपयोगी श्रावकों को शुभोपयोगी ही कहा है क्योंकि उनके शुभोपयोग की प्रधानता है तथा जो शुद्धोपयोगी हैं, साधु हैं यद्यपि वे किसी काल मे शुभोपयोग द्वारा वर्तन करते हैं तथापि वे शुद्धोपयोगी हैं। बहुलता की प्रधानता रहती है। जैसे किसी वन में आम्रवृक्ष अधिक हैं व और वृक्ष थोड़े हैं तो उसको आम्र-वन कहते हैं और जहां नीम के वृक्ष बहुत हैं, आम्रादि के कम है वहां उसको नीम का वन कहते हैं ॥४४८॥

अथ सर्वा एव प्रवृत्तयः शुभोपयोगिनामेव भवन्तीत्यवधारयति—

उवकुणदि जो वि णिच्चं चादुव्वण्णस्स समणसंघस्स ।
कायविराधणरहिदं सो वि सरागप्पधाणो से ॥२४९॥

उपकरोति योऽपि नित्य चातुर्वर्णस्य श्रमणसघस्य ।
कायविराधनरहित सोऽपि सरागप्रधान स्यात् ॥२४९॥

प्रतिज्ञातसंयमत्वात् षट्कायविराधनरहिता या काचनापि शुद्धात्मवृत्तित्राणनिमित्ता चातुर्वर्णस्य श्रमणसंघस्योपकारकरणप्रवृत्तिः सा सर्वापि रागप्रधानत्वात् शुभोपयोगिनामेव भवति न कदाचिदपि शुद्धोपयोगिनाम् ॥२४९॥

भूमिका—अब, यह निश्चय करते हैं कि सभी प्रवृत्तियां शुभोपयोगियों के ही होती हैं—

अन्वयार्थ—[य अपि] जो कोई (श्रमण) [नित्य] सदा [चातुर्वर्णस्य] चार प्रकार के [श्रमणसघस्य] श्रमण सघ का [कायविराधनरहित] जीवो की विराधना से रहित [उपकरोति] उपकार करता है, [स अपि] वह भी [सरागप्रधान स्यात्] राग की प्रधानता वाला है।

टीका—**क्योंकि सयम की प्रतिज्ञा की है इसलिये षट्काय के विराधन से रहित जो कोई भी, शुद्धात्मपरिणति के रक्षण मे निमित्तभूत, चार प्रकार के श्रमणसंघ के उपकाररूप प्रवृत्ति है वह सभी रागप्रधानता के कारण शुभोपयोगियों के ही होती है, शुद्धोपयोगियो के कदापि नहीं ॥२४९॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ काश्चिदपि या प्रवृत्तयस्ता शुभोपयोगिनामेवेति नियमति—

उवकुणदि जो वि णिच्च चादुव्वण्णस्स समणसघस्स उपकरोति योऽपि नित्य कस्य चातुर्वर्णस्य श्रमणसघस्य। अत्र श्रमणशब्देन श्रमणशब्दवाच्या ऋषिमुनियत्यनगारा ग्राह्या। "देशप्रत्यक्षवित्केवलभृदिहमुनि-स्यादृषि प्रसृतर्द्धिरारूढ श्रेणियुग्मेऽजनि यतिरनगारोऽपर साधुवर्ग। राजा ब्रह्मा च देवपरम इति ऋषिर्विक्रियाक्षीणशक्तिप्राप्तो बुद्धयौषधीशो वियदयनपटुर्विश्ववेदी क्रमेण ॥१॥" ऋषय ऋद्धिप्राप्तास्ते चतुर्विधा राजब्रह्मदेवपरम ऋषिभेदात्। तत्र राजर्षयो विक्रियाक्षीणर्द्धिप्राप्ता भवन्ति। ब्रह्मर्षयो बुद्धयौषधर्द्धियुक्ता भवन्ति। देवर्षयो गगनगमनर्द्धिसम्पन्ना भवन्ति, परमर्षय केवलिन केवलज्ञानिनो भवन्ति, मुनय अवधिमन पर्ययकेवलिनश्च। यतय उपशमकक्षपकश्रेण्यारूढा। अनगारा सामान्यसाधव। कस्मात्? सर्वेषा सुखदु खादिविषये समतापरिणामोऽस्तीति। अथवा श्रमणधर्मानुकूलश्रावकादिचातुर्वर्णसघ। कथ यथा भवति? **कायविराधणरहिद** स्वभावनास्वरूप स्वकीयशुद्धचैतन्यलक्षण निश्चयप्राण रक्षन् परकीयषट्कायविराधनारहित यथा भवति **सो वि सरागप्पधाणो से** सोऽपीत्थभूतस्तपोधनो धर्मानुरागचारित्रसहितेषु मध्ये प्रधान श्रेष्ठ स्यादित्यर्थ ॥२४९॥

उत्थानिका—ये प्रवृत्तिया शुभोपयोगी साधुओ के होती है, ऐसा नियम करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो वि) जो कोई (चादुव्वण्णस्स समणसघस्स) चार प्रकार साधु संघ का (णिच्च) नित्य (कायविराधणरहिद) छहकाय के प्राणियो की विराधना से रहित क्रिया द्वारा (उवकुणदि) उपकार करता है (सोवि) वह साधु भी (सरागप्पधाणो से) शुभोपयोगधारियो मे मुख्य होता है। चार प्रकार संघ मे ऋषि, मुनि, यति, अनगार लेने योग्य हैं।**

एकदेशप्रत्यक्ष अर्थात् अवधि मन:पर्ययज्ञान के धारी तथा केवलज्ञानी मुनि कहलाते हैं, ऋद्धिप्राप्त मुनिऋषि कहलाते है, उपशम और क्षपकश्रेणि मे आरूढ यति कहलाते हैं तथा सामान्य साधु अनगार कहलाते हैं। ऋद्धिप्राप्त ऋषियों के चार भेद हैं—राजऋषि, ब्रह्मऋषि, देवऋषि, परमऋषि इनमे जो विक्रिया और अक्षीणऋद्धि के धारी है

वे राजऋषि हैं, जो बुद्धि और औषध ऋद्धि के धारी है वे ब्रह्मऋषि हैं, जो आकाशगमन ऋद्धि के धारी हैं देव ऋषि है, परमऋषि केवलज्ञानी है। ये चारो ही श्रमण संघ इसीलिये कहलाता है कि सुख दुःख आदि के सम्बन्ध में इन सभी के समताभाव रहता है। अथवा श्रमण धर्म के अनुकूल चलने वाले श्रावक, श्राविका, मुनि, आर्यिका ऐसे भी चार प्रकार सघ है। इन चार तरह के संघ का उपकार करना इस तरह योग्य है जिसमें उपकारकर्ता साधु आत्मीक भावना स्वरूप अपने ही शुद्धचैतन्यमय निश्चयप्राण की रक्षा करता हुआ बाह्य मे छः काय के प्राणियों की विराधना न करता हुआ वर्तन कर सके। ऐसा ही तपोधन धर्मानुराग रूप चारित्र के पालने वालो मे श्रेष्ठ होता है ॥२४९॥

अथ प्रवृत्तेः सयमविरोधित्व प्रतिषेधयति—

जदि कुणदि कायखेदं वेज्जावच्चत्थमुज्जदो समणो।
ण हवदि हवदि अगारी धम्मो सो सावयाणं से ॥२५०॥

यदि करोति कायखेद वैयावृत्त्यर्थमुद्यत श्रमण।
न भवति भवत्यगारी धर्म स श्रावकाणा स्यात् ॥२५०॥

यो हि परेषा शुद्धात्मवृत्तित्राणाभिप्रायेण वैयावृत्यप्रवृत्या स्वस्य संयम विराधयति स गृहस्थधर्मानुप्रवेशात् श्रामण्यात् प्रच्यवते। अतो या काचन प्रवृत्तिःसा सर्वथा सयमाविरोधेनैव विधातव्या। प्रवृत्तावपि संयमस्यैव साध्यत्वात् ॥२५०॥

भूमिका—अब इस प्रवृत्ति के संयम के विरोधी होने का निषेध करते है (अर्थात् शुभोपयोगी श्रमण के संयम के साथ विरोध वाली प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये, यह कहते हैं)—

अन्वयार्थ—[यदि] यदि (श्रमण) [वैयावृत्त्यर्थम् उद्यतः] वैयावृत्ति के लिये उद्यमी वर्तता हुआ [कायखेद] जीवो को पीडित [करोति] करता है तो वह [श्रमण न भवति] श्रमण नही है, [अगारी भवति] गृहस्थ है, (क्योकि) [स] वह [श्रावकाणा धर्म स्यात्] श्रावको का धर्म है।

टीका—दूसरे के शुद्धात्मपरिणति की रक्षा के अभिप्राय से जो मुनि वैयावृत्य की प्रवृत्ति करता हुआ अपने संयम की विराधना करता है, उसका गृहस्थधर्म मे प्रवेश होने से श्रामण्य से च्युत होता है। इसलिये जो भी प्रवृत्ति हो उसका सयम के साथ सर्वथा विरोध न आये ऐसी प्रवृत्ति होनी चाहिये, क्योकि प्रवृत्ति मे संयम ही साध्य है ॥२५०॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ वैयावृत्त्यकालेऽपि स्वकीयसयमविराधनाकर्त्तव्येत्युपदिशति—

जदि कुणदि कायखेद वेज्जावच्चत्थमुज्जदो यदि चेत् करोति कायखेद षट्कायविराधना।

कथभूत: सन् ? वैयावृत्त्यर्थमुद्यत. **समणो ण हवदि** तदा श्रमणस्तपोधनो न भवति । तर्हि कि भवति ? **हवदि अगारी** अगारी गृहस्थो भवति । कस्मात् ? **धम्मो सो सावयाण से** षट्कायविराधना कृत्वा योऽसौ धर्म. स श्रावकाणा स्यात् न च तपोधनानामिति । इदमत्र तात्पर्यम्—योऽसौ स्वशरीरपोषणार्थं शिष्यादिमोहेन वा सावद्य नेच्छति तस्येद व्याख्यान शोभते यदि पुनरन्यत्र सावद्यमिच्छति वैयावृत्त्यादि-स्वकीयावस्थायोग्ये धर्मकार्ये नेच्छति तदा तस्य सम्यक्त्वमेव नास्तीति ।।२५०।।

उत्थानिका—आगे उपदेश करते है कि वैयावृत्य के समय मे भी अपने सयम का घात साधु को कभी नही करना चाहिये—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि) यदि (वेज्जावच्चत्थमुज्जदो) वैयावृत्य के लिये उद्यम करता हुआ साधु (कायखेदं कुणदि) षट्काय के जीवो की विराधना करता है तो (समणो ण हवदि) वह साधु नहीं है, (अगारी हवदि) वह गृहस्थ हो जाता है, क्योंकि (सो सावयाणं धम्मो से) षट्काय के जीवों का आरम्भ श्रावको का कार्य है, साधुओं का धर्म नहीं है। यहां यह तात्पर्य है कि जो कोई अपने शरीर की पुष्टि के लिये या शिष्यादिकों के मोह में पड़कर उनके लिये पापकर्म की या हिंसाकर्म की इच्छा नही करता है उसी के यह व्याख्यान शोभनीक है, परन्तु यदि वह अपने व दूसरों के लिये पापमय कर्म की इच्छा करता है, वैयावृत्य आदि अपनी अवस्था के योग्य धर्म कार्य की अपेक्षा से नहीं चाहता है उसके तब से सम्यग्दर्शन ही नहीं है। मुनि व श्रावकपना तो दूर ही रहा ।।२५०।।**

अथ प्रवृत्तेविषयविभागे दर्शयति—

जोण्हाणं णिरवेक्खं सागारणगारचरियजुत्ताणं ।
अणुकंपयोवयारं[1] कुव्वदु लेवो जदि वि अप्पो[1] ।।२५१।।

जैनाना निरपेक्ष साकारानाकारचर्यायुक्तानाम् ।
अनुकम्पयोपकार करोतु लेपो यद्यप्यल्प ।।२५१।।

या किलानुकम्पापूर्विका परोपकारलक्षणा प्रवृत्ति सा खल्वनेकान्तमैत्रीपवित्रित-चित्तेषु शुद्धेषु जैनेषु शुद्धात्मज्ञानदर्शनप्रवृत्तवृत्तितया साकारानाकारचर्यायुक्तेषु शुद्धात्मोप-लम्भेतरसकलनिरपेक्षतयैवाल्पलेपाप्यप्रतिषिद्धा । न पुनरल्पलेपेति सर्वत्र सर्वथैवाप्रतिषिद्धा, तत्र तथाप्रवृत्त्या शुद्धात्मवृत्तित्राणस्य परात्मनोरनुपपत्तेरिति ।।२५१।।

भूमिका—**अब, प्रवृत्ति के विषय के दो विभाग बतलाते हैं—**

अन्वयार्थ—[यद्यपि अल्प. लेपः] यद्यपि अल्प लेप होता है तथापि [साकाराना-

1 अणुकपओवयार (ज० वृ०) । 2 वियप्पो (ज० वृ०) ।

कारचर्यायुक्तानाम्] साकार-अनाकार चर्यायुक्त [जैनानां] जैनो का [निरपेक्ष] निरपेक्षतया [अनुकम्पया] अनुकम्पा से [उपकार करोतु] (शुभोपयोग से) उपकार करो ।

टीका—जो अनुकम्पापूर्वक परोपकार स्वरूप प्रवृत्ति उसके करने से यद्यपि अल्प लेप तो होता है, तो भी अनेकान्त के साथ मैत्री से जिनका चित्त पवित्र हुआ है ऐसे शुद्ध जैनों के प्रति—जो कि शुद्धात्मज्ञान-दर्शन में प्रवर्तमान वृत्ति के कारण सागार अनागार चर्या वाले है उनके प्रति—शुद्धात्मा की उपलब्धि के अतिरिक्त अन्य सबकी अपेक्षा किये बिना ही, उस प्रवृत्ति के करने का निषेध नहीं है, किन्तु अल्प लेप वाली होने से सबके प्रति सभी प्रकार से वह प्रवृत्ति अनिषिद्ध हो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि इसमें (अर्थात् यदि सबके प्रति सभी प्रकार से की जाय तो) उसी प्रकार की प्रवृत्ति से पर के और निज के शुद्धात्मपरिणति की रक्षा नहीं हो सकती ॥२५१॥

तात्पर्यवृत्ति

अथ यद्यप्यल्पलेपो भवति परोपकारे तथापि शुभोपयोगिभिर्धर्मोपकार कर्त्तव्य इत्युपदिशति,—

कुव्वदु करोतु । स क कर्त्ता ? शुभोपयोगी पुरुष । क करोतु ? **अणुकंपओवयारं** अनुकम्पा-सहितोपकार दयासहित धर्मवात्सल्यम् । यदि किम् ? **लेवो जदि वियप्पो** "सावद्यलेशो बहुपुण्यराशौ" इति दृष्टान्तेन यद्यप्यल्पलेप स्तोकसावद्य भवति । केषा करोतु ? **जोण्हाणं** निश्चयव्यवहारमोक्षमार्ग-परिणतजैनानाम् । कथम् ? **णिरवेक्ख** निरपेक्ष शुद्धात्मभावनाविनाशकख्यातिपूजाल्लाभवाञ्छारहित यथा भवति । कथभूताना जैनानाम् ? **सागारणगारचरियजुत्ताणं** सागारानागारचर्यायुक्ताना श्रावक-तपोधनाचरणसहितानामित्यर्थ ॥२५१॥

उत्थानिका—यद्यपि परोपकार करने मे कुछ अल्प बन्ध होता है, तथापि शुभोपयोगी साधुओ को धर्म सम्बन्धी उपकार करना चाहिये, ऐसा उपदेश करते है ।

अन्वय सहित विशेषार्थ—(अवि वियप्पो लेवो) यद्यपि अल्प बन्ध होता है तथापि शुभोपयोगी मुनि (सागारणगारचरियजुत्ताणं) श्रावक तथा मुनि के आचरण से युक्त (जोण्हाणं) जैनधर्म धारियों का (णिरवेक्खं) बिना किसी इच्छा के (अणुकंपओवयारं) दया सहित उपकार (कुव्वदि) करे । यद्यपि अल्प कर्म बन्ध होता है तथापि शुभोपयोगी पुरुष निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग पर चलने वाले श्रावकों की तथा मुनियों की सेवा व उनके साथ दयापूर्वक धर्म, प्रेम या उपकार, शुद्धात्मा की भावना को विनाश करने वाले प्रसिद्धि, पूजा, लाभ की इच्छा आदि भावों से रहित होकर करे ॥२५१॥

अथ प्रवृत्तेः कालविभागं दर्शयति—

रोगेण वा छुधाए[1] तण्हाए वा समेण वा रूढं ।
दिट्ठा समणं साहू पडिवज्जदु आदसत्तीए ।।२५२।।

रोगेण वा क्षुधया तृष्णया वा श्रमेण वा रूढम् ।
दृष्ट्वा श्रमण साधु प्रतिपद्यतामात्मशक्त्या ।।२५२।।

यदा हि समधिगतशुद्धात्मवृत्तेः श्रमणस्य तत्प्रच्यावनहेतोः कस्याप्युपसर्गस्योपनिपातः स्यात् स शुभोपयोगिनः स्वशक्त्या प्रतिचिकीर्षा प्रवृत्तिकालः । इतरस्तु स्वयं शुद्धात्मवृत्तेः समधिगमनाय केवलं निवृत्तिकाल एव ।।२५२।।

भूमिका—**अब, प्रवृत्ति के काल का विभाग बतलाते हैं—**

अन्वयार्थ—[रोगेण वा] रोग से, [क्षुधया] क्षुधा से, [तृष्णया वा] तृषा से [श्रमेण वा] अथवा थकावट से [रूढम्] पीडित [श्रमण] श्रमण को [दृष्ट्वा] देखकर [साधु] साधु [आत्मशक्त्या] अपनी शक्ति के अनुसार [प्रतिपद्यताम्] वैयावृत्यादि करे ।

टीका—**जब शुद्धात्मपरिणति मे भले प्रकार लीन श्रमण को, उससे च्युत करने वाला कारण–कोई भी उपसर्ग–आ जाय, तब शुभोपयोगी को अपनी शक्ति के अनुसार उपसर्ग को दूर करने के लिये प्रवृत्ति करने का काल है, और उसके अतिरिक्त काल अपनी शुद्धात्मपरिणति की प्राप्ति के लिये केवल निवृत्ति का काल है ।।२५२।।**

तात्पर्यवृत्ति

कस्मिन्प्रस्तावे वैयावृत्य कर्त्तव्यमित्युपदिशति, —

पडिवज्जदु प्रतिपद्यता स्वीकरोतु । कया ? **आदसत्तीए** स्वशक्त्या स क कर्त्ता ? **साहू** रत्नत्रयभावनया स्वात्मान साधयतीति साधु । कम् ? **समण** जीवितमरणादिसमपरिणामत्वाच्छमणस्त श्रमणम् **दिट्ठा** दृष्टवा । कथभूत ? **रूढ** रूढ व्याप्त पीडित कदर्थितम् केन ? **रोगेण वा** अनाकुलत्वलक्षणपरमात्मनो विलक्षणेनाकुलत्वोत्पादकेन रोगेण व्याधिविशेषेण वा **छुहाए** क्षुधया **तण्हाए वा** तृष्णया वा **समेण वा** मार्गोपवासादिश्रमेण वा । अत्रेद तात्पर्यम्—स्वस्वभावनाविघातकरोगादिप्रस्तावे वैयावृत्य करोति शेषकाले स्वकीयानुष्ठान करोतीति ।।२५२।।

उत्थानिका—आगे कहते है कि किस समय साधुओ की वैयावृत्य की जाती है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(रोगेण) रोग से (वा क्षुहाए) वा भूख से (तण्हाए वा) वा प्यास से (समेण वा) वा थकान से (रूढ) पीडित (समणं) किसी साधु को (दिट्ठा) देखकर (साधू) साधु (आदसत्तीए) अपनी शक्ति के अनुसार (पडिवज्जदु) उसका वैयावृत्य करे । जो रत्नत्रय की भावना से अपने आतमा को साधता है वह साधु है । ऐसा साधु किसी दूसरे**

1 छुहाए (ज० वृ०) ।

श्रमण को, जो जीवन-मरण, लाभ-अलाभ आदि में समभाव को रखने वाला है, ऐसे रोग से पीड़ित देखकर, जो रोग अनाकुलता रूप परमात्म स्वरूप से विलक्षण आकुलता को पैदा करने वाला है, या भूख प्यास से निर्बल जानकर या मार्ग की थकान से या मास पक्ष आदि उपवास की गर्मी से असमर्थ समझकर अपनी शक्ति के अनुसार उसकी सेवा करे। तात्पर्य यह है कि अपने आत्मा की भावना के घातक रोग आदि के अवसर पर वैयावृत्य करना साधु का कर्त्तव्य है उस शेषकाल मे अपना चारित्र पाले ॥२५२॥

अथ लोकसंभावणप्रवृत्ति सनिमित्तविभागं दर्शयति—

वेज्जावच्चणिमित्तं गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाणं ।
लोगिगजणसंभासा ण णिंदिदा वा सुहोवजुदा ॥२५३॥

वैयावृत्यनिमित्त ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम् ।
लौकिकजनसभाषा न निन्दिता वा शुभोपयुता ॥२५३॥

समधिगतशुद्धात्मवृत्तीनां ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानां वैयावृत्यनिमित्तमेव शुद्धात्मवृत्तिशून्यजनसभाषणं प्रसिद्ध न पुनरन्यनिमित्तमपि ॥२५३॥

भूमिका—**अब, लोगों के साथ बातचीत करने की प्रवृत्ति विभाग का कारण बतलाते है।**

अन्वयार्थ—[वा] और [ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम्] रोगी, गुरु (पूज्य बडे), बाल तथा वृद्ध श्रमणो की [वैयावृत्यनिमित्त] सेवा के निमित्त से, [शुभोपयुता] शुभोपयोगयुक्त मुनि [लौकिकजनसभाषा] लौकिक जनो के साथ बातचीत करने का [न निन्दिता] निषेध नही है।

टीका—**शुद्धात्मपरिणति मे भले प्रकार लीन ऐसे रोगी, गुरु बाल और वृद्ध श्रमणों की सेवा के निमित्त से ही (शुभोपयोगी श्रमणको) शुद्धात्मपरिणति शून्य लोगों के साथ बातचीत युक्त है (शास्त्रों मे निषिद्ध नहीं है), किन्तु अन्य निमित्त से निषेध है ॥२५३॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुभोपयोगिना तपोधनवैयावृत्यनिमित्त लौकिकसभाषणविषये निषेधो नास्तीत्युपदिशति—

ण णिंदिदा शुभोपयोगितपोधनाना न निन्दिता न निषिद्धा। का कर्मतापन्ना ? **लोगिगजणसंभासा** लौकिकजनै सह सभाषा वचनप्रवृत्ति **सुहोवजुदा वा** अथवा सापि शुभोपयोगयुक्ता भण्यते। किमर्थं न निषिद्धा ? **वेज्जावच्चनिमित्त** वैयावृत्यनिमित्तम्। केषा वैयावृत्यम् ? **गिलाणगुरुबालवुड्ढसमणाण** ग्लानगुरुबालवृद्धश्रमणानाम्। अत्र गुरुशब्देन स्थूलकायो भण्यते अथवा पूज्यो वा गुरुरिति। तथाहि-यदा कोऽपि शुभोपयोगयुक्त आचार्य सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगिना वीतराग-

चारित्रलक्षणशुद्धोपयोगिना वा वैयावृत्य करोति तदा काले तद्वैयावृत्यनिमित्त लौकिकजनै. सह सम्भाषण करोति न शेषकाल इति भावार्थ' ।।२५३।।

एव गाथापञ्चकेन लौकिकव्याख्यानसम्बन्धिप्रथमस्थल गतम् ।

उत्थानिका—आगे उपदेश करते है कि साधुओं की वैयावृत्य के वास्ते शुभोपयोगी साधुओ को लौकिक जनो के साथ भाषण करने का निषेध नही है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(वा) अथवा (गिलाणगुरुबालबुड्ढसमणाणं) रोगी मुनि, गुरु अर्थात् स्थूलकायमुनि या पूज्यमुनि, बालकमुनि तथा वृद्धमुनि की (वेज्जावच्चणिमित्त) वैय्यावृत्य के लिए (सुहोवजुदा) शुभोपयोगी मुनि को (लोगिगजणसंभासा) शुभोपयोगी लौकिकजनों के साथ भाषण करना (णिंदिदा ण) निषिद्ध नहीं है। जब कोई भी शुभोपयोग सहित आचार्य सरागचारित्र रूप शुभोपयोग के धारी साधुओं की अथवा वीतरागचारित्र रूप शुद्धोपयोगधारी साधुओ की वैयावृत्य करता है उस समय उस वैयावृत्य के प्रयोजन से लौकिकजनों के साथ संभाषण भी करता है। शेष काल मे नहीं, यह भाव है ।।२५३।।**

इस तरह पांच गाथाओं के द्वारा लौकिक व्यवहार के व्याख्यान के सम्बन्ध मे पहला स्थल पूर्ण हुआ।

अथैवमुक्तस्य शुभोयोगस्य गौणमुख्यविभाग दर्शयति—

एसा पसत्थभूदा समणाणं वा पुणो घरत्थाणं।
चरिया परेत्ति भणिदा ताएव परं लहदि सोक्खं ।।२५४।।

एषा प्रशस्तभूता श्रमणाना वा पुनर्गृहस्थानाम् ।
चर्या परेति भणिता तथैव पर लभते सौख्यम् ।।२५४।।

एवमेष शुद्धात्मानुरागयोगिप्रशस्तचर्यारूप उपवर्णितः शुभोपयोग' तदयं शुद्धात्मप्रकाशिकां समस्तविरतिमुपेयुषां कषायकणसद्भावात्प्रवर्तमानः शुद्धात्मवृत्तिविरुद्धरागसगतत्वाद्गौणः श्रमणानां, गृहिणां तु समस्तविरतेरभावेन शुद्धात्मप्रकाशनस्याभावात्कषायसद्भावात्प्रवर्तमानोऽपि स्फटिकसपर्कणार्कतेजस इवैधसा रागसंयोगेन शुद्धात्मनोऽनुभवात्क्रमतः परमनिर्वाणसौख्यकारणत्वाच्च मुख्य' ।।२५४।।

भूमिका—**अब, इस प्रकार से कहे गये शुभोपयोग का गौण-मुख्य विभाग बतलाते हैं अर्थात् यह बतलाते हैं कि किसके शुभोपयोग गौण होता है और किसके मुख्य होता है—**

अन्वयार्थ—[एषा] यह [प्रशस्तभूता] प्रशस्तभूत [चर्या] चर्या [श्रमणाना] श्रमणो के (गौण) होती है [वा गृहस्थाना पुन] और गृहस्थो के तो [परा] मुख्य होती है, [इति भणिता] (शास्त्रो मे) ऐसा कहा गया है, [तया एव] उसी से [परसौख्य लभते] गृहस्थ परम सौख्य को प्राप्त होता है।

टीका—**इस प्रकार शुद्धात्मानुरागयुक्त प्रशस्त चर्यारूप शुभोपयोग वर्णित किया गया है। वह शुभोपयोग, शुद्धात्मा की प्रकाशक सर्वविरति को प्राप्त श्रमणों के कषायकण के सद्भाव के कारण प्रवर्तित होता हुआ, गौण होता है, क्योंकि उस शुभोपयोग का शुद्धात्मपरिणति से विरुद्ध राग के साथ संबन्ध है और वह शुभोपयोग गृहस्थों के तो, सर्वविरति के न होने से शुद्धात्म–प्रकाशन के अभाव के कारण कषाय के सद्भाव में प्रवर्तमान होता हुआ भी, मुख्य है, क्योंकि–जैसे इंधन को स्फटिक के संपर्क से सूर्य के तेज का अनुभव होता है (और इसलिये वह क्रमशः जल उठता है) उसी प्रकार–गृहस्थ को राग के संयोग से शुद्धात्मा का अनुभव होता है, और (इसलिये वह शुभोपयोग) क्रमशः परम निर्वाणसौख्य का कारण होता है ॥२५४॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथाय वैयावृत्यादिलक्षणशुभोपयोगस्तपोधनैर्गौणवृत्त्या श्रावकैस्तु मुख्यवृत्या कर्त्तव्य इत्याख्याति,—

भणिदा भणिता कथिता। का कर्मतापन्ना ? **चरिया** चर्या चारित्रमनुष्ठान। किं विशिष्टा ? **एसा** एषा प्रत्यक्षीभूता। पुनश्च किरूपा ? **पसत्थभूदा** प्रशस्तभूता धर्मानुरागरूपा। केषा सम्बन्धिनी ? **समणाण वा** श्रमणाना वा **पुणो घरत्थाण** गृहस्थाना वा पुनरियमेव चर्या **परेत्ति** परा सर्वोत्कृष्टेति **ताएव पर लहदि सोक्ख** तयैव शुभोपयोगचर्यया परम्परया मोक्षसुख लभते गृहस्थ इति। तथाहि—तपोधना शेषतपोधनाना वैयावृत्त्य कुर्वाणा सन्त कायेन किमपि निरवद्यवैयावृत्य कुर्वन्ति। वचनेन धर्मोपदेश च। शेषमौषधान्नपानादिक गृहस्थानामधीन तेन कारणेन वैयावृत्यरूपो धर्मो गृहस्थाना मुख्य तपोधनाना गौण। द्वितीय च कारण निर्विकारचिच्चमत्कारभावनाप्रतिपक्षभूतेन विषयकषायनिमित्तोत्पन्नेनार्त्तरौद्रध्यानद्वयेन परिणताना गृहस्थानामात्माश्रितनिश्चयधर्मस्यावकाशो नास्ति वैयावृत्यादिधर्मेण दुर्ध्यानवञ्चना भवति तपोधनससर्गेण निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गोपदेशलाभो भवति। ततश्च परम्परया निर्वाण लभत इत्यभिप्राय ॥२५४॥

एव शुभोपयोगितपोधनाना शुभानुष्ठानकथनमुख्यतया गाथाष्टकेन द्वितीयस्थल गतम्। इत ऊर्ध्व गाथाषट्कपर्यन्त पात्रापात्रपरीक्षामुख्यत्वेन व्याख्यान करोति।

उत्थानिका—आगे कहते है कि इस वैयावृत्य आदि रूप शुभोपयोग की क्रियाओ को तपोधनो को गौणरूप से करना चाहिये, परन्तु श्रावको को मुख्य रूप से करना चाहिये—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(समणाण) साधुओं को (एसा) यह प्रत्यक्ष (पसत्थभूदा चरिया) धर्मानुराग रूप चर्या या क्रिया होती है। (वा पुणो घरत्थाणं) तथा गृहस्थों को यह क्रिया (परेत्ति भणिदा) उत्कृष्ट कही गई है (ता एव) इसी ही चर्या से गृहस्थ (परं सोक्खं) परंपरा से उत्कृष्ट मोक्षसुख (लहदि) प्राप्त करता है। तपोधन दूसरे साधुओं को**

वैय्यावृत्य करते हुए अपने शरीर के द्वारा जो कुछ भी वैयावृत्य करते हैं वह पापारम्भ व हिंसा से रहित होती है तथा वचनों के द्वारा धर्मोपदेश करते है। शेष औषधि, अन्नपान आदि की सेवा गृहस्थों के अधीन है, इसलिये वैयावृत्य गृहस्थो का मुख्य धर्म है, किन्तु साधुओं का गौण है। दूसरा कारण यह है कि विकार रहित चैतन्य के चमत्कार की भावना के विरोधी तथा इंद्रिय विषय और कषायो के निमित्त से पैदा होने वाले आर्त्त और रौद्र-ध्यान में परिणमने वाले गृहस्थों को आत्माधीन निश्चयधर्म के पालने का अवकाश नहीं है। यदि वे गृहस्थ वैयावृत्यादि रूप शुभोपयोग धर्म से वर्तन करें तो खोटे ध्यान से बचते हैं तथा साधुओं की सगति से गृहस्थों को निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग के उपदेश का लाभ हो जाता है, इससे ही वे गृहस्थ परंपरा निर्वाण को प्राप्त करते हैं, ऐसा गाथा का अभिप्राय है ॥२५४॥

इस तरह शुभोपयोगी साधुओं की शुभोगयोग-सम्बन्धी क्रिया के कथन की मुख्यता से आठ गाथाओं के द्वारा दूसरा स्थल पूर्ण हुआ।

इसके आगे आठ गाथाओं तक पात्र अपात्र की परीक्षा की मुख्यता से व्याख्यान करते हैं—

अथ शुभोपयोगस्य कारणवैपरीत्यात् फलवैपरीत्यं साधयति—

रागो पसत्थभूदो वत्थुविसेसेण फलदि विवरीदं।
णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि ॥२५५॥

राग प्रशस्तभूतो वस्तुविशेषेण फलति विपरीतम्।
नानाभूमिगतानीह बीजानीव सस्यकाले ॥२५५॥

यथैकेषामपि बीजाना भूमिवैपरीत्यान्निष्पत्तिवैपरीत्यं तथैकस्यापि प्रशस्तरागलक्षणस्य शुभोपयोगस्य पात्रवैपरीत्यात्फलवैपरीत्यं कारणविशेषात्कार्यविशेषस्यावश्यभावित्वात् ॥२५५॥

भूमिका—अब, यह सिद्ध करते हैं कि शुभोपयोग की कारण की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है—

अन्वयार्थ—[इह नानाभूमिगतानि बीजानि इव] जैसे इस जगत् मे अनेक प्रकार की भूमियो मे पडे हुये बीज [सस्यकाले] धान्य काल मे विपरीत रूप से फलित होते है, उसी प्रकार [प्रशस्तभूतः राग.] प्रशस्तभूत राग [वस्तु विशेषेण] वस्तु-भेद से (पात्र भेद से) [विपरीत फलति] विपरीत रूप फलता है।

टीका—**जैसे एक बीज होने पर भी भूमि की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है, अर्थात् अच्छी भूमि में उसी बीज का अच्छा अन्न उत्पन्न होता है और खराब भूमि में वही खराब हो जाता है या उत्पन्न ही नहीं होता उसी प्रकार प्रशस्तरागस्वरूप शुभोपयोग वह का वही होता है, फिर भी पात्र की विपरीतता से फल की विपरीतता होती है, क्योंकि कारण के भेद से कार्य का भेद अवश्यम्भावी (अनिवार्य) है ॥२५५॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुभोपयोगस्य पात्रभूतवस्तुविशेषात्फलविशेष दर्शयति—

फलदि फलति फल ददाति । स क· ? **रागो** राग । कथभूत ? **पसत्थभूदो** प्रशस्तभूतो दान-पूजादिरूप । कि फलति ? **विवरीद** विपरीतमन्यादृश भिन्नभिन्नफलम् । केन कारणभूतेन ? **वत्थुविसेसेण** जघन्यमध्यमोत्कृष्टभेदभिन्नपात्रभूतवस्तुविशेषण । अत्रार्थे दृष्टान्तमाह-**णाणाभूमिगदाणिह बीजाणिव सस्सकालम्हि** नानाभूमिगतानीह बीजानि इव सस्यकाले धान्यनिष्पत्तिकाल इति । अयम-त्रार्थ —यथा जघन्यमध्यमोत्कृष्टभूमिविशेषेन तान्येव बीजानि भिन्नभिन्नफल प्रयच्छन्ति तथा स एव वीजस्थानीयशुभोपयोगो भूमिस्थानीयपात्रभूतवस्तुविशेषेण भिन्नभिन्नफल ददाति । तेन कि सिद्धम् । यदा पूर्वसूत्रकथितन्यायेन सम्यक्त्वपूर्वक शुभोपयोगो भवति तदा मुख्यवृत्त्या पुण्यबन्धो भवति परपरया निर्वाण च । नो चेत्पुण्यबन्धमात्रमेव ॥२५५॥

उत्थानिका—प्रथम ही यह दिखलाते है कि पात्र की विशेषता से शुभोपयोगी को फल की विशेषता होती है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(पसत्थभूदो रागो) धर्मानुरागरूप दान पूजादिक (वत्थु-विसेसेण) पात्र की विशेषता से (विवरीदं) भिन्न भिन्न रूप फलता है (सस्सकालम्हि) जैसे धान्य की उत्पत्ति के काल में (णाणाभूमिगदाणिह) नाना प्रकार की पृथ्वियों मे प्राप्त (बीजाणिव) बीज निश्चय से (फलदि) विभिन्न रूप फलता है । जैसे ऋतुकाल में तरह तरह की भूमियो मे बोए हुए बीज जघन्य, मध्यम व उत्कृष्ट भूमि के निमित्त से वही बीज भिन्न-भिन्न प्रकार के फलों को पैदा करता है, तैसे ही यह बीजरूप शुभोपयोग भूमि के समान जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट पात्रों के भेद से भिन्न भिन्न फल को देता है । इस कथन से यह भी सिद्ध हुआ है कि यदि सम्यग्दर्शन पूर्वक शुभोपयोग होता है तो मुख्यता से पुण्य-बन्ध होता है परन्तु परम्परा वह निर्वाण का कारण है । मात्र पुण्यबन्ध को ही नहीं करता है ॥२५५॥**

अथ कारणवैपरीत्यफलवैपरीत्ये दर्शयति—

> **छदुमत्थविहिदवत्थुसु वदणियमज्झयणझाणदाणरदो ।**
> **ण लहदि अपुणब्भावं भावं सादप्पगं लहदि ॥२५६॥**

छद्मस्थविहितवस्तुषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरत ।
न लभते अपुनर्भाव भाव सातात्मक लभते।।२५६।।

शुभोपयोगस्य सर्वज्ञव्यवस्थापितवस्तुषु प्रणिहितस्य पुण्योपचयपूर्वकोऽपुनर्भावोपलम्भः किल फलं तत्तु कारणवैपरीत्याद्विपर्यय एव । तत्र छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं तेषु व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरतत्वप्रणिहितस्य शुभोपयोगस्यापुनर्भावशून्यकेवलपुण्यापसदप्राप्तिः फलवैपरीत्यं तत्सुदेवमनुजत्वम् ।।२५६।।

भूमिका—**अब, कारण की विपरीतता और फल की विपरीतता बतलाते हैं—**

अन्वयार्थ—[छद्मस्थविहितवस्तुषु] जो जीव छद्मस्थ विहित वस्तुओ मे (छद्मस्थ **अज्ञानी के द्वारा कथित देव**-गुरु धर्मादि मे) [व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरत] व्रत-नियम-**अध्ययन-ध्यान-दान** मे रत होता है वह [अपुनर्भाव] मोक्ष को [न लभते] प्राप्त नही होता (किन्तु), [**सातात्मक** भाव] सातात्मक भावको [लभते] प्राप्त होता है ।

टीका—**सर्वज्ञ कथित वस्तुओं मे युक्त शुभोपयोग का फल पुण्यसंचयपूर्वक मोक्ष की प्राप्ति है । वह फल, कारण की विपरीतता होने से विपरीत ही होता है । वहां, छद्मस्थ-कथित वस्तुयें विपरीत कारण हैं, छद्मस्थ कथित उपदेश के अनुसार व्रत-नियम अध्ययन-ध्यान दानरतरूप से युक्त शुभोपयोग का फल मोक्षशून्य केवल अधम पुण्य की प्राप्ति है, वह फल की विपरीतता है, वह फल सुदेव मनुष्यत्व है ।।२५६।।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ कारणवैपरीत्यात्फलमपि विपरीत भवति तमेवार्थ दृश्यति,—

ण लहदि न लभते ? स क कर्त्ता ? **वदणियमज्झयणझाणदाणरदो** व्रतनियमाध्ययनध्यानदानरत । केषु विषयेषु ? यानि व्रतादीनि **छदुमत्थविहिदवत्थुसु** छद्मस्थविहितवस्तुषु अल्पज्ञानिपुरुषव्यवस्थापितपात्रभूतवस्तुषु । इत्थभूत पुरुष क न लभते ? **अपुणब्भावं** अपुनर्भवशब्दवाच्य मोक्ष । तर्हि किं लभते ? **भावं सादप्पग लहदि** भाव सातात्मक लभते । भावशब्देन सुदेवमनुष्यत्वपर्यायो ग्राह्य । स च कथभूत ? सातात्मक सद्वेद्योदयरूप इति। तथाहि—ये केचन निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गं न जानन्ति पुण्यमेव मुक्तिकारण भणन्ति ते छद्मस्थशब्देन गृह्यन्ते न च गणधरदेवादय. । तै छद्मस्थैरज्ञानिभि शुद्धात्मोपदेशशून्यैर्ये दीक्षितास्तानि छद्मस्थविहितवस्तूनि भण्यन्ते । तत्पात्रससर्गेन यद्व्रतनियमाध्ययनदानादिक करोति तदपि शुद्धात्मभावनानुकूल न भवति तत कारणान्मोक्ष न लभते सुदेवमनुष्यत्व लभत इत्यर्थ ।।२५६।।

उत्थानिका—आगे इसी को दृढतापूर्वक कहते है कि कारण की विपरीतता से फल भी उल्टा होता है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(छदुमत्थविहिदवत्थसु) अल्प ज्ञानियों केद्वारा कल्पित पात्र-**

भूत वस्तु अर्थात् देव गुरु शास्त्र धर्मादि पदार्थों में (वदणियमज्झयणदाणरदो) तथा व्रत, नियम, पठन-पाठन, ध्यान-दान में रत पुरुष (अपुणब्भाव) अपुनर्भव अर्थात् मोक्ष को (ण लहदि) नहीं प्राप्त कर सकता है, किन्तु (सादप्पगं भावं) सातामयी अवस्था को अर्थात् सातावेदनीय के उदय से देव या मनुष्य पर्याय को (लहदि) प्राप्त करता है। जो कोई निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग को नहीं जानते हैं, केवल पुण्यकर्म को ही मुक्ति का कारण कहते हैं उनको यहां छद्मस्थ या अल्पज्ञानी कहना चाहिये, न कि गणधरदेव आदि ऋषिगण। जो शुद्धात्मा के यथार्थ उपदेश को नहीं दे सकते इन अल्पज्ञानियों अर्थात् मिथ्याज्ञानियों के द्वारा दीक्षितों को छद्मस्थ विहित वस्तु कहते हैं। ऐसे अयथार्थ कल्पित पात्रो के सम्बन्ध से जो व्रत, नियम, पठन-पाठन, दान आदि कार्य, जो पुरुष करता है वह कार्य शुद्धात्मा के अनुकूल नहीं होता है इसीलिये मोक्ष का कारण नहीं होता है, उससे वह सुदेव या मनुष्यपना प्राप्त करता है ॥२५६॥

अथ कारणवैपरीत्यफलवैपरीत्ये एव व्याख्याति—

अविदिदपरमत्थेसु य विसयकसायाधिगेसु पुरिसेसु ।
जुट्ठं कदं व दत्तं फलदि कुदेवेसु मणुजेसु ॥२५७॥

अविदितपरमार्थेषु च विषयकषायाधिकेषु पुरुषेषु ।
जुष्ट कृत वा दत्त फलति कुदेवेषु मनुजेषु ॥२५७॥

यानि हि छद्मस्थव्यवस्थापितवस्तूनि कारणवैपरीत्यं ते खलु शुद्धात्मपरिज्ञानशून्यतयानवाप्तशुद्धात्मवृत्तितया चाविदितपरमार्था विषयकषायाधिकाः पुरुषाः तेषु शुभोपयोगात्मकानां जुष्टोपकृतदत्तानां या केवलपुण्यापसदप्राप्तिः फलवैपरीत्यं तत्कुदेवमनुजत्वम् ॥२५७॥

भूमिका—अब, (इस गाथा मे भी) कारण विपरीतता और फल विपरीतता ही बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—[अविदितपरमार्थेषु] जिन्होने परमार्थ को नही जाना है, [च] और [विषयकषायाधिकेषु] जिनके विषय-कषाय की प्रबलता है, [पुरुषेषु] ऐसे पुरुषो के प्रति [जुष्ट कृत वा दत्त] सेवा, उपकार या दान [कुदेवेषु मनुजेषु] कुदेवरूप मे और कुमनुष्य रूप मे [फलति] फलता है।

टीका—जो छद्मस्थ कथित वस्तुयें हैं वे विपरीत कारण हैं। वे छद्मस्थ वास्तव में (१) शुद्धात्मज्ञान से शून्यता के कारण 'परमार्थ को नहीं जानने वाले और (२) शुद्धात्म-परिणति को प्राप्त न करने से विषयकषाय की प्रबलता वाले पुरुष हैं उनके प्रति

शुभोपयोगात्मक जीवों को–सेवा, उपकार या दान करने वाले जीवों को–जो केवल अधम पुण्य की प्राप्ति है सो वह फल विपरीतता है, वह (फल) कुदेव और कुमनुष्यत्व है ।।२५७।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ सम्यक्त्वव्रतरहितपात्रेषु भक्ताना कुदेवमनुजत्व भवतीति प्रतिपादयति,—

फलदि फलति । केषु ? **कुदेवेसु मणुवेसु** कुत्सितदेवेषु मनुजेषु । कि कर्तृ ? **जुट्ठं** जुष्ट सेवा कृता **कद व** कृत वा किमपि वैयावृत्यादिक । **दत्त** दत्त किमप्याहारादिकम् । केषु ? **पुरुसेसु** पुरुषेषु पात्रेषु । किंविशिष्टेषु ? **अविविदपरमत्थेसु य** अविदितपरमार्थेषु च परमात्मतत्त्वश्रद्धानज्ञानशून्येषु । पुनरपि किं रूपेषु ? **विसयकसायाधिगेसु** विषयकषायादिकेषु विषयकषायाधीनत्वेन निर्विषयशुद्धात्मस्वरूपभावनारहितेषु इत्यर्थ ।।२५७।।

उत्थानिका—आगे फिर भी कहते है कि जो जीव सम्यग्दर्शन तथा व्रत रहित पात्रो के भक्त है वे नीच देव तथा मनुष्य होते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अविदिदपरमत्थेसु) जो परमार्थ अर्थात् सत्यार्थ पदार्थों को नहीं जानते व जिनको परमात्मा के तत्व का श्रद्धान ज्ञान नहीं है (य विसयकसायाधिगेसु) तथा जिनके भीतर पंचेंद्रियों के विषयों की तथा मान लोभ आदि कषायो की बड़ी प्रबलता है ऐसे (पुरिसेसु) पात्रों मे (जुट्ठं) की हुई सेवा (कद) किया हुआ वैयावृत्यादिक (व दत्तं) या दिया हुआ आहार औषधि आदि दान (कुदेवेसु) नीच देवों मे (मणुजेसु) और मनुष्यों मे (फलदि) फलता है । जिन पात्रो या साधुओं के परमात्मतत्त्व का ज्ञान श्रद्धान नहीं है, जो विषय कषायो के अधीन होने के कारण निर्विकार शुद्धात्मा के स्वरूप की भावना से रहित हैं उनकी भक्ति के फल से नीच देव तथा मनुष्य हो सकता है ।।२५७।।**

अथ कारणवैपरीत्यात् फलमविपरीत न सिध्यतीति श्रद्धापयति—

जदि ते विसयकसाया पाव त्ति परूविदा व सत्थेसु ।
किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति ।।२५८।।

यदि ते विषयकषाया पापमिति प्ररूपिता वा शास्त्रेषु ।
कथ ते तत्प्रतिबद्धा पुरुषा निस्तारका भवन्ति ।।२५८।।

विषयकषायास्तावत्पापमेव तद्वन्तः पुरुषा अपि पापमेव तदनुरक्ता अपि पापानुरक्तत्वात् पापमेव भवन्ति । ततो विषयकषायवन्तः स्वानुरक्तानां पुण्यायापि न कल्प्यन्ते कथं पुनः संसारनिस्तारणाय । ततो न तेभ्यः फलमविपरीतं सिध्येत् ।।२५८।।

भूमिका—**अब, यह श्रद्धा करवाते है कि कारण की विपरीतता से अविपरीत फल सिद्ध नहीं होता—**

अन्वयार्थ—[यदि वा] यदि [ते विषयकषायाः] वे विषयकषाय [पापम्] पाप है, [इति] इस प्रकार [शास्त्रेषु] शास्त्रो मे [प्ररूपिताः] प्ररूपित किया गया है, तो [तत्प्रतिबद्धा] उन विषय-कषायो मे लीन [ते पुरुषा] वे पुरुष [निस्तारकाः] पार लगाने वाले [कथ भवन्ति] कैसे हो सकते है ?

टीका—**प्रथम तो विषय कषाय पाप ही हैं, विषयकषायवान् पुरुष भी पाप ही हैं, इसलिए विषय कषायवान् पुरुषों के प्रति अनुरक्त जीव भी पाप मे अनुरक्त होने से पाप ही हैं, विषय कषायवान् पुरुष अपने भक्त पुरुषो को पुण्य का कारण भी नहीं होते, तब फिर वे संसार से पार उतारने के कारण तो कैसे हो सकते है ? नहीं हो सकते, इसलिये उनसे अविपरीत फल सिद्ध नही होता।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ तमेवार्थं प्रकारान्तरेण दृढयति—

जदि ते विसयकसाया पावत्ति परूविदा य सत्थेसु यदि च ने विषयकषाया पापमिति प्ररूपिता शास्त्रेषु **किह ते तप्पडिबद्धा पुरिसा णित्थारगा होंति** कथ ते तत्प्रतिबद्धा विषयकषायप्रतिबद्धा पुरुषा निस्तारका ससारोत्तारका दातृणा ? न कथमपीति। एतदुक्त भवति—विषयकषायास्तावत्पाप-स्वरूपास्तद्वन्त पुरुषा अपि पापा एव ते च स्वकीयभक्ताना दातृणा पुण्यविनाशका एवेति ॥२५८॥

उत्थानिका—आगे इस ही अर्थ को दूसरे प्रकार से दृढ करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जदि) यदि (ते विसयकसाया) वे इन्द्रियों के विषय क्रोध कषाय आदि (सत्थेसु) शास्त्रों मे (पावत्ति) पापों का उपदेश देने वाले (परूविदा) कहे गये है (तप्पडिबद्धा) उन विषय कषायो मे सम्बन्ध रखने वाले (ते पुरिसा) वे अल्प ज्ञानी पुरुष (णित्थारगा) अपने भक्तो को ससार से तारने वाले (किह होंति) कैसे हो सकते है ? नहीं हो सकते। विषय और कषाय पाप रूप है इसलिये उनके धारणे वाले पुरुष भी पाप रूप ही हैं। तब वे अपने भक्तों के व दातारो के वास्तव मे पुण्य के नाश करने वाले है ॥२५८॥**

अथाविपरीतफलकारण कारणमविपरीत दर्शयति—

उवरदपावो पुरिसो समभावो धम्मिगेसु सव्वेसु।
गुणसमिदिदोवसेवी हवदि स भागी सुमग्गस्स ॥२५९॥

उपरतपाप पुरुष समभावो धार्मिकेषु सर्वेषु।
गुणसमितितोपसेवी भवति स भागी सुमार्गस्य ॥२५९॥

उपरतपापत्वेन सर्वधर्मिमध्यस्थत्वेन गुणग्रामोपसेवित्वेन च सम्यग्दर्शनज्ञानचारि-

त्रयौगपद्यपरिणतिनिर्वृत्तैकाग्र्यात्मकसुमार्गभागी स श्रमणः स्वयं परस्य मोक्षपुण्यायतनत्वादविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं प्रत्येयम् ।।२५९।।

भूमिका—अब, अविपरीत फल का कारण ऐसा जो 'अविपरीत कारण' उसको बतलाते हैं—

अन्वयार्थ—[उपरतपापः] जिसके पाप रुक गया है, [सर्वेषु धार्मिकेषु समभाव] जो सभी धार्मिकों के प्रति समभाववान् है, और [गुणसमितितोपसेवी] जो गुणसमुदाय का सेवन करने वाला है, [स पुरुषः] वह पुरुष [सुमार्गस्य] सुमार्ग का [भागी भवति] भागी होता है अर्थात् सुमार्गवान् है ।

टीका—पाप के रुक जाने से, सर्व धर्मियों के प्रति स्वयं मध्यस्थ होने से और गुणसमूह का सेवन करने से जो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की युगपत् परिणति से रचित एकाग्रता स्वरूप सुमार्ग का पात्र है, वह श्रमण निज को और पर को मोक्ष का और पुण्य का आयतन है इसलिये वह (श्रमण) अविपरीत फल का कारण ऐसा अविपरीत कारण है, ऐसी प्रतीति करनी चाहिये ।।२५९।।

तात्पर्यवृत्ति

अथ पात्रभूततपोधनलक्षणं कथयति—

उवरदपावो उपरतपापत्वेन **सव्वेसुधम्मिगेसुगुणसमिदिदोवसेवी** सर्वधार्मिकसमदर्शित्वेन गुणग्रामसेवकत्वेन च **समभावो पुरिसो** स्वस्य मोक्षकारणत्वात्परेषां पुण्यकारणत्वाच्चेत्थंभूतगुणयुक्तः पुरुषः **सुमग्गस भागी** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यलक्षणनिश्चयमोक्षमार्गस्य भाजनं **हवदि** भवतीति ।।२५९।।

उत्थानिका—आगे उत्तम पात्ररूप तपोधन का लक्षण कहते हैं—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(स पुरिसो) वह पुरुष (सुमग्गस्स भागी) मोक्षमार्ग का पात्र (हवदि) होता है जो (उवरदपावो) सर्व विषय कषाय रूप पापों से रहित है, (सव्वेसु धम्मिगेसु समभावो) धर्मात्माओं मे समान भाव का धारी है तथा (गुणसमिदिदोवसेवी) गुणों के समूहों को रखने वाला है । जो पुरुष सर्व पापों से रहित है, सर्व धर्मात्माओं में समान दृष्टि रखने वाला है तथा गुण समुदाय का सेवने वाला है और आप स्वयं मोक्षमार्गी होकर दूसरों के लिये पुण्य की प्राप्ति का कारण है, ऐसा ही महात्मा सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता रूप निश्चयमोक्षमार्ग का पात्र होता है ।।२५९।।

अथाविपरीतफलकारणं कारणमविपरीतं व्याख्याति—

असुभोवयोगरहिदा सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा ।
णित्थारयंति लोगं तेसु पसत्थं लहदि भत्तो ।।२६०।।

अशुभोपयोगरहिता शुद्धोपयुक्ता शुभोपयुक्ता वा ।
निस्तारयन्ति लोक तेषु प्रशस्त लभते भक्त ॥२६०॥

यथोक्तलक्षणा एव श्रमणा मोहद्वेषाप्रशस्तरागोच्छेदादशुभोपयोगवियुक्ताः सन्तः सकलकषायोदयविच्छेदात् कदाचित् शुद्धोपयुक्ताः प्रशस्तरागविपाकात्कदाचिच्छुभोपयुक्ताः स्वयं मोक्षायतनत्वेन लोक निस्तारयन्ति तद्भक्तिभावप्रवृत्तप्रशस्तभावा भवन्ति परे च पुण्यभाजः ॥२६०॥

भूमिका—**अब, अविपरीत फल का कारण, ऐसा जो 'अविपरीत कारण' है उसे विशेष समझाते हैं—**

अन्वयार्थ—[अशुभोपयोगरहिता] जो अशुभोपयोगरहित वर्तते हुये [शुद्धोपयुक्ता] शुद्धोपयुक्त [वा] अथवा [शुभोपयुक्ता] शुभोपयुक्त होते है, वे (श्रमण) [लोक निस्तारयन्ति] लोगो को तार देते है, (और) [तेषु भक्तः] उनके प्रति भक्तिवान् जीव [प्रशस्त] प्रशस्त (पुण्य) को [लभते] प्राप्त करता है ।

टीका—**यथोक्त लक्षण वाले श्रमण ही–जो कि मोह, द्वेष और अप्रशस्त राग के उच्छेद से अशुभोपयोगरहित वर्तते हुये, समस्त कषायोदय के विच्छेद से कदाचित् शुद्धोपयुक्त (शुद्धोपयोग मे युक्त) और प्रशस्त राग के विपाक से कदाचित् शुभोपयुक्त होते हैं वे–स्वयं मोक्षायतन होने से लोक को तार देते हैं, और उनके प्रति भक्ति भाव से जिनके प्रशस्त भाव प्रवर्तता है ऐसे पर जीव पुण्य के भागी होते हैं ॥२६०॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ तेषामेव पात्रभूततपोधनानां प्रकारान्तरेण लक्षणमुपलक्षयति,—

सुद्धुवजुत्ता सुहोवजुत्ता वा शुद्धोपयोगशुभोपयोगपरिणतपुरुषा पात्र भवन्तीति । तद्यथा—निर्विकल्पसमाधिबलेन **असुभोवयोगरहिदा** शुभाशुभोपयोगद्वयरहितकाले कदाचिद्वीतरागचारित्रलक्षणशुद्धोपयोगयुक्ता कदाचित्पुनर्मोहद्वेषाशुभरागरहितकाले सरागचारित्रलक्षणशुभोपयोगयुक्ता सन्तो **लोग** भव्यलोक **णित्थारयंति** निस्तारयन्ति **तेसु भत्तो** तेषु च भव्यो भक्तो भव्यवरपुण्डरीक. **पसत्थ** प्रशस्तफलभूत स्वर्ग **लहदि** लभते परपरया मोक्ष चेति भावार्थ ॥२६०॥

एव पात्रापात्रपरीक्षाकथनमुख्यतया गाथापञ्चकेन तृतीयस्थल गतम् । इत ऊर्ध्व आचारकथितक्रमेण पूर्वं कथितमपि पुनरपि दृढीकरणार्थं पिशेषेण तपोधनसमाचार कथयति ।

उत्थानिका—आगे और भी उत्तम पात्र तपोधनो का लक्षण अन्य प्रकार से कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(असुभोवयोगरहिदा) जो अशुभ उपयोग से रहित हैं, (सुद्धुवजुत्ता) शुद्धोपयोग में लीन है (वा सुहोवजुत्ता) या कभी शुभोपयोग में वर्तते हैं वे**

(लोगं णत्थारयंति) जगत् को तारने वाले हैं (तेसु भत्तो) उनमें भक्ति करने वाला (पसत्थं) उत्तम पुण्य को (लहदि) प्राप्त करता है। जो मुनि शुद्धोपयोग और शुभोपयोग के धारी हैं, वे ही उत्तम पात्र हैं। निर्विकल्पसमाधि के बल से जब शुभ और अशुभ दोनों उपयोगो से रहित हो जाते हैं तब वीतरागचारित्ररूप शुद्धोपयोग के धारी होते हैं। कदाचित् मोह, द्वेष व अशुभ राग से शून्य रहकर सरागचारित्रमय शुभोपयोग मे वर्तन करते हुए भव्य लोगों को तारते हैं। ऐसे उत्तम पात्र साधुओं मे जो भव्य भक्तिमान् है वह भव्यो मे मुख्य जीव उत्तम पुण्य बांधकर स्वर्ग पाता है तथा परम्पराय मोक्ष का लाभ करता है ॥२६०॥

इस तरह पात्र-अपात्र की परीक्षा को कहने की मुख्यता से पांच गाथाओं के द्वारा तीसरा स्थल पूर्ण हुआ इसके आगे आचार के कथन के ही क्रम से पहले कहे हुए कथन को और भी दृढ़ करने के लिये विशेष करके साधु का व्यवहार कहते है।

अथाविपरीतफलकारणाविपरीतकारणसमुपासनप्रवृत्ति सामान्यविशेषतो विधेयतया सूत्रद्वैतेनोपदर्शयति—

विट्ठा पगदं वत्थु अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहिं।
वट्टदु तदो गुणादो विसेसिदव्वो त्ति उवदेसो ॥२६१॥

दृष्ट्वा प्रकृत वस्त्वभ्युत्थानप्रधानक्रियाभि ।
वर्तता ततो गुणाद्विशेषितव्य इति उपदेश ॥२६१॥

श्रमणानामात्मविशुद्धिहेतौ प्रकृते वस्तुनि तदनुकूलक्रियाप्रवृत्त्या गुणातिशयाधानमप्रतिषिद्धम् ॥२६१॥

भूमिका—**अब, अविपरीत फल का कारण जो 'अविपरीत कारण' उसकी उपासना रूप प्रवृत्ति सामान्यतया और विशेषतया करने योग्य है, यह दो सूत्रों द्वारा बतलाते हैं—**

अन्वयार्थ—[प्रकृत वस्तु] यथाजात मुनि को [दृष्ट्वा] देखकर (प्रथम तो) [अभ्युत्थानप्रधानक्रियाभि] सम्मानार्थ खडे होना आदि क्रियाओ को [वर्तताम्] करो [तत] फिर उन क्रियाओ मे [गुणात्] गुणानुसार [विशेषितव्य] विशेषता करनी चाहिये [इति उपदेश·] ऐसा उपदेश है।

टीका—**श्रमणों के आत्मविशुद्धि की हेतुभूत यथाजात श्रमण के प्रति उनके योग्य क्रिया रूप प्रवृत्ति से गुणातिशयता के आधान करने का निषेध नही है ॥२६१॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथाभ्यागततपोधनस्य दिनत्रयपर्यन्त सामान्यप्रतिपत्ति तदनन्तर विशेषप्रतिपत्ति दर्शयति,—

वट्टदु वर्त्तताम्। स क ? अत्रत्य आचार्य । कि कृत्वा ? **दिट्ठा** दृष्ट्वा । कि ? **वत्थु** तपोधनभूत पात्र वस्तु । कि विशिष्टम् ? **पगद** प्रकृत अभ्यन्तरनिरुपरागशुद्धात्मभावनाज्ञापकबहि-

रङ्गनिर्ग्रन्थनिर्विकाररूपम् । काभि कृत्वा वर्त्तताम् ? **अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहि** अभ्यागतयोग्याचारविहिताभिरभ्युत्थानादिक्रियाभि **तदो गुणादो** ततो दिनत्रयानन्तर गुणाद्गुणविशेषात् **विसेसिदव्वो त्ति** तेन आचार्येण स तपोधनो रत्नत्रयभावनावृद्धिकारणक्रियाभिर्विशेषितव्य ? **त्ति उवदेसो** इत्युपदेश सर्वज्ञगणधरदेवादीनामिति ॥२६१॥

उत्थानिका—आगे दर्शाते है कि जो कोई साधु सघ मे आवे उनका तीन दिन तक सामान्य सम्मान करना चाहिये । फिर विशेष करना चाहिये—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(पगद वत्थु) यथार्थ पात्र को (दिट्ठा) देखकर (अब्भुट्ठाणप्पधाणकिरियाहि) उठ कर खड़ा होना आदि क्रियाओं से (वट्टदु) वर्तन करना योग्य है, (तदो) पश्चात् (गुणदो) रत्नत्रयमय गुणो के कारण से (विसेसिदव्वो) उसके साथ विशेष वर्ताव करना चाहिये (त्ति उवदेसो) ऐसा उपदेश है । आचार्य महाराज किसी ऐसे साधु को—जो भीतर वीतराग शुद्धात्मा की भावना का प्रगट करने वाला बाहरी निर्ग्रन्थ के निर्विकार रूप का धारी है—आते देखकर उस अभ्यागत के योग्य आचार के अनुकूल उठ खड़ा होना आदि क्रियाओ से उसके साथ वर्तन करें । फिर तीन दिनों के पीछे उसमे गुणों की विशेषता के कारण से उसके साथ रत्नत्रय की भावना की वृद्धि करने वाली क्रियाओं के द्वारा विशेष वर्ताव करें । ऐसा सर्वज्ञ भगवान् व गणधरदेवादि का उपदेश है ॥२६१॥**

विशेष कथयति—

अब्भुट्ठाणं गहणं उवासणं पोसणं च सक्कारं ।
अंजलिकरणं पणमं भणिदमिह गुणाधिगाणं हि ॥२६२॥

अभ्युत्थान ग्रहणमुपासन पोषण च सत्कार ।
अञ्जलिकरण प्रणामो भणितमिह गुणाधिकाना हि ॥२६२॥

श्रमणाना स्वतोऽधिकगुणानामभ्युत्थानग्रहणोपासनपोषणसत्काराञ्जलिकरणप्रणामप्रवृत्तयो न प्रतिषिद्धाः ॥२६२॥

भूमिका—**विशेष कथन करते है—**

अन्वयार्थ—[गुणाधिकाना हि] गुण मे अधिक (श्रमणो) के प्रति [अभ्युत्थान] सम्मानार्थ खडे होना, [ग्रहण] आदर से स्वीकार [उपासन] सेवा [पोषण] पोषण उनके अशन, शयनादि की चिन्ता [सत्कार.] गुणो की प्रशसा [अञ्जलिकरण] विनयपूर्वक हाथ जोडना [च] और [प्रणामः] प्रणाम करना [इह] यहा [भणितम्] कहा है ।

टीका—**श्रमणों को अपने से अधिक गुणी मुनि प्रति अभ्युत्थान, ग्रहण, उपासन, पोषण, सत्कार, अंजलिकरण और प्रमाणरूप प्रवृत्तियां निषिद्ध नही हैं ॥२६२॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ तमेव विशेष कथयति, —

भणिद भणित कथित **इह** अस्मिन्ग्रन्थे। केषा सम्बन्धी ? **गुणाधिगाण हि** गुणाधिकतपोधनाना हि स्फुटम्। कि भणितम् ? **अब्भुट्ठाण गहण उवासणं पोसण च सक्कारं अंजलिकरणं पणमं** अभ्युत्थानग्रहणोपासनपोषणसत्काराञ्जलिकरणप्रणामादिकम्। अभिमुखगमनमभ्युत्थानम्, ग्रहण स्वीकार, उपासन शुद्धात्मभावनासहकारिकारणनिमित्त सेवा, तदर्थमेवाशनशयनादिचिन्ता पोषणम्, भेदाभेदरत्नत्रयगुणप्रकाशन सत्कार, बद्धाञ्जलिनमस्कारोऽञ्जलिकरणम्, नमोस्त्विवति वचनव्यापार प्रणाम इति ॥२६२॥

उत्थानिका—आगे उस क्रिया को ही विशेष रूप से प्रगट करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(इह) इस ग्रंथ मे (हि) निश्चय करके (गुणाधिगाणं) अपने से अधिक गुण वालों के लिये (अब्भुट्ठाण) उनको आते देखकर उठ खडा होना (गहणं) उनको आदर से स्वीकार करना (उवासण) उनकी सेवा करना (पोसण) उनकी रक्षा करना (सक्कारं) उनका आदर करना (च अंजलिकरण पणमं) तथा हाथ जोडना और नमस्कार करना (भणिदं) कहा गया है। खड़े होकर सामने जाना सो अभ्युत्थान है, उनको सत्कार के साथ स्वीकार करना बैठा कर आसन देना सो ग्रहण है, उनके शुद्धात्मा की भावना में सहकारी कारणों के निमित्त उनकी वैयावृत्य करना सो सेवा है, उनके भोजन, शयन आदि की चिन्ता रखनी सो पोषण है, उनके व्यवहार और निश्चयरत्नत्रय के गुणों की महिमा करनी सो सत्कार है, हाथ जोड़कर नमस्कार करना सो अंजलिकरण है, नमोस्तु ऐसा वचन कहकर दंडवत् करना सो प्रणाम है। गुणो से अधिक तपोधनो को इस तरह विनय करना योग्य है ॥२६२॥**

अथ श्रमणाभासेषु सर्वा. प्रवृत्तीः प्रतिषेधयति--

अब्भुट्ठेया समणा सुत्तत्थविसारदा उवासेया।
संजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि समणेहिं ॥२६३॥

अभ्युत्थेया श्रमणा सूत्रार्थविशारदा उपासेया।
सयमतपोज्ञानाढ्या प्रणिपतनीया हि श्रमणै ॥२६३॥

सूत्रार्थवैशारद्यप्रवर्तितसंयमतप स्वतत्त्वज्ञानानामेव श्रमणानामभ्युत्थानादिकाः प्रवृत्तयोऽप्रतिषिद्धा इतरेषां तु श्रमणाभासानां ता प्रतिषिद्धा एव ॥२६३॥

भूमिका—**अब, श्रमणाभासों के प्रति समस्त प्रवृत्तियों का निषेध करते हैं—**

अन्वयार्थ—[श्रमणै हि] श्रमणो के द्वारा [सूत्रार्थविशारदा] सूत्रो के और सूत्र-कथित पदार्थों के ज्ञान मे निपुण तथा [सयमतपोज्ञाना ढ्या] सयम, तप और ज्ञान मे

समृद्ध [श्रमणा] श्रमण [अभ्युत्थेया· उपासेयाः प्रणिपतनीया] अभ्युत्थान, उपासना और प्रणाम करने योग्य हैं ।

टीका—**जिनके सूत्रों मे और पदार्थों मे निपुणता के द्वारा संयम, तप और स्वतत्त्व का ज्ञान प्रवर्तता है उन श्रमणो के प्रति ही अभ्युत्थानादिक प्रवृत्तियां अनिषिद्ध हैं, परन्तु उनके अतिरिक्त अन्य श्रमणाभासो के प्रति उन प्रवृत्तियो का निषेध ही है ।।२६३।।**

तात्पर्यवृत्ति

अथाभ्यागताना तदेवाभ्युत्थानादिक प्रकारान्तरेण निर्दिशति,—

अब्भुट्ठेया यद्यपि चारित्रगुणेनाधिका न भवन्ति तपसा वा तथापि सम्यग्ज्ञानगुणेन ज्येष्ठत्वात्श्रुतविनयार्थमभ्युत्थेया अभ्युत्थेया अभ्युत्थानयोग्या भवन्ति । के ते ? **समणा** निर्ग्रन्थाचार्या । कि विशिष्टा ? **सुतत्थविसारदा** विशुद्धज्ञानदर्शनस्वभावपरमात्मतत्त्वप्रभृत्यनेकान्तात्मकपदार्थेषु वीतरागसर्वज्ञप्रणीतमार्गेण प्रमाणनयनिक्षेपैर्विचारचतुरचेतस सूत्रार्थविशारदा । न केवलमभ्युत्थेया **उवासेया** परमचिज्ज्योति परमात्मपदार्थपरिज्ञानार्थमुपासेया परमभक्त्या सेवनीया । **सजमतवणाणड्ढा पणिवदणीया हि** सयमतपोज्ञानाढ्या प्रणिपतनीया हि स्फुटम् बहिरङ्गेन्द्रियसयमप्राणसयमबलेनाभ्यन्तरे स्वशुद्धात्मनि यत्नपरत्व सयम । बहिरङ्गानशनादितपोबलेनाभ्यन्तरे परद्रव्येच्छानिरोधेन च स्वस्वरूपे प्रतपन विजयन तप । बहिरङ्गपरमागमाभ्यासेनाभ्यन्तरे स्वसवेदनज्ञान सम्यग्ज्ञानम् । एवमुक्तलक्षणै सयमतपोज्ञानैराढ्या परिपूर्णा यथासम्भव प्रतिवन्दनीया । कै ? **समणेहिं** श्रमणैरिति । अत्रेद तात्पर्यम्—ये बहुश्रुता अपि चारित्राधिका न भवन्ति तेऽपि परमागमाभ्यासनिमित्त यथायोग्य वन्दनीया । द्वितीय च कारण—ते सम्यक्त्वे ज्ञाने च पूर्वमेव दृढतरा अस्य तु नवतरतपोधनस्य सम्यक्त्वे ज्ञाने चापि दार्ढ्य नास्ति तर्हि स्तोकचारित्राणा किमर्थमागमे वन्दनादिनिषेध कृत इति चेत् ? अतिप्रसङ्गनिषेधार्थमिति ।।२६३।।

उत्थानिका—आगे अभ्यागत साधुओ की विनय को दूसरे प्रकार से बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(समणेहिं) साधुओं के द्वारा (हि) निश्चय करके (सुत्तत्थविसारदा) शास्त्रों के अर्थ में निपुण तथा (संजमतवणाणड्ढा) सयम, तप और ज्ञान से पूर्ण (समणा) साधुगण (अब्भुट्ठेया) खड़े होकर आदर करने योग्य हैं, (उवासेया) उपासना करने योग्य हैं तथा (पणिवंदणीया) नमस्कार करने योग्य हैं। जो निर्ग्रंथ आचार्य, उपाध्याय या साधु विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावमय परमात्मतत्त्व को आदि लेकर अनेक धर्ममय पदार्थों के जानने में वीतराग सर्वज्ञ द्वारा कथित मार्ग के अनुसार प्रमाण, नय, निक्षेपों के द्वारा विचार करने के लिये चतुर बुद्धि के धारक हैं तथा बाहर मे इन्द्रियसंयम व प्राणिसंयम को पालते हुए भीतर मे इनके बल से अपने शुद्धात्मा के ध्यान मे यत्नशील हैं ऐसे सयमी हैं तथा बाहर मे अनशनादि तप को पालते हुए भीतर मे इनके बल से परद्रव्यों की इच्छा को रोककर अपने आत्मस्वरूप मे तपते है ऐसे तपस्वी हैं, तथा बाहर में पर-**

मागम का अभ्यास करते हुए भीतर में स्वसंवेदन ज्ञान से पूर्ण हैं ऐसे साधुओं को दूसरे साधु आते देख उठ खड़े होते हैं, परम चैतन्य ज्योतिमय परमात्म पदार्थ के ज्ञान के लिये उनकी परम भक्ति से सेवा करते हैं तथा उनको नमस्कार करते हैं। यदि कोई चारित्र व तप में अपने से अधिक न हो तो भी सम्यग्ज्ञान मे बड़ा समझकर श्रुत की विनय के लिये उनका आदर करते हैं। यहां यह तात्पर्य है कि जो बहुत शास्त्रों के ज्ञाता हैं, परन्तु चारित्र मे अधिक नहीं हैं तो भी परमागम के अभ्यास के लिये उनको यथायोग्य नमस्कार करना योग्य है। दूसरा कारण यह है कि वे सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान मे पहले से ही दृढ है। जिसके सम्यक्त्व व ज्ञान मे दृढता नहीं है वह साधु वंदना योग्य नहीं है। आगम मे जो अल्प चारित्र वालों को वन्दना आदि का निषेध किया है, वह इसीलिये की मर्यादा का उल्लंघन न हो ॥२६३॥

अथ कीदृशः श्रमणाभासो भवतीत्याख्याति—

ण हवदि समणो त्ति[1] मदो संजमतवसुत्तसंपजुत्तो वि ।
जदि सद्दहदि ण अत्थे आदापधाणे जिणक्खादे ॥२६४॥

न भवति श्रमण इति मत सयमतप सूत्रसप्रयुक्तोऽपि ।
यदि श्रद्धत्ते नार्थानात्मप्रधानान् जिनाख्यातान् ॥२६४॥

आगमज्ञोऽपि संयतोऽपि तपःस्थोऽपि जिनोदितमनन्तार्थनिर्भरं विश्वं स्वेनात्मना ज्ञेयत्वेन निष्पीतत्वादात्मप्रधानमश्रद्दधान श्रमणाभासो भवति ॥२६४॥

भूमिका—अब, श्रमणाभास कैसा (जीव) होता है सो कहते हैं—

अन्वयार्थ—[सयमतप सूत्रसप्रयुक्तः अपि] सूत्र, सयम और तप से सयुक्त होने पर भी [यदि] यदि (वह जीव) [जिनाख्यातान्] जिनोक्त [आत्मप्रधानान्] आत्मप्रधान [अर्थान्] पदार्थों का [न श्रद्धत्ते] श्रद्धान नही करता तो वह [श्रमण न भवति] श्रमण नही है, [इति मतः] ऐसा [आगम मे] कहा है।

टीका—आगम का ज्ञाता होने पर भी सयत होने पर भी तप में स्थित होने पर भी, जिनोक्त अनन्त पदार्थों से भरे हुये विश्व को अपने आत्मा द्वारा ज्ञेयरूप से जानता है इस कारण उस विश्व में आत्म प्रधान है, जो जीव उसका श्रद्धान नहीं करता है वह श्रमणाभास है ॥२६४॥

---

1 इदि (ज०वृ०)।

तात्पर्यवृत्ति

अथ श्रमणाभास कीदृशो भवतीति पृष्टे प्रत्युत्तर ददाति,—

ण हवदि समणो स श्रमणो न भवति **इदि मदो** इति मत सम्मत । क्व ? आगमे । कथभूतोऽपि? **संजमतवसुत्तसप्पजुत्तोवि** सयमतप श्रुतै सप्रयुक्तोऽपि सहितोऽपि । यदि किम् ? **जदि सद्दहदि ण** यदि चेन्मूढत्रयादिपञ्चविशतिसम्यक्त्वमलरहित सन् न श्रद्धत्ते न रोचते न मन्यते । कान् ? **अत्थे** पदार्थान् । कथ भूतान् ? **आदपधाणे** निर्दोषिपरमात्मप्रभृतीन् । पुनरपि कथ भूतान् ? **जिणक्खादे** वीतरागसर्वज्ञेनाख्यातान् दिव्यध्वनिना प्रणीतान् गणधरदेवैर्ग्रन्थविरचितानित्यर्थ ।।२६४।।

उत्थानिका—आगे श्रमणाभास कैसा होता है इस प्रश्न के उत्तर मे आचार्य कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(संजमतवसुत्तसप्पजुत्तोवि) संयम, तप तथा शास्त्रज्ञान सहित होने पर भी (जदि) जो कोई (जिणक्खादे) जिनेन्द्र द्वारा कहे हुए (आदपधाणे अत्थे) आत्मा को मुख्य करके पदार्थों को (ण सद्दहदि) नहीं श्रद्धान करता है (समणोत्ति ण हवदि मदो) वह साधु नहीं हो सकता है, ऐसा माना गया है। यदि साधु, संयम भी पालता हो, तप भी करता हो, शास्त्रज्ञान सहित भी हो परन्तु तीन मूढ़ता आदि सम्यक्त्व के पच्चीस दोषों से रहित होकर वीतराग सर्वज्ञ द्वारा प्रकाशित तथा दिव्य-ध्वनि अनुसार गणधर द्वारा ग्रंथो मे गुम्फित निर्दोष परमात्मा आदि पदार्थ-समूह का श्रद्धान नही करता, रुचि नहीं रखता, मान्यता नही देता, वह श्रमण नहीं है अर्थात् मिथ्यादृष्टि है ।।२६४।।**

अथ श्रामण्येन सममननुमन्यमानस्य विनाशं दर्शयति—

अववददि सासणत्थं समणं दिट्ठा पदोसदो जो हि ।
किरियासु णाणुमण्णदि हवदि हि सो णट्ठचारित्तो ।।२६५।।

अपवदति शासनस्थ श्रमण दृष्ट्वा प्रद्वेषतो यो हि ।
क्रियासु नानुमन्यते भवति हि स नष्टचारित्र ।।२६५।।

श्रमणं शासनस्थमपि प्रद्वेषादपवदतः क्रियास्वननुमन्यमानस्य च प्रद्वेषकषायितत्वाच्चारित्रं नश्यति ।।२६५।।

भूमिका—**अब, जो श्रामण्य से समान हैं उनका अनुमोदन (आदर) न करने वाले का विनाश बतलाते हैं—**

अन्वयार्थ—[य हि] जो [शासनस्थ श्रमण] शासनस्थ (जिनदेव के शासन में स्थित) श्रमण को [दृष्ट्वा] देखकर [प्रद्वेषत.] द्वेष से [अपवदति] उसका अपवाद करता है, और [क्रियासु न अनुमन्यते] (सत्कारादि) क्रियाओ के करने मे अनुमत (प्रसन्न) नही है [स. नष्टचारित्र. हि भवति] उसका चारित्र नष्ट हो जाता है ।

टीका—**जो श्रमण द्वेष के कारण शासनस्थ श्रमण का भी अपवाद करता है और उसके प्रति सम्मानादि क्रियाओं में प्रसन्न नहीं है, वह श्रमण द्वेष कषाय सहित होता है, जिससे उसका चारित्र नष्ट हो जाता है ॥२६५॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ मार्गस्थश्रमणदूषणे दोष दर्शयति,—

अववददि अपवदति दूषयत्यपवाद करोति। स क ? **जो हि** य कर्त्ता हि स्फुटम्। कम् ? **समण** श्रमण तपोधनम्। कथभूतम् ? **सासणत्थ** शासनस्थ निश्चयव्यवहारमोक्षमार्गस्थम्। कस्मात् ? **पदोसदो** निर्दोषिपरमात्मभावनाविलक्षणात् प्रद्वेषात्कषायात्। किं कृत्वा पूर्व ? **दिट्ठा** दृष्ट्वा अपवदते। न केवल अपवदते ? **णाणुमण्णदि** नानुमन्यते। कासु विषयासु ? **किरियासु** यथायोग्य वन्दनादिक्रियासु **हवदि हि सो** भवति हि स्फुट स। किं विशिष्ट ? **णट्ठचारित्तो** कथचिदतिप्रसङ्गान्नष्टचारित्रो भवतीति। तथाहि मार्गस्थतपोधन दृष्ट्वा यदि कथचिन्मात्सर्यवशाद्दोषग्रहण करोति तदा चारित्रभ्रष्टो भवति स्फुट पश्चादात्मनिन्दा कृत्वा वर्त्तते तदा दोषो नास्ति कालान्तरे वा निवर्त्तते तथापि दोषो नास्ति यदि पुनस्तत्रैवानुबन्ध कृत्वा तीव्रकषायवशादतिप्रमङ्ग करोति तदा चारित्रभ्रष्टो भवतीत्यय भावार्थ। बहुश्रुतैरल्पश्रुततपोधनाना दोषो न ग्राह्यस्तैरपि तपोधनै किमपि पाठमात्र गृहीत्वा तेषा दोषो न ग्राह्य किन्तु किमपि सारपद गृहीत्वा स्वय भावनैव कर्त्तव्या। कस्मादिति चेत् ? रागद्वेषोत्पत्तौ सत्या बहुश्रुताना श्रुतफल नास्ति तपोधनाना तप फल चेति ॥२६५॥

अत्राह शिष्य—अपवादव्याख्यानप्रस्तावे शुभोपयोगो व्याख्यात पुनरपि किमर्थ अत्र व्याख्यान कृतमिति। परिहारमाह युक्तमिद भवदीयवचन किन्तु तत्र सर्वत्यागलक्षणोत्सर्गव्याख्याने कृते सति तत्रासमर्थतपोधनै कालापेक्षया किमपि ज्ञानसयमशौचोपकरणादिक ग्राह्यमित्यपवादव्याख्यानमेव मुख्यम्। अत्र तु यथा भेदनयेन सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रतपश्चरणरूपा चतुर्विधाराधना भवति। सैवाभेदनयेन सम्यक्त्वचारित्ररूपेण द्विधा भवति। तत्राप्यभेदविवक्षया पुनरेकैव वीतरागचारित्रराधना। तदा भेदनयेन सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानसम्यक्चारित्ररूपस्त्रिविधमोक्षमार्गो भवति। स एवाभेदनयेन श्रामण्यापरमोक्षमार्गनामा पुनरेक एव स चाभेदरूपो मुख्यवृत्त्या 'एयग्गगदो समणो' इत्यादि चतुर्दशगाथाभि पूर्वमेव व्याख्यात। अय तु भेदरूपो मुख्यवृत्या शुभोपयोगरूपेणेदानी व्याख्यातो नास्ति पुनरुक्तदोष इति। एव समाचारविशेषविवरणरूपेण चतुर्थस्थले गाथाष्टक गतम्।

उत्थानिका—आगे जो रत्नत्रय मार्ग मे चलने वाला साधु है उसको जो दूषण लगाता है उसके दोष को दिखलाते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो) जो कोई साधु (हि) निश्चय से (सासणत्थ) जिनमार्ग मे चलते हुए (समणं) साधु को (दिट्ठा) देखकर (पदोसदो) द्वेषभाव से (अववददि) उसका अपवाद करता है, (किरियासु) उसके लिये विनयपूर्वक क्रियाओ मे (णाणुमण्णदि) नहीं अनुमति रखता है (सो) वह साधु (हि) निश्चय से (णट्ठचारित्तो) चारित्र से भ्रष्ट**

(हवदि) हो जाता है। जो कोई साधु दूसरे साधु को निश्चय तथा व्यवहार मोक्षमार्ग मे चलते हुए देखकर भी निर्दोष परमात्मा की भावना से विलक्षण द्वेष व कषाय उनसे उसका अपवाद करता है इतना ही नहीं उसको यथायोग्य वंदना आदि कार्यों मे अनुमति नहीं करता है वह किसी अपेक्षा से मर्यादा के उल्लंघन करने से चारित्र से भ्रष्ट हो जाता है। जिसका भाव यह है कि यदि रत्नत्रय मार्ग में स्थित साधु को देखकर ईर्ष्याभाव से दोष ग्रहण करे तो वह प्रगटपने चारित्र-भ्रष्ट हो जाता है। पीछे अपनी निन्दा करके उस भाव का छोड़ देता है तो उसका दोष मिट जाता है अथवा कुछ काल पीछे इस भाव को त्यागता है तो भी उसका दोष नही रहता है, परन्तु यदि इसी ही भाव को दृढ करता हुआ तीव्र कषाय भाव से मर्यादा को उल्लघन कर वर्तन करता रहता है तो वह अवश्य चारित्र-भ्रष्ट हो जाता है यहां यह भावार्थ है। बहुत शास्त्र-ज्ञाताओ को थोड़े शास्त्रज्ञाता साधुओ का दोष नहीं ग्रहण करना चाहिये और न अल्पशास्त्री साधुओ को उचित है कि थोडा सा पाठ मात्र जानकर बहुत शास्त्री साधुओ का दोष ग्रहण करें किंतु परस्पर कुछ भी सारभाव लेकर स्वय शुद्ध स्वरूप को भावना ही करनी चाहिये क्योंकि रागद्वेष के पैदा होते हुए न बहुत शास्त्र-ज्ञाताओ को शास्त्र का फल होता है, न तपस्वियों को तप का फल होता है ॥२६५॥

यहां शिष्य ने कहा कि आपने अपवाद मार्ग के व्याख्यान के समय शुभोपयोग का वर्णन किया अब यहां फिर किसलिये उसका व्याख्यान किया गया है? इसका समाधान यह है कि यह कहना आपका ठीक है, परन्तु वहा पर सर्व-त्याग स्वरूप उत्सर्ग व्याख्यान को करके फिर असमर्थ साधुओ को काल की अपेक्षा से कुछ भी ज्ञान, संयम व शौच का उपकरण आदि ग्रहण करना योग्य है इस अपवाद व्याख्यान की मुख्यता है। यहां तो जैसे भेदनय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र व सम्यक्तप रूप चार प्रकार आराधना होती है सो ही अभेदनय से सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र रूप से दो प्रकार की होती हैं। इनमे भी अभेदनय से एक ही वीतरागचारित्ररूप आराधना होती है तैसे ही भेदनय से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र रूप से तीन प्रकार मोक्षमार्ग है सो ही अभेदनय से एक श्रमणपना नाम का मोक्षमार्ग है जिसका अभेदरूप से मुख्य कथन "एयग्गगदो समणो" इत्यादि चौदह गाथाओ मे पहले ही किया गया यहां मुख्यता से उसी का भेदरूप से शुभोपयोग के लक्षण को कहते हुए व्याख्यान किया गया इसमें कोई पुनरुक्ति का दोष नहीं है।

इस प्रकार समाचार विशेष को कहते हुए चौथे स्थल में गाथाएं आठ पूर्ण हुईं।

अथ श्रामण्येनाधिकं हीनमिवाचरतो विनाशं दर्शयति—

गुणदोधिगस्स विणयं पडिच्छगो जो वि[1] होमि समणो त्ति।
होज्जं गुणाधरो जदि सो होदि अणंतसंसारी ॥२६६॥

गुणतोऽधिकस्य विनय प्रत्येषको योऽपि भवामि श्रमण इति।
भवन् गुणाधरो यदि स भवत्यनन्तससारी ॥२६६॥

स्वयं जघन्यगुणः सन् श्रमणोऽहमपीत्यवलेपात्परेषा गुणाधिकाना विनयं प्रतीच्छन् श्रामण्यावलेपवशात् कदाचिदनन्तससार्यपि भवति ॥२६६॥

भूमिका—**अब, जो श्रामण्य मे अधिक हो उसके प्रति जैसे कि वह श्रामण्य मे हीन (अपने से मुनिपने मे नीचा) हो ऐसा आचरण करने वाले का विनाश** होता है, ऐसा **बतलाते हैं—**

अन्वयार्थ—[यः] जो **श्रमण** [यदि गुणाधर भवन् अपि] गुणो मे हीन होने पर भी [**श्रमणः भवामि**] 'मैं भी श्रमण हूँ' [इति] ऐसा गर्व करके [गुणत अधिकस्य] गुणो मे अधिक श्रमण से [विनय प्रत्येषक] विनय चाहता है [सः] वह [अनन्तससारी भवति] अनन्त ससारी होता है।

टीका—**जो श्रमण स्वयं जघन्य गुणो वाला होने पर भी 'मै भी श्रमण हूँ', ऐसे गर्व के कारण दूसरे अधिक गुण वाले श्रमणों से विनय की इच्छा करता है, वह श्रामण्य के गर्व के वश से कदाचित् अनन्त संसारी भी होता है ॥२६६॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ स्वय गुणहीन सन् परेषा गुणाधिकाना योऽसौ विनय वाञ्छति तस्य गुणविनाश दर्शयति,—

सो होदि अणतससारी स कथचिदनन्तससारी सम्भवति। य कि करोति ? **पडिच्छगो जो दु** प्रत्येषको यस्तु अभिलाषकोऽपेक्षक इति। कम् ? **विणय** वन्दनादिविनयम्। कस्य सम्बन्धिनम् ? **गुणदोधिगस्स** बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयगुणाभ्यामधिकस्यान्यतपोधनस्य। केन कृत्वा ? **होमि समणोत्ति** अहमपि श्रमणो भवामीत्यभिमानेन गर्वेण। यदि किम् ? **होज्ज गुणाधरो जदि** निश्चयव्यवहाररत्न-त्रयगुणाभ्या हीन स्वय यदि चेद्भवतीति। अयमत्रार्थ—यदि चेद्गुणाधिकेभ्य सकाशाद्गर्वेण पूर्व विनयवाञ्छा करोति पश्चाद्विवेकबलेनात्मनिन्दा करोति तदानन्तससारो न भवति यदि पुनस्तत्रैव मिथ्याभिमानेन ख्यातिपूजालाभार्थं दुराग्रह करोति तदा भवति। अथवा यदि कालान्तरेऽप्यात्मनिन्दा करोति तथापि न भवतीति ॥२६६॥

उत्थानिका—आगे कहते है कि जो स्वय गुणहीन होता हुआ दूसरे अपने से जो गुणो मे अधिक है उनसे अपनी विनय चाहता है उसके गुणो का नाश हो जाता है—

---
1. जो दु (ज० वृ०)

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जदि) यदि (जोवि) जो कोई साधु भी (समणो त्ति होमि) मैं साधु हूं ऐसा मानकर (गुणदोधिगस्स) अपने से गुणों मे जो अधिक है उसके द्वारा (विणयं) अपनी विनय (पडिच्छगो) चाहता है तो (सो) वह साधु (गुणाधरो) गुणों से रहित (होज्जं) होता हुआ (अणंतसंसारी होदि) अनन्त संसार मे भ्रमण करने वाला होता है। मै श्रमण हूं, इस गर्व से जो साधु अपने से व्यवहार निश्चयरत्नत्रय के साधन मे अधिक है ऐसे उस अन्य साधु के द्वारा अपनी बन्दना आदि विनय की इच्छा करता है और वह स्वय निश्चय व्यवहाररत्नत्रयरूपी गुण से हीन है तो वह साधु कथचित् अनन्त ससार मे भ्रमण करने वाला होता है। यहां यह भाव है कि यदि कोई गुणाधिक से अपने विनय की वांछा गर्व से करे, परन्तु पीछे भेदज्ञान के बल से अपनी निन्दा करे तो अनन्त ससारी न होवे अथवा कालान्तर मे भी अपनी निन्दा करे तो भी दीर्घ ससारी न होवे, परन्तु जो मिथ्या अभिमान से अपनी बडाई, पूजा व लाभ के अर्थ दुराग्रह या हठ धारण करे सो अवश्य अनन्तससारी हो जावेगा ॥२६६॥

अथ श्रामण्येनाधिकस्य हीनं सममिवाचरतो विनाश दर्शयति—

अधिगगुणा सामण्णे वट्टंति गुणाधरेहिं किरियासु ।
जदि ते मिच्छुवजुत्ता[1] हवंति पब्भट्टचारित्ता ॥२६७॥

अधिकगुणा श्रामण्ये वर्तन्ते गुणाधरै क्रियासु ।
यदि ते मिथ्योपयुक्ता भवन्ति प्रभ्रष्टचारित्रा ॥२६७॥

स्वयमधिकगुणा गुणाधरै. परै सह क्रियासु वर्तमाना मोहादसम्यगुपयुक्तत्वाच्चा-रित्राद्भ्रश्यन्ति ॥२६७॥

भूमिका—अब, जो श्रमण श्रामण्य से अधिक हो वह जो अपने से ही श्रमण के प्रति अपने बराबरी जैसा आचरण करे तो उसका विनाश है, ऐसा उपदेश देते हैं।

अन्वयार्थ—[यदि श्रामण्ये अधिकगुणा] जो श्रामण्य मे अधिक गुण वाले है, तथापि [गुणाधरैः] हीन गुण वालो के प्रति [क्रियासु] वदनादि क्रियाओ मे [वर्तन्ते] वर्तते है, [ते] वे [मिथ्योपयुक्ता·] मिथ्यात्व से उपयुक्त होते हुये [प्रभ्रष्टचारित्रा भवन्ति] चारित्र से भ्रष्ट होते है।

टीका—जो स्वयं अधिक गुण वाले होने पर भी अन्य हीन गुण वाले श्रमणों के प्रति वदनादि क्रियाओ मे वर्तते है वे मोह के कारण असम्यक् से उपयुक्त होते हुये चारित्र से भ्रष्ट होते हैं।

---

१ मिच्छत्तपउत्ता (ज० वृ०)।

तात्पर्यवृत्ति

अथ स्वयमधिकगुणा सन्तो यदि गुणाधरैं सह वन्दनादिक्रियासु वर्तन्ते तदा गुणविनाश दर्शयति,—

वट्टं ति वर्तन्ते प्रवर्त्तन्ते **जदि** यदि चेत्। क्व वर्तन्ते ? **किरियासु** वन्दनादिक्रियासु। कैः सह ? **गुणाधरेहिं** गुणाधरैर्गुणरहितैः। स्वय कथभूता सन्त ? **अधिगगुणा** अधिकगुणा क्व ? **सामण्णे** श्रामण्ये चारित्रे **ते मिच्छत्तपउत्ता हवंति** ते कथचिदिति प्रसङ्गान्मिथ्यात्वप्रयुक्ता भवन्ति। न केवल मिथ्यात्वप्रयुक्ता **पब्भट्ठचारित्ता** प्रभ्रष्टचारित्राश्च भवन्ति। तथाहि—यदि बहुश्रुताना पार्श्वे ज्ञानादि-गुणवृद्धयर्थं स्वय चारित्रगुणाधिका अपि वन्दनादिक्रियासु वर्तन्ते तदा दोषो नास्ति। यदि पुन केवल ख्यातिपूजालाभार्थं वर्तन्ते तदातिप्रसङ्गाद्दोषो भवति। इदमत्र तात्पर्यम्—वन्दनादिक्रियासु वा तत्त्व-विचारादौ वा यत्र रागद्वेषोत्पत्तिर्भवति तत्र सर्वत्र दोष एव। ननु भवदीयकल्पनीयमागमे नास्ति। नैवम्। आगम सर्वोऽपि रागद्वेषपरिहारार्थ एव पर किन्तु ये केचनोत्सर्गापवादरूपेणागमनयविभाग न जानन्ति त एव रागद्वेषौ कुर्वन्ति न चान्य इति ॥२६७॥

इति पूर्वोक्तक्रमेण 'एयग्गगदो' इत्यादि चतुर्दशगाथाभि स्थलचतुष्टयेन श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गाभिधानस्तृतीयान्तराधिकार समाप्त।

अथानन्तर द्वात्रिशद्गाथापर्यन्त पञ्चभि स्थलै शुभोपयोगाधिकार कथ्यते। तत्रादौ लौकिक-ससर्गनिषेधमुख्यत्वेन 'णिच्छिदसुत्तत्थपदो' इत्यादिपाठक्रमेण गाथापञ्चकम्। तदनन्तर सरागसयमा-परनामशुभोपयोगस्वरूपकथनप्रधानत्वेन 'समणा सुद्धुवपजुत्ता' इत्यादि सूत्राष्टकम्। ततश्च पात्रा-पात्रपरीक्षाप्रतिपादनरूपेण 'रागो पसत्थभूदो' इत्यादि गाथाषट्कम्। तत परमाचारादिविहितक्रमेण पुनरपि सक्षेपरूपेण समाचारव्याख्यानप्रधानत्वेन 'दिट्ठापगद वत्थु' इत्यादि सूत्राष्टकम्। तत पञ्च रत्नमुख्यत्वेन 'जे अजधा गहिदत्था' इत्यादि गाथापञ्चकम्। एव द्वात्रिशद्गाथाभि स्थलपञ्चकेन चतुर्थान्तराधिकारे समुदायपातनिका।

उत्थानिका—आगे यह दिखलाते है कि जो स्वय गुणो मे अधिक होकर गुणहीनो के साथ वदना आदि क्रियाओ मे वर्तन करते है उनके गुणो का नाश हो जाता है।

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(सामण्णे) मुनिपने के चारित्र मे (अधिगगुणा) उत्कृष्ट गुणधारी साधु (जदि) जो (गुणाधरेहिं) गुणहीन साधुओं के साथ (किरियासु) वन्दना आदि क्रियाओं में (वट्टंति) वर्तन करते हैं (ते) वे (मिच्छत्तपउत्ता) मिथ्यात्व-सहित तथा (पब्भट्ठ-चारित्ता) चारित्र रहित (हवंति) हो जाते हैं। यदि कोई बहुत शास्त्र के ज्ञाताओं के पास स्वयं चारित्र गुण मे अधिक होने पर भी, अपने ज्ञानादि गुणो की वृद्धि के लिये वदना आदि क्रियाओं मे वर्तन करे तो दोष नहीं है। परन्तु यदि अपनी बड़ाई व पूजा के लिये उनके साथ वदनादि क्रिया करे तो मर्यादा उल्लघन से दोष है। यहां पर तात्पर्य यह है कि जिस जगह वंदना आदि क्रिया के व तत्त्व विचार आदि के लिये वर्तन करे परन्तु रागद्वेष की उत्पत्ति हो जावे उस जगह सर्वत्र दोष ही है यहां कोई शका करे कि यह तो तुम्हारी ही कल्पना है, आगम मे यह बात नहीं है ? समाधान—ऐसा नहीं है, क्योंकि सर्व ही आगम रागद्वेष के त्याग के लिये ही हैं किन्तु जो कोई साधु उत्सर्ग और अपवादरूप (निश्चय**

व्यवहाररूप) आगम मे कहे हुए नय विभाग को नहीं जानते है वे ही रागद्वेष करते हैं, अन्य रागद्वेष नहीं करते ॥२६७॥

इस प्रकार "एयग्गगदो" इत्यादि चौदह गाथाओ के द्वारा चार स्थलों मे श्रामण्य जिसका दूसरा नाम मोक्षमार्ग है तीसरा अतराधिकार समाप्त हुआ।

समुदायपातनिका—इसके पश्चात् ३२ गाथा पर्यंत पाच स्थलो के द्वारा शुभोपयोग अधिकार का कथन किया जाता है। उसके आदि मे लौकिक जन के ससर्ग के निषेध की मुख्यता से "णिच्छिदसुत्तत्थपदो" इत्यादि पाठ क्रम से पाच गाथा है (२६८–२७०) उसके पश्चात् सरागसयम द्वारा दूसरा नाम शुभोपयोग उसके स्वरूप के कथन की प्रधानता से "समणा सुद्धुवपजुत्ता" इत्यादि आठ सूत्र है उसके पश्चात् पात्र-अपात्र की परीक्षा का कथन करने वाली "रागो पसत्थभूदो" इत्यादि छह गाथा है इसके पश्चात् आचार आदि विहित क्रम से पुन सक्षेप रूप से समाचार के व्याख्यान की प्रधानता से "दिट्ठापगद वत्थु" इत्यादि आठ गाथा है। उसके पचरत्न की मुख्यता से "जे अजधा गहिदत्था" इत्यादि पाच गाथा है (२७१–२७५) इस प्रकार चौथे अधिकार मे पाच स्थलो की ३२ गाथाओ की समुदायपातनिका ने (जिन स्थलो पर * यह चिन्ह है वे स्थल या उनकी गाथा नही है। प्रथम स्थलो मे भी पाच गाथा की बजाय तीन गाथा है। गाथा २६८ के पश्चात् एक गाथा अनुकम्पा के स्वरूप का कथन करने वाली है किन्तु उसका 'लौकिक जन ससर्ग' से कोई सम्बन्ध नही है। अत 'लौकिक जन ससर्ग' के स्थल मे तीन ही गाथा है पाच नही है।

अथासत्सग प्रतिषेध्यत्वेन दर्शयति—

णिच्छिदसुत्तत्थपदो समिदकसाओ तवोधिगो[1] चावि।
लोगिगजणसंसग्गं ण चयदि जदि संजदो ण हवदि ॥२६८॥

निश्चितसूत्रार्थपद समितकषायस्तपोऽधिकश्चापि।
लौकिकजनससर्ग न त्यजति यदि सयतो न भवति ॥२६८॥

यत: सकलस्यापि विश्ववाचकस्य सल्लक्षण: शब्दब्रह्मस्तद्वाच्यस्य सकलस्यापि सल्लक्षणो विश्वस्य च युगपदनुस्यूततदुभयज्ञेयाकारतयाधिष्ठानभूतस्य सल्लक्षणो ज्ञातृतत्तस्य निश्चयनयान्निश्चितसूत्रार्थपदत्वेन निरुपरागोपयोगत्वात् समितकषायत्वेन बहुशोऽभ्यस्तनिष्कम्पोपयोगत्वात्तपोऽधिकत्वेन च सुष्ठु संयतोऽपि सप्तार्चि:संगतं तोयमिवावश्यंभाविविकारत्वात् लौकिकसंगादसंयत एव स्यात्ततस्तत्सग: सर्वथा प्रतिषेध्य एव ॥२६८॥

---

१ तओधिगो (ज० वृ०)।

भूमिका—**अब, यह बतलाते हैं कि असत्सग निषेध्य है—**

अन्वयार्थ—[निश्चितसूत्रार्थपद] जिसने सूत्रो के पदो को और अर्थों को निश्चित किया है, [समितकषायः] जिसने कषायो का शमन किया है, [च] और [तपोऽधिकः अपि] जो अधिक तपवान् है ऐसा जीव भी [यदि] यदि [लौकिकजनससर्ग] लौकिक जनो के ससर्ग को [न त्यजति] नही छोडता, [सयत न भवति] तो वह सयत नही है।

टीका—(१) **विश्व के वाचक, 'सत्' लक्षणवान् सम्पूर्ण ही शब्दब्रह्म और उस शब्दब्रह्म के वाच्य 'सत्' लक्षण वाले सम्पूर्ण ही विश्व उन दोनों के ज्ञेयाकार अपने मे युगपत् अनुस्यूत हो जाने से उन दोनो का अधिष्ठानभूत 'सत्' लक्षण वाला ज्ञाता निश्चय-नय द्वारा 'सूत्र के पदो और अर्थों का निश्चय करने वाला' हो (२) निरुपराग उपयोग के कारण (ज्ञातृतत्व) 'जिसने कषायों को शमित किया है ऐसा' हो, और (३) निष्कप उपयोग का बहुत बार अभ्यास करने से (ज्ञातृतत्व) 'अधिक तप वाला' हो, इस प्रकार तीन कारणों से जो जीव भली-भाँति सयत हो, वह भी लौकिक जनों के संग से असंयत ही होता है, जैसे अग्नि के सग से जल उष्ण अर्थात् विकारी हो जाता है उसी प्रकार मुनि के भी कुसगति से विकार अवश्यंभावी है। इसलिये लौकिक सग सर्वथा निषेध्य ही है ॥२६८॥**

तात्पर्यवृत्ति

तद्यथा अथ लौकिकससर्ग प्रतिषेधयति,—

णिच्छिदसुत्तत्थपदो निश्चितानि ज्ञातानि निर्णीतान्यनेकान्तस्वभावनिजशुद्धात्मादिपदार्थ-प्रतिपादकानि सूत्रार्थपदानि येन स भवति निश्चितसूत्रार्थपद **समिदकसाओ** परविषये क्रोधादिपरि-हारेण तथाभ्यन्तरे परमोपशमभावपरिणतनिजशुद्धात्मभावनाबलेन च शमितकषाय । **तओधिगो चावि** अनशनादिबहिरङ्गतपोबलेन तथैवाभ्यन्तरे शुद्धात्मभावनाविषये प्रतिपन्नाद्विजयनाच्च तपोऽधिकश्चापि सन् स्वय सयत कर्त्ता **लोगिगजणससग्ग ण चयदि जदि** लौकिका स्वेच्छाचारिणस्तेषा ससर्गो लौकिक-ससर्गस्त न त्यजति यदिचेत् **सजदो ण हवदि** तर्हि सयतो न भवतीति । अयमत्रार्थ —स्वय भावितात्मापि यद्यसवृतजनससर्ग न त्यजति तदातिपरिचयादग्निसङ्गत जलमिव विकृतिभाव गच्छतीति ॥२६८॥

उत्थानिका—आगे लौकिक जनो की सगति को मना करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(णिच्छिदसुत्तत्थपदो) जिसने सूत्र के अर्थ और पदों को निश्चय पूर्वक जान लिया है, (समिदकसायो) कषायों को शात कर दिया है (तओधिको चावि) तथा तप करने में भी अधिक है ऐसा साधु (जदि) यदि (लोगिगजणससग्गं) लौकिक जनों का अर्थात् असंयमियों का भ्रष्टचारित्र साधुओ का संगम (ण जहदि) नहीं त्यागता है (संजदो ण हवदि) तो वह संयमी नहीं रह सकता है। जिसने अनेक धर्ममय अपने शुद्धात्मा**

आदि पदार्थों को बताने वाले सूत्र के अर्थ और पदों को अच्छी तरह निर्णय करके जान लिया है, अन्य जीवों मे व पदार्थों मे क्रोधादि कषाय को त्याग करने से तथा भीतर परम शात भाव मे परिणमन करते हुए अपने शुद्धात्मा की भावना के बल से कषायों को शांत कर दिया है, तथा अनशन आदि छः बाहरी तपो के बल से व अंतरग मे शुद्ध आत्मा की भावना के सम्बन्ध मे औरो से विजय प्राप्त किया है, ऐसा तप करने मे भी श्रेष्ठ है। इन तीन विशेषणो से युक्त साधु होने पर भी यदि स्वेच्छाचारी लौकिक जनों का संसर्ग न छोडे तो वह स्वय सयम से छूट जाता है। भाव यह है कि स्वयं आत्मा की भावना करने वाला होने पर भी यदि अनर्गल व स्वेच्छाचारी मनुष्यो की सगति को नहीं छोडे तो अति परिचय होने से जैसे अग्नि की सगति से जल उष्णपने को प्राप्त हो जाता है, ऐसे वह साधु विकारी हो जाना है ॥२६८॥

अथानुकम्पालक्षण कथ्यते,—

तिसिद बुभुक्खिद वा दुहिद दट्ठूण जो हि दुहिदमणो।
पडिवज्जदि त किवया तस्सेसा होदि अणुकपा ॥२६८॥

तिसिद बुभुक्खिद वा दुहिद दट्ठूण जो हि दुहिदमणो पडिवज्जदि तृषित वा बुभुक्षित वा दु खित वा दृष्ट्वा कमपि प्राणिन यो हि स्फुट दु खितमना सन् प्रतिपद्यते स्वीकरोति। क कर्म्मतापन्नम् ? **त** प्राणिनम्। कया ? **किवया** कृपया दयापरिणामेन **तस्सेसा होदि अणुकपा** तस्य पुरुषस्यैषा प्रत्यक्षीभूता शुभोपयोगरूपानुकम्पा दया भवतीति। इमा चानुकम्पा ज्ञानी स्वस्थभावनामविनाशयन् सक्लेशपरिहारेण करोति। अज्ञानी पुन सक्लेशेनापि करोतीत्यर्थ ॥२६८-१॥

उत्थानिका—आगे शुभोपयोग प्रकरण मे अनुकम्पा का लक्षण कहते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(तिसिद) किसी प्राणी को प्यासे (बुभुक्खिद) भूखे (वा दुहिद) या दुखी (दट्ठूण) देखकर (जो हि) जो निश्चय से (दुहिदमणो) दुःखित मन होकर (त) उस प्राणी को (किवया) दया परिणाम से (पडिवज्जदि) स्वीकार करता है—उसका भला करता है (तस्से) उसके (सा अणकप्पा) वह अनुकम्पा (हवदि) होती है। ज्ञानी जीव ऐसी दया को अपने आत्मीक भाव को नाश न करते हुए संक्लेश भाव से रहित होते हुए करते है जबकि अज्ञानी सक्लेश भाव से भी करता है।**

अथ लौकिकलक्षणमुपलक्षयति—

णिग्गंथं [1]पव्वइदो वट्टदि जदि एहिगेहिं कम्मेहिं।
सो लोगिगो त्ति भणिदो संजमतवसंपजुत्तो वि ॥२६९॥

नैर्ग्रन्थ्य प्रव्रजितो वर्तते यद्यैहिकै कर्मभि।
स लौकिक इति भणित सयमतप सप्रयुक्तोऽपि ॥२६९॥

---

१ पव्वयिदो (ज० वृ०)।

प्रतिज्ञातपरमनैर्ग्रन्थ्यप्रव्रज्यत्वादुदूढसंयमतपोभारोऽपि मोहबहुलतया श्लथीकृतशुद्धचेतन-व्यवहारो मुहुर्मनुष्यव्यवहारेण व्याघूर्णमानत्वादैहिककर्मानिवृत्तौ लौकिक इत्युच्यते ।।२६९।।

भूमिका—**अब, 'लौकिक' (जन) का लक्षण कहते है—**

अन्वयार्थ—[नैर्ग्रंथ्य प्रव्रजितः] जो (जीव) निर्ग्रंथरूप से दीक्षित होने के कारण [सयमतप सप्रयुक्तः अपि] सयम तप सयुक्त होने पर भी, [यदि सः] यदि वह [ऐहिकैः कर्मभि. वर्तते] इस लोक सबधी कार्यों को करता है तो वह भी [लौकिक इति-भणित.] 'लौकिक' कहा गया है ।

टीका—**परमनिर्ग्रन्थ्यतारूप प्रव्रज्या की प्रतिज्ञा लेकर जो जीव सयम तप के भार को वहन करता है, वह भी, यदि मोह की बहुलता के कारण शुद्धचेतन व्यवहार को छोडकर निरन्तर मनुष्य व्यवहार मे चक्कर खाने से लौकिक कार्यों को करता हो तो, 'लौकिक' कहा जाता है ।।२६९।।**

तात्पर्यवृत्ति

अथ लौकिकलक्षण कथयति,—

णिग्गथं पव्वयिदो वस्त्रादिपरिग्रहरहितत्वेन निर्ग्रन्थोऽपि दीक्षाग्रहणेन प्रव्रजितोऽपि **वट्टदि जदि** वर्तते यदि चेत् । कै ? **एहिगेहिं कम्मेहिं** ऐहिकै कर्मभि भेदाभेदरत्नत्रयभावनाशकै ख्याति-पूजालाभनिमित्तैर्ज्योतिषमन्त्रवादवैद्यकादिभिरैहिकजीवनोपायकर्मभि **सो लोगिगो त्ति भणिदो** स लौकिको व्यवहारिक इति भणित । कि विशिष्टोऽपि ? **सजमतवसजुदो चावि** द्रव्यरूपसयमतपोभ्या सयुक्तश्चापीत्यर्थ ।।२६९।।

उत्थानिका—आगे लौकिक साधु जन का लक्षण बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(णिग्गथं पव्वयिदो) निर्ग्रंथ पद की दीक्षा को धारता हुआ (जदि) यदि (एहिगेहिं कम्मेहिं) लौकिक** व्यापारों मे **(वट्टदि) वर्तता है (सो) वह साधु (संजमतवसंपजुत्तावि) सयम और तप सहित है तो भी (लोगिगोदि भणिदो) लौकिक है, ऐसा कहा गया है । जिसने वस्त्रादि परिग्रह को त्यागकर व मुनि पद की दीक्षा लेकर यति पद धारण कर लिया है ऐसा साधु यदि निश्चय और व्यवहाररत्नत्रय के नाश करने वाले भाव जो अपनी प्रसिद्धि, बड़ाई व लाभ के बढ़ाने के कारण ज्योतिष कर्म, मन्त्र, यन्त्र, वैद्यक आदि लौकिक गृहस्थों के जीवन के** उपायरूप **व्यापारो के द्वारा वर्तन करता है तो वह द्रव्य संयम व द्रव्य तप को धारता हुआ भी लौकिक अथवा व्यावहारिक कहा जाता है ।।२६९।।**

अथ सत्संगं विधेयत्वेन दर्शयति—

तम्हा समं गुणादो समणो समणं गुणेहिं वा अहियं ।
अधिवसदु तम्हि णिच्चं इच्छदि जदि दुक्खपरिमोक्खं ।।२७०।।

तस्मात्सम गुणात् श्रमण· श्रमण गुणैर्वाधिकम् ।
अधिवसतु तत्र नित्य इच्छति यदि दु खपरिमोक्षम् ।।२७०।।

यत:परिणामस्वभावत्वेनात्मनः सप्तार्चि·संगतं तोयमिवावश्यंभाविविकारत्वाल्लौकिकसंगात्संयतोऽप्यसंयत एव स्यात् । ततो दुःखमोक्षार्थिना गुणैः समोऽधिको वा श्रमणः श्रमणेन नित्यमेवाधिवसनीयः तथास्य शीतापवरककोणनिहितशीततोयवत्समगुणसंगाद्गुणरक्षा शीततरतुहिनशर्करासंपृक्तशीततोयवत् गुणाधिकसंगात गुणवृद्धि. ।।२७०।।

***इत्यध्यास्य शुभोपयोगजनितां कांचित्प्रवृत्तिं यतिः,**
सम्यक् संयमसौष्ठवेन परमां क्रामन्निवृत्तिं क्रमात् ।
हेलाक्रान्तसमस्तवस्तुविसरप्रस्ताररम्योदयां,
ज्ञानानन्दमयीं दशामनुभवत्वेकान्तत. शाश्वतीम् ।।१७।।

—इति शुभोपयोगप्रज्ञापनम् ।

अथ पञ्चरत्नम् ।

शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

तन्त्रस्यास्य शिखण्डमण्डनमिव प्रद्योतयत्सर्वतोद्वैतीयीकमथार्हतो भगवतः सक्षेपतः शासनम् ।
व्याकुर्वञ्जगतो विलक्षणपथां ससारमोक्षस्थितिं, जीयात्सप्रति पञ्चरत्नमनघ सूत्रैरिमैः पञ्चभिः ।।१८।।

भूमिका—**अब, सत्संग करने योग्य है, यह बतलाते हैं—**

अन्वयार्थ—[तस्मात्] (क्योकि लौकिकजन के सग से सयत भी असयत होता है) इसलिये [यदि] यदि [श्रमण] श्रमण [दु खपरिमोक्षम् इच्छति] दु ख से परिमुक्त होना चाहता हो तो वह [गुणात् सम] समान गुणो वाले श्रमण के [वा] अथवा [गुणै अधिक श्रमण तत्र] अधिक गुणो वाले श्रमण के संग मे [नित्यम्] सदा [अधिवसतु] निवास करे ।

टीका—**क्योंकि आत्मा परिणामस्वभाव वाला है इसलिये लौकिक संग से विकार अवश्यंभावी होने से संयत भी असंयत हो जाता है जैसे अग्नि के संग से पानी उष्ण हो जाता है । इसलिये दुःखों से मुक्ति चाहने वाले श्रमण को (१) समान गुण वाले श्रमण के साथ अथवा (२) अधिक गुण वाले श्रमण के साथ सदा ही निवास करना चाहिये (१) जैसे शीतल घर के कोने में रखे हुए शीतल पानी के शीतल गुण की रक्षा होती है, उसी प्रकार समान गुण वाले की संगति से उस श्रमण की गुणरक्षा होती है और (२) जैसे अधिक शीतल हिम (बर्फ) के संपर्क में रहने वाले शीतल पानी के शीतल गुण में वृद्धि होती है, उसी प्रकार अधिक गुण वाले के सग से उस श्रमण के गुणवृद्धि होती है ।।२७०।।**

श्लोकार्थ—**इस प्रकार शुभोपयोगजनित किंचित् प्रवृत्ति का सेवन करके यति**

---

* शार्दूलविक्रीडित छन्द ।

सम्यक् प्रकार से संयम के सौष्ठव से क्रमशः परम निवृत्ति को प्राप्त होता हुआ, जिसका रम्य उदय समस्त वस्तु समूह के विस्तार को लीलामात्र से प्राप्त हो जाता है, ऐसी शाश्वती ज्ञानानन्दमयी दशा का एकान्ततः अनुभव करो ।।२७०।।

*** इस प्रकार शुभोपयोगप्रज्ञापन पूर्ण हुआ । ***

अब पंचरत्न हैं (पाच रत्नों जैसी पांच गाथायें कहते है)

यहां पहले, उन पांच गाथाओं की महिमा श्लोक द्वारा कहते हैं ।

श्लोकार्थ—**अब इस शास्त्र के कलगी के अलङ्कार जैसे (चूडामणि समान) यह पांचसूत्र रूप निर्मल पचरत्न—जो कि सक्षेप से अर्हन्त भगवान् के समग्र अद्वितीय शासन को सर्वतः प्रकाशित करते हैं वे विलक्षण पंथवाली ससार—मोक्ष की स्थिति को जगत के समक्ष प्रगट करते हुये जयवन्त हो ।**

तात्पर्यवृत्ति

अथोत्तमससर्ग कर्त्तव्य इत्युपदिशति,—

तम्हा यस्माद्धीनससर्गाद्गुणहानिर्भवति तस्मात्कारणात् **अधिवसदु** अधिवसतु तिष्ठतु । स क कर्ता ? **समणो** श्रमण । क्व ? **तम्हि** तस्मिन्नधिकरणभूते **णिच्च** नित्य सर्वकालम् । तस्मिन्कुत्र ? **समण** श्रमणे लक्षणवशादधिकरणे कर्म पठयते । कथभूते श्रमणे ? **सम** समे समाने । कस्मात् ? **गुणादो** बाह्याभ्यन्तररत्नत्रयलक्षणगुणात् । पुनरपि कथभूते ? **अहिय वा** स्वस्मादधिके वा । कै ? **गुणेहि** मूलोत्तरगुणै । यदि किम् ? **इच्छदि जदि** इच्छति वाञ्छति यदि चेत् । कम् ? **दुक्खपरिमोक्ख** स्वात्मोत्थसुखविलक्षणाना नारकादिदु खाना मोक्ष दु खपरिमोक्षमिति । अथ विस्तर—यथाग्नि-सयोगाज्जलस्य शीतलगुणविनाशो भवति तथा व्यावहारिकजनससर्गात्सयतस्य सयमगुणविनाशो भवतीति ज्ञात्वा तपोधन कर्त्ता समगुण गुणाधिक वा तपोधनमाश्रयति तदास्य तपोधनस्य यथा शीतलभाजनसहितशीतलजलस्य शीतलगुणरक्षा भवति तथा समगुणससर्गाद्गुणरक्षा भवति । यथा च तस्यैव जलस्य कर्पूरशर्करादिशीतलद्रव्यनिक्षेपे कृते सति शीतलगुणवृद्धिर्भवति तथा निश्चयव्यवहार-रत्नत्रयगुणाधिकससर्गाद्गुणवृद्धिर्भवतीति सूत्रार्थ ।।२७०।।

उत्थानिका—आगे यह उपदेश करते है कि सदा ही उत्तम ससर्ग करना योग्य है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(तम्हा) इसलिये (जदि) यदि (समणो) साधु (दुक्ख परिमोक्ख इच्छदि) दुःखों से छूटना चाहता है तो (गुणादो सम) गुणो मे समान (वा गुर्णोहि अहियं समणं) वा गुणों से अधिक साधु के पास ठहर कर (णिच्च) सदा (तम्हि) उसी ही साधु की (अधिवसदु) संगति करे । क्योंकि हीन साधु की सगति से अपने गुणो की हानि होती है । इसलिये जो साधु अपने आत्मा से उत्पन्न सुख से विलक्षण नारक आदि के दुःखों से मुक्ति चाहता है तो उसको योग्य है कि वह हमेशा ऐसे साधु की संगति करे जो निश्चय-व्यवहाररत्नत्रय के साधन मे अपने बराबर हो या मूल व उत्तर गुणो मे अपने से अधिक हो । जैसे—अग्नि की सगति से जल के शीतल गुण का नाश हो जाता**

है तैसे ही व्यवहारिक या लौकिक जन की सगति से संयमी का संयम गुण नाश हो जाता है, ऐसा जानकर तपोधन को अपने समान या अपने से अधिक गुणधारी तपोधन का ही आश्रय करना चाहिये। जो साधु ऐसा करता है उसके रत्नत्रयमय गुणों की रक्षा अपने समान गुणधारी की सगति से इस तरह होती है जसे शीतल पात्र में रखने से शीतल जल की रक्षा होतो है और जैसे उसी जल मे कपूर शक्कर आदि ठडे पदार्थ और डाल दिये जावें तो उस जल के शीतलपने की वृद्धि हो जाती है। उसी तरह निश्चय-व्यवहार रत्न-त्रयरूप गुणो मे जो अपने से अधिक हैं उनकी सगति से साधु के गुणो की वृद्धि होती है, ऐसा इस गाथा का अर्थ है ॥२७०॥

अथ संसारतत्त्वमुद्घाटयति—

जे अजधागहिदत्था एदे तच्च त्ति णिच्छिदा समये।
अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं कालं ॥२७१॥

ये अयथागृहीतार्था एते तत्त्वमिति निश्चिता समये।
अत्यन्तफलसमृद्ध भ्रमन्ति ते अत पर कालम् ॥२७१॥

ये स्वयमविवेकतोऽन्यथैव प्रतिपद्यार्थानित्यमेव तत्त्वमिति निश्चयमारचयन्तः सतत समुपचीयमानमहामोहमलमलीमसमानसतया नित्यमज्ञानिनो भवन्ति ते खलु समये स्थिता अप्यनासादितपरमार्थश्रामण्यतया श्रमणाभासाः सन्तोऽनन्तकर्मफलोपभोगप्राग्भारभयंकर-मनन्तकालमनन्तभावान्तर परावर्तैरनवस्थितवृत्तयः संसारतत्त्वमेवावबुध्यताम् ॥२७१॥

भूमिका—**अब ससारतत्त्व को प्रगट करते हैं—**

अन्वयार्थ—[ये] जो [समये] समय मे (आगम मे) स्थित है वे [एते तत्त्वम्] 'यह तत्त्व है (वस्तु स्वरूप ऐसा ही है)' [इति निश्चिता] इस प्रकार निश्चयवान् वर्तते हुये [अयथागृहीतार्था] पदार्थो को अयथार्थतया ग्रहण करते है (जैसे नही है वैसा समझते है) [ते] वे [अत पर काल] अब से आगामी काल मे [अत्यन्तफलसमृद्धम्] अत्यन्त-फलसमृद्ध अनन्त फल से भरे हुये ससार मे [भ्रमन्ति] परिभ्रमण करेंगे।

टीका—**जो स्वयं अविवेक से पदार्थों को अन्यथा ही समझ करके 'ऐसा ही तत्त्व है' ऐसा निश्चय करते हुये, निरन्तर एकत्रित किये जाने वाले महा मोहमल से मलिन मन वाले होने से नित्य अज्ञानी हैं, वे समय मे—आगम मे स्थित होने पर भी परमार्थ श्रामण्य को प्राप्त न होने से वास्तव में श्रमणाभास वर्तते हुये, अनन्त कर्मफल की उपभोगराशि से भयंकर ऐसे अनन्त काल तक अनन्त भवान्तररूप परावर्तनों से (संसार में) अनवस्थित वृत्ति वाले रहने से उनको संसारतत्त्व ही जानना अर्थात् वे संसार मे परिभ्रमण करते हैं ॥२७१॥**

तात्पर्यवृत्ति

इत पर पचमस्थले सक्षेपेण ससारस्वरूपस्य मोक्षस्वरूपस्य च प्रतीत्यर्थं पचरत्नभूतगाथा-पचकेन व्याख्यान करोति—

तद्यथा—अथ ससारस्वरूप प्रकटयति —**जे अजधागहिदत्था** वीतरागसर्वज्ञप्रणीतनिश्चयव्यवहार-रत्नत्रयार्थपरिज्ञनाभावात् येऽन्यथागृहीतार्थं विपरीतगृहीतार्थं पुनरपि। कथभूता ? **एदे तच्चत्तिणि-च्छिदा** एतेतत्त्वमितिनिश्चिताः, एते ये मयाकथिता पदार्थास्त एव तत्त्वमिति निश्चिता निश्चय कृत वन्त क्व स्थित्वा ? **समये** निर्ग्रन्थरूपद्रव्यसमये **अच्चंतफलसमिद्धं भमंति ते तो परं काल** अत्यन्तफलसमृद्ध-भ्रमन्ति न विद्यतेऽन्त इत्यत्यन्त ते पर काल द्रव्यक्षेत्रकालभवभावपञ्चप्रकारससारपरिभ्रमणरहितशुद्धा-त्मस्वरूपभावनाच्युता सन्त परिभ्रमन्ति। कम् ? पर काल अनन्तकालम्। कथभूतम् ? नारकादिदु ख-रूपात्यन्तफलसमृद्ध। पुनरपि कथभूतम् ? अतो वर्तमानकालात्पर भाविनमिति। अयमत्रार्थ — इत्थभूतससारपरिभ्रमणपरिणतपुरुषा एवाभेदेन ससारस्वरूप ज्ञातव्यमिति ॥२७१॥

उत्थानिका—आगे पांचवे स्थल मे सक्षेप से ससार का स्वरूप, मोक्ष का स्वरूप, मोक्ष का साधन, सर्व मनोरथ स्थान लाभ तथा शास्त्रपाठ का लाभ इन पाच रत्नो को पाच गाथाओ से व्याख्यान करते हैं। प्रथम ही ससार का स्वरूप प्रगट करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—(जे) जो कोई (अजधागहिदत्था) **अन्य प्रकार से असत्य पदार्थो के स्वभाव को जानते हुये (एदे तच्चत्तिसमये) ये ही आगम मे तत्त्व कहे हैं ऐसा (णिच्छिदा) निश्चय कर लेते हैं (ते तो) वे साधु इस मिथ्या श्रद्धान व ज्ञान के कारण भाविकाल में (अच्चन्तफलसमिद्धं) अनन्त दु:खरूप फल से भरे हुए ससार मे (परं काल) अनन्त काल तक (भमंति) भ्रमण करते हैं। (जो कोई साधु या अन्य आत्मा सात तत्त्व नव पदार्थो का स्वरूप स्याद्वाद नय के द्वारा यथार्थ न जानकर और का और श्रद्धान कर लेते हैं और यही निर्णय कर लेते हैं कि आगम में तो यही तत्त्व कहे हैं) वे मिथ्या श्रद्धानी या मिथ्याज्ञानी जीव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, भाव स्वरूप पांच प्रकार संसार के भ्रमण से रहित शुद्ध आत्मा की भावना से हटे हुए इस वर्तमान काल से आगे भविष्य मे भी नारकादि दु:खों के अत्यन्त कटुक फलों से भरे हुए ससार में अनन्तकाल तक भ्रमण करते रहते हैं। इसलिये इस तरह ससार भ्रमण मे परिणमन करने वाले पुरुष ही अभेदनय से संसार स्वरूप जानने योग्य हैं ॥२७१॥**

अथ मोक्षतत्त्वमुद्घाटयति—

अजधाचारविजुत्तो जधत्थपदणिच्छिदो पसंतप्पा।
अफले चिरं ण जीवदि इह सो संपुण्णसामण्णो ॥२७२॥

---

१ जदत्थपदणिच्छिदो (ज० वृ०)।

अयथाचारवियुक्तो यथार्थपदनिश्चित प्रशान्तात्मा ।
अफले चिर न जीवति इह स सपूर्णश्रामण्य ॥२७२॥

यस्त्रिलोकचूलिकायमाननिर्मलविवेकदीपिकालोकशालितया यथावस्थितपदार्थनिश्चयनिवर्तितौत्सुक्यस्वरूपमन्थरसततोपशान्तात्मा सन् स्वरूपमेकमेवाभिमुख्येन चरन्नयथाचारवियुक्तो नित्यं ज्ञानी स्यात् स खलु सपूर्णश्रामण्यः साक्षात् श्रमणो हेलावकीर्णसकलप्राक्तनकर्मफलत्वादनिष्पादितनूतनकर्मफलत्वाच्च पुनः प्राणधारणदैन्यमनास्कन्दन द्वितीयभावपरावर्ताभावात् शुद्धस्वभावावस्थितवृत्तिर्मोक्षतत्त्वमवबुध्यताम् ॥२७२॥

भूमिका—**अब मोक्ष तत्व को प्रगट करते हैं ।**

अन्वयार्थ—[यथार्थपदनिश्चित] जो यथार्थतया पदो का तथा अर्थो (पदार्थो) का निश्चय करने वाला है [प्रशान्तात्मा) प्रशातात्मा है और [अयथाचारवियुक्त:] अयथाचार से रहित है [सः सपूर्णश्रामण्य] वह सपूर्ण श्रामण्यवाला जीव [इह अफले] इस अफल (असार) संसार मे [चिर न जीवति] चिरकाल तक नही रहता (अल्पकाल मे ही मुक्त होता है) ।

टीका—**जो (श्रमण) त्रिलोक की चूलिका के समान निर्मल विवेकरूपी दीपिका के प्रकाश द्वारा यथास्थित पदार्थनिश्चय से उत्सुकता को दूर करके स्वरूप में स्थिति से सतत 'उपशांतात्मा' वर्तता हुआ, एक स्वरूप मे ही अभिमुखतया क्रीडा करने से 'अयथाचार रहित' वर्तता हुआ नित्यज्ञानी है, वास्तव मे उस सम्पूर्ण श्रामण्य वाले साक्षात् श्रमण को मोक्षतत्त्व जानना, क्योंकि पहले के सकल कर्मों के फल उसने लीलामात्र से नष्ट कर दिये हैं और नूतन कर्म फलों को उत्पन्न नहीं करता इसलिये पुनः प्राण धारणरूप दीनता को प्राप्त न होता हुआ द्वितीय भावरूप परावर्तन के अभाव के कारण शुद्ध स्वभाव मे [1]अवस्थित वृत्ति वाला है ॥२७२॥**

उक्त गाथा मे अरहंत अवस्था का कथन है

तात्पर्यवृत्ति

अथ मोक्षस्वरूप प्रकाशयति,—

अजधाचारविजुत्तो निश्चयव्यवहारपचाचारभावनापरिणतत्वादयथाचारवियुक्त विपरीताचाररहित इत्यर्थ । **जधत्थपदणिच्छिदो** सहजानन्दैकस्वभावनिजपरमात्मादिपदार्थपरिज्ञानसहितत्वाद्यथार्थपदनिश्चित **पसतप्पा** विशिष्टपरमोपशमभावपरिणतनिजात्मद्रव्यभावनासहितत्वात्प्रशान्तात्मा **जो** य कर्त्ता **सो सपुण्णसामण्णो** स सम्पूर्णश्रामण्य सन् **चिर ण जीवदि** चिर बहुतरकाल न

१ अवस्थित-स्थिर, इस सम्पूर्ण श्रामण्य वाले जीव को अन्य भावरूप परावर्तन (पलटन) नही होता, वह सदा एक ही भाव रूप रहता है—शुद्ध स्वभाव मे स्थिर परिणति रूप से रहता है, इसलिये वह जीव मोक्षतत्त्व ही है ।

जीवति न तिष्ठति क्व ? **अफले** शुद्धात्मसंवित्तिसमुत्पन्नसुखामृतरसास्वादरहितत्वेनाफले फलरहिते ससारे। किं ? शीघ्र मोक्ष गच्छतीति। अयमत्र भावार्थ —इत्थभूतमोक्षतत्त्वपरिणत पुरुषएवाभेदेन मोक्षस्वरूप ज्ञातव्यमिति ॥२७२॥

उत्थानिका—आगे मोक्ष का स्वरूप प्रकाश करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(अजधाचारविजुत्तो)** विपरीत आचरण से रहित, **(जदत्थपदणिच्छिदो)** यथार्थ पदार्थों का निश्चय रखने वाला तथा **(पसंतप्पा)** शांत स्वरूप **(संपुण्णसामण्णो)** पूर्ण मुनिपद का धारी **(सो)** ऐसा साधु **(इह अफले)** इस असार संसार मे **(चिरं ण जीवदि)** बहुत काल नहीं जीता है। निश्चय व्यवहार सम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्‌चारित्र-सम्यक्तप-सम्यग्वीर्य ऐसे पांच आचारों की भावना मे परिणमन करते रहने से जो अयथाचार व विरुद्ध आचार से रहित है, सहज ही आनन्द रूप एक स्वभावधारी अपने परमात्मा को आदि लेकर पदार्थों के ज्ञान-सहित होने से जो यथार्थ वस्तु स्वरूप का ज्ञाता है तथा विशेष परम शांत भाव मे परिणमन करने वाले अपने आत्मद्रव्य की भावना सहित होने से जो शांतात्मा है ऐसा पूर्ण साधु शुद्धात्मा के अनुभव से उत्पन्न सुखामृत रस के स्वाद से रहित ऐसे इस फल-रहित ससार मे दीर्घकाल तक नहीं ठहरता है अर्थात् शीघ्र ही मोक्ष प्राप्त कर लेता है। इस तरह मोक्षतत्त्व मे लीन पुरुष ही अभेद नय से मोक्ष स्वरूप है ऐसा जानना योग्य है ॥२७२॥

अथ मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमुद्‌घाटयति—

सम्मं विदिदपदत्था चत्ता उवहिं बहित्थमज्झत्थं।
विसयेसु णावसत्ता जे ते सुद्ध[1] त्ति णिद्दिट्ठा ॥२७३॥

सम्यग्विदितपदार्थास्त्यक्त्वोपधिं बहि स्थमध्यस्थम्।
विषयेषु नावसक्ता ये ते शुद्धा इति निर्दिष्टा ॥२७३॥

अनेकान्तकलितसकलज्ञातृज्ञेयतत्त्वयथावस्थितस्वरूपपाण्डित्यशौण्डाः सन्तः समस्तबहिरङ्गान्तरङ्गसङ्गतिपरित्यागविविक्तान्तश्चकचकायमानानन्तशक्तिचैतन्यभास्वरात्मतत्त्वस्वरूपाः स्वरूपगुप्तसुषुप्तकल्पान्तस्तत्त्ववृत्तितया विषयेषु मनागप्यासक्तिमनासादयन्त समस्तानुभाववन्तो भगवन्तः शुद्धा एवासंसारघटितविकटकर्मकपाटविघटनपटीयसाध्यवसायेन प्रकटीक्रियमाणावदाना मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वमवबुध्यताम् ॥२७३॥

भूमिका—**अब, मोक्षतत्त्व का साधनतत्त्व प्रगट करते हैं—**

---

१ सुद्धत्ति (ज० वृ०)।

अन्वयार्थ—[सम्यग्विदितपदार्था.] सम्यक् (यथार्थतया) पदार्थों को जानने वाले है और [ये] जो [बहि.स्थमध्यस्थम्] बहिरग तथा अतरग [उपधिं] परिग्रह को [त्यक्त्वा] छोडकर [विषयेषु न अवसक्ता] विषयो मे आसक्त नही है, [ते] वे [शुद्धाः इति निर्दिष्टा] 'शुद्ध' है ऐसा कहा गया है।

टीका—**अनेकान्त मय-सकल ज्ञातृतत्त्व और ज्ञेयतत्त्व के यथार्थ स्वरूप में जो विचक्षण हैं, अन्तरंग मे चमत्कृत अनन्तशक्ति वाले चैतन्य से प्रकाशित आत्मतत्त्व के स्वरूप को, जिसने समस्त बहिरंग तथा अन्तरग परिग्रह को त्याग करके, भिन्न किया है और आत्म—परिणति से स्वरूप गुप्त तथा सुषुप्त समान (प्रशांत) रहने से जो विषयों मे किंचित् भी आसक्ति को प्राप्त नहीं होते,—ऐसे जो सकल—महिमावान् भगवन्त 'शुद्ध' हैं उन्हे ही मोक्षतत्त्व का साधन तत्त्व जानना। (अर्थात् वे शुद्धोपयोगी ही मोक्षमार्गरूप हैं), क्योंकि वे अनादि संसार से रचित-बद्ध विकट कर्मकपाट को तोड़ने मे अति उग्र प्रयत्न से पराक्रम प्रगट कर रहे हैं। २७३॥**

तात्पर्यवृत्ति

अथ मोक्षकारणमाख्याति,

सम्म विदिदपदत्था सशयविपर्ययानध्यवसायरहितानन्तज्ञानादिस्वभावनिजपरमात्मपदार्थप्रभृतिसमस्तवस्तुविचारचतुरचित्तचातुर्य्यप्रकाशमानसातिशयपरमविवेकज्योतिषा सम्यग्विदितपदार्था। पुनरपि कि रूपा ? **विसयेसु णावसत्ता** पञ्चेन्द्रियविषयाधीनरहितत्वेन निजात्मतत्त्वभावनारूपपरमसमाधिसजातपरमानन्दैकलक्षणसुखसुधारसास्वादानुभवनफलेन विषयेषु मनागप्यनासक्ता। कि कृत्वा ? पूर्वं स्वस्वरूपपरिग्रह स्वीकार कृत्वा **चत्ता** त्यक्त्वा। कम् ? **उवहिं** उपधि परिग्रह। कि विशिष्टम् ? **बहित्थमज्झत्थ** बहि स्थ क्षेत्राद्यनेकविध मध्यस्थ मिथ्यात्वादिचतुर्दशभेदभिन्नम्। जे एव गुणविशिष्टा ये महात्मान **ते सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा** ते शुद्धात्मान शुद्धोपयोगिन सिद्ध्यन्ति इति निर्दिष्टा कथिता। अनेन व्याख्यानेन किमुक्त भवति—इत्थभूता परमयोगिन एवाभेदेन मोक्षमार्गा इत्यवबोद्धव्या ॥२७३॥

उत्थानिका—आगे मोक्ष का कारण तत्त्व बताते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जे) जो (सम्मं विदिदपदत्था) भले प्रकार पदार्थों को जानने वाले हैं, और (बहित्थ) बाहरी क्षेत्रादि परिग्रह (मज्झत्थ) और अंतरंग रागादि (उवहिं) परिग्रह को (चत्ता) त्याग कर (विसयेसु) पाँचों इन्द्रियो के विषयो मे (णावसत्ता) आसक्त नहीं हैं, (ते) वे साधु (सुद्धत्ति णिद्दिट्ठा) शुद्ध साधक हैं, ऐसे कहे गये हैं। जो साधु सशय, विपर्यय, अनध्यवसाय तीन दोषों से रहित ऐसा अनन्तज्ञान, उस अनन्तज्ञानादि स्वभाव वाले निज-परमात्म पदार्थ को आदि लेकर सर्व वस्तुओं के विचार में चतुर-चित्त होकर उससे प्रगट जो अतिशय सहित परम विवेकरूपी ज्योति उसके द्वारा भले प्रकार**

पदार्थों के स्वरूप को जानने वाले हैं तथा पंच-इन्द्रिय-विषयों के अधीन न होकर निज परमात्मतत्त्व की भावना रूप परम समाधि से उत्पन्न जो परमानन्दमय सुखरूपी अमृत उसका स्वाद भोगने के फल से पांचों इन्द्रियों के विषयों में रञ्चमात्र भी आसक्त नहीं हैं और अपने स्वरूप का ग्रहण करके जिन्होंने बाहरी क्षेत्रादि अनेक प्रकार और भीतरी मिथ्यात्वादि चौदह प्रकार परिग्रह को त्याग दिया है, ऐसे महात्मा, शुद्धात्मा-शुद्धोपयोगी ही मोक्ष की सिद्धि कर सकते हैं, ऐसा कहा गया है। अर्थात् ऐसे परमयोगी ही अभेदनय से मोक्षमार्ग स्वरूप जानने योग्य हैं।

अथ मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वं सर्वमनोरथस्थानत्वेनाभिनन्दयति—

सुद्धस्स य सामण्णं भणियं सुद्धस्स दंसणं णाणं।
सुद्धस्स य णिव्वाणं सो च्चिय सिद्धो णमो तस्स ॥२७४॥

शुद्धस्य च श्रामण्य भणित शुद्धस्य दर्शन ज्ञानम्।
शुद्धस्य च निर्वाण स एव सिद्धो नमस्तस्मै ॥२७४॥

यत्तावत्सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रयौगपद्यप्रवृत्तैकाग्र्यलक्षण साक्षान्मोक्षमार्गभूत श्रामण्यं तच्च शुद्धस्यैव। यच्च समस्तभूतभवद्भाविव्यतिरेककरम्बितानन्तवस्त्वन्वयात्मकविश्वसामान्यविशेषप्रत्यक्षप्रतिभासात्मकं दर्शनं ज्ञान च तत् शुद्धस्यैव। यच्च निःप्रतिघविजृम्भितसहजज्ञानानन्दमुद्रितदिव्यस्वभावं निर्वाणं तत् शुद्धस्यैव यश्च टङ्कोत्कीर्णपरमानन्दावस्थासुस्थितात्मस्वभावोपलम्भगम्भीरो भगवान् सिद्धः स शुद्ध एव अलं वाग्विस्तरेण, सर्वमनोरथस्थानस्य मोक्षतत्त्वसाधनतत्त्वस्य शुद्धस्य परस्परमङ्गाङ्गिभावपरिणतभाव्यभावकभावत्वात्प्रस्तमितस्वपरविभागो भावनमस्कारोऽस्तु ॥२७४॥

भूमिका—अब मोक्षतत्त्व के साधनतत्त्व को (अर्थात् शुद्धोपयोगी को) सर्व मनोरथों के स्थान के रूप मे अभिनन्दन (प्रशसा) करते हैं—

अन्वयार्थ—[शुद्धस्य च] शुद्धोपयोगी को [श्रामण्य भणितं] श्रामण्य कहा है, [शुद्धस्य च] और शुद्धोपयोगी को [दर्शनं ज्ञान] दर्शन तथा ज्ञान होता है, [शुद्धस्य च] शुद्ध उपयोगी के ही [निर्वाण] निर्वाण होता है, [स एव] वही [सिद्ध] सिद्ध होता है, [तस्मै नमः] उन्हे नमस्कार हो।

टीका—प्रथम तो, सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की युगपदत्व रूप से प्रवर्तमान एकाग्रता जिसका लक्षण है ऐसा साक्षात मोक्षमार्गभूत श्रामण्य 'शुद्ध' के ही होता है, समस्त भूतवर्तमान भावी पर्यायों के साथ मिलित अनन्त वस्तुओं का अन्वयात्मक जो विश्व उसके

सामान्य और विशेष के प्रत्यक्ष प्रतिभासस्वरूप दर्शन और ज्ञान 'शुद्ध' के ही होते हैं,— निर्विघ्न प्रफुल्लित, सहज ज्ञानानन्द मुद्रा वाला दिव्य जिसका स्वभाव है ऐसा निर्वाण, 'शुद्ध' के ही होता है और टंकोत्कीर्ण परमानन्दरूप अवस्थाओं मे स्थित आत्मस्वभाव की उपलब्धि से गभीर भगवान् सिद्ध 'शुद्ध' ही होते हैं, वचन विस्तार से बस हो, सर्व मनोरथों के स्थानभूत, मोक्षतत्व के साधनतत्वरूप, 'शुद्ध' को, भावनमस्कार हो। उस भाव नमस्कार में परस्पर अंग-अंगीरूप से परिणमित भावक-भाव्यता के कारण स्व-पर का विभाग नहीं है ॥२७४॥

विशेष—**इस गाथा मे सिद्ध अवस्था का कथन है**

तात्पर्यवृत्ति

अथ शुद्धोपयोगलक्षणमोक्षमार्गं सर्वमनोरथस्थानत्वेन प्रदर्शयति, —

भणिय भणित । किं ? **सामण्ण** सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रैकाग्र्यशत्रुमित्रादिसमभावपरिणतिरूप साक्षान्मोक्षकारण यत्श्रामण्यम् । तत्तावत्कस्य ? **सुद्धस्य य** शुद्धस्य च शुद्धोपयोगिन एव **सुद्धस्स दसण णाण** त्रैलोक्योदरविवरवर्त्तित्रिकालविषयसमस्तवस्तुगतानन्तधर्मैकसमयसामान्यविशेषपरिच्छित्तिसमर्थ यद्दर्शनज्ञानद्वय तच्छुद्धस्यैव **सुद्धस्य य णिव्वाण** अव्यावाधानन्तसुखादिगुणाधारभूत पराधीनरहितत्वेन स्वायत्त यन्निर्वाण तच्छुद्धस्यैव **सो च्चिय सिद्धो** यो लौकिक मायाञ्जनरसदिग्विजयमन्त्रयन्त्रादि सिद्ध विलक्षण स्वशुद्धात्मोपलम्भलक्षण टकोत्कीर्णज्ञायकैकस्वभावो ज्ञानावरणाद्यष्टविधकर्मरहितत्वेन सम्यक्त्वाद्यष्टगुणान्तर्भूतानन्तगुणसहित सिद्धो भगवान् स चैव शुद्ध, एव **णमो तस्स** निर्दोषिनिजपरमात्मन्याराध्याराधकसम्बन्धलक्षणो भावनमस्कारोऽस्तु तस्यैव । अत्रैतदुक्त भवति-अस्य मोक्षकारणभूतशुद्धोपयोगस्य मध्य सर्वेष्टमनोरथा लभ्यन्त इति मत्वा शेषमनोरथपरिहारे तत्रैव भावना कर्त्तव्येति ॥२७४॥

उत्थानिका—आगे आचार्य फिर दिखलाते है कि शुद्धोपयोग-स्वरूप जो मोक्षमार्ग है वही सर्व मनोरथ को सिद्ध करने वाला है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(सुद्धस्स य सामण्णं) शुद्धोपयोगी के ही साधुपना है, (सुद्धस्स दंसणं णाणं भणियं) शुद्धोपयोगी के ही दर्शन और ज्ञान कहे गये हैं (सुद्धस्स य णिव्वाणं) शुद्धोपयोगी के ही निर्वाण होता है (सो च्चिय सिद्धो) शुद्धोपयोगी ही सिद्ध भगवान् हो जाता है (तस्स णमो) इससे उस शुद्धोपयोगी को नमस्कार हो। जो शुद्धोपयोग का धारक साधु है उसी के ही सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र की एकतारूप तथा शत्रु मित्र आदि में समभाव की परिणतिरूप साक्षात् मोक्ष का मार्ग श्रमणपना कहा गया है शुद्धोपयोगी के ही तीन लोक के भीतर रहने वाले व तीन काल-वर्ती सर्व पदार्थों के भीतर प्राप्त जो अनन्त स्वभाव उनको एक समय मे बिना क्रम के सामान्य तथा विशेष रूप से जानने को समर्थ अनन्तदर्शन व अनन्तज्ञान होते हैं तथा शुद्धोपयोगी के ही बाधा**

रहित अनन्त सुख आदि गुणों को आधारभूत पराधीनता से रहित स्वाधीन निर्वाण का लाभ होता है। जो शुद्धोपयोगी है वही लौकिक माया, अंजन, रस, दिग्विजय, मत्र, यंत्र आदि सिद्धियों से विलक्षण, अपने शुद्ध आत्मा की प्राप्तिरूप, टांकी मे उकेरे के समान मात्र ज्ञायक एक स्वभावरूप तथा ज्ञानावरणादि अष्टविध कर्मों से रहित होने के कारण से सम्यक्त्व आदि आठ गुणों मे गर्भित अनन्त गुण सहित सिद्ध भगवान् हो जाता है। इसलिये उसी ही शुद्धोपयोगी को निर्दोष निज परमात्मा मे ही आराध्य आराधक संबंध रूप भाव-नमस्कार हो। भाव यह कहा गया है इस मोक्ष के कारणभूत शुद्धोपयोग के ही द्वारा सर्व इष्ट मनोरथ प्राप्त होते हैं। ऐसा मानकर शेष सर्व मनोरथ को त्यागकर इसी शुद्धोपयोग की ही भावना करनी योग्य है ॥२७४॥

अथ शिष्यजनं शास्त्रफलेन योजयन् शास्त्रं समापयति—

बुज्झदि सासणमेयं सागारणगारचरियया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥२७५॥

बुध्यते शासनमेतत् साकारानाकारचर्यया युक्त ।
य स प्रवचनसार लघुना कालेन प्राप्नोति ॥२७५॥

यो हि नाम सुविशुद्धज्ञानदर्शनमात्रस्वरूपव्यवस्थितवृत्तसमाहितत्वात् साकारानाकारचर्यया युक्तः सन् शिष्यवर्ग. स्वयं समस्तशास्त्रार्थविस्तरसक्षेपात्मकश्रुतज्ञानोपयोगपूर्वकानुभावेन केवलमात्मानमनुभवन् शासनमेतद्बुध्यते स खलु निरवधित्रिसमयप्रवाहावस्थायित्वेन सकलार्थसार्थात्मकस्य प्रवचनस्य सारभूत भूतार्थस्वसवेद्यदिव्यज्ञानानन्दस्वभावमननुभूतपूर्वं भगवन्तमात्मानमवाप्नोति ॥२७५॥

इति तत्त्वदीपिकाया श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां प्रवचनसारवृत्तौ चरणानुयोग-सूचिका चूलिका नाम तृतीयः श्रुतस्कन्धः समाप्त ।

भूमिका—अब (भगवान् कुन्दकुन्दाचार्य देव) शिष्यजन को शास्त्र का फल बतलाते हुये शास्त्र समाप्त करते हैं—

अन्वयार्थ—[यः] जो [साकारानाकारचर्यया युक्त] श्रावक, मुनिचर्या को पालता है और [एतत् शासन] इस शास्त्र को [बुध्यते] जानता है, [सः] वह [लघुना कालेन] अल्पकाल मे [प्रवचनसार] प्रवचन के सार को अर्थात् मोक्ष को [प्राप्नोति] पाता है।

टीका—सुविशुद्धज्ञानदर्शन मात्र स्वरूप में अवस्थित होने से श्रावक या मुनिचर्या को पालता हुआ जो शिष्यवर्ग स्वयं समस्त शास्त्रों के अर्थों के विस्तार संक्षेपात्मक श्रुतज्ञानोपयोगपूर्वक अनुभव द्वारा केवल आत्मा को अनुभवता हुआ, इस शास्त्र को जानता है वह वास्तव मे, सत्यार्थ स्वसवेद्य-दिव्य ज्ञानानन्द जिसका स्वभाव है ऐसे, पहले कभी अनु-

भव नहीं किये गये, भगवान् आत्मा को निश्चय से पाता है जो भगवान् आत्मा तीनों काल के निरवधि प्रवाह मे स्थायी होने से सकल पदार्थों के समूहात्मक प्रवचन का सारभूत है ।।२७५।।

इस प्रकार (श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत) श्री प्रवचनसारशास्त्र की श्रीमद्अमृतचन्द्राचार्यदेव विरचित तत्त्वदीपिका नामक टीका मे चरणानुयोगसूचक चूलिका नाम का तृतीय श्रुतस्कध समाप्त हुआ ।

तात्पर्यवृत्ति

अथ शिष्यजन शास्त्रफल दर्शयन् शास्त्र समापयति,—

पप्पोदि प्राप्नोति **सो** स शिष्यजन कर्त्ता । कम् ? **पवयणसारं** प्रवचनसारशब्दवाच्य निजपरमात्मानम् । केन ? **लहुणा कालेण** स्तोककालेन । य कि करोति ? **जो बुज्झदि** य शिष्यजनो बुध्यते जानाति । किम् ? **सासणमेय** शास्त्रमिदम् । कि नाम ? **पवयणसार** प्रवचनसार सम्यग्ज्ञानस्य तस्यैव ज्ञेयभूतपरमात्मादिपदार्थाना तत्साध्यस्य निर्विकारस्वसवेदनज्ञानस्य च तथैव तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणसम्यग्दर्शनस्य तद्विषयभूतानेकान्तात्मकपरमात्मादिद्रव्याणा तेन व्यवहारसम्यक्त्वेन साध्यस्य निजशुद्धात्मरुचिरूपनिश्चयसम्यक्त्वस्य तथैव च व्रतसमितिगुप्त्याद्यनुष्ठानरूपस्य सरागचारित्रस्य तेनैव साध्यस्य स्वशुद्धात्मनिश्चलानुभूतिरूपस्य वीतरागचारित्रस्य च प्रतिपादकत्वात्प्रवचनसाराभिधेयम् । कथभूत स शिष्यजन. ? **सागारणगारचरियया जुत्तो** सागारानागारचर्यया युक्त । अभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानमुपादेय कृत्वा बहिरङ्गरत्नत्रयानुष्ठान सागारचर्या श्रावकचर्या । बहिरङ्गरत्नत्रयाधारेणाभ्यन्तररत्नत्रयानुष्ठानमनागारचर्या प्रमत्तसयतादितपोधनचर्येत्यर्थ ।।२७५।।

इति गाथापञ्चकेन पञ्चरत्नसज्ञ पञ्चमस्थल व्याख्यातम् । एव 'णिच्छिदसुत्तत्थपदो' इत्यादि द्वात्रिशद्गाथाभि स्थलपञ्चकेन शुभोपयोगाभिधानश्चतुर्थान्तराधिकार समाप्त ।।

इति श्री जयसेनाचार्यकृताया तात्पर्यवृत्तौ पूर्वोक्तक्रमेण 'एव पणमिय सिद्धे' इत्याद्येकविंशतिगाथाभिरुत्सर्गाधिकार । तदनन्तर 'ण हि णिरवेक्खो चागो' इत्यादि त्रिशद्गाथाभिरपवादाधिकार । तत परं 'एयग्गगदो समणो' इत्यादिचतुर्दशगाथाभि श्रामण्यापरनामा मोक्षमार्गाधिकार । ततोऽप्यनन्तर 'णिच्छिदसुत्तत्थपदो' इत्यादिद्वात्रिशद्गाथाभि शुभोपयोगाधिकारश्चेत्यन्तराधिकारचतुष्टयेन सप्तनवतिगाथाभिश्चरणानुयोगचूलिका नामा तृतीयो महाधिकार समाप्त ।।३।।

अत्राह शिष्य । परमात्मद्रव्य यद्यपि पूर्व बहुधा व्याख्यातम् तथापि सक्षेपेण पुनरपि कथ्यतामिति । भगवानाह—केवलज्ञानाद्यनन्तगुणानामाधारभूत यत्तदात्मद्रव्य भण्यते । तस्य च नयै प्रमाणेन च परीक्षा क्रियते । तद्यथा—यत्तावत् शुद्धनिश्चयेन निरुपाधिस्फटिकवत्समस्तरागादिविकल्पोपाधिरहित तदेवाशुद्धनिश्चयनयेन सोपाधिस्फटिकवत्समस्तरागादिविकल्पोपाधिसहितम्, शुद्धसद्भूतव्यवहारनयेन शुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णानामाधारभूतपुद्गलपरमाणुवत्केवलज्ञानादिशुद्धगुणानामाधारभूतम् । तदेवाशुद्धसद्भूतव्यवहारनयेनाशुद्धस्पर्शरसगन्धवर्णाधारभूतद्व्यणुकादिस्कन्धवन्मतिज्ञानादिविभावगुणानामाधारभूतम् । अनुपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन द्व्यणुकादिस्कन्धसश्लेशबन्धस्थितपुद्गलपरमाणुवत्परमौदारिकशरीरे वीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकदेहस्थितम् उपचरितासद्भूतव्यवहारनयेन काष्ठासनाद्युपविष्टदेवदत्तवत्समवशरणस्थितवीतरागसर्वज्ञवद्वा विवक्षितैकग्रामगृहादिस्थितम् ।

इत्यादि परस्परसापेक्षानेकनयै प्रमीयमाण व्यवह्रियमाण क्रमेणमेचकस्वभावविवक्षितैकधर्मव्यापकत्वादेकस्वभाव भवति । तदेव जीवद्रव्य प्रमाणेन प्रमीयमाण मेचकस्वभावानामनेकधर्माणा युगपद्व्यापकचित्रपटवदनेकस्वभाव भवति । एव नयप्रमाणाभ्या तत्त्वविचारकाले योऽसौ परमात्मद्रव्य जानाति स निर्विकल्पसमाधिप्रस्तावे निर्विकारस्वसवेदनज्ञानेनापि जानातीति । पुनरप्याह शिष्य —ज्ञातमेवात्मद्रव्य हे भगवन्निदानी तस्य प्राप्त्युपाय कथ्यताम् ? भगवानाह—सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुष्ठानरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसजातरागाद्युपाधिरहितपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादानुभवमलभमान सन् पूर्णमासीदिवसे जलकल्लोलक्षुभितसमुद्र इव रागद्वेषमोहकल्लोलैर्यावदस्वस्थरूपेण क्षोभ गच्छत्यय जीवस्तावत्काल निजशुद्धात्मान न प्राप्नोति इति । स एव वीतरागसर्वज्ञप्रणीतोपदेशवत् एकेन्द्रियविकलेन्द्रियपञ्चेन्द्रियसज्ञिपर्याप्तमनुष्यदेशकुलरूपेन्द्रियपटुत्वनिर्व्याध्यायुष्यवरबुद्धिसद्धर्मश्रवणग्रहणधारणश्रद्धानसयमविषयसुखनिवर्तनक्रोधादिकषायव्यावर्तनादिपरपरादुलभमान्यपि कथचित्काकतालीयन्यायेनावाप्य सकलविमलकेवलज्ञानदर्शनस्वभावनिजपरमात्मतत्त्वसम्यक्श्रद्धानज्ञानानुचरणरूपाभेदरत्नत्रयात्मकनिर्विकल्पसमाधिसजातरागाद्युपाधिरहितपरमानन्दैकलक्षणसुखामृतरसास्वादानुभवलाभे सत्यमावस्यादिवसे जलकल्लोलक्षोभरहितसमुद्र इव रागद्वेषमोहकल्लोलक्षोभरहितप्रस्तावे यथा निजशुद्धात्मतत्त्वे स्थिरो भवति तथा तदैव निजशुद्धात्मस्वरूप प्राप्नोति ।

इति श्रीजयसेनाचार्यकृताया तात्पर्यवृत्तौ एव पूर्वोक्तक्रमेण "एस सुरासुर" इत्याद्येकोत्तरशतगाथापर्यन्त सम्यग्ज्ञानाधिकार, तदनन्तर "तम्हा तस्स णमाइ" इत्यादि त्रयोदशोत्तरशतगाथापर्यन्त ज्ञेयाधिकारापरनामसम्यक्त्वाधिकार, तदनन्तर "तवसिद्धे णयसिद्धे" इत्यादि सप्तनवतिगाथापर्यन्त चारित्राधिकारश्चेति महाधिकारत्रयेणैकादशाधिकत्रिशत्गाथाभि प्रवचनसारप्राभृत समाप्तम् ।

उत्थानिका—आगे शिष्य जन को शास्त्र का फल दिखाते हुए इस शास्त्र को समाप्त करते है—

अन्वय सहित विशेषार्थ—**(जो) जो कोई (सागारणगारचरियया जुत्तो) श्रावक या मुनि के चारित्र से युक्त होकर (एय सासण) इस शासन या शास्त्र को (बुज्झदि) समझता है (सो) सो भव्य जीव (लहुणा कालेण) थोड़े ही काल मे (पवयणसारं) इस प्रवचन के सारभूत परमात्मपद को (पप्पोदि) पा लेता है । यह प्रवचनसार नाम का शास्त्र रत्नत्रय का प्रकाशक है । तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, उसके विषयभूत अनेक धर्मरूप परमात्मा आदि द्रव्य हैं—इन्हीं का श्रद्धान व्यवहार सम्यक्त्व है इससे साधने योग्य अपने शुद्धात्मा की रुचिरूप निश्चय सम्यग्दर्शन है । जानने योग्य परमात्मा आदि पदार्थों का यथार्थ जानना व्यवहार सम्यग्ज्ञान है । इससे साधने योग्य निर्विकार स्वसवेदन या स्वानुभव ज्ञान होना निश्चय सम्यग्ज्ञान है । व्रत, समिति, गुप्ति आदि का आचरण पालना व्यवहार या सरागचारित्र है, उसी से ही साधने योग्य अपने शुद्धात्मा की निश्चल**

अनुभूतिरूप वीतराग चारित्र या निश्चय सम्यक्चारित्र है । जो कोई शिष्यजन अपने भीतर "रत्नत्रय ही उपादेय है, इन्हीं का साधन कार्यकारी है" ऐसी रुचि रखकर, बाहरी रत्नत्रय का साधन श्रावक के है, बाहरी रत्नत्रय के आधार से निश्चयरत्नत्रय का अनुष्ठान (साधन) मुनि का आचरण है । अर्थात् प्रमत्तगुणस्थानवर्ती आदि तपोधन की चर्या है-जो श्रावक या मुनि इस प्रवचनसार नाम के ग्रन्थ को समझता है वह थोड़े ही काल मे अपने परमात्मपद को प्राप्त कर लेता है ॥२७५॥

इस तरह पाच गाथाओ के द्वारा पच रत्नमय पञ्चम स्थल का व्याख्यान किया गया । इस तरह बत्तीस गाथाओ से व पाँच स्थलो से शुभोपयोग नाम का चौथा अन्तर अधिकार समाप्त हुआ ।

इस तरह श्री जयसेन आचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति टीका मे पूर्वोक्त क्रम से "एव पणमिय सिद्धे" इत्यादि इक्कीस गाथाओ से उत्सर्ग चारित्र का अधिकार कहा, फिर "ण हि णिरवेक्खो चागो" इत्यादि तीस गाथाओ से अपवाद चारित्र का अधिकार कहा, पश्चात् "एयग्गगदो समणो" इत्यादि चौदह गाथाओ से श्रामण्य या मोक्षमार्ग नाम का अधिकार कहा—फिर इसके पीछे "समणा सुद्धुवजुत्ता" इत्यादि बत्तीस गाथाओ से शुभोपयोग नाम का अधिकार कहा इस तरह चार अन्तर अधिकारो के द्वारा सत्तानवे गाथाओ मे चरणानुयोग चूलिका नामक तीसरा महा अधिकार समाप्त हुआ ॥३॥

प्रश्न—यहा शिष्य ने प्रश्न किया कि यद्यपि पूर्व मे बहुत बार आपने परमात्म पदार्थ का व्याख्यान किया है तथापि सक्षेप से फिर भी कहिये ?

उत्तर—तब आचार्य भगवन्त कहते है—

जो केवलज्ञानादि अनन्त गुणो का आधारभूत है वह आत्मद्रव्य कहा जाता है उसी की ही परीक्षा नयो से और प्रमाणो से की जाती है ।

प्रथम ही शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा यह आत्मा उपाधि रहित स्फटिक के समान सर्व रागद्वेषादि विकल्पो की उपाधि से रहित है । वही आत्मा अशुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा उपाधि सहित स्फटिक के समान सर्व रागद्वेषादि विकल्पो की उपाधि सहित है, वही आत्मा शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय से शुद्ध स्पर्श, रस, गध, वर्णों के आधारभूत पुद्गल परमाणु के समान केवलज्ञानादि शुद्ध गुणो का आधारभूत है, वही आत्मा अशुद्ध सद्भूत व्यवहारनय से अशुद्ध स्पर्श, रस, गंध, वर्ण के आधारभूत दो अणु, तीन अणु आदि परमाणुओ के अनेक स्कंधो की तरह मतिज्ञान आदि विभाव गुणो का आधारभूत है । वही आत्मा अनुपचरित असद्भूत-व्यवहारनय से द्वयणुक आदि स्कधो के सम्बन्ध रूप बध मे स्थित पुद्गल परमाणु की तरह अथवा परमौदारिक शरीर मे वीतराग सर्वज्ञ की तरह विवक्षित एक शरीर मे

स्थित है। (आत्मा को कार्माणशरीर मे या तैजसशरीर मे स्थित कहना भी अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय है)। तथा वही आत्मा उपचरित-असद्भूत-व्यवहारनय से काष्ठ के आसन आदि पर बैठे हुए देवदत्त के समान व समवशरण मे स्थित वीतराग सर्वज्ञ के समान किसी विशेष ग्राम गृह आदि मे स्थित है इत्यादि परस्पर अपेक्षारूप अनेक नयो के द्वारा जाना हुआ या व्यवहार किया हुआ यह आत्मा अमेचक स्वभाव की दृष्टि से विवक्षित एक स्वभाव मे व्यापक होने से एक स्वभावरूप है। वही जीव द्रव्य प्रमाण की दृष्टि से जाना हुआ मेचक स्वभावरूप अनेक धर्मो मे एक ही काल चित्रपट के समान व्यापक होने से अनेक स्वभाव स्वरूप है। इस तरह नय प्रमाणो के द्वारा तत्त्व के विचार के समय मे जो कोई परमात्म द्रव्य को जानता है। वही निर्विकल्पसमाधि के प्रस्ताव मे या अवसर मे निर्विकार स्वसवेदनज्ञान से भी परमात्मा को जानता है अर्थात् अनुभव करता है।

प्रश्न—फिर शिष्य ने निवेदन किया कि भगवन् मैने आत्मा नामक द्रव्य को समझ लिया अब आप उसकी प्राप्ति का उपाय कहिये।

उत्तर—आचार्यभगवन्त कहते है—सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञान, केवलदर्शन स्वभाव जो अपना परमात्म तत्त्व है उसका भले प्रकार श्रद्धान, उसी का ज्ञान व उसी का आचरण रूप अभेद या निश्चयरत्नत्रयमय जो निर्विकल्पसमाधि उससे उत्पन्न जो रागादि की उपाधि से रहित परमानन्दमय एक स्वरूप सुखामृत रस का स्वाद उसको नही अनुभव करता हुआ जैसे पूर्णमासी के दिवस समुद्र अपने जल की तरगो से अत्यन्त क्षोभित होता है, इस तरह रागद्वेष मोह की कल्लोलो से यह जीव जब तक अपने निश्चल स्वभाव मे न ठहरकर क्षोभित या आकुलित होता रहता है तब तक अपने शुद्ध आत्मस्वरूप को नही प्राप्त करता है। जैसे वीतराग सर्वज्ञ-कथित उपदेश पाना दुर्लभ है, वैसे ही एकेंद्रिय,, द्वीद्रिय, त्रीद्रिय, चौइन्द्रिय, पचेन्द्रिय-सज्ञी, पर्याप्त मनुष्य, उत्तम देश, उत्तम कुल, उत्तम रूप इन्द्रियो की विशुद्धता, बाधारहित आयु, श्रेष्ठ बुद्धि, सच्चे धर्म का सुनना, ग्रहण करना, धारण करना, उसका श्रद्धान करना, सयम का पालना, विषयो के सुख से हटना, क्रोधादि कषायो से बचना आदि परम्परा दुर्लभ सामग्री को भी कथचित् काकतालीय न्याय से प्राप्त करके सर्व प्रकार निर्मल केवलज्ञान केवलदर्शन स्वभाव अपने परमात्मतत्व के सम्यक् श्रद्धान, ज्ञान व आचरण रूप अभेद रत्नत्रयमय निर्विकल्पसमाधि से उत्पन्न जो रागादि की उपाधि से रहित परमानन्दमय सुखामृत रस उसके स्वादानुभव का लाभ होते हुए, जैसे अमावस के दिन समुद्र जल की तरगो से रहित निश्चल क्षोभरहित होता है, राग, द्वेष, मोह की कल्लोलो के क्षोभ से रहित होकर जैसा अपने शुद्ध आत्मस्वरूप मे स्थित होता जाता है वैसा ही अपने शुद्धात्मस्वरूप को प्राप्त करता है।

इस तरह श्री जयसेन आचार्यकृत तात्पर्यवृत्ति मे पूर्व मे कहे क्रम से "एससुरासुर" इत्यादि एक सौ एक गाथाओ तक सम्यग्ज्ञान का अधिकार कहा गया । फिर "तम्हा तस्स णमाइ" इत्यादि एक सौ तेरह गाथाओ तक ज्ञेय अधिकार या सम्यग्दर्शन नाम का अधिकार कहा गया । फिर "तव सिद्धे णय सिद्धे" इत्यादि सत्तानवे गाथा तक चारित्र का अधिकार कहा गया । इस तरह तीन महा अधिकारो के द्वारा तीन सौ ग्यारह गाथाओ से यह प्रवचनप्राभृत पूर्ण किया गया ।

इस तरह प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति टीका समाप्त हुई ।

卐——卐

जयसेनाचार्यकृत प्रशस्ति ।

अज्ञानतमसा लिप्तो मार्गो रत्नत्रयात्मक । तत्प्रकाशसमर्थाय नमोऽस्तु कुमुदेन्दवे ॥१॥
सूरि श्री वीरसेनाख्यो मूलसघेपि सत्तपा । नैर्ग्रन्थ्यपदवीं भेजे जातरूपधरोपि य. ॥२॥
तत श्री सोमसेनोऽभूद्गणी गुणगणाश्रय । तद्विनेयोस्ति यस्तस्मै जयसेनतपोभृते ॥३॥
शीघ्र बभूव मालु साधु सदा धर्मरतो वदान्य । सूनुस्तत साधुमहीपतिर्यस्तस्मादय चारुभटस्तनूज ॥४॥
य सतत सर्वविद सपर्यामार्यक्रमाराधनया करोति ।
स श्रेयसे प्राभृतनामग्रन्थपुष्टात् पितुर्भक्ति विलोपभीरु ॥५॥
श्रीमन्त्रिभुवनचद्र निजमतवाराशितायना चन्द्रम् । प्रणमामि कामनामप्रबलमहापर्वतैकशतधारम् ॥६॥
जगत्समस्तससारिजीवाकारणबन्धवे । सिंधवे गुणरत्नाना नमस्त्रिभुवनेन्दवे ॥७॥
त्रिभुवनचद्र चद्र नौमि महासयमात्तम शिरसा । यस्योदयेन जगता स्वान्ततमोराशिकृन्तनं कुरुते ॥८॥

अर्थ——अज्ञानरूपी अन्धकार से यह रत्नत्रयमय मोक्षामार्ग लिप्त हो रहा है उसके प्रकाश करने को समर्थ श्री कुमुदचन्द्र या पद्मचन्द्र मुनि को नमस्कार हो । इस मूलसंघ मे परम तपस्वी निर्ग्रन्थ पदधारी नग्नमुद्रा शोभित श्री वीरसेन नाम के आचार्य हो गये हैं । उनके शिष्य अनेक गुणो के धारी आचार्य श्री सोमसेन हुए । उनका शिष्य यह जयसेन तपस्वी हुआ । सदा धर्म में रत प्रसिद्ध मालु साधु नाम के हुए हैं । उनका पुत्र साधु महीपति हुआ है, उससे यह चारुभट नाम का पुत्र उपजा है, जो सर्वज्ञान प्राप्त कर सदा आचार्यों के चरणों की आराधना पूर्वक सेवा करता है, उस चारुभट अर्थात् जयसेनाचार्य ने जो अपने पिता की भक्ति के विलोप करने से भयभीत था इस प्रवचन प्राभृत नाम ग्रन्थ की टीका की है । श्रीमान् त्रिभुवनचन्द्र गुरु को नमस्कार करता हूँ, जो आत्मा के भावरूपी जल को बढाने के लिये चन्द्रमा के तुल्य हैं और कामदेव नामक प्रबल महापर्वत के सैकड़ों टुकड़े करने वाले हैं । मै श्री त्रिभुवनचन्द्र को नमस्कार करता हूँ जो जगत् के सब ससारी जीवों के निष्कारण बन्धु हैं और गुण रूपी रत्नो के समुद्र है, फिर मैं महासंयम के पालने मे श्रेष्ठ चन्द्रमातुल्य श्री त्रिभुवनचन्द्र को नमस्कार करता हूँ जिसके उदय से जगत के प्राणियो के अन्तरग का अन्धकार समूह नष्ट हो जाता है ।

इति प्रशस्ति

परिशिष्ट

[अब-टीकाकार श्री अमृतचन्द्राचार्यदेव परिशिष्टरूप से कहते हैं——]

ननु कोऽयमात्मा कथं चावाप्यत इति चेत्, अभिहितमेतत पुनरप्यभिधीयते। आत्मा हि तावच्चैतन्यसामान्यव्याप्तानन्तधर्माधिष्ठात्रेक द्रव्यमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्येकश्रुतज्ञानलक्षण-प्रमाणपूर्वकस्वानुभवप्रमीयमाणत्वात्। तत्तु द्रव्यनयेन पटमात्रवच्चिन्मात्रम् ॥१॥ पर्यायनयेन तन्तुमात्र-वद्दर्शनज्ञानादिमात्रम् ॥२॥ अस्तित्वनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसहितावस्थलक्ष्योन्मुखविशिखवत्

'यह आत्मा कौन है और कैसे प्राप्त किया जाता है' इस शंका का उत्तर कहा जा चुका है, और (यहां) फिर भी कहते हैं——

पहले तो आत्मा वास्तव मे चैतन्य सामान्य से व्याप्त अनन्तधर्मों का अधिष्ठाता (स्वामी) एक द्रव्य है, क्योंकि वह आत्म-द्रव्य अनन्तधर्मों में व्यापक जो अनन्त नय उनमें व्याप्त एक श्रुतज्ञान जिसका लक्षण है उस प्रमाणपूर्वक स्वानुभव से ज्ञात होता है।

वह आत्मद्रव्य द्रव्यनय से, पटमात्र की भांति चिन्मात्र है, (अर्थात् आत्मा द्रव्यनय से एक स्वरूप है ॥१॥

आत्मद्रव्य पर्यायनय से, तंतुमात्र की भांति दर्शनज्ञानादिमात्र है, अर्थात् आत्मा पर्यायनय से नाना स्वरूप है ॥२॥

आत्मद्रव्य अस्तित्वनय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्व वाला है;—लोहमय, प्रत्यंचा (डोरी) और धनुष के मध्य मे निहित, सधानदशा में रहे हुये और लक्ष्योन्मुख बाण की भांति (जैसे कोई बाण स्वद्रव्य से लोहमय है, स्वक्षेत्र से प्रत्यञ्चा और धनुष के मध्य में निहित है, स्वकाल से संधान दशा मे है, अर्थात् धनुष पर चढ़ाकर खींची हुई दशा में है, और स्वभाव से लक्ष्योन्मुख है अर्थात् निशान की ओर है, उसी प्रकार आत्मा स्वद्रव्य से चैतन्य मय है, स्वक्षेत्र से लोकाकाश मे निहित है, स्वकाल से वर्तमान पर्याय स्वरूप है, स्वभाव से पदार्थों को जान रहा है। ॥३॥

स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्ववत् ।।३।। नास्तित्वनयेनानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्नास्तित्ववत् ।।४।। अस्तित्वनास्तित्वनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुख-प्राक्तनविशिखवत् क्रमत. स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरस्तित्वनास्तित्ववत् ।।५।। अवक्तव्यनयेनायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तन-विशिखवत् युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैरवक्तव्यम् ।।६।।

आत्मद्रव्य नास्तित्वनय से परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्व वाला है,—अलोहमय, प्रत्यञ्चा और धनुष के मध्य मे अनिहित, सधानदशा मे न रहे हुए और अलक्ष्योन्मुख पहले के बाण की भांति। (जैसे पहले का बाण अन्य बाण के द्रव्य की अपेक्षा से अलोहमय है, अन्य बाण के क्षेत्र की अपेक्षा से प्रत्यञ्चा और धनुष के मध्य मे निहित नहीं है, अन्य बाण के काल की अपेक्षा से सधान दशा मे नहीं रहा हुआ है और अन्य बाण के भाव की अपेक्षा से अलक्ष्योन्मुख है, उसी प्रकार आत्मा अन्य द्रव्य की अपेक्षा चेतन नहीं है, अन्य द्रव्य के क्षेत्र की अपेक्षा उस क्षेत्र मे नहीं है, अन्य द्रव्य के काल की अपेक्षा उस पर्याय रूप नहीं है, अन्य द्रव्य के स्वभाव की अपेक्षा पदार्थों को नहीं जान रहा है ।।४।।

आत्मद्रव्य अस्तित्व-नास्तित्व नयसे क्रमशः स्व-पर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्व नास्तित्व वाला है—लोहमय तथा अलोहमय, प्रत्यचा और धनुष के मध्य मे निहित तथा प्रत्यंचा और धनुष के मध्य में अनिहित, सधान अवस्था मे रहे हुये तथा संधान अवस्था मे न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भांति। जैसे पहले का बाण क्रमशः स्वचतुष्टय की तथा परचतुष्टय की अपेक्षा से लोहमयादि और अलोहमयादि है उसी प्रकार आत्मा अस्तित्व-नास्तित्वनय से क्रमशः स्वचतुष्टय की और परचतुष्टय की अपेक्षा से चेतनमयादि और अचेतनमयादि है। ।।५।।

आत्मद्रव्य अवक्तव्यनय से युगपत् स्वपर द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अवक्तव्य है,—लोहमय तथा अलोहमय, प्रत्यंचा और धनुष के मध्य मे निहित तथा प्रत्यचा और धनुष के मध्य में अनिहित, संधान अवस्था मे रहे हुए तथा संधान अवस्था मे न रहे हुए और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भांति (जैसे पहले का बाण युगपत् स्वचतुष्टय की और परचतुष्टय की अपेक्षा से युगपत् लोहमयादि तथा अलोहमयादि होने से अवक्तव्य है, उसी प्रकार आत्मा अवक्तव्य नय से युगपत् स्वचतुष्टय और परचतुष्टय की अपेक्षा चेतनमय और अचेतनमय आदि होने से अवक्तव्य है।) ।।६।।

अस्तित्वावक्तव्यनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसहितावस्थलक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसहितावस्थासहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत् स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्ववदवक्तव्यम् ।७। नास्तित्वावक्तव्यनयेनायोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसहितावस्थालक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसहितावस्थासहितावस्थलक्ष्योन्मुखालक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत् परद्रव्य क्षेत्रकाल भावैर्युगपत्स्व परद्रव्य क्षेत्रकाल भावैश्च नास्तित्ववदवक्तव्यम ।८। अस्तित्वनास्तित्वावक्तव्यनयेनायोमयगुणकार्मुकान्तरा-

---

आत्मद्रव्य अस्तित्व अवक्तव्य नय से स्व-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्व वाला अवक्तव्य है—(स्वचतुष्टय से) लोहमय, प्रत्यंचा और धनुष के मध्य मे निहित, सधान अवस्था मे रहे हुए और लक्ष्योन्मुख ऐसे तथा (युगपत स्वपर चतुष्टय से) लोहमय तथा अलोहमय, प्रत्यचा और धनुष के मध्य मे निहित तथा प्रत्यचा और धनुष के मध्य मे अनिहित, संधान अवस्था मे रहे हुये तथा सधान अवस्था मे न रहे हुये और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाति [जैसे पहले का बाण (१) स्वचतुष्टय से तथा (२) एक ही साथ स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से (१) अस्तित्व तथा (२) अवक्तव्यनय है, उसी प्रकार आत्मा अस्तित्व अवक्तव्यनय से (१) स्वचतुष्टय की तथा (२) युगपत् स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से (१) अस्ति तथा (२) अवक्तव्य है ।] ॥७॥

आत्मद्रव्य नास्तित्व-अवक्तव्यनय से पर द्रव्य-क्षेत्र-काल भाव से तथा युगपत् स्वपर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से नास्तित्व वाला-अवक्तव्य है—(परचतुष्टय से) अलोहमय, प्रत्यचा और धनुष के मध्य मे अनिहित, सधान अवस्था मे न रहे हुये और अलक्ष्योन्मुख ऐसे तथा (युगपत् स्वपरचतुष्टय से) लोहमय तथा अलोहमय, प्रत्यचा और धनुष के मध्य मे निहित तथा प्रत्यञ्चा और धनुष के मध्य मे अनिहित, सधान अवस्था रहे हुये तथा सधान अवस्था मे न रहे हुये और लक्ष्योन्मुख तथा अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भाति । [जैसे पहले का बाण (१) परचतुष्टय की तथा (२) एक ही साथ स्वपर चतुष्टय की अपेक्षा से (१) नास्ति तथा (२) अवक्तव्य है, उसी प्रकार आत्मा नास्तित्व अवक्तव्य नय से (१) परचतुष्टय की तथा (२) युगपत् स्व परचतुष्टय की अपेक्षा से (१) नास्ति तथा (२) अवक्तव्य है । ॥८॥

आत्मद्रव्य अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्य नय से स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से तथा युगपत् स्वपर-द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से अस्तित्ववाला—

लर्वातसंहितावस्थलक्ष्योन्मुखानयोमयागुणकार्मुकान्तरालवर्त्यसंहितावस्थालक्ष्योन्मुखायोमयानयोमयगुणकार्मुकान्तरालवर्त्यगुणकार्मुकान्तरालवर्तिसंहितावस्थासंहितावस्थलक्ष्योन्मुखा लक्ष्योन्मुखप्राक्तनविशिखवत्स्वद्रव्यक्षेत्रकालभावै परद्रव्यक्षेत्रकालभावैर्युगपत्स्वपरद्रव्यक्षेत्रकालभावैश्चास्तित्वनास्तित्ववदवक्तव्यम् ।९। विकल्पनयेन शिशुकुमारस्थविरैकपुरुषवत्सविकल्पम् ।१०। अविकल्पनयेनैकपुरुषमात्रवदविकल्पम् ।११। नामनयेन तदात्मवत् शब्दब्रह्मस्पर्शि ।१२। स्थापनानयेन मूर्तित्ववत्सकलपुद्गलालम्बि ।१३।

नास्तित्व वाला अवक्तव्य है-(स्वचतुष्टय से) लोहमय, प्रत्यञ्चा और धनुष के मध्य मे निहित, संधान अवस्था मे रहे हुये और लक्ष्योन्मुख ऐसे--(परचतुष्टय से) अलोहमय-प्रत्यचा और धनुष के मध्य में अनिहित संधान अवस्था मे न रहे हुये और अलक्ष्योन्मुख ऐसे तथा (युगपत् स्वपरचतुष्टय से) लोहमय तथा अलोहमय, प्रत्यंचा और धनुष के मध्य मे निहित तथा प्रत्यंचा और धनुष के मध्य मे अनिहित, सधान अवस्था में रहे हुये तथा सधान अवस्था मे न रहे हुये और लक्ष्योन्मुख और अलक्ष्योन्मुख ऐसे पहले के बाण की भांति। [जैसे पहले का बाण १. स्वचतुष्टय की, २. परचतुष्टय की तथा ३. युगपत स्वपरचतुष्टय की अपेक्षा से १. अस्ति, २. नास्ति तथा ३. अवक्तव्य है, उसी प्रकार आत्मा अस्तित्व-नास्तित्व-अवक्तव्य नय से १. स्वचतुष्टय की, २. परचतुष्टय की तथा ३. युगपत् स्व-पर-चतुष्टय की अपेक्षा से १. अस्ति, २. नास्ति तथा ३. अवक्तव्य है।]॥९॥

आत्मद्रव्य विकल्पनय से, बालक, कुमार और वृद्ध ऐसे एक पुरुष की भांति, सविकल्प है, जंसे कि एक पुरुष बालक, कुमार और वृद्ध के भेद से युक्त है वसे ही आत्मा भी नारक, तिर्यंच, मनुष्य, देव, सिद्ध भेद से युक्त है, अतः सविकल्प है ॥१०॥

आत्मद्रव्यअविकल्पनय से, एक पुरुषमात्र की भांति, अविकल्प है अर्थात् अभेदनय से आत्मा नारक तिर्यंच आदि के भेद से रहित एक आत्म-द्रव्य मात्र है जैसे कि एक पुरुष बालक, कुमार और वृद्ध के भेद से रहित एक पुरुषमात्र है ॥११॥

आत्मद्रव्य नामनय से, नाम वाले की भांति, शब्दब्रह्म को स्पर्श करने वाला है अर्थात् आत्मा नामनय से शब्दब्रह्म का वाच्य है, जैसे कि नाम वाला पदार्थ उसके नामरूप शब्द से कहा जाता है ॥१२॥

आत्मद्रव्य स्थापनानय से, मूर्तित्व की भांति, सर्व पुद्गलों का अवलम्बन करने वाला है अर्थात् स्थापनानय से आत्मद्रव्य की पुद्गल मे स्थापना की जाती है, जैसे मूर्ति की ॥१३॥

आत्मद्रव्य द्रव्यनय से बालक सेठ की भाति और श्रमण राजा की भांति, अनागत

द्रव्यनयेन माणवकश्रेष्ठिश्रमणपार्थिववदनागतातीतपर्यायोद्भासि ।।१४।। भावनयेन पुरुषायितप्रवृत्तयोषिद्वत्तदात्वपर्यायोल्लासि ।।१५।। सामान्यनयेनहारस्रग्दामसूत्रवद्व्यापि ।।१६।। विशेषनयेन तदेकमुक्ताफलवदव्यापि ।।१७।। नित्यनयेन नटवदवस्थायि ।।१८।। अनित्यनयेन रामरावणवदनवस्थायि ।।१९।। सर्वगतनयेन विस्फारिताक्षचक्षुर्वत्सर्ववर्ति ।।२०।। असर्वगतनयेन मीलिताक्षचक्षुर्वदात्मवर्ति ।।२१।।

और अतीतपर्याय से प्रतिभासित होता है अर्थात् आत्मा द्रव्यनय से भावी और भूत पर्यायरूप से लक्षित होता है। जैसे सेठ का बालक सेठरूप भावी पर्याय से और मुनि राजारूप भूतपर्याय से लक्षित होते हैं ।।१४।।

आत्मद्रव्य भावनय से, पुरुष के समान प्रवर्तमान स्त्री की भांति, तत्काल (वर्तमान) की पर्यायरूप से उल्लसित-प्रकाशित प्रतिभासित होता है अर्थात् आत्मा भावनय से वर्तमान पर्यायरूप से प्रकाशित होता है, जैसे कि प्रवर्तमान स्त्री वर्तमान पुरुषरूप पर्याय से प्रतिभासित होती है ।।१५।।

आत्मद्रव्य सामान्यनय से, हार-माला-कंठी मे डोरे की भांति, व्यापक है, अर्थात् आत्मा सामान्यनय से सर्व पर्यायों मे व्याप्त होकर रहता है, जैसे मोती की माला का डोरा सारे मोतियों मे व्याप्त होकर रहता है। ।।१६।।

आत्मद्रव्य विशेषनय से, उसके एक मोती की भांति, अव्यापक है, अर्थात् आत्मा विशेषनय की अपेक्षा मात्र विवक्षित पर्याय स्वरूप होने से द्रव्य की समस्त पर्यायों मे व्यापक न होने से अव्यापक है, जैसे पूर्वोक्त माला का एक मोती सारी माला में अव्यापक है ।१७।।

आत्मद्रव्य नित्यनय से, नट की भांति, अवस्थायी है, अर्थात् आत्मा नित्यनय से नित्य—स्थायी है, जैसे राम-रावणरूप अनेक अनित्य स्वांग धारण करता हुआ भी नट तो वह का वही नित्य है। इस प्रकार आत्मा भी मनुष्य तिर्यंच आदि पर्यायो को धारण करता हुआ भी आत्मद्रव्य तो वह का वही है, इसलिये नित्य है ।।१८।।

आत्मद्रव्य अनित्यनय से, राम-रावण की भांति, अनवस्थायी है अर्थात् आत्मा अनित्यनय से अनित्य है, जैसे नट राम-रावण रूप स्वांग की अपेक्षा अनित्य है। उसी प्रकार आत्म द्रव्य भी पर्यायार्थिक नय की अपेक्षा अनित्य है ।।१९।।

आत्मद्रव्य सर्वगतनय से खुली हुई आंख की भांति, सर्ववर्ती (सब में व्याप्त होने वाला) है। [ज्ञान जानने की अपेक्षा सर्व पदार्थों में जाता है, इसलिये सर्वगत है।] ।।२०।।

आत्मद्रव्य असर्वगतनय से, मीची हुई (बन्द) आंख की भांति, आत्मवर्ती (अपने में रहने वाला है। [प्रदेशत्व गुण की अपेक्षा आत्मद्रव्य अपने प्रदेशमात्र में रहने से आत्मवर्ती है असर्वगत है।] ।।२१।।

शून्यनयेन शून्यागारवत्केवलोद्भासि ॥२२॥ अशून्यनयेन लोकाक्रान्तनौवन्मिलितोद्भासि ॥२३॥ ज्ञानज्ञेयाद्वैतनयेन महदिन्धनभारपरिणतधूमकेतुवदेकम् ॥२४॥ ज्ञानज्ञेयद्वैतनयेन परप्रतिबिम्बसंपृक्तदर्पणवदनेकम् ॥२५॥ नियतिनयेन नियमितौष्ण्यवह्निवन्नियतस्वभावभासि ॥२६॥ अनियतिनयेन नियत्यनियमितौष्ण्यपानीयवदनियतस्वभावभासि ॥२७॥ स्वभावनयेनानिशिततीक्ष्णकण्टकवत्संस्कारानर्थक्य-

---

आत्मद्रव्य शून्यनय से, शून्य (खाली) घर की भांति, एकाकी (अमिलित) भासित होता है ॥२२॥

आत्मद्रव्य अशून्यनय से, लोगों से भरे हुये जहाज की भांति, मिलित भासित होता है ॥२३॥

आत्मद्रव्य ज्ञानज्ञेय-अद्वैतनय से (ज्ञान और ज्ञेय के अद्वैतरूपनय से) महान् ईन्धन-समूहरूप परिणत अग्नि की भांति, एक है ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार दोनों स्वरूप होने से अद्वैत है, इसलिये एक है ॥२४॥

आत्मद्रव्य ज्ञान ज्ञेय द्वैतनय से, परके प्रतिबिंबों से संपृक्त दर्पण की भांति, अनेक है अर्थात् आत्मा मे ज्ञेय प्रतिभासित होते हैं। उन ज्ञेयों के प्रतिबिंब की अपेक्षा आत्मा अनेक है, जैसे पर–प्रतिबिम्बों के संगवाला दर्पण अनेकरूप है ॥२५॥

आत्मद्रव्य नियतिनय से नियतस्वभाव रूप भासित होता है, जिसकी उष्णता नियमित (नियत) होती है ऐसी अग्नि की भांति। आत्मा नियतिनय से नियत स्वभाव वाला भासित होता है, जैसे अग्नि के उष्णता का नियम होने से अग्नि नियतस्वभाव वाली भासित होती है। उसी प्रकार आत्मा के चैतन्य का नियम होने से आत्मा नियत स्वभाव वाली है ॥२६॥

आत्मद्रव्य अनियतनय से अनियतस्वभावरूप भासित होता है, जिसके उष्णता नियति (नियम) से नियमित नहीं है, ऐसे पानी की भांति आत्मा अनियतिनय से अनियतिस्वभाव वाला भासित होता है जैसे पानी के (अग्निनिमित्तक) उष्णता अनियत होने से पानी अनियत स्वभाव वाला भासित होता है। पानी अग्नि का निमित्त मिले तो उष्ण हो जावे निमित्त न मिले तो उष्ण न हो विवक्षित जल के विवक्षित क्षेत्र व विवक्षित काल में विवक्षित अग्नि के द्वारा उष्ण होना नियत नहीं है। इस प्रकार आत्मा की नैमित्तिक पर्यायें व उनका क्षेत्र व काल नियत नहीं है, अनियत है ॥२७॥

आत्मद्रव्य स्वभावनय से संस्कार को निरर्थक करने वाला है (अर्थात् आत्मा को स्वभाव नय से संस्कार निरुपयोगी है), जिसकी किसी से नोक नहीं निकाली जाती (किन्तु जो स्वभाव से ही नुकीला है) ऐसे पैने कांटे की भांति। आत्मा स्वभाव से परिणमनशील होने से सस्कारों को निरर्थक करने वाला है ॥२८॥

कारि ॥२८॥ अस्वभावनयेनायस्कारनिशिततीक्ष्णविशिखवत्सस्कारसार्थक्यकारि ॥२६॥ कालनयेन निदाघदिवसानुसारिपच्यमानसहकारफलवत्समयायत्तसिद्धिः ॥३०॥ अकालनयेन कृत्रिमोष्मपाच्यमान-सहकारफलवत्समयानायत्तसिद्धिः ॥३१॥ पुरुषकारनयेन पुरुषकारोपलब्धमधुकुक्कुटीकपुरुषकारवादी-वद्यत्नसाध्यसिद्धि. ॥३२॥ दैवनयेन पुरुषकारवादिदत्तमधुकुक्कुटीगर्भलब्धमाणिक्यदैववादिवदयत्नसाध्य-

---

आत्मद्रव्य अस्वभाव नय से सस्कार को सार्थक करने वाला है (अर्थात आत्मा को अस्वभाव नय से संस्कार उपयोगी है), जिसकी (स्वभाव से नोक नहीं होती, किन्तु सस्कार करके) लुहार के द्वारा नोक निकाली गई हो ऐसे पैने बाण की भाति। आत्मा अस्वभाव नय से कर्मों के द्वारा रागी द्वेषी किया जाता है इसलिये सस्कार को सार्थक करने वाला है ॥२६॥

आत्म द्रव्य काल नय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार रखती है ऐसा है गर्मी के दिनों के अनुसार पकने वाले आम्रफल की भाति। कालनय से कार्य सिद्धि समय के अधीन है, जैसे गर्मी के दिनों के अनुसार आम्रफल पकता है अथवा आयु पूर्ण होने पर जीव की पर्याय समाप्त होती है ॥३०॥

आत्मद्रव्य अकालनय से जिसकी सिद्धि समय पर आधार नहीं रखती है, कृत्रिम गर्मी से पकाये गये आम्रफल की भांति। अकालनय से कार्य की सिद्धि समय के अधीन नहीं है, अर्थात् कार्य का काल निश्चित नहीं है, जब कार्य के अनुकूल सामग्री मिल जाय तब ही कार्य हो जाता है। जैसे जीव के मोक्ष जाने मे काल का नियम नहीं है। बाह्य अभ्यन्तर सामग्री मिलने पर मोक्ष होता है ॥३१॥

आत्मद्रव्य पुरुषकार नय से जिसकी सिद्धि यत्नसाध्य है ऐसा है, जिसे पुरुषकार से नीबू का वृक्ष प्राप्त होता है (उगता है) ऐसे पुरुषकारवादी की भाति। पुरुषार्थनय से कार्य की सिद्धि बुद्धि-पूर्वक प्रयत्न से होता है, जैसे किसी पुरुषार्थवादी मनुष्य को पुरुषार्थ से नीबू का वृक्ष प्राप्त होता है ॥३२॥

'इह चेष्टितमदृष्टपौरुषादीन्यपि पर्यायनामानि'—अष्टसहस्री पृ० २५६

आत्मद्रव्य दैवनय से जिसकी सिद्धि अयत्नसाध्य है (यत्न बिना होता है) ऐसा है, पुरुषकारवादी द्वारा प्रदत्त नीबू के वृक्ष के भीतर से जिसे (बिना यत्न के, दैव से) माणिक प्राप्त हो जाता है ऐसे दैववादी की भाति। कार्य की सिद्धि दैवनय से योग्यता पर आधारित है ॥३३॥

'योग्यता (भव्यता) पूर्वकर्मदैवमदृष्टमिति पर्यायनामानि'—अष्टसहस्री पृ० २५६।

सिद्धि ॥३३॥ ईश्वरनयेन धात्रीहटावलेह्यमानपान्थबालकवत्पारतन्त्र्यभोक्तृ ॥३४॥ अनीश्वरनयेन स्वच्छन्ददारितकुरङ्गकण्ठीरववत्स्वातन्त्र्यभोक्तृ ॥३५॥ गुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकवद्गुणग्राहि ॥३६॥ अगुणिनयेनोपाध्यायविनीयमानकुमारकाध्यक्षवत् केवलमेव साक्षि ॥३७॥ कर्तृनयेन रञ्जकवद्रागादिपरिणामकर्तृ ॥३८॥ अकर्तृनयेन स्वकर्मप्रवृत्तरञ्जकाध्यक्षवत्केवलमेव साक्षि ॥३९॥ भोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधितवत्सुखदुःखादिभोक्तृ ॥४०॥ अभोक्तृनयेन हिताहितान्नभोक्तृव्याधिताध्यक्षधन्वन्तरिचरवत् केवलमेव साक्षि ॥४१॥

आत्मद्रव्य ईश्वर नय से परतन्त्रता भोगने वाला है, धाय की दुकान पर दूध पिलाये जाने वाले राहगीर के बालक की भाति। ईश्वरनय से कार्य की सिद्धि निमित्ताधीन है जैसे सिद्ध जीव की उर्ध्व गति धर्म द्रव्य-अधीन है और परिणमन कालद्रव्य अधीन है ॥३४॥

आत्मद्रव्य अनीश्वर नय से स्वतन्त्रता भोगने वाला है, हिरन को स्वच्छन्दता (स्वतन्त्रता, स्वेच्छा) पूर्वक फाडकर खा जाने वाले सिंह की भांति। अनीश्वरनय से कार्य की सिद्धि निमित्ताधीन नहीं है, जैसे जीव का अस्तित्व निमित्ताधीन नहीं है ॥३५॥

आत्मद्रव्यगुणीनय से गुणग्राही है, शिक्षक के द्वारा जिसे शिक्षा दी जाती है ऐसे कुमार की भाति ॥३६॥

आत्मद्रव्य अगुणीनय से केवल साक्षी ही है (गुणग्राही नही है), जैसे शिक्षक के द्वारा जिस कुमार को शिक्षा दो जा रही है उस कुमार का रक्षक पुरुष गुणग्राही नही है ॥३७॥

आत्मद्रव्य कर्तृनय से, रगरेज की भाति, रागादि परिणाम का कर्ता है अर्थात् आत्मा कर्तानय से रागादिपरिणामो का कर्ता है, जैसे रगरेज रगने के कार्य का कर्ता है। ॥३८॥

आत्मद्रव्य अकर्तृनय से केवल साक्षी ही है रागादि का कर्ता नहीं है, जैसे कार्य मे प्रवृत्त रगरेज को देखने वाले पुरुष ॥३९॥

आत्मद्रव्य भोक्तृनय से सुखदुखादि का भोक्ता है, जैसे हितकारी-अहितकारी अन्न को खाने वाला रोगी सुख या दुःख को भोगता है ॥४०॥

आत्मद्रव्य अभोक्तृनय से केवल साक्षी हीहै, सुख दुःख नहीं भोगता, जैसे हितकारी अहितकारी अन्न को खाने वाले रोगी को देखने वाला वैद्य है ॥४१॥

आत्मद्रव्य क्रियानय से अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि साधित हो, ऐसा है, जैसे खम्भे से सिर फोड़ने पर अधे को दृष्टि उत्पन्न होकर निधान प्राप्त हो जाय। ऐसे अधे

क्रियानयेन स्थाणुभिन्नमूर्धजातदृष्टिलब्धनिधानान्धवदनुष्ठानप्राधान्यसाध्यसिद्धि· ॥४२॥ ज्ञाननयेन चणकमुष्टिक्रीतचिन्तामणिगृहकोणवाणिजवद्विवेकप्राधान्यसाध्यसिद्धिः ॥४३॥ व्यवहारनयेन बन्धकमोचकपरमाण्वन्तर सयुज्यमानवियुज्यमानपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोर्द्वैतानुवर्ति ॥४४॥ निश्चयनयेन केवलबध्यमानमुच्यमानबन्धमोक्षोचितस्निग्धरूक्षत्वगुणपरिणतपरमाणुवद्बन्धमोक्षयोरद्वैतानुवर्ति ॥४५॥ अशुद्धनयेन घटशरावविशिष्टमृण्मात्रवत्सोपाधिस्वभावम् ॥४६॥ शुद्धनयेन केवलमृण्मात्रवन्निरुपाधि-

---

की भांति क्रियानय से आत्मा अनुष्ठान की प्रधानता से सिद्धि हो, ऐसा है, जैसे किसी अंधपुरुष को पत्थर के खम्भे के साथ सिर फोडने से सिर के रक्त का विकार दूर होने से आंखें खुल जायें और निधान (खजाना) प्राप्त हो जाय ॥४२॥

आत्मद्रव्य ज्ञाननय से विवेक की प्रधानता से सिद्धि साधित हो, ऐसा है, जैसे मुट्ठी भर चने देकर चिंतामणि-रत्न खरीदने वाला घर के कौने मे बैठा हुआ व्यापारी ॥४३॥

आत्मद्रव्य व्यवहारनय से बध और मोक्ष मे दूसरे द्रव्य अर्थात् पुद्गल द्रव्य के साथ बधता और छूटता है, बधक (बांधने वाले) और मोचक (छोड़ने वाले) अन्य परमाणु के साथ संयुक्त होने वाले और उससे वियुक्त होने वाले परमाणु की भाति। व्यवहारनय से आत्मा बंध और मोक्ष मे बांधने वाले पुद्गल कर्म के साथ बंधने और छूटने से द्वैत को प्राप्त होता है जैसे परमाणु अन्य परमाणु के साथ सयोग को पानेरूप द्वैत को प्राप्त होता है और परमाणु के मोक्ष मे वह परमाणु अन्य परमाणु से पृथक् होने रूप द्वैत को पाता है। ॥४४॥

आत्मद्रव्य निश्चयनय से बंध और मोक्ष मे अद्वैत का अनुसरण करने वाला है, अकेले बध्यमान और मुच्यमान ऐसे बंधमोक्षोचित स्निग्धत्व रूक्षत्वगुणरूप परिणत परमाणु की भांति निश्चयनय से अपने रागादि और वीतराग परिणामो के कारण आत्मा अकेला ही बद्ध और मुक्त होता है, जैसे बंध और मोक्ष के योग्य स्निग्धत्व या रूक्षत्व गुणरूप परिणमित होता हुआ परमाणु अकेला ही बद्ध और मुक्त होता है ॥४५॥

आत्मद्रव्य अशुद्धनय से, घट और रामपात्र से विशिष्ट मिट्टी मात्र की भाति, रागद्वेष रूप सोपाधिस्वभाव वाला है ॥४६॥

आत्मद्रव्य शुद्धनय से, केवल मिट्टी मात्र की भांति, निरुपाधिस्वभाववाला है ॥४७॥

इसलिये कहा है—

[1]जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा।
जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया॥

---

१ गो० क० गा० ८९४।

स्वभावम् ।।४७।। तदुक्तम्–"जावदिया वयणवहा तावदिया चेव होंति णयवादा । जावदिया णयवादा तावदिया चेव होंति परसमया ।।" "परसमयाण वयण मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा । जइणाण पुण वयण सम्मं खु कहचि वयणादो ।।" एवमनया दिशा प्रत्येकमनन्तधर्मव्यापकानन्तनयैर्निरूप्यमाणमुदन्वदन्तरालमिलद्धवलनीलगङ्गायमुनोदकभारवदनन्तधर्माणां परस्परमतद्भावमात्रेणाशक्यविवेचनत्वादमेचकस्वभावैकधर्मव्यापकैकधर्मित्वाद्यथोदितैकान्तात्मात्मद्रव्यम् । युगपदनन्तधर्मव्यापकानन्तनयव्याप्यैकश्रुतज्ञानलक्षणप्रमाणेन निरूप्यमाण तु समस्ततरङ्गिणीपय पूरसमवायात्मकैकमकराकरवदनन्तधर्माणां वस्तुत्वेनाशक्यविवेचनत्वान्मेचकस्वभावानन्तधर्मव्याप्यैकधर्मित्वात् यथोदितानेकान्तात्मात्मद्रव्यम् ।

---

[1]परसमयाण वयण मिच्छं खलु होदि सव्वहा वयणा ।
जइणाण पुण वयण सम्मं खु कहचि वयणादो ।।

अर्थ––जितने वचनपंथ हैं उतने वास्तव मे नयवाद हैं और जितने नयवाद हैं उतने ही परसमय (परमत) हैं ।

परसमयों (मिथ्यामतियों) का वचन 'सर्वथा' कहा जाने से वास्तव मे मिथ्या है, और जैनो का वचन 'कथचित्' कहा जाने से वास्तव मे सम्यक् है ।

इस प्रकार इस सूचनानुसार एक एक धर्म मे एक एक नय (व्यापे), इस प्रकार अनन्त-धर्मों मे व्यापक अनन्त नयो से निरूपण किया जाय तो, समुद्र के भीतर मिलने वाले श्वेत-नील गगा-यमुना के जलसमूह की भांति, अनन्तधर्मों को परस्पर अतद्भावमात्र से पृथक् करने मे अशक्य होने से, आत्मद्रव्य अमेचक स्वभाव वाला एक धर्म में व्याप्त होने वाला, एक धर्मी होने से यथोक्त एकान्तात्मक (एकधर्मस्वरूप) है । परन्तु युगपत् अनन्त-धर्मों मे व्यापक ऐसे अनन्त नयो मे व्याप्त होने वाला एक श्रुतज्ञानस्वरूप प्रमाण से निरूपण किया जाय तो, समस्त नदियों के जलसमूह के समवायात्मक (समुदायस्वरूप) एक समुद्र की भांति, अनन्तधर्मों को वस्तुरूप से पृथक् करना अशक्य होने से आत्मद्रव्य मेचक स्वभाव वाले अनन्तधर्मों मे व्याप्त होने वाला, एक धर्मी होने से यथोक्त अनेकान्तात्मक (अनेकधर्मस्वरूप) है । [जैसे–एक समय एक नदी के जल को जानने वाले ज्ञानांश से देखा जाय तो समुद्र एक नदी के जलस्वरूप ज्ञात होता है, उसी प्रकार एक समय एक धर्म को जानने वाले एक नय से देखा जाय तो आत्मा एक धर्मस्वरूप ज्ञात होता है, परन्तु जैसे एक ही साथ सर्व नदियो के जल को जानने वाले ज्ञान से देखा जाय तो समुद्र सर्व नदियों के जलस्वरूप ज्ञात होता है, उसी प्रकार एक ही साथ सर्व धर्मों को जानने वाले प्रमाण से देखा जाय तो आत्मा अनेक धर्मस्वरूप ज्ञात होता है । इस प्रकार एक नय से देखने पर आत्मा एकान्तात्मक है और प्रमाण से देखने पर अनेकान्तात्मक है ।]

---

१. गो० क० गा० ८९५ ।

अब उस ही आशय को काव्य द्वारा कहकर, यह कथन समाप्त किया जाता है कि 'आत्मा कैसा है ?'

मालिनी छन्द)

स्यात्कारश्रीवासवश्यैर्नयौघै: पश्यन्तीत्थ चेत् प्रमाणेन चापि ।
पश्यन्त्येव प्रस्फुटानन्तधर्मस्वात्मद्रव्य शुद्धचिन्मात्रमन्त ।।१९।।

अर्थ---इस प्रकार स्यात्कारश्री (स्यात्काररूपी लक्ष्मी) के निवास के वशीभूत वर्तते नयसमूहो से देखें तो भी और प्रमाण से देखे तो भी स्पष्ट अनन्तधर्मों वाले निज आत्मद्रव्य को भीतर मे शुद्ध चैतन्यमात्र देखते ही हैं ।

इस प्रकार आत्मद्रव्य कहा गया । अब उसकी प्राप्ति का प्रकार (उपाय) कहा जाता है---

इत्यभिहितमात्मद्रव्यमिदानीमेतदवाप्तिप्रकारोऽभिधीयते--अस्य तावदात्मनो नित्यमेवानादिपौद्गलिककर्मनिमित्तमोहभावनानुभावघूर्णितात्मवृत्तितया तोयाकरस्येवात्मन्येव क्षुभ्यत: क्रमप्रवृत्ताभिरनन्ताभिर्ज्ञप्तिव्यक्तिभि: परिवर्तमानस्य ज्ञप्तिव्यक्तिनिमित्ततया ज्ञेयभूतासु बहिरर्थव्यक्तिषु प्रवृत्तमैत्रीकस्य शिथिलितात्मविवेकतयात्यन्तबहिर्मुखस्य पुन. पौद्गलिककर्मनिर्मापकरागद्वेषद्वैतमनुवर्तमानस्य दूरत एवात्मावाप्ति । अथ यदा त्वयमेव प्रचण्डकर्मकाण्डोच्चण्डीकृताखण्डज्ञानकाण्डत्वेनानादिपौद्गलिककर्मनिर्मितस्य मोहस्य वध्यघातकविभागज्ञानपूर्वकविभागकरणात् केवलात्मभावानुभावनिश्चलीकृतवृत्तितया तोयकर इवात्मन्येवातिनि:प्रकम्पस्तिष्ठन् युगपदेव व्याप्यानन्ता ज्ञप्तिव्यक्तीरवकाशाभावान्न जातु विवर्तते, तदास्य ज्ञप्तिव्यक्तिनिमित्ततया ज्ञेयभूतासु बहिरर्थव्यक्तिषु न नाम मैत्री प्रवर्तते । तत: सुप्रतिष्ठितात्मविवेकतयात्यन्तमन्तर्मुखीभूत पौद्गलिककर्मनिर्मापकरागद्वेषद्वैतानुवृत्तिदूरीभूतो दूरत एवानुभूतपूर्वमपूर्वज्ञानानन्दस्वभाव भगवन्तमात्मानमवाप्नोति । अवाप्नोत्वेव ज्ञानानन्दात्मान जगदपि परमात्मानमिति ।

(१) अनादि पौद्गलिक कर्म के निमित्त से होने वाली मोह भावना (मोह के अनुभव के) प्रभाव से सदा चक्कर खाती हुई आत्म-परिणति के द्वारा समुद्र के समान (जो आत्मा) अपने मे ही क्षुब्ध है, [२] क्रमश प्रवर्तमान अनन्त ज्ञप्तियों की व्यक्तियों (जाननरूप पर्यायों) के द्वारा जो परिवर्तन को प्राप्त है [३] ज्ञप्तियों की व्यक्तियों के लिये जो निमित्त है ऐसे ज्ञेयभूत बाह्य पदार्थों मे जिसकी मैत्री प्रवर्तती है [४] आत्मा विवेक के शिथिल (अभाव) होने से अत्यन्त बहिर्मुख है, [५] पौद्गलिक कर्म (ज्ञानावरणादि) को रचने वाले ऐसे राग द्वेषरूप जो परिणमित होते हैं (रागद्वेष रूप आत्मा के परिणाम ज्ञानावरणादि पौद्गलिक कर्मों के रचने वाले है, वे रागद्वेषरूप परिणाम आत्मा मे होते हैं), उपरोक्त पांच विशेषण वाले इस आत्मा को आत्म-प्राप्ति दूर है ।

परन्तु जब यही आत्मा प्रचण्ड कर्मकाण्ड द्वारा अखण्ड ज्ञानकाण्ड को प्रचण्ड करने से अनादि-पौद्गलिक-कर्मरचित मोह को वध्य-घातक के विभागज्ञानपूर्वक विभक्त करने से स्वयं केवल आत्म-भावना के (आत्मानुभव के) प्रभाव से परिणति को निश्चल करने से समुद्र की भांति अपने मे ही अति निष्कंप रहता हुआ एक साथ ही अनन्त ज्ञप्ति व्यक्तियों मे व्याप्त होकर अवकाश के अभाव के कारण सर्वथा विवर्तन (परिवर्तन) को प्राप्त नहीं होता, तब ज्ञप्ति की व्यक्तियो के निमित्त कारण होने से जो ज्ञेयभूत हैं, ऐसी बाह्य-पदार्थ की व्यक्तियों के प्रति उसे वास्तव मे मंत्री प्रवर्तित नहीं होती है, इसलिये आत्म-विवेक की सुप्रतिष्ठितता (सुस्थिति) के द्वारा अत्यन्त अन्तर्मुख होकर तथा पौद्गलिक कर्मों के जो रचयिता ऐसी रागद्वेषद्वैतरूप परिणति से दूर होकर यह आत्मा पूर्व मे अनुभव नहीं किये गये अपूर्व ज्ञानानन्दस्वभावी भगवान् आत्मा को आत्यन्तिक रूप से ही प्राप्त करता है। जगत् भी ज्ञानानन्दात्मक परमात्मा को अवश्य प्राप्त करो।

भवति चात्र श्लोक —

आनदामृतपूरनिर्भरवहत्कैवल्यकल्लोलिनी-
निर्मग्न जगवीक्षणक्षममहासंवेदनश्रीमुखम् ।
स्यात्काराङ्कजिनेशशासनवशादासादयतूल्लसत्स्व
तत्त्वं वृतजात्यरत्नकिरणप्रस्पष्टमिष्ट जनाः ॥२०॥

अर्थ—आनन्दामृत के पूर से भरपूर बहती हुई कैवल्यसरिता में [मुक्तिरूपी नदी मे] जो डूबा हुआ है, जगत् को देखने मे समर्थ महासंवेदनरूपी श्री [महाज्ञानरूपी लक्ष्मी] जिसमे मुख्य है, जो उत्तम रत्न-किरण की भांति स्पष्ट है और जो इष्ट है ऐसे उल्लसित [प्रकाशमान-आनन्दमय] स्वतत्व को जन स्यात्कारलक्षण वाले जिनेश–शासन के वश से प्राप्त हो।

['स्यात्कार' जिसका चिह्न है ऐसे जिनेन्द्र भगवान् के शासन का
आश्रय लेकर के प्राप्त करो]

(शार्दूल–विक्रीडित छन्द)

व्याख्येयं किल विश्वमात्मसहित व्याख्या तु गुम्फो गिरां,
व्याख्यातामृतचन्द्रसूरिरिति मा मोहाज्जनो वल्गतु ।
वल्गत्वद्य विशुद्धबोधकलया स्याद्वादविद्याबलात्,
लब्ध्वैक सकलात्मशाश्वतमिदं स्व तत्त्वमव्याकुलः ॥२१॥

'आत्मा सहित विश्व व्याख्येय [समझाने योग्य] है, वाणी का गुंथन व्याख्या है और अमृतचन्द्रसूरि व्याख्याता है' इस प्रकार मनुष्यों! मोह से मत नाचो [मत फूलो],

[किन्तु] स्याद्वाद विद्या बल से विशुद्ध ज्ञान की कला द्वारा इस एक समस्त शाश्वत स्वतत्त्व को प्राप्त करके आज [लोगो] अव्याकुलरूप से नाचो [परमानन्द परिणामरूप परिणत होओ।]

[अब काव्य द्वारा चैतन्य की महिमा गाकर, वही एक अनुभव करने योग्य है ऐसी प्रेरणा करके इस परम पवित्र परमागम की पूर्णाहुति की जाती है—]

इति गदितमनीचैस्तत्त्वमुच्चावचं यत्, चिति तदपि किलाभूत्कल्पमग्नौ हुतस्य।
अनुभवतु तदुच्चैश्चिच्चिदेवाद्य यस्माद्, अपरमिह न किंचित्तत्त्वमेकं परं चित् ॥२२॥

अर्थ—इस प्रकार [इस परमागम मे] अमन्दतया [बलपूर्वक, जोरशोर से] जो थोड़ा बहुत तत्त्व कहा गया है, वह सब चैतन्य के मध्य वास्तव मे अग्नि मे होमी गई वस्तु के समान [स्वाहा] हो गया है। [अग्नि मे होमे गये घी को अग्नि खा जाती है, मानो कुछ होमा ही न गया हो। इसी प्रकार अनन्त माहात्म्यवन्त चैतन्य का चाहे जितना वर्णन किया जाय तो भी मानो उस समस्त वर्णन को अनन्त महिमावान् चैतन्य खा जाता है, चैतन्य की अनन्त महिमा के निकट सारा वर्णन मानो वर्णन ही न हुआ हो, इस प्रकार तुच्छता को प्राप्त होता है।] उस चैतन्य को ही आज प्रबलता–उग्रता से चैतन्य अनुभव करो अर्थात् उस चित्स्वरूप आत्मा को ही आत्मा आज आत्यन्तिकरूप से अनुभव करो क्योंकि इस लोक मे दूसरा कुछ भी [उत्तम] नहीं है, चैतन्य ही परम [उत्तम] तत्त्व है।

इस प्रकार तत्त्वदीपिका नामक संस्कृत टीका समाप्त हुई।

गाथानुक्रमणिका

प्रवचनसार कलशानुक्रमणिका

श्री अमृतचन्द्राचार्यटीकान्तर्गतानामुक्तानां पद्यानां सूची

श्री जयसेनाचार्यटीकयामुक्तानां पद्यादीनां सूची

भाषा टीका में उद्धृत वाक्य व गाथा सूची